Being the Hindi Translation of :
James Wilford Garner : Political Science & Government

राज्य विज्ञान और शासन

मूल लेखक :
जेम्स विलफर्ड गार्नर

अनुवादक :
स्व० श्री रामनारायण यादवेन्दु

संशोधक :
डॉ० ब्र० न० मेहता, एम० ए०, पी-एच० डी०
अध्यक्ष : राज्यविज्ञान तथा इतिहास विभाग,
बलवन्त राजपूत कॉलिज, आगरा ।

लक्ष्मीनारायण अग्रवाल
पुस्तक-प्रकाशक एवं विक्रेता, आगरा ।

प्रकाशक :
लक्ष्मीनारायण अग्रवाल,
अस्पताल रोड, आगरा।

मूल्य अठारह रुपये
तृतीय संस्करण, १९६५

मुद्रक :
मॉडर्न प्रेस,
आगरा।

भूमिका

इस ग्रन्थ की रचना करने मे मेरा मुख्य ध्येय कॉलेजो तथा विश्वविद्यालयो के छात्रों के लिए राज्य-विज्ञान और शासन के विषय पर एक सर्वांगपूर्ण एवं उपयुक्त पाठ्य-ग्रन्थ प्रस्तुत करना है। मुझे आशा है कि इस ग्रन्थ से एक सीमा तक अन्य पाठक भी, जो राज्य की मौलिक समस्याओ तथा शासन के संगठन एवं कार्यों से परिचय प्राप्त करने के इच्छुक हैं, लाभ उठा सकेंगे।

प्रतिपाद्य विषय दो खण्डो मे विभाजित किया गया है। प्रथम खण्ड मे राज्य-विज्ञान की प्रकृति, क्षेत्र तथा पद्धतियो एव दूसरे सम्बन्धित अथवा सहायक विज्ञानो के साथ उसके सम्बन्धो, राज्य की प्रकृति, उसके विधायक तत्व तथा लक्षण; राष्ट्र एवं राष्ट्रीयता अथवा उपराष्ट्र; प्रभुत्व की प्रकृति के विविध सिद्धान्त और राज्य के विविध रूपो एवं समुदायो का प्रतिपादन किया गया है। द्वितीय खण्ड मे शासन के रूपो एवं भेदो पर विचार किया गया है और प्रत्येक प्रकार के शासन के गुणो तथा अवगुणो; शासन के समुचित कार्यों के मुख्य सिद्धान्तो तथा भूतकालिक एवं वर्तमान-कालिक व्यवहार; शासन-विधान, उनकी प्रकृति एवं भेदो; प्राचीन काल मे मता-धिकार की प्रकृति के सम्बन्ध मे प्रचलित मतो तथा वर्तमान समय मे निर्वाचक-मण्डल के संगठन और अन्त में, ससार के प्रमुख राज्यो मे व्यवस्थापिका, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका के संगठन एवं कार्यों का विवेचन किया गया है। इस सम्बन्ध में विविध देशो मे विभिन्न समस्याओ के जो समाधान किये गये हैं, उनके मूल्यांकन के लिए तुलनात्मक विचार किया गया है और उनसे ऐसे निष्कर्ष निकालने का प्रयास किया गया है जो बुद्धि एव अनुभव के आधार पर उचित प्रतीत होते हैं।

प्रथम विश्व-युद्ध के उपरान्त शासन-संगठन मे, विशेषत: योरोपीय राज्यो मे मौलिक परिवर्तन हुए हैं। एकतन्त्र गणतन्त्रों मे परिवर्तित हो गये या उनका पुन: संगठन हुआ और उसके फलस्वरूप वे अधिक प्रजातन्त्रीय बन गये; स्वेच्छाचारी शासनो का अन्त कर दिया गया और उनका स्थान लोकप्रिय शासनो ने ले लिया; दीर्घकालीन राजनीतिक संयोग छिन्न-भिन्न हो गये; शक्तिशाली राज्यो के खण्ड-खण्ड कर दिये गये और उनके कुछ भागो को स्वतन्त्र राज्यो का रूप दे दिया गया। राजाओं या कुलीनो एव धनिको की परिषदो के द्वारा बनाये गये विधानो के स्थान पर नाग-रिकता के अधिकारो की व्याख्या के साथ लोक-प्रभुत्व की स्थापना करने वाले तथा वैयक्तिक स्वतन्त्रता की सुरक्षा की व्यवस्था करने वाले प्रजातान्त्रिक शासन-विधानों की रचना की गयी। प्राय: सर्वत्र मताधिकार का विस्तार हुआ, उन राज्यो मे भी सार्व-भौम, प्रत्यक्ष एवं स्त्री-पुरुष दोनों के लिए समान प्रजातन्त्र की स्थापना हो गयी जिनमे युद्ध (प्रथम विश्वयुद्ध) के पूर्व शायद ही कोई प्रजातन्त्र को जानता था। जिस सासद (पार्लामेण्टरी) उत्तरदायी शासन-प्रणाली को जर्मनी मे एकतन्त्र के युग मे कोई पूछ

नहीं थी और जो शासन की जर्मन कल्पना से असंगत समझी जाती थी, उसकी वहाँ के केन्द्रीय तथा राज्यों के शासनों में प्रतिष्ठा की गयी और राष्ट्रपति का प्रत्यक्ष लोक-निर्वाचन, प्रारम्भक अथवा प्रवर्तक (Initiative), जनमत-संग्रह, (Referendum) तथा जनमत द्वारा किसी राज्य-कर्मचारी को पद से हटाने की पद्धति (Recall) आदि लोकतन्त्रीय प्रथाओं का भी, जो युद्ध से पहले खतरनाक तथा क्रान्तिकारी समझी जाती थी, प्रयोग किया जाने लगा। सब मिलाकर इन परिवर्तनों से योरोप की राजनीतिक व्यवस्था में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ, जिसकी मुख्य मुख्य बातों पर मैंने इस पुस्तक में विचार करने का प्रयत्न किया है।

एक समय तो ऐसा प्रतीत हुआ कि यदि समस्त संसार नहीं तो कम से कम योरोप तो राष्ट्रपति विल्सन की भाषा में 'प्रजातन्त्र के लिए सुरक्षित' बन गया है। परन्तु बाद में योरोप में यत्र-तत्र राज्यों ने लोकतन्त्र की ओर से मुँह फेर लिया और उसे असफल घोषित करके उसका त्याग किया जाने लगा। रूस में श्रमिक वर्ग का अधिनायकतन्त्र, जो लोकतन्त्र के सिद्धान्त के निषेध पर टिका हुआ है, अपनी स्थिति को कायम रखने के लिए प्रयत्नशील है और वह संसार को यह दिखला देना चाहता है *कि उसकी प्रणाली ही सबसे अधिक युक्तियुक्त एवं कार्यकुशल शासन-पद्धति है।* इटली में सन् १९२२ से मुसोलिनी के नेतृत्व में अधिनायकतन्त्र स्थापित है और सन् १९३३ के प्रारम्भ में जर्मनी में भी हिटलर के आधिपत्य में ऐसा ही अधिनायकतन्त्र स्थापित हो गया।

प्रथम विश्वयुद्ध के शासन के संगठन तथा उसके कार्यों की प्रचलित धारणाओं में भी विस्तृत परिवर्तन कर दिये। जो राजनीतिक परम्पराएँ आज से पूर्व सुप्रतिष्ठित एवं पुनीत मानी जाती थीं, वे आज दकियानूसी और वर्तमान परिस्थितियों के प्रतिकूल मानी जाती हैं। एक बड़ी संख्या में लोग विभिन्न मात्राओं में क्रान्तिकारी विचारों के बन गये हैं और उन मौलिक सिद्धान्तों पर कुठाराघात कर रहे हैं जिन पर अब तक समाज का आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक ढाँचा टिका हुआ था। दूसरे लोग, जो कुछ नरम हैं, आधुनिक व्यवस्थापिका-सभाओं की प्रतिनिधित्व-प्रणाली में सुधार, समाज की महान् धार्मिक, व्यावसायिक तथा आर्थिक संस्थाओं के लिए राजनीतिक स्वराज्य तथा राज्य के कार्यों में और भी अधिक विस्तार चाहते हैं और इस सिद्धान्त के आधार पर कि नागरिकों की जो हानियाँ होती हैं, उनकी क्षति-पूर्ति समाज को करनी चाहिए, राज्य-बीमे की विशद् व्यवस्था की माँग करते हैं तथा अन्य सुधारों की भी इच्छा करते हैं। यह स्वीकार करना पड़ेगा कि ऐसे लोगों की संख्या निरन्तर बढ़ती जा रही है, जिनकी सहानुभूति तथा प्रवृत्ति स्पष्टः प्रजातान्त्रिक है परन्तु जिनकी आस्था अब प्रजातन्त्र में बहुत कुछ कम हो गयी है और जिनके चित्त में यह प्रश्न उठने लगा है कि क्या प्रजातन्त्र के सम्बन्ध में उसके संस्थापकों ने जो दावे किये थे, उनका उसके परिणामों को देखकर समर्थन किया जा सकता है। लॉर्ड ब्राइस ने, जो प्रजातन्त्रीय शासन-प्रणाली की श्रेष्ठता का एक प्रतिभाशाली समर्थक था, अपनी निराशा को छिपाया नहीं है और अमेरिका में भी ऐसे व्यक्तियों की कमी नहीं है जो उससे सहमत हैं। परन्तु वे सब स्पष्ट रूप में यह स्वीकार करते हैं कि वे ऐसी कोई दूसरी और श्रेष्ठतर व्यवस्था नहीं बता सकते जो प्रजातन्त्र का स्थान ले सके, कम से कम ऐसी कोई व्यवस्था नहीं बता सकते जो उन लोगों को स्वीकार्य हो जिनको अन्तिम विश्लेषण में अपने शासन का रूप निर्धारित करने का अधिकार है।

इस समय जो विविध मत प्रचलित हैं, वे सिद्धान्त की दृष्टि से उचित हैं या

नहीं और जो उपाय बतलाये जा रहे हैं, वे उन बुराइयों को दूर कर सकेंगे या नहीं, जिनकी शिकायत की जाती है, ये सब बातें विवादग्रस्त हैं। इस सम्बन्ध में तथ्य चाहे जो हो परन्तु इस बात को तो सभी स्वीकार करेंगे कि उन समस्त देशों में जहाँ अन्तिम निर्णय जनता के हाथों में है, स्वस्थ राजनीतिक तथा आर्थिक चिन्तन की इतनी कभी आवश्यकता नहीं थी, जितनी आजकल है।

अत: यह आवश्यक है कि वे व्यक्ति जिन पर, कालान्तर में, इन प्रश्नों के निर्णय करने का भार होगा और विशेषत: कॉलेजों तथा विश्वविद्यालयों के छात्र जो अपने-अपने राष्ट्रों में समाज के नेता तथा राष्ट्र-नायक बनेंगे, स्वस्थ एवं व्यवहार्य तथा दूषित एवं अव्यवहार्य राजनीतिक एवं आर्थिक सिद्धान्तों में भेद करने योग्य हों। यह आवश्यक है कि वे सच्ची संस्थाओं तथा झूठी कृत्रिम संस्थाओं में और सब वर्गों को आर्थिक एवं सामाजिक न्याय सुलभ करने वाली तथा न्याय में विषमता उत्पन्न करने वाली नीतियों में भेद करने के योग्य हों। ऐसा विश्वास है कि यह योग्यता एवं क्षमता एक सीमा तक प्राचीन महान् आचार्यों तथा वर्तमानकालिक विद्वानों द्वारा प्रतिपादित राज्य-विज्ञान के अध्ययन से तथा विशेषकर शासनों के इतिहास एवं कार्यों और राजनीतिक ग्रन्थों में उल्लिखित अनुभव के परिणामों से प्राप्त की जा सकती है।

यदि यह पुस्तक, जिसको मैंने एतत्सम्बन्धी ज्ञान के एक विनीत भण्डार के रूप में प्रस्तुत किया है, छात्रों के लिए शासन की विविध पद्धतियों और उसके समुचित संगठन एवं कार्यों के सिद्धान्तों का मूल्यांकन करने में सहायक सिद्ध होगी तो मुझे प्रसन्नता होगी।

इस पुस्तक में जिन विषयों का जो कुछ भी प्रतिपादन हुआ, उसमें आगे जो सज्जन अध्ययन करना चाहेंगे, उनकी सहायता के लिए मैंने प्रत्येक अध्याय के साथ उत्तमोत्तम ग्रन्थों की सूची दी है और टिप्पणियों में भी विभिन्न विषय-सम्बन्धी ज्ञान के स्रोत-साहित्य की चर्चा की है।

इस पुस्तक में कहीं-कहीं कुछ परिवर्तनों के साथ मैंने अपनी पूर्व पुस्तक, 'राज्य-विज्ञान की भूमिका' (Introduction to Political Science) के कुछ अंश सम्मिलित कर लिये हैं। मैं इस सम्बन्ध में अपने सहयोगी प्रो० जॉन ए० फेअरली का आभारी हूँ जिन्होंने इस पुस्तक के कई अध्यायों को पढ़ा और अपनी विवेकपूर्ण समालोचना से मुझे लाभ पहुँचाया है।

इलिनॉय विश्वविद्यालय]

—जेम्स विलफॉर्ड गार्नर।

अनुवादक की ओर से

हिन्दी अब भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा बन गयी है, परन्तु अभी इसमे शिक्षा-सम्बन्धी अनेक विषयो पर उच्च कोटि के साहित्य का अभाव ही है। अब तक हमारे विश्वविद्यालयो मे अंग्रेजी द्वारा ही विज्ञान, इतिहास, राज्य-विज्ञान आदि विषयों की शिक्षा दी जा रही है, यही कारण है कि हिन्दी भाषा मे इन विषयो पर उच्च कोटि के साहित्य का निर्माण पर्याप्त रूप मे नही हो सका। राज्य-विज्ञान, विशेषतः आधुनिक राज्य-विज्ञान पर तो साहित्य प्रायः है ही नही। भारतीय शासन-विधान, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति, राष्ट्रसंघ आदि पर तो कतिपय उच्च कोटि के ग्रन्थ हिन्दी में प्राप्य हैं; परन्तु राज्य-विज्ञान के सिद्धान्तों का वैज्ञानिक विवेचन करने वाले ग्रन्थ मुश्किल से दो-चार ही मिलेंगे। हिन्दी के राजनीतिक साहित्य की अभिवृद्धि के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि विश्वविद्यालयों के विद्वान् अध्यापक तथा राजनीति के विद्वान् लेखक मौलिक ग्रन्थो की रचना करें और अंग्रेजी में इस विषय के जो सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ हैं, उनके अनुवाद भी प्रकाशित किये जाय।

यह बड़े हर्ष की बात है कि आगरा के प्रकाशक सर्वश्री लक्ष्मीनारायण अग्रवाल ने राज्य-विज्ञान के उत्तमोत्तम अंग्रेजी ग्रन्थो का अनुवाद विश्वविद्यालयो तथा कॉलिजो के हितार्थ प्रकाशित करने का संकल्प किया है। आपके स्नेहपूर्ण अनुरोध से हमने अमेरिका के राज्य-विज्ञान के सुप्रसिद्ध लेखक, प्रो० डॉ० जेम्स विलफर्ड गार्नर, पी-एच० डी०, एल-एल० डी० कृत Political Science and Government नामक लोकप्रिय एवं प्रामाणिक ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया है।

अनुवाद करते समय हमने इस बात की पूरी चेष्टा की है कि पुस्तक के विचार तथा भाव अपने स्वाभाविक रूप मे अनुवाद मे भी बने रहें। भाषा को भी सरल एवं सुबोध बनाने का प्रयत्न किया है, परन्तु अनेक स्थलो पर पुस्तक मे व्यक्त विचारो के अनुरूप इस ग्रन्थ का अनुवाद करने मे क्लिष्टता अवश्य आ गयी है जो बच नहीं सकती। हिन्दी मे सर्वमान्य पारिभाषिक शब्दों के अभाव के कारण बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा है। अंग्रेजी के कई एक पारिभाषिक शब्द ऐसे हैं जिनमे से प्रत्येक के लिए हिन्दी मे प्रायः अनेक शब्दो का अभी तक प्रयोग होता रहा है और उनके प्रयोग के सम्बन्ध मे सभी लेखक सहमत नही हैं। प्रचलित सर्वमान्य शब्दावली का ग्रहण करते हुए हमने हिन्दी भाषा के आदि स्रोत संस्कृत भाषा के भण्डार की सहायता से कई अंग्रेजी पारिभाषिक शब्दो के हिन्दी पर्यायों की रचना का नम्र प्रयास किया है परन्तु इसमें हमे कहाँ तक सफलता मिली है, इसे तो विद्वान् पाठक ही बतला सकेंगे। कई स्थानो पर हमें ऐसे शब्द ढूंढ निकालने मे सफलता प्राप्त नही हो सकी जो अंग्रेजी शब्द के यथार्थ पर्याय हो। ऐसे स्थानों पर हमने हिन्दी शब्दो के साथ अंग्रेजी के मूल पद भी कोष्टक मे दिये हैं और कहीं-कहीं जो अंग्रेजी शब्द साधारण बोलचाल मे आ गये हैं, उनका वैसे ही प्रयोग कर लिया है।

इस पुस्तक का अन्तिम अंग्रेजी संस्करण सन् १९१५ में प्रकाशित हुआ था। उसके बाद तथा विशेषत: द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद विश्व के राष्ट्रों में जो अनेक राजनीतिक परिवर्तन हुए हैं, उनके सम्बन्ध में हमने कहीं-कहीं पाद-टिप्पणियों द्वारा संकेत किया है, किन्तु यह सब जगह सम्भव नहीं हो सका।

हमें आशा ही नहीं, विश्वास है कि यह प्रख्यात पुस्तक इस रूप में कॉलेजों एवं विश्वविद्यालयों के राज्य-विज्ञान के विद्यार्थियों तथा इस विषय में रुचि रखने वाले शिक्षित नागरिकों के लिए भी उपादेय सिद्ध होगी।

आगरा
१ नवम्बर, १९४८।

विषय-सूची

प्रथम खण्ड

द्वितीय खण्ड

प्रथम खण्ड

राज्य विज्ञान

राज्य-विज्ञान का स्वरूप और क्षेत्र

(१) पारिभाषिक शब्दावली

निश्चित शब्दावली का अभाव

राज्य-विज्ञान के सम्बन्ध में एक विशेषता यह है कि अन्य प्राकृतिक विज्ञानों की भाँति इसके पारिभाषिक शब्दों का रूप निश्चित नहीं है, अर्थात् अभी ऐसी शब्दावली निश्चित नहीं हो सकी है जिसे सर्वमान्य कहा जा सके। राज्य, शासन, राजनीति, शासन-प्रबन्ध, राष्ट्र, राष्ट्रीयता, स्वतन्त्रता, प्रजातन्त्र, कुलीन-तन्त्र, जन (People) और इसी प्रकार के अनेक शब्द हैं जिनका प्रयोग विभिन्न अर्थों में किया जाता है या जिनका अर्थ विभिन्न लोगों के लिए विभिन्न होता है।[1] प्रायः इन शब्दों के विशिष्ट या वैज्ञानिक और प्रचलित दोनों प्रकार के अर्थ होते हैं और दोनों अर्थों में अन्तर होता है, परन्तु उनका प्रयोग प्रायः उनके अन्तर का विचार किये बिना ही किया जाता है। शब्दों के इस प्रकार के प्रयोग से भ्रान्ति और गलतफहमी पैदा होती है। इस प्रकार की कठिनाई हमें प्राकृतिक विज्ञानों के साहित्य में नहीं मिलती। उसमें जिस शब्दावली का प्रयोग किया जाता है, वह अपेक्षाकृत अधिक सुनिश्चित एवं उपयुक्त है।[2] शेल्डन एमॉस (Sheldon Amos) नामक विद्वान् का कथन है कि कुछ शब्द ऐसे हैं जिनके दो अर्थ होते हैं और जिनका प्रयोग अनुकूल तथा प्रतिकूल ढंग से किया जा सकता है। लेखक तथा वक्ता अपना स्वार्थ सिद्ध करने अथवा अपने किसी विशिष्ट मन्तव्य का समर्थन करने के लिए ऐसे शब्दों को तोड़-मरोड़ कर उनका मनमाने ढंग पर प्रयोग करते हैं।

राजनीति और राज्य-विज्ञान

राज्य-विज्ञान की शब्दावली की अस्पष्टता के सम्बन्ध में हमने जो कुछ लिखा है, उसका एक उदाहरण है—'राजनीति' (Politics) शब्द का प्रयोग। अँग्रेजी शब्द-कोषों तथा पाठ्य-पुस्तकों में इसके अँग्रेजी पर्यायवाची शब्द की परिभाषा एक कला और एक विज्ञान दोनों के रूप में की गयी है और लेखकों ने इसका प्रयोग भी दोनों

---

१. गार्नर की यह उक्ति इन शब्दों के अँग्रेजी पर्यायों के विषय में है। हिन्दी में राजनीतिक शब्दावली में तो निश्चितता की अभी बहुत कमी है। इस ग्रन्थ में किसी अंश तक ऐसी शब्दावली के निर्माण का प्रयत्न किया गया है जो शायद सर्वमान्य हो सकेगी।

२. जेलिनेक (Jellinck) का कथन है कि ऐसा कोई विज्ञान नहीं है जिसे एक अच्छी शब्दावली की उतनी आवश्यकता हो जितनी राज्य-विज्ञान को।

अर्थों मे किया है।[1] इन दो अर्थों मे इस शब्द के प्रयोग के सम्बन्ध में जो आपत्ति है, उसका निवारण इस प्रकार हो सकता है कि राजनीति (Politics) शब्द का प्रयोग सरकारी कर्मचारियों की नियुक्ति आदि कामो के या विस्तृत अर्थ मे समस्त राज-प्रबन्ध सम्बन्धी कार्यों के वर्णन के लिए किया जाय और राज्य-विज्ञान (Political Science) शब्द का प्रयोग राज्य-सम्बन्धी ज्ञान-भण्डार के लिए। विवेकशील विद्वान् लेखकों, विशेषतः जर्मन लेखको, ने यह अन्तर माना है और इन दोनों शब्दो का प्रयोग इसी प्रकार किया है। ब्लुन्ट्स्ली[2] नामक विद्वान् ने अपनी पुस्तक 'राज्य का सिद्धान्त' (Theory of State) म एक स्थान पर लिखा है कि 'राजनीति' (Politics) विज्ञान की अपेक्षा कला अधिक है और उसका सम्बन्ध राज्य के व्यावहारिक कार्य एवं संचालन से है, परन्तु राज्य-विज्ञान का सम्बन्ध राज्य के आधार, उसकी सारभूत प्रकृति, उसके रूप एव विकास से है।

इगलैड के ब्राइस तथा सीले और अमेरिका के बर्गेस तथा विलोबी आदि प्रसिद्ध लेखको ने अपने ग्रन्थो मे राज्य की उत्पत्ति, उसके स्वरूप, सगठन तथा क्षेत्र का वर्णन करते समय इस अन्तर को मान कर राज्य-विज्ञान (Political Science) शब्द का ही प्रयोग किया है।

'सैद्धान्तिक' और 'प्रयोगात्मक' राजनीति

कुछ विद्वान् ऐसे भी हैं जो *राज्य-सम्बन्धी बातो के अध्ययन को एक विज्ञान* मानने से झिझकते हैं और राज्य-विज्ञान शब्द की उपयुक्तता पर सन्देह करते हैं, परन्तु फिर भी वे उपर्युक्त अन्तर को स्वीकार करते हैं और इस अन्तर को 'सैद्धान्तिक राजनीति' (Theoretical Politics) तथा 'प्रयोगात्मक राजनीति' (Applied Politics) शब्दो द्वारा प्रकट करते हैं। जब वे राज्य के विभिन्न कार्यों अथवा जिन साधनों द्वारा राज्य के लक्ष्यों की उपलब्धि होनी है, उनसे अलग राज्य के आधारभूत तत्वो पर विचार करते हैं तो वे सैद्धान्तिक राजनीति शब्द का प्रयोग करते हैं और जब वे राज्य के

---

१. गिलक्राइस्ट (Principles of Political Science, p. 2) ने ठीक ही कहा है कि यदि राजनीति (Politics) शब्द का प्रयोग उसी अर्थ मे किया जाय जिसमे ग्रीक (यूनानी) लोग करते थे तो उसमे कोई आपत्ति नही हो सकती। परन्तु आजकल उसका नया अर्थ हो गया है। इस कारण एक वैज्ञानिक शब्द की भांति उसका कोई मूल्य नही रहा। ध्यान रहे कि यूनानी लोग उस शब्द का प्रयोग इन दोनो अर्थों मे करते थे।

२. जेलिनेक (Jellinek), होल्ट्जनडॉर्फ (Holtzendorf), ट्रीट्स्के (Treitschke), सिजविक (Sidgwick) आदि लेखक राज्य विज्ञान (Political Science) के स्थान पर राजनीति (Politics) शब्द का ही प्रयोग करते हैं। विलोबी (Willoughby The Fundamental Concepts of Public Law, p. 7) ने *भी राज्य-विज्ञान के कला तथा विज्ञान सम्बन्धी दोनो रूपो में भेद किया है।* गुडनाऊ (Goodnow Politics and Administration) ने राजनीति (Politics) शब्द का प्रयोग राज्य के उन कामो के वर्णन के लिए किया है जिनका सम्बन्ध राज्य की इच्छा (State will) को व्यक्त करने से है और राज्य की इच्छा को कार्यरूप मे परिणत करने से सम्बन्ध रखने वाले व्यापारो के लिए प्रशासन (Administration) शब्द का प्रयोग किया है।

कार्यों पर प्रकाश डालते हैं अथवा यों कहिये कि जब वे राज्य पर उसे एक गतिशील संस्था मान कर विचार करते हैं तब वे प्रयोगात्मक राजनीति शब्द का प्रयोग करते हैं।[१] इस प्रकार राज्य की उत्पत्ति, प्रकृति, उसके गुण एवं लक्ष्य तथा राज्य-संगठन और शासन-प्रबन्ध के सिद्धान्तों की विवेचना से सम्बन्ध रखने वाली प्रत्येक बात सैद्धान्तिक राजनीति का विषय है और शासन-प्रबन्ध का सचालन तथा तत्सम्बन्धी कार्य व्यावहारिक या प्रयोगात्मक राजनीति के अन्तर्गत आते हैं। अधिकांश लेखक सैद्धान्तिक राजनीति की अपेक्षा राज्य-विज्ञान शब्द को तथा व्यावहारिक राजनीति की अपेक्षा राजनीति शब्द को अधिक उपयुक्त मानते है। एमॉस (Amos), वेजहॉट (Bagehot), पॉलक (Pollock) आदि कुछ लेखक 'राजनीति का विज्ञान' (Science of Politics) तथा कुछ लेखक[२] 'राज्य का सिद्धान्त' (Theory of the State) शब्दों का प्रयोग करते हैं क्योंकि इससे राजनीतिक अन्वेषण के क्षेत्र का विस्तार स्पष्ट हो जाता है और राजनीति (Politics) का अध्ययन विज्ञान है अथवा दर्शन, इस प्रश्न पर वाद-विवाद करने की आवश्यकता नहीं रहती। इन सब आपत्तियो के विद्यमान रहते पर भी राज्य के क्रमबद्ध अध्ययन द्वारा उपलब्ध ज्ञान का वर्णन करने के लिए उच्च-कोटि के लेखक एवं विचारक साधारणतया राज्य-विज्ञान (Political Science) शब्द का प्रयोग करते हैं और राजनीति (Politics) शब्द का प्रयोग केवल राज्य के व्यावहारिक जीवन एवं सचालन-सम्बन्धी कार्यों के वर्णन तक ही सीमित रखते हैं।

अनेक राज्य-विज्ञान (The Political Sciences)

राज्य-विज्ञान शब्द के (जिससे केवल एक ही विज्ञान का बोध होता है) विरुद्ध एक आपत्ति यह की जाती है कि इसका वास्तविकता से सामंजस्य नहीं है, क्योंकि राज्य से सम्बन्ध रखने वाला कोई एक विज्ञान नहीं है, प्रत्युत अनेक सम्बन्धित विज्ञानों का एक समूह है जिनमे से प्रत्येक उसके एक विशिष्ट पहलू पर प्रकाश डालता है। यह कहा जाता है कि आधुनिक राज्य एक बहुत पेचीदा संगठन है जो विविध रूपों में प्रकट होता है और जिसका अध्ययन विविध दृष्टिकोणों से किया जा सकता है। राज्य के प्रत्येक पहलू और अवस्था से सम्बद्ध जो ज्ञान का भण्डार है, उसने अपने इतिहास और एक सिद्धान्त का निर्माण कर लिया है, जो दूसरों से सर्वथा भिन्न है। इस कारण एक अन्वेषक द्वारा इनका विशिष्ट विवेचन आवश्यक हो गया है। इस प्रकार राज्य के प्रत्येक पहलू से सम्बन्धित विवेचन को एक स्वतन्त्र पृथक् विज्ञान मानने की प्रवृत्ति चल पड़ी है।[३] अतः बहुत से, विशेषकर फ्रांस के, लेखक राज्य-विज्ञान का प्रयोग

---

१. यह भेद जेलिनेक (Jellinek), होल्ट्ज़नडॉर्फ (Holtzendorf), जेनेट (Janet) कोर्नवाल लेविस (Cornewall Lewis), एलेक्जेण्डर वेन (Alexander Bain), सर फ्रेडरिक पॉलक (Sir Frederick Pollock) आदि ने किया है।

२. मेक्केकनी (McKechnie) इस शब्द के प्रयोग का समर्थन करता है। वह राज्य-विज्ञान शब्द को उपयुक्त नहीं मानता और उसे विज्ञान शब्द के प्रयोग के सम्बन्ध में आपत्ति है। (The State and the Individual, pp 28-30).

३. देखिये डनिङ्ग (Dunning : Political Theories, Ancient and Medieval, p. XXI), गिडिङ्ग्ज (Giddings : Principles of Sociology, ch. 2) तथा गिलक्राइस्ट (Principles of Political Science, p. 1)। बॉन

एकवचन में न करके बहुवचन में करते हैं। यह प्रथा वास्तविकता के अधिक अनुरूप मालूम होती है।

इस मत के अनुसार राज्य-विज्ञान का सम्बन्ध अनिवार्यतः राज्य के सभी पहलुओं अथवा सम्बन्धों से नहीं, प्रत्युत उसके एक पहलू से है। अतः राज्य-विज्ञान उतने ही हो सकते हैं, जितने राज्य के रूप। इस अर्थ में समाज-विज्ञान, राजनीतिक अर्थनीति, सार्वजनिक राजस्व सार्वजनिक कानून, कूटनीति तथा वैधानिक इतिहास को भी राज्य-विज्ञान कहा जा सकता है क्योंकि उसका सम्बन्ध राज्य की किसी न किसी प्रवृत्ति एवं अवस्था से है। जो विद्वान् यह मानते हैं कि राज्य-विज्ञान एक ही विज्ञान है और वास्तविकता के अनुरूप है, विविध विज्ञानों का समूह नहीं, वे कहते हैं कि उपर्युक्त विज्ञान एक ही कोटि के सामाजिक विज्ञान हैं, स्वतन्त्र राज्य-विज्ञान नहीं। इस मत के समर्थन में एक विद्वान् लेखक का कथन है कि "राज्य के विविध सम्बन्धों के विभाग किये जा सकते हैं और उन पर विचार किया जा सकता है, परन्तु वे सम्बन्ध इतने घनिष्ठ है और उनके प्रयोजन भी इतने मिलते-जुलते है कि उन्हें हम विभिन्न विज्ञानों का रूप नहीं दे सकते।"[1] इन दोनों दृष्टिकोणों पर अपनी कोई निर्णयात्मक सम्मति दिये बिना यह कहना अधिक युक्तिसंगत होगा कि उचित भेद मानते हुए राज्य-विज्ञान का प्रयोग दोनों वचनों में करना ठीक हो सकता है। जब केवल राज्य की विवेचना करनी हो तो राज्य-विज्ञान शब्द का प्रयोग एकवचन में किया जाय और जब उसका प्रयोग राज्य के जीवन के विशिष्ट पहलुओं से सम्बन्ध रखने वाले सभी विज्ञानों, जैसे समाज-विज्ञान, इतिहास, अर्थशास्त्र आदि का वर्णन करने के लिए हो, तब उसका प्रयोग बहुवचन में हो।[2]

(२) परिभाषा और विषय

विख्यात लेखकों के विचार

एक रोमन विचारक की उक्ति है कि "समस्त परिभाषाएं खतरनाक होती हैं, क्योंकि उनसे कोई विशेष प्रयोजन नहीं निकलता और प्राय सदा ही वास्तविकता उसके प्रतिकूल होती है। यह उक्ति राज्य-विज्ञान के सम्बन्ध में उतनी ही सत्य है, जितनी नागरिक कानून (Civil law) के सम्बन्ध में। परन्तु प्रख्यात लेखक सिजविक की यह उक्ति भी उतनी ही सत्य है कि 'वैज्ञानिक अनुसंधान के सभी क्षेत्रों में मुख्य शब्दों की शुद्ध, सुस्पष्ट एवं सुनिश्चित परिभाषा प्राप्त कर लेने से एक बड़ा

मोहल (Von Mohl) ने राज्य-विज्ञानों के तीन विभाग बताये हैं—(१) सामान्य राजनैतिक सिद्धान्त (General Political Theory); (२) सैद्धान्तिक राज्य-विज्ञान (Dogmatic Political Sciences) जिनमें सार्वजनिक कानून (Public laws), राजनैतिक आचार (Political Ethics) तथा राजनीति की कला, कूटनीति, शासन-प्रबन्ध आदि के विज्ञान सम्मिलित हैं, तथा (३) ऐतिहासिक राज्य-विज्ञान (*Historical Political Sciences*) जिनमें वैधानिक इतिहास (Constitutional History) तथा सङ्ख्याशास्त्र (Statistics) शामिल हैं।

१. Munroe Smith: The Domain of Political Science in the *Political Science Quarterly*, Vol. I, p. 5.
२. यही मत जेलिनेक का भी है।

महत्त्वपूर्ण कार्य बन गया है।'[1] सुप्रसिद्ध स्विस विद्वान् ब्लुंट्श्ली (Bluntschli) ने राज्य-विज्ञान की परिभाषा इस प्रकार की है—"राज्य-विज्ञान वह विज्ञान है जिसका राज्य से सम्बन्ध है, जो राज्य की आधारभूत स्थितियों, उसकी प्रकृति तथा विविध स्वरूपों एवं विकास को समझने का प्रयत्न करता है।" गेरीज (Garies) नामक एक जर्मन लेखक के अनुसार 'राज्य-विज्ञान राज्य को एक सत्ता-संस्था (Institution of power) के रूप में मानता है; वह राज्य के सम्बन्धों, उसकी उत्पत्ति, उसकी भूमि एवं प्रजा, उसके ध्येय उसके नैतिक महत्व, उसकी जीवन की अवस्थाओं तथा आर्थिक एवं राजस्व-सम्बन्धी समस्याओं और उसके साध्य आदि का विवेचन करता है।' योरोप के राजनीति के एक सर्वश्रेष्ठ लेखक जेलिनेक (Jellinek) ने सैद्धान्तिक राज्य-विज्ञान (Theoretical Political Science) और प्रयोगात्मक राज्य-विज्ञान (Applied Political Science) में भेद माना है। सैद्धान्तिक राज्य-विज्ञान के भी उसने दो भेद माने हैं—राज्य का सामान्य सिद्धान्त (General Theory of the State) और राज्य का विशेष सिद्धान्त (Particular Theory of the State)। राज्य का सामान्य सिद्धान्त मौलिक सिद्धान्तों अथवा तत्वों का अध्ययन करता है। वह राज्य तथा राज्य के तत्वों का निरूपण करता है। वह किसी विशिष्ट राज्य की अवस्था का नहीं, वरन् उन सब ऐतिहासिक एवं सामाजिक पहलुओं का निरूपण करता है जिसमें राज्य अभी तक व्यक्त हुआ है। यही नहीं, राज्य की द्विविध प्रकृति के कारण, अर्थात् उसके एक सामाजिक संगठन और एक वैधानिक संस्था होने के कारण, इसके और भी भेद किये जा सकते हैं—राज्य का सामाजिक सिद्धान्त (Social doctrine of State) और राज्य के वैधानिक कानून का सिद्धान्त (Theory of constitutional law)। पहला सिद्धान्त राज्य को एक सामाजिक संगठन अर्थात् सामान्य लक्ष्यों की पूर्ति के लिए संगठित व्यक्तियों का समाज मानकर उस पर विचार करता है और दूसरा राज्य को एक कानूनी सत्ता (Juristic entity) या कानूनी वस्तु अथवा संगठन (Legal phenomenon) मानकर।

फ्रान्स के सुप्रसिद्ध लेखक पॉल जैनेट ने राज्य-विज्ञान को "समाज-विज्ञान का वह भाग माना है, जो राज्य की नींव और शासन के सिद्धान्तों की व्याख्या करता है।" सीले के अनुसार "राज्य-विज्ञान शासन-सम्बन्धी बातों पर ठीक उसी प्रकार विचार करता है जिस प्रकार राजनीतिक अर्थनीति सम्पत्ति, जीव-विज्ञान जीवन, बीजगणित अंकों तथा रेखागणित स्थान एवं परिमाण के सम्बन्ध में विचार करते हैं। सीले ने बतलाया है कि प्राचीन काल में राज्य नगर-राज्य के रूप में होते थे; अतः प्राचीन राज्य-विज्ञान नगर-शासन के विज्ञान का ही रूप था। इस सत्य का प्रत्यक्ष उदाहरण हमें अरस्तु के 'पॉलिटिक्स' नामक ग्रन्थ में मिलता है। इस ग्रन्थ में केवल नगर-राज्यों की राजनीति पर ही विचार किया गया है। आधुनिक राज्य-विज्ञान केवल राष्ट्रीय देश-राज्य का ही नहीं, वरन् विश्व-राज्य का विज्ञान हो गया है। बर्गेस के अनुसार भौमिक विस्तार, प्रतिनिधि-शासन तथा राष्ट्रीय एकता की आधुनिक आवश्यकताओं ने राज्य-विज्ञान को केवल नागरिक स्वतन्त्रता का विज्ञान ही नहीं प्रत्युत राज्य-प्रभुत्व का विज्ञान भी बना दिया है।[2]

---

1. Sidgwick : Elements of Politics, p. 19.
2. Burgess : Relation of Political Science in History in the Report of the American Historical Association (1896), Vol. I, p. 206.

विचार साम्य

हमने जिन सुप्रसिद्ध विद्वानो के मत ऊपर दिये हैं, वे सब इस बात पर सहमत हैं कि परिवार, जाति, राष्ट्र तथा सभी वैयक्तिक सस्थाओ एवं समूहो से भिन्न राज्य ही, जो अपने विविध पहलुओ तथा सम्बन्धो मे व्यक्त होता है, राज्य-विज्ञान का विषय है। सक्षेप मे, राज्य-विज्ञान का आरम्भ एव अन्त राज्य के साथ ही होता है। सामान्यतया उसकी आधारभूत समस्याओं मे तीन प्रकार की बातें शामिल हैं—प्रथम, राज्य की प्रकृति तथा उत्पत्ति का अनुसधान; द्वितीय, राजनीतिक सस्थाओ के स्वरूप, इतिहास तथा उनके विभिन्न रूपो की गवेषणा; तृतीय, उनके आधार पर राजनीतिक विकास के नियमो का यथासम्भव निर्धारण। विकास के क्रम मे नवीन राजनीतिक स्थितियो अथवा अवस्थाओ के कारण नूतन समस्याएँ पैदा हो सकती हैं परन्तु उनका विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट दिखाई पडेगा कि वे व्यावहारिक राजनीति की समस्याएँ हैं, राज्य-विज्ञान की आधारभूत समस्याएँ नही।[1]

राजनीतिक दर्शन-शास्त्र

कुछ लेखक राज्य-विज्ञान तथा राजनीतिक दर्शन शास्त्र मे भेद मानते हैं, यद्यपि इन दोनो के बीच विभाजक रेखा खीचना असम्भव नही तो कठिन अवश्य है। कहा जाता है कि राजनीतिक दर्शन-शास्त्र का सम्बन्ध राज्य-विज्ञान की सामग्री के मूलभूत सिद्धान्तो एवं उसकी सारभूत विशिष्टताओ के सैद्धान्तिक विचार से है। वह राजनीतिक विकास तथा राजनीतिक सत्ता के आधारो का अनुसधान करता है, वह राज्य की प्रमुख विशिष्टताओ का विश्लेषण एव वर्गीकरण करके उनके सम्बन्ध मे निश्चित निर्णय पर पहुँचता है और इस प्रकार सच्चे राज्य विज्ञान की ओर हमे अग्रसर करता है। राजनीतिक दर्शन शास्त्र का सम्बन्ध सामान्य एव व्यापक बातो मे है, विशिष्ट वस्तुओ से नही। वह राज्य के सारभूत गुणो पर जोर देता है, अनावश्यक विशिष्टताओ पर नही।[2] यह भी कहा जाता है कि राज्य-विज्ञान मे हमे राजनीतिक

---

१. ट्रीटस्के (Treitschke) ने राज्य-विज्ञान को विज्ञान और कला दोनो ही माना है। इसके अनुसार इस विज्ञान की समस्याएँ इस प्रकार हैं प्रथम, वास्तविक राज्यो पर विचार करके राज्य की आधारभूत भावना को निश्चित करना; द्वितीय, ऐतिहासिक दृष्टि से यह देखना कि लोगो ने क्या पसन्द किया है, उन्होने क्या बनाया है और राजनीतिक जीवन म उन्होने क्या और कैसे सिद्धि प्राप्त की है और तृतीय, इस ज्ञान के आधार पर ऐतिहासिक तथा नैतिक नियम निर्धारित करना। इस दृष्टि से यह विज्ञान व्यावहारिक इतिहास (Applied history) है (*Politics*, Vol. I, p XXXII)। विलोबी (Willoughby) ने बतलाया है कि राज्य-विज्ञान साधारणतया तीन बातो पर विचार करता है—राज्य, शासन तथा कानून (Political Science as a universal study, *Sewande Review*, July 1906, p. 258)। सिजविक (Sidgwick) ने राज्य-विज्ञान की समस्याओ को दो भागो मे बाँटा है—राज्य के सगठन से सम्बन्ध रखने वाली तथा राज्य के कार्यों से सम्बन्ध रखने वाली।

२. देखिये, विलोबी (Willoughby' 'Political Philosophy' in *South Atlantic Quarterly* Vol. V, p. 161 : 'The Value of Political Philosophy' in the *Political Science Quarterly* for March 1900'।

संस्थाओं के स्वरूप एवं प्रकृति पर तार्किक विचार द्वारा प्राप्त निष्कर्ष मिलते हैं, परन्तु राजनीतिक दर्शन-शास्त्र उन संस्थाओं के मौलिक सिद्धान्तों के आधारों का अनुसंधान करता है। कुछ लेखकों ने हेतु-विद्या (Teleology) के आधार पर इनमें भेद किया है। उनके अनुसार राज्य-विज्ञान का सम्बन्ध राज्य के आदर्श से है और राजनीतिक दर्शन-शास्त्र राज्य की वास्तविकता पर विचार करता है, परन्तु सामान्य तथा इस प्रकार का अन्तर नहीं माना जाता।[1]

(३) क्या राज्य-विज्ञान वास्तव में विज्ञान है?

निषेधार्थक मत

अभी तक हमने यह माना है कि उचित अवस्थाओं में राज्य के अध्ययन को विज्ञान कह सकते हैं। परन्तु इस मान्यता के विरुद्ध भी आपत्ति की जाती है। राज्य के सम्बन्ध में प्रतिपाद्य विषय इतना विस्तृत और पेचीदा है कि उसका वैज्ञानिक पद्धति के अनुसार अनुसंधान नहीं किया जा सकता। राज्य की समस्त बातों में अनिश्चितता एवं परिवर्तनशीलता तो होती ही है, साथ ही उनमें व्यवस्था और क्रमागतत्व एवं अविच्छिन्नता का भी अभाव होता है।[2] परन्तु इस आपत्ति में अधिक वजन नहीं है। जो इसको विज्ञान नहीं मानते, उनका यदि यह अर्थ है कि राज्य-विज्ञान में कोई ऐसे निश्चित नियम नहीं हैं जिनसे एक प्रधानमन्त्री यह सीख सके कि बहुमत का विश्वासपात्र कैसे बना जाय तो यथार्थता की दृष्टि से तो उनके कथन में सत्य है परन्तु इससे यही प्रकट होता है कि विज्ञान क्या है, इसे वे पूरी तरह नहीं समझ पाये। सर फ्रेडरिक पॉलक ने इस सम्बन्ध में ठीक ही लिखा है कि "जिस अर्थ में सदाचार के एक विज्ञान का अस्तित्व है उसी अर्थ में राज्य-विज्ञान का भी अस्तित्व है।"

स्वीकारार्थक मत

विज्ञान से हमारा प्रयोजन किसी विषय के सम्बन्ध में उस एकीकृत ज्ञान-भण्डार से है, जिसकी प्राप्ति विधिवत् पर्यवेक्षण, अनुभव और अध्ययन द्वारा हुई हो और जिसके तथ्यों का उनमें परस्पर उचित सम्बन्ध स्थापित करके क्रमबद्ध वर्गीकरण किया गया हो।[3] तथ्यों की वैज्ञानिक प्रणाली द्वारा परीक्षा किसी एक प्रकार की

गिलक्राइस्ट का कथन है कि राजनीतिक दर्शन-शास्त्र एक दृष्टि से राज्य-विज्ञान का पूर्वगामी है क्योंकि उसकी मौलिक मान्यताएँ ही राज्य-विज्ञान के आधार हैं (Principles of Political Science, p. 4).

१. यह अन्तर सिजविक ने बताया है (Elements of Politics, p. 7)। दूसरे स्थान पर (Development of European Policy, p. 2) उसने कहा है कि राज्य-विज्ञान, शासन का संगठन कैसा होना चाहिए, इस बात पर विचार करता है। इस प्रकार सिजविक की इन दोनों उक्तियों में कुछ असंगति है।

२. देखिये एमॉस (Amos : The Science of Politics, pp. 2-16)। कोंत (Comte) इसको निम्न कारणों से विज्ञान नहीं मानता—(१) इसकी पद्धतियों, इसके सिद्धान्तों एवं निर्णयों के विषय में कोई सर्वमान्य मत नहीं है; (२) इसके विकास में अविच्छिन्नता नहीं है तथा (३) इसमें उन तत्वों का अभाव है जिनसे पूर्वज्ञान (Prevision) का आधार मिला करता है (Positive Philosophy, Vol. II, Ch. 3)।

३. Century Dictionary में दी हुई Science की परिभाषा देखिये। टॉमसन

बातों अथवा किसी एक वर्ग के अनुसंधानकर्त्ताओं तक ही सीमित नहीं है। इसका प्रयोग सामाजिक तथा भौतिक दोनों ही प्रकार की बातों में हो सकता है। हम इस बात को कदापि स्वीकार नहीं कर सकते कि वैज्ञानिक विश्लेषण बुद्धि केवल भौतिक विज्ञानवेत्ता अथवा प्राकृतिक विज्ञानवेत्ता में ही होती है।

यह तो सत्य है कि राज्य-विज्ञान उस अर्थ में एक सुनिश्चित विज्ञान न तो है और न कभी हो सकता है जिस अर्थ में यन्त्र-विज्ञान, रसायन और भौतिक विज्ञान हैं क्योंकि उसके नियम और निष्कर्ष उसी प्रकार यथार्थ एवं सुनिश्चित रूप से अभिव्यक्त नहीं किये जा सकते जिस प्रकार रसायन या भौतिक विज्ञान के और न *उतने ही निश्चय से यह बताया जा सकता है कि भविष्य में अमुक बात का अमुक* परिणाम होगा। परन्तु ऋतु-विज्ञान जैसे अनिश्चित प्राकृतिक विज्ञान भी हैं, जिनके स्वीकृत तत्वों का ज्ञान किसी भी समय इतना अपूर्ण होता है कि उसके आधार पर कोई भविष्यवाणी नहीं की जा सकती। अमेरिकन पॉलिटीकल साइन्स एसोसियेसन के अध्यक्ष की हैसियत से लॉर्ड ब्राइस ने सन् १९०९ में अपने भाषण में कहा था कि राज्य विज्ञान प्रायः उसी अर्थ में एक विज्ञान है, जिस अर्थ में ऋतु-विज्ञान। उन्होंने बतलाया कि राज्य विज्ञान इस अर्थ में एक विज्ञान है कि मानव प्रकृति की प्रवृत्तियों में एक स्थायित्व और एकरूपता है, जिसकी सहायता से हम यह मान सकते हैं कि किसी एक समय में मनुष्य के कार्यों के वही कारण होते हैं जो पूर्व समय में थे। कार्यों का वर्गीकरण किया जा सकता है, उन्हें एक-दूसरे से सम्बद्ध किया जा सकता है और उन्हें एक शृङ्खला में रख कर उनका अध्ययन सामान्यतया प्रवृत्तियों के परिणामों के रूप में किया जा सकता है। उन्होंने यह भी कहा कि राज्य-विज्ञान एक *नियमनात्मक विज्ञान नहीं, प्रत्युत प्रयोगात्मक विज्ञान है, वह प्रयोग या परीक्षण नहीं* कर सकता, परन्तु वह परीक्षणों का अध्ययन कर उनके परिणाम को निश्चित कर सकता है। यह एक प्रगतिशील विज्ञान भी है क्योंकि प्रति वर्ष के नूतन अनुभवों से केवल हमारी विचार-सामग्री में वृद्धि ही नहीं होती है, मानव समाज के नियमों के ज्ञान में भी वृद्धि होती है।[1] इस सम्बन्ध में अधिकारी लेखकों का यह मत है कि राज्य की समस्त बातों में एक ऐसा सम्बन्ध है जो निश्चित नियमों का परिणाम है, यद्यपि वे नियम भौतिक जगत के नियमों के समान स्थिर नहीं हैं। ये बातें वैज्ञानिक अनुसंधान के समुचित विषय हैं और इनसे जो नियम एवं सिद्धान्त स्थिर किये जा सकते हैं, वे राज्य के दैनिक जीवन की समस्याओं के समाधान में प्रयुक्त किय जा सकते हैं। राजनीतिक स्थितियों एवं अवस्थाओं के अध्ययन को एक वैज्ञानिक अनुसंधान का रूप देने के लिए जो बात आवश्यक है, वह यही है कि अनुसंधान एक सुनिश्चित योजना या प्रणाली के अनुसार किया जाय और यह अनुसंधान कार्य-कारण *के सम्बन्धों का यथासम्भव समुचित ध्यान रखते हुए वैज्ञानिक अनुसंधान के सुनिश्चित* एवं सर्वमान्य नियमों के अनुसार हो।

अधिकांश वैज्ञानिकों का मत इसी विचार के पक्ष में है। अरस्तू ने 'राजनीति' (Politics) को सर्वोच्च अर्थ में सर्वप्रधान विज्ञान माना है और उसने यूनानी

(Thompson Introduction to Science, pp. 79-80) ने विज्ञान के यही लक्षण समझाये हैं।

1. The Relations of Political Science to History and to Practice (1909), Vol. III, pp. 1—3

राज्यो के अध्ययन मे वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग किया है। इसी प्रकार बाद मे बोदाँ (Bodin), हॉब्स (Hobbes) तथा मॉन्टेस्क्यू (Montesquieu) ने और वर्तमान काल मे सैविस, सिजविक, ब्राइस, ब्लुन्ट्श्ली, जेलिनेक तथा दूसरे लेखको ने भी वैज्ञानिक प्रणाली का प्राश्रय लिया है। जर्मन विद्वानो ने अपने अपूर्व अनुसधानो एवं विश्लेषणात्मक पद्धतियो के द्वारा राजनीति को एक विज्ञान का रूप देने मे दूसरो की अपेक्षा अधिक प्रयत्न किया है। होल्ट्जनडॉर्फ ने राजनीति के एक विज्ञान होने के दावे का समर्थन किया है। उसका कथन है कि 'ज्ञान-भण्डार मे जो महान् वृद्धि हो चुकी है, उसे देखते हुए यह अस्वीकार करना असम्भव है कि राज्य मे सम्बद्ध समस्त अनुभवो, अवस्थाओ एव ज्ञान को राज्य-विज्ञान के अन्तर्गत लाया जा सकता है।' यही विचार वॉन मोहल, ब्लुन्ट्श्ली, जेलिनेक, ट्रीट्श्के, सर जी० सी० लेविस, सिजविक, लाइबर, वूलजे, बर्गेस आदि विद्वानो का भी है। अत, हम यह निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि राज्य-विज्ञान वास्तव मे एक विज्ञान है। यह विवेकपूर्ण राजनीतिक कार्य के लिए सुनिश्चित सिद्धान्त प्रदान करके तथा गलत राजनीतिकदर्शन या विचारधारा के दाष बतला कर समाज की सेवा करता है।[१] यह सही है कि विज्ञान के रूप मे इसमे भौतिक विज्ञानो के समान पूर्णता नही आ सकी है परन्तु इसका कारण है कि इसका जिन बातो से सम्बन्ध है, वे भौतिक विज्ञानो की वस्तुओ की अपेक्षा अधिक जटिल हैं और सामाजिक एव व्यावहारिक बातो पर जिन कारणो का प्रभाव पडता है, वे सदा बदलते रहते हैं और उन पर काबू पाना भी अधिक कठिन है। अभी तक यह समस्त सामाजिक विद्वानो मे सबसे अधिक अपूर्ण और अविकसित है।[२]

मुख्य पाठ्य-ग्रन्थ

Amos, "The Science of Politics" (1883), Chs. 1-2.

Bluntschli, "Theory of the State" (Oxford translation, 1892). Chs 1-3.

Bryce, "Modern Democracies" (1921), Vol. I, Ch. 2.

Burgess, "Relation of Political Science to History," *Report of the American Historical Association*(1896). Vol.1, pp. 203-207

Catlin, "The Science and Method of Politics" (1927), Vol II, Ch. 1.

Ellwood, "The Present Condition of Social Sciences," *Science* November 16, 1917.

---

१. सर फ्रेडरिक पॉलक ने भी यह मत प्रकट किया है (History of the Science of Politics, p. 4)।

२. सन् १८५७ मे लिखी हुई अपनी पुस्तक मे बकल (Buckle) ने तो यहाँ तक कह डाला है कि ज्ञान की वर्तमान अवस्था मे राजनीति विज्ञान होने से तो दूर रही, कलाओ मे भी वह सबसे पिछडी हुई है (History of Civilisation, Vol. I, p. 361)। उसका प्राशय यह नही था कि राज्य-विज्ञान हो ही नही सकता। उसकी शिकायत यही थी कि राज्य के अध्ययन पर इतना कम ध्यान दिया गया है कि सुव्यवस्थित ज्ञान की दृष्टि से इसमे प्रौढता बिलकुल भी नही आ पाई है और इससे सम्बन्धित सारा ज्ञान इतना अपरिपक्व है कि उसे विज्ञान नही कह सकते।

Fairlie, "Politics and Science," *The Scientific Monthly*, Vol. XVIII (1924), pp. 18 ff.
Gilchrist, Principles of Political Science" (1921), Ch. 1.
Goodnow, "The Work of American Political Science Association", *Proceedings of the American Political Science Association*, Vol I (1904), pp 35-42.
Jellinek, "Recht des Modernen Staates" (1905) Bk. 1, Ch. 1.
Lewis, "Methods of Observation and Reasoning in Politics' (1842), Vol I, Chs 1-3.
Merriam, "The Present State of the Study of Politics", *American Political Science Review*, Vol. XV (1921), pp. 173 ff.
Pollock, "Introduction to the History of the Science of Politics" (1906), Ch. 1.
Shepard, "Political Science". in Barnes (editor), "The History and Prospect of the Social Science" (1925), Ch. 8.
Sidgwick, "Flements of Politics" (1897), Ch. 1.
Smith, 'The Domain of Political Science." *Political Science Quarterly*, Vol. I, pp. 1-9.
Treitschke, "Politics", Vol I, Introduction
Willoughby, 'The Fundamental Concepts of Public Law" (1925), Ch. I ; also his article, "The Value of Political Philosophy", *Political Science Quarterly*, Vol. XV (1900), pp. 75 ff

---

अध्याय २

राज्य-विज्ञान की पद्धतियाँ

मर्यादाएं और कठिनाइयाँ

प्रथम अध्याय मे हमने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि कुछ निश्चित अवस्थाओ में राज्य का अध्ययन एक विज्ञान का रूप धारण कर लेता है। इस अध्याय मे हम यह विचार करने का प्रयत्न करेंगे कि इस अध्ययन की कौनसी रीतियाँ एवं पद्धतियाँ हैं। सबसे पूर्व हम यहाँ उन मर्यादाओ एव कठिनाइयों की चर्चा करेंगे जिनका हमें राजनीतिक बातो का वैज्ञानिक अनुसधान करते समय सामना करना पड़ेगा। जिस विचार-सामग्री को लेकर एक राज्य-वैज्ञानिक को अनुसधान का कार्य करना पडता है, वह उस सामग्री से सर्वथा भिन्न है जिसका सम्बन्ध भौतिक विज्ञानो से है। राज्य-वैज्ञानिक न तो अपने अनुसधान मे कृत्रिम यन्त्र द्वारा अपनी पर्यवेक्षण शक्ति मे वृद्धि कर सकता है और न अनुसधान के परिणामो तक पहुँचने मे ही उनसे कोई सहायता ले सकता है। अत: उसे बिना किसी यान्त्रिक सहायता के अपना कार्य करना पडता है। यही नही, उसके मार्ग मे एक बडी कठिनाई यह भी है कि जिन परिस्थितियो या अवस्थाओ का राज्य-विज्ञान से सम्बन्ध है, वह घटना-क्रम के अटल एवं अपरिवर्तनीय नियमों के अनुसार एक के बाद दूसरी उत्पन्न नही होती। राजनीतिक क्षेत्र मे घटनाएं अनिश्चित समय पर और सदैव विभिन्न अवस्थाओ मे घटित होती हैं। वास्तव मे भौतिक एव सामाजिक अवस्थाओं मे बडा अन्तर है। राजनीतिक परिस्थितियाँ सदैव बदलती रहती हैं और परिवर्तन केवल बाह्य परिस्थितियो के प्रभाव के कारण ही नही होते। इतिहास तथा सामाजिक जीवन के तथ्य अपनी इच्छानुसार प्रयोग या परीक्षण के लिए उत्पन्न नही किये जा सकते। सामाजिक तथ्य सामान्य नियमों के अनुसार नियमित समय पर घटित नहीं होते, वे तो व्यक्तियों और व्यक्तिसमूह के कार्यों के परिणामस्वरूप ही घटित होते हैं। प्राकृतिक विज्ञानो के तथ्यो का मूल्यांकन हो सकता है; यह समान एवं अटल नियमो द्वारा नियन्त्रित होते हैं। पदार्थ का प्रत्येक कण अथवा अणु उसी प्रकार के दूसरे अणु के समान होता है, परन्तु सामाजिक शरीर की इकाइयाँ एक-दूसरी से बहुत भिन्न हो सकती हैं।

इसी कारण सामाजिक एव राजनीतिक अवस्थाओ के अध्ययन मे भौतिक विज्ञानो की अपेक्षा स्वस्थ, अविकल वैज्ञानिक पद्धतियो की अधिक आवश्यकता है क्योंकि भौतिक वैज्ञानिक की सहायता के लिए तो यन्त्र आदि होते हैं जो समाज-वैज्ञानिक के लिए उपलब्ध नही हैं। इस सम्बन्ध मे यह उक्ति ठीक ही है कि जिस प्रकार ज्योतिष-विज्ञान के लिए दूरवीक्षण यन्त्र और जीव-विज्ञान के लिए अणुवीक्षण यन्त्र आवश्यक है, उसी प्रकार सामाजिक विज्ञानो के लिए वैज्ञानिक पद्धति आवश्यक

है। इसीलिए अनुसंधानकर्ता को गलत रीतियों के प्रयोग की ओर से सतर्क रहना चाहिए। उसे सदैव इस बात का पूरा ध्यान रखना चाहिए कि समस्त सच्चे विज्ञानों के उद्देश्य एवं उनकी प्रणाली तार्किक और अनुभवमूलक होती है, उनमें अनुमान अथवा दुराग्रह के लिए स्थान नहीं है। विज्ञान विशुद्ध अमूर्त भावों तथा अबाधित आदर्शों का परित्याग कर वर्तमानकालीन बदलती हुई अवस्थाओं एवं परिस्थितियों द्वारा परिवर्तित अतीत के संचित मानवीय अनुभवों के आधार पर परिणाम निकलता है।[१]

पद्धतियों के सम्बन्ध में लेखकों के विचार

उन्नीसवीं शताब्दी में आकर राज्य विज्ञान अनुसंधान के योग्य समझा जाने लगा है और उसी समय से विद्वानों ने खोज करके इस विषय पर बड़ा साहित्य तैयार कर लिया है। जिन विद्वानों ने राज्य-विज्ञान के अध्ययन की पद्धतियों के विकास एवं परिवर्द्धन में सबसे अधिक योग दिया है, उनमें निम्नलिखित विशेष उल्लेखनीय हैं—ऑगस्ट कोंत (Auguste Comte), जॉन स्टुअर्ट मिल (John Stuart Mill), एलेक्जेण्डर बेन (Alexander Bain), सर जॉर्ज कॉर्नवाल लेविस (Sir George Cornewall Lewis) और लॉर्ड ब्राइस (Lord Bryce)। कोंत के अनुसार सामाजिक अवस्थाओं एवं परिस्थितियों के अध्ययन की तीन प्रमुख रीतियाँ हैं—पर्यवक्षण, प्रयोग तथा तुलना।[२] मिल ने इसकी चार रीतियाँ बताई हैं—रासायनिक या प्रयोगात्मक (Chemical or experimental), अमूर्त (Geometrical or abstract), भौतिक या मूर्त निगमनात्मक (Practical or concrete deductive) और ऐतिहासिक (Historical)। इनमें से पहली दो रीतियों को वह गलत समझता है और पिछली दोनों को सही।[३] ब्लुण्ट्श्ली राजनैतिक अनुसंधान के लिये केवल दार्शनिक तथा ऐतिहासिक पद्धतियों को ही सही समझता है।[४] एक नवीन फ्रेंच लेखक देसलेन्ड्रे (Deslandres) ने अपनी पुस्तक में राज्य-विज्ञान के अध्ययन की छह रीतियाँ

---

१ वार्ड (History of Political Philosophy, Vol. II, p. 200) तथा जेलिनेक (Recht des Modernen Staates, Bk. 1, Ch. 2) के मत से तुलना कीजिये। जेलिनेक का कथन है कि राज्य-विज्ञान की पद्धतियों के अच्छे से अच्छे लेखकों ने भी सत्य के समान प्रतीत होने वाली वस्तुओं को सत्य मानकर धोखा खाया है और गलतियाँ की हैं।

२. देखिये कोंत (Comte : Positive Philosophy tr. by Martineau, Vol. II, pp. 79-91)। उसने एक चौथी पद्धति—ऐतिहासिक—की भी कल्पना की थी जिसका प्रयोग उसके विचार से जटिलतम सामाजिक अवस्थाओं के अनुसंधान में होना चाहिए। वार्ड ने अपनी एक पुस्तक (History of Political Philosophy, Vol. II, pp. 220 ff) में कोंत के वर्गीकरण का विश्लेषण किया है और उसकी आलोचना भी की है।

३. देखिये, मिल (System of Logic, pp. 550-587).

४. देखिए ब्लुण्ट्श्ली (Theory of the State, Ch. 2)। दार्शनिक पद्धति का समर्थन करने वालों में काण्ट, हेगेल, बोसान्क्वे और टी० एच० ग्रीन के नाम उल्लेखनीय हैं। उनके सिद्धान्त का प्रतिपादन आगे पाँचवें अध्याय में किया गया है।

बतलाई है, समाज-वैज्ञानिक (Sociological), तुलनात्मक (Comparative), स्वमताभिमानी (Dogmatic), न्याय-सम्बन्धी (Juridical), सद्भावना की रीति (Method of good sense) तथा ऐतिहासिक (Historical)।

प्रयोगात्मक (Experimental) रीति

राज्य-विज्ञान के पद्धति-शास्त्र मे प्रयोगात्मक रीति को समुचित स्थान नही दिया गया है, क्योंकि समाज की प्रकृति ऐसी है कि उसमें कृत्रिम रीति से प्रयोग या परीक्षण करना सम्भव नहीं है। सर जॉर्ज सी० लेविस का कथन है कि किसी अमूर्त सत्य का निश्चय करने के लिए समाज-संगठन की परिस्थितियों एवं अवस्थाओं मे हम स्वेच्छापूर्वक परिवर्तन नही ला सकते। एक वैज्ञानिक रसायन के प्रयोगों मे जो कुछ करता है, उसे हम राजनीति में नही कर सकते। हम यह परीक्षा नही कर सकते कि किसी वस्तु पर तापमान के परिवर्तन का क्या प्रभाव पडता है, तरल द्रवों मे विघटन का और रासायनिक द्रव्यों के संयोग आदि का उस पर क्या प्रभाव पडता है। हम समाज के एक भाग को अपने हाथ मे लेकर, विविध सामाजिक समस्याओं का समाधान करने तथा अपनी जिज्ञासा को सन्तुष्ट करने के लिए, उसे विविध पहलुओं एव स्थानों मे नहीं देख सकते।"[1] यदि रसायन-वैज्ञानिक कुछ द्रवों के संयोग के प्रभाव का अध्ययन करना चाहे, तो वह कृत्रिम ढंग से विक्षेप डालने वाले कारणों को हटाकर अपने अध्ययन के अनुकूल स्थिति बनाकर कार्य कर सकता है। परन्तु यदि एक राज्य-वैज्ञानिक प्रजातन्त्र पर कुछ प्रयोग करना चाहे तो वह अपनी स्वतन्त्र इच्छा से किसी एक राज्य को चुनकर उसमें प्रजातन्त्र की प्रतिष्ठा करके उसके परिणामों के निश्चय के लिए प्रतीक्षा नही कर सकता।[2] इस प्रकार एक राज्य-वैज्ञानिक अपने परीक्षण से बाहरी प्रभावों को दूर नहीं कर सकता; उदाहरणार्थ, दुष्काल, व्यापारिक संकट, विप्लव और दूसरी घटनाएँ जैसी बातें जिनमे परीक्षण के परिणामों के नष्ट होने की सम्भावना हो।

जैसा लॉर्ड ब्राइस ने कहा है, जिन वस्तुओं पर एक रसायन-वैज्ञानिक कार्य करता है, वे सदैव समान होती हैं; उनका माप और वजन हो सकता है परन्तु मानव अवस्थाओं एवं स्थितियों का तो केवल वर्णन ही हो सकता है। हम ताप, शीत और वायु-प्रवाह का माप कर सकते है, परन्तु हम यह निश्चय नही कर सकते कि एक जनसमूह के मनोभाव कितने उग्र होते हैं। हम यह तो कह सकते हैं कि राजनीतिक

---

१. Sir George C. Lewis : Methods of Observation and Reasoning in Politics, Vol. I, p. 164 165.

२. लॉर्ड ब्राइस ने अपनी पुस्तक 'मॉडर्न डिमॉक्रेसीज' मे लिखा है कि 'भौतिक विज्ञान मे एक के बाद दूसरा प्रयोग उस समय तक अविरामरूप से किया जा सकता है जब तक अन्तिम परिणाम न मिल जाय; परन्तु राज्य-विज्ञान मे हम जिसे प्रयोग कहते हैं, उसे बार-बार नही दोहरा सकते; क्योंकि हम अवस्थाओं और स्थितियों को पुनः पहले जैसे रूप मे पैदा नहीं कर सकते। भौतिक विज्ञान मे ऐसा किया जा सकता है। भौतिक विज्ञान में भविष्यवाणी सत्य हो सकती है परन्तु राज्य विज्ञान में उसकी केवल सम्भावना ही हो सकती है।' (Lord Bryce : Modern Democracies, Vol. I. p. 14). यही मत वाहॉ (Vaughan) ने भी प्रकट किया है। देखिये, History of Political Philosophy, Vol. II, p. 201.

सकट के समय मन्त्रि मण्डल की राय का वजन होता है परन्तु वह कितना होगा, यह नही कहा जा सकता। लोकमत, मनोभाव और दूसरी चीजें जिनका राजनीति पर प्रभाव पड़ता है, उनकी नाप-तोल नही की जा सकती।[1]

यद्यपि भौतिक विज्ञान के प्रयोगो की भाँति राज्य के अध्ययन मे परीक्षण एवं प्रयोग नही किये जा सकते, तथापि व्यावहारिक परीक्षण तो जाने या अनजाने होते ही रहते हैं। कोत ने बताया है कि जब जब राज्य मे कोई ज्ञात या अज्ञात परिवर्तन होते हैं, तभी वास्तव में राजनीतिक प्रयोग होता रहता है। शासक समाज मे अनेक प्रकार के परीक्षण करते रहते हैं। वास्तव मे राज्य के जीवन में जो-जो कृत्य होते हैं, वे सभी प्रयोग ही हैं। प्रत्येक नये नियम का निर्माण, प्रत्येक नूतन संस्था की प्रतिष्ठा प्रत्येक नवीन नीति की घोषणा, ये सब इस अर्थ मे परीक्षण ही हैं कि वे उस समय तक अस्थायी ही रहते हैं, जब तक उनके परिणामो मे यह न मालूम हो कि वे स्थायी बनाने के योग्य हैं। लॉर्ड ब्राइस ने अपनी "अमेरिकन कॉमनवेल्थ" पुस्तक मे लिखा है कि अमेरिकन सघ-प्रणाली की एक विशेषता यह है कि वह नियम-निर्माण मे जनता को एक ऐसा प्रयोग करने के लिए सुयोग देती है जो एक विशाल एकतन्त्रीय राज्य मे सम्भव नही। किसी नवीन कानून या नवीन नीति के प्रयोग-काल म अनुभव द्वारा जो त्रुटियाँ प्रतीत होती हैं, उनका निवारण व्यवस्थापिका-सभा मे उस नियम कानून या नीति मे संशोधन करके उसे समाज की आवश्यकता एव आकाक्षा के अनुकूल बनाया जा सकता है। यह एक प्रकार से परीक्षण ही है।

समाज-वैज्ञानिक (Sociological), जीव-वैज्ञानिक (Biological) एव मनोवैज्ञानिक (Psychological) रीतियाँ

समाज-वैज्ञानिक रीति राज्य को एक सामाजिक शरीर मानती है जिसके अग व्यक्ति हैं और राज्य के लक्षणो एव गुणो का अनुमान उन व्यक्तियो के लक्षणो तथा गुणो से लगाती है। इसमे राज्य के जीवन एव प्रवृत्तियों की व्याख्या विकासवाद के अनुसार उसी प्रकार की जाती है, जिस प्रकार विकासवाद के अनुसार व्यक्ति की प्रगति का निरूपण किया जाता है। इस समाज-वैज्ञानिक प्रणाली से मिलती-जुलती जीव-वैज्ञानिक पद्धति है। इसके अनुसार राज्य मे वही गुण और लक्षण माने जाते हैं जो एक जीवित शरीर मे पाये जाते है। इस जीव-वैज्ञानिक पद्धति के अनुसार राज्य के विविध अंगो, कार्यों तथा प्रवृत्तियों की व्याख्या ऐसे की जाती है, मानो वह कोई जीवधारी हो। जिन विद्वानो ने संगठित समाज का अध्ययन समाज विज्ञान तथा जीव-विज्ञान की प्रणालियो से किया है, उनमे ऑगस्ट कॉत, हर्बर्ट स्पेन्सर, गमप्लॉविक्ज, दुरखीम आदि उल्लेखनीय हैं। कोत ने समाज के अध्ययन मे 'सामाजिक भौतिक विज्ञान' (Social Physics) और 'सामाजिक शरीर विज्ञान' (Social Physiology) पर विचार किया है। स्पेन्सर ने जीव और समाज मे एकरूपता का दर्शन किया। उसके अनुसार समाज में जीव की भाँति ही 'पोषण प्रणाली' (Sustaining System), 'वितरण प्रणाली' (Distributing System) और नियमन तथा व्यय करने वाली प्रणाली (Regulating and Expending System) होती है।

समाज-विज्ञान तथा जीव-विज्ञान की प्रणालियो के विरुद्ध सबसे मुख्य आपत्ति यह है कि ये अनुसन्धान की रीतियाँ नही हैं, प्रत्युत राज्य के सम्बन्ध मे विचार करने के लिए दृष्टिकोण हैं। जीव-विज्ञान की प्रणाली मुख्यकर सादृश्य के आधार पर टिकी

---

१. Modern Democracies, Vol. I, p. 14.

हुई है न कि जीव तथा समाज के आवश्यक तत्वों की वास्तविक समानता पर। वह जीव-विज्ञान के नियमों को राज्य या समाज के जीवन के विकास के सम्बन्ध में इस प्रकार लागू करती है, मानो साररूप से इन दोनों में कोई भेद ही न हो। तनिक विचार करने पर यह स्पष्ट हो जायगा कि मानव शरीर और समाज-संगठन में केवल ऊपरी समानता है; एक के विकास के सम्बन्ध में जो नियम लागू हो सकते हैं, वे दूसरे के सम्बन्ध में लागू नहीं होते और सादृश्य पर ज़ोर देने से कुछ लाभ नहीं है।[1] गिडिंग्ज का कथन है कि इसी कारण इस विषय के प्रायः सभी अनुसंधानकर्त्ताओं ने जीव-विज्ञान के सादृश्यों के आधार पर समाज-विज्ञान का भवन खड़ा करने का प्रयत्न छोड़ दिया है।[2]

मनोवैज्ञानिक प्रणाली के सम्बन्ध में भी, जिसे अनेक लेखकों ने पिछले कुछ वर्षों में अपनाकर सामाजिक स्थिति एवं सामाजिक संस्थाओं की व्याख्या मनोवैज्ञानिक नियमों के प्रकाश में की है, कुछ अंश तक यही बात कही जा सकती है।

कानूनी (Juridical) प्रणाली

राज्य के अध्ययन की एक पद्धति कानूनी (Juristic or Juridical) है जिसे जर्मनी के लेखकों ने और उनसे कुछ ही कम दर्जे तक फ्रांस के लेखकों ने अपनाया है। यह कानून के विशेषज्ञों का ढंग अथवा दृष्टिबिन्दु है।[3] जेलिनेक के अनुसार इस प्रणाली का मुख्य प्रयोजन सार्वजनिक कानूनों एवं नियमों के तत्व को निश्चित करना और इससे उनके परिणामों को निकालना है। इस प्रणाली के अनुसार राज्य एक कानूनी व्यक्ति या संस्था है और राज्य-विज्ञान कानूनी आदर्श का विज्ञान है। राज्य को एक सामाजिक शरीर माननेवाले विज्ञान से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। इसके अनुसार राज्य मुख्यतः एक ऐसा संगठन है जिसका उद्देश्य कानून की रचना और उसका पालन करना है। संक्षेप में, इस कानूनी-प्रणाली के अनुसार, संगठित समाज कोई राजनीतिक या सामाजिक संगठन नहीं है; वह तो एक विशुद्ध कानूनी व्यवस्था है; विशुद्ध तर्क और बुद्धि के आधार पर निर्मित सार्वजनिक कानूनी अधिकारों एवं कर्त्तव्यों का समुच्चय है। राज्य के विकास और उसकी वृद्धि का ज्ञान उस सामाजिक तथा कानून के क्षेत्र से बाहर की शक्तियों पर विचार किये बिना नहीं हो सकता जो विधान के आधार में होती हैं और जो राज्य के अनेक कामों के लिए उत्तरदायी होती हैं। इसलिए वह सिद्धान्त, जो राज्य को केवल कानूनी व्यक्ति (कॉरपोरेशन) मानता है, उसी प्रकार संकुचित और व्यर्थ है, जैसे हेगल का यह विचार कि राज्य केवल एक नैतिक सत्ता है।

तुलनात्मक (Comparative) प्रणाली

इस प्रणाली का प्रयोग प्राचीन काल में अरस्तू ने किया था; बाद में मॉन्टेस्क्यू, टॉकविल तथा ब्राइस आदि विद्वानों ने किया। इस प्रणाली का उद्देश्य वर्तमान

---

१. वाहौं ने यह तो माना है कि जीव-विज्ञान राजनैतिक एवं नैतिक अनुसंधान पर कुछ प्रकाश डाल सकता है, परन्तु उसका कथन है कि उसका व्यावहारिक मूल्य बहुत बढ़ाकर माना गया है (History of Philosophy, Vol. II, p. 200)।
२. गिडिंग्ज (Democracy and Imperialism, p. 29)।
३. कानूनी पद्धति का सर्वप्रथम १८६५ में जर्मन विद्वान् गर्बर (Gerber) ने प्रतिपादन किया था।

तथा प्राचीन राज्यों एवं राजनैतिक संस्थाओं का अध्ययन कर एक सुनिश्चित विचार-सामग्री का संचय करना है जिसमें से अनुसंधानकर्त्ता तुलना करके आवश्यक सामग्री को लेकर तथा अनावश्यक सामग्री को छोड़कर राजनैतिक इतिहास की प्रगतिशील शक्तियों तथा आदर्शों को मालूम कर सके। उन राज्यों एवं राज्य-संस्थाओं का ही समुचित रीति से तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है, जो एक ही युग की हों, जिनका सामान्य ऐतिहासिक आधार हो और जिनकी सामान्य ऐतिहासिक, राजनीतिक और सामाजिक संस्थाएँ हों। फ्रेंच लेखक सेलिले (Saleilles) के अनुसार तुलनात्मक प्रणाली उस 'सामान्य तरंग' (general current) को खोजती है जो समस्त शासन-विधानों में होकर गुजरती है और जिस पर अनुभव ने अपनी स्वीकृति की मुहर लगा दी है।[1] इस प्रणाली में खतरा यह है कि इसके अनुसार काम करने में यह गलती हो सकती है कि सामान्य सिद्धान्तों को स्थिर करते समय परिस्थितियों एवं अवस्थाओं की विविधताओं की उपेक्षा कर दी जाय जैसे, विविध देशों की जनता की प्रतिभा और उसका स्वभाव, आर्थिक एवं सामाजिक अवस्थाएँ, नैतिक और कानूनी मापदण्ड, राजनीतिक शिक्षा एवं अनुभव। दार्शनिक मिल ने यह दिखलाने का प्रयत्न किया था कि तुलनात्मक प्रणाली के अनेक रूप हो सकते हैं। इनमें सबसे पूर्ण रूप वह है जिसके अनुसार एक बात को छोड़ कर शेष सब बातों में समान दो राजनीतिक संस्थाओं का अध्ययन इसलिये किया जाता है कि उनसे उस भिन्न तत्व का प्रभाव ज्ञात हो सके। इस रूप का भेद की रीति (Process of Difference) कहते हैं। इस प्रकार दो ऐसे राज्यों का अध्ययन इस नीति के अनुसार किया जाता है जो अपनी प्राकृतिक सम्पत्ति, कानूनी प्रणाली, प्रजातीय दशाओं आदि में समान हैं परन्तु जिनमें से एक व्यापार के सम्बन्ध में प्रतिबन्धों की व्यवस्था करता है। अतः यदि इन राज्यों में से एक अधिक ऐश्वर्यशाली और समृद्ध है तो इससे व्यापारिक नीतियों का राष्ट्र की समृद्धि पर प्रभाव मालूम हो सकता है और इस सम्बन्ध में एक सामान्य

१. लॉर्ड ब्राइस ने इस पद्धति का उपयोग किया था। उसने लिखा है कि इस पद्धति को वैज्ञानिक कहलाने का अधिकार इस कारण है कि यह विभिन्न देशों की संस्थाओं की तुलना करने में उन विशेष डालने वाले प्रभावों को छोड़ देती है जो किसी देश में हैं और किसी में नहीं है और जिनके कारण परिणाम कुछ बातों में समान और कुछ में भिन्न होते हैं और इस प्रकार यह समान घटनाओं के समान कारण बतलाते हुए सामान्य निष्कर्ष निकालती है। जब इस विधि से प्रजातन्त्रीय शासनों के कार्यों के अन्तर देखे जाते हैं तो स्थानीय या विशिष्ट, शारीरिक, जातीय अथवा आर्थिक अवस्थाओं की परीक्षा की जाती है जिससे यह मालूम हो सके कि अन्तर इन्हीं विभिन्नताओं के कारण है या अन्य किन्हीं कारणों से। यदि अन्तर उनके कारण नहीं हो तो हमें संस्थाओं की परीक्षा करनी चाहिए और देखना चाहिए कि कौन सी संस्थाओं ने सबसे अधिक सफलता प्राप्त की है। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि शासन के कौन से रूप से हमें अधिक से अधिक सफलता मिलने की आशा हो सकती है। विभिन्न लोकप्रिय सरकारों के अन्तरों के कारण मालूम हो जाने के बाद जो समानताएँ रह जायँगी, उनको समष्टि रूप से लोकतन्त्रीय मानव-प्रकृति का नाम दे सकते हैं अर्थात् यह कह सकते हैं कि प्रजातन्त्र के नागरिकों और प्रजातन्त्रीय समाज की यही सामान्य अथवा स्थायी आदतें एवं प्रवृत्तियाँ हैं। (Modern Democracies, Vol. I, p. 18.)

नियम स्थिर किया जा सकता है। अप्रत्यक्ष भेद की पद्धति के अनुसार ऐसे दो राज्यों का अध्ययन किया जाता है जिनमें केवल इस एक बात को छोड कर किसी बात मे भी समता नही होती कि एक राज्य मे एक तत्व विद्यमान है और दूसरे मे उसका अभाव है। उदाहरण के लिए, एक व्यापारिक संरक्षण के समर्थक राज्य की तुलना दो-तीन मुक्त व्यापार की नीति वाले राज्यों से की जा सकती है। दूसरी प्रणाली समानता की प्रणाली (Method of agreement) है। इसके अनुसार ऐसे दो विभिन्न राज्यो को तुलना परस्पर को जा सकती है जो केवल दो बातो मे समान हो और शेष बातो मे बिलकुल भिन्न। यदि दो राष्ट्रो अथवा राज्यो मे व्यापार-सम्बन्धी संरक्षण की नीति का पालन होता है और वे दोनो ही सम्पन्न हैं तो इस प्रणाली के अनुसार देश की समृद्धि और व्यापारिक संरक्षणों मे एक सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है। विभिन्नता की प्रणाली के समान यह समानता की प्रणाली भी दोषपूर्ण है क्योंकि देशो की राज्य-प्रणालियों की तुलना से हम निश्चयपूर्वक यह निष्कर्ष नही निकाल सकते कि अमुक देश मे सुख-समृद्धि इसलिए है कि वह एक नीति-विशेष का पालन करता है। देश या राष्ट्र की ऐश्वर्यशीलता एवं समृद्धि किसी एक कारण से नही, प्रत्युत अनेक कारणो से होती है। अतः तुलना द्वारा इस परिणाम पर पहुँचना सम्भव नही कि वह किसी एक कारण द्वारा हुई है।[1]

ऐतिहासिक (Historical) प्रणाली

तुलनात्मक प्रणाली के एक रूप विशेष का नाम ऐतिहासिक प्रणाली है क्योंकि राज्य-विज्ञान के लिए प्राचीन राज्य-संस्थाओं एवं राज्य-प्रणालियों का तनिक भी मूल्य नहीं होता जब तक उनका तुलनात्मक अध्ययन न हो। आजकल राजनीतिक संस्थाओं के, जिनकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमियाँ हैं, वैज्ञानिक अनुसंधान के लिए उनके ऐतिहासिक अध्ययन की आवश्यकता पर जोर देना साधारण-सी बात हो गई है। उनका सम्यक् ज्ञान उनके अतीत के इतिहास द्वारा ही सम्भव है। उनका विकास कैसे हुआ है, उन्होंने अपना ऐसा विकास कैसे किया और वे अपने उद्देश्यों की प्राप्ति मे कहाँ तक सफल हुई हैं[2] आदि बातो का अध्ययन आवश्यक है। शासन-विधान विकसित होते हैं, बनाये नहीं जाते, इस उक्ति का उपर्युक्त सत्य से पृथक् कोई मूल्य नहीं है। सर फ्रेडरिक पॉलक के मतानुसार ऐतिहासिक प्रणाली यह विचार करती है कि संस्थाओं का क्या रूप है और उनका क्या रूप बनता जा रहा है। इस बात का विचार करने मे वह यह जानने का प्रयत्न करती है कि भूत काल मे वे संस्थाएँ कैसी थी और उनका वर्तमान स्वरूप कैसे बना, उनकी वर्तमान अवस्था का विश्लेषण करने का नही[3]। उनके

---

१. Bain, Deductive and Inductive Logic, p. 565.

२. ऐतिहासिक प्रणाली के स्वरूप एवं मूल्य पर जेलिनेक ने विचार किया है (Jellinek, Recht des modernen Staates, Ch. 2). फ्रांस में मॉन्टेस्क्यू जर्मनी में सेविग्नी तथा इंगलैंड में सर हेनरीमेन उन विख्यात विद्वानों में से हुए हैं जिन्होंने इस प्रणाली का प्रयोग किया है। उनके काम के विषय मे देखिये, Barker . Political Thought from Spencer to the Present Day, Ch. 6.

३. History of the Science of Politics, p. 11.

मतानुसार यह ऐतिहासिक प्रणाली मानव संस्थाओं के सम्बन्ध में विकासवाद के प्रयोग के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यह अतीत के महान् राजनीतिक आन्दोलनों एवं संघर्षों की आलोचना करती है और राष्ट्रीय जीवन के सावयव विकास की ओर संकेत करती है, राजनीतिक विचारों का उनके जन्म से वर्तमान युग में उनके वास्तविक संस्थाओं के रूप में व्यक्त होने तक उनके विकास पर विचार करती है। इतिहास में व्यक्त नैतिक भावों एवं विचारों को प्रकट करती है और इस प्रकार यह मानव प्रगति के मार्ग की ओर हमें ले जाती है।

परन्तु ऐतिहासिक प्रणाली में भी अन्य प्रणालियों की तरह त्रुटियाँ हैं। लॉर्ड ब्राइस ने हमें ऊपरी थोथी समानताओं के विरुद्ध चेतावनी दी है। उनके विचार में तथाकथित ऐतिहासिक तुलनाएँ बहुत ही मनोरंजक और प्रकाश डालने वाली होती हैं परन्तु वे प्रायः भ्रांतिमूलक भी होती हैं। ऐसी तुलनाओं में सदैव यह खतरा रहता है कि सामान्य कारणों के साथ वैयक्तिक अथवा आकस्मिक कारणों को मिला दिया जाय। उदाहरणार्थ, किसी भी देश के निर्माण में किसी प्रमुख व्यक्तित्व को आवश्यकता से भी अधिक महत्व दे देना। उसने यह स्पष्टरूप से बतलाया है कि ऐतिहासिक अनुसन्धानकर्ता को सदैव भावुकता से प्रभावित होने का डर रहता है, इस प्रकार का प्रभाव एक रासायनिक प्रयोगकर्ता पर नहीं पड़ता। उसे हाइड्रो-कारबन में न प्रेम ही होता है और न ग्लानि ही परन्तु ऐतिहासिक अनुसंधानकर्त्ता पर उसके धार्मिक विचारों, राजनीतिक पक्षपात, जातीय भेद-भावों अथवा उसके दार्शनिक सिद्धान्तों का जाने या अनजाने प्रभाव पड़ सकता है।

सीले (Seeley) ने बतलाया है कि अनुसन्धानकर्त्ताओं का आदर्श और यथार्थ को शामिल कर लेने का बड़ा जबरदस्त प्रलोभन रहता है। यह प्रलोभन सिजविक और पॉलक के विचारों में मिलता है (जो प्लेटो तथा अरस्तू के भी विचार थे) जिनके अनुसार राज्य-विज्ञान का मुख्य ध्येय आदर्श या पूर्ण राज्य की खोज है। इस ध्येय की प्राप्ति के लिए राज्य विज्ञान को सबसे प्रथम यह विचार करना है कि राज्य का लक्ष्य क्या है और इस प्रश्न का सन्तोषप्रद उत्तर प्राप्त होने के उपरान्त उसे यह खोज करना है कि इस ध्येय की प्राप्ति के लिए कौनसी संस्थाएँ एवं कानून सर्वश्रेष्ठ हैं। सीले ने इस प्रणाली को अस्वाभाविक और व्यर्थ कहा है। सीले राज्य के लक्ष्य तथा सर्वोत्तम राज्य के लक्षण पर विचार करने की अपेक्षा सर्वप्रथम उन राज्यों का वर्गीकरण करना चाहता है, जिनका उसे अध्ययन करना है। इसके बाद वह एक विशेष राज्य के संगठन का विश्लेषण कर उसके विविध अंगों के कार्यों में भेद करना चाहता है, इसके बाद वह उसके जीवन के इतिहास की असाधारण अव-

---

१. देखिए ब्राइस (Modern Democracies, Vol I, p 15) सिजविक की दृष्टि में इस पद्धति का विशेष मूल्य नहीं है। उसका कथन था कि राज्य विज्ञान का मुख्य लक्ष्य शासन के संगठन एवं कार्यों के सम्बन्ध में आदर्श का निरूपण करना है और इस लक्ष्य की पूर्ति शासन के संगठनों एवं कार्यों के ऐतिहासिक अध्ययन से नहीं हो सकती। इस पर भी वह इतना मानता था कि राज्य-विज्ञान में ऐतिहासिक प्रणाली का कुछ मूल्य अवश्य है क्योंकि इसके द्वारा हम राजनैतिक विकास के नियमों का निश्चय कर सकते हैं और उनके आधार पर भविष्यवाणी कर सकते हैं। (Development of European Polity, p. 5; also Elements of Politics, pp. 7-14).

स्थाओ पर ध्यान देते हुए उसके विकास एव वृद्धि का विवेचन करना और अन्त मे सामान्यरूप से राज्य के स्वरूप एव प्रकृति पर अपने दार्शनिक विचार अभिव्यक्त करना चाहता है। विभिन्न पर्यवेक्षको ने विशद तथ्यो का जो संग्रह किया है, उसकी वैज्ञानिक रीति से जाँच करनी चाहिए। सीले का यह अभिमत है कि हमे विचार करना चाहिए, तर्क करना चाहिए और सामान्यीकरण करना चाहिए, परिभाषा करनी चाहिए तथा भेद करना चाहिए। हमे तथ्यो का सग्रह करना चाहिए, उनकी प्रामाणिकता के सम्बन्ध मे जाँच एव परीक्षा करनी चाहिए। यदि हम पहली विधि को अवहेलना करें तो हमारा तथ्यो का सग्रह व्यर्थ होगा, क्योकि हमारे पास कोई ऐसी कसौटी नही होगी जिसके द्वारा हम महत्वपूर्ण तथ्यों को अमहत्वपूर्ण तथ्यो से अलग कर सकें और यदि हम दूसरी विधि की अपेक्षा करें तो हमारे तर्क निराधार होंगे, हम केवल पाडित्यपूर्ण जाल ही बुन सकेंगे।'[1]

पर्यवेक्षण (Observation) की प्रणाली

लॉर्ड ब्राइस ने पर्यवेक्षण की प्रणाली अर्थात् अति निकट सम्पर्क मे रह कर सरकारो तथा राजनीतिक संस्थाओं के वास्तविक कार्यों के अध्ययन पर सबसे अधिक जोर दिया है। इस प्रणाली के अनुसार उसने स्वय भी अध्ययन किया था।

वह जिन देशो की शासन-प्रणालियो का अध्ययन करना चाहता था, उन देशो मे वह स्वयं गया, वहाँ के नेताओ, राज्य-मत्रियों एव अन्य सरकारी कर्मचारियो से मिला, वार्त्ता की, बहस की, राज-संस्थाओं की कार्य-पद्धति को स्वयं देखा और उसने इस प्रकार बडा ज्ञान-सग्रह किया। उसका यह विचार है कि राजनीतिक पर्यवेक्षक को अपना अध्ययन केवल एक देश तक ही सीमित नही रखना चाहिये। उसे अपना क्षेत्र व्यापक बना कर समस्त देशों को अपने अध्ययन का विषय बनाना चाहिए। मानव प्रकृति के मूल तत्व सब स्थानो पर समान है परन्तु राजनीतिक परम्पराएँ, स्वभाव एवं विचार सब स्थानो मे भिन्न-भिन्न है। राजनीतिक पर्यवेक्षक को उसने एक बडी अच्छी सलाह और चेतावनी दी है जो यह है कि उसे ऊपरी समानताओ तथा घातक एकरूपताओं से सावधान रहना चाहिए ; उसे ऐसे सामान्य सिद्धान्त स्थिर न करने चाहिए जिनका आधार तथ्यो पर न हो। उसे जिन साधनो से ज्ञान मिले, उनके सम्बन्ध मे काफी जाँच करनी चाहिए और उसे सामान्य कारणों से व्यक्तिगत एव आकस्मिक कारणो को अलग करना चाहिए। सर्वप्रथम आवश्यकता तो तथ्य को प्राप्त करने की है। यह निश्चय करलो कि वह सत्य है—प्रामाणिक है, उसे स्पष्ट कर लो, फिर उसे सुन्दर रूप देने का प्रयास करो जिससे वह रत्नो की भाँति जगमगावे। उसका अन्य तथ्यो से सम्बन्ध स्थापित करो। उनके सम्बन्ध मे उस तथ्य की भली-भाँति परीक्षा करो, क्योकि इसी मे उसका मूल्य है। अकेले उसका कोई मूल्य नही है। इस प्रकार उसे हार का एक हीरा, अपने भवन की एक शिला या यो कहो, आधारशिला बना दो।[2]

---

१. Introduction to Political Science, p 19.

२. सभापति-पद म दिए हुए भाषण से उद्धृत (American Political Science Review, Vol. III, p. 10)। तुलना कीजिये (Modern Democracies, Vol. I, p. 17)। प्रेसिडेन्ट लॉवेल का मत है कि राज्य-विज्ञान पर्यवेक्षणात्मक विज्ञान है, प्रयोगात्मक नही। राज्य-विज्ञान की प्रयोगशाला वास्तव मे एक पुस्तकालय नही, वरन् राजनैतिक जीवन का बाहरी संसार है और अनुसंधान-

मुख्य पाठ्य-ग्रन्थ

Bluntschli, "Theory of the State", Intro., Ch. 2.

Bryce, "Modern Democracies" (1921), Vol. I, Ch. 2 ; also his presidential address before the American Political Science Association, "Relations of Political Science to History", "*American Political Science Review*", Vol. III (1904), p. 1, ff.

Catlin, "The Science and Method of Politics" (1927) Pt I, Ch. 3.

Jellinek, 'Recht des Modernen Staates" (1905), Vol. I, Ch. 2.

Lewis, "Methods of Observation and Reasoning in Politics" (1842), Vol I, Chs. 5-6.

Lowell, Presidential address, "The Physiology of Politics" *American Political Science Review*, Vol. IV (1910), pp. 1-16.

Mill, "System of Logic" (8th Ed, 1906) Bk. VI, Chs, 6-10.

Seeley, 'Introduction to Political Science" (1896), Lecture II.

कर्ता को स्वयं घटनाओं को ढूंढना और उनका पर्यवेक्षण करना चाहिए। ('The Physiology of Politics', American Political Science Review, Vol. IV, p. 8).

अध्याय ३

राज्य-विज्ञान का अन्य विज्ञानों से सम्बन्ध

राज्य-विज्ञान के सहायक विज्ञान

राज्य-विज्ञान ही अकेला विज्ञान नहीं है जो संगठित समाज में मनुष्य का अध्ययन करता है क्योंकि हम देख चुके हैं कि राज्य जिस प्रकार एक राजनीतिक शरीर के रूप में व्यक्त होता है, उसी प्रकार वह एक सामाजिक शरीर के रूप में भी व्यक्त होता है और उसमें शारीरिक एवं मानसिक तत्व भी होते हैं। यद्यपि राज्य-विज्ञान एक स्वतन्त्र विज्ञान है और किसी दूसरे विज्ञान का केवल अंगमात्र ही नहीं है तथापि दूसरे विज्ञानों से वह उसी प्रकार असम्बद्ध नहीं है जिस प्रकार राज्य इस दृश्य घटनामय जगत् में एकाकी और असंबद्ध नहीं है। हम दूसरे सहायक विज्ञानों का यथावत् ज्ञान प्राप्त किये बिना राज्य-विज्ञान एवं राज्य का पूर्ण ज्ञान ठीक उसी प्रकार प्राप्त नहीं कर सकते जिस प्रकार गणित के बिना यन्त्र-विज्ञान और रसायनशास्त्र के बिना जीव-विज्ञान का यथावत् ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। सुप्रसिद्ध फ्रेन्च लेखक पॉल जैनेट (Paul Janet) ने यह ठीक ही कहा है—"राज्य-विज्ञान का अनेक विज्ञानों से निकट सम्बन्ध है; यथा, राजनीतिक-अर्थशास्त्र अथवा सम्पत्ति-विज्ञान से, कानून से, जो चाहे प्राकृतिक हो या मनुष्यकृत (Positive), जिसका सम्बन्ध नागरिकों के पारस्परिक सम्बन्ध से, है, इतिहास से जो उसके लिए आवश्यक सामग्री जुटाता है, दर्शनशास्त्र से और विशेषकर आचार-शास्त्र से जिसमें राज्य-विज्ञान को कुछ सिद्धान्त मिलते हैं।" दूसरे लेखकों ने भूगोल, मानव-विज्ञान, जाति-विज्ञान, मनोविज्ञान तथा नीति-शास्त्र को भी राज्य-विज्ञान के सहायक माने हैं। प्राचीन काल के लेखकों में प्रत्येक विज्ञान की स्वतन्त्रता स्थापित करने की प्रवृत्ति प्रधान थी, यद्यपि इसमें उन विज्ञानों को हानि पहुँची थी, परन्तु आधुनिक लेखकों में विविध विज्ञानों के पार्थक्य की अपेक्षा पारस्परिक सम्बन्ध पर विशेष जोर देने की प्रवृत्ति है। इस सम्बन्ध में सिजविक ने उचित ही कहा है कि प्रत्येक विज्ञान एवं ज्ञान के लिए यह बात उपयुक्त है कि वह दूसरे विज्ञानों के साथ सम्बन्ध स्थापित करे और इसका निर्णय करे कि उन विज्ञानों के तर्क के कौन-कौन से तत्व उनसे अपने लिए ग्रहण करना उपयोगी होगा और वह स्वयं उन्हें क्या दे सकेगा। इस प्रकार राज्य-विज्ञान को अपना सामान्य लक्ष्य प्राप्त करने के लिए दूसरे सहायक सामाजिक विज्ञानों के साथ एक भागीदार की तरह कार्य करना चाहिए।

समाज-विज्ञान से सम्बन्ध

सर्वप्रथम राज्य-विज्ञान का समाज-विज्ञान (Sociology) से, जिसे हम आधारभूत सामाजिक विज्ञान कह सकते हैं, कई प्रकार के सम्बन्ध हैं। राज्य एक सामाजिक एवं राजनीतिक वस्तु अथवा संगठन है और जैसा रेट्जन-हॉफर (Ratzen-

hofer) ने कहा है, वह अपनी प्रारम्भिक स्थिति में एक राजनीतिक सस्था की अपेक्षा सामाजिक सस्था ही अधिक होती है। यह वास्तव मे सत्य ही है कि राजनीतिक तथ्यों का आधार सामाजिक तथ्यो मे है और यदि राज्य-विज्ञान समाज-विज्ञान से भिन्न है तो वह इसी कारण है कि उसके विस्तृत क्षेत्र के समुचित विवेचन के लिए विशेषज्ञों की आवश्यकता होती है, इसलिए नही कि राज्य-विज्ञान तथा सामाजिक विज्ञान के बीच कोई सुनिश्चित विभाजन-रेखा है।[1] यद्यपि इन दोनो विज्ञानो में अनेक बातो मे साम्य है और वह यहाँ तक है कि दोनो के बीच कोई प्राकृतिक सीमाएं नही हैं तथापि वैज्ञानिक अनुसधान के लिए दोनो के क्षेत्र निश्चितरूप से पृथक् कर लिए गये हैं। यह स्वीकार कर लेना न्यायसगत है कि दोनो के क्षेत्र और उनकी समस्याएं किसी प्रकार भी समान नहीं हैं।

सामान्यतया हम यह कह सकते हैं कि समाज-विज्ञान का सम्बन्ध व्यक्तियों के समूह के रूप मे समाज के वैज्ञानिक अध्ययन से है; राज्य-विज्ञान समाज के एक विशेष भाग से, जो एक सगठित इकाई समझा जाता है, अपना सम्बन्ध रखता है। राज्य-विज्ञान का सम्बन्ध मानव समाज से उसी समय है जबकि वह एक राज्य के रूप मे सगठित हो चुका हो ; जिस समाज पर राजनीतिक सगठन की छाप नही पडी है, उसके लिए राज्य-विज्ञान केवल एक स्वीकृत सिद्धान्त है। अत राज्य-विज्ञान का क्षेत्र अति सीमित और सकुचित है और उसका प्रारम्भ मानव समाज के जीवन मे समाज-विज्ञान की अपेक्षा देर से होता है। राज्य की स्थापना से पूर्व मानव समाज की सस्थाओ एव उसके जीवन का अध्ययन इतिहास एव समाज-विज्ञान का विषय है। राज्य-विज्ञान का उससे कोई सम्बन्ध नहीं है। राज्य-विज्ञान का समाज-सगठन के केवल एक रूप से सम्बन्ध है और वह है—राज्य (State)। समाज-विज्ञान मानव समाज के समस्त समुदायो से सम्पर्क रखता है। राज्य-विज्ञान मानव को एक राजनीतिक प्राणी मानकर अपना काम प्रारम्भ करता है, वह समाज-विज्ञान की तरह इस बात की व्याख्या नही करता कि वह क्यों और कैसे राजनीतिक प्राणी बन गया।

समाज-विज्ञान मे अध्ययन की इकाई व्यक्ति है जिसे हम केवल एक प्राणी अथवा चेतन सत्ता नहीं, वरन् एक पडौसी, एक नागरिक, एक सहकर्मी, सक्षेप मे एक सामाजिक जीव के रूप में मानते हैं।[2] राज्य-विज्ञान मे अध्ययन की इकाई राष्ट्र, जाति, परिवार आदि से भिन्न राज्य है। यद्यपि वह उनसे असम्बद्ध नहीं है, अर्थात् उसका मुख्य विषय समाज का वह निश्चित भाग है जिसमे राजनीतिक चेतना काफी दर्जे तक व्यक्त हो चुकी हो और जो राजनीतिक रूप मे सगठित हो गया हो। इस प्रकार यद्यपि राज्य-विज्ञान तथा समाज-विज्ञान के क्षेत्र विभिन्न हैं परन्तु दोनो एक-दूसरे के सहायक हैं। समाज-विज्ञान राज्य-विज्ञान से राज्य के सगठन एव कार्यों के सम्बन्ध मे तथ्यो का ज्ञान प्राप्त करता है और राज्य-विज्ञान समाज-विज्ञान से राजसत्ता के प्रादुर्भाव एव सामाजिक नियन्त्रण के नियमों की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे ज्ञान प्राप्त करता

---

1. देखिये, Ross Foundation of Sociology, p. 22. Giddings का कथन है कि आधुनिक काल मे राज्य-विज्ञान ने जो सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कदम उठाया है, वह यह है कि उसने यह मालूम कर लिया है कि उसके अध्ययन के क्षेत्र की सीमा वही नही है जो समाज के अध्ययन के क्षेत्र की है और दोनो के क्षेत्र पृथक् किये जा सकते है। (Principles of Sociology, p. 35)।
2. तुलना कीजिये, Giddings: Elements of Sociology, p. 11.

है।[1] इस प्रकार राज्य-वैज्ञानिक को समाज-शास्त्री और समाज-शास्त्री को राज्य-विज्ञान-विशारद होना चाहिए।[2]

इतिहास से सम्बन्ध

राज्य-विज्ञान का इतिहास से भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। जेलिनेक की उक्ति के अनुसार यह आजकल सर्वमान्य सत्य है कि राजनीतिक, सामाजिक एवं कानूनी संस्थाओं का समुचित ज्ञान प्राप्त करने के लिए उनके ऐतिहासिक अध्ययन की आवश्यकता होती है। राज्य-विज्ञान-विशारद को केवल राजनीतिक संस्थाओं की प्रकृति का ही अध्ययन नहीं करना चाहिए, प्रत्युत उसे इस बात की भी जाँच करनी चाहिए कि उनका विकास कैसे हुआ और उन्होंने अपने उद्देश्यों की पूर्ति में कहाँ तक सफलता प्राप्त की है। इतिहास द्वारा हमें तुलना तथा अनुमान के लिए विशद सामग्री प्राप्त होती है। राजनीतिक इतिहास के सम्बन्ध में तो यह बात पूर्णतः सत्य है क्योंकि राजनीतिक इतिहास में राज्यों के निर्माण, उनके विकास प्रगति और पतन पर प्रकाश डाला जाता है। इतिहास राज्य-विज्ञान के लिए एक बड़ी मात्रा में सामग्री प्रदान करता है, परन्तु जैसे एक बार फीमैन ने कहा था, यह सत्य नहीं है कि इतिहास अतीत की राजनीति है अथवा राजनीति वर्तमान का इतिहास है। समस्त इतिहास अतीत की राजनीति नहीं है, इतिहास के अधिकांश से जैसे कला, विज्ञान, आविष्कार, अन्वेषण, युद्ध, भाषा, रीति-रिवाज, वस्त्रालंकार, उद्योग-व्यवसाय तथा धार्मिक विवादों के इतिहास से राजनीति का कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है और न इनसे राज्य-विज्ञान के अध्ययन की सामग्री ही प्राप्त होती है और न समस्त राज्य-विज्ञान ही इतिहास है। उसका अधिकांश विशुद्ध दार्शनिक एवं विचारात्मक होता है जो इतिहास की कोटि में नहीं आ सकता। राज्य-विज्ञान को भली-भाँति समझने के लिए हमें उसका ऐतिहासिक दृष्टि से अध्ययन करना चाहिए। इसी प्रकार इतिहास को भलीभाँति हृदयङ्गम करने के लिए हमें उसका राजनीतिक दृष्टि से अध्ययन करना चाहिए। इस प्रकार अध्ययन की दृष्टि से वे एक-दूसरे के सहायक और पूरक हैं। प्रोफेसर सील का कथन है कि 'इतिहास द्वारा उदार हुए बिना राज्य-विज्ञान अशिष्ट है और इतिहास उस समय केवल साहित्य ही रह जाता है जबकि उसका राज्य-विज्ञान से कोई सम्बन्ध ही नहीं रहता।' प्रो० सीले ने आगे यह भी लिखा है—'राज्य-विज्ञान के बिना इतिहास विफल है और इतिहास के बिना राज्य-विज्ञान निराधार है।'[3] बर्गेस के अनुसार यदि राज्य-विज्ञान और इतिहास को एक-दूसरे से पृथक् कर दिया जाय तो उनमें से एक मृत नहीं तो पंगु हो

---

१. तुलना कीजिये, Barnes, Sociology and Political Theory, p. 21 और Ellwood, Sociology in its Psychological Aspects, pp. 36-37. बार्न्स का कथन है कि समाज-विज्ञान और राज्य-विज्ञान के सम्बन्ध में एक बड़ी मार्के की बात यह है कि राज्य-सिद्धान्त में पिछले तीन वर्षों में जो परिवर्तन हुए हैं, वे समाज-विज्ञान द्वारा बताये हुए विकास के ढंग पर ही हुए हैं।

२. प्रोफेसर गिडिंग्ज का कथन है कि समाज-विज्ञान के प्राथमिक सिद्धान्तों से अनभिज्ञ लोगों को राज्य के सिद्धान्तों को पढ़ाना वैसा ही निरर्थक है, जैसे न्यूटन द्वारा बताये हुए गति के नियमों को न जानने वाले व्यक्ति को ज्योतिष पढ़ाना (*Principles of Sociology, p. 37*).

३. Seeley : Introduction to Political Science, p. 4.

जायगा और दूसरा केवल आकाश-पुष्प। सीले के अनुसार इतिहास उस अवशेष का नाम है जो विभिन्न विज्ञानों द्वारा अपने-अपने तथ्यों के ग्रहण कर लेने के बाद बच रहता है। अन्त में विज्ञान इस बचे खुचे तथ्य-भण्डार पर अपना अधिकार जमा लेगा और यह विज्ञान ही राज्य-विज्ञान होगा। इतिहास की अनेक घटनाएं ऐतिहासिक ग्रन्थों में उल्लिखित नहीं होती, उन्हें अनेक विज्ञानों ने अपना लिया है। इस प्रकार ऋतु-विज्ञान, जीव-विज्ञान, स्वास्थ्य-विज्ञान, शिल्प विज्ञान तथा दूसरे विज्ञानों एवं कलाओं से सम्बन्धित अतीत के तथ्यों तथा घटनाओं का उल्लेख इतिहास-ग्रन्थों में नहीं, प्रत्युत वैज्ञानिक पुस्तकों में मिलता है। शरीर-विज्ञान ने भी ऐतिहासिक तथ्यों के निश्चित समूह पर अपना अधिकार जमा लिया है। रोगनिदान-विज्ञान ने भी कुछ तथ्यों को अपना लिया है। राजनीतिक-अर्थशास्त्र उद्योगों के तथ्यों को तथा कानून के तथ्यों को ग्रहण करता जा रहा है। यदि यही सिलसिला चलता रहा, तो अन्त में इतिहास के समस्त तथ्यों का विलीन हो जाना सम्भव है। अभी भी इतिहासवेत्ता विज्ञान तथा कला आदि के सम्बन्ध में बहुत कम विचार करते हैं और पाठकों को विशेष विवरण के लिए *तत्सम्बन्धी साहित्य* का अध्ययन करने का संकेत करके ही सन्तोष कर लेते हैं।

अर्थशास्त्र से सम्बन्ध

राज्य-विज्ञान का अर्थशास्त्र से घनिष्ठ सम्बन्ध है। वस्तुतः पूर्वकालीन अर्थशास्त्र के लेखकों ने अर्थशास्त्र को राज्य विज्ञान की एक शाखा माना था। यूनानी विद्वान् इसे राजनीतिक अर्थशास्त्र कहते थे और इसकी परिभाषा 'राज्य की आय की व्यवस्था करने वाली कला' कह कर करते थे। सीनियर (Senior) का कथन है कि अठारहवीं शताब्दी तक राजनीतिक अर्थशास्त्र (Political Economy) राजनीतिज्ञता की एक शाखा माना जाता था। यह मत फिजियोक्रेट्स (Physiocrats) कहलाने वाले अर्थशास्त्रियों का था। जो व्यक्ति राजनीतिक-अर्थशास्त्रवेत्ता कहे जाते थे, वे सम्पत्ति का नहीं, प्रत्युत शासन-प्रबन्ध का विवेचन करते थे। राजनीतिक-अर्थशास्त्र के सम्बन्ध में सीनियर की स्वयं अपनी कल्पना पर इस मत का बड़ा प्रभाव पड़ा था और उसने इस सिद्धान्त का निरूपण किया था कि इस विज्ञान में आचार, शासन और दीवानी तथा फौजदारी कानूनों के समस्त सिद्धान्त समाविष्ट हैं।

सारांश में, प्राचीन काल के अधिकांश लेखक अर्थशास्त्र को राज्य के सामान्य विज्ञान की एक शाखा मानते थे। आधुनिक काल के लेखक यद्यपि प्राचीनकालीन लेखकों के विचारों से सहमत नहीं है, तथापि इस सम्बन्ध में वे एकमत हैं कि अर्थशास्त्र और राज्य-विज्ञान का सहायक सामाजिक विज्ञानों के रूप में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। राजनीतिक तथा सामाजिक जीवन परस्पर एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं और सब कार्यों, यहाँ तक कि शासन के रूपों पर भी आर्थिक अवस्थाओं का अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। यदि यही बात विपरीतरूप से कही जाय तो अर्थशास्त्र पर राजनीति की गहरी प्रतिक्रिया होती है। सम्पत्ति के उत्पादन तथा वितरण का निर्णय एक सीमा तक शासन के वर्तमान रूप पर ही निर्भर होता है। अधिकांश आर्थिक समस्याओं का समाधान राजनीतिक कार्य एवं नीति द्वारा ही होना है। दूसरी ओर, शासन की कुछ मौलिक समस्याएँ आर्थिक अवस्थाओं के कारण ही पैदा होती हैं। इस प्रकार आयात निर्यात कर सम्बन्धी कानूनों (Tariff laws) तथा व्यापार-निरोध-सम्बन्धी नीति का समर्थन या विरोध अधिकांश में आर्थिक आधार पर ही किया जाता है और एक बड़ी सीमा तक शासन तथा नागरिक स्वतन्त्रता का समूचा प्रश्न मूल में आर्थिक

समस्या है। आजकल को राजनीति के कुछ महत्वपूर्ण प्रश्न—सार्वजनिक उपभोग की वस्तुओं पर सरकारी नियन्त्रण, राज्य का सामूहिक उद्योगों से सम्बन्ध तथा पूंजी एवं श्रम के प्रति उसका दृष्टिकोण—साथ ही मौलिकरूप से अर्थशास्त्र की ही समस्याएं हैं। वास्तव में शासन-प्रबन्ध का पूरा सिद्धान्त ही अधिकांश में आर्थिक ही है।[1] राज्य-समाजवाद (State Socialism) के आधारभूत सिद्धान्त राजनीतिक होने के साथ ही आर्थिक भी हैं और जब उन्हें कार्यरूप में परिणत किया जाता है तो जिन समस्याओं को उसे हल करना पड़ता है, वे अधिकतर आर्थिक होती हैं।[2]

अंकशास्त्र (Statistics) से सम्बन्ध

राजनीतिक अनुसंधान में अंकशास्त्र का अत्यधिक महत्व हो गया है। सुप्रसिद्ध जर्मन राजनीतिक लेखक वॉन मोहल (Von Mohl) तथा होल्ट्ज़नडॉर्फ (Holtzendorf) ने अपने समय में अंकशास्त्र को राज्य-विज्ञान की एक शाखा माना था और सेन्चुरी डिक्शनरी (*Century Dictionary*) में इसे राज्य-विज्ञान की एक शाखा लिखा भी है। वॉन मोहल के मत में अंकशास्त्र वह साधन है जिसके द्वारा वर्तमान राजनीतिक एवं सामाजिक दशा का एक चित्र खींचा जा सकता है। होल्ट्ज़नडॉर्फ ने बतलाया कि इसके अतिरिक्त अंकशास्त्र से हमें राजनीतिक बातों एवं घटनाओं के सम्बन्धों में अन्तर्दृष्टि प्राप्त करने का साधन मिलता है।[3] अंकशास्त्र से राजनीतिक एवं सामाजिक स्थिति के अध्ययन में हमें कुछ-कुछ वैसी ही सहायता मिलती है, जैसी रोग-निदान में अणुवीक्षण-यन्त्र (Microscope) के प्रयोग से मिलती है। वह सामाजिक बातों एवं घटनाओं तथा राज्य के कार्यों के लिए हमें एक माप प्रदान करता है जिससे हम सहज ही यह अनुमान कर सकते हैं कि समाज एवं राज्य ने अमुक काल में कितनी उन्नति कर ली है। अंकशास्त्र के द्वारा हम कार्य कारण के सम्बन्धों पर अधिक ध्यान देने में समर्थ होते हैं और इस प्रकार भौतिक जगत में नियम की सत्ता प्रकट होती है।[4]

---

१. Nicholson : Principles of Political Economy, p. 13. उसका कथन है कि आर्थिक इतिहास में बुरे शासन के हानिकर प्रभाव के अनन्त उदाहरण मिलते हैं।

२. तुलना कीजिये Munro Smith : The Scope of Political Science, Pol Sci. Quar., Vol. 1, p 4. और भी देखिये Barnes : Sociology and Political Theory, pp. 67-70 जिसमें राजनीतिक सिद्धान्त पर आर्थिक बातों का प्रभाव बतलाया गया है। अफलातून, अरस्तू, हॉब्ज, हैरिंगटन, लॉक, मॉण्टेस्क्यू आदि प्रमुख लेखकों ने भी राज्य-विज्ञान और अर्थशास्त्र के सम्बन्धों का अपनी कृतियों में वर्णन किया है।

३ एमॉस (*Science of Politics*, p. 19) के मत से तुलना कीजिये। वह कहता है कि अंकशास्त्र के अध्ययन को राजनीतिक अध्ययन का एक अत्यन्त बहुमूल्य सहायक और इस अध्ययन के वैज्ञानिक स्वरूप का असंदिग्ध प्रमाण मानना चाहिये।

४. देखिये, Mayo-Smith : Statistics and Sociology, pp. 13 and 15 तुलना भी कीजिए, Merriam : 'Politics and Numbers' in his 'New Aspects of Politics', Ch. 4. सामाजिक बातों के अध्ययन में आँकड़ों का

मंकशास्त्र की पद्धति द्वारा आर्थिक जीवन की भाँति राजनीतिक एवं सामाजिक जीवन का भी अच्छी तरह अवलोकन हो सकता है और जब उसके परिणामों को वैज्ञानिक रीति से आँकड़ों के रूप में प्रस्तुत करते हैं तो उनके द्वारा हमें केवल शासन-प्रबन्ध के मामलों में ही मार्ग-दर्शन नहीं मिलता, प्रत्युत कानून की रचना में भी सहायता मिलती है और राजनीतिक कार्यक्रम तथा नीति के औचित्य एवं मनौचित्य की परख के लिए एक कसौटी भी मिलती है। आजकल सभी सरकारों का यह नियम है कि वे अपने देश की राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति के सम्बन्ध में आँकड़े संग्रह करती हैं। कोई भी सरकार अपने व्यापार, राजस्व, सेना, आर्थिक व्यवस्था आदि के सम्बन्ध में आँकड़ों का ज्ञान प्राप्त किये बिना कानून-रचना का काम समुचितरूप से नहीं कर सकती। रोग, सामाजिक दूषण, अपराध, अशिक्षा, दूषित नैतिक शिक्षण और सफाई के अभाव आदि के सम्बन्ध में कोई उपाय करने से पूर्व उसके सम्बन्ध में आँकड़े प्राप्त करना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त जन्म, मृत्यु, विवाह-विच्छेद आदि से सम्बद्ध आँकड़े राज्य द्वारा राजनैतिक एवं सामाजिक सुधार-सम्बन्धी नीति-निर्धारण के लिए बड़े महत्वपूर्ण और उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं।

मनोविज्ञान से सम्बन्ध

आधुनिक समय में राज्य-विज्ञान और मनोविज्ञान में घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो गया है। आजकल के अनेक लेखक राजनीतिक एवं सामाजिक जीवन की कुछ प्रकार की घटनाओं को मनोविज्ञान के नियमों के आधार पर समझाने का प्रयत्न करने लगे हैं। एक लेखक के अनुसार मानवीय कार्यों की पहेली का हल निकालने के लिए मनोवैज्ञानिक कुञ्जी का आश्रय लेना आजकल एक फैशन बन गया है। यदि हमारे पुरखा जीव विज्ञान के दृष्टिकोण से विचार करते थे तो हम अब मनोवैज्ञानिक ढंग से विचार करते हैं।[1] कॉत ने अपने सिद्धान्तों के निरूपण में मनोविज्ञान को अत्यधिक महत्व दिया और स्पेन्सर ने उसे उतना ही महत्व दिया जितना जीव-विज्ञान को। हाल्टजनडॉर्फ ने जन-मनोविज्ञान (Volker psychologie) को राज्य-विज्ञान का ही अंग माना है। वेजहॉट ने अपनी पुस्तक भौतिक-विज्ञान और राज्य-विज्ञान (Physics and Politics) में यह बताने का प्रयत्न किया है कि इंगलैंड के शासन-विधान पर काम अधिकांश में मनोवैज्ञानिक आधारों पर स्थिर है। बोटमी (Boutmy) नामक एक फ्रेन्च विद्वान् ने अपनी एक पुस्तक के दो खण्डों में यह सिद्ध किया है कि अमेरिका तथा इंगलैंड की राजनीतिक संस्थाओं की विशेषताओं एवं कार्यप्रणाली पर मनोवैज्ञानिक तत्वों का प्रभाव पड़ा है। बारकर का कथन है कि वेजहॉट की फिजिक्स और पोलिटिक्स के प्रकाशन के बाद से राजनीतिक विचारक सामाजिक मनोविज्ञानवेत्ता बन गये हैं। यह कथन चाहे गलत हो या सही, परन्तु यह तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि इस प्रकार का साहित्य अधिकता से उपलब्ध

प्रयोग करने वाला सबसे पहला व्यक्ति बेल्जियम का अंकशास्त्री Quetelet था। अमेरिका के प्रेसिडेन्ट लॉवेल ने भी अंकशास्त्र की उपयोगिता बतलायी है परन्तु उसने यह भी चेतावनी दी है कि आँकड़ों से भ्रम भी उत्पन्न हो सकता है और उनका प्रयोग बड़ी सावधानी से करना चाहिए। (The Physiology of Politics', *Amer. Pol. Sci Review*, Vol. IV, 10).

1. Barker Political Thought from Spencer to the Present Day, p. 140.

है जिसमे सामाजिक एवं राजनीतिक बातों को व्याख्या मनोवैज्ञानिक नियमों के प्रकाश मे करने का प्रयत्न किया गया है।

इन कोटि के विद्वानों मे फ्रान्स के टार्डे (Tarde), दुरखीम (Durkheim)[1] लेवाँ (Le Bon), इगलैण्ड के मैक्डुगल (McDougall)[2], ट्राटर (Trotter), वालास (Wallas)[3] तथा अमेरिका के बाल्डविन (Baldwin), एलवुड (Ellwood)[4] आदि उल्लेखनीय हैं।

यह कहा जाता है कि सामाजिक मनोविज्ञानवेत्ता सामूहिक जीवन की घटनाओं एवं तथ्यों पर इस दृष्टि से विचार करता है कि ये तथ्य तथा घटनाएँ सामूहिक चेतना के तथ्य हैं, जिनकी व्याख्या करना उसका कर्त्तव्य है और वह व्याख्या उन नियमों के अनुसार होनी चाहिए जिनका अनुकरण प्राकृतिक विज्ञान के तथ्य की व्याख्या करने मे किया जाता है। जिस प्रकार एक मनोवैज्ञानिक समझता है कि वह प्राकृतिक विज्ञान की पद्धतियों से 'चेतना की अवस्थाओं' (States of Consciousness as such) का अध्ययन करता है, उसी प्रकार समाज मनोवैज्ञानिक समझता है कि वह उसी पद्धति से 'समूह-चेतना की अवस्थाओं' (States of Group Consciousness as such) का अध्ययन कर रहा है। लार्ड ब्राइस ने तो यहाँ तक कह डाला है कि राजनीति की जड़ मनोविज्ञान मे मानव जाति की मानसिक एवं ऐच्छिक प्रवृत्तियों के अध्ययन मे है।

यदि हम राज्य का विचार एक मूर्त संगठन तथा उसकी कानूनी रूप से स्थापित एजेंसिया द्वारा व्यक्त उसके विभिन्न रूपों से पृथक् करें तो हमें यह स्पष्ट हो जायगा कि वह (राज्य) मूलतः भौतिक की अपेक्षा मनोवैज्ञानिक हो है। लक्षण मे वह चेतना सम्बन्धी (Subjective) है, पदार्थ-सम्बन्धी (Objective) नहीं। अतः राज्य के जीवन-क्रम का निर्धारण बहुत बड़ी सीमा तक मानसिक तत्वों के द्वारा ही

---

१. देखिये, Barnes : 'Durkheim's Political Theory,' Pol. Sci. Quar. (1920), Vol. XXXV, p. 236. ff.

२. देखिये, The Group Mind (1920) और Social Psychology (1914).

३. देखिये, The Great Society (1904), Human Nature in Politics (1908), and Our Heritage (1921); Barker [Political Thought from Spencer to the Present Day, p. 230) ने The Great Society को समाज का मानसिक औषधि-विज्ञान बताया है। वालास सामाजिक मनोविज्ञान के प्रकाश मे आजकल की प्रतिनिधि सरकार के रोगों का निदान करने और उनके लिए उपयुक्त उपचार बताने का प्रयत्न करता है।

४. देखिये, Sociology in its Psychological Aspects (1912) और The Psychology of Human Society (1925). Lippmen : Public Opinion; Follett : The New State ; MacIver : Community आदि ग्रन्थों मे भी मनोवैज्ञानिक तथ्यों पर जोर दिया गया है। इस विषय का साहित्य बड़ा विस्तृत है। Merriam, Barnes and others : Political Theories, Recent Series मे Social Psychology and Political Theory शीर्षक वाले अध्याय मे गेहल्के (Gehlke) ने मनोविज्ञान तथा राज्य-विज्ञान के पारस्परिक सम्बन्ध पर विस्तृत प्रकाश डाला है।

होता है। स्थायी तथा लोकप्रिय शासन के लिए यह आवश्यक है कि वह अपनी जनता के मानसिक भावो एव नैतिक विचारों तथा भावों को प्रतिबिम्बित करे। सक्षेप मे, जैसे लेबाँ (Le Bon) ने कहा है, सरकार का "जाति की मानसिक प्रकृति" (Mental constitution of the race) के साथ सामंजस्य होना आवश्यक है। किसी देश के शासन तथा विधान एव कानूनों को जनता की प्रकृति एव स्वभाव के अनुकूल बनाने मे मनोविज्ञान हमें बड़ा सहायक हो सकता है। लेबाँ के मतानुसार मोटो रूपरेखा मैं इतिहास किसी जाति की मनोवैज्ञानिक कल्पनाओं एव भावनाओं की अभिव्यक्ति ही समझा जा सकता है और राजनीतिक इतिहास के सम्बन्ध मे तो यह बात विशेषरूप से सत्य है। यह सिद्ध करना सरल होगा कि वर्तमान समय मे अनेक राजनीतिक सुधारो के लिए होने वाले आन्दोलन का आधार सुधार के लिए वास्तविक आवश्यकता की अपेक्षा मानसिक दृष्टिकोण ही होता है। प्राचीन इतिहास में हमें राज्य-क्रान्तियों तथा शासन में हिंसात्मक परिवर्तनों के ऐसे कई उदाहरण मिलेंगे जो मनोवैज्ञानिक आधारों पर ही हुए हैं। यदि हम यह विचार करने का प्रयास करें कि शासन की कुछ प्रणालियाँ कुछ जातियों में क्या सफल हुई तथा दूसरी जातियो मे क्यों विफल हुईं, क्यों कुछ जातियों ने उच्च कोटि की राजनीतिक योग्यता का परिचय दिया और क्यों दूसरी जातियो ने राजनीतिक दिवालियेपन का तथा क्यों कुछ राष्ट्रों के लिए अधिकतम नागरिक स्वतन्त्रता आशीर्वाद के रूप मे सिद्ध हुई और क्यों वही दूसरी जातियों के विनाश का कारण बनी तो हमें इन बातों की व्याख्या प्रजाति-मनोविज्ञान (Race psychology) में मिलेगी।[1]

जीव-विज्ञान से सम्बन्ध

ऐसा कहा जाता है कि राज्य का जिस प्रकार राजनीतिक इतिहास है, उसी प्रकार प्राकृतिक इतिहास भी है। यह डार्विन के विकासवाद का परिणाम है। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य का विकास उन सस्थाओं मे हुआ है जिनका प्राविर्भाव पहले एक जाति के पशुओं मे हुआ जो प्राकृतिक इतिहास के विषय का एक अग है।[2] दूसरे लेखक इससे भी आगे बढ जाते हैं और मानते हैं कि व्यक्ति की भाँति ही राज्य भी विकास का परिणाम है। रचना में वह एक जीव है और उसमें जीवधारी के अनेक लक्षण है और राज्य की उत्पत्ति, उसका विकास तथा पतन, उन्ही प्राकृतिक नियमों के अनुसार होता है जिसके अनुसार जीवधारियों का होता है। अत. जीव-विज्ञान के नियमों को हम राज्य की रचना, उसके कार्यों तथा जीवन की घटनाओं एव अवस्थाओं के अध्ययन मे भी लागू कर सकते हैं। सक्षेप मे, राज्य-विज्ञान एक प्रकार का जीव-विज्ञान है।

---

१ हाल ही मे मनोविज्ञान का सेना, न्यायालयो तथा राज्य-प्रबन्ध मे अधिक प्रयोग होने लगा है। इस सम्बन्ध मे Merriam की New Aspects of Politics और Gosnell की Some Practical Applications of Psychology to Politics, American Journal of Sociology, Vol. XXVIII में पढ़ें।

२. फोर्ड ने सन् १९१५ मे The Natural History of State नामक पुस्तक लिखकर राजनीति तथा जीव-विज्ञान के सम्बन्धों की विस्तृत व्याख्या की है। फार्ड ने Origin of Species मे प्रतिपादित दृष्टिबिन्दु से राज्य-विज्ञान के आधारों पर विचार किया है।

जिन विद्वानो ने राज्य के सगठन तथा जीवन का जीव-विज्ञान की दृष्टि से अध्ययन किया है, उनमे सबसे प्रमुख हर्बर्ट स्पेन्सर है। उसका अभिमत यह है कि रचना एवं बनावट मे राज्य जीवधारी से कुछ मिलता-जुलता है। उसके जीवधारी जैसे ही अग हैं और राज्य जिन कार्यों को करता है, वे उन कार्यों से मिलते-जुलते हैं जिन्हें जीवधारी करते है। संक्षेप मे, स्पेन्सर ने राज्य-विज्ञान से जीव-विज्ञान (Biology) का सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया परन्तु उसमे उसे सफलता नही मिली, क्योंकि दोनों मे जबरदस्ती सम्बन्ध जोड दिया गया है। फिर भी यह मानना पडेगा कि उसके और उसके बाद के दूसरे लेखको के इन प्रयत्नो का राज्य-सिद्धान्त पर काफी प्रभाव पडा है।[1]

भूगोल से सम्बन्ध

अनेक विद्वान् लेखको ने राष्ट्रीय जीवन एवं चरित्र के निर्माण मे सामान्यतया भौतिक वातावरण के प्रभाव का और विशेषतया भौगोलिक अवस्थाओं के प्रभाव का अपने ग्रन्थों मे विचार किया है तथा कुछ लेखको ने तो यह भी दिखलाने का प्रयत्न किया है कि ऐसी दशाओं का राष्ट्रीय नीति तथा सरकार के कार्यों पर भी बडा प्रभाव पडता है। अरस्तू से लेकर वर्तमानकालीन लेखको तक ने इस बात पर जोर दिया है कि राष्ट्र या राज्य की जनता पर उसके जलवायु, भौगोलिक रचना, समुद्र से परिवेष्टित होना, पर्वतो की विशिष्टता, पर्वतो की उपस्थिति अथवा अभाव, मैदानो, नदी-सरोवरो और समुद्र की ओर निकास आदि का प्रभाव पडता है। बोदाँ (Bodin) सर्वप्रथम आधुनिक लेखक था जिसने सन् १५७६ मे इस विषय पर लेखनी उठाई। उसी का दावा था कि जलवायु की विशेषता तथा शासन के रूपो मे बडा सम्बन्ध है। उनका यह अभिमत था कि उष्ण जलवायु निरकुश शासन, शीत जलवायु असभ्यता (Barbarism), तथा समशीतोष्ण जलवायु सुराज (Good Polity) की उत्पत्ति के अनुकूल होती है। मॉन्तेस्क्यू ने भी सन् १७४८ मे राजनीतिक एवं सामाजिक संस्थाओं पर, विशेषकर स्वतन्त्रता पर, भौतिक परिस्थितियो के प्रभाव का सविस्तार विवेचन किया है। बोदाँ की तरह मॉन्तेस्क्यू ने अक्षाश और देशान्तर के अन्तर पर उतना जोर नही दिया जितना तापमान, आर्द्रता और भूमि के उर्वरापन पर दिया है। उसके अनुसार पर्वतीय प्रदेश तथा शीत जलवायु दासता एवं निरकुश शासन की उत्पत्ति के अनुकूल हैं।

बकल ने तो अपनी 'सभ्यता का इतिहास' (History of Civilization, 1847) नामक पुस्तक मे जनता की संस्थाओ एवं चरित्र के निर्माण का प्रधान हेतु भौगोलिक प्रभाव ही बतलाया है। उसने 'स्वतन्त्र इच्छा के आध्यात्मिक सिद्धान्त' (Mataphysical dogma of free will) तथा भाग्यवाद के धार्मिक सिद्धान्त को अस्वीकार कर यह मत प्रकट किया कि मनुष्य के कार्य और इसी कारण समाज के कार्य, मन तथा बाह्य वातावरण के पारस्परिक सम्बन्ध के प्रतिफल हैं। उसने मुख्यत: यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि व्यक्तियो एव समाज के कार्यों का निर्धारण मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छा से नही, प्रत्युत भौतिक वातावरण के प्रभाव से होता है, विशेषत: जलवायु, भोजन, भूमि और प्रकृति के अन्य सामान्य रूपो के कारण। इस प्रकार उसने स्कैण्डीनेविया, स्पेन और पुर्तगाल की संस्थाओ एवं चरित्रो मे विभिन्नता का कारण भौतिक वाता-

---

१. तुलना कीजिये, बार्कर, Political Thought from Spencer to the Present Day, pp. 14, 131,

वरण तथा भौगोलिक परिस्थिति बतलाया। इसी प्रकार उसने यह भी कहा कि मिस्र की प्राचीन सभ्यता का कारण उसकी भूमि का उर्वरापन ही था। ऐसा विश्वास है कि बक्ल ने व्यक्ति तथा राष्ट्र के चरित्र पर भोजन, भूमि तथा जलवायु के प्रभाव को बहुत अधिक बढ़ाकर बताया है, परन्तु इस विचार में उसके समर्थक भी हैं।[1]

वर्तमान समय में अनेक लेखकों ने अपनी पुस्तकों में मानव चरित्र, सरकारी संस्थाओं एवं सरकारी नीतियों पर भौगोलिक प्रभाव की चर्चा की है और उसका महत्व बतलाया है। इस प्रकार के लेखकों में ब्लुट्श्ली, ट्रीट्स्के, रिटर, रेटजेल, मैकिंडर और हटिङ्गटन मुख्य हैं। जिन लेखकों ने 'राजनीतिक भूगोल' को विज्ञानों की कोटि में स्थान देने में योग दिया है, उनमें वेल्टी, रिप्ले, गेड्डीज, सेम्पल, ब्रून्ज तथा जे० रसल स्मिथ मुख्य हैं। कई लेखकों, विशेषकर बोदाँ, रूसो, माण्टेस्क्यू तथा बक्ल आदि ने जलवायु के प्रभाव का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन किया है और राजनीतिक भूगोल के लेखक भी इस त्रुटि से वंचित नहीं रहे हैं।[2]

इस अतिशयोक्ति के बावजूद भी यह निःसन्देह सत्य है कि एक बहुत बड़ी मात्रा में राष्ट्रीय नीतियों पर तथा किसी सीमा तक राजनीतिक संस्थाओं के निर्माण में भौगोलिक अवस्थाओं का प्रभाव रहा है।[3] यह सामान्यतया स्वीकार किया जाता है कि प्राचीन यूनान में भौगोलिक विविधता के कारण राजनीतिक एकता के विकास में रुकावट पड़ी, स्विटजरलैण्ड के चारों ओर से पर्वतमाला से आवृत्त होने के कारण उस देश की संस्थाओं तथा इतिहास पर प्रभाव पड़ा है।[4] सरिताओं के मुहानों पर अधिकार के प्रश्न के कारण कई देशों के पारस्परिक सम्बन्धों पर प्रभाव पड़ा है। यह भी सिद्ध किया जा सकता है कि नीदरलैण्ड के इतिहास पर उसकी भौगोलिक एवं प्राकृतिक स्थिति तथा वहाँ के निवासियों ने प्रकृति के विरुद्ध जो संग्राम किया है, उसका बड़ा प्रभाव पड़ा है। यह अनेक बार कहा गया है कि इंगलैंड के एक द्वीप होने के कारण उसके लिए यह आवश्यक हो गया है कि वह एक समुद्री शक्ति बन जाय और विदेशों के साथ गुटबन्दी करे।[5] इसी प्रकार जर्मन लेखकों ने

---

१. Robertson, 'Buckle and His Critics', Thomas in Merriam, Barnes, and others : Political Theories, Recent times p 471. ह्यूम (Hume) ने अपनी पुस्तक Essays (Vol. I., p. 21) में यह बात बिलकुल नहीं मानी कि जलवायु की अवस्थाओं का राष्ट्रीय चरित्र पर कोई विशेष प्रभाव पड़ता है।

२. ड्यूग्वी (Duguit) का कथन है कि भूगोलवेत्ताओं की आजकल यह प्रवृत्ति हो गयी है कि वे सभी ऐतिहासिक घटनाओं को भौगोलिक परिस्थितियों का परिणाम बताते हैं। (Souverainete et liberte (1922), p. 28).

३. तुलना कीजिये, Bryce Modern Democracies, Vol. I, p. 166. उसका कथन है कि किसी भी देश में भौगोलिक परिस्थिति एवं परम्परागत संस्थाओं का राष्ट्र के राजनीतिक विकास पर इतना प्रभाव पड़ता है कि उसकी सरकार का एक विशिष्ट स्वरूप बन जाता है।

४. ट्रीट्स्के (Politics, p. 214) का कथन है कि किसी अंश तक स्विट्जरलैण्ड का संघीय शासन-विधान उस देश की भौगोलिक बनावट का परिणाम है।

५. तुलना कीजिये, शेलर (Shaler : Nature and Man in America, pp. 153, 159)। इस स्थान पर उसने बतलाया है कि इंगलैन्ड स्वतन्त्ररूप से

यह लिखा है कि जर्मनी की भौगोलिक स्थिति (योरोप के मध्य में स्थिति तथा कई और प्राकृतिक सीमाओं का अभाव) के कारण हो उसे एक सुदृढ़ सैनिक शक्ति बन जाने की आवश्यकता पड़ी। बर्लिन विश्वविद्यालय (जर्मनी) के प्रोफेसर हिन्ट्ज़ ने कहा है कि जर्मनी की भौगोलिक स्थिति का उसके राजनीतिक भूगोल में एक निर्णायक स्थान है, और हमारे राजनीतिक चरित्र की अनेक विशेषताएँ बहुत कुछ उसी कारण से हैं। उसने यह भी लिखा है कि 'हमारा ऐतिहासिक एवं राजनीतिक भाग्य हमारी भौगोलिक स्थिति में निहित है।'[1]

यह लिखने की आवश्यकता नहीं है कि किसी भी देश के उद्योग-व्यवसाय आदि पर उसकी भौगोलिक स्थिति तथा भूगर्भ से मिलने वाले पदार्थों का प्रभाव पड़ता है और इनसे ही उस देश का इतिहास बहुत कुछ अंश तक पहले से ही बन जाता है।[2] प्रोफेसर सेलिगमैन ने तो यहाँ तक कहा है कि 'तथाकथित अंग्रेजी व्यक्तिवाद जलवायु सम्बन्धी अवस्थाओं का परिणाम है।' उसके अनुसार व्यक्तिवाद का सिद्धान्त ही एक नूतन वातावरण की आर्थिक तथा वस्तुत: जलवायु सम्बन्धी स्थिति का परिणाम है।[3]

नृवंश-विज्ञान (Ethnology), नृवंश-वर्णनशास्त्र (Ethnograpy) तथा मानव शरीर-रचना-विज्ञान (Anothropology) का सम्बन्ध

हाल में विद्वानों ने नृवंश-विज्ञान, नृवंश-वर्णनशास्त्र तथा मानव शरीर-रचना-विज्ञान आदि के क्षेत्रों में जो नवीन अनुसन्धान किये हैं, उनसे उन समस्याओं पर नया प्रकाश पड़ता है जिनका विवेचन राजनीति-विशारद को करना पड़ता है, यथा विभिन्न संस्थाओं की उत्पत्ति, आदिम संगठनों के स्वरूप तथा राष्ट्रीयता से सम्बद्ध महत्वपूर्ण प्रश्न। क्रॉथ-फ्लेमिंग (Krauth-Fleming) नामक एक लेखक का कथन है कि 'नृवंश-विज्ञान उस संगठन एवं कानून का अनुसन्धान करता है जो मनुष्य के प्रजातीय तथा शारीरिक भेदों पर निर्भर है और उनके आधार पर वह सामाजिक तथा राष्ट्रीय जीवन के महत्वपूर्ण सम्बन्धों का समुचित रीति से नियमन करने के लिए सिद्धान्त की खोज करता है।'

नवीन राज्यों के निर्माण तथा वर्तमान राज्यों के दृढ़ीकरण एवं विभाजन के सम्बन्ध में नृवंश-विज्ञान का बड़ा महत्वपूर्ण कार्य रहता है। एक दूसरे विद्वान् का मत है कि नृवंश-विज्ञान सही इतिहास एवं स्वस्थ राजनीतिज्ञता का एक आवश्यक आधार है। इससे इतिहास को प्राकृतिक नियमों का आधार मिलता है। यह घटनाओं की व्याख्या उन घटनाओं में भाग लेने वाले लोगों की शारीरिक रचना, मानसिक विविधताओं तथा भौगोलिक परिस्थिति के आधार पर करता है। राजनीतिज्ञ के लिए यह जनता की योग्यता एवं मर्यादाओं के सम्बन्ध में ऐसे तथ्य प्रस्तुत

अपना राजनीतिक विकास बहुत कुछ अंश तक इस कारण कर सका है कि उसे इंगलिश चैनल का संरक्षण प्राप्त है। ट्रीट्स्के (Politics, I, p 212) ने स्पार्टा तथा एथेन्स के अन्तर को भौगोलिक कारणों से बताये हैं।

१. "Germany and the World Powers" in "Modern Germany in Relation to the Great War", 1916, pp. 10 and 13.
२. तुलना कीजिये, Ripley, 'Races of Europe', p. +.
३. 'Principles of Economics', pp. 36-40.

करता है जो उसे उनके साथ अपना सम्बन्ध कायम करने में उचित मार्गदर्शन करेंगे।[1]

नृवंश-वर्णनशास्त्र का नृवंश-विज्ञान से कुछ-कुछ वैसा ही सम्बन्ध है, जैसा भू-गर्भशास्त्र का भूगोल से। उसे कुछ लेखक राज्य-विज्ञान के अन्तर्गत ही एक विज्ञान मानते हैं। इसी प्रकार मानव-शरीर-रचना-विज्ञान से भी जो प्रजातियों (Races) की उत्पत्ति, वर्गीकरण तथा उनके पारस्परिक सम्बन्धों का अनुसन्धान करता है, उन कई समस्याओं पर प्रकाश पड़ता है जिनसे राज्य-वैज्ञानिकों का सम्बन्ध रहता है।[2]

मुख्य पाठ्य-ग्रन्थ

Barker, "Political Thought in England from Spencer to the Present Day" (1915), Chs 5-6.

Barnes, "Sociology and Political Theory" (1924), Ch. 2.

Barnes (editor), "The History and Prospects of the Social Sciences" (1925), Ch 2 (Brunhes); Ch. 4 (Young); Ch. 5 (Goldenweiser); Ch. 6 (Hankins)

Bryce, "Relations of Political Science to History and Practice," *Amer. Pol Sci. Rev.* Vol. III, p 1 ff. Also his articles, "Relation of Geography to History," *Contemporary Review*, Vol LVII.

Burgess, "Relation of Political Science to History," in *Report of the American Historical Association* (1896), Vol I, pp. 207-211.

Catlin, "The Science and Method of Politics" (1927), Vol II, Ch. 2

Coker, "Organismic Theories of the State" (1910), Chs. 2 3.

Ellwood, "The Psychology of Human Society" (1925), p 21 ff

Ford, "The Natural History of the State" (1915), Chs 3 6.

Gosnell, "Some Practical Application of Psychology to Politics," *Amer. Jour. of Sociology*, Vol. XXVIII (1923), p 735 ff.

Hadley, "Relation of Politics & Economics," *Pubs. Amer. Econ Assoc.*, 1899.

Jellinek, "Recht des Modernen Staates" (1905), Bk. I, Ch. 4.

Kallen, "Political Science as Psychology," *Amer. Pol. Sci. Rev*, Vol. XVII, p. 181 ff

---

१. देखिये, ब्रिण्टन (Brinton : Races and Peoples, p. 300)। इस विषय के साहित्य के लिये देखिये, Merriam, Barnes and others Political Theories, Recent Times, Ch 13.

२ इस विषय के साहित्य की Merriam, Barnes and others : Political Theories, Recent Times, Ch. 11 में चर्चा की गयी है और भी देखिये, Barnes : 'Sociology and Political Theory', pp. 57-59

Merriam, "New Aspects of Politics" (1925), Ch. 3-4.
Merriam, Barnes and others, 'History of Political Theories, Recent Times" (1924), Chs. 9-12 (Various authors).
Seeley, "Introduction to Political Science" (1896), Lecture I.
Seligman, "Principles of Economics" (1907), pp. 28 34.

राज्य की प्रकृति और स्वरूप

(१) पारिभाषिक शब्दावली तथा परिभाषाएँ

'राज्य' की व्याख्या

राज्य-विज्ञान, जैसा हम देख चुके हैं, राज्य का विवेचन करता है जो समस्त मानव संस्थाओं में सर्वोच्च है। 'राज्य' के लिए अंग्रेजी भाषा में 'स्टेट' शब्द का प्रयोग किया जाता है और प्राचीन काल में यूनान में राज्य के लिए 'पॉलिस' (Polis) शब्द का प्रयोग किया जाता था जिसका अर्थ नगर (City) है। यूनानियों के लिए यह शब्द उपयुक्त था क्योंकि प्राचीन यूनान में राज्य नगर राज्य होते थे। वे आजकल की भाँति लम्बे-चौड़े देश-राज्य नहीं थे। सीले ने ठीक ही कहा है कि यूनानियों के लिए राज्य विज्ञान एक प्रकार से नगर शासन का विज्ञान ही था। रोमन लोग राज्य के लिए 'सिविटास' (*Civitas*) शब्द का प्रयोग करते थे जिसका भी वही अर्थ होता था परन्तु रोमन लोग respublica and status rei publicae शब्दों का भी प्रयोग करते थे, जिनसे केवल नागरिकता का ही बोध नहीं वरन् सार्वजनिक कल्याण का भी बोध होता था। ट्यूटन लोग राज्य के लिए केवल स्टेटस (Status) शब्द का प्रयोग करते थे। इसी से 'स्टेट' (State) शब्द निकला है।[1] जर्मन भाषा में राज्य के लिए Landtag, Landesgesetz तथा Landesstaatsrecht आदि शब्दों के प्रयोग से राज्य की एक नई धारणा बनी। इस नई धारणा में नगर की भावना के स्थान पर भूमि अथवा लम्बे चौड़े प्रदेश की भावना का प्राधान्य था। स्टेट शब्द का राज्य के अर्थ में सबसे प्रथम प्रयोग इटली के कूटनीतिज्ञ मेकियावेली ने अपनी 'प्रिंस' नामक पुस्तक में किया था जिसके आरम्भ में ही उसने यह उल्लेख किया है—वे समस्त सत्ताएँ, जिनका मनुष्य पर अधिकार रहा है और बना हुआ है, 'स्टेट' कहलाती हैं। वे एकतंत्रीय होती हैं या लोकतंत्रीय। सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दियों में 'राज्य' (State) शब्द का अंग्रेजी में, etat का फ्रेंच में तथा Staat का जर्मन साहित्य में प्रयोग होने लगा, यद्यपि सन् १५७६ में बोदाँ ने इस विषय पर अपनी जो विख्यात पुस्तक लिखी, उसके फ्रेंच संस्करण का नाम 'रिपब्लिक' ही रखा।

राज्य शब्द के विविध प्रयोग

व्युत्पत्ति के अनुसार 'स्टेट' शब्द से किसी स्थिर वस्तु या स्थिति का बोध होता है। इस अर्थ में हम मानसिक स्थिति अथवा आर्थिक या सामाजिक स्थिति आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं। इस प्रकार 'स्टेट' के शाब्दिक अर्थ तथा उसके राजनीतिक अर्थ में

१. देखिए, Jenks : Law and Politics in the Middle Ages, p. 71.

बड़ा अन्तर है। राज्य-विज्ञान के साधारण प्रयोग के अन्य शब्दों की भाँति 'राज्य' (State) शब्द का प्रयोग भी अनेक अर्थों में होता है। प्राय 'राज्य' शब्द का प्रयोग 'राष्ट्र', 'समाज', 'देश', 'शासन' आदि के पर्यायवाची शब्द की तरह किया जाता है। इस शब्द का प्रयोग वैयक्तिक कार्य से भिन्न समाज के सामूहिक कार्य को प्रकट करने के लिए किया जाता है, जैसे शिक्षा के लिए राज्य की सहायता, उद्योगों का राज्य द्वारा नियन्त्रण। जिन देशों में संघ-प्रणाली प्रचलित है, जैसे संयुक्त राज्य अमेरिका, उनमें राज्य शब्द का प्रयोग उसके प्रत्येक सदस्य-राज्य (Component member) के लिए तथा समस्त संघ (Federation) के लिए भी किया जाता है।[१] इस प्रकार दो अर्थों में इसके प्रयोग से भ्रम पैदा हो जाता है।[२] यह वास्तव में चिन्तनीय है कि न अंग्रेज़ी, न जर्मन, न फ्रेंच और न अन्य भाषाओं में ही संघ-शासन की अंगभूत इकाइयों के लिए कोई विशिष्ट उपयुक्त शब्द है। वे वास्तव में न राज्य हैं और न प्रान्त हों। कम से कम अमेरिकन, कनाडा तथा आस्ट्रेलिया के संघ-शासन (Federal Unions) के अन्तर्गत जो राज्य हैं, उन्हें प्रान्त नहीं कहा जा सकता।

इसी प्रकार 'राज्य' (State) और 'शासन' (Government) शब्दों का एक ही अर्थ में प्रयोग भी भ्रमजनक है। वास्तव में इन दोनों के अर्थ सर्वथा भिन्न हैं और इस भेद को भलीभाँति समझ लेने पर ही राज्य-विज्ञान की अनेक महत्वपूर्ण समस्याओं को समुचितरूप से समझा जा सकता है। राज्य जनता के सामान्य उद्देश्यों एवं लोक-मंगल की पूर्ति के लिए राजनीतिक रूप में संगठित एक 'व्यक्ति' (Person) या 'सत्ता' है। शासन उस साधन अथवा संगठन का नाम है जिसके द्वारा राज्य की इच्छा की अभिव्यक्ति एवं पूर्ति होती है। शासन राज्य का एक आवश्यक अंग अथवा साधन है परन्तु वह राज्य नहीं है। जिस प्रकार एक कम्पनी के डायरेक्टरों का बोर्ड कम्पनी नहीं कहला सकती, उसी प्रकार शासन या सरकार भी राज्य नहीं कहला सकती।[३] यदि राज्य और शासन समानार्थी होते तो किसी भी देश में राजा, शासक या एक मन्त्रि-मण्डल के खात्मे के साथ राज्य का जीवन यदि समाप्त नहीं हो जाता तो कम से कम मराई में अवश्य पड़ जाता।[४] परन्तु वास्तव में सत्य तो यह है कि शासन-परि-

---

१. जर्मनी के सन् १६१६ के शासन-विधान में लोकतन्त्र (Republic) के विधायक अंगों को 'राज्य' (State) नहीं, प्रत्युत प्रदेश (Land) कहा गया है।

२. बर्गेस ने इस भ्रम से बचने के लिए संघ के लिए State और अंगभूत इकाइयों के लिए Commonwealth शब्द का प्रयोग किया है।

३. 'शासन' (Government) शब्द का प्रयोग भी विविध अर्थों में किया जाता है। उसका प्रयोग सम्पूर्ण संगठन, व्यवस्थापिका-परिषद्, मन्त्रि-मण्डल तथा न्याय विभाग के लिए किया जाता है। जिन देशों में पार्लमेण्टरी शासन-प्रणाली प्रचलित है, उनमें शासन या सरकार शब्द का मन्त्रि-मण्डल (Ministry) तथा (Cabinet) के लिए प्रयोग किया जाता है, जैसे सरकार की हार, लॉयड जॉर्ज की सरकार, लिबरल सरकार इत्यादि।

४. अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय ने एक मुकद्दमे (Poindexter Vs. Greenhow, 114 U. S 207) में राज्य और शासन में भेद बतलाते हुए इस भ्रम का उल्लेख किया था और बतलाया था कि राज्य तो एक आदर्श, अदृश्य, अपरिव-

वर्त्तन के साथ राज्य मे परिवर्त्तन नहीं होता। राज्य मे स्थायित्व का गुण होता है। शासन स्थायी नही होते। उनमे क्रान्तियों, कानूनी कार्रवाइयों आदि के फलस्वरूप परिवर्त्तन होते रहते हैं, परन्तु राज्य अक्षुण्ण बने रहते हैं। सरकार वह वस्तु है जिसके द्वारा राज्य अपने आपको व्यक्त करता है। सरकारो में मौलिक, असीमित एवं पूर्ण शासन-सत्ता (Sovereignty) नही होती। वे तो राज्य के शासन-विधान द्वारा दिये गय अधिकारों एवं सत्ता का ही प्रयोग करती हैं। इसलिये प्रत्येक की प्रकृति एव स्वरूप तथा उनके पारस्परिक सम्बन्ध को समझने के लिए हमे इन दोनों में भेद करना पड़ेगा।

'राज्य' शब्द का प्रयोग 'समाज' के अर्थ मे भी किया जाता है। जब हम यह कहते हैं कि समाज को अपराधो से अपनी रक्षा करने का अधिकार है तब हमारा प्रयोजन वास्तव में राज्य से होता है। समाज जनता का बोध करानेवाला एक सामान्य शब्द है। इसमे जनता को हम एक ऐसे सगठित समूह के रूप मे देखते हैं जिसका अपना कोई सामान्य लक्ष्य हो तथा जिसमे विभिन्न व्यक्ति जाति-समानता की भावना (Consciousness of kind) से परस्पर बँधे हुए हों परन्तु राज्य समाज के एक विशेष भाग का नाम है जो सामान्य हितों की वृद्धि एवं रक्षा के उद्देश्य से राजनीतिक रूप मे सगठित हो। राज्य और समाज में मौलिक अन्तर यह है कि पहले से एक राजनीतिक संगठन सूचित होता है और दूसरे से नही।[1] स्पेन्सर ने राज्य को 'व्यक्तिभूत समाज' (Society in its Corporate Capacity) कहा है।

राज्य क्या है ?

राज्य शब्द का विवेचन करने के बाद हम यह विचार करना चाहते हैं कि राज्य क्या है। राज्य शब्द की अनेक परिभाषाएँ है और जितने ही लेखक हैं, उतनी ही विभिन्न परिभाषाएं भी हैं। राज्य विज्ञान के जनक अरस्तू (Aristotle) ने राज्य की परिभाषा इस प्रकार की है—'राज्य परिवारों तथा ग्रामो का एक ऐसा समुदाय है जिसका उद्देश्य पूर्ण और स्वाश्रयी जीवन की प्राप्ति है जिससे हमारा अभिप्राय सुखी एवं सम्मानीय जीवन है।'[2]

अरस्तू का यह विचार है—'यदि समस्त समुदायों का लक्ष्य सामान्य कल्याण

र्त्तनीय, अस्पृश्य एवं अविचारणीय 'व्यक्ति' है। शासन एक प्रतिनिधि (Agent) है और अपने दायरे मे राज्य का पूर्ण प्रतिनिधित्व करता है परन्तु इस प्रतिनिधित्व के दायरे के बाहर यदि वह काम करता है तो वह राज्य की शक्तियों का गैर-कानूनी अपहरण है।

१. बार्कर (Political Thought from Spencer to the Present Day, p. 67) ने कहा है कि समाज तथा राज्य दोनों का नैतिक प्रयोजन एक है, इस कारण वे एक-दूसरे को ढँक लेते हैं, परस्पर मिल जाते हैं और आपस में आदान-प्रदान करते हैं। हम कह सकते हैं कि समाज का क्षेत्र ऐच्छिक सहयोग है, उसकी शक्ति सद्भावना की है, उसका ढग लचीला है परन्तु राज्य का क्षेत्र मशीन की भाँति किये जानेवाला काम है, उसकी शक्ति बल है और उसका ढग कडा है। मेक्आइवर का कथन है कि राज्य का अस्तित्व समाज के अन्दर है, वह समाज का कोई रूप नहीं है। (MacIver : The Modern State, p. 5).

२. Aristotle : Politics (Jowett's Translation, p. 120.)

है तो राज्य अथवा राजनीतिक समुदाय का, जो सबसे महान् और विशाल है तथा जिसमें शेष सब कुछ सम्मिलित हैं, लक्ष्य सब से अधिक कल्याण की प्राप्ति है।' राज्य के प्राथमिक लक्ष्य के सम्बन्ध में यह जो कुछ कहा गया है, उसे इससे अधिक अच्छी तरह से कहना कठिन है। सिसेरो ने राज्य की परिभाषा इस प्रकार की है—'राज्य एक ऐसा बहुसंख्यक समाज है जो अधिकारों की सामान्य भावना एवं लाभों में पारस्परिक सहयोग द्वारा संयुक्त है।' ग्रोटियस (Grotius) को यह परिभाषा उपयुक्त प्रतीत हुई और इसलिए उसने भी इसी प्रकार की परिभाषा की है। उसके मतानुसार राज्य ऐसे स्वतन्त्र मनुष्यों का एक पूर्ण समाज है जो अधिकार के उपभोग के लिए तथा सामान्य उपयोगिता के लिए आपस में बंधे हुए हैं। वाटल (Vattel) तथा व्हीटन (Wheaton) ने भी साररूप में यही परिभाषा ग्रहण की है। बोदाँ (Bodin) ने राज्य की परिभाषा इस प्रकार की है—'राज्य अपनी सामान्य सम्पत्ति सहित परिवारों का समुदाय है जो सर्वोच्च सत्ता तथा विवेक-बुद्धि द्वारा नियन्त्रित है।' इस प्रकार अरस्तू की तरह उसने भी परिवार को, न कि व्यक्ति को, राज्य की इकाई माना है।

राज्य की आधुनिक परिभाषाएँ

आधुनिक लेखकों ने राज्य की जो परिभाषाएँ की हैं, उनमें निम्नलिखित विद्वानों की परिभाषाएँ सबसे अधिक सन्तोषप्रद हैं। अँग्रेजी लेखक हॉलैण्ड ने राज्य की परिभाषा इस प्रकार की है—'राज्य मनुष्यों का एक ऐसा बहुसंख्यक समुदाय है, जो एक प्रदेश में रहते हैं, और जिनमें बहुमत या एक निश्चित की जा सकने वाली श्रेणी के व्यक्तियों की इच्छा का उस बहुमत अथवा श्रेणी की शक्ति के कारण उसके विरोधियों पर भी प्राधान्य रहता है।' हॉल ने राज्य को अन्तर्राष्ट्रीय कानून की एक धारणा मानकर उसकी इस प्रकार परिभाषा की है—'स्वतन्त्र राज्य के लक्षण ये हैं कि उसका निर्माण करने वाला समाज स्थायीरूप से राजनीतिक ध्येय की प्राप्ति के लिए संगठित है, उसका एक निश्चित प्रदेश होता है और वह बाहरी नियन्त्रण से मुक्त होता है।'[1]

बर्गेस ने लिखा है—'राज्य एक संगठित इकाई के रूप में मानव जाति का एक विशिष्ट भाग है।' ब्लुन्ट्श्ली ने भी इसी प्रकार राज्य की परिभाषा की है—'एक निश्चित प्रदेश की राजनीतिक ढंग से संगठित जनता का नाम राज्य है।' संयुक्त राज्य अमेरिका की सुप्रीम कोर्ट ने एक मुकद्दमे में राज्य की परिभाषा इस प्रकार की है—'राज्य स्वतन्त्र व्यक्तियों का एक समुदाय है जो सामान्य हित तथा अपने अधिकारों एवं निजी वस्तुओं का शान्तिपूर्वक भोग करने तथा एक-दूसरे के प्रति न्याय करने के लिए संयुक्त हुए हैं।'

हाल ही में एक दूसरे मुकद्दमे में उसने राज्य की परिभाषा इस प्रकार की है—'राज्य स्वतन्त्र नागरिकों का एक राजनीतिक समाज है जिसके पास एक निश्चित सीमायुक्त प्रदेश हो और जिसका संगठन एक ऐसी सरकार के अधीन हुआ हो जो एक लिखित विधान द्वारा स्वीकृत तथा मर्यादित हो और जिसकी प्रतिष्ठा शासितों की सम्मति से हुई हो।' ऐसमीन के अनुसार 'राष्ट्र कानूनी व्यक्ति बन जाने पर राज्य का रूप लेता है।' ड्यूगी के अनुसार 'राज्य एक मानव समाज है जिसमें राजनीतिक

१. Hall : International Law, p. 18.

भेद अर्थात् शासक तथा शासित का भेद होता है।' मालबर्ग ने राज्य की परिभाषा इस प्रकार की है—'राज्य मनुष्यो का एक ऐसा समुदाय है जिसका एक निजी प्रदेश और जिसका एक ऐसा सगठन हो जिसके द्वारा उस समुदाय मे पारस्परिक सम्बन्ध मे बँधे हुए लोगो के लिए कार्य, आदेश एवं दमन के लिए एक उच्च सत्ता मिल सके।'

फिलीमोर के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रयोजन के लिए 'राज्य एक ऐसी जनता का नाम है जो स्थायीरूप से एक निश्चित प्रदेश मे निवास करती हो, जो सामान्य कानून, रीति रिवाज तथा परम्परा से एक राजनीतिक संगठन मे बँधी हो और जो एक संगठित शासन द्वारा उस प्रदेश के समस्त व्यक्तियो एव वस्तुओं पर स्वतन्त्र राजसत्ता अथवा प्रभुत्व द्वारा नियंत्रण करती हो, जो युद्ध करने एव शान्ति की स्थापना करने तथा संसार के राष्ट्रो के साथ सब प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध स्थापित करने की क्षमता रखती हो।'

निष्कर्ष

यदि राज्य की इन परिभाषाओं मे एक और परिभाषा जोड दी जाय तो हम यह कहेंगे कि राज्य-विज्ञान और सार्वजनिक कानून की एक धारणा की दृष्टि से राज्य न्यूनाधिक बहुसंख्यक व्यक्तियो का एक ऐसा समुदाय है जो किसी प्रदेश के एक निश्चित भाग मे स्थायीरूप से रहता हो, जो बाहरी नियंत्रण से मुक्त अथवा प्रायः मुक्त हो और जिसका एक संगठित शासन हो, जिसके आदेशों का नागरिको का विशाल समुदाय स्वभावतः पालन करता हो। आधुनिक राज्य के सभी तत्व, राजनीतिक, भौतिक तथा आध्यात्मिक, इस परिभाषा मे आ गये हैं। वे इस प्रकार हैं—प्रथम, सामान्य प्रयोजनो की सिद्धि के लिए व्यक्तियों का एक समूह, द्वितीय, पृथ्वी के एक निश्चित प्रदेश पर इस समुदाय का अधिकार जिसे वह अपना गृह माने, तृतीय, विदेशी नियन्त्रण का अभाव, और चतुर्थ, एक सामान्य सर्वोच्च सत्ता जिसके द्वारा जनता की सामूहिक इच्छा प्रकट हो तथा उसके अनुसार कार्य हो।

परिभाषाओं का निर्माण करने मे सहायक तत्व—दृष्टिविन्दु

हमने राज्य की जो परिभाषाएं यहाँ प्रस्तुत की हैं, उनमे लेखको का दृष्टिकोण प्रकट हो जाता है। जिस दृष्टि से उन्होने राज्य का अवलोकन किया है, उसका प्रभाव उनकी परिभाषाओं में परिलक्षित होता है। समाजशास्त्री लेखकों ने जो राज्य को एक मुख्यत एक सामाजिक सगठन मानते हैं, राज्य की जो परिभाषाएं की हैं, वे राज्य को एक कानूनी सत्ता के रूप मे देखनेवालो की परिभाषाओ से भिन्न हैं। इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय विधान के लेखको ने राज्य की परिभाषाओ मे कुछ ऐसे तत्वो पर जोर दिया है जिन पर राजनैतिक लेखकों ने विचार ही नहीं किया या बहुत कम विचार किया है। इसी प्रकार दार्शनिक लेखको ने अपनी परिभाषाओं मे दार्शनिक तत्वो को अधिक महत्त्व दिया है। हेगेल (Hegel) ने राज्य की परिभाषा इसी प्रकार की है। उसके अनुसार राज्य 'वस्तुगत भावना (Objective Spirit) का मूर्त स्वरूप है', वह 'एक नैतिक भावना है, मनुष्य की व्यक्त, सचेत, वास्तविक इच्छा है जो चिन्तन करती है, स्वबोध करती है और अपनी क्रियाओं को अपने ज्ञान अथवा अपने ज्ञान के परिणाम के अनुकूल बनाती है', वह 'वास्तविक स्वतन्त्रता का प्रत्यक्षीकरण' (Actualization) है 'पूर्ण विवेकशक्ति' है, 'नैतिक धारणा की प्राप्ति' है।

इन परिभाषाओ के विरुद्ध आपत्ति यह है कि ये अत्यन्त अमूर्त भावो को

प्रकट करती है, राज्य पर सर्वाङ्ग दृष्टि से विचार नहीं करती तथा इनसे राज्य के असली स्वरूप एवं उद्देश्य पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता।

राज्य की परिभाषा करते समय हमें सदैव यह स्मरण रखना चाहिए कि वह एक अमूर्त धारणा और एक मूर्त संगठन है। भावात्मक दृष्टि से विचार करने पर राज्य केवल एक कानूनी व्यक्ति, एक व्यक्तिगत संस्था है, जो उस जनता से भिन्न एवं अलग है, जो उस प्रदेश के साथ जिसमें वह रहती है, राज्य के भौतिक स्वरूप का निर्माण करती है। इसके विपरीत व्यावहारिक दृष्टि से विचार करने पर राज्य एक समुदाय है, वह प्रदेश है जिसमें वह समुदाय रहता है और वह संगठन है जिसके द्वारा वह अपनी इच्छा प्रकट करता है और कार्य करता है। इस दृष्टि से राज्य का उसके निर्माण करने वाले भौतिक तत्वों से समीकरण हो जाता है, अर्थात् राज्य तथा उसके भौतिक तत्वों में कोई अन्तर ही नहीं रह जाता।[1] कुछ लेखक उस पर पहले दृष्टि-बिन्दु से ही विचार करते हैं। दूसरे लेखक व्यक्तित्व के सिद्धान्त को छोड़कर केवल दूसरे दृष्टिबिन्दु से ही विचार करते हैं।

राज्य की भावना एवं धारणा

राजनीतिक विचारकों ने प्रायः राज्य की भावना (Idea) पर विचार किया है और कुछ विद्वानों ने उसे राज्य की धारणा (Concept) से भिन्न माना है।

भावना शब्द का भी अनेक अर्थों में प्रयोग किया गया है। जब राज्य का उसकी मूर्त भौतिक स्थिति से अलग विचार करते है तो वह अमूर्त 'भावना' कहलाता है। यह भी कहा जाता है कि राज्य मूर्त संगठन एवं संस्थाओं का रूप ग्रहण करने में पूर्व एक भावना के रूप में विद्यमान था। इस प्रकार हेगेल ने कहा कि राज्य की भावना को एक मूर्त राज्य में तात्कालिक वास्तविकता प्राप्त होती है। यह कहने से उसका अर्थ था कि राज्य उस समय तक एक दार्शनिक विचार मात्र ही है जब तक वह शरीर धारण कर समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाली एक कार्यवाहक संस्था का रूप ग्रहण नहीं कर लेता। कुछ दूसरे लेखकों ने, जिनमें जर्मन लेखकों का प्राधान्य है, राज्य की भावना और धारणा में इस प्रकार भेद माना है कि राज्य की भावना से प्रयोजन सर्वथा पूर्ण और आदर्श राज्य से है और राज्य की धारणा से अभिप्राय अपूर्ण वास्तविक राज्य से है। कुछ लेखक पूर्ण आदर्श राज्य को सार्वलौकिक राज्य (Universal State) मानते हैं। ब्लुण्ट्स्ली ने लिखा है—'राज्य की धारणा (Concept of State) का सम्बन्ध वास्तविक राज्यों की स्वाभाविक एवं सारभूत विशिष्टताओं से है, और राज्य की भावना (Idea of State) हमारे समक्ष राज्य की काल्पनिक पूर्णता का एक सुखद एवं मनोरम चित्र प्रस्तुत करता है जिसको अभी तक मूर्त रूप नहीं दिया जा सका है परन्तु जिसके लिए अभी प्रयत्न करना है।' बर्गेस ने भी इस भेद को माना है। वह लिखता है—'राज्य की भावना है—आदर्श और पूर्ण राज्य। राज्य की धारणा से प्रयोजन है—विकास तथा पूर्णता की ओर अग्रसर राज्य। भावना की दृष्टि से राज्य एक संगठित इकाई के रूप में समस्त मानव जाति है। धारणा की दृष्टि से एक संगठित इकाई के रूप में समस्त मानव जाति का एक विशेष भाग है। भावना के दृष्टिकोण से राज्य का भौमिक आधार विश्व है

---

१. मालबर्ग ने इस समीकरण की आलोचना की है। उसका कथन है कि राज्य इन विभिन्न तथ्यों का परिणाम है, स्वयं इन तथ्यों का समूह नहीं।

और उसकी एकता का सिद्धान्त है—मानवता। धारणा के दृष्टिकोण से राज्य का भौमिक आधार पृथ्वी का एक भाग-विशेष है और उसकी एकता का सिद्धान्त मानव प्रकृति एवं मानवीय आवश्यकता का वह विशिष्ट रूप है जो उस प्रकृति के विकास की एक विशिष्ट अवस्था मे प्रधान होता है। इनमे से पहला पूर्ण भविष्य का असली राज्य है और दूसरा अतीत, वर्त्तमान और अपूर्ण भविष्य का असली राज्य।[1] यह भेद अधिकाश मे दार्शनिक ही है और इसका कोई व्यावहारिक मूल्य नही है। इस विचार को सभी विद्वान् स्वीकार नहीं करते कि पूर्ण भविष्य का राज्य अर्थात् आदर्श राज्य सार्वभौम राज्य है।

अन्तर्राष्ट्रीय विधान की धारणा के रूप में राज्य

राज्यविज्ञान-विशारदो तथा वैधानिक विशेषज्ञों द्वारा परिभाषित राज्य उस अर्थ मे राज्य नही है जिसमे अन्तर्राष्ट्रीय कानून के साहित्य मे उसका प्रयोग होता है। इसके विपरीत अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अर्थ के अनुसार परिभाषित राज्य मे राज्य के वे कई लक्षण नही पाये जाते, जो राज्यविज्ञान तथा शासन-विधान की धारणा के रूप में राज्य मे होते है। जो लेखक राज्य-सत्ता या राज्य-प्रभुत्व को राज्य का एक आवश्यक तत्व नही मानते, वे सघीय शासन के सदस्यो, सरक्षित प्रदेशो, राष्ट्रसंघ के शासनादेश प्रणाली के अन्तर्गत प्रदेशो, ब्रिटिश साम्राज्य के स्वायत्त-शासन-प्राप्त डोमिनियनो आदि को भी राज्य मानते हैं, यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय विधान की दृष्टि में वे राज्य नही हैं। इसी प्रकार सान मारिनो के समान कुछ ऐसे छोटे राज्य हैं जो राज्य के सब लक्षणो से युक्त तथा प्रभुत्व-सत्ताधारी (Sovereign) होते हुए भी पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय विधान की दृष्टि से राज्य नही माने जाते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय विधान की दृष्टि से राज्य पूर्णप्रभुत्व-सत्ताधारी तथा स्वतन्त्र होने चाहिए जिनमे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध स्थापित करने की क्षमता हो और उन कर्तव्यो तथा दायित्वों को पूरा करने की सामर्थ्य हो जिनकी पूर्ति अन्तर्राष्ट्रीय कानून अन्तर्राष्ट्रीय परिवार के सदस्यो से चाहता है। इसके अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि सब राज्य उसे इस कोटि का समझें और वह अन्तर्राष्ट्रीय समाज का दूसरे राज्यों के साथ समानता के आधार पर सदस्य बन सके। एक समाज मे राज्य के वे समस्त गुण भले ही हो, जिनका राज्यविज्ञान-विशारदो ने उल्लेख किया है, परन्तु यदि अन्तर्राष्ट्रीय विधान के अनुसार उसे अन्तर्राष्ट्रीय परिवार मे स्थान नही दिया गया हो तो वह अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार राज्य (State) नही है। अन्तर्राष्ट्रीय विधान किसी राज्य की स्वीकृति से पूर्व उसके अस्तित्व से इन्कार नही करता, परन्तु वह उसकी तरफ ध्यान नही देता। इस प्रकार सन् १८५६ से पूर्व ऑटोमन साम्राज्य को योरोपीय सार्वजनिक कानून-प्रणाली से लाभान्वित होने का सुयोग नही दिया गया। चीन तथा जापान भी कुछ वर्ष पहले तक अन्तर्राष्ट्रीय समाज के पूर्ण सदस्य नही माने जाते थे।

यद्यपि रूस अन्तर्राष्ट्रीय समाज का एक पुराना सदस्य रहा है तथापि इस

---

1. Burgess : Political Science and Constitutional Law, Vol I, p. ५०. इसी प्रकार मालूम होता है कि हेगेल भी राज्य की भावना को सार्वलौकिक राज्य समझता था—अर्थात् वह राज्य जो सार्वलौकिक मानव इतिहास के क्रम मे अधिकाधिक वास्तविकता को प्राप्त करता जाता हो।

समय उसे अन्तर्राष्ट्रीय समाज से बाहर समझने की एक प्रवृत्ति देख पड़ती है, क्योंकि सोवियत सरकार ने उन अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों के औचित्य को नहीं माना जो उससे पहले की सरकारों ने विविध राष्ट्रों के साथ किये थे।[1]

क्या राष्ट्रसंघ एक राज्य है ?

हाल ही में राष्ट्रसंघ (League of Nations) नामक एक नवीन अन्तर्राष्ट्रीय संस्था की स्थापना के कारण उसकी कानूनी स्थिति के सम्बन्ध में बड़ी चर्चा होने लगी है। कुछ लेखकों ने उसे राज्य माना है—कम से कम अन्तर्राष्ट्रीय विधान की दृष्टि में, अर्थात उनके विचार से वह एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति है, परन्तु उसके कुछ आलोचकों ने उसे राज्यों से भी ऊपर एक अति-राज्य (Super state) माना है जिसकी प्रतिष्ठा उसके सदस्य-राज्यों के ऊपर हुई है। राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत कार्य-पालक, प्रशासक तथा व्यवस्थापक-प्रायः (Quasi-legislative) अंग हैं; उसने एक अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की स्थापना की है जो एक अर्थ में राष्ट्रसंघ का न्यायविभाग है। राष्ट्रसंघ की राजधानी है, उसका अपना एक कोष है, वह अपने आय-व्यय का पत्रक तैयार करता है, उसके अपने भवन हैं, सम्पत्ति है, उस पर कम से कम उसकी स्वीकृति से न्यायालय में दावा किया जा सकता है और वह शायद दूसरों पर भी दावा कर सकता है। यह कहा जाता है कि वह दूत-कार्य भी करने में समर्थ है क्योंकि वास्तव में राष्ट्रसंघ के सदस्य-राज्यों ने अपने-अपने स्थायी अर्द्ध-कूटनीतिक प्रतिनिधि उसके प्रधान-कार्यालय में नियुक्त कर रखे हैं और कभी-कभी राष्ट्रसंघ भी विविध देशों में अस्थायी मिशन भी भेजता है।

राष्ट्रसंघ के विधान की सातवीं धारा के अनुसार राष्ट्रसंघ के प्रतिनिधि एवं कर्मचारी जब राष्ट्रसंघ के कार्य में संलग्न रहते हैं, तब उन्हें राजदूतों के समान ही विशेष अधिकार एवं रियायतें मिलती हैं। यह कहा जाता है कि उसे राजसत्ता या प्रभुत्व का अधिकार भी प्राप्त है, यथा जर्मनी के सार प्रदेश तथा शासनादेश—मेण्डेट के अन्तर्गत प्रदेशों पर उसका प्रभुत्व है, उसे कुछ राज्यों में अल्पमतों की रक्षा के प्रश्न पर हस्तक्षेप का भी अधिकार है। डेंजिग पर उसका संरक्षण-अधिकार है; उसे युद्ध घोषित करने तथा सन्धि करने का भी अधिकार है।[2]

---

१. मूल पुस्तक सन् १९३५ में नये संस्करण के रूप में प्रकाशित की गयी थी। रूस की यह स्थिति उसके पहले थी। तबसे आज की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति में महान् परिवर्तन हो गया है। द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद से सोवियत रूस संसार की दूसरी महान् शक्ति माना जाता है। वह संयुक्त राष्ट्रसंघ (United Nations) के संस्थापकों में से एक प्रमुख राष्ट्र है और आज उसका संयुक्त-राष्ट्रसंघ में महत्वपूर्ण स्थान है। —अनुवादक।

२. इन कारणों से राष्ट्र-संघ को अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति समझने वाले लेखकों में ओपेनहाइम (Oppenheim) उल्लेखनीय है। ई० ए० हैरिमैन का कथन है कि संघ केवल एक 'राजनैतिक समाज', एक 'कानूनी व्यक्ति' ही नहीं है जिसका अपने सदस्यों पर नियन्त्रण है, वरन् चूँकि ये सदस्य स्वतन्त्र सत्ताधारी राष्ट्र हैं, इस कारण संघ 'अति-राज्य' (Super-State) है (E. A. Harriman : The Constitution at the Cross Roads), Amer. Pol. Sc. Rev., Jan., 1927, p. 137 में भी उसकी राय देखिये।

राष्ट्रसंघ राज्य नहीं है

दूसरी ओर लेखकों का यह भी विचार है कि राष्ट्रसंघ को अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति अर्थात् राज्य नहीं माना जा सकता, क्योंकि उसका अपना कोई प्रदेश नहीं जो उसके अधिकार में हो; उसे कोई आदेश जारी करके उसका पालन कराने का अधिकार नहीं है और यदि उसे ऐसा अधिकार भी हो तो उसकी कोई प्रजा नहीं जिसके लिए आदेश जारी किये जायें। उसे दूत-कार्य का जो अधिकार प्राप्त है, वह भी अपूर्ण है क्योंकि राष्ट्रसंघ को ऐसा कोई कानूनी अधिकार प्राप्त नहीं है जिससे वह उन व्यक्तियों को राजदूत के अधिकार दे सके जो उसके लिए प्रतिनिधि के रूप में भेजे जाते हैं और न वह उनकी रक्षा ही कर सकता है, न उसे यही अधिकार है कि वह किसी राष्ट्र के प्रतिनिधि को जिसे वह न चाहे, स्वीकार न करे।

युद्ध-घोषणा का उसका अधिकार भी इसके अतिरिक्त कुछ नहीं है कि उसकी कौंसिल अपने सदस्यों को सैनिक कार्रवाई के लिए सिफारिश कर सकती है और यदि अपनी इच्छानुसार सदस्य इस सिफारिश के अनुसार कार्य करते हैं और युद्ध करते हैं तो युद्ध का संचालन उसमें भाग लेने वाले राज्य करते हैं, न कि संघ। सार प्रदेश पर राष्ट्रसंघ का जो प्रभुत्व माना गया है, वह कानूनी सिद्धान्त के अनुसार प्रभुत्व नहीं माना जा सकता, वह तो अस्थायी शासन-प्रबन्ध तथा संरक्षण (Trusteeship) ही है क्योंकि उसका कानूनी प्रभुत्व तो जर्मन राज्य में निहित है। मेण्डेट-प्रदेशों के सम्बन्ध में भी ऐसी ही स्थिति है। इन प्रदेशों का प्रभुत्व या तो स्वयं उन प्रदेशों में निहित है जिनका नियन्त्रण शासनादेश के अधीन है अथवा उनका शासन प्रबन्ध करने वाले देशों के हाथ में है।[1] दोनों ही अवस्थाओं में राष्ट्रसंघ का कार्य तो निरीक्षण करने का ही है। राष्ट्रसंघ का काम तो इतना ही देखना है कि उन प्रदेशों का शासन-प्रबन्ध शासनादेश की शर्तों के अनुसार जनता के कल्याण के लिए हो रहा है या नहीं।

हस्तक्षेप के अधिकार के सम्बन्ध में यही कहना है कि राष्ट्रसंघ भाषा, धर्म एवं जाति-सम्बन्धी अल्पमतों की रक्षा के लिए सिफारिश करने, अपने नैतिक प्रभाव द्वारा उनकी रक्षा के लिए प्रयत्न करने और अपने सदस्यों को सैनिक कार्यवाही के लिए सिफारिश करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं कर सकता। अन्त में राष्ट्रसंघ का डंजिग पर जो संरक्षण है, वह वास्तव में उसका संरक्षण नहीं है क्योंकि ऐसा बतलाया जाता

राष्ट्रसंघ का द्वितीय विश्वयुद्ध (सन् १९३९-४५) में ही अन्त हो चुका था। सन् १९४५ में संसार के राष्ट्रों ने न्यूयार्क (अमेरिका) में 'संयुक्त राष्ट्रसंघ' (United Nations Organization) की स्थापना की। इस संघ में राष्ट्रसंघ की भाँति ही व्यवस्थापक, कार्यपालक और न्यायविभाग हैं। असेम्बली व्यवस्थापक-परिषद् है। प्रति वर्ष सितम्बर में उसका अधिवेशन होता है। सुरक्षा-समिति (Security Council) उसका मन्त्रि-मण्डल है और विश्व-न्यायालय उसका न्यायविभाग है। शासनादेश प्रणाली के स्थान पर ट्रस्टीशिप कौंसिल काम कर रही है। सार पर उसका प्रभुत्व नहीं रहा। डैंजिग पोलैण्ड के अधिकार में है।

१. इस विषय पर मतभेद है। देखिये, Wright : Sovereignty of the Mandates, American Journal of International Law, XVII, 1923, p. 698. इसी पत्र में (1924, p. 306 ff) उनका सम्पादकीय लेख तथा अन्य मत देखिये।

है कि वैदेशिक सम्बन्धों का नियन्त्रण पोलेण्ड को सौंप दिया गया और पोलेण्ड इस अधिकार का प्रयोग संघ अथवा उस नगर की तरफ से नहीं, वरन् अपने ही हित में करता है।

इन कारणों से राष्ट्रसंघ को अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति अथवा अन्तर्राष्ट्रीय विधान की दृष्टि से राज्य (State) नहीं माना जा सकता।[1] यह विचार हो अधिक ठीक है कि राज्यविज्ञान तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से राष्ट्रसंघ न राज्य है और न राज्यों से बढ़कर कोई प्रति राज्य (Super-State) ही है, वह तो संसार के राष्ट्रों तथा स्वाधीन डोमीनियनों की एक परिषद् है जिसकी स्थापना कुछ विशिष्ट उद्देश्यों की पूर्ति के लिए की गयी है। इस हैसियत से राष्ट्रसंघ, अन्य किसी अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय की अपेक्षा अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से राज्य के अधिक निकट है। कालान्तर में राष्ट्रसंघ शायद एक ऐसी संस्था का रूप धारण कर सके जिसमें पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति के सभी गुण पाये जाँय परन्तु यह समझ में नहीं आता कि वह अपने अन्तर्गत सदस्य-राष्ट्रों का पूर्णतया नहीं तो कम से कम एक अंश तक विनाश किये बिना राज्य-विज्ञान तथा वैधानिक कानून की दृष्टि से राज्य का रूप कैसे धारण कर सकेगा।[2]

क्या पोपशाही (Papacy) राज्य है?

सन् १८७० से पूर्व होली सी' (Holy See) एक राज्य था। पोप उसका शासक था और साथ ही रोमन कैथोलिक चर्च का धर्म-गुरु भी। उस वर्ष पोप द्वारा शासित प्रदेश इटली के नवीन राज्य में सम्मिलित कर लिया गया और इस प्रकार पोप की ऐहिक राजसत्ता का अन्त हो गया। इस पर भी कुछ केथोलिक मतानुयायी लेखक यह मानते रहे कि पोपशाही फिर भी एक राज्य थी। इसके साथ ही वे यह भी स्वीकार करते थे कि पोपशाही में राज्य के कुछ गुणों एवं विशिष्टताओं का अभाव था। उनका यह दावा था कि यद्यपि पोप द्वारा शासित प्रदेश इटली के नये राज्य में मिला लिये गये थे फिर भी वेटिकन पर पोप का अधिकार था। उसके अधिकारीवर्ग, कर्मचारीवर्ग तथा रक्षक आदि उसकी प्रजा थे। उन पर केवल पोप का अधिकार था। पोप की अपनी सरकार और अपना ही न्यायालय था और उस पर इटली के

---

१. इस प्रश्न पर British Year Book of International Law, 1924, p. 119 ff. में 'What is the League of Nations' नामक अध्याय में पी०. ई०, कॉर्बेट (P. E Corbett) ने विशद प्रकाश डाला है। लेखक यह तो नहीं मानता कि संघ को उपर्युक्त अधिकार प्राप्त हैं, तिस पर भी उसका निष्कर्ष यह है कि संघ अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से एक व्यक्ति है और इस हैसियत से अपने सदस्यों के अधिकारों एवं कर्त्तव्यों से भिन्न उसके अधिकार एवं कर्त्तव्य हैं (p. 147)। तुलना भी कीजिये, बटलर (Butler: Sovereignty in the League of Nations, Ibid., 1920-21, pp. 35 ff.) जहाँ लेखक ने संघ को अति-राज्य नहीं माना है और न यही माना है कि उसे प्रभुत्व-शक्ति प्राप्त है। दक्षिण अफ्रीका की सुप्रीम कोर्ट ने भी उसे न तो अति-राज्य और न अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति ही माना (Christian v. Rex, Cape Times, Dec. 1, 1923).

२. इस पुस्तक की रचना द्वितीय महायुद्ध से पूर्व हुई थी, अतः पाठक 'राष्ट्रसंघ' के स्थान पर 'संयुक्त राष्ट्रसंघ' को ही ग्रहण करें। —अनुवादक।

शासक का अथवा और किसी का अधिकार नहीं था। रोम के पोप ने दूसरे देशों के दूत स्वीकार किये थे और उनमें अपने प्रतिनिधि नियुक्त किये थे जिनको दूसरे देशों के राजदूतो के समान ही अधिकार प्राप्त थे। उसने दूसरे राज्यों के साथ समझौते किये तथा उसे एक लौकिक राजसत्ता के समान हो कम से कम केथोलिक मतानुयायी शासकों द्वारा सदैव सम्मानित किया गया था परन्तु यह विचार ही अधिक उपयुक्त है कि पोपशाही (Papacy) वास्तविकता की दृष्टि से राज्य नहीं थी और राजनीतिक अर्थ में तो और भी नहीं, यद्यपि यह सत्य है कि उसके साथ दूसरे देशों ने ऐसा व्यवहार किया जैसा एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति के साथ किया जाता है। हेग के शान्ति-सम्मेलन तथा उसके बाद के अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में पोप से अपने प्रतिनिधि भेजने की प्रार्थना नहीं की गई। दूसरे देशों ने वेटिकन में अपने जो राजदूत भेजे वे केवल धार्मिक मामलों तथा हितों के सम्बन्ध में काम करने के लिए भेजे गये थे। पोप द्वारा किये गये समझौते भी धार्मिक मामलों के सम्बन्ध में ही होते थे। सन् १९२९ में इटली ने एक सन्धि द्वारा होली सी (Holy See) का प्रभुत्व, स्वाम्य और वेटिकन[1] पर उसका पूर्ण अधिकार भी स्वीकार करके यह सन्देह दूर कर दिया कि पोपशाही राज्य था या नहीं। इटली ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार पोप का कूटनीतिक प्रतिनिधि भेजने तथा स्वीकार करने का अधिकार भी स्वीकार कर लिया। इसके साथ ही पोप ने यह भी घोषणा कर दी कि वह राष्ट्रीय झगड़ों से दूर रहेगा और उन झगड़ों को निपटाने के लिए जो अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन होंगे, उनमें वह उस समय तक शामिल नहीं होगा जब तक झगड़ने वाले राष्ट्र उससे विशेषरूप से प्रार्थना नहीं करेंगे।

(२) राज्य तथा अन्य समुदायों में भेद

समुदायों के भेद तथा प्रकृति

राज्य मानवों का एक समुदाय है। राज्य ही एकमात्र ऐसा समुदाय नहीं है। प्रत्येक राज्य के अन्तर्गत विविध प्रकार के बहुत से समुदाय होते हैं, जैसे गिर्जे, मजदूर संघ, राजनीतिक दल, नाना प्रकार के व्यावसायिक संघ, वैज्ञानिक परिषदें, कला-परिषदें इत्यादि। आधुनिक जीवन में एक बड़े मार्के की बात यह है कि मनुष्यों में अपनी धार्मिक, सांस्कृतिक, वैज्ञानिक, सामाजिक, राजनीतिक, तथा अन्य हितों की रक्षा के लिए समुदाय बनाने की प्रवृत्ति बढ़ रही है जिसके परिणामस्वरूप आज समाज विविध प्रकार के समुदायों का एक जाल सा बन गया है। अब राज्य ऐसे व्यक्तियों का समूह नहीं रहा जो सब बराबर हों और जिनका राज्य को छोड़कर आपस में और किसी से कोई सम्बन्ध न हो। इन समुदायों में से अनेक ऐसे भी हैं जिनमें राज्य के वयस्क स्त्री-पुरुष बड़ी संख्या में सदस्य हैं। इनमें से अनेक समुदाय अपने कार्य-क्षेत्र के विचार से राष्ट्रीय न होकर अन्तर्राष्ट्रीय भी हैं जो विभिन्न देशों की सीमा पार कर जाते हैं और जिनमें दूसरे देशों एवं राज्यों के नागरिक भी सदस्य हैं। अनेक स्त्री-पुरुष एक से अधिक समुदायों के सदस्य होते हैं। ये सब समुदाय संगठित होते हैं और इनके अपने कोष हैं, वे अपने आय-व्यय का ब्यौरा भी बनाते

१. वेटिकन सिटी रोम का एक भाग है जिसका क्षेत्रफल १६० एकड़ है। इसमें ४०० व्यक्ति रहते हैं। रोम का पोप इसी नगर में रहता है। इस नगर का प्रबन्ध आदि सब पोप के अधीन है। —अनुवादक।

हैं, वे चल-अचल सम्पत्ति के स्वामी भी हैं। उनके कार्य-क्रम के अपने नियम, उप-नियम एवं विधान होते हैं, अनुशासन के नियम होते हैं और वे अपने सदस्यों पर कुछ नियंत्रण भी रखते हैं। बहुतों का निर्माण राज्य के कानून द्वारा होता है और इस प्रकार उनका कानूनी व्यक्तित्व होता है, चाहे राज्य ने उनको इस दृष्टि से स्वीकार किया हो या नहीं। कुछ लेखकों का तो कहना है कि ऐसे समुदायों का एक काल्पनिक व्यक्तित्व से भिन्न *वास्तविक व्यक्तित्व होता है*।[१] इन समुदायों में से कुछ, जैसे धार्मिक, परोपकारिक तथा शिक्षा-सम्बन्धी समुदायों के काम तो ऐसे हैं जिनसे राज्य का भी सम्बन्ध है। वास्तव में, कुछ समुदायों के सम्बन्ध में तो राज्य स्वीकार करते हैं कि वे एक प्रकार से सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति में सहयोग करने वाले साझेदार हैं और सार्वजनिक कोष से उन्हें आर्थिक सहायता भी देते हैं।

राज्य तथा संस्थाओं में भेद

यद्यपि राज्य तथा अन्य मानव समुदायों में बहुत-सी बातों में समानता है तथापि यह स्वीकार करना पड़ेगा कि उनकी रचना, उनके कार्य, अधिकार एवं उद्देश्यों में मौलिक अन्तर है। वे भेद इस प्रकार हैं—

सर्वप्रथम, समस्त समुदायों में सदस्यता विशुद्धरूप में ऐच्छिक होती है और एक सदस्य जब चाहे तब उसका त्याग कर सकता है परन्तु राज्य की सदस्यता अनिवार्य है, नागरिक उसका परित्याग उसी समय कर सकता है जब वह देश से निर्वासित हो।

द्वितीय, एक व्यक्ति एक से अधिक समुदायों का सदस्य हो सकता है यदि वह प्रवेश पा सके और निर्वाचन में सफलता पा सके परन्तु एक नागरिक एक से अधिक राज्यों का सदस्य नहीं हो सकता।

---

१. ऐसे समुदायों के कानूनी स्वरूप के विषय में बहुत कुछ लिखा गया है। जर्मन विद्वान् गियर्के (Gierke) सर्वप्रथम कानून-विशारद था जिसने बतलाया कि समुदायों का वास्तविक व्यक्तित्व होता है जिस पर राज्य की स्वीकृति अथवा अस्वीकृति का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इंगलैंड के प्रोफेसर मेटलैण्ड ने यह मत स्वीकार किया है। देखिये, Gierke : Political Theories of the Middle Ages, translated by Maitland, p. ix. डॉक्टर जे० एन० फिगिस का भी यही मत है। उसने इस मत का प्रतिपादन चर्च के सम्बन्ध में किया है। देखिए, J. N. Figgis : Churches in the Modern State, Ch. 2. इस मत को मानने वाले अन्य लेखक भी हैं—Barker (Political Thought *from* Spencer to the Present Day, p 175), Laski (Grammar of Politics, Ch. 7), MacIver (The Modern State, p. 165 ff), Krabbe (The Modern Idea of State) और Lindsay (The State *in* Recent Political Theory).

यह मत सामान्यता स्वीकृत तथा परम्परागत मत के विपरीत है जिसके अनुसार किसी समुदाय का व्यक्तित्व राज्य को प्रकट अथवा अप्रकट स्वीकृति से ही प्राप्त होता है। यह मत 'स्वीकृति-सिद्धान्त' (Congession Theory) कहलाता है। इस मत के लिये देखिये, Maitland : Gierke's Political Theory of the Middle Ages, p. XXXI.

तृतीय, राज्य की सीमा निर्धारित होती है। उसका अधिकार उस सीमा के अन्तर्गत ही होता है परन्तु दूसरे समुदायो की प्रादेशिक सीमाएँ नही होती। अनेक सस्थाएँ तो ऐसी भी हैं जो दूसरे राज्यो मे भी अपना काम करती हैं। वस्तुत उनका कार्य-क्षेत्र सारा संसार हो सकता है।[1]

चतुर्थ, ऐच्छिक समुदाय का उद्देश्य सीमित और एक या अधिक से अधिक कुछ विशिष्ट विषयो से सम्बन्धित होता है परन्तु राज्य का सम्बन्ध समस्त जनता के अनेक सामान्य हितों एव लोकमगल से होता है। साराश मे, राज्य का सम्बन्ध विशिष्ट हितों की अपेक्षा सामान्य हितों की रक्षा से रहता है।[2]

पंचम, बहुत से ऐच्छिक समुदाय अस्थायी होते हैं, अपना कार्य पूरा करने के बाद उनका अस्तित्व नहीं रहता, बहुतो का आपसी फूट या अन्य कारणो से अन्त हो जाता है परन्तु राज्य एक सतत् और स्थायी समुदाय है, यह सनातन है—सतत् है, इसका अन्त नहीं होता। शासन एक के बाद दूसरा कायम होता रहता है और मिटता रहता है, प्रभुत्व-शक्ति भी एक केन्द्र से हट कर दूसरे केन्द्र मे पहुँच सकती है परन्तु राज्य बराबर कायम रहता है। यहाँ यह उल्लेख कर देना उचित है कि राज्य एक आवश्यक समुदाय है, दूसरे समुदाय ऐसे नहीं हैं। मनुष्य बिना किसी सस्था के सदस्य बना रह सकता है और वास्तव मे बहुत से मनुष्य ऐसे ही मिलेंगे, परन्तु कोई भी मनुष्य राज्य से बाहर नही रह सकता।

अन्त मे, सबसे मुख्य भेद यह है कि अन्य सस्थाओं मे प्रभुत्व शक्ति (Sovereignty) नही होती। उनके पास अपने आदेशों का पालन कराने के लिए कोई कानूनी सत्ता नही होती परन्तु राज्य के पास प्रभुत्व शक्ति होती है। वह अपने आदेशो का पालन नागरिको से करा सकता है और जो उसका पालन न करें, उन्हें वह दण्ड भी दे सकता है। दूसरे समुदाय अपने सदस्यों को नियम उलघन करने पर सभा से पृथक् कर सकते हैं या उन पर सामाजिक अप्रसन्नता का दबाव डाल सकते है परन्तु राज्य उसे गिरफ्तार कर न्यायालय द्वारा उचित दण्ड दिला सकता है, उसकी सम्पत्ति जब्त कर सकता है तथा अनेक प्रकार के दबाव डाल सकता है।

इस सम्बन्ध मे यह भी स्मरण रखना चाहिए कि समुदाय आदि का निर्माण करने मे नागरिको का कानूनी अधिकार अमर्यादित नही है। कोई भी राज्य अपनी सीमा के अन्तगत ऐसे समुदाय बनाने की आज्ञा नही दे सकता या बने नहीं रहने दे

१. बहुत समय से अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय बनते चले आये हैं। यह अन्तर्राष्ट्रीयता का युग है। सयुक्त राष्ट्रसघ (United Nations) के अतिरिक्त शिक्षा, सस्कृति, विज्ञान, स्वास्थ्य, व्यापार, आर्थिक एव सामाजिक विकास, यातायात, मजदूर-मंगल, बाल-कल्याण, पशु-रक्षा, अन्न, आर्थिक सहायता आदि के सम्बन्ध मे कार्य करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाओ की स्थापना हो चुकी है। उनके विधान भी तैयार एव स्वीकृत हो चुके हैं। —अनुवादक।

२. मेक आइवर (MacIver : The Modern State, p. 179) का कथन है कि राज्य का वह विशिष्ट काम, जिससे अन्य समुदायो से उसका भेद हो जाता है, सुरक्षा की स्थापना और उसको बनाये रखना है। अन्य समुदाय न तो इस कार्य को करने का दावा ही करते हैं, न वे कर ही सकते हैं।

सकता जिनका उद्देश्य अनैतिक हो तथा जो अपराधों को प्रोत्साहन देते हों अथवा अपराधियों की सहायता एवं रक्षा करते हो या जिनके उद्देश्य राज्य की नीति के विपरीत हों। ऐसी रुकावटों के अनेक उदाहरण मिलते हैं और प्रत्येक राज्य में इस प्रकार के समुदायों को सरकारी आज्ञा द्वारा भंग कर दिया जाता है।

ऐच्छिक समुदायों पर राज्य का नियन्त्रण

समस्त ऐच्छिक समुदायों पर, यहाँ तक कि धार्मिक संस्थाओं, गिर्जों मन्दिरों आदि पर भी राज्य का नियन्त्रण होता है। कुछ संस्थाओं पर अधिक कड़ा नियन्त्रण होता है जिससे उनके सदस्यों की उनकी प्रबन्धकारिणी-समितियों के अनुचित अथवा गैर-कानूनी दबाव से रक्षा हो सके। अमेरिका के संयुक्त राज्य में राजनीतिक दल (Political parties) भी, जो ऐच्छिक समुदायों में प्रमुख स्थान रखते हैं, राज्य के कड़े नियन्त्रण में आ गये हैं, यद्यपि गत एक शताब्दी या उससे भी अधिक समय से यह माना जाता था कि उनके सम्बन्ध में राज्य कोई नियन्त्रण नहीं लगा सकता। आज तो अमेरिका में राजनीतिक दलों के संगठन का रूप, उनके प्राथमिक निर्वाचनों की तिथियाँ, उनके व्यय, उनके निर्वाचन की पद्धतियाँ, और यहाँ तक कि दल के सदस्यों की योग्यता का नियमन भी राज्य के कानून द्वारा ही होता है। सारांश यह है कि ऐच्छिक समुदायों के प्रति राज्य की नीति निरपेक्षनिषेध, सहिष्णुता, स्वीकृति, (कानून द्वारा व्यक्तित्व प्रदान कर के) नियमन अथवा आर्थिक सहायता के रूप में हो सकती है। इन समुदायों के प्रति राज्य की नीति क्या होनी चाहिये, इस पर यहाँ विचार नहीं किया जा सकता। इतना कह देना ही पर्याप्त होगा कि राज्य का इन पर वैसा ही नियन्त्रण है, जैसा व्यक्तियों पर; उनका अस्तित्व राज्य की अनुमति से ही सम्भव है और उनके कामों पर समाज के कल्याण, उसके अधिकारों एवं हितों की रक्षा की दृष्टि से नियन्त्रण लगाया जा सकता है।

तथाकथित बहुवादी सिद्धान्त

राज्य की असीमित प्रभुत्व शक्ति के परम्परागत सिद्धान्त तथा उसके परिणामस्वरूप समस्त जनता तथा समुदायों एवं संस्थाओं पर उसके अपरिमित नियन्त्रण के सम्बन्ध में हाल हो में कुछ लेखकों ने आपत्ति उठाई है। लेखक बहुवादी (Pluralists), संघ-समाजवादी (Guild Socialists) तथा सिंडीकेलिस्ट (Syndicalist) आदि नामों से विख्यात हैं। संक्षेप में और सामान्यरूप से उनका विचार इस प्रकार है। औद्योगिक, राजनैतिक तथा अन्य हितों की रक्षा के निमित्त ऐच्छिक समुदाय एवं संस्थाओं में अधिकाधिक वृद्धि हो जाने के कारण समाज अब व्यक्तियों के समूह की अपेक्षा समुदायों का एक समुदाय सा बन गया है। अब व्यक्ति बनाम राज्य का पुराना व्यक्तिवादी सिद्धान्त टिक नहीं सकता, प्रत्युत समुदाय बनाम राज्य का सिद्धान्त ही सत्य है। जो व्यक्ति किसी समुदाय का सदस्य होता है, उसकी दोहरी भक्ति एवं निष्ठा होती है—एक अपने समुदाय के प्रति और दूसरी राज्य के प्रति। यदि इन दोनों में संघर्ष हो तो इनमें से दोनों नागरिक की भक्ति पर अपना-अपना दावा श्रेष्ठ बता सकते हैं। इन समुदायों का व्यक्तित्व स्वतन्त्र माना जाना चाहिये जिसके निर्माण में राजसत्ता का कोई हाथ नहीं है। अनेक समुदायों का ऐसे अनेक कार्यों से सम्बन्ध है जिसका राज्य से भी सम्बन्ध है। वास्तव में उनके सब संगठित कार्य मिलकर राज्य के कार्यों से अधिक होते हैं और यह बात नहीं मानी जा सकती कि राज्य उसके अन्तर्गत ऐच्छिक समुदायों की अपेक्षा कहीं अधिक महत्वपूर्ण

है। इसलिए राज्य को एक ऐसी संस्था नहीं मानना चाहिये जो एकमात्र स्वाश्रयी, एवं अनिवार्य संस्था हो और दूसरी संस्थाएं जिसके सर्वथा अधीन हों।[1] वह विभिन्न समुदायों में से एक है और व्यक्ति की भक्ति पर दूसरी संस्थाओं से उसका अधिक दावा नहीं है। मेटलैण्ड के मतानुसार वे एक ही जाति की संस्थाएं हैं। यह तो स्वीकार किया गया है कि राज्य अपने ही ढंग की एक संस्था है, परन्तु उसका काम एक निर्णायक की भाँति दूसरी संस्थाओं के पारस्परिक विवादों को निपटाने का होना चाहिए, उनके कार्यों का नियमन नहीं। इन संस्थाओं का एक विशद् सीमा तक आन्तरिक स्वतन्त्रता के उपभोग का जन्मसिद्ध अधिकार स्वीकृत होना चाहिये। बार्कर तथा लास्की ने इस सम्बन्ध में कहा है कि समाज का संघ के ढंग पर संगठन होना चाहिये। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि नियमन के जिस अधिकार का उपभोग अभी तक राज्य करता रहा है, राज्य को उसे बहुत अंश तक छोड़कर विभिन्न समुदायों में बाँट देना चाहिये। वे अपनी अधिकार-सीमा के अन्तर्गत अपने लिये कानून भी बना सकें।[2] राज्य को यह अधिकार नहीं होना चाहिये कि उत्पादन के प्रश्नों का निर्णय करे अथवा उत्पादन पर सीधा नियन्त्रण करे।[3] उद्योगों के सम्बन्ध में राज्य (उपभोक्ताओं का प्रतिनिधि) और मजदूर-संघों (उत्पादनकर्ताओं के प्रतिनिधि) के बीच काम का विभाजन होना चाहिये। जहाँ तक उद्योगों के सम्बन्ध में कानून बनाने का प्रश्न है, यह कार्य राज्य तथा उत्पादकों की दो समान अधिकारवाली पार्लमेण्टों को करना चाहिए और प्रत्येक को अपने क्षेत्र में पूर्ण अधिकार होना चाहिए। अन्त में दिया हुआ मत संघ-समाजवादियों (Guild Socialists) का है।[4]

बहुवादी सिद्धान्त की आलोचना

उपर्युक्त सिद्धान्त राज्य के प्रभुत्व को स्वीकार नहीं करता। इस सिद्धान्त के माननेवालों का यह विचार है कि प्रभुत्व-शक्ति के सिद्धान्त का परित्याग कर देना चाहिये क्योंकि व्यवहार में यह सिद्धान्त असफल हो चुका है। यह केवल एक अध-

१. देखिये, Cole · Social Theory (1920), p. 81 तथा Follett The New State (1918), p 10. फलिट का कहना है कि समुदायों की उपेक्षा करने में हमारे राजनीतिक विकास को काफी धक्का पहुँचा है (p. 152)। परन्तु फलिट का मत अन्य लेखकों के समान यह नहीं है कि प्रभुत्व शक्ति को विभिन्न समुदायों तथा राज्य के बीच वितरण कर देना चाहिये।

२. Laski : Grammar of Politics (1925), Ch. 7, p 269.

३. इस दलील के लिये देखिये, Laski : Grammar of Politics, p 271, Cole : Self Government in Industry, p. 127 ; Krabbe : Modern Idea of the State, p 35 , Merriam, Barnes and others : 'Political Theories, Recent Times का कोकर (Coker) लिखित अध्याय 'The Attack Upon State Sovereignty. Barker, Lindsay, Ellis, Elliott आदि लेखकों ने भी इसी प्रकार के मत प्रकट किये हैं।

४. देखिये, G D. H. Cole : Self-Government in Industry (1617), pp 30-32.

श्रद्धा अथवा व्यर्थ का ढकोसला है। आधुनिक जीवन के तथ्यो से इसका कोई सामञ्जस्य नहीं है।[1]

यह तो स्वीकार करना पड़ेगा कि आधुनिक समय मे ऐच्छिक समुदायो का सभ्य समाज के स्थानीय एव राष्ट्रीय जीवन मे बडा महत्व हो गया है जैसा पहले *कभी नहीं था*। इनमे से बहुत से समुदाय समाज की भारी सेवा कर रहे हैं। उन्हे प्रोत्साहन मिलना चाहिए और आर्थिक सहायता भी दी जानी चाहिए। यह भी उचित है कि राज्य की प्रतिनिधित्व-प्रणाली मे भी उनका ध्यान रखा जाना चाहिए परन्तु जो सिद्धान्त समुदायो को राज्य के समान मानता है, उनमे कोई सारभूत भेद *नहीं मानता, यह बतलाता है कि व्यक्ति को दो या अधिक भक्तियाँ हो सकती हैं,* एक राज्य के प्रति और दूसरी समुदायो के प्रति, जो राज्य को समुदायो से आवश्यक-रूप से श्रेष्ठ नही मानता, जो प्रभुत्व-शक्ति के सिद्धान्त का परित्याग कर राज्य के कार्यों एवं शक्तियो को राज्य तथा समुदायो के बीच बाँट देना चाहता है, वह जाँच के सामने टिक नहीं सकता। इसका परिणाम तो यह होगा कि समाज *मध्ययुगीन अर्द्ध-* अराजकता स्थिति मे पहुँच जायगा, जब प्रभुत्व-शक्ति चर्च, राज्य, जागीरदारो, जातियों एवं संस्थाओं आदि के बीच विभाजित थी।[2] एक अँग्रेज लेखक का मत है—'यह विचार कि श्रमजीवी-वर्ग अपने लिए राजनीतिक राज्य के अन्तर्गत एक ऐसे आर्थिक राज्य की स्थापना करेगा, जिसमे मजदूरो के लिए मजदूरों का शासन होगा, परन्तु जो आर्थिक जीवन के नियमन के लिए उस राज्य मे वस्तुत: स्वतन्त्र होगा', बडा भयानक है।[3] यदि इस सिद्धान्त के अनुसार कार्य किया गया तो इससे अनेक अधिकार-क्षेत्र सम्बन्धी विवाद खडे हो जायँगे। राज्य की सत्ता को हस्तगत करने मे विविध प्रतियोगी दलो मे संग्राम चलेगा, वह निर्बल हो जायगी और इस प्रकार राज्य मे सुव्यवस्था एवं शान्ति को भी बहुत धक्का पहुँचेगा। बहुवादी सिद्धान्त के पक्षपातियों ने समुदायो के लिये जो 'स्वराज्य' (Autonomy) की माँग की है, उसकी स्वीकृति के कारण ही राज्य के समान एक सर्वोच्च सत्ता की आवश्यकता का और भी अधिक अनुभव होने लगेगा; क्योकि उस समय इन स्वराज्य-भोगी समुदायो के अनिवार्य पारस्परिक संघर्ष के परिणामों से समाज की तथा उन समुदायो की प्रबन्धक संस्थाओं के अत्याचार से उनके सदस्यो को रक्षा करने के लिए एक सर्वोच्च सत्ता की आवश्यकता होगी। यह मानना पड़ेगा कि एक प्रमुख सेवा जो राज्य जनता के प्रति करता है, वह है—समाज के विविध वर्गों तथा श्रेणियो के बीच होने वाले संघर्ष को रोकना

१. देखिये, Cole : उपर्युक्त तथा Webb : A Constitution for the Socialist Commonwealth of Great Britain.

२. इस सिद्धान्त के समर्थको का कथन है कि मध्ययुगीन श्रेणि-व्यवस्था (Guild System) को फिर से स्थापित करना अच्छा होगा परन्तु इस पर बार्कर का मत है कि मध्ययुगीन राज्य आधुनिक राज्य से बहुत भिन्न था और इस कारण मध्ययुगीन राज्य के समुदायो की स्थिति के आधार पर आधुनिक राज्य मे समुदायो की स्थिति का समर्थन नहीं किया जा सकता। (Some Great Medieval Thinkers, edited by Hearnshaw, 1923, p. 28).

३. Hobson : "Democracy after War" (1918), p. 181.

और पंच बन कर उनके विरोधी हितों के बीच सामंजस्य स्थापित करना।[1]

निष्कर्ष

यह सत्य है कि कुछ बातों में राज्य के संगठन को इससे अच्छा बनाया जा सकता है।[2] परन्तु यह कहने में अतिशयोक्ति होगी कि राज्य कलंकित हो चुका है और अनुभव ने यह सिद्ध कर दिया है कि वह आधुनिक जीवन के लिए अपर्याप्त एवं अनुपयुक्त है और इस कारण उसके स्थान पर ऐसे राज्य की प्रतिष्ठा होनी चाहिए जिसमें प्रभुत्व-शक्ति वितरित हो। इस मत को सही सिद्ध करने का भार उन लोगों पर है जो ऐसा परिवर्तन चाहते हैं परन्तु अभी तक उन्हें इसमें सफलता नहीं मिल सकी है।

(३) राज्य के साध्य (Ends)

राज्य साध्य है अथवा साधन

राज्य की प्रकृति एवं स्वरूप पर विचार करने के बाद हम अब उसके उद्देश्यों एवं लक्ष्यों पर विचार करना चाहते हैं। इस सम्बन्ध में विभिन्न युगों के विचारकों तथा एक ही युग के विचारकों में भी काफी मतभेद है, यद्यपि यह मतभेद आधारभूत नहीं है। जो लोग राज्य का मूल्य और उसकी आवश्यकता समझते हैं, उनमें अन्तर इसी बात में है कि कुछ लेखकों ने, जिन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए राज्य की स्थापना हुई थी, उन पर तथा उनके महत्व पर अधिक ध्यान दिया है और दूसरों ने कम।

प्राचीन लेखकों और विशेषतः यूनानी लेखकों के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि वे राज्य को एक साध्य मानते थे, कुछ विशिष्ट लक्ष्यों की पूर्ति का साधन नहीं। इस विचार के अनुसार मानव कार्य-क्षेत्र का शायद ही कोई अंग राज्य के हस्तक्षेप के अयोग्य समझा जाता था। यह विचार कि सामूहिक हितों एवं स्वार्थों से भिन्न कोई वैयक्तिक हित एवं स्वार्थ हो सकते हैं, उस समय प्रचलित नहीं था। व्यक्तियों के जीवन का नियमन और उनके कार्यों का निर्देश इस प्रकार होता था मानो व्यक्ति राज्य के लिए ही पैदा हुए हों। आधुनिक जर्मनी की राजनीतिक विचारधारा की यह कहकर आलोचना की जाती है कि वह इसी सिद्धान्त पर आधारित है। सामान्यतया आधुनिक राज्य विज्ञान राज्य को एक संस्था या साधन मानता है, जिसके द्वारा कुछ उद्देश्यों की प्राप्ति हो सकती है, स्वयं एक साध्य नहीं।[3]

---

१. फिगिस भी इस आवश्यकता को स्वीकार करता है (Figgis : Churches in the Modern State, p. 90).

२. कोकर (Coker), फॉलेट (Follett), एलिस (Ellis) आदि लेखकों का कथन है कि इस सिद्धान्त के समर्थकों ने समुदायों के बढ़ते हुए महत्व की ओर ध्यान आकर्षित करके मूल्यवान् सेवा की है।

३. कुछ आधुनिक लेखक राज्य को साध्य मानते हैं। देखिये, (Ritchie : Principles of State Interference, p. 102) उसका कथन है कि चूँकि सर्वोत्तम जीवन राज्य में ही बिताया जा सकता है, इस कारण राज्य केवल साधन नहीं है, वरन् स्वयं एक साध्य है। हेगेल का भी यही मत है। विलोबी (Nature of the State, p. 31.) का मत है कि यह भेद दृष्टिकोण के ऊपर निर्भर है। यदि विशुद्ध वैयक्तिक दृष्टिकोण से देखा जाय तो राज्य सर्वोत्तम जीवन को सम्भव बनाने के लिए साधन मात्र है परन्तु यदि उसे हम व्यक्तियों से

राज्य के साध्यों पर भेद

राज्य के साध्यों पर विचार करते समय हम उसके मौलिक उद्देश्यों तथा विशेष उद्देश्यों में भेद कर सकते हैं। हम उसके अन्तिम लक्ष्य तथा निकटतम लक्ष्य में भी भेद कर सकते हैं। एक जर्मन लेखक होल्ट्ज़नडॉर्फ ने राज्य के वास्तविक लक्ष्य तथा आदर्श लक्ष्य में भी भेद किये हैं। उसके अनुसार वास्तविक लक्ष्य से प्रयोजन यह है—प्रथम, राष्ट्रीय सत्ता का विकास; द्वितीय, न्याय तथा कानून की रक्षा; तृतीय, सामाजिक उन्नति तथा जनता की सभ्यता की प्रगति। संक्षेप में, राष्ट्रीय सत्ता, न्याय और मानव सभ्यता ही राज्य के वास्तविक लक्ष्य हैं। राष्ट्रीय सत्ता प्राथमिक लक्ष्य है और मानव सभ्यता का विकास अन्तिम लक्ष्य।

ब्लुण्ट्श्ली ने उपर्युक्त न्याय-सिद्धान्त (Justice theory) को, जिसके अनुसार राज्य का लक्ष्य मनुष्यों में केवल न्याय की प्रतिष्ठा करना है, संकुचित एवं व्यर्थ माना है और इसी प्रकार दार्शनिक हेगेल के नैतिकता के सिद्धान्त (Theory of morality) को भी व्यर्थ बतलाया है जिसके अनुसार राज्य का लक्ष्य 'नैतिक कानून' की प्राप्ति अथवा सिद्धि है। होल्ट्ज़नडॉर्फ के समान ब्लुण्ट्श्ली ने 'सामान्य लोक-कल्याण' (General Welfare) के सिद्धान्त को अधिक महत्त्व दिया है, यद्यपि उसने कहा है कि वास्तव में जन-कल्याण की ठीक-ठीक कसौटी क्या है, यह जानना कठिन है। उसने स्वयं भी यह स्वीकार किया है कि यह राज्य के स्वेच्छाचारिता एवं निरंकुशता के अनेक कामों को ठीक बताने तथा राजनीतिक पापों को छिपाने का एक अच्छा साधन है। यह कहना कि राज्य का आधारभूत एवं प्राथमिक लक्ष्य सामान्य लोक-कल्याण है, हमारे प्रश्न का हल नहीं है क्योंकि इससे यह नहीं मालूम होता कि सामान्य लोक-कल्याण क्या है। यह तो ऐसी ही बात है कि नागरिक से कहा जाय कि सदाचार का पालन करना उसका कर्तव्य है परन्तु उसे सदाचार का स्वरूप और उसकी व्याख्या नहीं बतलायी जाय, और न उसे सदाचार का मार्ग ही दिखलाया जाय।

एक दूसरे प्रसिद्ध जर्मन लेखक फॉन मोहल ने लिखा है कि राज्य का लक्ष्य जनता के जीवन-उद्देश्यों का उन्नयन है। बर्गेस नामक अमेरिकन लेखक के अनुसार राज्य के लक्ष्य तीन प्रकार के हैं—प्राथमिक, माध्यमिक तथा अन्तिम। अन्तिम लक्ष्य है—मानवता की पूर्णता, विश्व-सभ्यता और विश्व में सदाचार की प्रतिष्ठा। माध्यमिक लक्ष्य है—राष्ट्रीयता की पूर्णता, राष्ट्रीय बुद्धि एवं जीवन का विकास और प्राथमिक लक्ष्य है—शासन प्रणाली तथा नागरिक स्वतन्त्रता की प्रतिष्ठा। ऐतिहासिक क्रम से ये उद्देश्य इस प्रकार हैं—(प्रथम) शासन तथा स्वतन्त्रता का ऐसा संगठन जिससे व्यक्ति को अधिकाधिक स्वतन्त्रता प्राप्त होते हुए भी शासन को अधिक से अधिक शक्ति मिल सके। यह सब इस उद्देश्य से कि (द्वितीय) विभिन्न राज्यों की राष्ट्रीय बुद्धि (genius) विकसित एवं पूर्ण हो सके तथा उनके रीति-रिवाजों, कानूनों तथा संस्थाओं में व्यक्त हो सकें, जिससे (तृतीय) विश्व की सभ्यता का सब ओर से अवलोकन हो सके, वह मालूम हो सके और उसकी सिद्धि हो सके परन्तु यहाँ हमें फिर विचार-भ्रान्ति मिलती है। इसमें साध्य तथा साधन दोनों शामिल कर दिये गये हैं। शासन-

---

पृथक् और भिन्नरूप में देखें तो वह स्वयं एक साध्य है। ब्लुण्ट्श्ली का कथन है कि ये दोनों मत सही है और गलत भी। राज्य के दोनों रूप हैं। (Theory of the State, pp 305-307).

प्रणाली की स्थापना को लक्ष्यों की पूर्ति का साधन न मानकर लक्ष्य मानना कठिन है।

दूसरे लेखकों ने भी राज्य के लक्ष्यों के सम्बन्ध में विवेचन किया है। लॉक के अनुसार राज्य का लक्ष्य मानव जाति का हित है। इस पर हक्सले का कथन है कि राज्य के लक्ष्यों का इतना सुन्दर और इतना संक्षिप्त वर्णन उसके समय तक किसी ने भी नहीं किया। अस्तु, मानव-जाति की भलाई ऐसी वस्तु है जिसके विषय में सब लोगों में मतैक्य नहीं है। वह देश, काल एवं परिस्थिति पर निर्भर है। प्रोफेसर रिची ने अपनी पुस्तक 'Principles of State Interference' में व्यक्ति द्वारा अपने लिए सर्वश्रेष्ठ जीवन की सिद्धि' को राज्य का लक्ष्य माना है। जॉन स्टुअर्ट मिल ने राज्य के साध्य की व्याख्या इस प्रकार की है—'शासन का समुचित लक्ष्य तो इस समय मानव जाति द्वारा जो शक्तियाँ एक-दूसरे के विनाश तथा एक-दूसरे द्वारा किये जाने वाले विनाश से अपनी रक्षा करने के प्रयत्न में व्यय हो रही हैं, उनका सदुपयोग करके और प्रकृति की शक्तियों को भौतिक एवं नैतिक भलाई के लिए सहायक बना कर मानवों के सर्वोत्कृष्ट प्रयत्नों तथा प्रतिभा के निष्फल होने से जो हानि हो रही है, उसे कम से कम कर देना है।'[1]

निष्कर्ष

राज्य का मौलिक, प्रारम्भिक एवं तात्कालिक लक्ष्य जनता में शान्ति, व्यवस्था, सुरक्षा एवं न्याय की स्थापना और रक्षा है। जो राज्य इस प्राथमिक लक्ष्य की एक उचित सीमा तक पूर्ति नहीं करता, वह जीवित रहने का अधिकारी नहीं है। द्वितीय, व्यक्तियों की आवश्यकताओं को पूरा करने के साथ ही राज्य को समाज की सामूहिक आवश्यकताओं अर्थात् समुदायों के कल्याण पर भी ध्यान देना चाहिए। सामान्य हितों की उन्नति एवं राष्ट्रीय प्रगति के लिए ऐसे कार्य करने चाहिये जिनकी सामान्य हितों के लिए आवश्यकता हो और जिन्हें नागरिक व्यक्तिगतरूप से अथवा ऐच्छिक समुदायों द्वारा या तो बिलकुल नहीं कर सकते अथवा कुशलतापूर्वक नहीं कर सकते। जब होल्ट्ज़नडॉर्फ तथा ब्लुण्ट्श्ली ने कहा था कि राज्य के लक्ष्यों में से एक राष्ट्रीय शक्तियों का विकास तथा राष्ट्रीय जीवन की पूर्णता है तो शायद उनका यही आशय था। इसे हम राज्य का द्वितीय ध्येय कह सकते हैं। मानव सभ्यता का उत्कर्ष सम्पादन करना राज्य का अन्तिम और सर्वोच्च लक्ष्य समझा जा सकता है। यही जर्मनों का 'सभ्यता के मिशन का सिद्धान्त' (Mission of Civilization Theory) है जिसका होल्ट्ज़नडॉर्फ, स्टाइन, वेगनर, ब्लुण्ट्श्ली आदि ने बड़े जोरों से समर्थन और प्रतिपादन किया था। इस प्रकार राज्य के तीन लक्ष्य हैं—सर्वप्रथम, व्यक्ति के हित की वृद्धि; द्वितीय, सामाजिक व्यवस्था में व्यक्तियों के सामूहिक हितों की रक्षा एवं प्रगति; तृतीय और अन्तिम, विश्व की प्रगति एवं सभ्यता की उन्नति।[2]

मुख्य पाठ्य ग्रन्थ

Barker, "Political Thought from Spencer to the Present Day" (1915), pp 175-183, "The Discredited State," *Political Quarterly*, V (1915), pp. 101 ff.

---

१. देखिये, (Political Economy, Vol. II, p. 603)। स्पिनोजा ने राज्य का लक्ष्य नागरिक स्वतन्त्रता की रक्षा माना है। प्रोफेसर सिज्विक के अनुसार राज्य का ध्येय ऐसी स्थितियों को पैदा करना है जिसमें सब नागरिक पूर्ण एवं स्वाश्रयी जीवन बिता सकें।

२. राज्य के कार्यों का विस्तृत विवरण सत्रहवें अध्याय में दिया जायगा।

Bluntschli, "Theory of the State,' (Oxford translation, 1892), Bk. I.

Burgess, "Political Science and Constitutional Law" (1896), Vol. I. Bk., I. Chs. 1-4 ; Bk II, Ch. 1.

Coker, "The Attack Upon State Sovereignty" in Merriam, Barnes, and others, "*Political Theories, Recent Times,*" (1925), Ch. 3 ; "Technique of the Pluralistic State," *Amer. Pol. Sci. Review*, Vol. XV (1921), pp. 186 ff.

Cole, "Self-Government in Industry" (1917), Ch. 5 ; "Guild Socialism" (1920), Chs. 1-2

Ellis, "The Pluralistic State," *Amer. Pol. Sci. Review*, Vol XIV(1920), pp. 393 ff.

Figgis, "The Great Leviathan," in "Churches in the Modern State" (1913), Ch. 2.

Follett, "The New State" (1918), Chs 28-32.

Hobson, J. A. "The Conquest of the State," in "Democracy After the War" (1918), Ch. 4

Jellinek, "Recht des Modernen Staates" (1905), Bk. II, Ch. 5.

Laski, "A Grammar of Politics" (1925), Ch. 7

Lindsay, "The State in Recent Political Theory," *Political Quarterly* No. I (Feb, 1914), pp. 128 ff.

MacIver, "Community"(1917), Ch 2; "The Modern State" (1926), pp. 1-25 and 165 ff.

Maitland, Introduction to Gierke's "Political Theories of the Middle Ages" (1900), pp. xviii-xxxiv.

Pitamic, "A Treatise on the State" (1929), Ch. 1.

Seeley, "Introduction to Political Science" (1896), lects. I-II.

Sidgwick, "The Elements of Politics" (1897), Ch. 28.

Willoughby, "The Nature of the State" (1903), Chs. 1-2; "Fundamental Concepts of Public Law" (1925). Chs. 4-7.

राज्य के तत्व एवं गुण

(१) जनता

जनता की आवश्यकता

पिछले अध्याय में हमने राज्य के सम्बन्ध में दो दृष्टिकोणों से विचार किया है—एक अमूर्त भाव की दृष्टि से और दूसरा एक दृश्यमान् मूर्त वस्तु की दृष्टि से। मूर्त वस्तु की दृष्टि से राज्य एक मानव समुदाय है और अमूर्त भाव की दृष्टि से वह एक कानूनी व्यक्ति है। जिस प्रकार एक वस्तु अपने गुणों से अभिन्न नहीं होती, उसी प्रकार भूमि एवं जनता से बना हुआ मूर्त राज्य अमूर्त भाव के रूप में राज्य से भिन्न होता है। एक रेलवे और उसका संचालन करने वाले प्रबन्धक-मंडल का उदाहरण लेकर देखिये। ये दोनों भिन्न हैं। इस प्रकार राज्य भौतिक तथा आध्यात्मिक—दो प्रकार के तत्वों के मेल से बना है। ये तत्व निम्न प्रकार हैं—

(१) मानवों का एक समुदाय;
(२) एक प्रदेश जिस पर वे स्थायीरूप से निवास करते हों,
(३) आन्तरिक प्रभुत्व तथा बाहरी नियन्त्रण से मुक्ति;
(४) राजनीतिक संगठन जिसके द्वारा जनता की सामूहिक इच्छा की अभिव्यक्ति होती है और उसके अनुसार कार्य सम्पन्न होता है।[1]

इन तत्वों के अतिरिक्त राज्य में कुछ और भी गुण अथवा लक्षण हैं जिन्हें राज्य के तत्व नहीं मान सकते। राज्य-विज्ञान के विद्यार्थियों को यह भली-भाँति समझ लेना चाहिए कि राज्य और उसके तत्व, ये दोनों भिन्न-भिन्न हैं। तत्वों या उनमें से कुछ को ही राज्य समझ लेना भूल है। राज्य न तो जनता है, न भूमि है और न शासन ही। राज्य को ही शासन अथवा शासन को राज्य समझने की भूल प्रायः की जाती है। राज्य के अस्तित्व के लिए जनतारूपी भौतिक तत्व की निरपेक्ष आवश्यकता है। जनता के अभाव में राज्य की कल्पना सम्भव नहीं। उसके बिना न तो शासक हो सकते हैं और न शासित।

राज्य के नागरिक और प्रजा

राज्य में निवास करने वाली जनता पर दो दृष्टियों से विचार किया जा सकता है—नागरिक तथा प्रजा। नागरिक के रूप में लोग राज्य के सदस्य होते हैं

---

१. ड्यूगी (Duguit) ने राज्य के छः तत्व बताये हैं। ध्यान से देखने पर मालूम होगा कि वे तत्व नहीं, वरन् राज्य की विशिष्टताएँ हैं।

प्रौर उन्हे सदस्यता के प्रधिकार होते हैं। प्रजा के रूप मे राज्य उन्हे प्रादेश देता है प्रौर वे उसका पालन करते हैं। रूसो ने जनता का इन्ही दो रूपो मे प्रवलोकन किया था।[1] राज्य की सदस्यता के लिए नागरिकता का प्राप्त होना प्रावश्यक नही क्योकि राज्य मे नागरिको के प्रतिरिक्त प्रौर भी लोग रहते हैं जो नागरिक नही होते परन्तु जिनकी राज्य रक्षा करता है प्रौर जो राज्य की सुविधाप्रो से लाभ भी उठाते हैं। यह प्रवश्य सत्य है कि पूर्ण सदस्यता के लिए नागरिकता की प्राप्ति प्रावश्यक है। बहुत से राज्य राजनीतिक प्रधिकारो के लिए ही नही, पूर्ण सामाजिक प्रधिकारो के उपभोग के लिए भी यह शर्त रखते हैं।

राज्य में जनता की संख्या कितनी हो ?

एक राज्य मे कितनी जनता होनी चाहिए ? पूर्वकालीन कुछ लेखको ने राज्य के प्रस्तित्व के लिए जनता की संख्या निर्धारित करने का प्रयास किया था प्रौर कुछ ने तो न्यूनतम प्रौर प्रधिकतम संख्या भी निश्चित की थी। प्ररस्तू का विचार था कि संख्या की एक सीमा होनी चाहिए। उसने स्पष्टरूप से कहा है कि जनता न बहुत प्रधिक हो प्रौर न बहुत कम ही। उसने बतलाया है कि जनता की सख्या इतनी बडी हो कि वह स्वाश्रयी हो सके प्रौर यह इतनी छोटी भी हो कि उसकी शासन व्यवस्था ठीक प्रकार से हो सके। इसी प्रकार रूसो की दृष्टि मे भी सख्या का महत्व था। उसने लिखा है कि एक राज्य को दो प्रकार से माप सकते हैं, जनसख्या तथा प्रदेश के विस्तार को दृष्टि से जिन दोनो मे एक उचित सम्बन्ध होना चाहिए।

उसका मत था कि प्रदेश इतना बडा हो जिसमे जनता का निर्वाह हो सके प्रौर प्रदेश मे इतने व्यक्ति हो जिनका भरण-पोषण हो सके। उसका स्पष्टतः प्रभिप्राय यह था कि किसी राज्य मे इतने लोग न हो जिनका भरण-पोषण न हो सके। उसने यह स्वीकार किया कि जलवायु तथा भूमि की उर्वरता के भेदो के कारण संख्या एव प्रदेश के विस्तार का प्रनुपात निश्चित करना सम्भव नही है।[2] प्रत्यक्षतः इस सम्बन्ध मे कोई नियम बनाना भी व्यर्थ है। प्राजकल ससार मे विभिन्न राज्यो की जनसंख्या कुछ सहस्र (जैसे मोनेको तथा सेन मेरिनो) से लेकर करोडो तक है। इस सम्बन्ध मे यही कहना उचित होगा कि राज्य मे जनसंख्या इतनी पर्याप्त होनी चाहिये कि उसका संगठन ठीक प्रकार से कायम रह सके प्रौर वह इतनी प्रधिक नही होनी चाहिए कि उस भूमि के समस्त साधनो से भी उसके पालन-पोषण की व्यवस्था ठीक प्रकार न हो सके। ड्यूग्वो (Duguit) का कथन है कि जनसंख्या इतनी होनी चाहिए कि शासक प्रौर शासित मे भेद हो सके। इसी प्रकार हॉरियो (Hauriou) का मत है कि जनसख्या इतनी होनी चाहिए कि निजी तथा सार्वजनिक कामो मे भेद हो सके।[3]

---

१. देखिये, Social Contract, Bk. 1, Ch. 6

2. देखिये, Social Contract, Bk. II, Ch. 10. उसके विचार मे १०,००० उचित संख्या थी।

३. देखिये, Droit Administration, p. 7.

(२) प्रदेश

प्रदेश की आवश्यकता

राज्य का दूसरा आवश्यक तत्व है—प्रदेश या भूमि जिस पर जनता स्थायी-रूप से निवास करती है और जिसकी सीमा के अन्तर्गत ही राज्य का प्रभुत्व होता है और उसके काम होते हैं। ब्लुण्टश्ली का मत है कि 'जैसे राज्य का वैयक्तिक आधार जनता है, उसी प्रकार उसका भौतिक आधार भूमि है, जनता उस समय तक राज्य का रूप धारण नहीं कर सकती जब तक उसका कोई निश्चित प्रदेश न हो।'[1] इस बात में राज्य तथा और दूसरे समुदायों मे अन्तर है। दूसरी संस्थाओं को प्रदेश की आवश्यकता नहीं है। उनके सदस्य और काम सारे संसार मे फैले रह सकते हैं। राज्य एक प्रादेशिक संस्था है, जिसमे एक निश्चित प्रदेश में रहने वाली जनसंख्या ही सम्मिलित होती है। एक प्रदेश मे कितनी संस्थाएँ अथवा ऐच्छिक समुदाय हो सकते हैं, इसकी कोई सीमा नही है,[2] परन्तु एक प्रदेश मे एक ही राज्य हो सकता है। यदि एक ही प्रदेश पर दो या अधिक राज्यों की सत्ता हो तो दोनों मे हितों एवं सीमाओं के संघर्ष के कारण युद्ध हुए बिना नहीं रह सकता।

इस सिद्धान्त के कई स्पष्ट अपवाद भी हैं। ऐसे प्रदेश भी हैं जिन पर दो राज्यों का प्रभुत्व है। इसके उदाहरण निम्नलिखित हैं। श्लेसविग-होल्स्टीन (Schleswig-Holstein) प्रदेश पर ऑस्ट्रिया तथा प्रशा का अधिकार (सन् १८६४-१८६८); बोसनिया तथा हर्ज़ीगोविना पर ऑस्ट्रिया-हंगरी का प्रभुत्व (सन् १८७८-१९०८); इंगलैंड तथा मिस्र का सूडान पर प्रभुत्व, ग्रेट-ब्रिटेन तथा फ्रान्स का न्यू हेब्रेडीज द्वीप पर प्रभुत्व। इस प्रकार दो राज्यों के प्रभुत्व साधारणतया उन्हीं प्रदेशों में स्थापित हुए हैं, जिनमें उन प्रदेशों पर अधिकार के सम्बन्ध मे परस्पर ऐसे विवाद खड़े हो गये थे जिनका समाधान नहीं हो सकता था। यह एक प्रकार से अस्थायी समाधान है। इसमें स्थायित्व नहीं है।

दूसरा अपवाद यह है कि जिन देशों मे संघ प्रणाली है, उनमे दो राज्यों का एक संघ-राज्य और दूसरे उसके अन्तर्गत सदस्य-राज्य का एक ही प्रदेश पर प्रभुत्व होता है। संघ के अन्तर्गत जो 'राज्य' होते हैं, वे वास्तव मे राज्य नहीं माने जाते, कम से कम पूर्ण अर्थ में तो नहीं माने जाते। वे प्रभुत्व-सत्तापूर्ण राज्य नहीं हैं और इस कारण इन्हें अपनी क्षमता को निश्चित करने की शक्ति नहीं है। इस कारण ऐसे राज्यों मे संघर्ष का डर बहुत कम हो जाता है।

इस सम्बन्ध मे तीसरा अपवाद बाह्य शक्ति की अधिकार-सीमा (Extra-territorial Jurisdiction) के सिद्धान्त का परिणाम है जिसके अनुसार राजदूत विदेश में भी अपने देश के कानून की आधीनता मे रहते हैं और जिसके अनुसार कई देशों मे (जैसे चीन में) विदेशियों को अपने ही देश के मन्त्रियों, राजदूतों अथवा न्यायालयों के

---

१. देखिये, Theory of the State, p. 231.

२. राष्ट्रसंघ द्वारा सन् १९२१ मे प्रकाशित Handbook of International Organisations मे सैकड़ों अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं, कमेटियों आदि के नाम दिये गये हैं।

समक्ष अपने मामलो की सुनवाई का अधिकार है। इस प्रकार एक ही देश मे दो राज्यों का अधिकार होता है।[1]

अन्त मे चौथा अपवाद यह है कि युद्ध के समय किसी देश पर शत्रु का सैनिक आधिपत्य स्थापित हो जाने पर कानूनी दृष्टि से तो उस देश पर उसी के राज्य का प्रभुत्व रहेगा परन्तु अस्थायीरूप से उस पर दूसरे राज्य का अधिकार हो जायगा। यह वास्तव मे दो राज्यो के प्रभुत्व का उचित उदाहरण नही कहा जा सकता, क्योंकि जब तक सैनिक सत्ता का आधिपत्य रहता है, तब तक सेनानायक के आदेशो का ही पालन जनता को करना पडता है और उस समय के लिए कानूनी प्रभुत्व स्थगित रहता है। इसके ताजे उदाहरण प्रथम विश्व-युद्ध के समय हमे जर्मनी द्वारा बेलजियम पर, तथा सर्विया और मॉण्टेनीग्रो पर जर्मनी के मित्रो के आधिपत्य मे मिलते हैं। उस समय फ्रेंच सरकार की अनुमति से बेलजियम की सरकार फ्रान्स मे हावरे (Havre) नामक स्थान मे स्थापित हो गई और वह वही से जितना बन सका, उतना अपना कार्य करती रही। क्या यह बिना प्रदेश के राज्य का उदाहरण था? कानूनी सिद्धान्त के अनुसार बेलजियम राज्य कायम रहा यद्यपि उसकी सरकार देश से निर्वासित हो गई थी और उसकी भूमि पर जर्मनी ने अधिकार जमा लिया था। क्या हावरे तथा इंगलैंड और फ्रान्स मे दूसरे स्थान, जहाँ बेलजियम सरकार कार्य करती थी, बेलजियम के प्रदेश, या यों कहिये, एक प्रकार के 'कल्पित' प्रदेश थे? २१ जुलाई सन् १९१८ को हावरे मे स्थित एक बेलजियन सैनिक अदालत ने इस दृष्टि से निर्णय किया था परन्तु १ फरवरी सन् १९१९ को बेलजियन कोर्ट ऑफ कैसेशन (Court of Cassation) ने यह निर्णय रद्द कर दिया और बतलाया कि बेलजियम का प्रदेश साधारण अर्थ मे समझा जाना चाहिए। उसमे ये सब स्थान शामिल नही हो सकते, जहाँ बेलजियम के सर्वोच्च अधिकारो का प्रयोग हो रहा हो, जैसे इगलैंड तथा फ्रान्स मे वहाँ की सरकारो की स्वीकृति से स्थापित बेलजियम के सैनिक कैम्प।[2]

सैनिक न्यायालय का निर्णय उस निषेध-सिद्धान्त (Principle of Exclusivity) के विपरीत था जिसके अनुसार एक निश्चित प्रदेश पर एक ही राज्य का

---

१. ब्रिटेन आदि के नागरिको को चीन के हांगकाग आदि प्रदेशो मे यह अधिकार था कि उनके मामलो का निर्णय अंग्रेजी न्यायालयो मे हो परन्तु द्वितीय महायुद्ध के बाद ब्रिटिश सरकार ने इस विशेषाधिकार का परित्याग कर दिया है। अब उनके मामलो पर चीनी न्यायालयो मे ही विचार होता है। —अनुवादक।

२. द्वितीय-युद्ध की समाप्ति पर पोट्सडाम के निश्चयानुसार जर्मनी पर सोवियत रूस, अमेरिका (संयुक्त राज्य), ब्रिटेन तथा फ्रान्स का अभी तक आधिपत्य रहा। इन चारो राष्ट्रो के सैनिक नायको की परिषद् वहाँ शासनकार्य करती थी। अब जर्मनी मे दो भिन्न राज्य बन गये हैं। जब तक इस मित्र-नियन्त्रण-परिषद् (Four Power Control Council) का जर्मनी मे राज्य था, तब तक जर्मनी की कानूनी राजसत्ता अपना कार्य नही कर सकती थी।

युद्धकाल मे भारत मे अमेरिकन सरकार ने अपनी सेनाएँ पूर्वी एशियाई युद्ध के लिये भेजी थी। उन्होने यहाँ अपने ऑफिस, अस्पताल, बैरक तथा एअरोड्रोम भी कायम किये थे परन्तु इससे भारत मे दो राज्यो का प्रभुत्व स्थापित नहीं हुआ। —अनुवादक।

अधिकार हो सकता है। यदि यह बात मान ली जाय कि जिस किसी स्थान में, चाहे वह किसी दूसरे राज्य में हो, एक राज्य के अधिकार से कुछ काम होता हो, वह उस राज्य के प्रदेशों का भाग हो जाता है तो उससे यह असम्भव निष्कर्ष निकलेगा कि सारा संसार प्रत्येक राज्य का प्रदेश है, क्योंकि संसार में शायद ही कोई भाग ऐसा हो, जहाँ विदेशी नागरिक न हो जिनकी रक्षा उनका ही राज्य करता है।[1]

प्रदेश की आवश्यकता का निषेध

राज्य-विज्ञान के पूर्वकालीन लेखकों ने प्रदेश को राज्य का एक आवश्यक तत्व माना हो, ऐसा नहीं मालूम होता। यह कहा जाता है कि उन्नीसवीं सदी से पूर्व राज्य की जो परिभाषाएं की गयी हैं, उनमें से किसी ने भी प्रदेश का उल्लेख नहीं किया[2] परन्तु आजकल राज्य-विज्ञान के सभी लेखक तथा अन्तर्राष्ट्रीय विधान के विशेषज्ञ प्रदेश को राज्य का आवश्यक तत्व मानते हैं। परन्तु उनमें भी कुछ लेखक ऐसे हैं जिन्होंने प्रदेश को आवश्यक नहीं माना। हॉल अन्तर्राष्ट्रीय विधान का एक सबसे महान् अधिकारी लेखक है। उसने लिखा है—ऐसा कोई कारण नहीं जान पड़ता कि एक भ्रमणशील जाति या मानव समुदाय अपने आपको एक प्रदेश में स्थायी रूप से रहने वाले समाज की भाँति अन्य समुदायों के साथ व्यवहार के निश्चित नियमों द्वारा बंधा हुआ क्यों न समझे।' परन्तु वह यह भी स्वीकार करता है कि 'आधुनिक सभ्यता में कुछ ऐसी परिस्थितियाँ हैं जो प्रभुत्व के साथ भूमि को आवश्यक समझती है और जिनके कारण राज्य के लिए एक नियत प्रदेश पर अधिकार एक व्यावहारिक आवश्यकता हो जाती है।' डूग्वी नामक लेखक ने तो यहाँ तक कहा है कि 'राज्य के निर्माण में प्रदेश कोई अनिवार्य तत्व नहीं है।' राज्य शासक तथा शासित के भेद से बनता है और यह भेद किसी प्रदेश में स्थायीरूप से न बसे हुए समाज में भी हो सकता है।' उसका कथन है—'इस भेद की एक नियत प्रदेश में मर्यादा है। प्रदेश से शासन के प्रभावकारी कार्य की भौतिक सीमा निर्धारित हो जाती है और इसी अर्थ में आधुनिक राज्यों में प्रदेश का महत्व है' परन्तु वह भी स्वीकार करता है कि आधुनिक सभ्य समाज एवं जातियाँ नियत प्रदेशों पर स्थायीरूप में निवास करती हैं। व्यावहारिक दृष्टि से, और कम से कम राज्य की आधुनिक धारणा के अनुसार एक भ्रमणशील जाति, जिसका अपना कोई प्रदेश नहीं, किस प्रकार राज्य बन सकता है? फिलस्तीन में स्थायीरूप से बसने के पूर्व यहूदी, रोम साम्राज्य के पतन के बाद इधर-उधर भ्रमण करती हुई जर्मन जातियाँ, उत्तर की ओर जाते हुए दक्षिण अफ्रीका के बोअर लोग अपने नेताओं के नेतृत्व में एवं अनुशासन में रहे होंगे परन्तु ऐसा नहीं कहा जा सकता कि वे राज्य थे। यह माना जा सकता है कि वे राज्य-निर्माण के पथ पर थे परन्तु जब तक वे एक निश्चित प्रदेश पर स्थायीरूप से निवास न करने लगते, राज्य नहीं कहला सकते थे। 'स्टेट' का शाब्दिक अर्थ ही स्थायी निवास का द्योतक है।

---

१. इस सम्बन्ध में अमेरिका के प्रसीडेण्ट कूलिज का कथन ध्यान देने योग्य है। उसने २५ अप्रेल सन् १९२७ को कहा था कि एक नागरिक का शरीर और उसकी सम्पत्ति देश के बाहर भी राज्य के अधिकार-क्षेत्र का भाग है (New York Times, April 27).

२ जेलिनेक का कथन है कि क्लूबर (Kluber) पहला लेखक था जिसने सन् १८१७ में राज्य की परिभाषा में भूमि अथवा प्रदेश का समावेश किया।

इस सम्बन्ध मे यह कहा जा सकता है कि किसी राज्य का प्रदेश सटा हुआ एवं मिला हुआ हो सकता है या भौगोलिक दृष्टि से कटा हुआ एवं विभाजित भी हो सकता है, जैसे ग्रेट-ब्रिटेन का, जिसका कुछ भाग उन उपनिवेशो से बना हुआ है जो समुद्र द्वारा पृथक् हो गये हैं। जर्मन राज्य का प्रदेश भी दो भागो मे विभाजित है जिनके मध्य मे पोलिश गलियारा (Corridor) है।[1] राज्य ऐसे भी हो सकते हैं जो चारों ओर से दूसरे राज्यो से पूर्णरूपेण घिरे हुए हो। इटली में सान मेरिनो नामक राज्य इसी प्रकार का है। इसी प्रकार एक राज्य के भाग भी दूसरे राज्य के अन्दर हो सकते है। दो शताब्दी पहले ऐसे उदाहरण अनेक थे और अब भी मिल सकते हैं।

प्रदेश—एक अधिकार-सीमा के रूप मे

प्रदेश का कानूनी महत्व दो रूपो मे दिखाई देता है। प्रथम, राज्य की अनुमति के बिना कोई दूसरी सत्ता उसके प्रदेश मे शासन नही कर सकती। दूसरे रूप मे, राज्य के सभी पुरुषों एव वस्तुओ पर राज्य का अधिकार होता है। इस बात का हम पहले ही उल्लेख कर चुके हैं कि राज्य तथा अन्य समुदायो एव सस्थाओ मे मुख्य अन्तर यह है कि राज्य के पास प्रभुत्व-शक्ति होती है जो अन्य संस्थाओ के पास नही होती। आधुनिक प्रभुत्व-शक्ति की भावना प्रादेशिक है, वैयक्तिक नही। प्रभुत्व-शक्ति का उपयोग प्रदेश से सम्बन्धित है और उसका प्रयोग राज्य की सीमा के अन्तर्गत ही किया जा सकता है। किसी राज्य के जलयान अपने राज्य की सीमा के बाहर चले जाने पर भी कानून की कल्पना से राज्य की सीमा के अन्तर्गत माने जाते हैं।

यह सर्वथा सत्य है कि अनेक देशों मे, विशेषत: योरोप के देशो मे, जहाँ वैयक्तिक अधिकार—सीमा (Personal Jurisdiction) का सिद्धान्त माना जाता है, राज्य का अधिकार उन नागरिको पर भी माना जाता है जो विदेशो मे हो और जिन्हें स्वदेश वापस आने पर विदेशों मे किये गए अपराधो के लिए दण्ड दिया जाता है। इस अर्थ मे यह कहा जा सकता है कि इस वैयक्तिक अधिकार सीमा के सिद्धान्त को मानने वाले राज्यों की अधिकार-सीमा समस्त संसार मे है परन्तु वास्तव मे इसका प्रयोग राज्य की अपनी सीमा के भीतर ही किया जा सकता है। विदेशों से उन नागरिको को वह न गिरफ्तार कर सकता है और न राज्य के कानून ही उन पर लागू किये जा सकते हैं।

इस प्रकार प्रदेश राज्य को आदेश देने तथा नियन्त्रण करने की शक्ति के प्रयोग के लिए एक अनिवार्य आधार है। जनता के समान प्रदेश राज्य के प्रभुत्व का विषय नही माना जा सकता। कुछ जर्मन तथा फ्रेन्च लेखकों का मत है कि राज्य भूमि पर भी उसी प्रकार अपनी प्रभुत्व-शक्ति का प्रयोग करता है, जिस प्रकार जनता पर। परन्तु जेलिनेक ने इस मत का खण्डन किया है और उसकी राय ठीक है। उसका कहना है कि राज्य की प्रभुत्व-शक्ति का प्रदेश पर प्रयोग उस प्रदेश मे रहने वाली जनता द्वारा ही हो सकता है। राज्य मनुष्यों को ही आदेश दे सकता है, भूमि

---

१. यह स्थिति द्वितीय विश्वयुद्ध के पूर्व थी। भारत उप-महाद्वीप के अन्तर्गत पाकिस्तान का प्रदेश भी भारतीय संघ के पूर्वी पंजाब, संयुक्त प्रान्त, बिहार तथा पश्चिमी बंगाल के कारण सटा मिला हुआ नहीं है। पूर्वी बंगाल और पश्चिमी पंजाब मे एक हजार मील का अन्तर है। —अनुवादक।

इन्कार नहीं किया और न उसने इस सिद्धान्त की निन्दा ही की। उसने स्पष्टतया इस बात को नहीं माना कि ग्रेट-ब्रिटेन ने अपनी सीमा में स्थित समुद्र में मछली मारने की अनुमति देने में कोई सार्वभौम अधिकार (Sovereign right) दे दिया था। उसने यह स्वीकार भी किया कि अधिकार देने वाले राज्य की प्रभुत्व-शक्ति को कम करने के अर्थ में बन्धन अब मान्य नहीं रहा।[1]

सन् १९२० में राष्ट्रसंघ की कौंसिल ने कानून-विशेषज्ञों का एक कमिशन अलंद द्वीपों (Aland Islands) के विवाद का निर्णय करने के लिए नियुक्त किया था। इस कमीशन ने अन्तर्राष्ट्रीय बन्धन के सिद्धान्त को उस सीमा तक स्वीकार नहीं किया, जहाँ तक उनके अनुसार अधिकार देने वाले राज्य की प्रभुत्व शक्ति में कमी होती है और उसने स्पष्ट घोषणा की कि इस अर्थ में बन्धन का अस्तित्व सामान्यतया मान्य नहीं है।[2]

यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय बन्धन के सिद्धान्त के विरुद्ध एक दृढ़ लोकमत है जो इस सिद्धान्त को आधुनिक प्रभुत्व-भावना के विरुद्ध मानता है, फिर भी बन्धन तो बना ही हुआ है। इस सत्य को कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता कि जो राज्य अपने प्रदेश में दूसरे राज्य को अधिकार देता है, उसकी राज्य अधिकार-सीमा पर अवश्य प्रतिबन्ध लग जाता है, हम उस सीमा को चाहे प्रभुत्व-शक्ति कहें या कुछ और। अन्तर्राष्ट्रीय बन्धन के ताजा उदाहरण हमें उन प्रतिबन्धों में मिलते हैं जो सन् १९१९ की शान्ति-सन्धि के अनुसार कुछ राज्यों के पक्ष में जर्मनी तथा ऑस्ट्रिया पर लगाये गये थे, जैसे पोलेण्ड को जर्मनी के प्रदेश में होकर डेंजिग जाने-आने के लिए मार्ग दिया था। फ्रान्स को राइन नदी के दाँयें तट पर कुछ इमारतें खड़ी करने तथा मार्ग का अधिकार दिया गया था। चेकोस्लोवाकिया को ९९ वर्षों के लिए हेमबर्ग तथा स्टेटिन के बन्दरगाहों के कुछ स्वतन्त्र भागों का चुंगी के उद्देश्य से प्रयोग करने का अधिकार दिया गया था। उसे ऑस्ट्रिया के रेल पथ पर रेलें चलाने तथा ऑस्ट्रिया की भूमि पर केवल अपने ही काम के लिए टेलीफोन तथा तार खड़ करने का अधिकार भी दिया गया था। उन सभी राज्यों को, जिनकी जर्मनी के साथ सन्धि थी, कील नहर का समानता के आधार पर प्रयोग करने का अधिकार था। इसके साथ ही जर्मनी को पूर्व को ओर अलग स्थित अपने प्रदेश तक पहुँचने के लिए पोलेण्ड में होकर रेल-मार्ग मिल गया था। इन तथा इसी प्रकार की अन्य व्यवस्थाओं से, जिन्हें चाहे अन्तर्राष्ट्रीय बंधन मानें या न मानें, राज्यों के प्रादेशिक प्रभुत्व पर प्रतिबन्ध तो लगते ही हैं।

राज्य के चेतनात्मक तत्त्व के रूप में प्रदेश का सिद्धान्त

जब हम प्रदेश को राज्य का एक प्रमुख तत्व मानते हैं, तब हमारे मन में राज्य की कल्पना एक भौतिक स्थूल वस्तु के रूप में होती है। कुछ जर्मन लेखक जो राज्य का एक कानूनी व्यक्तित्व मानते हैं, यहाँ तक मानते हैं कि प्रदेश उस कानूनी

---

१. इस पंचायत के निर्णय के लिए देखिये, Scott, 'The Hague Court Reports' (1916), pp. 146 ff., पृष्ठ १५८-१६१ विशेषकर देखिये। और भी देखिये, Columbia Law Review (1911) में Lansing, 'The North Atlantic Coast Fisheries Case.'

२. कमिशन की रिपोर्ट के लिए देखिये, Journal Officiel de la Societe des nations, Supp. Special No. 3, October, 1920.

व्यक्तित्व का भी एक प्रधान तत्व है। यह सिद्धान्त राज्य के चेतनात्मक तत्व के रूप में प्रदेश के सिद्धान्त (Theory of territory as a subjective element of the state) के नाम से प्रख्यात है। जेलिनेक ने इस सिद्धान्त को स्वीकार किया है और उसका विशदरूप से विवेचन किया है परन्तु द्युग्वी ने उसका प्रबल विरोध किया है। वह केवल राज्य के कानूनी व्यक्तित्व को ही अस्वीकार नहीं करता। उसकी दृष्टि में इस सिद्धान्त के, यदि उसे स्वीकार कर भी लिया जाय, ऐसे परिणाम होंगे जो सर्वथा अमान्य हैं और जो वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार के प्रतिकूल हैं। इस सिद्धान्त का एक प्रतिफल यह है कि राष्ट्रीय प्रदेश को न हस्तान्तरित किया जा सकता है और न उसका विभाजन ही किया जा सकता है। इस मत को फ्रान्स के क्रान्तिवादियों ने सन् १७९१ के तथा अन्य विधानों में स्वीकार किया था। यदि प्रदेश राज्य-व्यक्ति का एक तत्व है तो उसके व्यक्तित्व का नाश किये बिना उसके प्रदेश का विभाजन नहीं किया जा सकता परन्तु सत्य तो यह है कि वास्तव में सन् १८७१ में फ्रान्स के प्रदेश का एक भाग हस्तान्तरित किया गया था और दूसरे राज्यों के प्रदेश भी हस्तान्तरित किये गये हैं। इसलिये इस सिद्धान्त का अकाट्य ऐतिहासिक तथ्यों से सामंजस्य स्थापित नहीं होता।

यद्यपि द्युग्वी यह सिद्ध करने में बहुत आगे बढ़ गया है कि राज्य का कानूनी व्यक्तित्व नहीं होता। उसका यह मत सर्वथा सत्य है कि प्रदेश राज्य के व्यक्तित्व का तत्व नहीं माना जा सकता। यह मानना उतना ही युक्ति-संगत होगा जितना यह मानना कि बैंक उस संसृष्ट संस्था (Corporate body) का एक विधायक अंग है, जो उसकी स्वामिनी है तथा उसका संचालन करती है। एक दूसरे प्रसिद्ध फ्रेञ्च लेखक मालबर्ग ने जेलिनेक के सिद्धान्त का समर्थन किया है। उसका कथन है—'प्रदेश ऐसी वस्तु नहीं है जो कानूनी राज्य-व्यक्ति के बाहर हो और जिस पर उस व्यक्ति का न्यूनाधिक उसी प्रकार स्वाम्य होगा, जैसा एक व्यक्ति का अपनी पैतृक सम्पत्ति पर होता है; किन्तु वह तो राज्य के कानूनी व्यक्ति का एक विधायक तत्व है, अर्थात् उसके अस्तित्व (Being) का तत्व है उसकी सम्पत्ति (Having) का नहीं और फलतः वह उसके व्यक्तित्व तक का तत्व है, और इस अर्थ में प्रदेश राज्य-व्यक्तित्व का विधायक एवं अभिन्न अंग है। उसके अभाव में राज्य-व्यक्तित्व की कल्पना तक नहीं की जा सकती।'[1]

प्रदेश की व्याख्या—अधोभूमि और तटीय (Marginal) समुद्र

राज्य के प्रदेश से तात्पर्य केवल उस भूमि से ही नहीं है जिस पर राज्य के अधिकार का प्रयोग होता है, प्रत्युत उस भूमि में स्थित जलाशयों, झीलों, सरिताओं

---

१. जेलिनेक ने यह कहकर इस सिद्धान्त का ऐतिहासिक तथ्यों से सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया है कि उपर्युक्त उदाहरणों में भूमि नहीं दी गई थी वरन् उस भूमि पर रहने वाले लोगों के ऊपर शासन करने का अधिकार दिया गया था। जेलिनेक के तर्क का ग्रोटियस ने भी समर्थन किया है। उसका कथन है कि जब जनता एक राज्य द्वारा दूसरे राज्यों को सौंप दी जाती है तो जो वस्तु सौंप दी जाती है, वह लोगों के ऊपर शासन करने का अधिकार है, स्वयं लोग नहीं। देखिये, Coker, 'Readings in Political Philosophy,' p. 273.

तथा तटीय समुद्र और उसके ऊपर स्थित आकाश से भी है। इस प्रकार प्रदेश भौमिक, जलीय, सामुद्रिक तथा आकाशीय होता है या हो सकता है। भौमिक प्रदेश के अन्तर्गत केवल भूमि की ऊपरी सतह ही नहीं प्रत्युत नीचे असीमित गहराई तक की भूमि भी आ जाती है। भूमि के भीतरी भाग पर राज्य के अधिकार का महत्व अधभौमिक रेल, टेलिग्राफ तथा सुरंग आदि बनाने तथा खानों से खनिज द्रव्य निकालने के सम्बन्ध में प्रकट होता है। प्रदेश के तटवर्ती समुद्र के कितने भाग पर राज्य का अधिकार होना है, इस सम्बन्ध में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। राष्ट्रसंघ ने इस सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय समझौते की आवश्यकता को स्वीकार किया था और सन् १९२५ में अन्तर्राष्ट्रीय कानून निर्माण करने वाले कानून विशेषज्ञों की कमेटी ने इस विषय को उस सूची में स्थान भी दिया था, जिसके सम्बन्ध में शीघ्र ही अन्तर्राष्ट्रीय समझौते की आवश्यकता है। इस सम्बन्ध में समान्यतया यह नियम प्रचलित है कि राज्य के सामुद्रिक प्रदेश की सीमा समुद्रतट की निम्नतम जलसीमा से तीन मील की दूरी तक होती है परन्तु अनेक राज्य युद्ध-काल में अपनी तटस्थता की रक्षा के लिये पुलिस तथा मालगुजारी सम्बन्धी कानूनों को अमल में लाने, मछलियों की रक्षा तथा मूंगा-मोती आदि निकालने के लिए अपने प्रदेश की सीमा इससे कहीं अधिक आगे तक मानते हैं। इस प्रकार के कार्यों के लिए अधिकार-सीमा के प्रयोग को दूसरे राज्यों ने प्रायः मान लिया है परन्तु इस कारण से राज्यों के बीच कई झगड़े हुए हैं। प्रथम विश्वयुद्ध के समय अपनी तटस्थता की रक्षा के हेतु नॉर्वे, स्वीडन तथा यूरुवे के तीन मील की दूरी से अधिक अधिकार-सीमा मानने से ब्रिटेन तथा जर्मनी ने इन्कार कर दिया था। यह मानना पड़ेगा कि राज्यों में अपनी प्रादेशिक सीमा समुद्र में तीन मील से भी अधिक बढ़ाने की प्रवृत्ति पाई जाती है। समुद्र के अन्दर तट से तीन मील की दूरी तक राज्य का जो अधिकार माना जाता है, उसके स्वरूप पर भी बड़ा विवाद हुआ है। वह प्रभुत्व का अधिकार है या केवल अधिकार-सीमा ही है, इस विषय में बड़ा मतभेद है।

प्रदेश का उपरिवर्ती आकाश

हवाई यातायात तथा रेडियो आदि में जो विकास हुआ है, उसके कारण आकाश मार्ग का प्रयोग व्यापार, बेतार के तार तथा हवाई युद्धों के लिए होने लगा है। इन कारणों से आकाश के ऊपर अधिकार की सीमा तथा उसके स्वरूप के प्रश्न का महत्व बहुत बढ़ गया है। इस सम्बन्ध में विशेषज्ञों ने बड़ा विचार किया है, बड़ी मात्रा में साहित्य की रचना की है, अनेक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है और अनेक सुझाव रखे हैं। अब यह स्वीकार कर लिया गया है कि अधोवर्ती राज्य का अपने ऊपर के आकाश पर भी पूर्ण प्रभुत्व एवं अधिकार होता है। सन् १९१९ के शान्ति-सम्मेलन में अन्तर्राष्ट्रीय हवाई समझौते (International Air Convention) के द्वारा राज्य के इस अधिकार को स्वीकार कर लिया गया। उसकी प्रथम धारा के अनुसार समझौते में भाग लेने वाला 'प्रत्येक राज्य यह स्वीकार करता है कि प्रत्येक राज्य के प्रदेश के ऊपर के आकाश तथा तट से तीन मील की दूरी तक के समुद्र के ऊपर के आकाश पर उसका पूर्ण प्रभुत्व है।' उसकी दूसरी धारा के अनुसार प्रत्येक राज्य दूसरे राज्यों को शान्ति काल में अपनी अधिकार-सीमा में आकाश-मार्ग के निष्कपट प्रयोग के लिए अनुमति देने का वचन देता है परन्तु इस शर्त पर कि वे राज्य समझौते के समय स्थिर की हुई शर्तों का पालन करें। इस समझौते को २८ राज्यों ने स्वीकार कर लिया है। जब तक उसे सभी राज्य स्वीकार न कर लें तब

तक यह अन्तर्राष्ट्रीय विधान का नियम नहीं माना जा सकता। इस निश्चय की भी कड़ी आलोचना की गयी है क्योंकि इससे राज्यों को अपने आकाश पर जितना अधिक अधिकार मिल गया है, उससे अन्तर्राष्ट्रीय हवाई यातायात की स्वतन्त्रता में बड़ी बाधा पड़ती है। आज स्थिति यह है कि कोई भी राज्य अपने राज्य के आकाश-मार्ग से किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय हवाई यातायात को रोक सकता है और यदि वह निष्कपट यातायात के लिए अनुमति देता भी है तो वह यातायात का मार्ग निश्चित कर सकता है। यदि पड़ोसी राज्य नागरिक हवाई यातायात के लिए अपने आकाश-मार्ग की सुविधा न दें तो ऑस्ट्रिया जैसे चारों ओर से घिरे देश तो हवाई जहाजों द्वारा दूसरे देशों से सम्पर्क स्थापित करने से वंचित रह जायेंगे और जिन देशों के तट पर समुद्र है, उन्हें अपने हवाई जहाजों के लिए समुद्री मार्गों का अनुसरण करना पड़ेगा।

प्राकृतिक सीमाओं तथा सामुद्रिक निकास का सिद्धान्त

राज्यों के प्रदेशों के सम्बन्ध में विचार करते समय उनकी सीमाओं के सम्बन्ध में भी, विशेषकर कृत्रिम सीमाओं की कमजोरियों तथा प्राकृतिक सीमाओं के महत्व पर, विचार करना उचित है। यह कहा जाता है कि प्रत्येक राज्य को, यदि मिल सके तो नदी अथवा पर्वत जैसी अपनी एक प्राकृतिक सीमा का अधिकार है जो युद्ध-काल में सुरक्षित सीमा का काम दे सके। यद्यपि यह कभी स्वीकार नहीं किया गया कि जिस राज्य की इस प्रकार की कोई प्राकृतिक सीमा न हो, उसे बलपूर्वक दूसरे राज्य के प्रदेश पर अधिकार जमा कर ऐसी सीमा बना लेने का अधिकार है, तथापि शान्ति-सम्मेलनों में राष्ट्रों की सीमाओं का पुनर्निर्धारण करते समय सामरिक महत्व की सीमाओं पर कभी-कभी ध्यान दिया गया है। इसी विचार से प्रथम विश्व-युद्ध के बाद शान्ति संधि के समय इटली को ऑस्ट्रिया के प्रदेश, दक्षिणी टिरोल, पर अधिकार दे दिया गया था, यद्यपि इस प्रदेश में जर्मनों की आबादी अधिक थी।

इसी प्रकार यह भी कहा जाता है कि जो राज्य चारों ओर में दूसरे राज्यों से घिरे हुए हैं, उन्हें समुद्र तक पहुँचने के लिए द्वार प्राप्त करने का प्राकृतिक अधि-कार है। यह दावा इस सन्देहपूर्ण तर्क पर आधारित है कि समुद्रों में प्रत्येक राज्य को निर्बन्ध जहाजरानी का अधिकार है। अतः जिन राज्यों की समुद्र तक पहुँच नहीं है, उन्हें भी इस अधिकार का उपभोग करने के लिए समुद्र तक पहुँचने के लिए द्वार मिलना चाहिये। प्रथम विश्वयुद्ध से पूर्व समुद्र तक इस प्रकार की पहुँच का न होना सर्विया की पुरानी शिकायत थी। राष्ट्रपति विल्सन ने १८ जनवरी सन् १९१८ को अमेरिकन कांग्रेस में अपने चौदह सिद्धान्तों की व्याख्या करते हुए कहा था कि 'सर्विया को समुद्र तक पहुँचने की सुविधा मिलनी चाहिये।' शान्ति-सम्मेलन (सन् १९२०) में दूसरे देशों ने भी इसी प्रकार की माँगें रखी थीं और कुछ अंशों में वे स्वीकार कर ली गयी थीं। इस प्रकार पोलैण्ड को डैंजिग के स्वतन्त्र नगर में कुछ अधिकार दे दिये गये जिससे उसकी समुद्र तक पहुँच हो सके, बल्गेरिया को ईजियन सागर में और एल्ब नदी का अन्तर्राष्ट्रीयकरण करके चेकोस्लोवाकिया को उत्तरी सागर में निकास का मार्ग दिया गया। इसी उद्देश्य से मेमेल को जर्मनी से लेकर लिथुएनिया को दे दिया गया। फिर भी यूरोप में अनेक और दक्षिणी अमेरिका में एक ऐसा राज्य है जिसकी समुद्र तक पहुँच नहीं है। यदि उन्हें समुद्र तक पहुँच मिल सके तो इससे उन्हें बड़ा लाभ हो परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय विधान के अन्तर्गत इसे एक अधिकार के रूप में

स्वीकार नही किया जा सकता। फाशिल (Fauchille) ने कहा है कि यदि सामुद्रिक निकास की आवश्यकता के सिद्धान्तो को मान लिया जाय तो संसार के नक्शे को बदलना पडगा।

आवश्यक प्रादेशिक क्षेत्र का विस्तार

जिस प्रकार जनसख्या के सम्बन्ध मे कोई विशेष नियम नहीं बनाया जा सकता, उसी प्रकार प्रदेश के विस्तार के सम्बन्ध मे भी कोई नियम बनाना सम्भव नहीं है। वर्तमान समय मे हमें संसार म सेन मेरिनो, मोनेको जैसे कुछ ही वर्गमील के विस्तार वाले छोटे छोटे राज्यो से लेकर चीन, ग्रेट-ब्रिटेन, रूस, अमेरिका का संयुक्त राज्य जैसे बडे-बडे साम्राज्य मिलने हैं, जिनका क्षेत्रफल लाखों वर्ग मील है। अत: जैसा ब्लु टश्ली ने कहा है—ऐसा कोई नियम बनाने का प्रयत्न करना कि एक राज्य का कम से कम और अधिक से अधिक कितना विस्तार हो, निरर्थक होगा।[१] मध्य काल में राज्यों का विस्तार छोटा होता था। कोई डेढ सौ वर्ष पहले तक यूरोप में ४०० राज्य थे। मध्य-युग मे बहुत से नगर, यहाँ तक कि धार्मिक सस्थाएँ भी, देखने मे छोटे-छोटे राज्य के रूप म थे। उन्नीसवी सदी के प्रारम्भ में जो प्रदेश आजकल जर्मनी के अधीन हैं, वह ३०० छोटे-छोटे राज्यों मे विभाजित था। वर्तमान इटली में भी अनेक छोटे राज्य तथा प्रजातन्त्र थे। दूसरे राज्य भी इसी प्रकार विभाजित थ।

प्राचीन समय मे सिद्धान्त एव प्रयोग मे छोटे राज्यों का ही प्रचार था। प्लेटो ने एक स्वस्थ मनुष्य के शरीर और एक सामान्य राज्य के आकार मे समानता का चित्र खीचा था।[२] अरस्तु ने भी छोटे राज्यों को ही ठीक समझा था।[३] अठारहवीं सदी के राजनीतिक लेखक भी साधारणतया बडे विशाल राज्यों के विरोधी थे। प्लेटो के अनुसार रूसो का भी यह कथन था कि प्रकृति ने जिस प्रकार मनुष्य के कद तथा उसकी ऊँचाई की एक सीमा रखी है, उसी प्रकार एक सुव्यवस्थित राज्य के विस्तार की भी मर्यादा रखी है। इसलिए वह न तो इतना अधिक बडा होना चाहिए कि उसका समुचित रीति से प्रबन्ध न हो सके और न इतना अधिक छोटा ही कि वह अपने आपको सँभाल न सके। विशाल राज्यों मे दूरस्थ प्रदेशों का शासन प्रबन्ध भली-भाँति नही हो सकता। केन्द्र से दूर हटे भागो मे कानूनो का पालन भी समुचित ढग से नहीं होता और वहाँ की जनता मे दूरी के कारण सम्पर्क कम होने से राज्य के प्रति भक्ति भी कम होती है। रूसो का कथन था कि सामाजिक बन्धन को जितना बढाया जाता है, वह उतना ही कमजोर हो जाता है। उसके विचार मे छोटा राज्य बड़े राज्य की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली होता है। उसका यह भी मत था कि राज्य के विस्तार और उसके लिये उपयुक्त शासन-प्रणाली मे बडा सम्बन्ध है। वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा था कि बडे राज्य एकतन्त्र शासन के, मध्य कोटि के राज्य कुलीन तन्त्र के तथा छोटे राज्य जनतन्त्र के उपयुक्त होते है।[४]

रूसो की भाँति मान्तेस्क्यू का भी यह मत था कि राज्य का विस्तार तथा उसके उपयुक्त शासन-प्रणाली मे बडा सम्बन्ध है। उनका यह दृढ विचार था कि

---

१. देखिए, Bluntschli, 'Theory of the State', p, 237.
२ देखिए, Plato, 'Laws', Bk V, p. 737.
३. देखिए, Aristotle, 'Politics', Bk. IV, Ch. 4.
४. देखिए, Rousseau, 'Social Contract', Bk. II, Chs. 6, 8.

छोटे राज्यों में गणतन्त्र शासन; मध्य कोटि के राज्यों में एकतन्त्र शासन और बड़े राज्यों में निरंकुश शासन अधिक उपयुक्त होता है।[1]

मॉन्तेस्क्यू के समान टॉकविल का भी विचार था कि बड़े राज्यों के लिए गणतन्त्र प्रणाली (Republican form of Government) उपयुक्त नहीं है। उसने कहा कि 'विश्व के इतिहास में एक भी ऐसा उदाहरण नहीं मिलेगा कि किसी बड़े राज्य ने एक लम्बे अर्से तक गणतन्त्र शासन-प्रणाली को कायम रखा हो। यह विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि बड़े गणतन्त्रों का अस्तित्व छोटे गणतन्त्रों की अपेक्षा अधिक खतरे में रहता है। प्रदेश का विस्तार बढ़ने के साथ वे सभी भावनाएँ बड़े वेग से प्रसारित होती हैं जो गणतन्त्रात्मक संस्थाओं के लिए घातक हैं परन्तु उसके गौरव की रक्षा करने वाले सद्गुण उसी अनुपात में विकसित नहीं होते।'[2]

इसी की तरह जॉन स्टुअर्टमिल ने भी बड़े प्रदेशों के समुचित शासन की कठिनाइयों पर जोर दिया है। उसका मत था कि देश के विस्तार की एक सीमा है, जहाँ तक उसका समुचित रीति से शासन हो सकता है या एक केन्द्र-स्थान से सुविधापूर्ण निरीक्षण हो सकता है। इस प्रकार शासित अनेक विशाल देश हैं परन्तु वे, कम से कम उनके सुदूर प्रान्त, कुप्रबन्ध के कारण बड़ी करुणाजनक स्थिति में हैं। जैसा शासन उन सुदूर प्रान्तों का इस दशा में हो रहा है, उससे अच्छा शासन-प्रबन्ध वहाँ के लोग स्वयं कर सकते हैं, यदि वे बिलकुल ही असभ्य न हों।[3]

जो लोग यह मानते हैं कि विशाल राज्यों में गणतन्त्र पनप नहीं सकता, उनके विरुद्ध एक प्रसिद्ध लेखक का कथन है कि संयुक्त राज्य अमेरिका की स्थापना ने यह सिद्ध कर दिया है कि बड़े आधुनिक राज्य भी गणतन्त्र प्रणाली को अपना सकते हैं।[4] ग्रेट-ब्रिटेन ने जिस सफलता के साथ अपने विशाल साम्राज्य का शासन किया है, उससे यह सिद्धान्त खण्डित हो जाता है कि बड़े राज्यों का सुप्रबन्ध नहीं हो सकता। इस सम्बन्ध में जो विपरीत विचार प्रकट किये गये हैं, वे अधिकांश में उस समय के हैं जब रेल-पथ, तार-बेतार, द्रुतगामी जहाज जैसी यातायात की सुविधाएँ आज जैसी नहीं थीं और उनके अभाव के कारण केन्द्रीय सरकार अपने दूरस्थ प्रदेशों से समुचित रीति से सम्पर्क स्थापित नहीं कर सकती थी। उस युग में विकेन्द्रीकरण, संघ शासन तथा स्थानीय स्वराज्य के सिद्धान्तों का भी अधिक ज्ञान नहीं था। यातायात के शीघ्रगामी साधनों और संघवाद (Federalism) तथा स्थानीय स्वराज्य के विकास ने उन्नीसवीं सदी में बड़े राज्यों में शासन-प्रबन्ध की कठिनाइयों को दूर कर

---

१. देखिए, Montesquieu, 'The Spirit of the Laws' (1748), Bk. VIII, Chs. 16-20.

२. देखिए, De Tocqueville, 'Democracy in America', Vol. I, p. 170। टॉकविल ने यह भी कहा था कि विशाल साम्राज्यों से बढ़कर मनुष्य के कल्याण तथा उसकी स्वतन्त्रता का विरोध करने वाली कोई दूसरी वस्तु नहीं है। यदि संसार में केवल छोटे-छोटे राज्य ही हों तो मानव समाज अधिक सुखी एवं स्वतन्त्र रह सकेगा (Vol. I, P. 171)।

३. देखिए, Mill, 'Representative Government', Ch. 17।

४. देखिए, Fisher, 'The Republican Tradition in Europe' (1911), p. 67.

दिया है। उपर्युक्त विरोधी विचार तत्कालीन परिस्थिति मे बहुत कुछ अंश तक ठीक ही थे।[1]

छोटे राज्यों के महत्व का निषेध

प्रथम विश्वयुद्ध मे जर्मनी द्वारा छोटे राज्यो के अधिकारों की उपेक्षा तथा ट्रीटश्के एव अन्य जर्मन लेखकों द्वारा छोटे राज्यो की तिरस्कारपूर्ण आलोचना के कारण इस विषय पर विवाद आरम्भ हो गया कि मानव सभ्यता के विकास मे छोटे तथा बडे राज्यो का क्या सापेक्ष मूल्य है। ट्रीट्श्के ने अपनी जर्मन पुस्तक 'पॉलिटिक्स' (Politics) में, जो प्रथम विश्वयुद्ध से पूर्व प्रकाशित हुई थी, यह घोषणा की कि बडे राज्य श्रेष्ठतर हैं। बार-बार उसने यह दोहराया कि 'राज्य सत्ता है'; सत्ता का अभाव 'पवित्रात्मा (Holy Ghost) के विरुद्ध पाप है'। 'यह स्पष्ट है कि वास्तव मे शक्ति-सम्पन्न राज्य ही हमारी भावना के अनुकूल हैं।' छोटे राज्यो की कल्पना उनकी दुर्बलता के कारण हास्यप्रद है। दुर्बलता स्वय निन्दनीय है क्योकि वह शक्ति का स्वांग बनाती है। छोटे राज्यो मे 'उस शासक भावना का पोषण किया जाता है जो राज्य की परीक्षा उन टैक्सों से करती है जिसे वह लगाता है।' इस प्रकार उनमे भौतिकवाद अपना प्रभाव जमा लेता है, जिसका नागरिको पर बडा बुरा प्रभाव पडता है। इसके अतिरिक्त छोटे राज्यो मे न्याय की क्षमता बिलकुल नहीं होती जो बडे राज्यों मे होती है। इससे भी अधिक महत्व की बात तो यह है कि वे 'सफलता की आशा से युद्ध नही कर सकते।' उसने कहा कि बडे राज्यों की आर्थिक श्रेष्ठता स्पष्ट है। वे आर्थिक सङ्कटों का बडी सफलता के साथ निवारण कर सकते हैं। ससार के प्रति उनके नागरिकों का दृष्टिकोण अधिक स्वतन्त्र एव उदार होता है। बडे राज्यों मे छोटों की अपेक्षा संस्कृति का विकास अधिक सरलता से होता है। उनमे कला एवं विज्ञान की भी प्रगति अधिक होती है। केवल बडे राज्यों मे ही 'उस सच्चे राष्ट्रीय गौरव का जागरण हो सकता है जो राष्ट्र की नैतिक श्रेष्ठता का प्रमाण है।' बडे राज्य छोटे राज्य की अपेक्षा बौद्धिक संस्कृति के विकास के लिए अधिक उपयुक्त होते हैं।[2]

छोटे राज्यो के विषय मे ट्रीट्श्के ने जो कुछ लिखा है, उसमे कुछ सत्य अवश्य है परन्तु उसमे अतिशयोक्ति अधिक है और उसने जिस तिरस्कारपूर्ण ढग से छोटे राज्यों का वर्णन किया, उससे उसके विचारो का कई लोगो ने तीव्र विरोध किया। इस जर्मन लेखक से पूर्व एक अंग्रेजी लेखक लॉर्ड एक्टन ने भी छोटे राष्ट्रों के सम्बन्ध मे इसी प्रकार का मत प्रकट किया था परन्तु उसकी आलोचना इतनी कटु नही थी और अधिक युक्तिसंगत थी। लॉर्ड एक्टन ने कहा—'छोटे राज्यो की प्रवृत्ति अपने

---

१. सन् १७८८ मे अमेरिका के संयुक्त राज्य के विधान पर जो विचार हुआ था, उसमें कहा गया था कि सघ का विस्तार इतना बडा है और उसके विभिन्न भागों की परिस्थितियाँ इतनी भिन्न हैं कि सारे देश के लिए एक सामान्य शासन-प्रबन्ध नहीं हो सकता। देखिए, 'Federalist' No. 1। मेडिसन का मत था कि लोगो की जो धारणा है कि गणतंत्रीय शासन केवल छोटे-छोटे राज्यो में हो ही सकता है, वह इस कारण है कि वे प्रजातन्त्र (Democracy) तथा गणतन्त्रीय शासन (Republican Government) का भेद समझने मे गड़बड़ करते हैं। देखिए, 'Federalist,' No. 14.

२. देखिए, Triestschke, Politics,' Vol. I, pp. 32-41.

नागरिकों को दूसरे राज्यों के सम्पर्क से अलग रखने तथा उनके विचारों को संकुचित एवं पंगु बना देने की है। ऐसे छोटे दायरे में लोकमत अपनी स्वाधीनता तथा पवित्रता को कायम नहीं रख सकता और जो लहर बड़े राज्यों में से प्रवाहित होती है, उससे छोटे राज्य प्लावित हो जाते हैं। मध्ययुगीन समाजों की भाँति ये छोटे राज्य बड़े राज्यों में स्व-शासन एवं विभाजन को प्रोत्साहन देकर एक उद्देश्य को पूरा करते हैं परन्तु वे समाज की प्रकृति में बाधक हैं जो एक ही शासन के अन्तर्गत विभिन्न जातियों के मिश्रण पर निर्भर रहती है।[1] सन् १६०३ में एक जर्मन लेखक रेट्जेल (Ratzel) ने भी छोटे राज्यों की इस आधार पर निन्दा की थी कि वे वैज्ञानिक नियमों, मुख्यकर विकास के नियम, के विरुद्ध हैं। अतः बड़े राज्यों के विरुद्ध संघर्ष में उनका पराभव हो जायगा, बड़े राज्य उन्हें अपने में मिला लेंगे। उसने बतलाया कि इतिहास से प्रकट होता है कि राज्य तीन अवस्थाओं में से होकर विकसित होता है, प्रथम अवस्था है—ग्राम-राज्य की, दूसरी है—नगर राज्य की और तीसरी है—देश-राज्य की। जिस प्रकार प्रथम दो प्रकार के राज्य विलीन हो गये, वैसे ही छोटे छोटे राज्यों का विलीन होना अवश्यम्भावी है।

यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि बड़े राज्यों को छोटे राज्यों की अपेक्षा अधिक लाभ प्राप्त हैं। एक ऊँचे स्तर पर राष्ट्रीय जीवन बिताने, सभ्यता के भौतिक रूपों को विकसित करने तथा बाहरी आक्रमण से अपनी रक्षा करने के साधन छोटे राज्यों की अपेक्षा उनके पास बहुत अधिक होने की सम्भावना है।

जैसा एक्टन और ट्रीट्स्के ने बतलाया है, यह भी सत्य है कि नागरिक के दृष्टिकोण तथा राष्ट्रीय गौरव का, जो एक विशाल राज्य की सहायता से विकसित होता है, सांस्कृतिक एवं नैतिक मूल्य है। एक महाद्वीप में अनेक छोटे राज्यों के होने से उनके बीच शान्ति रखने की समस्या भी अधिक जटिल हो जाती है। अन्य बातों के समान होते हुए जितने ही कम स्वतन्त्र राज्य एक-दूसरे से पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करेंगे, उनके सम्बन्ध तथा उनकी पारस्परिक समस्याएँ उतनी ही कम पेचीदा होंगी। उनके मध्य शान्ति-भंग के प्रश्न पैदा होने की सम्भावना भी कम होगी तथा उनके बीच कानून का शासन स्थापित करने की सम्भावना अधिक होगी।[1] इस मत के समर्थकों की कमी नहीं है कि हाल में योरोप में छोटे-छोटे राज्यों की संख्या जो इतनी बढ़ा दी गई है, उससे अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष एवं युद्ध तक होने की सम्भावना बढ़ गई है, यद्यपि यह बात भी निस्सन्देह ठीक है कि असन्तुष्ट उपराष्ट्रों (Nationalities) की राजनैतिक आकांक्षाओं को सन्तुष्ट कर देने के कारण आन्तरिक कलह की सम्भावना कम भी हो गई है।

छोटे राज्यों का समर्थन

छोटे राज्यों के विरोध में जो कुछ भी कहा गया, उसके बावजूद भी यह स्वीकार

---

१. देखिए, Greenwood, 'The Nature of Nationality, 'The Political Quarterly, Feb., 1915, p 92; *Round Table*, Dec., 1914 (pp. 61-62) के 'Nationalism and Liberty' शीर्षक वाले लेख से भी तुलना कीजिए जिसमें लेखक ने कहा है कि अनेक छोटे-छोटे राज्यों का अस्तित्व योरोप के निवासियों में सामान्य एकमत स्थापित करने में सबसे अधिक बाधक है। छोटे राज्यों की संख्या कम होने से अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में बहुत सुधार हो जायगा।

करना पड़ेगा कि उनमे से कुछ ने मानव सभ्यता के विकास मे एक बड़ी सीमा तक योग दिया है।[१] उन्होंने बड़े राज्यों की अपेक्षा कला, साहित्य, विज्ञान आदि के विकास मे *अधिक योग दिया है। राज्य की शक्ति का माप उसके प्रदेश के विस्तार, अथवा सेना* एवं नौसेना की शक्ति अथवा उसकी विजयो से नही किया जा सकता; उसकी असली परख तो यह देखकर की जा सकती है कि उसने साहित्य, कला, विज्ञान आदि से मानवता की प्रगति एवं सभ्यता के विकास मे क्या योग दिया है और उसने सामाजिक एवं राजनीतिक क्षेत्रो मे क्या सुधार किये है। ब्लुण्ट्श्ली ने कहा है कि रोम साम्राज्य के सामने यूनान के नगर राज्य नगण्य थे परन्तु ससार के इतिहास मे रोम के साथ ही साथ एथेन्स का भी स्थान है।[२] ग्रेट-ब्रिटेन, फ्रास और जर्मनी के देश रूस तथा चीन के सामने मानचित्र पर छोटे-छोटे जिलों जैसे प्रतीत होते हैं परन्तु यदि अन्य किसी दृष्टि से देखा जाय तो वे उन देशो से कहीं अधिक शक्तिशाली राज्य हैं। जिन छोटे राज्यों ने मानव सभ्यता की प्रगति तथा विकास में बड़े राज्यों की अपेक्षा कहीं अधिक भाग लिया है, उनमे बेलजियम, डेनमार्क, नीदरलैण्ड तथा स्विटजरलैण्ड उल्लेखनीय हैं।

(३) राज्य के अन्य तत्व तथा गुण

शासन की आवश्यकता

एक निश्चित प्रदेश पर जनता के निवास करने से यह आवश्यक नहीं कि वह राज्य बन जाय। राज्य कहलाने के लिए उसका राजनीतिक सगठन होना परम आवश्यक है। उसका अपना शासन अथवा सरकार होनी चाहिये जिसके द्वारा वह *अपनी इच्छा की अभिव्यक्ति कर सके और उसे चरितार्थ भी कर सके। शासन एक साधन अथवा यन्त्र है जिसके द्वारा सामान्य नीतियो का निर्धारण तथा सामान्य हितो*

---

१. कोत (Comte) ने रेट्जेल के विपरीत छोटे-छोटे राज्यो का समर्थन किया है। उसने कहा है कि यदि विकास की दृष्टि से देखा जाय तो प्रकट होगा कि मानव समाजो की प्रगति बड़े राज्यो से छोटे राज्यो की ओर हुई है। भूत काल के मेसिडोनियन, रोमन, अरब, केरोलिजियन, मगोलियन, स्पेनिश और तुर्की साम्राज्य *नष्ट हो गये और उनके स्थान पर छोटे-छोटे राज्य स्थापित हो गये।*

२. देखिये, Bluntschli, 'Theory of the State,' p. 237. डॉक्टर एच० ए० एल० फिशर ने भी 'The Value of Small States में छोटे राज्यों का जोरदार समर्थन किया है। उसने बताया है कि सभ्यता की उन्नति मे छोटे राज्यो ने बड़ा बहुमूल्य योग दिया है, जैसे ओल्ड टेस्टामेण्ट, होमरिक काव्य, एटिक एव एलिजाबेथन नाटक तथा इटालियन रिनेसा की कला छोटे राज्यो की देन है। ब्यूएल (Buel, 'International Relations, p 22) ने कहा है कि डिमासथनीज, दाँते, तथा मेकियावेली को पैदा करने वाले छोटे राष्ट्र ही थे और डेनमार्क जैसे छोटे देश ने अमेरिका के सयुक्त राज्य जैसे विशाल देश के बराबर ही सात नोबल पारितोषिक प्राप्त किये है। लॉर्ड ब्राइस ने भी कहा है कि प्रजातन्त्र की उत्पत्ति छोटे राज्यो में ही हुई है। असली जनमन किस प्रकार काम करता है, यह भी छोटे राज्यों मे ठीक तरह से मालूम किया जा सकता है। युद्ध तथा युद्ध के भय ने छोटे राज्यों को नष्ट कर दिया है। यदि यह भय मिट जाय तो समय पाकर छोटे राज्य फिर से बन जायेंगे (Modern Democracies, *Vol. II, p. 444*)।

की वृद्धि और सामान्य कार्यों का नियमन अथवा प्रबन्ध किया जाता है। शासन के बिना जनता या प्रजा असंगठित तथा अराजक जनसमूह के रूप में ही होगी जो सामूहिक-रूप से कोई कार्य करने में अशक्त रहेगा। किसी विशेष प्रकार की सरकार आवश्यक नहीं है। सरकार साधारण और सरल प्रकार की हो सकती है जिसमें थोड़े से विभाग और राज-कर्मचारी हों ; इसके विपरीत सरकार का एक जटिल संगठन हो सकता है जिसमें बहुत से विभाग तथा राज-कर्मचारियों का एक विशाल दल हो ; परन्तु सरकार का संगठन इस प्रकार का होना चाहिये कि उसके पास अपनी सत्ता के प्रयोग तथा अपने आदेशों का पालन करने के लिए पर्याप्त साधन हों, अन्यथा वह आन्तरिक शान्ति एवं व्यवस्था कायम न रख सकेगी और न वह अन्तर्राष्ट्रीय कर्त्तव्यों का पालन ही कर सकेगी जिसका पालन उसे राष्ट्र-परिवार की सदस्यता की हैसियत से करना आवश्यक होता है।

वैदेशिक नियन्त्रण से स्वतन्त्रता—

एक निश्चित प्रदेश में स्थायीरूप से निवास करते हुए तथा अपना शासन-प्रबन्ध करते हुए भी एक जन-समूह राज्य का रूप धारण नहीं कर सकता। वह बाहरी नियन्त्रण से स्वतन्त्र अथवा लगभग स्वतन्त्र होना चाहिये। यदि वह किसी दूसरे राज्य के अधीन है जो उसकी शक्ति पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध लगा सकता है, उसके कार्यों का नियमन कर सकता है और उस पर शासन कर सकता है तो वह राज्य नहीं कहला सकता, वह केवल उस दूसरे राज्य का एक अंग होगा। यदि यह नियन्त्रण नाममात्र के लिए हो अथवा केवल वैदेशिक नीति के सम्बन्ध में ही हो तो कानूनी दृष्टि से नहीं तो व्यावहारिक दृष्टि से तो वह राज्य कहा ही जा सकता है। इस प्रकार कनाडा, ऑस्ट्रेलिया आदि ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल के महान् स्वराज्य-भोगी उप-निवेश (डोमीनियम) इस अर्थ में राज्य कहे जा सकते हैं। इन उपनिवेशों ने अपने देश की शासनपद्धति के निर्धारण तथा अपने शासन-प्रबन्ध में पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली है। इन ब्रिटिश उपनिवेशों को अपने पितृदेश—ब्रिटेन—के साथ ही समानता के दर्जे पर अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में भाग लेने का अधिकार प्राप्त हो गया है। वे राष्ट्रसंघ के सदस्य हैं और इस प्रकार ब्रिटेन के बराबर ही उनका पद है और कम से कम कनाडा को अपने हितों के सम्बन्ध में विदेशों से समझौते करने और दूसरे देशों में अपने राजदूत रखने का अधिकार है। आयरिश स्वतन्त्र राज्य एक ब्रिटिश उप-निवेश ही है, जिसने हाल ही में एक पूर्ण स्वतन्त्र राज्य का दर्जा प्राप्त कर लिया है। पहले वह ग्रेट-ब्रिटेन तथा आयर्लैण्ड का केवल एक अंग था। अब उसने कनाडा के बराबर पद प्राप्त कर लिया है और वाशिंगटन में उसका अपना राजदूत भी है।[1]

इसी प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि तथाकथित संरक्षित राज्य (Protected States) जो केवल वैदेशिक नीति में रक्षक राज्य के अधीन होते हैं, पूर्ण स्वतन्त्र न होते हुए भी राज्य माने जा सकते हैं।

---

१ 'आयर' ने ब्रिटेन से स्वाधीनता प्राप्त करने में कनाडा से भी बढ़कर संघर्ष किया है। अब वह स्वतन्त्र प्रजातन्त्र (Independent Republic) है। वह वैदेशिक नीति में भी पूर्ण स्वतन्त्र है। द्वितीय विश्वयुद्ध में सब ब्रिटिश उपनिवेश ब्रिटेन के साथ युद्ध में सम्मिलित हुए परन्तु 'आयर' तटस्थ ही रहा यद्यपि उसका ब्रिटिश ताज से सम्बन्ध बना हुआ था। परन्तु हाल ही में आयर प्रजा-तन्त्र के प्रधान-मन्त्री ने ताज से भी सम्बन्ध तोड़ दिया है। —अनुवादक।

आन्तरिक प्रभुत्व

राज्य के अस्तित्व के लिए आन्तरिक प्रभुत्व-शक्ति भी अत्यन्त आवश्यक मानी जाती है, अर्थात् राज्य में ऐसा कोई व्यक्ति, परिषद् या समुदाय होना चाहिए जिसे राज्य के अन्तर्गत समस्त व्यक्तियों एवं वस्तुओं पर सर्वोच्च और अनियन्त्रित एवं अमर्यादित नियन्त्रण की कानूनी सत्ता प्राप्त हो। इसी सत्ता से राज्य तथा दूसरी मानव संस्थाओं में भेद प्रकट होता है; राज्य को छोड़कर दूसरी किसी मानव संस्था में यह सत्ता नहीं होती। इस आवश्यक सिद्धान्त से सम्बद्ध राज्य की दो अन्य विशेषताएँ—व्यापकता (All-Comprehensiveness) तथा वर्जनशीलता (Exclusiveness) भी हैं। प्रथम विशेषता का स्पष्ट अर्थ यह है कि राज्यान्तर्गत सभी व्यक्तियों तथा पदार्थों पर, उन व्यक्तियों एवं पदार्थों को छोड़ जिनके सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय शिष्टाचार की दृष्टि से किसी राज्य के साथ किए हुए समझौते अथवा अन्तर्राष्ट्रीय विधान के अनुसार राज्य-अधिकार-सीमा का परित्याग कर दिया गया है, राज्य का प्रभुत्व होता है। इन अपवादों को छोड़कर राज्य का प्रभुत्व सभी व्यक्तियों पर होता है और प्रभुत्व के आधुनिक सिद्धान्त के अनुसार राज्य के प्रदेश के अन्तर्गत कोई राज्य-विहीन व्यक्ति अर्थात् ऐसे व्यक्ति नहीं रह सकते जो राज्य के अधिकार से मुक्त हों। यदि राज्य का अपनी प्रजा के अधिक भाग पर प्रभुत्व न रहे तो राज्य का ही अन्त हो जायगा; उसके टुकड़े हो जायेंगे, या कोई दूसरा राज्य उस पर विजय प्राप्त कर उसे अपने में शामिल कर लेगा।

दूसरी विशेषता का अभिप्राय यह है कि राज्य में केवल सरकार को ही शासन का एकाधिकार है अर्थात् एक प्रदेश में, एक ही जनता पर एक ही राज्य हो सकता है। किसी दूसरे राज्य को उस राज्य के अन्तर्गत कोई अधिकार नहीं होता, न वह किसी समुदाय या संगठन को, चाहे वह स्थानीय हो या विदेशी, ऐसा करने देता है। एक राज्य के अन्तर्गत दूसरे राज्य की सत्ता (Imperium in imperio) आधुनिक राज्य में सहन नहीं की जा सकती। राज्य अपनी सुविधा अथवा उपयोगिता की दृष्टि से शासन-सत्ता का विभाजन केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों के बीच कर सकता है। ऐसी अवस्था में दोनों प्रकार की सरकारें एक ही प्रदेश में साथ-साथ रहेंगी परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि एक ही प्रदेश में दो राज्य हैं।[1]

स्थायित्व का तत्व

राज्य की दूसरी विशेषता है—स्थायित्व। इसका अर्थ यह है कि जनता एक बार राज्य के रूप में संगठित हो जाने पर सदैव किसी राज्य-संगठन के अधीन रहती है। यदि राज्य में विजय अथवा पराजय या अन्य किसी कारण से कुछ प्रदेश मिल जाँय या कम हो जाँय तो इससे राज्य के कानूनी अस्तित्व पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि यदि एक राज्य दूसरे राज्य में मिल जाय अथवा विजय के फलस्वरूप मिला लिया जाय या कुछ राज्य उसे आपस में बाँट लें तो उस पर भी उस राज्य का अस्तित्व कायम रहेगा। इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण

१. जिस सामान्य सिद्धान्त का यहाँ निरूपण किया गया है, उसका अपवाद, जैसा ऊपर बतला आये हैं, एक ही प्रदेश पर दो राज्यों के सम्मिलित अधिकार (Condominium) में मिलता है, जैसे एंग्लो-इजिप्शियन सूडान पर ग्रेट-ब्रिटेन तथा इजिप्ट दोनों का सम्मिलित शासन है।

मिलते हैं। ऐसी दशा में केवल प्रभुत्व-शक्ति एक राज्य से दूसरे राज्य के पास चली जाती है, जनता राज्य में ही रहती है, चाहे वह कोई दूसरा राज्य हो हो। इससे अराजकता पैदा नहीं होती। इस अर्थ में राज्य स्थायी है।

राज्य की अविच्छिन्नता—राज्य उत्तराधिकार

यही बात उस समय होती है, जब राज्य के अथवा उसकी सरकार के रूप में प्रायः परिवर्तन हो जाता है। सरकार के रूप में प्रायः परिवर्तन होता रहता है। एकतन्त्र राज्य गणतन्त्र के रूप में या गणतन्त्र राज्य एकतन्त्र राज्य के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं, स्वच्छन्द शासन के स्थान पर वैधानिक शासन स्थापित हो जाता है, अथवा वैधानिक शासन का स्थान स्वच्छन्द शासन ले लेता है, राज्य-वंश बदल जाते हैं, पुराने शासनों का स्थान नवीन वैधानिक शासन-पद्धतियाँ ले लेती है[1] परन्तु सामान्यतया इन परिवर्तनों से राज्य की एकरूपता या उसके अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यह सिद्धान्त राज्य की अविच्छिन्नता का सिद्धान्त (Principle of Continuity of State) के नाम से प्रसिद्ध है, और इसी सिद्धान्त से एक दूसरे सिद्धान्त की व्युत्पत्ति होती है जो राज्य-उत्तराधिकार का सिद्धान्त (Principle of State Succession) कहलाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार जब प्रभुत्व-शक्ति एक राज्य द्वारा दूसरे राज्य को सौंपी जाती है, या एक शासन के स्थान पर दूसरा शासन स्थापित होता है, तब वह नया राज्य या शासन पुराने राज्य या शासन की सम्पत्ति, राज्य-कोष तथा ऋण आदि का उत्तराधिकार प्राप्त करता है। पुराने राज्य के ऋण अथवा दायित्व को स्वीकार करने में नवीन राज्य बाध्य है अथवा नहीं, इस सम्बन्ध में काफी मतभेद है। ब्रिटिश हाईकोर्ट की किंग्स बेंच ने एक प्रसिद्ध मामले में यह निर्णय दिया था कि जब तक पुराने राज्य या शासन और उत्तराधिकारी राज्य या शासन के बीच कोई स्पष्ट समझौता न हो, तब तक उत्तराधिकारी राज्य पुराने राज्य के ऋण अथवा दायित्व को स्वीकार या अस्वीकार करने में स्वतन्त्र है। अमेरिकन न्यायालयों ने भी कुछ इकरारनामों के सम्बन्ध में इस प्रकार के दायित्व को स्वीकार नहीं किया। ब्रिटिश न्यायालय के इस निर्णय के बावजूद भी ब्रिटिश सरकार तथा दूसरे राज्यों ने नये राज्यों का उत्तराधिकार प्राप्त करते समय उन ऋणों तथा इकरारनामों के दायित्वों को स्वीकार किया है जो पुराने राज्यों द्वारा किये गये थे या तय किये गये थे, विशेषकर उस स्थिति में जब इकरारनामे सार्वजनिक हित में किये गये थे या वे उन उत्तराधिकारी राज्यों की नीति के विरुद्ध नहीं थे। यह सर्वविदित है कि रूस की सोवियत सरकार के जार-सरकार तथा केरेन्स्की सरकार द्वारा लिये गये ऋणों को अदा करने से इन्कार कर देने के कारण ही अमेरिकन सरकार ने सोवियत रूस की सरकार को रूस की कानूनी सरकार स्वीकार नहीं किया था। शान्ति-सन्धियों, राज्य के प्रदेशों को मिलाने के लिए की हुई सन्धियों तथा राज्य के प्रदेशों के विभाजन के सम्बन्ध में किये हुए समझौतों में प्रायः मिलाये

---

१. उदाहरणार्थ, फ्रान्स में महान् राज्य-क्रान्ति के समय में तथा उसके बाद अनेक परिवर्तन हुए। राज्यवंश पदच्युत कर दिया गया और एक प्रजातन्त्र स्थापित हुआ, फिर नेपोलियन का साम्राज्य आया, उसके बाद फिर राजा का एकतन्त्र शासन स्थापित हुआ, फिर प्रजातन्त्र की स्थापना हुई, उसका स्थान फिर साम्राज्य ने लिया और अन्त में फिर प्रजातन्त्र बना परन्तु इससे राज्य की अविच्छिन्नता में कोई फर्क नहीं आया। फ्रांस का राज्य बना ही रहा।

जाने वाले राज्य के सार्वजनिक ऋणों तथा दायित्वों को स्वीकार करने की व्यवस्था की जाती है।

राज्यों की समानता

राज्य का एक दूसरा गुण, अधिकार अथवा सिद्धान्त, जिसका अन्तर्राष्ट्रीय विधान के लेखकों ने उल्लेख किया है, राज्यों की परस्पर समानता। ओपेनहीम (Oppenheim) का कथन है कि राष्ट्र परिवार के समस्त सदस्य-राज्यों की अन्तर्राष्ट्रीय विधान की दृष्टि में अपरिवर्तनीय समानता उन्हें अपने अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व से प्राप्त हुई है। राज्यों में उनके विस्तार, जनसंख्या, शक्ति, सभ्यता, सम्पत्ति आदि के सम्बन्ध में विशेषताएँ होते हुए भी वे अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तियों की हैसियत से समान हैं।"[1]

दुर्भाग्य से इस शब्द का कई अर्थों में प्रयोग किये जाने के कारण बड़ी विचार-भ्रान्ति पैदा हो गयी है। कुछ विद्वानों ने इसका यह अर्थ ग्रहण किया है कि सबको कानून की समान रक्षा का या कानून के सामने समानता का अधिकार है, दूसरों ने इसका आशय समझा है—अधिकारों की समानता अथवा अधिकार प्राप्ति के लिए समान क्षमता। अधिकांश लेखक राजनीतिक समानता तथा कानूनी समानता के भेद को नहीं समझते राज्यों की राजनीतिक समानता का अर्थ है—अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों एवं परिषदों में अपना मत प्रकट करने का समान अधिकार और राज्यों का कानूनी समानता से आशय है—पद एवं प्रतिष्ठा की समानता तथा समानरूप से कानून की रक्षा का अधिकार। जो राज्यों की समानता के समर्थक हैं, व यह मानते है कि अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों का निर्णय करते समय प्रत्येक राज्य को एक और केवल एक मत देने का अधिकार हो। प्रत्येक मत का समान मूल्य हो और निर्णय सर्व-सम्मति में हो।[2] सन् १९०७ में दूसरी हेग कान्फ्रेंस के समय छोटे राज्यों ने केवल कानून की समान रक्षा ही नहीं, अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों म समान मत और यहाँ तक कि अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं में समानता के आधार पर समान प्रतिनिधित्व की भी माँग की थी। यह सम्मेलन एक पंचायती न्यायालय (Court of Arbitral Justice) स्थापित करने के पक्ष में था परन्तु छोटे राज्य इस न्यायालय में बड़े राज्यों के बराबर प्रतिनिधित्व चाहते थे। इसलिए यह न्यायालय स्थापित न हो सका।

राज्यों की समानता का सिद्धान्त प्यूफेनडॉर्फ (Pufendorf) जैसे अठारहवीं शताब्दी के विशुद्ध नैसर्गिक कानून के प्रतिपादकों के सिद्धान्तों के आधार पर खड़ा किया गया है। इस लेखक का कहना है कि जिस प्रकार मनुष्य प्राकृतिक अवस्था में रहते थे, उसी प्रकार स्वतन्त्र राज्य भी पारस्परिक सम्बन्ध की दृष्टि से प्राकृतिक अवस्था में रहते थे व उसी प्रकार स्वतन्त्र राज्य भी पारस्परिक सम्बन्ध की दृष्टि से प्राकृतिक अवस्था ही में है, क्योंकि उनके ऊपर कोई शक्ति ऐसी नहीं है जो उन पर नियन्त्रण रख सके। अपनी प्राकृतिक अवस्था में सब मानव समान हैं। इसी प्रकार अपनी प्राकृतिक अवस्था में सब राज्य भी समान हैं।[3]

---

१. देखिये, Oppenheim, 'International Law' (1920), Vol. I, p. 196.

२ देखिए, उपर्युक्त Vol. I, Part II, Ch. I.

३. देखिये, Dickinson, 'The Equality of States in International Law', Chs. 1-2, डिकिनसन ने इस उपमा का खण्डन किया है। प्रायः कहा जाता है

समानता के सिद्धान्त की समालोचना

राज्यों की समानता के सिद्धान्त में जहाँ तक उनका कानून की दृष्टि में समानता एवं समान रक्षा से सम्बन्ध है, तनिक भी मतभेद नहीं है परन्तु इस दावे पर कि सब राज्यों को अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों तथा संस्थाओं में समान मत एवं समान प्रतिनिधित्व का अधिकार है, पिछले कुछ वर्षों में बड़ा घोर विरोध हुआ है। सत्य तो यह है कि यह सिद्धान्त या दावा केवल एक कानूनीरूप से अधिक कोई महत्व नहीं रखता। सन् १९१९ की शान्ति-परिषद् में व्यावहारिक दृष्टि से इस सिद्धान्त की अवहेलना हो गयी क्योंकि प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण निर्णय महान् राज्यों के प्रतिनिधियों द्वारा ही किये गये। जब राष्ट्रसंघ की कौंसिल की रचना की गयी, तब भी उस समानता के सिद्धान्त की उपेक्षा की गयी।[१]

यह सिद्धान्त बहुत पहले से अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार के प्रतिकूल हो चुका था। बहुत वर्षों से योरोप के महान् राज्य सामान्य योरोपीय हितों के कार्यों पर अपना प्रभाव डालते रहे हैं। छोटे राज्यों की अनुमति प्राप्त किये बिना ही योरोप के इन बड़े राज्यों ने नये राज्यों का निर्माण किया, नूतन राजवंश स्थापित किये शासन विधानों को स्वीकार किया, सीमाएँ निर्धारित कीं, दूसरे राज्यों के कार्यों में हस्तक्षेप किया और सामान्यतया वे योरोप के मामलों में संरक्षक निदेशी (Trustee) तथा न्यायालय के अधिकारों का उपयोग करते रहे हैं। इस स्थिति के कारण लारेन्स (T. J. Lawrence) जैसे लेखकों का मत है कि योरोप में बड़े राज्यों की प्रधानता को अब अन्तर्राष्ट्रीय विधान का एक स्थिर सिद्धान्त स्वीकार कर लेना चाहिये, सब राज्यों की समानता का सिद्धान्त मर चुका है और उसे अब त्याग देना चाहिये।[२] विश्व में शान्ति एवं सहयोग स्थापित करने तथा सामान्य हितों के संवर्धन के लिये संसार के संगठन में यह समानता का सिद्धान्त महान् बाधक रहा है। इस प्रकार यह एक 'महान् राजनीतिक खतरा' बन गया है।[३] प्रिन्सटन विश्वविद्यालय के प्रोफेसर बाउन ने ठीक ही कहा है—'यदि राष्ट्र अपने सैनिक, बौद्धिक एवं भौतिक प्रभाव में समान नहीं हैं, यदि वे अन्तर्राष्ट्रीय हितों में सामञ्जस्य अथवा सार्वजन्य में समान अभिरुचि नहीं रखते; यदि उनका कानून की रचना, उसकी व्याख्या और उसे कार्य में परिणत करने में समान मत नहीं है, यदि वास्तव में समानता का दावा विश्व-संगठन के मार्ग

कि इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाला ग्रोटियस (Grotius) था। डिकिन्सन ने ग्रोटियस को इस दोषारोपण से भी बचाया है।

१ राष्ट्रसंघ के बाद संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना सन् १९४५ में की गयी। इसका निर्माण करते समय भी सब राष्ट्रों की समानता के सिद्धान्त की उपेक्षा की गयी। सुरक्षा-परिषद (Security Council) में पाँच महान् राष्ट्रों—अमेरिका, ब्रिटेन, रूस, फ्रान्स तथा चीन को स्थायी सदस्य का अधिकार दिया गया। छोटे राज्यों को केवल तीन वर्ष के लिये चुनने की व्यवस्था की गयी। महत्त्वपूर्ण कार्यों का निश्चय सुरक्षा परिषद् में ही किया जाता है। —अनुवादक।

२. देखिये, T. J. Lawrence, 'Essays on International Law,' pp. 209, 232.

३. देखिये, Baker, 'The Doctrine of Legal Equality of States,' *British Year Book of International Law*, 1923-24, p. 4.

की है—'प्रजातीय एकता से युक्त जनता जो भौगोलिक एकता के एक प्रदेश पर निवास करती हो।'[1] इस परिभाषा की आलोचना की गई है क्योंकि न तो साधारण अर्थ में और न राज्य-विज्ञान की दृष्टि से सामान्यता राष्ट्र केवल एक प्रजातीय समूह माना जाता है और न राष्ट्र के लिए भौगोलिक एकता की आवश्यकता ही मानी जाती है। उसने आगे लिखा है कि 'प्रजातीय एकता' से उसका आशय ऐसी जनता से है जिसकी भाषा, संस्कृति साहित्य, इतिहास, परम्परा, रीति-रिवाज इत्यादि उचितानुचित की भावना अथवा चेतना सामान्य हो। 'सामान्य भाषा' को प्रजातीय एकता का एक मुख्य चिन्ह मानने पर भी आक्षेप किया गया है, क्योंकि इस सम्बन्ध में प्रजातीय अनुसन्धान के जो परिणाम प्रकाश में आये हैं, उनसे इसकी पुष्टि नहीं होती। फ्रान्स के लेखक प्रादियर फोदेर (Pradier Fodere) ने भी राष्ट्र शब्द का प्रजातीय समूह के अर्थ में ही ग्रहण किया है, राजनीतिक संगठन के अर्थ में नहीं। उसके मतानुसार प्रजाति (Race), भाषा, रीति-रिवाज तथा धर्म की सामान्यता से ही राष्ट्र बनता है। केल्वो (Calvo) का भी यही मत है। राष्ट्र का सम्बन्ध सामान्य भाषा एवं सामान्य प्रजातीयता से जोड़ना व्युत्पत्ति की दृष्टि से तो ठीक है परन्तु साधारण तथा वैज्ञानिक प्रयोग के अनुसार नहीं है।

अप्रजातीय तथा भाषा सम्बन्धी तत्व

जिन बन्धनों के कारण एक जनसमूह राष्ट्र का रूप धारण करता है, वे आवश्यकरूप से प्रजाति अथवा भाषा नहीं है, हाँ, वे महत्त्वपूर्ण तत्व अवश्य हैं। स्विस लोग भी एक राष्ट्र माने जाते हैं परन्तु उनमें न प्रजातीय एकता है और न उनकी भाषा ही एक है। इसी प्रकार बेल्जियन लोग भी एक राष्ट्र है यद्यपि वे अलग वालून और अलग, फ्लेमिश हैं और उनकी भाषाएं भी भिन्न हैं। प्रजाति से रक्त सम्बन्ध प्रकट होता है और भाषा की एकता से जनता को परस्पर एक-दूसरे को सरलता से समझने का अवसर मिलता है। सामान्य भाषा से बौद्धिक एवं सामाजिक सम्पर्क भी बढ़ता है और इस प्रकार उसमें सामान्य चेतना के विकास के लिए मार्ग खुल जाता है परन्तु इनके अतिरिक्त अन्य आवश्यक तत्व भी हैं जिनसे राष्ट्र का निर्माण होता है। एम० रेनन (M. Renan) ने अपने सन् १८८० में सारबोन में दिए हुए एक भाषण में कहा था कि भाषा तथा प्रजाति की एकता से राष्ट्र नहीं बनता, वरन् स्मृतियों की सामान्य परम्परा की भावना, चाहे वे स्मृतियाँ सफलता तथा गौरव, अथवा बलिदान एवं त्याग की हों और उसके साथ ही एक ही राज्य में मिलकर रहने की आकांक्षा तथा अपनी विरासत का मात्रा सन्तति को सौंप देने की इच्छा से ही राष्ट्र का निर्माण होता है। हाउजर (Hauser) की भी उक्ति है कि जनता की मिलकर रहने की आकांक्षा से ही राष्ट्र बनता है, भाषा एवं प्रजाति की

शब्दों के अनुवाद में बड़ी गड़बड़ कर दी है। उसने जहाँ फोल्क (Volk) शब्द का प्रयोग किया है, वहाँ अनुवाद में नेशन (Nation) दिया गया है और नेशन के स्थान पर पीपुल (People)। यह स्पष्ट है कि ब्लुन्ट्श्ली ने इन शब्दों का प्रयोग उल्टे अर्थ में किया था। उसके अनुसार फोल्क शब्द की धारणा राजनैतिक और जर्मन शब्द नेशन की धारणा जातीय थी।

१. देखिए, Burgess, 'Political Science and Constitutional Law. Vol. I, p. 1.

एकता से नहीं। राष्ट्र सांस्कृतिक दृष्टि से एकरूप सामाजिक समुदाय है जो आध्यात्मिक जीवन और उसकी अभिव्यक्ति की एकता के प्रति सचेत और दृढ़-संकल्पी होता है। राष्ट्र 'एक सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक एकता है और सामाजिक विकास का सर्वोत्कृष्ट एवं सर्वोच्च प्रतिफल।' यह 'एक ही प्रदेश में रहने वाले निवासियों का संघ है, चाहे वे एक ही शासन के अधीन हों या नहीं, जिनमें परस्पर साधारण हितों के प्रति ऐसी चेतना हो कि वे एक ही प्रजाति के समझे जाएँ। जिस तत्व से राष्ट्र का निर्माण होता है, वह किसी एक समय पर एक ही सामाजिक समुदाय में समस्त व्यक्तियों में विद्यमान यह चेतना ही है कि जिस प्रदेश में वे रहते हैं, उसमें और जनता में घनिष्ठ अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है।'[1]

राष्ट्र—एक राजनीतिक संगठन (Phenomenon)

जैसा अभी कहा जा चुका है, आजकल राष्ट्र शब्द का प्रयोग एक राजनीतिक संगठन के अर्थ में किया जाता है। इसका अर्थ यह है कि राष्ट्र केवल एक ऐसी संस्था नहीं है जो सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक बन्धनों से बंधी हुई हो, वरन् यह एक राजनीतिक रूप से संगठित समुदाय भी है — संक्षेप में यह राज्य है। इसी कारण 'राज्य' तथा 'राष्ट्र' एक ही अर्थ में प्रयुक्त किये जाते हैं। जब वास्तव में राज्य कहना चाहिए, तब प्रायः राष्ट्र शब्द का प्रयोग किया जाता है, जैसे अमेरिकन राष्ट्र अथवा ब्रिटिश राष्ट्र। 'राष्ट्रसंघ' (League of Nations) नाम की अन्तर्राष्ट्रीय संस्था वास्तव में संसार के स्वतन्त्र राज्यों तथा उपनिवेशों का संगठनमात्र थी। अर्जेण्टाइना देश के शासन विधान में अर्जेण्टाइना राज्य को 'अर्जेण्टाइन राष्ट्र' लिखा गया है। यह लार्ड ब्राइस की धारणा थी जिसने राष्ट्र की परिभाषा इस प्रकार की है—'राष्ट्र एक नेशनेलिटी (Nationality—उपराष्ट्र) है जिसने अपना संगठन एक राजनीतिक संस्था के रूप में कर लिया है, जो स्वतंत्र है अथवा स्वतन्त्रता की इच्छुक है।'[2] इसी प्रकार फ्रांस के ऐस्मीन (Lamein) नामक विद्वान् ने कहा है कि 'राज्य राष्ट्र का कानूनी व्यक्तित्व है।' इस प्रयोग की उसे गलत एवं अनिश्चित कह कर आलोचना की गई है क्योंकि राष्ट्र आवश्यकरूप से राज्य नहीं है और न राज्य ही आवश्यकरूप से राष्ट्र है। स्कॉटलैंड को, चाहे गलत हो या ठीक, राष्ट्र कहा जाता है परन्तु वह राज्य नहीं है। इसी प्रकार पोलैण्ड तथा फिनलैंड राष्ट्र थे परन्तु प्रथम विश्वयुद्ध से पूर्व वे राज्य नहीं थे; दूसरी ओर, आस्ट्रिया तथा हंगरी राज्य थे परन्तु प्रथम विश्वयुद्ध से पूर्व कोई आस्ट्रियन अथवा हंगेरियन राष्ट्र नहीं थे क्योंकि उन राज्यों में विविध जातियों के लोग राजनीतिक दृष्टि से एक थे परन्तु उनमें राष्ट्र कहलाने के लिए आवश्यक बन्धन नहीं थे।

राज्य की सीमा राष्ट्र की सीमा को भी पार कर सकती है और इसी प्रकार राष्ट्र की सीमा राज्य से भी अधिक विस्तृत हो सकती है। वास्तव में ये दोनों सीमाएँ

---

१. ड्यूगी (Duguit) का भी यही मत है।

२. देखिये, Impressions of South America (1913), p. 424. इसी प्रकार डॉक्स हिल पीस ने भी कहा है कि राष्ट्र राज्य का आधार है। उसने कहा है किसी ढंग से संगठित राष्ट्र ही राज्य है। प्रोफेसर हॉलेंड रोज (Holland Rose) ने कहा है कि राजनीतिक दृष्टि से संगठित जनता राष्ट्र कहलाती है (Nationality in Modern History, 1916, p. vi)।

कभी-कभी ही समान होती हैं। इस प्रकार अँग्रेजी राज्य की प्रादेशिक सीमा के अन्दर स्कॉच, वेल्श तथा आयरिश लोग रहते हैं परन्तु फ्रेंच राष्ट्र जातीय दृष्टि से फ्रेंच राज्य से बाहर बेलजियम, इटली और स्विटजरलैंड तक फैला हुआ है। वर्तमान प्रवृत्ति राष्ट्र और राज्य दोनों को एक कर देने की ओर है, अर्थात् राज्यों तथा राष्ट्रों की सीमाएं एक कर देने की है परन्तु अभी इस प्रयत्न में सफलता बहुत दूर है।

राष्ट्रीय (National) तथा राष्ट्रीयता (Nationality)

राष्ट्रीय (National) शब्द का प्रयोग संज्ञा तथा विशेषण दोनों रूपों में होता है। संज्ञा के रूप में इस शब्द का प्रयोग कूटनीतिक पत्र-व्यवहार में तथा अन्तर्राष्ट्रीय विधान के लेखकों द्वारा उस व्यक्ति के लिए किया जाता है जो राज्य की रक्षा का पात्र है। सामान्यतया ऐसा व्यक्ति नागरिक होता है परन्तु वह विदेशी भी हो सकता है क्योंकि अनेक राज्यों में कई ऐसे व्यक्ति भी होते हैं, जिनकी राज्य रक्षा करता है परन्तु जो नागरिक नहीं हैं। इसी प्रकार फिलपिनो लोग संयुक्त राज्य अमेरिका के नागरिक न होते हुए भी राष्ट्रीय (National) हैं। जब इस शब्द का विशेषण के रूप में प्रयोग किया जाता है, तब इससे उस व्यक्ति या पदार्थ का बोध होता है जिसे एक राज्य की राष्ट्रीयता प्राप्त है। इस प्रकार हम राष्ट्रीय चरित्र, राष्ट्रीय सम्मान, राष्ट्रीय सम्पत्ति आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं।

राष्ट्रीयता (Nationality) शब्द की व्याख्या करना और भी अधिक कठिन है। इसके विभिन्न लेखकों ने विभिन्न अर्थ लगाये हैं। राष्ट्रीय शब्द की भाँति इस शब्द का भी दो रूपों में, संज्ञा तथा विशेषण की तरह व्यवहार होता है। विशेषण के रूप में इसका प्रयोग उस व्यक्ति के पद या गुण को प्रकट करने के लिए किया जाता है जो एक नागरिक है अथवा उस वस्तु के पद या गुण को जिस पर राष्ट्रीय चरित्र अंकित है, जैसे हम पंचायती न्यायालय के समक्ष एक नागरिक की राष्ट्रीयता अथवा किसी के द्वारा छीने हुए जलयान की राष्ट्रीयता का उल्लेख करते हैं। संज्ञा के रूप में राष्ट्रीयता का अर्थ जनता को प्रजातीय तथा अन्य बन्धनों से संयुक्त कोई समूह अथवा भाग होता है। इस प्रकार युगोस्लाविया में क्रोट्स, सर्व और स्लोवीन लोग तथा चेकोस्लोवाकिया में स्लोवाक लोग एक 'राष्ट्रीयता' (उपराष्ट्र)[1] है।

राष्ट्रीयता क्या है ?

राष्ट्र तथा राष्ट्रीयता, इन दोनों शब्दों का प्रयोग प्रायः एक ही अर्थ में किया गया है और जिन विद्वानों ने इनमें भेद माना है, वे इसके भेद के सम्बन्ध में एकमत नहीं है। लॉर्ड ब्राइस के अनुसार नेशनेलिटी (उपराष्ट्र) उस जनसमूह का नाम है जो भाषा, साहित्य, विचार, रीति-रिवाज, परम्परा आदि बन्धनों में इस प्रकार बँधा हो कि वह अपने को इसी प्रकार के दूसरे जनसमूह से भिन्न अनुभव करता हो, राष्ट्र उस नेशनेलिटी (उपराष्ट्र) का नाम है जिसने अपना ऐसा राजनीतिक संगठन कर लिया हो जो या तो स्वतन्त्र हो या जो स्वतन्त्रता का इच्छुक हो।

---

१. इस अर्थ में हिन्दी में राष्ट्रीयता के स्थान पर उपराष्ट्र शब्द का प्रयोग करना ठीक रहेगा। अँग्रेजी में नेशनेलिटी शब्द का यह अर्थ हो सकता है परन्तु हिन्दी में राष्ट्रीयता शब्द का यह अर्थ कितनी ही खींचातानी करने पर भी नहीं निकलता। हमने इसी कारण इस पुस्तक में इस अर्थ में नेशनेलिटी शब्द का अनुवाद उपराष्ट्र किया है। —अनुवादक।

उसके अनुसार अन्तर राजनीतिक संगठन का है। संक्षेप में अन्तर यही है कि राष्ट्र राजनीतिक रूप में संगठित होता है और वह या तो स्वतन्त्र हो चुका है या स्वतन्त्र होना चाहता है और उपराष्ट्र इस प्रकार संगठित नहीं होता। लार्ड ब्राइस का यह मत जॉन स्टुअर्ट मिल के मत से कुछ विशेष भिन्न नहीं है। मिल के अनुसार 'मानव जाति के उस भाग को नेशनेलिटी (उपराष्ट्र) कह सकते हैं जो ऐसी सामान्य सहानुभूतियों के कारण परस्पर एक हो गया है जो उसमें और दूसरों के बीच नहीं हैं, जिसके कारण वह आपस में एक दूसरे के साथ अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक सहयोग करता है और जो एक ही शासन के अधीन रहना चाहता है और जो यह भी चाहता है कि शासन सूत्र उसके ही हाथों में या उसके ही किसी अंग के हाथों में हो।'

दूसरी ओर कुछ ऐसे भी लेखक हैं जो उपराष्ट्र तथा राष्ट्र के भेद को केवल राजनीतिक संगठन सम्बन्धी ही नहीं मानते वरन् यह मानते हैं कि यह भेद सत्ता का है। इसके अनुसार उपराष्ट्र से उनका आशय राज्य के अन्तर्गत एक सामाजिक-प्रजातीय समूह (Socio-ethnic group) से होता है और यह समूह सामान्यतया समस्त जनता का एक छोटा भाग होता है। इस प्रकार ब्रिटेन में स्कॉच तथा वेल्श लोग उपराष्ट्र हैं। इसी प्रकार दक्षिणी अफ्रीका में डच लोग, कनाडा में फ्रेन्च लोग और युगोस्लाविया में स्लोवीन लोग हैं। उन्हें राष्ट्र कहना चाटुकारिता ही होगी, उनके महत्व के अनुरूप तो नेशनेलिटी (उपराष्ट्र) शब्द ही है।

नेशनेल्टिी (उपराष्ट्र) के मूल तत्व—(१) जाति की विशुद्धता

नेशनेलिटी (उपराष्ट्र) शब्द का सामान्य विवेचन करने के बाद हम उसके मूल तत्वों पर विचार करना चाहते हैं। वे कौन से गुण या लक्षण हैं जिनसे किसी जनता को हम उपराष्ट्र कह सकते हैं। प्रजाति एवं भाषा की समानता ये दो तत्व निस्सन्देह सबसे अधिक महत्वपूर्ण हैं, परन्तु ये दोनों ही निरपेक्ष रूप से आवश्यक नहीं हैं। मानव-जाति-विज्ञान से सम्बन्ध में जो अनुसन्धान अब तक हुए हैं उनसे यह प्रकट होता है कि एक प्रजाति दूसरी प्रजाति से पृथक् करने के लिए कोई विभाजक रेखा खींचना सम्भव नहीं है, क्योंकि बहुत सी वर्तमान प्रजातियाँ वर्णसंकर हैं, उनकी कोई सामान्य प्रजातीय उत्पत्ति नहीं है, वरन् वे अनेक प्रजातियों के मिश्रण से बनी हैं। इसमें सन्देह है कि आज योरोप में कोई विशुद्ध प्रजाति विद्यमान है। शुद्ध प्रजाति से अभिप्राय ऐसी प्रजाति से है जो वर्णसंकरता से मुक्त हो। सिर की बनावट, शरीर का आकार, केश, रूप-रंग आदि बातों के भेद में जिसके आधार पर असली प्रजातीय भेदों का विचार किया जाता है ज्ञात होगा कि आजकल की प्रजातियों में इस सम्बन्ध में कोई एकता या साम्य नहीं है। प्रजाति एक भौतिक वस्तु है; राष्ट्रीयता एक ऐसी मिश्रत वस्तु है जिसमें आध्यात्मिक तत्वों का भी समावेश है। प्रजाति को ही राष्ट्र समझ लेना ऐसा ही होगा जैसे नैतिक कर्तव्य-बुद्धि को शारीरिक जीवन के अधीन जानना अथवा मानव में जो पाशविकता है उसे ही समूची मानवता मान लेना। यदि प्रजाति की विशुद्धता को राष्ट्रीयता का आवश्यक तत्व माना जाय, तो आज कई माने हुए उपराष्ट्र अपने दावे को प्रमाणित नहीं कर सकेंगे। विश्व की कुछ सभ्य प्रजातियाँ (उदाहरण के लिए अंगरेज तथा फ्रेंच) वास्तव में दूसरी प्रजातियों के संकर से बनी हैं। शायद इतना ही पर्याप्त है कि लोगों का सामान्य उत्पत्ति में विश्वास हो और अपनी उत्पत्ति के सम्बन्ध में जो विविधता है, उसे भूल गये हों

और उनमे कोई तीव्र भेद न रह गये हो। यदि प्रजातियों का परस्पर भली-भाँति मिश्रण हो गया हो और उनमे परस्पर निर्बाध मिलन एवं सम्पर्क होता रहता हो, तो उत्पत्ति-सम्बन्धी भेद-भावो का कुछ भी महत्व नहीं रह जाता। परन्तु यदि एक प्रजाति अपने को दूसरी प्रजाति से सांस्कृतिक एव बौद्धिक दृष्टि से श्रेष्ठ मानती है, तो उसमे राष्ट्रीयता की भावना का विकास कठिन ही है। हंगरी मे मगयार लोगो की श्रेष्ठता एवं आधिपत्य की भावना ने उस देश की विविध प्रजातियों मे राष्ट्रीयता की भावना का विकास नही होने दिया और भारत मे प्रचलित कठोर जात-पांत के भेद का भी देश पर कुछ-कुछ वैसा ही प्रभाव हुआ है।[1]

(२) भाषा की एकता

भाषा की एकता अथवा सामान्य भाषा साधारणतया राष्ट्रीयता का एक आवश्यक तत्त्व मानी जाती है, क्योंकि भाषा से लोगों को वह माध्यम मिल जाता है जिसके द्वारा जनता परस्पर सम्पर्क रख सकती है, एक सामान्य साहित्यिक रूप मे भावों एवं विचारों का आदान-प्रदान करती है और अपनी संस्कृति एव आदर्शों की अभिव्यक्ति करती है। इस माध्यम का अभाव लोगों को उसी प्रकार अलग रखता है जैसे पहले पर्वत और समुद्र लोगों को पृथक् रखते थे। लोग एक-दूसरे को समझ नही पाते और इस प्रकार उनम उस सामान्य चेतना एव सामान्य आदर्शों का विकास नही हो पाता जिनकी राष्ट्रीयता की भावना का निर्माण करने के लिए बड़ी आवश्यकता है। परन्तु यहाँ भी यह बात स्वीकार करनी पड़ेगी कि भाषा की एकता भी निरपेक्ष रूप से आवश्यक नही है। स्कॉच लोग यदि राष्ट्र नही तो एक उपराष्ट्र अवश्य है, परन्तु कुछ स्कॉच लोग गेलिक भाषा बोलते हैं और कुछ अँगरेजी। इसी प्रकार बेलजियन लोग तथा स्विस लोग राष्ट्र हैं, परन्तु दोनो राष्ट्रों मे भाषाओं के भेद हैं, बेलजियम मे दो भाषाएं बोली जाती हैं और स्विटजरलैण्ड मे तीन—जर्मन, इटालियन तथा फ्रेन्च परन्तु इस कारण वे अपने को स्विस समझते हैं, जर्मन, इटालियन या फ्रेन्च नही। भाषा-भेद के बावजूद भी उन्होंने कई सदियों के उद्योग के बाद राष्ट्रीयता की एक सामान्य चेतना का विकास कर लिया है। इस पर भी हमे यह मानना पड़ेगा कि भाषा की एकता प्रजाति की एकता मे भी अधिक जनता मे राष्ट्रीयता की भावना पैदा करने के लिए एक प्रमुख तत्त्व है। राष्ट्रीयता के जितने तत्त्व हैं उनमे से इसके प्रति जनता का अनुराग बड़ा सजग एव सुदृढ होता है। योरोप मे जो भयंकर

---

१. तुलना कीजिये, Muir, 'Nationalism and Internationalism,' (1917) pp. 39 ff.

भारत मे राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) ने एक राष्ट्रीयता एवं एक राष्ट्र के निर्माण के लिए सतत प्रयास किया और सन् १९४० मे जब अखिल भारतीय मुस्लिम लीग के नेता मुहम्मद अली जिन्ना ने भारत मे 'दो राष्ट्रों' के सिद्धान्त के आधार पर मुसलमानों के लिए पृथक् स्वतन्त्र राज्य की मांग पेश की तब कांग्रेस ने इसका प्रबल विरोध किया। परन्तु दुर्भाग्य से जून ३, सन् १९४७ की लॉर्ड माउण्टबेटन की भारत-विभाजन की योजना को स्वीकार कर राष्ट्रीय कांग्रेस ने मुस्लिम-बहुल प्रदेशों के मुसलमानों को एक पृथक् उपराष्ट्र के रूप मे ही नहीं एक राष्ट्र एव राज्य के रूप मे भी स्वीकार कर लिया।

—अनुवादक

संघर्ष हुए उनमे से कुछ का ये उद्देश्य भाषा के दमन का विरोध ही था ।[1]

(३) भौगोलिक एकता

राष्ट्रीयता के निर्माण के लिए भौगोलिक एकता को भी एक तत्व माना गया है। इसका अर्थ यह है कि जनता एक नियत प्रदेश पर निवास करती हो, जिसके विभिन्न भाग परस्पर मिले हुए हो। परन्तु हमे ऐसे उपराष्ट्रो के भी उदाहरण मिलते हैं जिनका प्रवास ऐसे प्रदेशो मे है जो परस्पर मिले हुए नही हैं और जिन पर विभिन्न राज्यो का अधिकार है। प्रथम विश्व युद्ध से पूर्व पोल एवं युगोस्लाव लोग यदि राष्ट्र नही तो उपराष्ट्र अवश्य थे परन्तु वे पृथक थे और विभिन्न राज्यो मे रहते थे यहूदियो को आज भी एक उपराष्ट्र कहा जाता है यद्यपि वे सदैव से संसार भर मे बिखरे हुए हैं। अब उनके लिए राष्ट्रीय गृह बनाने की व्यवस्था की गयी है। इस प्रकार यहूदियो का यह एक केन्द्र बन जायगा जहाँ से नवचेतना की लहर यहूदी-संसार मे प्रसारित हो सकेगी और उससे मरणासन्न हेब्रयू राष्ट्रीयता फिर से जाग्रत की जा सकेगी।[2]

(४) धार्मिक एकता

धार्मिक एकता किसी समय राष्ट्रीयता का एक प्रधान लक्षण मानी जाती थी और प्राचीन काल में इसने राष्ट्रीय संगठन में बड़ा कार्य किया है। यह कहा जाता है कि स्कॉट लोगो को राष्ट्रीयता प्रदान करने का श्रेय किसी अकेली दूसरी चीज की अपेक्षा जॉन नॉक्स के कार्य को अधिक है।[3] किसी अंश तक प्रोटेस्टेण्ट मत की रक्षा के लिए दृढ संकल्प के कारण ही अंग्रेज लोग आरमेडा की पराजय के समय स्पेन का प्रतिरोध करने मे सफल हुए।[4] परन्तु आजकल राष्ट्रीयता के लिए धार्मिक एकता आवश्यक नही मानी जाती। हमने अनेक उपराष्ट्रो को देखा है जो विभिन्न धर्मानुयायी होते हुए भी एक राज्य में रहते है। जैसे युगोस्लाविया में सर्ब लोग ग्रीक कैथोलिक है और क्रोट लोग रोमन कैथोलिक हैं, फिर भी वे हाल ही मे एक हो गये है और स्लोविन लोगो से मिलकर उन्होने युगोस्लाविया राज्य का निर्माण किया है। यह बात ध्यान मे रखना चाहिये कि सर्ब और क्रोट लोग सामान्य भाषा का प्रयोग

---

१. भारतवर्ष मे बगला, हिन्दी, उर्दू, गुजराती, मराठी, पजाबी, उड़िया, आसामी, काश्मीरी, तेलगू, तामिल, मलयालम, कनाडी आदि प्रमुख भाषाओं तथा सैकड़ो बोलियो के होने पर भी राष्ट्रीयता का विकास एवं प्रगति और उसका एक राष्ट्र के रूप में सगठित हो जाना भी इस बात को असत्य सिद्ध कर देता है कि एक भाषा—सामान्य भाषा—राष्ट्रीयता के निर्माण के लिए अत्यावश्यक है। —अनुवादक।

२. फिलीस्तीन पर मई सन् १९४८ तक ब्रिटेन का नियन्त्रण राष्ट्र-संघ के आधिपत्य मे था। परन्तु ब्रिटेन ने वहाँ से अपनी सत्ता को वापिस ले लिया। अब संयुक्त राष्ट्रसंघ के अधीन फिलीस्तीन को दो भागों मे, अरबी तथा यहूदी मे, विभाजित कर दिया गया है और यहूदियो ने इजराइल नामक स्वतन्त्र राज्य भी स्थापित कर लिया है। —अनुवादक।

३. देखिये, Muir. 'Nationalism and Internationalism,' (1917), p. 44.

४. देखिये, Gilchrist, 'Principles of Political Science,' p. 37.

करते हैं और उनकी परम्पराएं तथा संस्कृति भी सामान्य ही हैं। ये बन्धन, धर्म-भेद की *बाधाओं की अपेक्षा अधिक दृढ़ सिद्ध हुए हैं।*

ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं जब कि धार्मिक मतभेदों के कारण राज्यों का विभाजन हो गया है। सन् १८१५ में वियना की कांग्रेस ने बेलजियम तथा हॉलैण्ड को मिला कर एक राज्य बना दिया था परन्तु सन् १८३१ में इसी धार्मिक अनैक्य के *कारण बेलजियम हालैण्ड से अलग हो गया। आयरलैण्ड के राष्ट्रीय विकास में* जो बड़ लम्बे समय तक सबसे बड़ी बाधा रही वह प्रोटेस्टेण्टों तथा केथोलिकों के परस्पर धर्म भेद ही की थी। भारत में भी हिन्दु-मुस्लिम धर्म-भेद ही एक बड़ी सीमा तक इस देश की राष्ट्रीय प्रगति में बाधक रहा है।[१] इसी प्रकार टर्की में मुसलमानों *तथा ईसाइयों की पारस्परिक घृणा के कारण राष्ट्रीयता की उच्च भावना का विकास* नहीं हो सका। दूसरी ओर, अनेक सुसंगठित और बड़े राज्यों की जनता में धार्मिक मतभेद भयंकर रूप में विद्यमान हैं। जर्मनी में केथोलिकों तथा प्रोटेस्टण्टों के मतभेद हैं। स्विट्ज़रलैण्ड में भी यही बात है। इंगलैण्ड में धर्म सुधार (Reformation) के बाद कभी धार्मिक एकता नहीं रही। सारांश यह है कि यद्यपि कुछ देशों में राष्ट्रीयता के निर्माण तथा राष्ट्रीय ऐक्य के बन्धनों को सुदृढ़ करने में धार्मिक एकता का बड़ा हाथ रहा है। और कहीं कहीं धार्मिक ऐक्य के अभाव के कारण राज्य विच्छिन्न *हो गय हे परन्तु धार्मिक सहिष्णुता की आधुनिक भावना के कारण अब राष्ट्रीयता के* निर्माण में इसका कोई महत्व नहीं रहा।

(५) सामान्य राजनैतिक आकांक्षाएं

अधिकतर उपराष्ट्रों की एक दूसरी विशेषता यह है कि वे स्वतन्त्रता की अथवा शासन में अधिक स्वशासन की आकांक्षा करते हैं। दूसरे शब्दों में वे राष्ट्र *अथवा राज्य बन जाना चाहते हैं। लफर (Lefur) नामक लेखक ने कहा है कि* मुख्यतः राष्ट्रीयता राज्य का बीज है दुरखीम (Durkheim) ने कहा है कि 'उपराष्ट्र ऐसे समुदायों का एक समुदाय है जो एक से कानून के अन्तर्गत रहना और अपने एक *राज्य का निर्माण करना चाहता है।'* जहाँ जनता की संख्या अधिक होती है और इतनी होती है कि वह एक स्वतन्त्र राज्य का निर्माण कर सके, वहाँ स्वतन्त्र राज-नैतिक एकता अर्थात् राज्य राष्ट्रीयता का स्वाभाविक फल होता है। इसके विपरीत, कभी-कभी राजनीतिक ऐक्य के कारण विभिन्न प्रजातियों में राष्ट्रीयता का *उदय होता है, जैसे स्विट्ज़रलैण्ड में। यह बात सर्वविदित है कि सन् १९१९ के* शान्ति-सम्मेलन में अनेक उपराष्ट्रों के प्रतिनिधि-मण्डल सम्मिलित हुए थे जिन्होंने अपने लिए आत्म-निर्णय के अधिकार (Self-determination) के अनुसार जन-*राज्यों में वे सम्मिलित थे उनसे अलग होकर अपने पृथक् स्वतन्त्र राज्य* कायम करने की माँग की थी। उन्होंने यह माँग इस सिद्धान्त के आधार पर की थी कि किसी

---

१. यह सत्य है कि भारत में हिन्दु-मुस्लिम संघर्ष के कारण भारतीय राष्ट्रीय के विकास में बड़ी बाधा पड़ी और अन्त में मुसलमानों ने 'पाकिस्तान' बनाकर इस संघर्ष को दूर करने के बजाय और भी अधिक पुष्ट कर दिया। परन्तु भारत में अब यह भेद कम होता जा रहा है। देश की राजनीति में अब धर्म के लिए कोई स्थान नहीं रह गया है और इस कारण भारतीय राष्ट्रीयता के विकास में धर्म-भेद बाधक नहीं हो सकेगा। —अनुवादक।

राज्य में निवास करने वाले उपराष्ट्रों का यह स्वाभाविक अधिकार है कि वे अपने भाग्य का स्वयं निर्णय करें और फलतः वे अपने को उन राज्यों की अधीनता से मुक्त कर लें जिनके साथ वे अनिच्छा से जुड़े हुए हैं।

(६) अन्य सहायक तत्व

अब यह बात सामान्यतया मानी जाती है कि उपर्युक्त सभी तत्व राष्ट्रीयता के निर्माण में महत्वपूर्ण हैं या रहे हैं, परन्तु उनमें से कोई एक भी तत्व निरपेक्षरूप से आवश्यक नहीं है।[1] हाल में यह मान्यता अधिकाधिक पुष्ट हो गयी है कि भाषा, जाति, भूगोल, धर्म, प्रदेश आदि की एकता जातीयता के निर्माण में उतनी आवश्यक नहीं है जितनी सामान्य हितों एवं आदर्शों की भावना अथवा, समाजशास्त्रियों के शब्दों में, समचित्तता (Likemindedness) की भावना—जैसे स्वेच्छाचारी शासन के अन्तर्गत अधिक समय तक समान रूप से पराधीन रहने तथा अत्याचार सहने से उत्पन्न पारस्परिक सहानुभूति, महान् ऐतिहासिक संघर्षों में समान रूप से भाग लेने का गौरव और सामान्य विरासत तथा गीतों एवं गाथाओं द्वारा प्रकट सामान्य परम्पराएँ। बैनकबर्न, फ्लॉडनफील्ड और कुलोडेन की स्मृतियों तथा अमर गाथाओं ने स्काट लोगों में राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न करने में बड़ी सहायता की है। इसी प्रकार अपने पर्वतों में स्थित लोगों के लम्बे स्वाधीनता-संघर्ष की स्मृतियों तथा विलियम टेल, विन्केल रीड तथा अन्य वीरों की स्मृतियों एवं गाथाओं में अनुभूत गर्व, सर्व लोगों का स्टीफन दुशान और कोसोवा की स्मृति से उत्पन्न गौरव तथा सदियों तक भुगती हुई पराधीनता की स्मृति; इसी प्रकार जर्मनों में सन् १८१३ के दिनों के नैपोलियन के दमन एवं अत्याचारों तथा उनसे उत्पन्न देशभक्ति की ज्वाला की स्मृति तथा आयरिशों में अंग्रेजों के अनुचित दमन एवं अत्याचारों की स्मृति के कारण भी राष्ट्रीयता का विकास हुआ। ऐतिहासिक घटनाओं की स्मृति के कारण ही यहूदियों में, संसार भर में बिखरे रहने पर भी, राष्ट्रीयता का प्रादुर्भाव हुआ है। एक भजन लेखक ने लिखा है :—'हे जेरूसलम ! जब मैं तुझे भूल जाऊँ तो मेरे दक्षिण हस्त को अपनी चातुरी भूल जाना चाहिए।' इसी प्रकार की सामान्य स्मृतियों की शक्ति को जागृत करने के उद्देश्य से ही राष्ट्रपति लिंकन ने अपने उद्घाटन भाषण में इस बात पर जोर दिया था कि अमेरिका के दक्षिणी तथा उत्तरी भागों के निवासी परस्पर मित्र हैं शत्रु नहीं, उनमें परस्पर स्नेह-बन्धन है जो कभी टूट नहीं सकते और वे लोग पृथक् नहीं हो सकते। उसने कहा कि स्मृति के रहस्यमय तार प्रत्येक रणभूमि और देशभक्त की समाधि से प्रत्येक जीवित हृदय एवं घर तक इस विस्तृत भूमि पर फैले हुए हैं; और यदि हम

---

१. मिल ने अपनी पुस्तक Representative Government (Ch. 16) में राष्ट्रीयता की भावना को प्रोत्साहन देने वाली बातों का वर्णन किया है और इन सामान्य तत्वों की अपेक्षा उसने पूर्व राजनीतिक इतिहास की समानता, स्मृतियों की समानता, भूतकाल की घटनाओं से सम्बद्ध तथा समान रूप से अनुभूत सुख-दुःख, गर्व तथा तिरस्कार आदि को विशेष प्रभावशाली बतलाया है। परन्तु उसका कहना है कि इनमें से कोई भी अनिवार्य नहीं है और न वे अकेले ही पर्याप्त हैं। उसका यह भी मत है कि जो कारण राष्ट्रीयता की भावना को जन्म देने में सहायक होते हैं, उनके कमजोर पड़ने पर साधारणतया यह भावना भी उसी अनुपात में कमजोर हो जाती है।

तिक क्रान्तियों का प्रारम्भ हुआ। टर्की के विरुद्ध यूनानी विद्रोह के प्रति समस्त ईसाई योरोप मे, यहाँ तक कि अमेरिका मे भी सहानुभूति प्रकट की गयी और अन्त में बड़े राष्ट्रों ने यूनान के पक्ष में इस मामले में हस्तक्षेप किया और सन् १८२७ में यूनान को स्वतन्त्रता प्राप्त हो गयी। बेलजियनों ने डचों के विरुद्ध जिनके साथ वियना-काँग्रेस ने उनका जबरदस्ती गठबन्धन कर दिया था, विद्रोह का झण्डा उठाया, और सन् १८३१ में वे भी स्वतन्त्र हो गये।

सन् १८४८ में इटली, जर्मनी तथा हंगरी में राज्य-क्रान्तियाँ हुईं, जो मुख्यत: राष्ट्रीयता की भावना से प्रभावित थीं। वे अस्थायी रूप से सफल रहीं, किन्तु उनके कोई स्थायी परिणाम नहीं निकले। परन्तु राष्ट्रीयता की भावना कुचली न जा सकी और सन् १८४८ की राज्य-क्रान्तियों के फलस्वरूप आगे चल कर उसी पीढ़ी की सामने इटली तथा जर्मनी में एकता स्थापित हो गयी। बालकान लोग टर्की के आधिपत्य में रह गये थे, उन्होंने भी कुछ वर्षों बाद विद्रोह शुरू कर दिया। सन् १८७८ की बर्लिन की सन्धि के अनुसार सार्विया, मॉण्टिनीग्रो और रूमानिया भी स्वतन्त्र राज्य मान लिये गये। बलगेरिया ऑटोमन साम्राज्य के अन्तर्गत ही रहा परन्तु उसे भी बाद में शीघ्र ही पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त हो गयी।

प्रथम विश्व-युद्ध के परिणाम

सन् १८७८ से सन् १९१९ तक के समय में राष्ट्रीय आकांक्षाएँ जागृत रहीं आयीं और उन्होंने योरोप के अनेक देशों में तथा अन्यत्र भी सगठित राष्ट्रीय आन्दोलन का रूप धारण किया। योरोप म आयरिश, फिन, मगयार, चेक, स्लोवाक, क्रोट, अलबानियन, पोल, ल्युथेनियन तथा विविध बाल्टिक राष्ट्रों, और अन्यत्र मिस्रियों, भारतीयों तथा अन्य जातियों में राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रारम्भ हुआ। विश्व-युद्ध को पीड़ित जातियों के अधिकारों की रक्षा का सग्राम कहा गया था। उनमें से कुछ उप-राष्ट्रों को वह वरदान सिद्ध हुआ और उनके स्वप्न तथा उनकी आकांक्षाएँ सफल हुईं। अल्सेस-लोरेन का प्रदेश फ्रान्स को दे दिया गया, पोलैण्ड स्वतन्त्र राज्य मान लिया गया और उसकी सीमा राष्ट्रीय सीमा से मिल गयी। श्लेसविग डेनमार्क को वापस मिल गया। आस्ट्रिया के आधिपत्य से चेक तथा स्लोवाक लोगों को मुक्ति मिल गयी और उन दोनों को मिलाकर चेकोस्लोवाकिया नामक एक नये राज्य की स्थापना की गयी। दक्षिणी स्लाव—सर्व, क्रोट तथा स्लोवेन—भी आॅस्ट्रिया हंगरी साम्राज्य से मुक्त हो गये और उनका यूगोस्लाविया नामक स्वतन्त्र राज्य बन गया। फिन, इस्टोनियन, लेट और लिथूनियन[1] लोग भी रूस से अलग हो गये और प्रत्येक का अपना एक स्वतन्त्र राज्य बन गया। इसी प्रकार अलबानिया भी एक स्वाधीन राज्य बन गया। आगे चलकर ब्रिटेन ने आयर्लैण्ड तथा मिस्र की स्वाधीनता स्वीकार कर ली, केवल वैदेशिक मामलों म ब्रिटेन का उन पर नियन्त्रण रहा आया। इसी प्रकार सीरिया, मेसोपोटामिया फिलीस्तीन तथा हेजाज टर्की के साम्राज्य से मुक्त कर दिये और अन्तत: स्वतन्त्र राज्य मान लिये गये।

---

१ सन् १९३९—४५ के द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद इस्टोनिया, लटविया तथा लिथूनिया सोवियत सघ के अन्तर्गत हो गये हैं। फिनलैंड स्वतन्त्र राज्य है।
—अनुवादक।

राष्ट्रीयता के सिद्धान्त का अतिक्रमण

प्रथम विश्व-युद्ध के बाद शान्ति-संधियों के द्वारा जो नयी व्यवस्था की गयी उसके द्वारा राष्ट्रीयता के सिद्धान्त की पूर्ण रूपेण रक्षा नही हुई यद्यपि अमेरिकन राष्ट्रपति विल्सन ने यह स्पष्ट रूप से कहा था कि समस्त सुनिश्चित राष्ट्रीय आकांक्षाओं को सन्तुष्ट किया जायगा। जर्मनो की एक बडी संख्या पोलेण्ड, चेकोस्लोवाकिया तथा इटली मे छूट गयी; हंगेरियन लोगो के एक भाग को हंगरी मे अलग कर दूसरे राज्यो मे मिला दिया गया। लिथूनियन तथा रुथेनियन लोगो की एक बडी संख्या पोलेण्ड तथा चेकोस्लोवाकिया मे मिला दी गयी। बहुत से ऑस्ट्रियन तथा अलबानियन लोग यूगोस्लाविया मे और हंगेरियनो, बलगेरियनो तथा रुथेनियनो के कुछ महत्वपूर्ण समूह रुमानिया मे मिला दिए गए। इसी प्रकार जो प्रदेश यूनान मे मिलाए गए उनमें तुर्क, बलगेरियन तथा अलवेनियन लोग संख्या मे यूनानियो से बहुत अधिक थे। बेसारेबिया को रूस तथा ट्रान्सिलवेनिया को हंगरी से लेकर रुमानिया को दे दिया गया। ऑस्ट्रिया का क्षेत्रफल घटाकर एक छठवां कर दिया गया और उसे जर्मनी मे सम्मिलित होने से मना कर दिया गया, यद्यपि ऑस्ट्रिया की जनता प्रजाति की दृष्टि से मुख्यत: जर्मन है।

यह स्थिति पूर्णत सन्तोषप्रद नही है, क्योकि इसने अनेक देशो मे अपने-अपने लोगो को दूसरे देशो से वापस लेने के लिए आन्दोलनो को जन्म दिया, जिनसे भयानक संघर्ष की सम्भावना है। सबसे अधिक असन्तोष जर्मनो तथा हंगरी की जनता मे है; चाहते है कि उनकी सीमाएं फिर से निश्चित की जाँय जिससे उनके जो लोग दूसरे राज्यो मे मिला दिए गए हैं, वे स्वदेश मे वापस आ जाँय।[1]

नवीन राज्यो की सीमाएं निर्धारित करते समय शान्ति-परिषद इस प्रकार से राज्यों का निर्माण न कर सकी कि प्रत्येक राज्यो मे केवल उसी राष्ट्र के लोग होते, क्योकि कई प्रदेशो मे अनेक राष्ट्रो के लोगो का बडा मिश्रण हो गया है। इसके अतिरिक्त आर्थिक, राजनैतिक एवं सैनिक कारणो से भी परिषद् के लिए राष्ट्रीयता के सिद्धान्त का अनुसरण करना कठिन हो गया। इस परिस्थिति में विशेषज्ञो ने वही किया जो इससे पहले कई बार किया जा चुका था। उन्होंने अपना तथा अपने साथियो का पक्ष लिया। इस प्रकार दक्षिणी टिरोल, जिसकी जनता प्राय: पूर्णत: जर्मन है, इटली को सौंप दिया गया; चेकोस्लोवाकिया को टेस्चेन को खानें दी गयी यद्यपि वहाँ भी जर्मनो का आधिक्य है; यूगोस्लाविया को मकदूनिया का एक बडा भाग दे दिया गया जिसमें बलगेरियन अधिक संख्या मे रहते हैं।

जनमत-संग्रह; राष्ट्रीयता की अनसुलझी समस्याएं

शान्ति-संधियो में, उन प्रदेशो में से कुछ में जो दूसरे राज्यो में मिला दिये गए थे, जनमत-संग्रह (Plebiscite) की व्यवस्था की गयी थी। ऐसे प्रदेश कुल नौ थे परन्तु जो जर्मन फ्रान्स तथा चेकोस्लावाकिया मे और जो जर्मन ऑस्ट्रियन

---

१. तुलना कीजिए, Coolidge, 'Dissatisfied Germany,' Foreign Affairs, Vol. IV (1925), pp, 35 ff. कुछ समस्याओं के समाधानों की फ्रेंच लेखकों ने भी आलोचना की है। रीन्स (Rennes) विश्वविद्यालय के प्रोफेसर गिरोद (Giraud) की राय है कि चेकोस्लोवाकिया में जो असंख्य जर्मन शामिल कर दिए हैं उनमें से अधिकांश एक ही प्रदेश में रहते हैं। वे जर्मनी में ही रखे जा सकते थे और उनको जर्मनी में ही रखना चाहिए था।

इटली मे तथा जो हंगरी के लोग दूसरे देशो मे मिला दिये गये, उन्हे यह अधिकार नहीं दिया गया।[1] शान्ति-सम्मेलन मे जर्मन प्रतिनिधि-मण्डल ने इसका तीव्र विरोध भी किया। राष्ट्रपति विलसन के आत्म-निर्णय के सिद्धात तथा विशेषकर उसके ११ फरवरी सन् १६१८ के भाषण का हवाला देकर उसने अपने कथन की पुष्टि की जिसमे राष्ट्रपति विलसन ने कहा था कि 'जनता तथा प्रदेशो को एक राज्य से दूसरे राज्य को इस प्रकार नहीं दे दिया जायगा मानो वे कोई पण्य हो। अब जनता का शासन उसकी अनुमति से ही होगा' परन्तु जर्मन-प्रतिनिधि-मण्डल से यह कहा गया कि सन् १८७१ मे जब जर्मनी ने अलसेस-लोरेन को हस्तगत किया तब फ्रेञ्च जनता के आत्म-निर्णय के अधिकार की उसने भी उपेक्षा की थी। उनसे यह भी कहा गया कि अलग किये हुये प्रदेशो क जर्मनो ने जनमत-सग्रह की माँग भी नहीं की थी और इसकी व्यवस्था केवल उन्ही प्रदेशो मे की गयी थी जहाँ जनता की इच्छा के विषय मे सन्देह था। स्पष्ट है कि यह बात मिथ्या थी। दूसरी बातो मे भी राष्ट्रीयता की समस्या का समुचित हल नही हो सका है। स्लोवाक जाति ने अपने पृथक स्वतन्त्र राज्य क दावे को त्याग दिया और चेकों के साथ मिलकर एक राज्य स्थापित किया। परन्तु फिर भी वे सन्तुष्ट नही हैं और उनकी शिकायत है कि बहुसख्यक चेक लोग उनको दबाये हुए हैं। इसी प्रकार क्रोट, सर्ब और स्लोवीन लोग भी एक राज्य मे मिल गये, स्लावीन लोगो की तो पूरी इच्छा भी नहीं थी। परन्तु क्रोट सन्तुष्ट नही हैं, वे स्वराज्य चाहते हैं। उनकी स्थिति ठीक वैसी ही है, जैसी कि ग्रेट ब्रिटेन और आयर्लैंड के अन्तर्गत कैथोलिक आयरिशो की थी। बेलजियम मे फ्लेमिश जनता स्वतन्त्रता तो नही चाहती परन्तु भाषा के अधिकारों के लिए सगठित आन्दोलन कर रही है। इस आन्दोलन का वहाँ की राजनीति मे काफी महत्वपूर्ण स्थान है। चेकोस्लोवाकिया मे रूथेनियन यह शिकायत करते हैं कि उन्हें स्वशासन पूर्ण रूपेण नहीं मिला है जैसा कि वादा किया गया था। इसी प्रकार यह भय है कि कालान्तर मे मट्रान्सिलवानिया के सैक्सन, आलन्द द्वीप के निवासी और मेमेल के जर्मन भी इसी प्रकार की शिकायत करेंगे। भारत मे राष्ट्रीयता की अग्नि भड़कती जा रही है[2] यदि राष्ट्रीयता के सिद्धान्त का अभिप्राय आत्म-निर्णय है तो ससार के विविध भागो मे राष्ट्रवादी आन्दोलनों क कारण अशान्ति पैदा होकर रहेगी।

मुख्य पाठ्य-ग्रन्थ

Acton,	"History of Freedom and Other Essays" (1919), Ch. 9.
Bluntschli,	"Theory of the State" Oxford translation (1892), Bk. II, Chs 2, 4
Buck,	"Language and Sentiment of National ty." *American Political Science Review* Vol XX (1916), pp 44 ff.
Buell,	"International Relations" (1925), Ch 2
Burgess,	"Political Science and Constitutional Law" (1891), Vol I, Chs 1-2

---

१. जनमत सग्रह के विषय मे देखिये, Garner, 'Recent Developments in International Law' (1925), pp. 403 ff तथा Buell, 'International Relations' (1925), pp. 37 ff.

२. भारत अब स्वतन्त्र हो गया है और यह समस्या भी समाप्त हो गयी है।

Burns,	"Political Ideals" (1917), Ch. 8.
Duguit,	"Souveraınete et liberte" (1922), Deuxieme Lecon.
Dunning,	"Political Theories form Rousseau to Spencer" (1920), Ch 8.
Fauchile,	"Droit international public" (1922), Vol I, Pt. I, pp. 11-17.
Gilchrist,	"Principles of Political Science" (1921), pp. 28-45; also his "Indian Nationality" (1910), Ch I.
Hankins, in Merriam,	Barnes and others, "History of Political Theories, Recent Times" (1924). Ch. 13
Hayes,	"Essays on Nationalism" (1926), Chs. 1, 2, 8.
Holcombe,	"The Foundation of the Modern Common-wealth" (1923), Ch 4
Lefur,	"Races, nationalites, etats" (1922), Ch. 2.
MacIver,	"The Modern State" (1926), pp 121-123.
Mill,	"Representative Goverment" (1861), Ch. 16.
Muir,	"Nationalism and Internationalism" (1917), Ch. 2, pp. 128 ff.
Rose,	"Nationality in History" (1916), various chaps.
Schuman,	*"International Politics" (1933), Ch. 9.*
Treitschke,	"Politics" (Translation by Dugdale and Torben de Bille, (1916), Vol I, Ch. 8.
Zimmern,	"Nationality and Government" (1919), Chs. 2-3.

राज्य, राष्ट्र तथा राष्ट्रीयता (क्रमश)

उपराष्ट्रों के अधिकार

आत्म-निर्णय का अधिकार

जैसा कि गत अध्याय में उल्लेख किया जा चुका है, आधुनिक राष्ट्रीयता का यह एक प्रमुख लक्षण है कि जिस जनता पर राष्ट्रीयता की छाप लग चुकी है, वह स्वतन्त्रता चाहती है और स्वेच्छानुसार एवं स्वनिर्मित स्वतन्त्र राज्य की आकांक्षा करती है या यदि वह एक ही राज्य में अन्य उपराष्ट्रों के साथ शामिल है तो कम से कम राज्यान्तर्गत स्वशासन चाहती है।[1] उन्नीसवीं सदी के मध्य में यह सिद्धान्त माना जाने लगा कि इस प्रकार की प्रत्येक जनता को अपने राजनैतिक भाग्य का निर्णय स्वयं करने का अधिकार है। जिन राज्यों में विभिन्न उपराष्ट्र रहते हैं, उन्हें अस्वाभाविक संयोग माना जाने लगा है और इस प्रकार ऐसे संयोगों में जो असन्तुष्ट उपराष्ट्र हैं उनका उस राज्य से अलग होकर अपना राज्य स्थापित करने का अधिकार माना जाता है। योरोप के कई देशों में ऐसा ही हुआ है। राष्ट्रपति विल्सन ने युद्ध काल में अपने भाषणों में अनेक बार अमर्यादित आत्म-निर्णय के अधिकार की परिभाषा की। उन्होंने कहा कि 'आत्म-निर्णय कोरा शब्द ही नहीं है, यह कर्म का अलंघनीय सिद्धान्त है, जिसकी उपेक्षा कर राजनीतिज्ञ खतरा मोल लेंगे।' आत्म-निर्णय के सिद्धान्त की, उसके तात्त्विक परिणाम के विचार से, व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है— 'प्रत्येक उपराष्ट्र एक राज्य है।' क्या इस प्रकार के अधिकार का समर्थन किया जा सकता है? और यदि यह अधिकार सिद्धान्त रूप में मान भी लिया जाय तो क्या व्यवहार में यह वांछनीय होगा? लॉर्ड कर्जन ने सन् १६२३ में लासेन (Lausanne) की कॉन्फ्रेंस में कहा था कि आत्म निर्णय की तलवार दुधारी है और उसे कुछ अपवादों के साथ ही स्वीकार किया जा सकता है। आत्म-निर्णय का सिद्धान्त पूर्व समय में एकता स्थापित करने वाली शक्ति के रूप में रहा है और अब भी है, परन्तु वह एक विभाजनकारी शक्ति के रूप में काम कर सकता है और वर्तमान काल में ऐसा कर भी रहा है। यदि इस सिद्धान्त का प्रयोग हर मामले में किया जाय तो इससे संसार के अनेक विद्यमान् प्राचीन राज्य छिन्न-भिन्न हो जायेंगे। इसका परिणाम होगा स्कॉटलैंड एवं वेल्स का ग्रेट ब्रिटेन से और दक्षिणी अफ्रीका तथा फ्रेन्च कनाडा का ब्रिटिश साम्राज्य से पृथक्करण। इसका परिणाम होगा बेल्जियम का दो भागों में तथा

---

१. इसके अपवाद भी हैं। ग्रेट ब्रिटेन में स्कॉट तथा वेल्श लोग और स्विटजरलैंड में फ्रेंच, जर्मन तथा इटेलियन लोग सन्तुष्ट हैं और अलग राज्य की माँग नहीं करते।

स्विटजरलैंड का तीन राज्यों में विभाजन। यदि इस सिद्धान्त का समुचित रूप से पालन किया जाय तो फ्रान्स में ब्रिटन लोगों, स्पेन में केटेलन लोगों, ऑस्ट्रिया का वोगलवर्ग तथा मेक्सिको के यूकेटन प्रदेश, संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के जर्मन, नॉरवेजियन तथा इटालियन भागों, और अर्जेन्टाइना के इटालियन जिलों को राजनीतिक स्वतन्त्रता मिल जायगी। इससे एड्रियाटिक तट के डेलमेशियन नगर अपने पृष्ठदेश से पृथक् हो जायेंगे। यदि यह सत्य है, जैसा कि राष्ट्रपति मसारिक ने अपने 'योरोपियन संकट में छोटे राष्ट्र' नामक पुस्तिका में लिखा है कि योरोप में ६८ योरोपियन उपराष्ट्र हैं, तो प्रत्येक उपराष्ट्र के एक पृथक राज्य के सिद्धान्त के अनुसार योरोप में २८ राज्यों के स्थान पर ६८ राज्य स्थापित हो जायेंगे। परन्तु इसमें सन्देह है कि क्या इस प्रकार छोटे राज्यों की अधिकता स्वयं उनके लिए अथवा सार्वजनिक कल्याण एवं शान्ति के लिए हितप्रद होगी।

आत्म-निर्णय के अधिकार की मर्यादाएं

प्रत्यक्षतः आत्म-निर्णय अथवा स्वभाग्य-निर्णय के अधिकार की अनेक मर्यादाएं भी हैं। यदि राज्य में प्रत्येक समुदाय का जो शेष जनता से जाति या भाषा की दृष्टि से अलग हो पृथक् राष्ट्र अथवा राज्य स्थापित करने का अधिकार मान लिया जाय और उसे दे दिया जाय तो इससे राज्य में अराजकता एवं अव्यवस्था ही पैदा होगी। सन् १६२० में राष्ट्रसंघ की कौंसिल ने कुछ कानून-विशारदों की एक समिति यह जांच करने के लिए नियुक्त की थी कि आलन्द द्वीपों को फिनलैंड से पृथक होकर स्वीडेन के साथ मिलने का अधिकार है या नहीं। सन् १६१८ तथा १६१६ में जनमत-संग्रह सर्वसम्मति से पृथक्करण के पक्ष में रहा। इस समिति ने अपनी यह राय दी कि किसी भी राज्य की जनता के एक भाग का उस राज्य से पृथक होकर अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने का अधिकार अन्तर्राष्ट्रीय विधान के किसी भी नियम द्वारा मान्य नहीं है, जैसे दूसरे राज्यों का इस प्रकार के पृथक्करण की मांग का अधिकार नहीं माना जा सकता। सामान्यता किसी समुदाय को लोकमत द्वारा या अन्य किसी प्रकार से अपने राजनीतिक भाग्य का निर्णय करने का अधिकार देना या न देना उस राज्य की प्रभुत्व-शक्ति की एक विशेषता है, जो उपयुक्त रीति से संगठित एवं प्रतिष्ठित है। इस समिति ने यह भी मत प्रकट किया कि आलन्द द्वीपों के निवासियों के स्वभाग्य निर्णय के अधिकार की स्वीकृति से वर्त्तमान राज्यों की प्रभुत्व-शक्ति पर आघात होगा और इससे राज्य का स्थायित्व संकट में पड़ जायगा। यही नहीं, इससे अन्तर्राष्ट्रीय समाज के हितों के लिए भी एक महान् खतरा पैदा हो जायगा।

मिल का राष्ट्र-राज्य का सिद्धान्त

जॉन स्टुअर्ट मिल के इस वाक्य का प्रायः हवाला दिया जाता है कि 'स्वतन्त्र संस्थाओं की सामान्यतया यह आवश्यक शर्त है कि राज्यों तथा राष्ट्रों की सीमाएं एक होना चाहिए।'[1] मिल ने यह स्वीकार किया कि यह विचार एक आदर्श मात्र है, भौगोलिक कारणों से इसको व्यवहार में लाना सम्भव नहीं है, क्योंकि विभिन्न उप-राष्ट्रों का इस प्रकार परस्पर सम्मिश्रण हो गया है कि उनका एक पृथक् राज्य के रूप में संगठन हो नहीं सकता। यह बात पोलैंड तथा चेकोस्लोवाकिया में स्थित जर्मनी के सम्बन्ध में सत्य है। अनेक भागों में वे पोलैंण्ड तथा चेकोस्लोवाकिया रूपी समुद्रों में छोटे द्वीपों के समान हैं। युगोस्लावाकिया तथा रूमानिया में तुर्क और रूमानिया

१. "देखिये, Mill, 'Representative Government' Ch. 16.

में मैक्सन भी कुछ-कुछ इसी स्थिति में हैं। प्रत्यक्षतः मिल का आदर्श ऐसे छोटे छोटे राज्यों में विभक्त संसार था जो अधिकतर क्षेत्रफल में छोटे हों और जो अपने साधनों में स्वाश्रयी न हों। इस आदर्श के मानने वाले आज बहुत कम मिलेंगे।[1] मिल ने यह भी कहा कि 'जहाँ राष्ट्रीयता की भावना किसी अंश तक जोरदार रूप में विद्यमान है, वहाँ उस उपराष्ट्र के समस्त सदस्यों को उन्हीं के एक पृथक् शासन के अधीन एकत्र कर देना चाहिए। इसका प्रयोजन यही है कि शासन निर्माण का प्रश्न शासितों के द्वारा ही तय होना चाहिए। यदि मानव-जाति के एक भाग को यह निर्णय करने का अधिकार नहीं है कि वह किस मानव-समुदाय या संस्था के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित करेगा, तो यह समझ में नहीं आता कि फिर मानव जाति का कोई भाग किस कार्य को करने में स्वतन्त्र है।' इसका तात्पर्य तो यह है कि जो जनता उपराष्ट्र के रूप में संगठित है, उसे स्वभाग्य-निर्णय का अधिकार है—अर्थात् उसे यह निश्चय करने का अधिकार है कि वह राजनीतिक दृष्टि से किसके साथ मिल कर रहेगी। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वे जिस राज्य के अंग हैं, उनसे उन्हें पृथक् होकर अपना स्वतन्त्र राज्य संगठित करने का भी अधिकार है। इस सिद्धान्त को सामान्यतया स्वीकार करते हुए भी हम इस बात का उल्लेख किये बिना नहीं रह सकते कि इस अधिकार की भी मर्यादाएं हैं। वे मर्यादाएं यदि तोड़ दी गयी तो कई प्राचीन राज्यों के टुकड़े हो जायेंगे। मिल ने एक तीसरा मत भी इस प्रकार व्यक्त किया है कि 'जो देश या राज्य विविध उपराष्ट्रों के मिश्रण से बने हैं उनमें स्वतन्त्र संस्थाओं का अस्तित्व असंभव सा है।' इस मत का भी विरोध किया गया है। उसने लिखा है कि 'जिन लोगों में परस्पर बंधुभावना नहीं, विशेषकर यदि वे भिन्न-भिन्न भाषाएं बोलते तथा लिखते हैं तो उनमें प्रतिनिधि शासन के लिये आवश्यक संयुक्त लोकमत का निर्माण संभव नहीं।' स्विट्जरलैण्ड का इतिहास मिल के इस कथन को मिथ्या प्रमाणित करता है। उस की आबादी में, यदि थोड़े रोमनाश भाषा भाषियों को छोड़ भी दिया जाय तो, फ्रेंच, जर्मन तथा इटालियन—तीन प्रमुख उपराष्ट्र हैं, जो एक लम्बे समय से परस्पर शान्ति पूर्वक रह रहे हैं। यह कहना सत्य के प्रति अन्याय होगा कि स्विट्जरलैण्ड में 'स्वतन्त्र संस्थाएं' नहीं हैं और न यह कहना ही न्यायसंगत होगा कि संयुक्त लोकमत के अभाव में वहाँ प्रतिनिधि-शासन सफल नहीं हो सका है। इसी प्रकार बेलजियम में जहाँ की जनता दो उपराष्ट्रों में विभक्त है, जहाँ दो भाषाएँ बोली तथा लिखी जाती हैं, उच्च-कोटि की स्वतन्त्र संस्थाएं एवं प्रतिनिधि शासन विद्यमान हैं। यह सत्य है कि भाषा के प्रश्न को लेकर जनता में विवाद खड़े होते रहे हैं, परन्तु इन विवादों ने कभी ऐसा रूप धारण नहीं किया जिससे राज्य के छिन्न-भिन्न हो जाने तक की नौबत आ जाय। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका ऐसे राज्य का उदाहरण है जिसमें अनेक जातियाँ और भाषाएं हैं, परन्तु इनके होते हुए भी वहाँ स्वतन्त्र संस्थाओं का विकास दूसरे कई ऐसे देशों की अपेक्षा जिनमें प्रजाति की दृष्टि से जनता एकवर्गी है, अधिक सफलता के साथ हुआ है और यह कहना कठिन होगा कि वहाँ उच्च कोटि की स्वतन्त्र संस्थाएं नहीं हैं।

एक-राष्ट्रीय राज्य के सिद्धान्त की समालोचना

एक राष्ट्रीय राज्य के सिद्धान्त (Theory of the Mono-national State)

---

१. तुलना कीजिए, Zimmern, Nationality and Government (1919), p. 61.

की अनेक विद्वान् लेखकों ने आलोचना की है। इस सिद्धान्त का अभिप्राय यह है कि किसी भी राज्य की सीमाएं राष्ट्र की सीमाओं के अनुसार हों। एक लेखक गमप्लाविज (Gumplowicz) का मत है कि इस विचार का कोई समाज-वैज्ञानिक एवं ऐतिहासिक आधार नहीं है कि इस प्रकार का एक राष्ट्र द्वारा संगठित राज्य अनेक उपराष्ट्रों द्वारा संगठित राज्य की अपेक्षा आवश्यक रूप से अधिक शक्तिशाली होता है। उसने यह बड़े दावे के साथ कहा है कि जिन राज्यों में अनेक उपराष्ट्र होते हैं, उनमें उन राज्यों की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्रता होती है, जिनमें जनता प्रजाति की दृष्टि से एकवर्ण होती है और इसके समर्थन में उसने स्विट्जरलैण्ड का उल्लेख किया है। इसी प्रकार ब्लु़टश्ली ने भी इस लेखक के विचारों का समर्थन किया है कि राज्य में विविध विदेशी तत्वों के सम्मिलित होने के कारण उसमें विशदता, विविधता आती है जिससे दूसरे राज्यों की जनता के साथ परस्पर अधिक घनिष्टता एवं सम्पर्क स्थापित करने तथा बनाये रखने में सहायता मिलती है। इससे 'सोने में सुहागे' की कहावत चरितार्थ होती है।[१] एक लेखक ने ऑस्ट्रिया के सम्राट फ्रान्सिस द्वितीय के निम्नलिखित वचनों को उधृत किया है जो उसने एक फ्रेन्च राजदूत के सामने कहे थे। 'मेरी प्रजा परस्पर एक दूसरे के लिए परदेशी है, परन्तु यह अच्छे के लिए ही है। एक ही समय उन्हें एक ही रोग नहीं सताता। जब फ्रान्स में ज्वर का प्रकोप जनता पर होता है, तो सब एक ही दिन ज्वर में पीड़ित हो जाते हैं। मेरे राज्य में इटली में हंगेरियन है और हंगेरी में इटालियन। प्रत्येक अपने पड़ोसी पर सशंक दृष्टि रखता है; वे एक दूसरे को नहीं समझते और वास्तव में वे एक दूसरे से घृणा करते हैं। उनकी इन विरोधी प्रवृत्तियों से व्यवस्था की प्रतिष्ठा और उनकी पारस्परिक घृणा की प्रवृत्ति से सामान्य शान्ति की स्थापना में सहायता मिलती है।'

राष्ट्रीयता के सिद्धान्त का लार्ड एक्टन द्वारा खण्डन

वर्त्तमान युग के एक सर्वाधिक प्रसिद्ध विद्वान् इतिहासकार लॉर्ड एक्टन ने राष्ट्रीयता के सिद्धान्त का खण्डन किया है। उसके विचार में 'राष्ट्रीयता का सिद्धान्त (जहाँ तक वह राज्य के निर्माण के लिए राष्ट्रीयता को आवश्यक समझता है) समाजवाद (Socialism) के सिद्धान्त से भी अधिक असंगत और अपराधी है।'[१] कोई भी परिवर्तन का सिद्धान्त, कोई भी राजनैतिक कल्पना का रूप इससे अधिक व्यापक, स्वेच्छाचारी एवं विनाशकारी नहीं है। यह लोकतन्त्र का निषेध करता है क्योंकि इससे जनमत के प्रयोग पर प्रतिबन्ध लगता है और उसके स्थान पर एक उच्चतर सिद्धान्त की स्थापना करता है। एक राज्य के अन्तर्गत अनेक उप-राष्ट्रों का सम्मिलन सभ्यता की उसी प्रकार एक आवश्यक शर्त है जिस प्रकार समाज में विविध प्रकार के लोगों का मिलन। एक ही राज्य में बौद्धिक दृष्टि से उच्च जातियों के सम्पर्क में रहने से निरन्तर जातियाँ उन्नति करती हैं, पतनोन्मुख एवं क्लान्त राष्ट्र नवीन तथा स्फूर्तियुक्त जातियों के सम्पर्क से पुनर्जीवन प्राप्त करते हैं। जिन राष्ट्रों में निरंकुश शासन के अनैतिकतापूर्ण प्रभाव तथा लोकतन्त्र के विभाजनकारी प्रभाव के कारण संगठन के तत्वों एवं शासन की क्षमता का पतन हो चुका हो, वे शक्तिशाली तथा कम दूषित जातियों के अनुशासन में सुधर जाते हैं और उन्हें नई शिक्षा मिलती है।

---

१. "देखिये, Theory of State. p. 105. तुलना भी कीजिये Trietschke, Politics, Vol. I, p. 273.

ऐसा ओज एवं पुनर्जीवन एक शासन के अन्तर्गत रहने से ही प्राप्त होता है। एक राज्य के अन्तर्गत इस प्रकार विभिन्न जातियों के मिलन के फलस्वरूप मानव-जाति के एक भाग का ओज, ज्ञान तथा उसकी योग्यता दूसरे भाग के लिए सुलभ होती है। जहाँ राष्ट्रीय एवं राजनैतिक सीमाएं समान होती हैं वहाँ समाज की प्रगति रुक जाती है और राष्ट्र की स्थिति वैसी ही हो जाती है जैसी उन मनुष्यों की जिनका अपने साथियों के साथ कोई सम्पर्क नहीं रहता। एक राज्य के अन्तर्गत अनेक उपराष्ट्रों की विद्यमानता उसकी स्वतन्त्रता की कसौटी ही नहीं, गारन्टी भी है। यह मानव सभ्यता का एक प्रमुख साधन भी है। इस प्रकार यह वास्तव में प्राकृतिक एवं ईश्वरीय व्यवस्था है और इससे जो उन्नति की अवस्था प्रकट होती है वह राष्ट्रीय एकता-जन्य प्रगति (जो आधुनिक उदारवादी आदर्श है) से कहीं अधिक ऊँची होती है। जिन राज्यों में प्रजातियों का मिश्रण नहीं है, वे अपूर्ण हैं और जिनमें जातियों के मिश्रण का प्रभाव नष्ट हो गया है वे निर्बल हैं।"[1]

लॉर्ड एक्टन के विचारों की समीक्षा

लॉर्ड एक्टन ने एक-राष्ट्रीय राज्य की जैसी आलोचना तथा बहुराष्ट्रीय राज्य का जैसा समर्थन किया है वैसा कभी किसी अन्य लेखक ने नहीं किया। लॉर्ड एक्टन ने बहुराष्ट्रीय राज्य के मनुष्य के चरित्र पर प्रभाव तथा सभ्यता की प्रगति में उसके योगदान की दृष्टि से उसके महत्व के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है, उसमें बहुत कुछ सत्य है तथापि उसमें अतिशयोक्ति भी है। लॉर्ड एक्टन के इन विचारों को न तो इतिहास और न वास्तविक अनुभव द्वारा ही समर्थन मिलता है जैसे बहु-राष्ट्रीय राज्य का निर्देश ईश्वर ने किया है, वह स्वतन्त्रता की रक्षा की सर्वोत्तम गारन्टी है, एक-राष्ट्रीय राज्य अपूर्ण है तथा सभ्यता पूर्ण जीवन के लिए एक राज्य के अधीन विविध उपराष्ट्रों का सम्मिलन उसी प्रकार परम आवश्यक है जिस प्रकार समाज में अनेक व्यक्तियों का सहवास।

बहुराष्ट्रीय राज्य के लाभ एक-राष्ट्रीय राज्य के लाभों की अपेक्षा केवल आदर्श स्थितियों में ही अधिक रहते हैं। वैसी स्थितियाँ स्विट्जरलैण्ड, ग्रेट ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमेरिका में उपस्थित हैं जहाँ विविध उपराष्ट्र परस्पर मिल कर स्वेच्छापूर्वक एक ही शासन-प्रणाली के अन्तर्गत रहते हैं, जहाँ वे अपनी संयुक्त स्थिति से सन्तुष्ट हैं जहाँ उनके विचार एवं हित समान हैं, जहाँ उन्हें कोई अधिक शक्तिशाली उपराष्ट्र त्रस्त नहीं करता और जहाँ उन्हें अपनी भाषा, अपने बालकों की शिक्षा और निज धर्म पालन के अधिकारों के उपभोग से कोई नहीं रोकता। दूसरी ओर उन राज्यों में जिनका निर्माण बलपूर्वक दूसरे राष्ट्रों को मिलाने से हुआ है अथवा जिनका निर्माण हुआ तो उपराष्ट्रों की स्वेच्छा से, परन्तु जिनमें कोई उपराष्ट्र बाद में असन्तुष्ट हो गया, हम वे लाभ प्राप्त नहीं हो सकते जिनका वर्णन लॉर्ड एक्टन ने किया है।

---

1. देखिए, History of Freedom and other Essays, pp. 289 98 तथा Zimmern. Nationality and Government, pp. 20-48. जिमर्न एक्टन का समर्थन करता है। वह कहता है कि समय ने एक्टन के विचारों की सत्यता प्रमाणित कर दी है। मनुष्यों की तरह राष्ट्र भी मिलकर काम करने के लिए बनाये गये हैं, प्रतिद्वन्द्विता के लिए नहीं। आधुनिक राज्य कई प्रकार के राष्ट्रों से मिलकर बनता है।

असन्तुष्ट उपराष्ट्र, शान्ति की समस्या तथा सामान्य सभ्यता की प्रगति की दृष्टि से ऐसी अवस्था में राज्य का विभाजन वांछनीय होता है, यदि ऐसा असन्तुष्ट जन-समुदाय राज्य की समस्त जन संख्या का एक काफी बड़ा भाग हो। इस प्रकार यह मानना पड़ेगा कि आयरिश, पोल, चेक, दक्षिणी स्लाव, बाल्कन प्रजातियों आदि उपराष्ट्रों को जो स्वतन्त्रता दी गयी है, उसके कारण केवल उन राज्यों की स्थिति में ही सुधार नहीं हुआ जिनसे वे अलग हुए वरन् सामान्य शान्ति की स्थापना में भी उससे बड़ा योग मिला है। इस प्रकार के उपराष्ट्रों को दबा कर रखने तथा उन पर उनकी इच्छा के विरुद्ध शासन करने की जगह उन्हें अस्वाभाविक संयोगों का परित्याग कर अपने स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने की केवल अनुमति ही नहीं मिलना चाहिये, उन्हें ऐसा करने के लिए प्रोत्साहन भी मिलना आवश्यक है, ऐसा कुछ विद्वानों का मत है।[1] हमारे कथन का निष्कर्ष यह है कि जहाँ किसी भी राज्य में कोई भी उपराष्ट्र, जो उसकी जनसंख्या का एक काफी बड़ा भाग है, असन्तुष्ट है तो यदि आत्म निर्णय के अधिकार का कोई अर्थ है, उसे एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना का नैतिक अधिकार है, यद्यपि राष्ट्रसंघ की विधान-वेत्ताओं की एक समिति ने आलन्द द्वीपों के मामलों में अपनी यह राय ठीक ही दी है कि आत्म-निर्णय के अधिकार को अन्तर्राष्ट्रीय विधान ने स्वीकार नहीं किया है।

उपराष्ट्र की समस्याएं

एक राज्य के अन्तर्गत एक से अधिक उपराष्ट्र हो सकते हैं और वे जनसंख्या में समान हो सकते हैं अथवा असमान। जहाँ वे जनसंख्या में असमान होते हैं, वहाँ यह सम्भव है कि जो उपराष्ट्र जनसंख्या की दृष्टि से सब से छोटा हो, वह सभ्यता एवं संस्कृति में श्रेष्ठतम हो। ऐसी स्थिति में वह दूसरे उपराष्ट्रों पर अपनी श्रेष्ठता अथवा बल-प्रयोग के द्वारा अपना आधिपत्य स्थापित कर सकता है। इस प्रकार आधिपत्य स्थापित करने की नीति के सम्बन्ध में मिल ने कहा है कि 'सभ्य मानवता को एक मत होकर उसका विरोध करने के लिए खड़ा हो जाना चाहिए।'[2] इस सम्बन्ध में जर्मन विद्वान् ट्रीट्स्के का मत था कि ऐसी अवस्था में जो उपराष्ट्र सभ्यता में श्रेष्ठ एवं उच्च है उसी के हाथ में सत्ता भी होनी चाहिए।[3] यदि दुर्बल उपराष्ट्रों के अधिकारों की रक्षा के लिए कोई व्यवस्था कर दी जाय तो यह सिद्धान्त वास्तव में न्यायसंगत हो सकता है। इस जर्मन विद्वान् ने यहाँ तक लिखा है कि विजय प्राप्त करने पर विजेता को स्वाभाविक रूप से विजित लोगों पर अपनी सभ्यता एवं संस्कृति को लादने का भी अधिकार होना चाहिए। उसने कहा है कि जर्मनों ने प्रशा की आदिम जातियों को अपना यह निश्चय कर लेने दिया है कि वे अपने विरुद्ध तलवार का प्रयोग चाहती हैं अथवा पूर्ण रूप से जर्मन बन जाना। ... परिवर्तन की ये प्रणालियाँ निर्दयी भले ही समझी जाँय; परन्तु वे मानवता के लिए एक आशीर्वाद हैं। श्रेष्ठतम जाति द्वारा निम्नतम जातियों के हजम कर लिए जाने से राष्ट्र का स्वास्थ्य ठीक रहता है।[4] प्रथम विश्व-युद्ध से पूर्व हंगरी में मगयार जाति का दूसरी जाति पर आधिपत्य एक जाति द्वारा दूसरी जाति पर आधिपत्य का एक अच्छा

१. तुलना कीजिए, Lecky, 'Democracy and Liberty', Vol. I. p. 392
२. देखिये, Mill, Representative Government' Ch. 16,
३. देखिये, Trietschke, 'Politics,' Vol. I. p. 283.
४. उपर्युक्त, पृष्ठ १२१

उदाहरण था, यद्यपि मगयार लोगो का दावा था कि वे केवल सांस्कृतिक तथा आर्थिक दृष्टि मे ही अन्य जातियो से श्रेष्ठ नही थे वरन् अन्य जातियो की सम्मिलित जन-संख्या से भी अधिक थे। यह अवश्य था कि अन्य जातियाँ इस बात को नहीं मानती थी।

मिल ने लिखा है कि यदि सांस्कृतिक दृष्टि से श्रेष्ठ परन्तु संख्या की दृष्टि से छोटा उपराष्ट्र दूसरे उपराष्ट्रो पर आधिपत्य जमाने मे सफलता प्राप्त कर ले, तो इसमे प्राय *सभ्यता को लाभ पहुँचता है, परन्तु ऐसी अवस्था में विजेता तथा विजित* एक ही प्रकार की स्वतन्त्र संस्थाओ के अन्तर्गत नही रह सकते। परन्तु यदि यह आधिपत्य स्थापित करने वाला उपराष्ट्र संस्कृति और संख्या दोनो मे महान् एव विशाल हो और जिस उपराष्ट्र पर उसका आधिपत्य है वह संख्या मे छोटा तथा स्वतन्त्रता प्राप्त करने मे अयोग्य हो और यदि उसका शासन ठीक प्रकार हो तो कालान्तर मे वह उस बडे उपराष्ट्र के साथ अपना झगडा भूल कर सम्मिलित हो जायगा। सबसे विकट स्थिति तो वह है जहाँ एक राज्य के अन्तर्गत अनेक उपराष्ट्र हों और वे संख्या एव सभ्यता में भी समान हो। ऐसी अवस्था मे उन उपराष्ट्रो का मेल प्राय देर से होता है या नही भी हो सकता है। उनमे से प्रत्येक अपनी आन्तरिक शक्ति म विश्वास रखते हुए तथा दूसरा के साथ बराबरी के दर्जे पर युद्ध करने की क्षमता का अनुभव करते हुए उसमे शामिल होना नही चाहता; प्रत्येक उपराष्ट्र अपनी विलक्षणताओ को कायम रखना चाहता है; और ऐसा करने मे वह मृतःप्राय रीति रिवाजो को एवं मृत भाषाओ तक को पुन. जीवित करने का प्रयत्न करता है; इससे उपराष्ट्रो के बीच भेद की खाई और भी चौडी हो जाती है। यदि प्रतियोगी उपराष्ट्र के कर्मचारियों द्वारा शासन का कोई भी कार्य किया जाता है तो उस उप-राष्ट्र वाले उसे नृशंस अत्याचार मानते हैं। इसी प्रकार परस्पर विरोधी उपराष्ट्रों मे से किसी एक के लिए कुछ किया जाय तो अन्य सब उसे ऐसा समझते हैं मानों वह वस्तु उसे उनसे छीन कर दी गई है। मिल ने आगे लिखा है कि यदि इस प्रकार के *उपराष्ट्र किसी ऐसे निरंकुश शासन के अधीन रहे, जो सबके साथ एक सा बर्ताव* करे तो कुछ पीढियों बाद उनमे परस्पर बन्धुभाव का प्रादुर्भाव हो जायगा और वे मिलकर रहने लगगे। परन्तु यदि इस प्रकार के सहयोग एव मिलन की प्रतिष्ठा से पूर्व ही उनमें स्वतन्त्रता की आकांक्षा जग गई, तो स्वतन्त्रता एव मेल की दृष्टि से उसका सम्बन्ध विच्छेद उचित ही नहीं, आवश्यक हो जाता है।

उपराष्ट्रों के दूसरे अधिकार : (१) जीवित रहने का अधिकार

एक असन्तुष्ट उपराष्ट्र को उस राज्य से स्वतन्त्र हो जाने तथा अपना स्वतन्त्र राजनीतिक संगठन कायम करने के अधिकार के औचित्य के सम्बन्ध में, अन्तर्राष्ट्रीय विधान या नैतिकता की दृष्टि से इस अधिकार में चाहे जितना मतभेद क्यो न हो, इस बात में सब लोगों का मत है कि उसके कुछ महत्वपूर्ण अधिकार हैं, जिनकी उस उपराष्ट्र को रक्षा करनी चाहिए जिसकी शासन में प्रधानता है। ब्लुण्ट्श्ली ने कहा है कि इन अधिकारो में सबसे 'प्रथम तथा अत्यन्त स्वाभाविक' 'जीवित रहने का अधिकार' है जो अन्य अधिकारो का आधार है। उपराष्ट्र एक ऐतिहासिक रचना है; वह एक मानव समुदाय है जो जाति, भाषा एव संस्कृति के बंधनो से बँधा हुआ है। वह ऐसा जन-समूह है जिसका अपने कुछ सामान्य तत्वो के कारण अस्तित्व है और जो इसी कारण राज्य की शेष जनता से अपने को भिन्न समझता है। सार्वजनिक नीति में कोई ऐसी

बात नही है जिससे किसी राज्य द्वारा इन उपराष्ट्रों की भाषा, साहित्य, संस्कृति, रीति-रिवाज और धर्म का दमन करके उनके व्यक्तित्व का नाश उचित ठहराया जा सके।

(२) भाषा का अधिकार

राष्ट्रीयता का सबसे शक्तिशाली बंधन और उसकी सबसे अनोखी सम्पत्ति है—भाषा। अतः राज्य के अन्तर्गत उपराष्ट्रों को यह नैतिक अधिकार है कि वे अपनी भाषा की रक्षा करें, उसे बोलें तथा उसके द्वारा अपने बालकों को शिक्षा दें और अपने साहित्य की रचना में उसे स्थान दें।

परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि उनकी भाषाएँ राज-भाषा के समान स्थान प्राप्त कर लें और उनका प्रयोग धारासभा, न्यायालय, शासन तथा सेना में भी हो। व्यावहारिकता की दृष्टि से इन सब बातों के लिए एक भाषा का प्रयोग ही उचित होता है। यह सम्भव है कि अन्य भाषाओं के बोलने वाले थोड़े हों। ऐसी अवस्था में जिस भाषा का प्रयोग राज्य की बहुसंख्यक जनता के द्वारा किया जाता हो, उसे यदि राज-भाषा का रूप दिया जाय तो इसमें कोई आपत्ति या कठिनाई नहीं होती। इस प्रकार वेल्श, बास्क, वेण्ड, ब्रीटन तथा स्विट्जरलैण्ड में रोमनास भाषा बोलने वाला यह दावा नहीं कर सकते कि धारासभाओं तथा न्यायालयों में अन्य भाषाओं के साथ उनकी भाषाओं का भी प्रयोग हो। परन्तु जिन राज्यों में उपराष्ट्रों की जनसंख्या समान है, उनमें इस सम्बन्ध में कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। स्विट्जरलैण्ड में फ्रेन्च, जर्मन तथा इटालियन भाषा-भाषी जनता समान संख्या में है। इसलिए ये तीनों भाषाएँ समान कोटि की मानी जानी चाहिए और वे बराबर मानी भी जाती हैं और वहाँ की धारासभा, न्यायालय, पुलिस तथा कार्यालयों में तीनों भाषाओं में कार्य किया जाता है अर्थात् वहाँ ये तीनों भाषाएँ राज भाषाएँ मान ली गयी हैं। प्रथम विश्व-युद्ध के बाद किये गये विभाजन से पूर्व ऑस्ट्रिया-हंगरी की पार्लमेंटों में कई राज भाषाओं के रूप में बोली जाती थी। हंगरी में मगयार जाति की निरन्तर एक बड़ी शिकायत यह रहती थी कि हंगरी की सेना में मगयार जाति को अपनी भाषा के प्रयोग का अधिकार नहीं था और इस कारण मगयार सैनिक को जर्मन भाषा सीखना पड़ता था। दूसरी ओर ऑस्ट्रिया में बोहेमिया प्रदेश के जर्मन लोग अपने प्रदेश के स्थानीय शासन प्रबंध में जर्मन भाषा को एक राजभाषा के रूप में स्वीकार कराने के लिए सतत आन्दोलन करते रहे।

जातीय अल्पमत के सम्बन्ध में जर्मन नीति

अल्सेस लोरेन में फ्रेन्च, स्लेसविग-होल्स्टीन में डेन तथा जर्मन-पोलिश प्रदेश में पोल जनता द्वारा अपनी भाषाओं के प्रयोग के नियंत्रण के सम्बन्ध में जर्मन सरकार की नीति की आलोचना की जाती थी। अल्सेस-लारेन में जर्मन भाषा वहाँ के शासन-प्रबन्ध, धारासभा, तथा न्यायालय की भाषा स्वीकार कर ली गयी थी। यह तो उचित था परन्तु जर्मन भाषा का प्रयोग स्कूलों में भी अनिवार्य कर दिया गया। फ्रेंच भाषा का प्रयोग सड़कों के नामों, दूकानों के साइनबोर्डों तथा समाधि-प्रस्तर-खण्डों के लेखों के लिए भी निषिद्ध ठहरा दिया गया था। इसी प्रकार जर्मन पोलैण्ड में सार्वजनिक सभाओं तक में पोलिश भाषा के प्रयोग का निषेध कर दिया गया। आरम्भ में जिन स्कूलों में ५० छात्र जर्मन समझ सकते थे, उनमें भी पोलिश भाषा द्वारा शिक्षा देने का निषेध कर दिया गया था और अन्त में यह भी आज्ञा जारी कर

दी गयी थी कि सन् १६२८ के बाद समस्त स्कूलों में पोलिश भाषा का प्रयोग बन्द कर दिया जायगा। सन् १६०६ में जर्मन सरकार ने पोलिश भाषा का प्रयोग धार्मिक शिक्षा तक के लिए बन्द कर दिया था, जिसके कारण स्कूलों में हड़तालें हुईं तथा पोलिश जनता में घोर अशान्ति फैली।

दक्षिणी जटलैण्ड के प्रदेशों में जहाँ १,५०,००० डेन थे, *जर्मन नीति और भी* कड़ाई के साथ प्रयोग में लायी गयी। जन-संख्या तथा क्षेत्रफल देखते हुए यह कड़ाई और भी अधिक अक्षम्य थी। डेनिश भाषा का केवल शासन प्रबन्ध तथा न्यायालयों से ही बहिष्कार नहीं किया गया वरन् स्कूलों से भी वह धीरे-धीरे निकाल दी गयी, केवल धार्मिक शिक्षा ही उस भाषा में दी जाती रही। सन् १६०८ में उसका प्रयोग सार्वजनिक सभाओं में बन्द कर दिया गया। केवल चुनाव-सम्बन्धी सभाओं में तथा जहाँ ६० प्रतिशत से अधिक डेन जनता थी और वह डेनिश भाषा बोलती थी, वहाँ उसके प्रयोग की आज्ञा दी गयी। डेनिश रंगों (पताका) तथा डेनिश राष्ट्रीय गीतों का भी निषेध कर दिया गया। इन बातों को डेनिश जनता अत्याचार समझती थी और उसने उनका घोर विरोध किया, परन्तु सरकार ने उन लोगों को प्रशियन बनाने के लिए उन पर कड़ाई के साथ अमल किया। हजारों गिरफ्तार कर जेलों में ठूँस दिये गये या निर्वासित कर दिये गये।

बेल्जियम में फ्लेमिश आन्दोलन

पेरिस में शान्ति परिषद् के समय, मार्च सन् १६१६ में बेल्जियम की फ्लेमिश जनता ने राष्ट्रपति विल्सन के समक्ष अपनी अपील पेश की, जिसका निम्नलिखित अंश विचारणीय है। बेल्जियम में उस समय तक स्थायी शान्ति की स्थापना सम्भव नहीं जब तक हमारी जनता को इस बात का पूर्ण विश्वास नहीं हो जायगा कि उसका शासन उसकी शिक्षा तथा न्यायालयों में उसकी सुनवाई तथा सेना में उसका नेतृत्व उसकी निजी प्राचीन डच बोली को छोड़ कर अन्य किसी भाषा में न होगा और विदेशी नियन्त्रण को हटा कर उसे अपनी पुरातन सभ्यता के पुनर्जीवन का सुयोग न न दिया जायगा।' फ्लेमिंग लोगों का यह दावा है कि वे कुल जनसंख्या के ५७ प्रतिशत हैं तथापि उन पर फ्रेंच भाषा लाद दी गयी। बाद में फ्लेंडर्स में फ्लेमिंग भाषा फ्रेन्च भाषा के *समान ही मान ली गयी तथा शासन, सेना, न्यायालय* आदि में उसे समान स्थान मिल गया। परन्तु फ्लेमिंग जनता की यह शिकायत है कि फ्रेंच भाषी अफसरों तथा न्यायाधीशों ने व्यवहार में फ्रेंच का ही आधिपत्य बनाये रखा। उन्होंने यह भी शिकायत की कि राज्य का ऐसा कोई विद्यालय या विश्व-विद्यालय नहीं था, जहाँ फ्लेमिंग युवक अपनी भाषा में पूर्ण शिक्षा प्राप्त कर सकते। उन्होंने यह माँग की कि घेंट का विश्व विद्यालय एक फ्लेमिश संस्था में परिणत कर दिया जाय। हाल ही में कानून द्वारा इस माँग को आंशिकरूप में स्वीकार कर लिया गया है। उनकी यह भी शिकायत थी कि समस्त सरकारी पाठ्य पुस्तकें, रिपोर्टें, सरकारी पत्र-व्यवहार आदि फ्रेंच भाषा में हैं। इसी प्रकार की अन्य शिकायतें भी की गयीं जिनका सारांश यह है कि फ्लेण्डर्स का फ्रेंचीकरण किया जा रहा है और पूरे देश को लेटिन सभ्यता एवं संस्कृति का अंग बनाया जा रहा है। इस नीति का कैथोलिक पादरियों ने बड़ा घोर विरोध किया था।

दूसरी ओर *यह कहा जाता है* कि फ्लेण्डर्स के स्कूलों, अदालतों तथा शासन-प्रबन्ध में फ्लेमिश भाषा के बहिष्कार की बात गलत है। यह भी कहा जाता है कि

फ्लेमिश कोई साहित्यिक भाषा नही है; उनकी साहित्यिक भाषा तो डच है; फ्लेमिश साहित्यकार स्वयं फ्रेंच भाषा का ही प्रयोग करते हैं और यदि फ्लेण्डर्स मे फ्लेमिश-डच भाषा आधिपत्य प्राप्त कर ले तो उसकी जनता का योरोप से बौद्धिक सम्पर्क टूट जायगा जो फ्रेंच भाषा के द्वारा ही बना हुआ है।

भारत में भाषा का प्रश्न

भारत मे जहाँ विविध प्रकार की भाषाएँ प्रचलित हैं (आसाम मे १०० बोलियाँ बोली जाती हैं!) और जहाँ अंग्रेजी राजभाषा है, राष्ट्रवादी यह चाहते हैं कि अंग्रेजी को हटा कर उसकी जगह एक भारतीय भाषा को राष्ट्रभाषा के रूप मे स्वीकार किया जाय। अभी तक वे इस बात मे सहमत नही है कि किस भाषा को यह गौरव दिया जाय। वहाँ कोई एक भाषा ऐसी नहीं है जिसे वहाँ की जनता का एक बड़ा भाग समझ सके, और जिसे राज-भाषा बना दिया जाय। अतः यह समझना सरल नही कि अंग्रेजी के हटा देने से जो किसी भी एक प्रान्तीय भाषा के जानने वालो की अपेक्षा कही अधिक जनता द्वारा बोली और समझी जाती है, क्या लाभ होगा।[1]

भाषा के प्रश्न पर अन्तिम विचार

भाषा के प्रश्न पर किसी उपराष्ट्र-विशेष के सामान्य हित के अतिरिक्त सभ्यता के सामान्य विकास की दृष्टि से भी इस बात मे गम्भीर सन्देह है कि जो भाषाएँ उप-राष्ट्रो द्वारा बोली जाती हैं उन्हें राज्य द्वारा प्रोत्साहन मिलना चाहिये। यह पर्याप्त है कि उनकी रक्षा की जाय और उन्हें लोग बोलें तथा प्राथमिक पाठशालाओं मे उसके द्वारा शिक्षा दी जाय और धार्मिक तथा साहित्यिक बातो मे उनका प्रयोग हो। परन्तु जहाँ वह भाषा केवल स्थानिक है तथा जिसका प्रयोग अन्तर्राष्ट्रीय विचार-विनिमय मे नहीं किया जा सकता और जो साहित्य एवं विज्ञान का माध्यम नही बन सकती, वहाँ हमे सार्वजनिक नैतिकता अथवा राजनीति की दृष्टि से कोई कारण नही प्रतीत होता कि राज्य क्यों ऐसी भाषा को प्रोत्साहन दे और उसे प्रशासन-प्रबन्ध धारासभा, न्यायालय तथा उच्च शिक्षा-संस्थाओं मे प्रधान भाषा के समान ही क्यों स्थान दिया जाय, जब कि वह भाषा सामान्य विज्ञान, साहित्य तथा अन्तर्राष्ट्रीय विचार-विनिमय का माध्यम बनी हुई है। ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं है जबकि पूर्वी योरोप के छोटे उपराष्ट्रों ने अपनी भाषाओं को राज-भाषाओं के रूप मे स्वीकार कर लिए जाने के लिए आन्दोलन किये जबकि उसके बोलने वालो की संख्या बहुत छोटी थी और उनका साहित्य एक छोटे से बस्ते मे समा सकता था।

---

१. १५ अगस्त सन् १९४७ के बाद भारत मे स्वतन्त्रता की स्थापना के साथ ही भारत को राष्ट्रभाषा के प्रश्न का निर्णय सरल हो गया। विधान-सभा ने हिन्दी को समस्त भारत के लिए राष्ट्र-भाषा स्वीकार कर लिया है। संयुक्त-प्रान्त, (पूर्वी) पंजाब, बिहार, मध्यप्रान्त, बरार, मध्यभारत, मत्स्य-राज्य, राजस्थान आदि ने तो इसके पहले भी हिन्दी को राज-भाषा स्वीकार कर लिया था। हिन्दी भारत के एक सबसे बड़े भाग की भाषा है जो व्यावहारिक रूप मे भारत की राष्ट्र-भाषा के रूप मे प्रयोग मे आने लगी है। भारत मे अंग्रेजी बोलने या समझने वाले कुछ लाख व्यक्ति ही निकलेंगे जब कि हिन्दी समझने वाले और बोलने वाले भारत मे १४ करोड़ व्यक्तियों से कम नही निकलेंगे। ऐसी दशा मे लेखक के विचार सत्य के साथ न्याय नहीं करते। —अनुवादक।

(३) स्थानिक कानून तथा रिवाजों को कायम रखने का अधिकार

उपराष्ट्रों का एक दूसरा महत्वपूर्ण अधिकार उन स्थानिक रीतियों और रिवाजों की रक्षा का है। जो सार्वजनिक सदाचार तथा राज्य-नीति के सिद्धान्तों के प्रतिकूल नहीं हो। स्कॉटलैंड में स्टुअट विद्रोह के बाद, सार्वजनिक व्यवस्था के विचार से, स्कॉच हाइलेंडस द्वारा एक प्रकार का घाघरा (Kilt) धारण करना निषिद्ध ठहरा देना ठीक था, भारत में नैतिक आधार पर अंग्रेजी शासन द्वारा सती-प्रथा (पति के शव के साथ पत्नी का चिता में भस्म हो जाना) का निषेध भी उचित था। इस विषय में सन्देह है कि क्या एक उपराष्ट्र को अपने स्थानीय रीति-रिवाज को कायम रखने का उस समय भी अधिकार है जबकि वे देश के सामान्य कानूनों के अनुकूल न हो। इसलिये रोमनों ने अपने अधीन प्रजा पर रोमन कानून लाद कर उचित काम ही किया था। इसी प्रकार फ्रेञ्चों ने अलसेस में नेपोलियन विधान को लागू कर तथा बाद में जर्मनों ने वहाँ अपने आधिपत्यकाल में उसे हटाकर अपने शासन-नियम लागू करके ठीक ही किया[१]। इसी प्रकार कोई भी इस बात से इन्कार नहीं करेगा कि ग्रेट ब्रिटेन को वेल्स में अंग्रेजी कानून अथवा फ्रेञ्च सरकार को ब्रिटेनी के फ्रेञ्च कानून लागू करने का अधिकार था। ऐसे भी उदाहरण कम न मिलेंगे जहाँ इस प्रकार के कानूनों का प्रचलन ठीक सिद्ध नहीं हुआ। इस प्रकार १८वीं शताब्दी में बंगाल में भारतीयों पर अंग्रेजों द्वारा अपने कानून तथा न्याय पद्धति को लादना एक भयानक भूल थी। इसी प्रकार कानून के व्यक्तित्व के ट्यूटॉनिक सिद्धान्त की उपेक्षा करके जिसके अनुसार विजित लोगों को अपने कानून रखने का अधिकार है जर्मनों पर रोमन कानून का लादना भी एक भयङ्कर भूल थी। उसका बड़ा विरोध हुआ और उससे जर्मनों में स्वतन्त्रता की भावना का उदय हुआ। प्राय. विजेता सार्वजनिक नीति की दृष्टि से विजित प्रजा को अपने कानून को पूर्ण रीति से या अंशतः कायम रखने की अनुमति दे देता है। सन् १९०१ में दक्षिणी अफ्रीकन रिपब्लिक की विजय के बाद अंग्रेजों ने ट्रान्सवाल में डच-रोमन-कानून को कायम रखने की अनुमति दे दी और क्यूबेक में फ्रेंच कानून का भी प्रयोग होता है।

राष्ट्रसंघ द्वारा जातीय अल्पमतों के अधिकारों की रक्षा

जैसा कि पूर्व पृष्ठों में बतलाया जा चुका है, प्रथम विश्व-युद्ध के बाद जब शान्ति-संधि के समय नयी प्रादेशिक व्यवस्था की गयी तब कई पुराने और नये राज्यों में विदेशी उपराष्ट्र छूट गये थे।[२] यह अनुभव करके कि इस प्रकार के अल्पमतों के

---

१. अलसास प्रान्त के अधिकांश निवासी फ्रान्स से प्रेम करते हैं तो भी जब प्रथम विश्व-युद्ध के बाद अलसास फ्रान्स में मिला दिया गया और फ्रान्स ने वहाँ जर्मन कानून की जगह फ्रेंच कानून लागू कर दिया तो लोगों ने इसकी शिकायत की थी। वे जर्मन कानून के अधीन ५० वर्ष से रह रहे थे और उनमें परिवर्तन नहीं चाहते थे।

२. अनुमान किया जाता है कि इस नवीन व्यवस्था से योरोप में समस्त अल्प-संख्यकों की संख्या ५,४०,००,००० से घटाकर १६,८००,००० कर दी गयी थी और इस संख्या में भी अधिकतर जर्मन, मगयार तथा रुथीनियन लोग रह गये थे। देखिए, *Buell : International Relations, p. 273 ; Buxton and Evans :* Oppressed Peoples and the League of Nations (1922) p. 82.

साथ राज्यों के बहुमतों द्वारा, 'जो सत्ता में होंगे, जाति, भाषा, तथा धर्म के सम्बन्ध में भेद-भावपूर्ण व्यवहार किया जायगा, और उन पर अत्याचार भी होंगे, राष्ट्रसंघ ने ऐसी अल्पमत जातियों (Minorities) की रक्षा के लिए पर्याप्त संरक्षणों की व्यवस्था की। ऑस्ट्रिया, हंगरी, बलगेरिया और टर्की के साथ जो शान्ति-संधियाँ हुईं, उनमें अल्पमतों की रक्षा के दायित्व तथा सरक्षण का प्रश्न राष्ट्र संघ को सौंप दिया गया। सन् १९१९-२० में मित्रराष्ट्रों तथा पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, युगोस्लाविया, रूमानिया, यूनान और आरमीनिया के बीच जो संधियाँ हुईं उनमें भी इसी प्रकार की व्यवस्था की गयी। ये समस्त संधियाँ देश के निवासियों तथा उनके नागरिकों को जन्म, जातीयता, भाषा या धर्म सम्बन्धी किसी भेदभाव के बिना कुछ नियत अधिकार प्रदान करती हैं, और ये देश संधि की शर्तों को अपने देश के विधान का अंग तथा अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व की तरह मानते हैं।

संक्षेप में इन संधियों द्वारा जनता को जो अधिकार दिए गये हैं, वे इस प्रकार हैं, कानून की दृष्टि में समानता, राजनीतिक समानता, व्यावसायिक तथा सामाजिक व्यवहार, धार्मिक पूजा-पाठ समाचार-पत्रों, सार्वजनिक सभाओं तथा अदालतों में भाषा का निर्बन्ध प्रयोग; अल्पमतों द्वारा अपने खर्च से धार्मिक, सामाजिक, शिक्षा-सम्बन्धी एवं परोपकारिक संस्थाओं की स्थापना तथा उनका संचालन, जिन नगरों एवं जिलों में अल्पमत का आधिक्य है, वहाँ की सार्वजनिक प्राथमिक पाठशालाओं में निज भाषा का प्रयोग तथा स्थानीय संस्थाओं तथा राज्य की ओर से उचित अनुपात में धार्मिक, शैक्षणिक तथा परोपकारिक संस्थाओं को आर्थिक सहायता। कुछ संधि-पत्रों में जाति या स्थिति विशेष के लिए भी व्यवस्था है। इस प्रकार पोलैण्ड के साथ की गयी संधि में यहूदियों के लिए विशेष व्यवस्था है। चेकोस्लोवाकिया के साथ की गयी संधि में रूथीनियन प्रजा के स्वायत्तशासन के सम्बन्ध में विशेष उल्लेख है; इसी प्रकार रूमानिया के साथ संधि में सैक्सन जाति तथा ट्रान्सिलवेनिया की चेक्लर (Czechlers) जाति के लिए धार्मिक एवं शैक्षणिक स्वराज्य की व्यवस्था है। समस्त संधियों में यह उल्लेख है कि राष्ट्रसंघ की कौंसिल का कोई भी सदस्य कौंसिल का ध्यान इन संधियों की शर्तों के उल्लंघन की ओर आकर्षित कर सकेगा और उस पर कौंसिल समुचित ध्यान देगी। इन संधियों के सम्बन्ध में कानून या तथ्य के विषय में कोई भी मतभेद पैदा होने पर उसका निर्णय विश्व-न्यायालय द्वारा किया जायगा और उसका निर्णय अन्तिम होगा। कुछ नवीन राज्य जिनके साथ इस प्रकार की संधियाँ नहीं हुई थी और जिन्हें राष्ट्रसंघ का सदस्य बना लिया गया उन्हें इस शर्त पर सदस्य बनाया गया कि वे अल्पमत संधियों के सिद्धान्तों को स्वीकार करेंगे और उनका पालन भी करेंगे। इस प्रकार की शर्तें अलबानिया, फिनलैण्ड, इस्टोनिया, लेटविया, और लिथुएनिया ने राष्ट्रसंघ की सदस्यता स्वीकार करते समय मंजूर की थी।

संधियों की धाराओं का पालन

इस प्रकार की संधियों का करना अल्पमतों के जातीय, भाषा, तथा धर्म-सम्बन्धी हितों की रक्षा की दिशा में एक बड़ा प्रयोग था। राष्ट्रसंघ ने भी अल्पमतों की रक्षा के हेतु इन संधियों की शर्तों का पालन कराने के लिए जो हस्तक्षेप किया और सतर्कता दिखलाई वह उसकी महान् सेवाओं में से एक है। परन्तु यह स्वीकार करना पड़ेगा कि इस प्रसंग में राष्ट्रसंघ के सभी प्रयत्न सफल नहीं रहे। जिन राज्यों के अल्पमतों को शिकायतें थीं और जिनकी ओर से उन्हें दूर करने के लिए राष्ट्रसंघ की कौंसिल को आवेदन पत्र भेजे गये, उन राज्यों ने राष्ट्रसंघ के हस्तक्षेप को

अनावश्यक माना, क्योंकि उनकी दृष्टि में यह राज्य का एक आन्तरिक प्रश्न था—अन्तर्राष्ट्रीय नहीं। पोलैण्ड में जर्मन कृषकों को भूमिहीन किये जाने और जर्मन निवासियों को पोलिश नागरिकता के अधिकारों से वंचित रखे जाने की शिकायत थी। रूमानिया में यहूदियों ने यह शिकायत की कि विश्वविद्यालयों में से यहूदी छात्रों का बहिष्कार कर दिया गया है। इस सम्बन्ध में टर्की की सरकार सबसे बड़ी अपराधिनी है, उसने *एशिया माइनर के ग्रीक तथा आरमीनियन निवासियों का एक बहुत बड़ी* संख्या में निर्वासन कर दिया था। यूनान ने मकदूनिया से एक बड़ी संख्या में बलगेरियनों को निकाल दिया। यूगोस्लाविया ने अपने मकदूनिया प्रदेश से बलगेरियनों को निकाल दिया। रूमानिया ने भी ट्रान्सिलवेनिया प्रदेश में हंगेरियन लोगों का जीवन असह्य बना दिया पोलैण्ड ने भी उन लिथुएनियनों के मार्ग में, जिन्होंने विलना में ही बने रहना पसन्द किया, अनेक कठिनाइयाँ खड़ी कर दीं।

इस प्रकार अभागे अल्पमतों की रक्षा के लिए सन्धियों में जो शर्तें रखी गई थी उनका पालन कराने में तथा उनका उल्लंघन रोकने में सफलता नहीं मिली। इन सब बातों का परिणाम यह हुआ कि बहुत बड़ी संख्या में अल्पमतों को एक राज्य से दूसरे राज्य में चला जाना पड़ा। प्रायः प्रत्येक उपराष्ट्र का एक राज्य स्थापित हो जाने से विभिन्न राज्यों में यह प्रवृत्ति चल पड़ी कि जो उपराष्ट्र उनमें रह गये उन पर अनेक प्रकार से दबाव डाला जाय जिससे वे उस राज्य को छोड़कर अपने राज्य में चले जायँ।

दक्षिणी टिरोल में जर्मनों की स्थिति

इस सम्बन्ध में यह उल्लेख करना अत्यन्त आवश्यक है कि उन प्रदेशों के *अल्पमतों की रक्षा के लिए ऐसी कोई सन्धियाँ नहीं की गई जो मित्र तथा साथी* राज्यों के अन्तर्गत थे। जैसा ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, दक्षिणी टिरोल का प्रदेश जिसमें अधिकांश जर्मन रहते थे ऑस्ट्रिया से छीन कर इटली को दे दिया गया था। इटली को एक सामरिक महत्त्व का प्रदेश देने के उद्देश्य से ही यह काट-छाँट की गयी थी। सन्धि में जर्मन अल्पमतों की रक्षा के लिए कोई व्यवस्था नहीं थी और इस प्रकार २,५०,००० जर्मनों के भाग्य का निर्णय इटालियन सरकार की न्याय भावना अथवा राज्य नीति की आवश्यकताओं पर ही छोड़ दिया गया। इस प्रदेश के *निवासियों ने शान्ति-परिषद् के समक्ष बिना उनकी इच्छा जाने हुए ऑस्ट्रिया से* निकाल कर इटली के राज्य में शामिल कर देने पर दुःख एवं निराशा प्रकट करते हुए प्रतिवाद किया। पर शान्ति-परिषद् ने उनकी कोई सुनवायी न की। शान्ति-परिषद् में एक इटालियन प्रतिनिधि (टिटोनी) ने यह वचन दिया कि जो ऑस्ट्रिया के प्रदेश इटली में मिला दिये गये हैं, उनके निवासियों की संस्कृति की रक्षा की जायगी। बाद में इसी प्रकार के आश्वासन इटली की धारासभा (Chamber of Deputies) ने दिये और इस बात पर खेद प्रकट किया कि सामरिक दृष्टि से उस प्रदेश को इटली में मिलना आवश्यक हो गया था। कुछ समय तक इटली की सरकार ने इन आश्वासनों के अनुसार काम भी किया; परन्तु जब इटली में फ़ासिस्ट पार्टी का शासन *स्थापित हो गया, तब इस नीति में भी परिवर्तन हो गया। स्थानीय जर्मन संस्थाओं* तथा उनकी सभाओं एवं जुलूसों पर रोक लगायी गयी, बलप्रयोग द्वारा भी जुलूस रोके गये, जर्मन अध्यापकों को स्कूलों से हटा दिया गया, स्थानीय जर्मन न्यायाधीशों तथा अफ़सरों को भी हटा दिया गया; स्कूलों में जर्मन भाषा का प्रयोग भी निषिद्ध ठहरा

दिया गया। इसके परिणाम-स्वरूप सैकड़ों जर्मन स्कूल बन्द हो गये, यहाँ तक कि धार्मिक शिक्षा देने के लिए भी इटालियन भाषा का प्रयोग होने लगा। सड़कों एवं गलियों के नाम भी जर्मन से बदल कर इटालियन कर दिये गये। नगरों कस्बों. तथा सार्वजनिक मामलों में जर्मन भाषा का प्रयोग बन्द कर दिया गया और सार्वजनिक स्थानों तथा स्कूलों में जो जर्मन देशभक्तों तथा वीरों के चित्र और ऐतिहासिक स्मारक थे, वे भी हटा दिये गये। इस प्रकार सारे प्रदेश को 'इटालियन' बनाने का संगठित उद्योग किया गया जिसमें जर्मन राष्ट्रीयता का यथासम्भव कोई चिन्ह भी वहाँ न रहे।

प्रजातीय अल्प संख्यकों का परिवर्तन (Exchange)

यह सुझाव पेश किया गया है कि जिस राज्य मे अल्पसंख्यक लोग बहुसंख्यकों के साथ हिलमिल नहीं सकते उनकी रक्षा तथा संरक्षण का एक व्यावहारिक एवं न्यायसंगत उपाय यह है कि वे उस राज्य में चले जायँ जिसमें उनके उपराष्ट्र के लोग रहते हैं, और उनके बदले में उस राज्य के अल्पसंख्यक लोग अपनी राष्ट्रीयता वाले राज्य में चले जायँ। सन् १९२३-१९२५ में इस सुझाव के अनुसार यूनान (ग्रीस) तथा टर्की के बीच में अल्पसंख्यक जनता का तबादला किया गया था। सन् १९२२ में जब टर्की ने यूनान को युद्ध मे पराजित कर दिया तब एशिया माइनर से असंख्य यूनानी इस भय से यूनान को चले गये कि तुर्क उनका संहार कर देंगे या उनके साथ दुर्व्यवहार करेंगे। डॉ० नानसेन के सुझाव पर लासेन शान्ति-सम्मेलन में (३० जनवरी, सन् १९२३) यह निश्चय किया गया कि टर्की तथा यूनान एक निश्चित संख्या में अपनी-अपनी अल्पसंख्यक जनता का तबादला करेंगे, एशिया माइनर से यूनानी यूनान भेजे जायगे और यूनान से ओटोमन मुसलिम टर्की को भेजे जायेंगे। निष्क्रमणार्थी लोगों को अपनी निजी चल-सम्पत्ति अपने साथ ले जाने की आज्ञा दे दी गयी और उनकी अचल सम्पत्ति की क्षतिपूर्ति करना राज्य का काम रहा जिसका मूल्यांकन एक संयुक्त कमीशन द्वारा होना था। यूनानी सरकार ने अनिच्छापूर्वक इस जनसंख्या के परिवर्तन के निश्चय को मान लिया, परन्तु ऐशिया माइनर को यूनानी जनता ने राष्ट्रसंघ, मित्रराष्ट्रों तथा लासेन-सम्मेलन के समक्ष इस आबादी के परिवर्तन का घोर विरोध किया। प्रत्येक स्थान में शरणार्थियों के दुःखों एवं कष्टों के लिए सहानुभूति प्रकट की गयी। देखने में तो यह आबादी का स्वेच्छापूर्ण परिवर्तन था, परन्तु वास्तव में यह यूनानी जनता का सामूहिक रूप में निर्वासन ही था।[1] २९ नवम्बर, सन् १९१९ में बलगेरिया तथा यूनान के बीच आबादी के परिवर्तन के सम्बन्ध में एक समझौता न्यूली (Neuilly) नामक स्थान पर हुआ था। यह वास्तव में एक पारस्परिक व्यवस्था थी। इसमें तथा यूनानी-टर्की के आबादी परिवर्तन में अन्तर यह था कि टर्की तथा यूनान की आबादी का परिवर्तन बलपूर्वक किया गया था; परन्तु यूनान तथा बलगेरिया की आबादी का परिवर्तन पूर्णतः ऐच्छिक था।[2]

---

१. इस व्यवस्था के अनुसार यूनान से ४,००,००० मुसलमान टर्की को भेजे गये और टर्की से २,५०,००० यूनानी यूनान को भेजे गये। १२,५०,००० यूनानी तो अनातोलिया से ३० जनवरी, सन् १९२३ से पूर्व ही बलपूर्वक निकाल दिये गये थे।

२. ब्रिटिश पार्लामेन्ट द्वारा स्वीकृत 'भारतीय स्वतन्त्रता कानून' (Indian Indpendence Act) के अनुसार भारत का विभाजन कर १५ अगस्त सन् १९४७ को दो स्वतन्त्र राज्यों—डोमीनियनों—की स्थापना की गयी। बंगाल तथा पंजाब

का धर्म के आधार पर विभाजन किया गया। पाकिस्तान राज्य मे पश्चिमी पंजाब, सिन्ध, सीमाप्रान्त, बिलोचिस्तान तथा पूर्वी बंगाल सम्मिलित कर दिये गये और भारत के शेष प्रान्त तथा उसके प्रदेश के भारतीय राज्य भारतीय संघ मे सम्मिलित कर दिये गये। परन्तु इन दोनो राज्यो मे लाखो-करोडो की संख्या में जो अल्पसंख्यक लोग थे, उनकी रक्षा के लिए विभाजन-परिषद् (Partition Council) अथवा वायसराय लॉर्ड मौण्टबेटेन और भारतीय नेताओं ने कोई व्यवस्था नहीं की। मुस्लिम लीग की ओर से श्री० जिन्ना तथा दूसरे नेताओ ने हिन्दू-मुस्लिम आबादी के परिवर्तन के सम्बन्ध मे अपना मत बहुत पहले प्रकट किया था और यह इच्छा प्रकट की थी कि आबादी का परिवर्तन करना पडेगा। परन्तु हमारे राष्ट्रीय नेता—राष्ट्रपिता महात्मा गांधी तथा माननीय सरदार वल्लभभाई पटेल ने इसका तीव्र प्रतिवाद किया। फलत: भारत के विभाजन के समय आबादी के परिवर्तन पर व्यावहारिक दृष्टि से विचार भी नहीं किया गया। परन्तु १५ अगस्त सन् १९४७ के बाद पाकिस्तान के पश्चिमी पंजाब, सिन्ध और सीमाप्रान्त तथा मुसलमानी रियासत बहावलपुर मे जो हिन्दू-मुसलमानो मे महान् रक्त-स्नान और भयानक उपद्रव, लूटमार, अग्निकाण्ड, बल-पूर्वक धर्म-परिवर्तन तथा स्त्रियों एव लडकियो के अपहरण एक बडे पैमाने पर हुए —उनसे बाध्य होकर भारतीय संघ की सरकार को भी पश्चिमी पाकिस्तान से हिन्दू जनता को, जिसमे सिक्ख भी सम्मिलित हैं, निकाल कर भारतीय संघ के प्रदेशों मे लाने की तथा पूर्वी पंजाब मे से मुसलमानो को पाकिस्तान भेजने की व्यवस्था करनी पडी।

अनुमान है कि भारत मे पश्चिमी पाकिस्तान से प्राय: ४०,००,००० हिन्दू तथा सिक्ख स्त्री पुरुष लाये गये और पूर्वी पंजाब से लगभग इतने ही मुसलमान पाकिस्तान भेजे गये। इस प्रकार २१ नवम्बर सन् १९४७ तक ८०,००,००० स्त्री पुरुष हिन्दू-मुसलमानों ने पाकिस्तान भारत की सीमा को पार किया। विश्व के इतिहास मे जनता के परिवर्तन का इस प्रकार का दूसरा उदाहरण नही मिलेगा।

यदि इस प्रकार के आबादी-परिवर्तन की पहले से व्यवस्था कर दी गयी होती तो कई लाख हिन्दू मुसलमानो की हत्या न हो पाती, सहस्रों नारियों को बलपूर्वक मुसलमान न बनना पडता, सहस्रो ही नारियो का सतीत्व नष्ट न होता और करोडो की सम्पत्ति का इस प्रकार अपहरण एव नाश न होता और न इस प्रकार भारत के मध्य नागरिक 'शरणार्थी' बनकर भारतीय सरकार तथा भारत के प्रान्तों एव रियासतो के लिए एक समस्या न बन गये होते। —अनुवादक।

मुख्य पाठ्य-ग्रन्थ

Bluntschli, "Theory of the State," Bk. II, Ch. 3

Buell, "International Relations" (1925), Chs 2, 8

Evans, "The Protection of Minorities," *British Year Book of International Law*, 1923-24, pp. 95 123.

Fauchille, "Protection des minorites," "Droit international public" (1922), Vol. I, pt. 1, pp. 802-819.

Garner, "Recent Developments in International Law" (1925), pp. 404-411.

Gilchrist, "Principles of Political Science" (1921), pp. 45-48.

Rosting, "The Treaties for the Protection of Minorites by the League of Nations," *Amer. Jour. of Internal. Law*, Vol. XVII (1923), pp. 641-661.

Temperley, "History of the Peace Conference at Paris," Vol. V, Ch. 2.

प्रभुत्व

(1) प्रभुत्व की प्रकृति एवं उत्पत्ति

प्रभुत्व की प्रकृति

हमने पिछले एक अध्याय मे उल्लेख किया है कि जिस विधायक तत्व के द्वारा राज्य तथा अन्य मानव-संस्थाओं में आधारभूत अन्तर प्रकट होता है, वह है प्रभुत्व अर्थात् राज्य की इच्छा एवं शक्ति की प्रधानता। प्रत्येक पूर्ण स्वतन्त्र राज्य में किसी व्यक्ति, परिषद् या जन-समुदाय (अर्थात् निर्वाचक मण्डल) को सामूहिक इच्छा को कानून के रूप में व्यक्त करने और उसका पालन कराने की सर्वोच्च सत्ता प्राप्त होती है, अर्थात् उसे आदेश देने और उनका पालन कराने का अन्तिम अधिकार प्राप्त होता है। अन्य संस्थाओं में भी सामूहिक इच्छाएँ होती है और वे उन्हें अभिव्यक्त भी करती हैं, परन्तु राज्य की इच्छा-शक्ति का प्रधान लक्षण यह है कि वह सबसे प्रबल होती है; उसके समक्ष अन्य व्यक्तियों एवं व्यक्ति-समूहों की इच्छा का कोई प्रभाव नहीं होता और यदि इन दोनों प्रकार की इच्छाओं में कोई संघर्ष होता है तो राज्य की इच्छा के अनुसार ही काम होता है। समस्त आकांक्षाएँ राज्य की इच्छा के अधीन हैं। राज्य जिस विषय में अपना निर्णय दे दे, वह उस विषय में अन्तिम निर्णय होता है और सर्वमान्य होता है।[1] राज्य अपने अन्तर्गत किसी भी मानव-संस्था अथवा व्यक्ति का प्रभुत्व-शक्ति के उपभोग का अधिकार नहीं मानता और न उस अधिकार में कोई भाग ही देता है।

प्रभुत्व शब्द और उसकी भावना

यद्यपि प्रभुत्व (Sovereignty) शब्द आधुनिक है, तथापि उसका जो भाव है वह हमें अरस्तू के साहित्य में भी मिलता है। अरस्तू ने इसके लिए राज्य की सर्वोच्च सत्ता' (Supreme Power) शब्दों का उल्लेख किया है। रोम के कानून-विशारदों को भी इसका ज्ञान था क्योंकि उन्होंने भी राज्य की सर्वोच्च सत्ता को प्रकट करने के लिए Summa Potestas तथा Plenitudo Potestatis आदि शब्दों का प्रयोग किया था। सॉवरन तथा सावरेन्टी आदि आधुनिक शब्दों का प्रयोग सबसे पूर्व फ्रेन्च विधान-विशेषज्ञों ने किया था। फ्रान्स में प्रभुत्व के लिए सॉवरेन्टी (Souveraineté) शब्द का प्रयोग पन्द्रहवीं शताब्दी में किया गया था। इसके उपरान्त इस शब्द का प्रयोग

---

१. तुलना कीजिए, Maine, 'Early History of Institutions' (1875), p. 349 और Willoughby, 'Nature of the State' (1896), p. 183.

अंग्रेजी, इटालियन और जर्मन राजनीतिक साहित्य में भी किया जाने लगा।[1] बोदाँ सबसे पहला लेखक था जिसने सोलहवीं सदी में अपनी पुस्तक 'Six Books on the Republic' में प्रभुत्व की प्रकृति एवं लक्षणों पर सविस्तार विचार किया। अपनी पुस्तक के फ्रेन्च संस्करण में उसने सोवरेन्टी (Souveraineté) शब्द का प्रयोग किया है।

प्राचीन तथा मध्य-युगीन लेखकों को प्रभुत्व की आधुनिक भावना का कुछ ज्ञान अवश्य था, परन्तु वह प्रायः अस्पष्ट ही था। क्योंकि उस युग में प्रभुत्व की आधुनिक कल्पना वास्तव में थी ही नहीं।[2] उदीयमान राष्ट्रीय राज्य तथा उसकी विविध आन्तरिक एवं वाह्य प्रतियोगी शक्तियों—पवित्र रोम-साम्राज्य, पोपशाही, और जागीरदारों—के बीच मध्ययुग में जब संघर्ष होने लगा तो उसके फलस्वरूप प्रभुत्व के आधुनिक सिद्धान्त का जन्म हुआ और इस विषय पर प्रथम साहित्य तैयार हुआ। इस संघर्ष ने फ्रान्स में सबसे विकट तथा भयङ्कर रूप धारण किया था। फ्रेन्च राजाओं ने सम्राट्, पोप और जागीरदारों के दावों का प्रतिवाद बड़े प्रबल रूप में किया और इस बात पर जोर दिया कि राजा अपने राज्य को तलवार अथवा शक्ति के बल पर अपने अधिकार में रखता है और वह उसे केवल ईश्वर से प्राप्त हुआ है। फ्रेन्च कानूनवेत्ताओं ने अपने राजाओं का पक्ष लिया और उनके समर्थन में एक कानूनी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जिसने केवल रक्षा के साधन का ही काम नहीं दिया वरन् राजा के प्रधानता के दावे को न्याय बतलाकर उसका समर्थन भी किया। परन्तु यह सिद्धान्त वास्तव में राज्य के प्रभुत्व का सिद्धान्त न होकर राजा के प्रभुत्व का सिद्धान्त था। एक फ्रेन्च लेखक ने तो यहाँ तक लिखा है कि 'राजा समस्त प्रजा पर अपना प्रभुत्व रखता है और जब हम उसमें निहित प्रभुत्व का उल्लेख करते हैं, तब हमारा आशय राजा से ही होता है।'

आरम्भ में प्रभुत्व का यह आशय नहीं था कि राजा अपने विभिन्न प्रतिद्वन्द्वियों के विपरीत पूर्णरूपेण स्वतन्त्र था परन्तु १८वीं शताब्दी के अन्त तक वह सर्वोच्च सत्ता के रूप में ग्रहण किया जाने लगा और प्रभुत्व अविभाज्य माना जाने लगा।

प्रभुत्व और शासक (राजा)

आरम्भ में प्रभुत्व राजा का वैयक्तिक गुण माना जाता था। बोदाँ ने उसे राज्य का एक विधायक तत्व माना यद्यपि उसके विचार भी इस सम्बन्ध में स्पष्ट नहीं थे। उसने प्रभुत्व में आशय राज्य के एक विशिष्ट अंग की सत्ता समझा। फ्रान्स में यह अंग राजा था और बोदाँ ने प्रभुत्व का अधिकार राजा को ही प्रदान किया। बोदाँ तथा दूसरे लेखकों ने प्रभुत्व और शासन की सत्ता (Power of government

---

१. जैन्क्स ने अपनी पुस्तक (The State and the Nation, p. 260) में लिखा कि पन्द्रहवीं शताब्दी की एक कानूनी रिपोर्ट में केम्ब्रिज के कॉलेजों के प्रधानों को 'सॉवरेन' लिखा गया था।

२. यह कुछ विचित्र बात है कि जर्मन भाषा में अंग्रेजी शब्द Sovereignty का कोई पर्याय नहीं है। जर्मन लोग एक संशोधित फ्रेन्च शब्द Souverdnitat का प्रयोग करते हैं। Herrschaft, Staatsgewalt, Obergewalt तथा Staalshoheit जो जर्मन शब्द इस सम्बन्ध में प्रयुक्त होते हैं उनका सम्बन्ध राजा की शक्ति, राज्य की प्रतिष्ठा से होता है, न कि प्रभुत्व से।

को एक ही चीज मानकर एक भूल और की। अत उसने प्रभुत्व के सच्चे लक्षण राज नियम निर्माण, युद्ध-घोषणा एव शान्ति-सन्धि, राजपदों पर नियुक्तियाँ कानूनी विवादों का निर्णय आदि माने हैं। वास्तव मे ये शक्तियाँ प्रभुत्व की भावना के परिणामस्वरूप नही है, ये तो शासन के विशिष्ट अंगों के सामान्य अधिकार मात्र हैं। यह बात अस्वाभाविक नही है कि सोलहवीं शताब्दी के लेखकों ने राजा की सत्ता को ही राज्य का प्रभुत्व समझा, क्योंकि प्रभुत्व की भावना को जन्म देने वाला जो संघर्ष हुआ वह राजा की ओर से अपनी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की स्थापना के लिए ही था। जब इस संघर्ष मे राजा की विजय हुई तो यह सर्वथा स्वाभाविक ही था कि प्रभुत्व राजा की ही शक्ति माना जाता।

प्रभुत्व की कुछ परिभाषाएँ

प्रभुत्व की परिभाषाएँ भी राज्य की परिभाषाओं के समान लेखकों के मत भिन्न भिन्न होने के कारण अनेक हैं। बोदाँ ने, जिसने इस शब्द का प्रयोग प्रथम बार किया है, *प्रभुत्व की परिभाषा इस प्रकार की है—'नियमादि से निर्बाध राजा की* अपने नागरिकों एव प्रजा पर सर्वोच्च सत्ता।' ग्रोटियस ने ५० वर्षों के बाद अपने एक ग्रन्थ में प्रभुत्व की परिभाषा इस प्रकार की है। 'उस पुरुष (राजा) की सर्वोच्च राजनैतिक सत्ता, जिसके कार्यों पर किसी अन्य का कोई नियन्त्रण नही होता और जिसकी इच्छा का विरोध कोई नहीं कर सकता।' ब्लेकस्टोन ने प्रभुत्व को 'सर्वोच्च, दुनिवार, *निरपेक्ष एव अनियन्त्रित सत्ता' माना है। जेलिनेक ने लिखा है कि 'प्रभुत्व राज्य की* वह विशेषता है जिसके कारण वह अपनी इच्छा के अतिरिक्त और किसी से बाध्य नहीं है और न अपनी शक्ति के अतिरिक्त किसी दूसरी शक्ति द्वारा मर्यादित ही है।' ब्लुन्शली ने लिखा है कि 'प्रभुत्व राज्य की आदेशात्मक सत्ता है; राज्य मे संगठित राष्ट्र की इच्छा का नाम ही प्रभुत्व है, वह राज्य के अन्तर्गत समस्त प्रजा को बिना किसी शर्त के आदेश देने *का अधिकार है।' बर्गेस के अनुसार 'प्रभुत्व नागरिक* और नागरिकों के समस्त समुदायों पर मौलिक, निरपेक्ष एव अमर्यादित सत्ता का नाम है।' यह नागरिकों को आदेश देने और उन्हें उसके अनुसार कार्य करने के लिये बाध्य करने का स्वतन्त्र और किसी भी स्रोत से अप्राप्त अधिकार है।[1]

(२) प्रभुत्व के भेद

नाम मात्र का (Titular) प्रभुत्व

प्रभुत्व शब्द का प्रयोग लेखकों ने विविध अर्थों मे किया है। इसका एक प्रयोग उस नाममात्र के शासक का बोध कराने के लिए किया जाता है जो वास्तव मे यथार्थ प्रभुत्वपूर्ण तो नही रहा, परन्तु शासन का एक पुर्जा मात्र रह गया हो। इस *अर्थ मे ग्रेट ब्रिटेन मे औपचारिक रूप से राजा को प्रभु (Sovereign) कहा जाता* है। किसी अपराध के लिए अभियोग राजा के नाम पर ही लगाया जाता है। यह प्रथा उस समय से चली आती है। जब कि राजा वास्तव मे प्रभुत्व सम्पन्न था परन्तु यह परम्परा प्रथा के रूप मे आज भी इंगलैंड मे चली आती है।

---

१. Political Science quarterly, Vol. III, p. 128. परिभाषाओं के लिए देखिये, Pollock: History of the Science of Politics, p. 49. Willoughby: Nature of the state, p 280.

वैध (Legal) तथा राजनैतिक (Political) प्रभुत्व

राजनीतिक तथा वैध प्रभुत्व मे प्राय: भेद किया जाता है। वैध प्रभुत्व (Legal Sovereignty) से प्रभुत्व के सम्बन्ध मे एक वकील का दृष्टिकोण प्रकट होता है। उस अर्थ मे प्रभुत्व का आशय है कानून-निर्माण करने वाली सर्वोच्च सत्ता। वैध प्रभुत्व इस प्रकार वह निश्चित सत्ता है जो राज्य के सर्वोच्च आदेशो को वैध (कानूनी) रूप मे व्यक्त कर सके, वह सत्ता जो दैवी कानून, नैतिक सिद्धान्तो तथा जनमत की उपेक्षा कर सके। वैध प्रभुत्व के पीछे एक दूसरी सत्ता भी है जो वैध रूप से अज्ञात एव असंगठित है और जिसमे इतनी क्षमता नही होती कि वह राज्य की इच्छा को वैध आदेश के रूप मे व्यक्त कर सके, परन्तु फिर भी जो ऐसी सत्ता है जिसके समक्ष वैध प्रभुत्व को नतमस्तक होना पडता है और अन्त मे जिसकी इच्छा ही राज्य मे चलती है, वह है राजनीतिक प्रभु।[१] एक सीमित अर्थ मे निर्वाचक-मण्डल ही राजनीतिक प्रभु होता है, परन्तु व्यापक अर्थ मे इसके अन्तर्गत राज्य की समस्त जनता आ जाती है जिसमे वे सब व्यक्ति शामिल हैं जो लोकमत-निर्माण मे भाग लेते हैं चाहे वे मतदाता हों या न हो। निर्वाचक-मण्डल शक्तिशाली होने पर भी विशुद्ध लोकतन्त्र के सिवा, किसी भी राज्य मे वैध नियम के रूप मे अपनी इच्छा व्यक्त नही कर सकता, परन्तु वह व्यवस्थापक-मण्डल को उसकी इच्छा के अनुसार काम करने के लिए आदेश दे सकता है और यदि वह आदेश स्पष्ट हो और पूरी तरह से समझ लिया गया हो तो उसकी अवहेलना नही की जा सकेगी और साधारणतया उसका पालन किया जायगा।

जब वैध प्रभु तथा राजनीतिक प्रभु (Political sovereign) के बीच संघर्ष होता है तो वैध प्रभु ही मान्य होता है; क्योंकि राज्य की जो इच्छा वैध नियम द्वारा अभिव्यक्त की गयी है, उसी को न्यायालय मान्यता देंगे, चाहे राजनीतिक प्रभु के आदेश कितने ही उचित और न्याय्य क्यों न हो। एक प्रसिद्ध लेखक का मत है कि वैध प्रभु 'वकील की हैसियत मे वकील का प्रभु' (Lawyer's sovereign qua lawyer) है। वकील एवं न्यायालय इसके अतिरिक्त अन्य किसी को भी स्वीकार नही करते। वकील के लिए पार्लमिन्ट द्वारा निर्मित नियम ही श्रेष्ठ नियम हैं, भले ही जनता या निर्वाचको द्वारा उसकी निन्दा की गयी हो। निर्वाचकों की इच्छा से वकील को एक वकील की हैसियत से कुछ भी सम्बन्ध नही है। वह उनकी सम्मतियो तथा विचारो पर उचित ध्यान दे सकता है; परन्तु जब तक वे वैध नियम का रूप न धारण करलें,

---

१. Dicey (Law of the Constitution, 2nd Ed. p. 66) ने कहा है कि 'वह व्यक्ति या संस्था (body) राजनीतिक प्रभु है जिसकी इच्छा अन्ततोगत्वा राज्य के नागरिक मानते हैं। इसी को उसने यह कह कर स्पष्ट किया कि इङ्गलैण्ड मे यह प्रभु निर्वाचक-मण्डल है जो अन्त मे चलकर अपनी इच्छा को सदा चला सकता है। परन्तु न्यायाधीश जनता की इच्छा को उसी समय स्वीकार करते हैं जब कि वह पार्लमिंट के कानून के रूप मे व्यक्त होती है और वे इस दलील पर कभी-कभी कानून की मान्यता पर शंका नही करते कि वह कानून निर्वाचकों की इच्छा के विरुद्ध स्वीकृत किया गया था या उनकी इच्छा के विरुद्ध उस पर अमल किया जा रहा है।

तब तक वकील के लिए उनका लेशमात्र भी प्रभाव नहीं होता। लॉर्ड ब्राइस ने कहा है कि वैध प्रभुत्व तथा राजनीतिक प्रभुत्व में जो भेद है, वह प्रभुत्व की वैध एवं लौकिक कल्पना के अन्तर के कारण ही है। उन्होंने लिखा है कि 'एक सामान्य व्यक्ति के लिए प्रभु वही है जिसकी इच्छा राज्य में सबसे बलवान् है और चलती है, जो सर्वोच्च माना जाता है और जो अपनी इच्छानुसार कार्य करता है तथा दूसरों को उसके अनुसार कार्य करने को बाध्य कर सकता है। एक वकील के लिए इससे अधिक स्पष्ट व्याख्या करने की आवश्यकता है। उसके लिए प्रभु केवल वही व्यक्ति या व्यक्ति समूह है जिसके आदेश से कानून वैध शक्ति प्राप्त करता है, जिसे सामान्य नियमों का निर्धारण करने की अन्तिम शक्ति प्राप्त है, वही वैध प्रभु है।'

प्रभुत्व अविभाज्य है

कुछ लेखक वैध तथा राजनीतिक प्रभुत्व के भेद को स्वीकार नहीं करते, क्योंकि ऐसा करने पर राज्य में दोहरा प्रभुत्व मानना पड़ेगा।[1] इस सम्बन्ध में गौर्ड़ा का भी विचार करने से यह सुस्पष्ट हो जायगा कि वैध एवं राजनीतिक प्रभुत्व का यह भेद विभक्त प्रभुत्व के सिद्धान्त पर नहीं, प्रत्युत एक ही प्रभुत्व के विभिन्न स्रोतों द्वारा व्यक्त दो विभिन्न रूपों के भेद पर आधारित है। जैसा कि हम उल्लेख कर चुके हैं ऐसा हो सकता है कि एक का दूसरे के साथ सामंजस्य न हो, अर्थात् वैध प्रभु की अभिव्यक्त इच्छा राजनीतिक प्रभु की आकांक्षा से मेल नहीं खाती हो। ऐसी अवस्था में वैध प्रभु का नव निर्वाचक-मण्डल द्वारा पुनः निर्माण होना चाहिए, अन्यथा निर्वाचक-मण्डल की आकांक्षा प्रभावकारी नहीं बनाई जा सकती। इसका सरल शब्दों में यही आशय है कि राज्य के नियम समुचित रीति से अभिव्यक्त लोकमत के अनुसार हों; अर्थात् धारा सभा को निर्वाचकों के आदेश को मानना चाहिए। जब ऐसा नहीं होता तब धारा-सभा तथा निर्वाचक-मण्डल में सामंजस्य के स्थान पर विरोध होता है। प्रोफेसर रीची का मत है कि श्रेष्ठ शासन की समस्या अधिकांश में वैध प्रभु तथा राजनीतिक प्रभु के मध्य पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करने की समस्या है। यह सत्य है कि जहाँ विशुद्ध लोकतन्त्र शासन होता है वहाँ इन दोनों प्रकार के प्रभुओं में संघर्ष की गुंजायश कम होती है अथवा होती ही नहीं है; क्योंकि विशुद्ध लोकतन्त्र में ये दोनों प्रकार के प्रभु एक ही होते हैं। विशुद्ध लोकतन्त्र में निर्वाचकों की अभिव्यक्त आकांक्षा केवल आदेश या लोकमत ही नहीं होती वरन् वह स्वयं ही नियम होती है। सामान्यतया वैध प्रभु का संगठन राजनीतिक प्रभु के संगठन से भिन्न और पृथक् होता है, और यह ब्रिटिश पार्लमिन्ट की तरह एक संस्था होती है अथवा वैधानिक परिषद् जो प्रभु की आकांक्षा की अभिव्यक्ति के लिए आमंत्रित की जाती है।

ग्रेट ब्रिटेन में वैध प्रभुत्व

वैध प्रभाव तथा राजनीतिक प्रभुत्व में ग्रेट ब्रिटेन जैसे देशों में बड़ा अन्तर है, जहाँ शासन-विधान में संशोधन धारासभा—पार्लमिन्ट—द्वारा ही किया जाता है और जहाँ पर परिणामतः वैधानिक (Constitutional) एवं साधारण कानूनों (Statute) में कोई अन्तर नहीं होता। ग्रेट ब्रिटेन में पार्लमिन्ट एक सामान्य व्यवस्थापिका परिषद् है और विधान परिषद् भी। यह पार्लमिन्ट वास्तव में सर्वशक्तिसम्पन्न है। उस पर नैतिक एवं भौतिक प्रतिबन्धों के अतिरिक्त और कोई प्रतिबन्ध नहीं है। ब्रिटेन में अन्य

---

१. उदाहरणार्थ, Sidgwick, 'Elements of Politics, App. A.

कोई भी ऐसा व्यक्ति या संस्था नहीं है जो ऐसे नियम बना सके जिनसे पार्लमिन्ट द्वारा बनाये गये नियम में कोई सुधार या परिवर्तन हो सके या वे रद्द हो सकें। डायसी ने लिखा है कि ब्रिटिश पार्लमिन्ट वैध दृष्टि से इतनी सर्वशक्तिमान है कि वह एक बालक को वयस्क घोषित कर सकती है; वह एक व्यक्ति पर उसकी मृत्यु के बाद देश-द्रोह का आरोप कर सकती है; वह दोगले बालक को औरस पुत्र बना सकती है; और यदि वह ठीक समझे तो एक व्यक्ति को अपने ही मामले में न्यायाधीश भी बना सकती है।[1] सन् १७१६ में ब्रिटिश पार्लमिन्ट ने अपनी जीवन-अवधि ३ वर्ष से ७ वर्ष तक बढ़ाकर ऐसा कार्य किया जिसे प्रभु ही कर सकता है। वह जिन वैध तरीकों से एक सामान्य नियम बनाती है, उन्हीं तरीकों से वह शासन-विधान में भी परिवर्तन कर सकती है। ब्रिटिश पार्लमिन्ट द्वारा स्वीकृत किसी भी नियम के विरुद्ध अवैधता के तर्क को कोई भी न्यायालय नहीं सुनेगा, वह नियम चाहे विधान के पवित्र से भी पवित्र नियम के विरुद्ध क्यों न हो।

परन्तु एक अर्थ में ब्रिटिश पार्लमिन्ट भी प्रभु नहीं है। ब्रिटेन में एक ऐसी सत्ता है, जिसके आदेश का पालन करना उसके लिए अनिवार्य है और जिसकी इच्छा उन समस्त बातों में चलती है जिन पर वह उसे प्रकट करती है। वह है पार्लमिन्ट के सामान्य निर्वाचन के समय निर्वाचकों द्वारा अभिव्यक्त इच्छा। वकील इस प्रभुत्व को स्वीकार नहीं करते और न्यायालय भी उसे मान्यता नहीं देते और कभी-कभी पार्लमिन्ट भी वैध रूप से उसका प्रतिरोध कर सकती है, परन्तु, अन्त में, यदि निर्वाचक आज्ञापालन पर जोर दें तो पार्लमिन्ट को लोकमत के सामने नतमस्तक होना ही पड़ेगा और लोकमत के आदेश को वैध नियम का रूप देना ही होगा। इस अर्थ में निर्वाचक मण्डल प्रभु है, पार्लमिन्ट नहीं।

लौकिक प्रभुत्व

राजनीतिक प्रभुत्व पर विचार कर लेने के बाद अब हम लौकिक प्रभुत्व (Popular Sovereignty) के सिद्धान्त पर विचार करना चाहते हैं जिसके अनुसार प्रभुत्व जनता या लोक (People) नाम के अनिश्चित समूह में निहित है। इस सिद्धान्त को १६वीं एवं १७वीं सदियों में पाडुआ के मार्सिलियो (Marsiglio), ओकम के विलियम (William of Ockam), जॉर्ज, बुकानन, टॉमस कार्ले, फ्रान्सिस हॉटमैन, एल्थूसियस आदि राजा के विरोधी लेखकों ने जन्म दिया जिन्होंने निरंकुश राजतन्त्र की प्रचलित प्रणाली का विरोध करने में प्रकृति के नियम (Law of Nature) और

---

१. सिजविक उन थोड़े लेखकों में से है जो ब्रिटिश पार्लमिन्ट की वैध सर्वशक्तिमत्ता नहीं मानते। उसका कहना है कि कुछ दिन पहले तक उसका प्रभुत्व साधारणतया स्वीकृत नहीं था और अठारहवीं शताब्दी तक उच्चकोटि के न्यायाधीशों के ऐसे निर्णय मिले हैं जिनसे पार्लमिन्ट की शक्ति की वैध मर्यादाएँ प्रकट होती हैं। उसका मत था कि यदि पार्लमिन्ट किसी व्यक्ति को अपने ही मामले में न्यायाधीश बना दे तो वह कार्य अप्रमाणिक होगा। इस मत के समर्थन में उसने होल्ट (Holt) का हवाला दिया है। ('Elements of Politics,' p. 28 लास्की का मत है कि सैद्धान्तिक दृष्टि से विद्यमान होते हुए भी व्यावहारिक रूप में पार्लमिन्ट की प्रभुता निरर्थक एवं हास्यप्रद है। (The Problem of Sovereignty p. 268).

इकरार के सिद्धान्त (Theory of Contract) के आधार पर लोक प्रभुत्व के सिद्धान्त का समर्थन किया। उन्होंने बतलाया कि प्रभुत्व प्रारम्भ से ही जनता के हाथ में था। कुछ समय तक उसका प्रयोग न करने से वह उसके हाथ से निकल नहीं सकता था और वास्तव में उसने राजा को अपना प्रभुत्व कभी दिया ही नहीं।[1]

अठारहवीं शताब्दी में रूसो ने लौकिक प्रभुत्व के सिद्धान्त की घोषणा की[2] और फ्रेन्च क्रान्तिकारियों ने उसे अपना जय-घोष स्वीकार कर लिया। अमेरिका की स्वातन्त्र्य-घोषणा में जेफरसन ने उसे स्थान दिया जब उसमें यह उल्लेख किया गया कि शासन अपनी उचित सत्ता शासितों की अनुमति से प्राप्त करते हैं। उसी समय से आज तक यह सच्चे लोकतन्त्र का सार माना जाता है। ब्राइस के शब्दों में यह 'लोकतन्त्र का आधार एवं आदर्श' है।[3] लेखक लौकिक प्रभुत्व का प्रयोग प्रायः अस्पष्ट रूप से और इस प्रकार करते हैं जिससे भ्रान्ति पैदा होने की ही नहीं वरन् अनिष्ट की भी सम्भावना रहती है। जो जनता का प्रभुत्व स्वीकार करते हैं और जो जनता-जनार्दन की इच्छा को ही ईश्वर की इच्छा मानते हैं वे यह स्पष्ट रूप से नहीं बतलाते कि 'जनता' से उनका क्या आशय है। एक अर्थ में जनता से तात्पर्य समस्त असंगठित तथा अनिश्चित जन-समूह से भी हो सकता है—'एक राक्षस जिसके रावण से भी कई गुने अधिक सिर हैं, परन्तु जो सामूहिक राजनीतिक कार्य की क्षमता से रहित है। दूसरे अर्थ में जनता से प्रयोजन समस्त जनसंख्या के उस भाग से है जिसे मताधिकार प्राप्त है। यदि पहले अर्थ में लौकिक प्रभुत्व का प्रयोग किया जाय तो यह स्पष्टतः सत्य के विपरीत होगा। प्रभुत्व-सत्ता का वैध प्रयोग वे ही कर सकते हैं जिन्हें राज्य-विधान द्वारा मताधिकार प्रदान किया गया है और वह भी वैध प्रणाली द्वारा हो। समस्त असंगठित जनता की अभिव्यक्त इच्छा को, यदि उसकी कल्पना हो सके, कोई भी वैध मान्यता नहीं होगी जब तक उसे कानूनी रूप न दिया जाय और उसकी अभिव्यक्ति विधान द्वारा स्वीकृत रीति से न हो।[4] अतः लौकिक प्रभुत्व का अभिप्राय केवल यही है कि जिन राज्यों में वयस्क मताधिकार प्रचलित है उनमें निर्वाचक-मण्डल के बहुमत को अपनी इच्छा व्यक्त करने और उस पर अमल करवाने की सत्ता प्राप्त है जिसका वह वैध प्रणाली द्वारा प्रयोग करता है।

राष्ट्रीय प्रभुत्व

फ्रान्स के क्रान्तिकारियों ने एक सिद्धान्त की घोषणा की जिसे उन्होंने 'राष्ट्रीय प्रभुत्व' (National Sovereignty) के नाम से प्रसिद्ध किया। उन्होंने

---

१. उनके मत और लोक प्रभुत्व के सिद्धान्त के लिए देखिये, Dunning, 'Political Theories from Luther to Montesquieu', Ch 2; Maitland, 'Gierke's Political Theories of the Middle Ages', pp. 37 ff.

२. देखिये, उसका 'Social Contract.' विशेषकर उसकी द्वितीय पुस्तक।

३. Modern Democracies, Vol. I, p. 143.

४. Sir George C. Lewis का कथन है कि उन राज्यों में भी जहाँ जनता प्रभुत्व-सम्पन्न नहीं है, लोक-प्रभुत्व की बात करना गलत नहीं है यदि उसका आशय यह हो कि जनता का धारासभा पर नैतिक नियन्त्रण और प्रभाव होता है और यदि वैध शक्ति तथा नैतिक प्रभाव का अन्तर ध्यान में रखा जाय और वास्तविक प्रभुत्व तथा केवल अलंकारिक प्रभुत्व को एक न समझ लिया जाय।

अपने विश्व-विख्यात मानव अधिकारों के घोषणा-पत्र तथा कुछ प्रारम्भिक विधानों में यह घोषणा की कि 'समस्त प्रभुत्व मूलतः राष्ट्र में निहित है।' ड्यूग्वी का विचार है कि प्रभुत्व का यह सिद्धान्त एक फ्रेंच सम्प्रदाय के लिए तो दिव्य धर्म एक पवित्र सूत्र के समान एक अव्यक्त सिद्धान्त बन गया और आज यह हमारे राजनीतिक नियम का एक प्रमुख सिद्धान्त बना हुआ है।' आगे चलकर उसने यह भी लिखा कि 'अब यह सिद्ध करना कठिन नहीं कि यह सिद्धान्त अब व्यर्थ एवं निष्फल है।' उसका मत है कि यह वाद मिथ्या है, क्योंकि इसका अर्थ तो यह होगा कि राष्ट्र का अपना निजी व्यक्तित्व और उसकी एक इच्छा होती है, जो व्यक्तियों की इच्छा एवं उनके व्यक्तित्व से भिन्न और अलग है। यह बात ऐसी है जो अभी तक न तो प्रमाणित हो सकी है और न हो सकेगी। मालबर्ग नामक एक दूसरे फ्रेंच लेखक का मत है कि फ्रान्स में राष्ट्रीय प्रभुत्व सार्वजनिक कानून (Public Law) तथा सार्वजनिक शक्तियों (Public Powers) के सगठन के मौलिक सिद्धान्तो मे गिना जाता है। इसका कारण यह है कि वहां एकतन्त्र शासन के अनियन्त्रित प्रभुत्व के प्रतिरोध के लिए इस वाद की कल्पना की गयी थी। रूसो के मत के विरुद्ध इस वाद का मन्तव्य यह था कि फ्रान्स मे प्रभुत्व चार करोड टुकडों मे विभाजित नहीं था जिसमे प्रत्येक व्यक्ति उसके एक अंश का उपयोग करता था, प्रत्युत वह सामूहिक रूप से समूचे राष्ट्र मे निहित था। यह इस सिद्धान्त की ही पुष्टि थी कि प्रभुत्व व्यक्तिभूत राष्ट्र अथवा राज्य की सत्ता है और इस प्रकार उसके द्वारा वैयक्तिक प्रभुत्व के सिद्धान्त का निषेध किया गया था। राज्य के रूप मे व्यक्तिभूत राष्ट्र मे निहित प्रभुत्व की भावना केवल एक कल्पना है क्योंकि प्रभुत्व का प्रयोग अथवा उसकी अभिव्यक्ति भौतिक व्यक्तियों अथवा संस्थाओं द्वारा ही हो सकती है। राष्ट्रीय प्रभुत्व आवश्यक रूप से लोक-प्रभुत्व नहीं है और जिस राज्य मे वयस्क मताधिकार प्रचलित नहीं है, उसमे तो राष्ट्रीय प्रभुत्व कभी लोक-प्रभुत्व नहीं हो सकता।

न्याय (Justice) और विवेक-बुद्धि (Reason) का प्रभुत्व

कुछ लेखको ने, जिनमे फ्रेंच लेखकों का प्राधान्य है, न्याय और विवेक-बुद्धि के प्रभुत्व को ही उचित माना है। उनका मत है कि यह प्रभुत्व बल की अपेक्षा न्याय पर आधारित है। यह कल्पना अत्यन्त भावात्मक है और इसके द्वारा प्रभुत्व की परिभाषा वैध सिद्धान्तो की अपेक्षा नैतिक सिद्धान्तो द्वारा करने का प्रयत्न किया गया है।

यथार्थ प्रभुत्व (De Facto Sovereignty)

प्रभुत्व के वैध (de jure) तथा यथार्थ (de facto) प्रभुत्व नामक दो भेद भी किये गये है। वैध प्रभु क्रान्ति, विद्रोह तथा राज्य मे बलपूर्वक परिवर्तन के फलस्वरूप स्थान-च्युत हो जाता है। तब उस समय जो प्रभु होता है, वह वैध नहीं होता, प्रत्युत वास्तविक अथवा यथार्थ (De facto) प्रभु होता है। यह आवश्यक नहीं कि यथार्थ प्रभु वैध प्रभु भी हो। जो व्यक्ति या व्यक्ति-समूह कुछ काल के लिए जनता को आदेश देकर उनके पालन कराने की क्षमता रखता है, वह यथार्थ प्रभु (Sovereign) होता है। इस प्रभु के कई रूप हो सकते हैं। वह राज्य को बलपूर्वक हड़पने वाला राजा, स्वयं-निर्मित परिषद, सैनिक अधिनायक, पुरोहित अथवा पैगम्बर भी हो सकता है। इनमे से प्रत्येक दशा में प्रभुत्व शारीरिक बल अथवा आत्मिक बल पर आधारित है, वैधानिकता पर नहीं। ऐसे प्रभुत्व का इतिहास मे अनेक स्थानो पर

उल्लेख मिलता है। यथार्थ प्रभुत्व के निम्नलिखित उदाहरण उल्लेखनीय हैं। लॉङ्ग पार्लमिन्ट को भंग करने के बाद क्रॉमवेल, डायरेक्टरी का खात्मा करने के बाद नैपोलियन, अँगरेजी कन्वेंशन जिसने विलियम तथा मेरी को ताज सौंपा, उत्तरी अमेरिका मे सन् १८६१ से सन् १८६५ तक दक्षिणी संघ (Southern Confederacy), रूस मे सन् १६१७ की क्रान्ति के बाद बालशेविक शासन। उनका आरम्भ मे कोई वैध आधार नहीं था, परन्तु बाद मे जनता तथा संसार के दूसरे राज्यो की स्वीकृति प्राप्त होने पर उनमे से कई ने अन्त मे वैध प्रभुत्व का रूप प्राप्त कर लिया था। जब किसी राज्य के एक भाग पर शत्रु-सेना का अधिकार (Occupation) हो जाता है और सेनानायक स्थानीय शासनाधिकारी का स्थान ग्रहण कर जनता को आदेश देता है और उससे उसका पालन करवाता है, तो वह भी यथार्थ प्रभुत्व का ही उदाहरण है। इनमे से कुछ उदाहरणो मे बलपूर्वक अधिकार करने वाले प्रभु ने वैध प्रभु को अपने वैध अधिकार से च्युत करके जनता से जबरदस्ती अपने आदेशो का पालन करवाया।

वैध प्रभुत्व (De Jure Sovereignty)

वैध प्रभुत्व की नीव कानून मे है, किसी व्यक्ति या व्यक्ति-समूह की शारीरिक शक्ति मे नहीं। वैध प्रभु शासन करने के वैध अधिकार पर निर्भर है। यह प्रभुत्व नियम या कानून द्वारा स्वीकृत है। वैध प्रभुत्व अपने औचित्य के लिए इस बात पर निर्भर नहीं कि कोई वास्तव मे उसके आदेश का पालन करे क्योकि कानून उसके अधिकार को मानता है। यह हो सकता है कि वैध प्रभु यथार्थ प्रभु न हो वह अधिकार-च्युत कर दिया गया हो अथवा विघटन या विद्रोह के कारण वह कुछ समय के लिए विलीन हो गया हो, परन्तु वैध प्रभु के पक्ष मे कानून है और उसे आदेश देने और उसका पालन कराने का उसे वैध अधिकार है। औचित्य की दृष्टि मे यह आवश्यक है कि जिस प्रभु का वास्तविक अधिकार है उसे वैध दृष्टि से भी राज्य करने का अधिकार होना चाहिये अर्थात् शारीरिक बल एव आधिपत्य का आधार वैध अधिकार होना चाहिये। जो प्रभु अपनी सत्ता की प्रतिष्ठा करने मे सफलता प्राप्त करता है, वह कालान्तर मे, जनता द्वारा मान लिए जाने अथवा राज्य के पुन संगठन के कारण वैध ही बन जाता है। यह ठीक उसी प्रकार है जैसे एक नियत अवधि तक किसी सम्पत्ति पर किसी व्यक्ति का अधिकार रहने मे वह उस पर वैध स्वाम्य प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार नवीन शासक या राजा, वैध प्रभुत्व की श्रेष्ठता के कारण ही, निर्वाचन आदि द्वारा अपने यथार्थ प्रभुत्व को वैध प्रभुत्व मे परिवर्तित कर लेना ही श्रेयस्कर समझता है। इस प्रकार वह अपने प्रभुत्व को एक वैध आधार प्रदान कर राज्य की प्रजा द्वारा अपने आदेशो का पालन कराने के लिए नैतिक अधिकार प्राप्त कर लेता है और पूर्व पदच्युत शासक या प्रभु के पक्ष को जनता द्वारा किसी प्रकार के षड्यन्त्र अथवा राजद्रोह का भय नही रहता। जैसा ब्राइस ने कहा है, जो सत्ता केवल बल पर ही आधारित होती है, उसका प्रजा द्वारा स्वाभाविक रूप से विरोध होता है।[1]

---

१. Studies in History and Jurisprudence, Vol. II, p 516. Austin (Jurisprudence, Lecture VI) वैध और यथार्थ प्रभुत्व के भेद नही मानता क्योकि उसके मत मे वैध और अवैध ये विशेषण प्रभुत्व के साथ नहीं लगाये जा सकते। कोई भी कानून जिसके द्वारा कोई व्यक्ति अथवा व्यक्ति समूह प्रभु हो सकता है वह स्वय उसका अपना कानून, अपना आदेश या अपनी इच्छा होगी

वाह्य प्रभुता (External Sovereignty)

प्रभुत्व वास्तविक अर्थ मे आन्तरिक सत्ता है ; राज्य के अन्तर्गत सभी वस्तुओं तथा व्यक्तियों पर, कुछ अपवादो को छोड कर जिन्हे राज्य स्वयं स्वीकार कर लेता है, उसका अधिकार होता है। अन्तर्राष्ट्रीय विधान लेखकों ने आन्तरिक प्रभुत्व (Internal Sovereignty) तथा वाह्य प्रभुत्व (External Sovereignty) मे भेद किया है। उनके अनुसार प्रभुत्व के दो रूप हैं, एक रूप मे वह राज्य के अन्तर्गत समस्त व्यक्तियों को आदेश देकर उनका पालन कराने की शक्ति है और दूसरे रूप मे अन्य राज्यो के सामने अपने राज्य का प्रतिनिधित्व करने की शक्ति है जिसमे युद्ध की घोषणा तथा शान्ति-सन्धि करने की शक्ति भी शामिल है। परन्तु यह भेद समुचित नहीं। इसे 'वाह्य' प्रभुत्व के नाम से सम्बोधन करना उचित नहीं। इसका आशय तो यह होगा कि राज्य कुछ ऐसे विषयों मे भी प्रभुत्व रखता है, जो उसकी सीमा के बाहर है। ऐसा आशय सर्वथा तथ्य के विरुद्ध है। कुछ विद्वानों के मत मे वाह्य प्रभुत्व से प्रयोजन राज्य की विदेशी शासन या नियन्त्रण से मुक्ति है, अर्थात् समस्त विदेशी इच्छाओं के विरुद्ध राज्य का प्राधान्य, चाहे वे इच्छाएं व्यक्तियो की हो अथवा राज्यो की। संक्षेप मे, आन्तरिक प्रभुत्व का स्वीकारात्मक पक्ष है और वाह्य प्रभुत्व का सम्बन्ध उसके निषेधात्मक पहलू से है। इस भाव में प्रभुत्व का प्रयोग करना आपत्तिजनक नहीं होगा, परन्तु वाह्य प्रभुत्व के स्थान मे 'स्वतन्त्रता' (Independence) शब्द का प्रयोग उचित होगा ; क्योकि आशय वास्तव मे स्वतन्त्रता का ही है, प्रभुत्व का नहीं। प्रत्यक्षतः जो राज्य आन्तरिक मामलो मे प्रभुत्वसम्पन्न है वह आवश्यक रूप से वाह्य विषयो मे भी प्रभुत्वसम्पन्न होना चाहिए, अर्थात् वह स्वतन्त्र होना चाहिए। ऐसा माना जाता है कि प्रभुत्व राज्य-विज्ञान तथा वैधानिक कानून का शब्द है और उससे श्रेष्ठ एवं निम्न मे—राज्य और उसकी जनता के बीच—सम्बन्ध प्रकट होता है। यह अन्तर्राष्ट्रीय विधान का उपयुक्त शब्द नहीं है, क्योकि इससे स्वतन्त्र राज्यो क पारस्परिक सम्बन्धो की व्याख्या नहीं हो सकती। अतः वाह्य प्रभुत्व की कल्पना केवल अनुपयुक्त ही नहीं, भयानक और अनिष्टकारी भी है। उसका राज्य-विज्ञान और अन्तर्राष्ट्रीय विधान सम्बन्धी साहित्य से बहिष्कार कर देना चाहिये।

प्रभुत्व की विशेषताएँ

स्थायित्व (Permanence), एकता (Unity) पार्थक्य अथवा वर्जनशीलता (Exclusiveness) एव सर्वव्यापिता (All-Comprehensiveness)—

प्रभुत्व की विशेषताएं हैं, स्थायित्व, पार्थक्य, सर्वव्यापिता, एकता, अविभाज्यता, निरपेक्षता (Absoluteness), अविच्छेद्यता (Inalienability), असीमता (Illimitability) तथा निरवधिवाधिता (Imprescriptibility)। स्थायित्व से आशय यह है कि जब तक राज्य कायम रहता है, तब तक प्रभुत्व कायम रहता है। प्रभुत्वधारी की मृत्यु अथवा अल्पकालिक पदच्युत तथा राज्य के पुनः सगठन के कारण प्रभुत्व का नाश नहीं होता, वह तुरन्त नये प्रभुत्वधारी के हाथों मे पहुँच जाता है, ठीक उसी प्रकार जैसे किसी भौतिक पदार्थ मे वाह्य परिवर्तन होने पर गुरुत्वाकर्षण केन्द्र एक स्थान से हटकर दूसरे स्थान को चला जाता है। पार्थक्य से प्रभुत्व के उस गुण

है। इस प्रकार यह कहना कि एक व्यक्ति या व्यक्ति-समूह वैध प्रभु है वैसा ही होगा जैसा यह कहना कि वह वैध है क्योकि वह कहता है कि हम वैध है।

से आशय है जिसके कारण राज्य मे एक ही ऐसी सर्वोच्च सत्ता होती है जिसे समस्त जनता को आदेश देने तथा उनका पालन कराने का वैध अधिकार होता है। इसको न मानने पर राज्य की एकता के सिद्धान्त से भी इन्कार करना पड़ेगा। प्रभुत्व की सर्व-व्यापिता से प्रयोजन राज्य की सीमाओं के अन्तर्गत प्रभुत्व की व्यापकता मे है। उसका अधिकार राज्य के भीतर, केवल उन वस्तुओं को छोड़कर जिन पर राज्य ने स्वेच्छा से अपने अधिकार का प्रयोग छोड़ दिया है, समस्त व्यक्तियों, संस्थाओं एवं वस्तुओं पर होता है।

अविच्छेद्यता

अविच्छेद्यता (Inalienability) से तात्पर्य राज्य के उस गुण से है जिसके कारण वह अपने किसी भी सारभूत तत्व को, स्वयं नष्ट हुए बिना, विलग नहीं कर सकता। लाइबर (Lieber) का कथन है कि प्रभुत्व ठीक उसी प्रकार अलग नहीं किया जा सकता जिस प्रकार कि एक व्यक्ति अपना आत्म विनाश किये बिना अपने व्यक्तित्व या अपने जीवन को अपने से पृथक् नहीं कर सकता। रूसो का भी ऐसा ही विचार था, परन्तु वह मानता था कि सत्ता का हस्तान्तर हो सकता है। प्रभुत्व का विच्छेदन अथवा हस्तान्तर सम्भव नहीं क्योंकि वह राज्य के व्यक्तित्व का सार है और उसके हस्तान्तर के साथ उस व्यक्तित्व का भी विनाश हो जायगा। प्रभुत्व राज्य की सर्वोच्च सत्ता, उसके जीवन का अमर तत्व है और राज्य से उसका अलग होना उसकी आत्म हत्या के समान है। कुछ लेखकों के इसके विपरीत विचार है। प्रो० रिची का कथन है कि प्रभुत्व की अविच्छेद्यता इतिहास से मिथ्या प्रमाणित होती है। यह नहीं कहा जा सकता कि जब राज्य अपने किसी प्रदेश को हस्तान्तर करता है, तो हस्तान्तरित प्रदेश पर उसका प्रभुत्व बना रहता है। इतिहास म ऐसे अनेक उदाहरण हैं जब कि राज्यों ने अपने प्रदेश दूसरो को दे दिये और उनके साथ ही प्रभुत्व भी दे दिया गया। परन्तु यह कहना एक बिलकुल ही दूसरी बात होगी कि राज्य प्रदेशदान के बिना भी अपने प्रभुत्व को दूसरे को देकर अपना अस्तित्व कायम रख सकता है; अविच्छेद्यता का यह भी आशय नहीं है कि जिस व्यक्ति या व्यक्ति-समूह के हाथ में प्रभुत्व है वह पद-त्याग नहीं कर सकता। ब्रिटिश पार्लमिन्ट बिना दूसरी पार्लमिन्ट को आमन्त्रित करने की व्यवस्था किये स्वयं भंग हो सकती है। इसी प्रकार रूस का जार स्वेच्छा से अपने प्रभुत्व का ड्यूमा (Duma) के निमित्त त्याग कर सकता था। परन्तु इसका आशय यह नहीं है कि इनमें से किसी भी अवस्था में प्रभुत्व छोड़ दिया गया, उसका केवल हस्तान्तर हुआ है।

प्रभुत्व की अविच्छेद्यता के सम्बन्ध में १६वीं तथा १७वीं शताब्दियों में लेखकों ने काफी विचार किया था। राजा की सर्वोच्च सत्ता के समर्थकों का यह विचार था कि चाहे आदि-काल में जनता प्रभुत्व-सम्पन्न रही हो, परन्तु राजा को उसका हस्तान्तर हो जाने के बाद अब उसे जनता पुनः प्राप्त नहीं कर सकती। स्वारेज ग्रोटियस, वुल्फ तथा हॉब्स की राय यही थी। दूसरे प्रजावादी (Monarchomach) लेखकों का यह विचार था कि जनता आरम्भ से ही प्रभुत्वसम्पन्न थी। उसने प्रभुत्व का हस्तान्तर राजाओं एवं शासकों को कभी नहीं किया। वह ऐसा कर ही नहीं सकती थी; क्योंकि प्रभुत्व स्वभावतः अविच्छेद्य है। इस वाद-विवाद के चाहे जो कुछ गुण-दोष हों, आधुनिक विधानवेत्ता तो अब यही बताते हैं कि प्रभुत्व अविच्छेद्य है।

प्रभुत्व की निरवधिवाधिता

उपर्युक्त वादविवाद के सम्बन्ध में यह विचार किया गया था कि यदि एक

लम्बी अवधि तक प्रभुत्व का उपयोग न किया जाय तो क्या उसका अस्तित्व नहीं रहता ? एक तरफ तो यह कहा गया कि यदि जनता कभी प्रभुत्वसम्पन्न थी तो उसका प्रभुत्व या तो राजा को दे देने के कारण या उसका प्रयोग न करने के कारण नष्ट हो गया। उदाहरणार्थ, फ्रान्स की दलील दी गयी, जहाँ एक लम्बी अवधि तक निर्बाध प्रयोग करके राजा ने प्रभुत्व पर एक वास्तविक सम्पत्ति-अधिकार प्राप्त कर लिया था। दूसरी ओर यह कहा गया है कि एक अवधि तक प्रयोग न करने के कारण अधिकार नष्ट हो जाने के सिद्धान्त का सम्बन्ध केवल निजी कानून (Private law) से है। जनता के अधिकारों के सम्बन्ध में वह लागू नहीं हो सकता और इस प्रकार उसके द्वारा इस दलील का समर्थन नहीं किया जा सकता कि एक लम्बे समय तक अपने प्रभुत्व का प्रयोग न करने के कारण जनता अपने प्रभुत्व को खो चुकी। विधानवेत्ताओं की आजकल प्राय. यही राय है।

(४) प्रभुत्व की अविभाज्यता

एक राज्य में एक ही प्रभु

प्रभुत्व की एक विशेषता है उसकी एकता। वह राज्य में सर्वोच्च इच्छा (अथवा सत्ता) है, उसका विभाजन अनेक इच्छाओं को जन्म दिये बिना नहीं किया जा सकता और यह प्रभुत्व की भावना के विपरीत होगा। जैसा जेलिनेक ने कहा है, विभाजित, खण्डित, क्षीण, सीमित एवं सापेक्ष प्रभुत्व प्रभुत्व-भावना के प्रतिकूल है। यदि बहुवादियों (Pluralists) के सिद्धान्तानुसार प्रभुत्व के खण्ड-खण्ड करके उन्हें राज्य तथा दूसरी संस्थाओं के मध्य विभाजित कर दिया जाय तो इससे सम्भवत: राज्य नष्ट हो जायगा। एक राज्य के अन्तर्गत अनेक सर्वोच्च सत्ताओं (Supreme powers) के होने से राज्य में सघर्ष होगा और अन्ततोगत्वा वह बिलकुल अशक्त हो जायगा। यदि समस्त सर्वोच्च सत्ताएँ एक कोटि की हों तो स्पष्ट है कि उनमें से कोई भी प्रभुत्व सम्पन्न नहीं है, और यदि एक सर्वोच्च सत्ता दूसरों से श्रेष्ठ एवं उच्चतम हो, तो स्पष्टत: वही प्रभुत्व-सम्पन्न होगी और अन्य उसके अधीन। ऐसी दशा में प्रभुत्व का विभाजन वास्तव में कोई विभाजन नहीं हुआ। इस सत्य को सन् १८५१ में जान० सी कैलहौन (Calhoun) नामक लेखक ने बड़ी जोरदार भाषा में प्रकट किया था। अपनी एक पुस्तक में उसने इस सम्बन्ध में लिखा कि 'प्रभुत्व एक सम्पूर्ण वस्तु है; उसे विभाजित करना उसे नष्ट करना है। वह राज्य में सर्वोच्च सत्ता है; अर्द्ध-प्रभुत्व कहना तो वैसा ही होगा जैसा अर्द्ध-त्रिभुज अथवा अर्द्ध-वर्ग कहना।'

विभाजित प्रभुत्व का सिद्धान्त

किन्तु आजकल राजनीति-विशारद तथा लेखक इस विचार को पूर्णतया नहीं मानते। योरोप में सोलहवीं तथा सत्रहवीं शताब्दी में एक बड़ी संख्या में छोटे स्वतन्त्र राज्यों के अस्तित्व के कारण इस प्रकार का विचार फैल गया कि पूर्ण तथा अपूर्ण-प्रभुत्वसम्पन्न राज्य होते हैं। इस प्रकार का भेद वास्तव में विभाजित प्रभुत्व (Divided Sovereignty) के सिद्धान्त पर निर्भर है। आधुनिक समय में राज्यमण्डल (Confederation), वास्तविक सयोग (Real Unions), सघीय राज्य (Federal States) जैसे संहत राज्यों तथा सरक्षित राज्यों (Protectorates) के निर्माण के कारण विभाजित प्रभुत्व की भावना और भी पुष्ट हो गयी है।[1]

---

१. अभी हाल में संसार में जो राजनीतिक घटनाएँ हुई हैं उनके कारण ऐसी स्थिति

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य मे संयुक्त राज्य अमेरिका की व्यवहारिक राजनीति मे दोहरा प्रभुत्व प्रथम बार वाद विवाद का विषय बन गया। विधान के अनुसार संयुक्त राज्य अथवा राज्य-मण्डल (Confederation) के प्रत्येक सदस्य के पास अपना निजी प्रभुत्व स्पष्ट रूप से रहा आया था। परन्तु सन् १७८६ का संघ-विधान इस अति महत्वपूर्ण प्रश्न पर मौन था। अतः संघ-राज्य (Federal Union) मे प्रभुत्व के सम्बन्ध में यह प्रश्न बना ही रहा है कि प्रभुत्व प्रत्येक सदस्य राज्य का था या *संघ का अथवा संघ और उसके प्रत्येक सदस्य राज्य के बीच विभाजित था।* संयुक्त राज्य अमेरिका के संघ विधान में यह बात इसलिय स्पष्ट नहीं की जा सकी थी कि विधान बनाने वाली सभा (Convention) में राष्ट्रीय और स्थानीय हितो के समर्थकों के बीच समझौता करना आवश्यक था जो इस प्रश्न पर मौन रह कर ही किया जा सकता था।[2]

अमेरिका में विधान की स्वीकृति के समय विधान-वेत्ता अमेरिकन संघ-प्रणाली के अन्तर्गत दोहरे प्रभुत्व के सिद्धान्त को साधारणतया मानते थे। हैमिल्टन तथा मैडीसन ने 'फेडरलिस्ट' (Federalist)[3] मे इसका उल्लेख किया और सुप्रीम कोर्ट (अमेरिका) ने भी सन् १७९२ में यह निर्णय देते हुए उसे स्वीकार किया कि संयुक्त राज्य (United States) उन राष्ट्रीय मामलो में प्रभुत्वसम्पन्न है, जो उसे सौंप दिये गये हैं और राज्य (States) अपने-अपने सुरक्षित विषयों में प्रभुत्व सम्पन्न हैं। इस विचार को वह न्यायालय आज तक मानता है। इस विचार को सुप्रसिद्ध और उच्च-कोटि के विधान विशेषज्ञ तथा न्यायाधीश जैसे कूले और स्टोरी, तथा प्रख्यात राजनीतिक लेखकों जैसे टॉकविल, व्हीटन, हैलेक, हर्ड, डिक्सि आदि ने स्वीकार किया है। हर्ड का विचार है कि 'इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि जिन राजनीतिज्ञों ने संयुक्त राज्य अमेरिका के शासन-विधान की रचना की वे इस बात को भली भाँति समझते थे कि राजनीतिक प्रभुत्व अपने विषय तथा सत्ता की दृष्टि से विभाजन के योग्य है।' उनका यह विचार था कि प्रभुत्व 'राष्ट्र' (Nation) तथा राज्यों के बीच विभाजित है अर्थात् संयुक्त राज्य अमेरिका के विधान के अन्तर्गत प्रत्येक राज्य और संयुक्त राज्य के लिए जो-जो क्षेत्र या विषय निर्धारित हैं, वे उन-उन क्षेत्रों मे प्रभुत्वसम्पन्न हैं। केलहौन ने इस सिद्धान्त का बड़ा जोरदार खण्डन किया। उसके मत में प्रभुत्व अवि-

---

उत्पन्न हो गयी है जिससे कुछ लोगो को संदिग्ध प्रभुत्व के कुछ उदाहरण मिल गये हैं। जैसे मचूरिया का, चीन के अधीन होते हुए भी, १९०० से १९०५ तक सन्धियों के अनुसार रूस के द्वारा शासन हुआ। इसी प्रकार तुर्कों के नाम मात्र के प्रभुत्व में रहते हुए भी बोस्निया तथा हर्जीगोविना का शासन सन् १८७८ से सन् १९०८ तक ऑस्ट्रिया-हंगरी के हाथ में था। एक विचित्र स्थिति वहाँ भी है जहाँ एक ही प्रदेश पर दो राज्य मिल कर प्रभुत्व का प्रयोग करते हैं।

२ इस मत के समर्थन के लिये A. W. Small का Forum के जून, सन् १८९५ के अङ्क में 'The Beginnings of American Nationality' शीर्षक वाला लेख देखिये। इससे विपरीत मत *Willoughby* का है। देखिये, *Nature* of the State, p. 272.

३ "देखिये, अङ्क ३२ और ३९।"

भाज्य है— उसका विभाजन नही किया जा सकता ; प्रभुत्व संघ-राज्य के प्रत्येक विधायक राज्य मे प्रक्षुण्ण दशा मे और सम्पूर्ण रूप मे विद्यमान् है । जहाँ तक सयुक्त राज्य अमेरिका से सम्बन्ध है, यह प्रश्न सन् १८६१—१८६५ के सशस्त्र संघर्ष द्वारा अन्तिम रूप से तय हो गया था, परन्तु आज भी लेखको मे इस सम्बन्ध मे मतभेद है कि जो सत्ता राज्यो के पास सुरक्षित है, वह प्रभुत्व है अथवा केवल स्थानीय स्वराज्य (Autonomy) ।[1]

विदेशी लेखकों के विचार

विदेशी लेखको मे भी प्रभुत्व के विभाजन के सम्बन्ध मे वही मतभेद दिखाई देता है । फ्रीमैन नामक एक अंग्रेज लेखक ने लिखा है कि संघीय आदर्श की पूर्णता के लिए प्रभुत्व का पूर्ण विभाजन परम आवश्यक है ।' फ्रेंच विद्वान् डी टॉकविल, एस्मीन, ड्यूग्वी लेफर आदि के भी यही विचार हैं । जहाँ तक संघ-राज्यों में प्रभुत्व से सम्बन्ध है, जर्मन विद्वान् भी इसी विचार का समर्थन करते हैं । जर्मनी मे प्रभुत्व के विभाजन के सिद्धान्त का जन्मदाता सुविख्यात वेज (Waitz) था और उसके अनुयायियो मे फॉन मोहल, ब्लुट्श्ली, शुल्जे आदि थे । जर्मनी मे साम्राज्य की प्रतिष्ठा तथा प्रान्तीयता पर राष्ट्रीयता की विजय के बाद जर्मन दार्शनिको एव लेखको मे विभाजित प्रभुत्व का सिद्धान्त कम प्रचलित रहा और एकात्मक सिद्धान्त के समर्थक ही देश मे अधिक रहे । इस एकात्मक सिद्धान्त के अनुसार जर्मन साम्राज्य (सन् १८७१-१९१९) का प्रभुत्व *उसके अन्तर्गत व्यक्तिगत राज्यो तथा साम्राज्य मे विभाजित नही* था वरन् उस राज्य समूह के एकान्त व्यक्तित्व मे निहित था । जब विभिन्न राज्य जर्मन साम्राज्य के सदस्य बन गये तब, जैसा बिस्मार्क ने कहा, वे अपने प्रभुत्व का परित्याग कर साम्राज्य के सयुक्त प्रभुत्व में भागीदार बन गये ।

शासन-सत्ता (Governmental Power) का विभाजन

यद्यपि श्रेष्ठतम विचार तो यही है कि प्रभुत्व अविभाज्य है—वह एक है ; उसका विभाजन नहीं हो सकता, तथापि यह समझ में नही आता कि प्रभुत्व को सत्ताओ की अभिव्यक्तियो का विभाजन क्यों नही हो सकता और उसके विभिन्न रूप विभिन्न संस्थाओ द्वारा क्यो व्यक्त नही किये जा सकते । रूसो ने कहा है कि सत्ता का विभाजन हो सकता है , परन्तु इच्छा का विभाजन कदापि नही हो सकता ; वह एक और अविभाज्य है । जो राज्य-प्रभुत्व के विभाजन के समर्थक हैं वे भ्रमवश प्रभुत्व की अभिव्यक्तियों एवं सत्ताओ को ही प्रभुत्व मान लेते है ।[2] केलहोन ने भी इसी भाव को इस प्रकार व्यक्त किया , इस बात को समझने में कोई कठिनाई नही कि प्रभुत्व से सम्बन्धित सत्ताओं एवं अधिकारो का विभाजन कैसे हो सकता है ; एक प्रकार के अधिकारो का प्रयोग एक अंग को कैसे सौंप दिया जा सकता है और दूसरे प्रकार को

---

१. *प्रेसिडेण्ट विल्सन का मत था कि अमेरिका के सङ्घ के सदस्य राज्य वास्तविक* राज्य थे यद्यपि उनका क्षेत्र उनके ऊपर स्थापित सङ्घ राज्य की प्रभुत्वसम्पन्न शक्तियो द्वारा सीमित हो गया ।

२. प्रभुत्व की अविभाज्यता के सिद्धान्त को ड्यूग्वी शक्ति-पार्थक्य के सिद्धान्त से असंगत मानता है । परन्तु यह समझ में नही आता कि असंगत कहाँ है । शक्ति *पार्थक्य का अर्थ प्रभुत्व का विभाजन नही है,* उसका अर्थ तो केवल शासन के विभिन्न अंगों के बीच शासन-सत्ता का विभाजन है ।

सत्ता अन्य अगो को, अथवा प्रभुत्व एक, कुछ तथा बहुत से व्यक्तियों में कैसे निहित हो सकता है। परन्तु यह कल्पना करना सम्भव नही है कि स्वयं प्रभुत्व अथवा सर्वोच्च सत्ता का विभाजन कैसे हो सकता है।

इस सिद्धान्त को सघ-राज्य के सम्बन्ध में लागू किया जाय तो हम यह देखेंगे कि राज्य की प्रभुत्व सम्पन्न इच्छा को कुछ विषयों में केन्द्रीय सरकार के माध्यम द्वारा तथा दूसरे विषयों में सघ के विधायक अगो के द्वारा अभिव्यक्ति होती है, परन्तु इस प्रकार प्रभुत्व का विभाजन नही होता। प्रभु स्वयं शासन-सत्ताओ को सघ-राज्य के विविध अगो में विभाजित कर देता है, परन्तु स्वय सर्वोच्च इच्छा का विभाजन नही होता। यह कहना कि सघ का प्रत्येक विधायक राज्य आशिक रूप से या अपने क्षेत्र में प्रभुत्वसम्पन्न है 'प्रभुत्व' शब्द का दुरुपयोग ही होगा। कानूनी दृष्टि से यह कहना भी उतना ही युक्ति-सगत होगा कि एक म्युनिसिपल कॉरपोरेशन अथवा एक धार्मिक संघ अपनी कानूनी सीमा के भीतर प्रभुत्व सम्पन्न है। जेलिनेक ने स्पष्ट शब्दो में कहा है कि सघ-राज्य में विभाजित प्रभाव की भावना प्रभुत्व को राजनीतिक सत्ता समझने के भ्रम के कारण है। उसने कहा कि सघ राज्य में न तो प्रभुत्व का विभाजन होता है और न राज्य-सत्ता का, वरन् उन वस्तुओ का विभाजन होता है जिनके सम्बन्ध में उनका प्रयोग किया जाता है।

अमेरिकन सघ-प्रणाली में प्रभुत्व की प्रकृति पर विचार करते हुए एक सुयोग्य विद्वान् लेखक ने लिखा है कि 'बीच का और कोई मार्ग नही है, प्रभुत्व अविभाज्य है, वह या तो केन्द्रीय सत्ता में निहित है अथवा अलग-अलग सदस्य राज्यो में।' सघ-राज्य में वही सत्ता, केवल वही सत्ता, प्रभुत्वसम्पन्न है जो वास्तव में केन्द्रीय शासन तथा वैयक्तिक राज्यो की क्षमता का निर्धारण करती है तथा जो उनमें सत्ता का वितरण इस प्रकार करती है जिससे एक की सत्ता में वृद्धि तथा दूसरे की सत्ता में कमी हो जाय। वह सत्ता न केन्द्रीय शासन मे है और न राज्यो मे। वह उन सबसे ऊपर है और जहाँ ऐसी सत्ता है, वहाँ प्रभुत्व है। प्रभु को खोज निकालना, विशेषकर आजकल के सहृत (Composite) राज्यो मे, सदा सरल नही होता और यदि हम उसे ढूँढ भी लें तो उसे सदा पहचाना भी नही जा सकता। यह स्पष्ट रूप से सकेत करना कठिन है कि वह सत्ता कहाँ स्थित है। वैधानिक पडित और एक सामान्य व्यक्ति उसकी अपने-अपने ढग से खोज करते हैं और वे उसे (प्रभुत्व को) एक ही स्थान पर नही पाते। परन्तु वह सदैव किसी स्थान पर विद्यमान् है और यदि हम अपने अनुसंधान को उस समय तक जारी रखें जब तक कि हम एक ऐसे व्यक्ति, परिषद् या व्यक्ति-समूह की खोज कर सकें, जो सत्ता का आदि स्रोत है, तो हम कहेंगे कि वही प्रभु है।

(५) ऑस्टिन का प्रभुत्व-सिद्धान्त

कानून तथा प्रभुत्व की परिभाषा

प्रभुत्व की जो धारणा विश्लेषणवादी विधान-विशेषज्ञो और विशेषत: उनमें से सबसे प्रसिद्ध विद्वान् जॉन ऑस्टिन की है, उसका गत अर्द्ध शताब्दी के कानूनी विचार पर बडा प्रभाव पडा है। ऑस्टिन के विचारो को मूलत: हॉब्स तथा बेन्थम से प्रेरणा मिली जिन्हें उसने अपनी पुस्तक (Lectures on Jurisprudence) में सन् १८३२ मे प्रकट किया। कानून की प्रकृति के विषय में उसके जो विचार थे उनका उसके सिद्धान्त के रूप पर काफी प्रभाव पडा। उसने कानून को 'एक श्रेष्ठ व्यक्ति द्वारा व्यक्ति को दिया गया आदेश' कह कर उसकी सामान्य परिभाषा की है। उसने लिखा

है कि 'यदि कोई निश्चित मानव, जो श्रेष्ठतम है, जो उसी प्रकार के किसी अन्य श्रेष्ठतम व्यक्ति से आदेश प्राप्त करने का अभ्यस्त नहीं है, एक निश्चित समाज के एक बड़े भाग से साधारणतया अपने आदेशों का पालन कराने का अभ्यास है, तो वह उस समाज में प्रभु है और वह समाज, उस श्रेष्ठतम मानव सहित, राजनीतिक तथा स्वतन्त्र समाज है' उसके आगे उसने लिखा है कि 'प्रत्येक कानून ऐसे प्रभुत्वसम्पन्न व्यक्ति या व्यक्ति-समूह द्वारा स्वाधीन राजनीतिक समाज के सदस्यों के लिए जारी किया जाता है जिस समाज में वह प्रभुत्वसम्पन्न एवं सर्वोच्च है।'

इस प्रकार ऑस्टिन के विचार में प्रभुत्व की कसौटी यह नहीं है कि एक सर्वश्रेष्ठ मानव की आज्ञा का अभ्यस्त पालन एक निश्चित समाज के सब सदस्यों द्वारा हो, प्रत्युत एक बड़े भाग द्वारा उसकी आज्ञा का पालन ही प्रभुत्व की कसौटी है। यह सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति न तो रूसो के शब्दों में जन-साधारण की 'सामान्य इच्छा' (General will) हो सकता है, न लोक अथवा समस्त जनता ही, न निर्वाचक-मण्डल और न नैतिक भावना, लोकमत, सामान्य बुद्धि, ईश्वरेच्छा जैसी कोई काल्पनिक वस्तु हो हो सकता है। वह एक निश्चित व्यक्ति या अधिकारी (Determinate person or authority) होता है जिस पर कोई वैध प्रतिबन्ध नहीं होता।

ऑस्टिन के सिद्धान्त की समीक्षा

ऑस्टिन के इस सिद्धान्त की कि प्रभुत्व एक निश्चित व्यक्ति में निहित होता है अनेक ऐतिहासिक विधान विशेषज्ञों ने आलोचना की है जिनमें मेन, क्लार्क तथा सिजविक प्रमुख हैं। सर्वप्रथम इस सिद्धान्त पर यह आपत्ति की गयी है कि यह आधुनिक लौकिक प्रभुत्व की भावना के प्रतिकूल है। यह रूसो के उस सिद्धान्त का, जो कि आधुनिक लोकतन्त्र राज्य का आधार है, सर्वथा प्रतिकूल रूप है कि 'जनता की सामान्य इच्छा' ही प्रभुत्व है। दूसरे यह सिद्धान्त लोकमत की शक्ति की उपेक्षा करता है और राजनीतिक प्रभुत्व को कोई महत्व नहीं देता। सर हेनरी मेन ने लिखा है कि यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि प्रभुत्व अनेक बार ऐसे व्यक्तियों में निहित रहा है, जो निश्चित नहीं थे। उसने आगे चलकर लिखा है कि कुछ लेखक जोर देकर कहते हैं कि यह बात संयुक्त राज्य अमेरिका के गणतन्त्र (Republic) में प्रभुत्व के स्थायी स्थान के सम्बन्ध में सत्य है।[1] ऑस्टिन ने कानून को एक निश्चित श्रेष्ठतम व्यक्ति द्वारा दिया गया आदेश माना है। ऐतिहासिक कानून विशेषज्ञ इस विचार से सहमत नहीं हैं क्योंकि इसमें व्याख्या तथा परम्परा से उत्पन्न रीति-रिवाज सम्बन्धी कानून (Customary Law) की उपेक्षा होती है जिसने काफी विशद रूप धारण कर लिया है; और जिसकी उत्पत्ति किसी श्रेष्ठतम व्यक्ति के आदेश से नहीं हुई। ऑस्टिन ने समस्त कानूनों को 'श्रेष्ठतम व्यक्ति के आदेश' मानकर बड़ी भूल की है। इसके साथ ही वह केवल 'बल' के तत्व पर ही अत्यधिक जोर देता है और ऐसे स्पष्ट ऐतिहासिक तथ्यों की अवहेलना करता है जिनसे वह अवश्य ही परिचित रहा होगा।

इस सिद्धान्त के विरुद्ध एक दूसरी आपत्ति यह है कि यह निरंकुशता को प्रभुत्व

---

१. Maine, 'Early History of Institutions,' Lecture XIII. परन्तु स्पष्टतः ऑस्टिन वैध प्रभुत्व के विषय में लिख रहा था जो वस्तुतः किसी निश्चित सत्ता में ही निहित हो सकता है। उसका आशय राजनीतिक प्रभुत्व नहीं था जो एक अनिश्चित जन-समुदाय में रह सकता है।

का लक्षण मानता है। हाब्स की भाँति ऑस्टिन ने भी यह माना है कि कानून का स्रोत किसी उच्च कानून द्वारा सीमित नहीं किया जा सकता। इस प्रकार के प्रभुत्व में वैध निरंकुशता आ जाती है। प्रधानताओं की कोई सीढ़ीनुमा शृंखला नहीं हो सकती, एक ही कोटि के अनेक सृष्टा साथ साथ नहीं हो सकते और न एक के ऊपर दूसरा ऐसे अनेक प्रभु ही हो सकते हैं। उसने यह स्पष्टत कहा है कि हम यह मानने से इन्कार नहीं कर सकते कि प्रभुत्व पर कोई कानूनी प्रतिबन्ध नहीं, अत प्रभु वैध दृष्टि से स्वेच्छाचारी है, चाहे वह वास्तव में कितना ही उदारमना क्यों न हो। परन्तु उसने स्पष्ट रूप से यह बात सत्य ही बतलाई है, कि चूँकि प्रभु की सत्ता असीमित है इसलिये जिस शासन द्वारा उसकी अभिव्यक्ति होती है, वह भी असीमित है, यह विचार ठीक नहीं है।

ऑस्टिन की मुख्य भूल यह है कि उसने प्रभुत्व के कानूनी पक्ष पर ही अधिक विचार करके अन्य शक्तियाँ एव प्रभावों की उपेक्षा की है जो कानून के पीछे रहते हैं। उसका सिद्धान्त प्रत्येक प्रकार के राज्य में भी लागू नहीं हो सकता, उदाहरणार्थ, उन राज्यों में जिनका वर्णन मेन ने अपनी पुस्तक Early History of Institutions में किया है। परन्तु प्रभुत्व की कानूनी प्रवृत्ति की जैसी धारणा ऑस्टिन ने सामने रखी है वह स्पष्ट और तर्कयुक्त है और उसकी आलोचना का अधिकांश गलतफहमी के कारण हुआ है।[1]

मुख्य पाठ्य-ग्रन्थ

Austin, "Jurisprudence" (1832), lect. VI.

Bluntschli, "Theory of the State" (Oxford translation, (1896), Bk VII, Chs 1-3

Borchard, "Political Theory and International Law," in Merriam, Barnes, and others, "Political theories, Recent Times" (1924), Ch 4

Brown, "The Austinian Theory of Law," Chs. 3-5.

Bryce, "The Nature of Sovereignty" in "Studies in Jurisprudence and History" (1901), Vol II

Burgess, "Political Science and Constitutional Law" (1891), Vol I, Bk II Ch. 1

Carre de Malberg, "Theorie generale de l'etat" (1920), Vol. I, Ch. 2. also Vol. II, Ch 1.

Coker, "The Attack Upon State Sovereignty," in Merriam, Barnes, and others, *op. cit.*, Ch. 3.

Dicey, "Law of the Constitution" (8th ed , 1915), lect. II ; also his "Law and Public Opinion" (1900), lect I.

Duguit, "Traite de droit constitutionnel" (ed., 1911), Vol. I, secs 16 29 32 ; (ed. 1923), Vol II, secs 10-13 ; "The Law and the State," *Harvard Law Review*, Vol.

---

१. ऑस्टिन के सिद्धान्त की समीक्षा के लिए देखिये, Jethro Brown : The Austinian Theory of Law (1906), विशेषकर अध्याय ३ और ५। ऑस्टिन के मत को इंगलैन्ड तथा जर्मनी के अधिकांश कानूनवेत्ता मानते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका में उसको मानने वाला मुख्यकर विलोबी है।

XXXI, November, 1917 (translation by Slovere, 1917), Ch. 7; and "Souverainete et liberte" (1922), Lecon V.

Elliott, "Sovereign State or Sovereign Group," *Amer. Pol. Sci. Rev.*, Vol. XIX (1925), pp. 475 ff.

Esmein, Elements de droit constitutionnel" (5th ed. 1909), Tit. II, Ch 2.

Garner, "Limitations on National Sovereignty in International Relations," *Amer Pol. Sci. Rev.* Vol. XIX (1925), pp. 1 ff.

Gilchrist, "Principles of Political Science" (1921), Ch. 5.

Jellinek, "Recht des modernen Staates" (1900), Ch. 14; French *translation ("L'etat modern et son droit")*, 1913, Vol. II, Ch. 14.

Krabbe, "The Modern Idea of the State" (translation by Sabine and Shepard), also his "Die Lehre von der Rechts Souveranitat" (1906)

Laski, "The Problem of Sovereignty" (1917), Ch. I: also "Grammar of Politics" (1925), Ch. 2.

Lowell, "*Essays on Government*" (1889), *No.* V.

MacIver, "The Modern State" (1926), pp. 467-479

Merriam, "History of the Theory of Sovereignty Since Rousseau" (1910), Ch. I.

Oppenheim, "International Law" (3rd ed 1920), Vol. I, Pt. I, Ch. 1.

Shepard, "Sovereignty at the Cross Roads," *Political Science Quarterly*, Vol XVL (1930), pp. 580 ff.

Willoughby, "The Nature of the State" (1900), Chs. 9, 11. Also "The Fundamental Concepts of Public Law" (1925), Ch 8.

राज्य का प्रभुत्व (२)

(६) सीमित प्रभुत्व का सिद्धान्त

अ-कानूनी मर्यादाएँ

राज्य का प्रभुत्व कानूनी रूप से असीमित है और वह सीमित किया भी नहीं जा सकता, ऐसा सामान्यतया सभी विद्वानों ने माना है। राज्य में सर्वोच्च सत्ता होने के कारण कानूनी दृष्टि से उसके ऊपर कोई सत्ता नहीं हो सकती। यह कहना कि वह किसी श्रेष्ठतर शक्ति द्वारा मर्यादित है, विरोधोक्ति है।

प्रभुत्व पर कोई कानूनी मर्यादा रहे और वह प्रभुत्व बना रहे ऐसा नहीं हो सकता। परन्तु कुछ लेखकों ने प्रभु के लिए कुछ नैतिक बंधन स्वीकार किये हैं। ये नैतिक बंधन या प्रतिबंध मानव के जन्म-सिद्ध एवं प्राकृतिक अधिकारों द्वारा पैदा हुए हैं जिनका अस्तित्व कुछ विचारकों के मत के अनुसार स्वतन्त्र और राज्य पर निर्भर न होने के कारण राज्य को उन्हें सीमित करने का भी अधिकार नहीं है।[1] लॉर्ड ब्राइस ने कहा कि 'यद्यपि कुछ लेखकों ने प्रभु को अनियन्त्रित सत्ता माना है जिसकी एकान्त इच्छा ही समस्त प्रजा पर अपना प्रभाव रखती है, तो भी वास्तव में संसार भर में ऐसा कोई भी व्यक्ति या व्यक्ति समूह कभी नहीं हुआ या रहा जिसने इस प्रकार अनियन्त्रित एवं असीमित सत्ता का भोग किया हो, जो किसी बाह्य सत्ता के भय से मुक्त रहा हो अथवा जिसने अपनी इच्छा-तृप्ति के अतिरिक्त अन्य किसी बात का ध्यान न रखा हो। ब्लुण्ट्श्ली का दृढ़ मत है कि 'इस पृथ्वी-तल पर निरपेक्ष स्वतन्त्रता नाम की कोई वस्तु नहीं है, यहाँ तक कि राज्य भी सर्व-शक्तिमान् नहीं है; क्योंकि बाहर की ओर से वह दूसरे राज्यों के अधिकारों तथा अन्दर से वह स्वयं अपनी प्रकृति तथा अपने वैयक्तिक सदस्यों के अधिकारों द्वारा मर्यादित है।'

कुछ लेखक यह मानते हैं कि राज्य के प्रभुत्व पर ईश्वरीय विधान के नियमों अथवा किसी अलौकिक सत्ता (Super-human authority) का प्रतिबन्ध है। रूसी

---

१. देखिये, Maine, 'Early History of Institutions', p. 359. Giddings (Descriptive and Historical Sociology, 1905, p. 130) ने कहा है कि असीमित प्रभुत्व का सिद्धान्त प्रकट रूप से अपूर्ण एवं असत्य है। Laski (The Problem of Sovereignty, p. 270) ने भी कहा है कि यह कहना हास्यजनक है कि राज्य अपने समस्त आदेशों का पालन करवा सकता है। Figgis (Churches in the Modern State, p. 81) ने तो इस सिद्धान्त को 'निरंकुश शासक का दासों पर शासन' का सिद्धान्त कह डाला है।

लेखक मारटेंस ने अपनी प्रभुत्व की परिभाषा में ईश्वर को राज्य में, जो अन्यथा पूर्ण रूप में प्रभुत्वसम्पन्न है, एक कानूनी श्रेष्ठतम अधिकारी माना है। इसी प्रकार ब्लुण्ट्श्ली ने कहा है कि 'राष्ट्र ईश्वर के शाश्वत निर्णय' के तथा 'इतिहास के तथ्यों' के प्रति उत्तरदायी है। एक जर्मन लेखक शूल्जे (Schulze) ने लिखा है कि 'राज्य के ऊपर भी नैतिक नियम के शाश्वत सिद्धान्तों तथा एक उच्च नैतिक एवं प्राकृतिक व्यवस्था का प्रतिबन्ध है।' उसने कहा कि 'राज्य को निरपेक्ष रूप से सर्वोच्च और फलत: कोई गलती करने के अयोग्य मानना एक गलत और भयानक सिद्धान्त है। प्रभुत्व पर प्रकृति के नियम,[1] नैतिकता या सदाचार के सिद्धान्त, धार्मिक सिद्धान्त, न्याय के सिद्धान्त, पुरातन रिवाज और चिरस्थायी परम्पराएँ आदि के प्रबन्ध भी माने गये हैं। इन प्रतिबन्धों में अन्तर्राष्ट्रीय विधान के नियमों की मर्यादाएँ, राज्यों द्वारा परस्पर स्वीकृत प्रतिबन्ध, राज्यों द्वारा अपने आधारभूत विधान के अनुसार स्वीकृत मर्यादाएँ (जैसे अपने विधानों में संशोधन करने की विधि और वे धाराएँ जिनमें कोई संशोधन नहीं किया जा सकता) और जोड़ी जा सकती हैं।[2]

प्रभुत्व किस भाव में सीमित है ?

यह तो स्वीकार करना ही चाहिए कि एक निश्चित अर्थ में प्रभुत्व का प्रयोग कुछ मर्यादाओं के अन्दर ही हो सकता है। एक अत्यन्त स्वेच्छाचारी शासक भी कुछ प्रश्नों के सम्बन्ध में अपनी प्रजा के लोकमत का आदर करता है और प्राय: उसकी इच्छा के अनुसार कार्य करता है। शायद ही कभी कोई ऐसा प्रभु, शासक राजा या परिषद् हुआ हो, जिसने किसी कानून, नियम अथवा संस्था को अपनी जनता के मत (जनमत) का विचार किये बिना मनमाने ढंग से बदलने के अधिकार का दावा किया हो अथवा उसका प्रयोग किया हो।

प्रभुत्व इसी सम्भावना पर ठहर सकता है कि वह जिस पर शासन करता है, वह उसके आदेशों का पालन करे।[3] उदाहरणार्थ, टर्की का सुल्तान स्वेच्छाचारी होते हुए भी अपनी प्रजा के धर्म के सम्बन्ध में हस्तक्षेप करने का कभी साहस नहीं

---

१. प्रकृति के नियम की विश्वमान्यता का वर्णन करते हुए ब्लैकस्टोन ने लिखा है कि यदि कोई मानव-नियम प्रकृति के नियम के विपरीत हो तो उसका कोई मूल्य नहीं है और जो मानव-नियम मान्य है उनकी मान्यता इसी मूल स्रोत के कारण है। देखिये, Commentaries, pp. 5-6. बोदाँ, ग्रोटियस आदि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विख्यात लेखक प्रभुत्व पर प्रकृति के नियम और दैवी विधान की मर्यादाएँ मानते हैं।

२. प्रभुत्व की मर्यादाओं के विषय में देखिये, (Democracies, Vol. II, pp. ff; Bentham: Fragment on Government, Chs 34-36; Sidgwick: Elements of Politics, p. 623; Lowel': Essays on Government. Ch. 5; Dicey: 'Law of the Constitution,' pp. 70-74.

३. ब्राइस ने कहा है कि सरकारों का आधार सदा ही यदि जनता का स्नेह नहीं तो कम से कम उसका आदर और उसकी डर की भावना रहा है और रहना चाहिए, यदि जनता के अधिकांश की सक्रिय स्वीकृति नहीं, तो कम से कम उसकी मौन अनुमति पर आश्रित रही है। (American Commonwealth, Chapter on Government by Public Opinion).

कर सका था । यद्यपि ब्रिटिश पार्लमिण्ट की सत्ता कानूनी रूप से अमर्यादित है तथापि वह उपनिवेशों पर कोई टैक्स लगाने या एक दसवर्षीय नियम बनाने या स्कॉटलैण्ड में एपिस्कोपल चर्च की स्थापना करने में झिझकेगी । यह सन्देहास्पद ही है कि किसी रोमन सम्राट् को रोम के राष्ट्रीय धर्म का दमन करने का साहस था । लुई चौदहवाँ कहता था कि 'मैं ही राज्य हूँ,' परन्तु वह भी अपनी जनता पर बलपूर्वक प्रॉटेस्टेण्ट मत लादने का साहस नही कर सकता था ।

यदि इन मर्यादाओं पर गम्भीरता के साथ विचार किया जाय तो यह स्पष्ट हो जायगा कि वास्तव में कानूनी दृष्टि से वे प्रभुत्व पर प्रतिबन्ध नही हैं । प्रकृति के नियम, सदाचार के सिद्धान्त, ईश्वर के नियम, विवेकबुद्धि एव मानवता के आदेश, *लोकमत का भय* और प्रभुत्व पर इसी प्रकार के दूसरे प्रतिबन्धों का कोई वैध प्रभाव नही होता हाँ, राज्य यदि चाहे तो उन्हे स्वीकार कर उन्हे शक्ति और मान्यता प्रदान कर सकता है। वे ऐसे प्रतिबन्ध नही हैं, जिन्हे न्यायालय स्वीकार कर उनके आधार पर निर्णय दें । अत यदि ब्रिटिश पार्लमिण्ट, जो ब्रिटिश साम्राज्य में कानूनी प्रभु है, कोई ऐसा कानून बनावे जो सदाचार अथवा अन्तर्राष्ट्रीय विधान के प्रतिकूल हो, तो ऐसा कानून चाहे वह जनता की नैतिक तथा न्याय-भावना के कितना ही प्रतिकूल क्यों न हो, वह कानून की दृष्टि में ब्रिटेन में अवैध नही होगा । न्यायालय यह मान कर विचार करेंगे कि *पार्लमिण्ट का सदाचार या अन्तर्राष्ट्रीय विधान के किसी नियम का उल्लघन* करने का आशय नही था और वे ऐसे किसी भी तर्क को स्वीकार नही करेंगे कि पार्लमिण्ट ने यह नियम बनाने में अपनी अधिकार-सीमा का उल्लघन किया है । यदि किसी मामले में ईश्वरीय नियम तथा प्राकृतिक नियम स्वीकार करना आवश्यक भी हो, तो राज्य ही उसकी व्याख्या करने वाला होगा और इस प्रकार यह प्रतिबन्ध स्वय लगाये प्रतिबन्ध के अतिरिक्त और कुछ नही होगा । अत. सदाचार, धर्म और न्याय के सिद्धान्त, जहाँ तक वे प्रभुत्व पर प्रतिबन्ध हो सकते हैं, वही होते हैं जिनका *निर्णय स्वय राज्य करता है क्योंकि देश में राज्य की कानूनी सदसद्विवेकबुद्धि के अति*रिक्त और कोई ऐसी बुद्धि नही होती जो इसका निर्णय कर ।

यही बात स्वय राज्य द्वारा अपनी सत्ता के प्रयोग के सम्बन्ध में लगाये गये प्रतिबन्धों के विषय में भी सत्य है, जैसे राज्य के शासन विधान में परिवर्तन करने *की विधि को राज्य के प्रभुत्व पर बन्धन के रूप में नही माना जा सकता* और यह सभी जानते हैं कि ऐसे नियमों में परिवर्तन हुए है और होते हैं ।

अन्त में हमारे इन विचारों का अनिवार्य निष्कर्ष यही है कि प्रभुत्व पर कानूनी प्रतिबन्ध लगाने के सभी प्रयत्न व्यर्थ और निष्फल हैं । प्रभुत्व पर जो कोई भी प्रतिबन्ध लगा सकता है वह स्वय प्रभु ही है और जब तक हम उस सत्ता तक नही पहुँचते जो कानूनी रूप से असीमित है, तब तक हम प्रभु तक नहीं पहुँचते । ऑस्टिन का मत है कि सर्वोच्च सत्ता का कानून द्वारा नियन्त्रित होना केवल विरोधोक्ति है ।

असीमित प्रभुत्व के सिद्धान्त की आलोचना

असीमित प्रभुत्व के सिद्धान्त की आलोचना कभी कभी इस आधार पर की जाती है कि उससे राज्य में कानूनी स्वेच्छाचारिता की प्रतिष्ठा होती है । परन्तु यदि हम तर्क को भी स्वीकार कर लिया जाय कि प्रभुत्व प्रजा के अधिकारों की रक्षा अथवा नागरिक स्वतन्त्रता के हित के लिए सीमित हो सकता है, तब भी हम सन्तोषप्रद स्थिति को प्राप्त नहीं होते । हमें फिर भी दूसरे प्रभु का सामना करना पडेगा, अर्थात्

वह जो मर्यादा लगाता है और यह वही वस्तु है जिससे हम भागना चाहते है। जान ऑस्टिन ने इस बात को बडी स्पष्टता के साथ यह कह कर व्यक्त किया था कि 'जो श्रेष्ठतम प्रभु दूसरे प्रभु पर प्रतिबन्ध लगाने की सत्ता रखता है, वह फिर भी कानून की मर्यादा से मुक्त रहेगा। क्योंकि जब तक अन्तिम रूप से प्रतिबन्ध किसी सर्वश्रेष्ठ प्रभु द्वारा, जो किसी श्रेष्ठतम प्रभु के अधीन न हो, न लगाये जाँय, तब तक समाज पर एक के ऊपर दूसरे ऐसे अनन्त प्रभुओं द्वारा शासन होगा जो न केवल असम्भव ही है, वरन् हास्यास्पद भी है।'

उपर्युक्त आलोचना पर विचार

यह समझना कठिन है कि ऐसे निष्कर्ष को स्वीकार न करने से क्या लाभ है। यह स्वीकार करना आवश्यक है कि राज्य मे एक सत्ता ऐसी होनी चाहिए, जिसके अधीन सब व्यक्ति एव वस्तुएं हों अन्यथा राज्य तथा मानव-जाति की अन्य सगठित संस्थाओं मे कोई आधारभूत भेद ही नही रहेगा। परन्तु इस मान्यता का यह आशय कदापि नही है कि राज्य का यह नैतिक अधिकार है कि वह उन व्यक्तियों के, जिन पर उसका प्रभुत्व है, समस्त हितों एव कार्यो का नियमन करे। आधुनिक राज्यों मे मानव-समाज के अनेक ऐसे कार्य एवं हित हैं जो वास्तव मे सरकार के हस्तक्षेप से मुक्त हैं। इस बात की सम्भावना नही कि राज्य उन समस्त अधिकारों एव सत्ताओं का प्रयोग करेगा जो उसे कानूनी दृष्टि से प्राप्त हैं। न्याय को छोडिये, केवल औचित्य के विचार से राज्य की अधिकाश सत्ताएँ सम्भावना के क्षेत्र तक ही सीमित रहनी चाहिए और व्यक्तियों को यह स्वतन्त्रता होनी चाहिए कि वे कुछ निश्चित क्षेत्रों मे सरकारी हस्तक्षेप से मुक्त रह कर अपना कार्य करें। जो प्रभु, चाहे वह एक राजा हो या परिषद्, अपनी कानूनी सत्ता का प्रयोग व्यक्तियों के समस्त कार्यों एवं हितों के नियमन मे करेगा, वह निश्चय ही विद्रोह द्वारा नष्ट कर दिया जायगा।

यह समझना कठिन है कि असीमित प्रभुत्व का सिद्धान्त किस प्रकार पूर्ण एव व्यापक नागरिक स्वतन्त्रता की भावना के प्रतिकूल है। इतना समझने मे कोई अधिक विचारशीलता की आवश्यकता नही कि जो राज्य जितना ही सर्वाधिक रूप मे प्रभुत्व सम्पन्न है, उसमे प्रजा *की स्वतन्त्रता उतनी ही अधिक स्थायी एव सुरक्षित है।* अठारहवी शताब्दी मे किसी राजा-विशेष की निरंकुशता को ही राज्य का प्रभुत्व समझा जाता था। इसीलिए असीमित प्रभुत्व के समर्थक बहुत कम थे। जो थे भी वे हॉब्स जैसे विचारक थे जो राजा के स्वेच्छाचार के समर्थक थे। परन्तु एकतन्त्र राज्य-शासन के पतन तथा वैधानिक शासन-प्रणाली की प्रतिष्ठा के साथ असीमित प्रभुत्व के सिद्धान्त के समर्थक उसके विरोधियों की अपेक्षा अधिक हो गये है। जब राज्य का सगठन शासन के बाहर माना जाने लगा और प्रभुत्व को ठीक प्रकार से समझने का प्रयास किया जाने लगा, अर्थात् उसे राज्य का गुण माना जाने लगा, शासन का लक्षण नहीं, तो असीमित कानूनी प्रभुत्व तथा सीमित शासन मे सामजस्य स्थापित करना सरल हो गया।

आत्म-मर्यादा (Self-limitation) का सिद्धान्त

प्रभुत्व का यह सिद्धान्त कि प्रभुत्व राज्य की एक ऐसी सत्ता या लक्षण है जिसके अनुसार वह केवल अपने ही द्वारा मर्यादित हो सकता है, सबसे पहले इहरिंग (Ihring) ने प्रतिपादित किया और उसे बाद मे जेलिनेक तथा दूसरे जर्मन लेखकों ने स्वीकार किया। यह आत्म-निर्णय (Auto-determination), आत्म-मर्यादा (Auto-limitation) और आत्म-दायित्व (Auto-obligation) का सिद्धान्त है।

इसके समर्थक, वास्तव में, प्रभुत्व पर मर्यादाओं को अस्वीकार नहीं करते। वे तो यह भी स्वीकार करते हैं कि आधुनिक राज्य ऐसा राज्य है, जो अपने ही कानून से बाध्य है, परन्तु वे यह मानते हैं कि ये समस्त मर्यादाएँ उसने स्वयं अपने ऊपर लाद ली हैं। उनका यह कहना है कि राज्य ही कानून का स्रोत एवं जनक है। अतः कानून जो भी प्रतिबन्ध या मर्यादा राज्य पर लगाता है वे राज्य द्वारा स्वयं अपने ऊपर लगाये हुए हैं।

इसी प्रकार वे यह भी स्वीकार करते हैं कि राज्य अन्तर्राष्ट्रीय विधान के नियमों से भी बाध्य है और वह सन्धियों तथा उन समझौतों से भी बाध्य है जो दूसरे राज्यों के साथ उसने किये हैं, परन्तु वे भी स्वयं राज्य द्वारा अपने ऊपर लादे गये प्रतिबन्ध ही हैं, जिन्हें राज्य अपनी इच्छानुसार हटा भी सकता है क्योंकि उनकी प्रभुत्व-भावना के अनुसार, कोई भी बाहरी सत्ता प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य पर किसी प्रकार के कानूनी दायित्व नहीं लाद सकती। अन्त में यदि यह भी मान लिया जाय कि राज्य प्रकृति के नियमों से बाध्य है, तो यह भी राज्य की आत्म मर्यादा ही है, क्योंकि स्वयं राज्य ही यह निर्णय करता है कि प्रकृति के नियम क्या हैं और उन नियमों का बन्धन किस सीमा तक रहेगा।

आत्म-मर्यादा के सिद्धान्त की समीक्षा

प्रभुत्वसम्पन्न राज्य (Sovereign State) की सत्ता स्वयं राज्य द्वारा ही सीमित होती है, किसी बाह्य सत्ता द्वारा नहीं, इस सिद्धान्त की अनेक लेखकों ने आलोचना की है जिनमें फ्रेंच लेखक मुख्य हैं। ड्यूग्वी ने इस सिद्धान्त को अत्यन्त पाशविक, भयंकर एवं निराधार बतलाया है। उसने कहा है कि राज्य कानून के सिद्धान्त द्वारा सीमित है और उसका आधार सामाजिक समैक्य तथा अन्योन्याश्रयता पर स्थित है। वह यह नहीं मानता कि राज्य ही कानून का एकमात्र आदिस्रोत एवं जनक है। कानून आचार की एक पद्धति है, जिसका मनुष्य पालन करते हैं और वह राज्य की उत्पत्ति से भी पहले की हो सकती है, अतः वह राज्य की इच्छा से स्वतन्त्र है। इसी प्रकार उसका यह भी कथन है कि मनुष्य के प्राकृतिक अधिकार हैं, जिनका अस्तित्व भी राज्य की उत्पत्ति के पहले से ही है। राज्य का यह दायित्व है कि वह मनुष्यों के इन अधिकारों की रक्षा करे और ऐसा कोई कानून न बनावे जिसके द्वारा उन अधिकारों का उल्लंघन हो सके। उसका यह विचार है कि राज्य कानून का विषय है और इसलिये यद्यपि वह स्वयं कानून की रचना करता है तो भी वह कानून के नियमों से बाध्य है, अतः कानून जिन मर्यादाओं को राज्य पर लगाता है, वे कानूनी हैं, केवल नैतिक या स्वयं आरोपित नहीं। ये मर्यादाएँ केवल राज्य की धारासभा अथवा उसके किसी दूसरे अंग पर ही नहीं हैं वरन् स्वयं राज्य पर भी हैं। अन्त में वह लिखता है कि 'यह आत्म-मर्यादा का सिद्धान्त कोरा भ्रम है, यह राज्य कानून के अधीन इसलिये है कि वह ऐसा चाहता है और उस सीमा तक अधीन है जहाँ तक उसकी इच्छा है, तो वह कानून से वास्तव में बाध्य नहीं है।" यह बात उन सन्धियों के सम्बन्ध में भी लागू होती है जो उसने की है। दूसरे, फ्रेंच लेखक भी जर्मन आत्म-मर्यादा के सिद्धान्त की आलोचना करते हैं और मानते हैं कि राज्य अपनी इच्छा से अलग कानून द्वारा बाध्य है। यही मत क्रैब (Krabbe), सेबाइन (Sabine), शेपर्ड (Shepard), लास्की, फिगिस (Figgis) तथा दूसरे लेखकों[1] का भी है, यद्यपि

---

१. MacIver के मत से तुलना कीजिये। वह कहता है कि राज्य कानून द्वारा मर्यादित है क्योंकि कानून राज्य का आदेशमात्र ही नहीं है। 'कानून के बड़े प्रश

उनमें से कुछ ड्यूग्वी, मिचोड (Michoud) और लेफर (Lefur) के समान प्रभुत्व को सीमित करने वाले कानून को कोटि में प्राकृतिक नियम के सिद्धान्तों को सम्मिलित नहीं करते।

इस मत के गुण-दोष कुछ तो प्रभुत्व की उस भावना पर निर्भर हैं जो स्वीकार कर ली जाय और कुछ इस अनुमान के औचित्य पर कि कानून का स्रोत राज्य से बाहर और उससे स्वतन्त्र है। आत्म-मर्यादा के सिद्धान्त के समर्थक प्रभुत्व को केवल बाह्य अथवा कानूनी भावना पर ही विचार करते हैं। वे उसका ऐतिहासिक एवं सामाजिक दृष्टि से विचार नहीं करते। इस दृष्टि से विचार करने पर यह समझना कठिन हो है कि किस प्रकार प्रभुत्व सीमित किया जा सकता है और फिर भी वह किस प्रकार प्रभुत्व अर्थात् सर्वोच्च सत्ता (Supreme power) रह सकता है। यदि प्रभुत्व पर दूसरे ऐसे प्रतिबन्ध हैं जो स्वयं आरोपित नहीं हैं—बाहर से लादे गये हैं, तो वह कानूनी अर्थ में प्रभुत्व नहीं रह सकता। दूसरी ओर, जो लोग आत्म-मर्यादा के सिद्धान्त के औचित्य को स्वीकार नहीं करते अर्थात् यह नहीं मानते कि कानून राज्य की सृष्टि नहीं है और इसलिए कानून राज्य से श्रेष्ठतम है, उनका मत विश्लेषणकारी कानून विशेषज्ञों को कभी स्वीकार नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त कुछ प्रकृतिवादी कानून विशारदों (Naturalist jurists) का यह विचार कि राज्य प्राकृतिक अधिकार के सिद्धान्त तथा प्राकृतिक कानून से बाध्य है उस समय तक स्वीकार नहीं किया जा सकता जब तक कि यह न मान लिया जाय कि राज्य ही उन सिद्धान्तों का तथा उनकी मान्यता की सीमा का निर्णय करने वाला है। यदि इस बात को स्वीकार कर लिया जाय तो ये मर्यादाएँ कानूनी दृष्टि से केवल आत्म-मर्यादाएँ ही रह जाती हैं।

अन्त में इस विचार की पुष्टि में हमारे पास काफी प्रमाण हैं कि जिन विद्वानों ने आत्म-मर्यादा के सिद्धान्त की आलोचना की है, उन्होंने राज्य तथा शासन के भेद समझने में गलती की है और जब वे यह कहते हैं कि राज्य (State) कानून से सीमित है, तब उनका मतलब वास्तव में शासन (Government) के अंगों से होता है। इस अर्थ में उनका विचार बिल्कुल सत्य है।

अन्तर्राष्ट्रीय विधान की मर्यादाएँ—परम्परागत सिद्धान्त (Traditional theory)

क्या उस राज्य का प्रभुत्व, जो राष्ट्र-संघ का एक स्वीकृत सदस्य है, दूसरे राज्यों के साथ की हुई संधियों या समझौतों के दायित्व के कारण तथा सामान्यतया स्वीकृत अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमों द्वारा स्थापित दायित्व द्वारा सीमित है? पहले जर्मन लेखकों ने (उदाहरणार्थ, हेगेल, जेलिनेक तथा ट्रीट्स्के) यह तो स्वीकार किया था कि राज्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून के दायित्वों तथा उन दायित्वों एवं कर्तव्यों का पालन करने के लिए अपने सम्मान तथा अपनी विश्वसनीयता की दृष्टि से बाध्य है, जिन्हें

में राज्य केवल कुछ नई पंक्तियाँ लिखता है और जहाँ तहाँ किसी पुरानी पंक्ति को काट देता है। उसके अधिकांश को राज्य ने कभी नहीं लिखा और वह समय-समय पर जो उस पुस्तक में परिवर्तन या संशोधन कर देता है उसे छोड़कर उस पर उस समस्त पुस्तक का बन्धन है (Modern State, 1926, p. 478)।

उसने दूसरे राज्यो के साथ समझौतों या सधियो द्वारा स्वीकार किया है, परन्तु उन्होने इन दायित्वों को राज्य के प्रभुत्व पर कानूनी प्रतिबन्ध या मर्यादा के रूप मे स्वीकार नही किया। यह दलील दी गयी कि कानूनी रूप से वह राज्य द्वारा अपने ऊपर लादी गयी मर्यादाएँ ही हैं, अतः वे केवल आत्म-मर्यादाएँ ही हैं। ट्रीट्स्के ने कहा है कि प्रत्येक राज्य को युद्ध-घोषणा का असंदिग्ध अधिकार है और इस प्रकार वह अपनी सधियो को ठुकरा सकता है और उनके द्वारा जो प्रतिबन्ध उस पर लगे होते हैं, वह उनमे मुक्ति पा सकता है। इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय विधान द्वारा उस पर जो प्रतिबन्ध हैं व भी आत्म-मर्यादाएँ ही हैं, क्योकि उनकी मान्यता (Validity) और बाध्यता के लिए उस राज्य की अनुमति आवश्यक है और एक बार दी गयी अनुमति को वापस भी लिया जा सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय विधान के विषय हैं पूर्ण स्वतन्त्र राज्य जिनके ऊपर कोई वैध सर्वोच्च सत्ता नही है और इस कारण अन्त मे वे ही अपने दायित्वो एव अधिकारो के निर्णायक हैं।[1] कुछ कानून-विशेषज्ञ अभी भी इसी कानूनी सिद्धान्त को मानते हैं।

उपर्युक्त मत की आलोचना

राज्य-प्रभुत्व की उपर्युक्त भावना प्रभुत्व के एक विशुद्ध कानूनी सिद्धान्त के अतिरिक्त और कुछ कभी नही रही है। यह अन्तर्राष्ट्रीय जीवन के व्यवहार और तथ्यों के विपरीत है। इस बात मे संदेह है कि वर्तमान समय मे, जबकि अन्तर्राष्ट्रीय कानून का इतना विकास हो गया है और अन्तर्राष्ट्रीय ऐक्य बढ रहा है, इस सिद्धान्त का समर्थन किया जा सके। आज के समय मे अधिकाश कानूनविशेषज्ञो का यह मत है *कि एक राज्य दूसरे राज्यो के सम्बन्धो मे वास्तव मे प्रभुत्व-सम्पन्न नही है, अर्थात्* एक राज्य इस अर्थ मे प्रभुत्व सम्पन्न (Sovereign) नही है कि वह दूसरे राज्यों के प्रति अपने दायित्वो का स्वयं ही अन्तिम व्याख्याता एव निर्णायक हो, अपने अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार के स्तरों को स्थापित करने मे पूर्ण स्वतन्त्र हो और बिना दूसरो के प्रति दायित्व को महसूस किय स्वय यह निर्णय करने मे स्वतन्त्र हो कि कौन-कौन से आन्तरिक विषय पूर्णरूप मे उसकी अधिकार सीमा के अन्तर्गत हैं। एक बार चीफ जस्टिस मार्शल ने कहा था कि जब यह कहा जाता है कि राज्य की अधिकार-सीमा एव सत्ता अपनी सीमा के अन्तर्गत समस्त व्यक्तियों तथा वस्तुओ पर पूर्ण और व्यापक है तो यह परम्परागत कानूनी सिद्धान्त के रूप मे तो उचित है, परन्तु यह मान लेना सर्वथा आत्म-छल ही होगा कि राज्य परस्पर अपने सम्बन्धो के निर्वाह मे ठीक इसी सिद्धान्त के अनुसार कार्य करते हैं। उसने स्वयं यह स्वीकार किया है कि व्यवहार म पारस्परिक हित के विचार से प्रभुत्व की पूर्ण एवं विशुद्ध अधिकार-सीमा तथा निरकुशता मे शैथिल्य का होना आवश्यक हो गया है। यह सत्य है कि एक राज्य समझौतों तथा सन्धियों द्वारा कार्य की स्वतन्त्रता की जो अपनी मर्यादाएँ स्वीकार करता है, वे ऐच्छिक तथा स्वय आरोपित हैं, वह उन्हें हटा भी सकता है और यदि उसमे शक्ति है

---

१ ग्रेटब्रिटेन के न्यायालय यह मानते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय विधान का कोई भी सिद्धान्त किसी भी ब्रिटिश न्यायालय मे उस समय तक मान्यता प्राप्त नही कर सकता, जब तक कि ब्रिटिश पार्लमिन्ट द्वारा उसे कानून का रूप देकर राज्य मे प्रचलित न कर दिया जाय। American Journal of International Law, Vol. II, pp. 223.

तो वह दूसरे राज्यों को ऐसा काम करते हुए भी चुप रख सकता है। इसी प्रकार राज्य सर्वस्वीकृत अन्तर्राष्ट्रीय विधान के सिद्धान्तों का पालन करने से भी इन्कार कर सकता है। परन्तु इन दोनों मामलों में ऐसा करने के अधिकार पर अन्तर्राष्ट्रीय उत्तरदायित्व के सिद्धान्त द्वारा प्रतिबन्ध लगा दिया गया है। इसके अनुसार वह राज्य जिसे क्षति पहुँची है, अपने या अपने नागरिकों के लिए क्षति पूर्ति (Reparation) की माँग पेश कर सकता है और यदि उस राज्य में शक्ति है तो वह बलपूर्वक क्षतिपूर्ति करा लेगा। जब इस प्रकार से क्षतिग्रस्त राज्य अपने प्रति की गयी हानि को मौन होकर सहन कर ले अथवा अपनी माँग की पूर्ति कराने में दुर्बलता के कारण असक्त हो, तभी वह राज्य जिसने क्षति की है, यह दावा कर सकेगा कि उसे पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त है। अमेरिका के राजनीतिज्ञों ने प्राय: यह दावा किया है कि राज्यों को सभ्य राज्य-समाज में स्थान इसी आधार पर मिलता है कि वे अन्तर्राष्ट्रीय विधान तथा उसके द्वारा आरोपित उत्तरदायित्वों को स्वीकार करें। उनका एक-दूसरे राज्य के प्रति अन्तिम दायित्व उनके अपने कानून द्वारा नहीं, वरन् अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा निश्चित किया जाता है और जो राज्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून की सत्ता को स्वीकार नहीं करता, वह अपने आपको अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क के क्षेत्र से अलग कर लेता है।[1]

यदि आज हम राज्यों के सम्बन्धों के विषय में तथ्यों की गवेषणा करें तो हम इसके अतिरिक्त और किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँचेंगे कि राज्यों के वास्तविक व्यवहार का कानूनी परम्परागत सिद्धान्त से कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि रिवाज तथा परम्परा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के स्रोत हैं तो यह कथन उचित ही है कि परस्पर राज्यों के सम्बन्ध में राज्य की निरपेक्ष प्रभुता केवल एक कानूनी कल्पना ही नहीं है प्रत्युत एक अत्यन्त हेय और भयकर मत है, जिसका प्रत्येक राज्य को परित्याग कर देना चाहिए तथा जिसको अन्तर्राष्ट्रीय कानून के साहित्य से निकाल देना चाहिए। कोहलर (Kohler), पिलेट (Pillet) तथा स्नो (Snow) आदि लेखकों ने अन्तर्राष्ट्रीय विधान की सर्वश्रेष्ठता एवं सर्वोच्चता के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है उसके समर्थन में बहुत कुछ कहा जा सकता है। इन लेखकों का यह मत है कि आज अन्तर्राष्ट्रीय विधान राज्यों के आन्तरिक राष्ट्रीय कानून से श्रेष्ठतम ही नहीं है वरन् उसकी सर्वोच्चता ने कानूनी आधार प्राप्त कर लिया है, जिससे यह स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधान राज्य की स्वतन्त्रता पर जो प्रतिबन्ध लगता है, वे कानूनी मर्यादाएँ हैं—केवल आत्म-स्वीकृत प्रतिबन्ध नहीं।

(७) प्रभुत्व के सिद्धान्त पर आपत्ति

प्रभुत्व की आवश्यकता का निषेध

अन्तर्राष्ट्रीय विधान तथा राज्यविज्ञान के लेखकों, विशेषत: जर्मन लेखकों ने, प्रभुत्व की यथार्थता अथवा प्रभुत्वसम्पन्न राज्य के अस्तित्व से इन्कार न करते हुए भी यह माना है कि राज्य-निर्माण में प्रभुत्व कोई आवश्यक विधायक तत्व नहीं है। उनके मतानुसार राज्य प्रभुत्व-सम्पन्न हो सकते हैं और नहीं भी हो सकते, अर्थात् राज्य तथा प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य दोनों आवश्यक रूप से एक नहीं है। राज्यत्व (Statehood) की कसौटी प्रभुत्व अर्थात् एक समाज की अपनी क्षमता की सीमा का

---

१. देखिये, Moore : 'Digest of International Law', Vol. 1, p. 6 ; Maine : 'International Law', p. 38.

निर्णय करने की सत्ता नहीं है। राज्यत्व की कसौटी है—शासन करने, आदेश देने और उसका पालन कराने का अधिकार। लेबैंड (Laband) ने लिखा है कि प्रभुत्व (Sovereignty) और अधिपत्य की सत्ता Power of Domination) में भेद है। प्रभुत्व तो सर्वोच्च सत्ता है, जो किसी दूसरी उच्च सत्ता से कानूनी रूप से बाध्य नहीं है। 'अधिपत्य की सत्ता' से आशय है समाज (Collectivity) की अपने ही अधिकार में आदेश देने तथा शासन करने की शक्ति। यह अधिपत्य की सत्ता ही राज्य का सच्चा लक्षण है, प्रभुत्व नहीं। जैलेनिक ने भी प्रभुत्व को राज्य का विधायक तत्व नहीं माना। उसका कथन है कि प्रभुत्व निरपेक्ष रूप से विद्यमान वस्तु (Absolute Category) नहीं है, वरन् एक ऐतिहासिक वस्तु (Historical Category) नही है, उसकी उत्पत्ति एवं इतिहास के अध्ययन से पता चलेगा कि प्राचीन समय में ऐसे राज्य थे, जिनको प्रभुत्व प्राप्त नहीं था। मध्ययुगीन राज्य तो वास्तव में प्रभुत्व सम्पन्न राज्य था ही नहीं। हेलिनयाटिक लोग के नगर भी राज्य कहलाते थे परन्तु वे वास्तव में प्रभुत्व सम्पन्न नहीं थे। सोलहवीं तथा सत्रहवीं शताब्दियों के प्राकृतिक कानून-विशारदों ने प्रभुत्व-शून्य राज्यों के अस्तित्व को स्वीकार किया है। समकालिक जगत में भी अनेक राज्य ऐसे हैं, जिनमें शासन-विधान, संगठन तथा न्याय करने का अधिकार आदि सब कुछ हैं और जो राज्य के कार्यों का संपादन भी करते हैं, परन्तु जो प्रभुत्व-सम्पन्न नहीं हैं। इस तरह दो प्रकार के राज्य हैं—प्रभुत्व सम्पन्न तथा प्रभुत्व शून्य। राज्य का आवश्यक लक्षण प्रभुत्व नहीं, राज-सत्ता है, जिसका अर्थ है आदेश देने की शक्ति जो किसी दूसरी सत्ता से प्राप्त नहीं होती और जिसका अस्तित्व तथा प्रयोग स्वयं अपने ही अधिकार से होता है। जेलिनेक का कथन है कि 'प्रत्येक जनसमूह जो अपनी व्यवस्था के अन्तर्गत अपनी मौलिक सत्ता के कारण अधिपत्य की सत्ता का प्रयोग करने के योग्य हो, एक राज्य है।' इस प्रकार लेबैंड तथा जेलिनिक दोनों के अनुसार संघ राज्य (जैसे जर्मन-साम्राज्य) के सदस्यों को प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य तो नहीं, परन्तु राज्य कहा जा सकता है, क्योंकि वे अपनी इच्छा के आधार पर अपने विधान का निर्माण करने में सशक्त हैं; इस कार्य में वे साम्राज्य पर निर्भर नहीं हैं। जेलिनेक का तो कथन है कि संयुक्त राज्य अमेरिका के अन्तर्गत सदस्य राष्ट्रों तथा स्विट्जरलैण्ड के कैण्टनों के शासन-विधान राज्यों के ही विधान हैं क्योंकि वे उन राज्यों के कानून पर आधारित हैं, संघ की इच्छा पर नहीं। उसने यह स्वीकार किया कि उन पर अपने शासन-विधानों के निर्माण के सम्बन्ध में संघ राज्य द्वारा कुछ प्रतिबन्ध लगाये गये हैं, परन्तु इस पर भी वे विधान राज्य के आधार-भूत कानून बने हुए हैं। इसके विपरीत वह समुदाय या समूह जिसमें आधिपत्य की सत्ता तो निहित है, परन्तु जो अपने से उच्च एवं श्रेष्ठ राज्य से सत्ता तथा संगठन प्राप्त करता है, राज्य नहीं है। इसके उदाहरण कम्यून (फ्रान्स के जिले) सन् १८७१ से सन् १९१८ तक एल्सेस-लोरेन जैसे प्रदेश, ब्रिटिश उपनिवेश आदि हैं। कई दूसरे जर्मन लेखक, कुछ फ्रेंच तथा अमेरिकन लेखक प्रभुत्व की आवश्यकता से इन्कार करते हैं और संघ के सदस्य राज्यों को राज्य कहते हैं। इन लेखकों में से कुछ हैं—वॉन मोहल, लेफर, ब्रूज, ब्लुण्ट्श्ली आदि। उन अमेरिकन लेखकों में जो प्रभुत्व को स्वीकार नहीं करते स्वर्गीय वुडरो विलसन का नाम प्रमुख है। उसने यह स्वीकार किया कि संघ में सदस्य-राज्यों को अपने कानून के सम्बन्ध में स्वभाग्य निर्णय के पूर्ण अधिकार प्राप्त नहीं हैं। परन्तु इसके बावजूद भी वे राज्य हैं; क्योंकि उनकी सत्ताएँ मौलिक हैं; वे किसी दूसरी सत्ता से प्राप्त

नहीं हुई हैं ; क्योंकि उनके राजनीतिक अधिकार कानूनी कर्तव्य नहीं है और क्योंकि उनमें अपने आदेशों का कानून की पूर्ण दण्डाज्ञा-शक्ति से पालन कराने की क्षमता है।'

प्रभुत्व-शून्य राज्यों के सिद्धान्त की समीक्षा

हमने ऊपर जिस सिद्धान्त का उल्लेख किया है, उसका भी अनेक लेखकों ने विरोध किया है। प्रथम तो वे कहते हैं कि यदि आदेश देने की सत्ता और उसका पालन कराने की सत्ता मौलिक है, किसी दूसरे से प्राप्त नहीं की गयी है तथा स्वतन्त्र है, तो वह सत्ता स्वयं प्रभुत्व से किसी प्रकार कम नहीं है। दूसरे, इससे राज्यों तथा राज्यों के विभिन्न अंगों, जैसे प्रान्त, कम्यून तथा म्युनिसिपैलिटी के बीच विभाजक-रेखा खींचना असम्भव या कठिन हो जाता है। प्रान्तों, कम्यूनों आदि को अपने क्षेत्रों में आदेश देने, उनका पालन कराने तथा शासन करने के अधिकार होते हैं, ठीक उसी प्रकार, जैसे संघ के सदस्य राज्यों को, जिन्हें लेबेण्ड, जेलिनेक आदि राज्य कहते हैं। कई योरोपीय राज्यों के कम्यूनों के अधिकार उन राज्यों के अधिकारों से भी प्राचीन हैं और इस सिद्धान्त के आधार पर कि राज्य की असली पहिचान अपने ही अधिकार से शासन करने की शक्ति है, उन्हें भी राज्य मानना पड़ेगा। इसके विपरीत लेबेंड ने जो कसौटी निश्चित की है, वह ब्राजील तथा मैक्सिको जैसे संघों के सदस्य राज्यों के सम्बन्ध में लागू नहीं हो सकती क्योंकि ब्राजील तथा मैक्सिको प्रारम्भ में एकात्मक राज्य (Unitary State) थे और बाद में स्वयं केन्द्रीय सरकार द्वारा विकेन्द्रीकरण के फलस्वरूप संघ बन गये, विभिन्न राज्यों के संयोग द्वारा नहीं। अतः इन संघ राज्यों के सदस्यों को वे ही अधिकार प्राप्त हो सकते हैं, जो एकात्मक राज्यों ने उन्हें प्रदान किये हैं। वे पहले कभी स्वतन्त्र राज्य नहीं थे, अतः उनके अधिकार मौलिक नहीं हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका तथा पूर्व जर्मन साम्राज्य जैसे संघ-राज्यों के सम्बन्ध में भी यह नहीं कहा जा सकता कि उनके अन्तर्गत राज्यों के अधिकार मौलिक हैं क्योंकि उन्हें कानूनी दृष्टि से संघ-विधान (Federal Constitution) द्वारा ही अधिकार मिले हैं। संघ के अन्तर्गत राज्यों को केवल वे ही अधिकार प्राप्त हैं, जो उनके लिए विधान द्वारा सुरक्षित कर दिये गये हैं। अतः उन्हें जो अधिकार प्रदान किये गये हैं, वे उनके मौलिक अधिकार नहीं कहे जा सकते। वे अपनी क्षमता की सीमा निर्धारित करने में स्वतन्त्र नहीं हैं। उन्हें, जैसा जेलिनेक ने स्वयं स्वीकार किया है, अपना शासन-विधान अथवा शासन-पद्धति का स्वयं निर्णय करने का अधिकार नहीं है। संयुक्त राज्य अमेरिका में व्यक्तिगत राज्यों के शासन-विधान संघ के शासन-विधान के विरुद्ध नहीं होने चाहिए और अमेरिका तथा जर्मनी[1] में संघ के राज्यों को अपनी शासन-प्रणाली में परिवर्तन करने का भी अधिकार नहीं है। वे गणतन्त्र प्रणाली (Republican Government) को हटाकर दूसरे ढंग का शासन स्थापित नहीं कर सकते। लेबेंड तथा जेलिनेक दोनों ने ही यह मान कर भूल की है कि संघों के सदस्य-राज्य अपनी इच्छा के अतिरिक्त किसी बाहरी इच्छा से बाध्य नहीं है। प्रत्येक संघ-राज्य में उसके सदस्य-राज्य कानून तथा व्यवहार में एक उच्चतर इच्छा के अधीन होते हैं जो उनकी स्वतन्त्रता एवं क्षमता की मर्यादा बाँधती है। अतः इन लेखकों ने जिस आधार पर राज्यों तथा राज्य के विभागों में भेद माना है उसके अनुसार संघ के सदस्य-राज्य राज्य की कोटि से बाहर निकल जायेंगे।

अन्त में इस प्रश्न का निर्णय कि प्रभुत्व राज्य का एक आवश्यक विधायक

---

१. यहाँ लेखक का तात्पर्य द्वितीय युद्ध से पूर्व के जर्मनी से है।

अंग या तत्व है या नहीं, इस बात पर निर्भर है कि लेखक या विचारक का प्रभुत्व तथा राज्य की प्रकृति के सम्बन्ध में क्या कल्पना है। यदि हम जर्मन विद्वानों के इस मत को ग्रहण करें कि प्रभुत्व विभाज्य है और पूर्ण तथा अपूर्ण राज्यों में भेद है, तो हमें इस सिद्धान्त को स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं होगी कि यदि किसी राजनीतिक सत्ता में प्रभुत्व का कुछ तत्व न भी हो तो भी व्यावहारिक अर्थ में उसे राज्य मान लिया जाय। दूसरी ओर, यदि हम प्रभुत्व की दूसरी भावना को स्वीकार करें जिसके अनुसार केवल प्रभुत्व ही राज्य की प्रमुख कसौटी है जिसके कारण वह अन्य संस्थाओं से भिन्न होता है तो हमें यह मानना पड़ेगा कि जिस संस्था या समुदाय में प्रभुत्व का तत्व नहीं, वह यथार्थ में राज्य नहीं कहला सकता। यह दूसरा विचार ही अधिकांश लेखकों को मान्य है।

इस विचार को मान लेने पर भी हमें ऐसा कोई व्यावहारिक कारण नहीं दीख पड़ता जिससे संयुक्त राज्य अमेरिका के सदस्य-राज्यों को (जो आदि में स्वतन्त्र राज्य थे, जो अब भी राज्य कहलाते हैं और जिनके विधान और शासन-पद्धतियों का वे स्वयं अपनी स्वतन्त्र इच्छा से निर्माण करते हैं) राज्य (State) क्यों न माना जाय यद्यपि वे प्रभुत्व-सम्पन्न एवं स्वाधीन नहीं हैं और अपनी क्षमता की सीमा स्वयं निर्धारित नहीं कर सकते। इसी प्रकार ग्रेट ब्रिटेन के स्वशासित डोमिनियन (Self Governing Dominions) भी, जिन्हें स्वशासन का अधिकार प्राप्त है, जो प्रायः स्वतन्त्रता के ही बराबर हैं और जो अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के भी सदस्य हैं, राज्य माने जाने का दावा कर सकते हैं। उनमें राज्य की सभी विशेषताएँ हैं, उन्हें केवल सैद्धान्तिक दृष्टि से वैधानिक स्वतन्त्रता नहीं है यद्यपि व्यवहार में उन्हें यह स्वतन्त्रता भी है। कोई भी विश्लेषणकारी कानून-विशेषज्ञ (Analytical Jurist) संयुक्त राज्य अमेरिका के 'राज्यों' को 'प्रान्त' नहीं कहेगा और न ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल के स्वशासित देशों को ब्रिटेन के प्रान्त या प्रदेश ही, परन्तु साथ ही वह उन्हें राज्य नहीं मानता क्योंकि उनमें वह विधायक तत्व नहीं है जिसे वह राज्य के लिए आवश्यक समझता है। शायद विलोबी का यह विचार ही अधिक उपयुक्त है कि विश्लेषणकारी कानून-विशेषज्ञों को उपयुक्त वैज्ञानिक परिभाषा का प्रयोग न कर सामान्यतया प्रयोग में आने वाली शब्दावली को ही अपनाकर राज्य के सम्बन्ध में प्रभुत्व-सम्पन्न (Sovereign), आंशिक प्रभुत्व-सम्पन्न (Part-Sovereign) अथवा प्रभुत्व-विहीन शब्दों का प्रयोग करना चाहिए जिससे किसी प्रकार की गलतफहमी न हो और भाव भी स्पष्ट हो जाय।

प्रभुत्व के अस्तित्व का निषेध

राजनीतिक लेखकों तथा कानून-विशेषज्ञों का एक विशाल बहुमत प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य के सिद्धान्त को कानून और वास्तविकता की दृष्टि से सुप्रतिष्ठित मानता है, परन्तु वर्तमान समय में लेखकों का एक बढ़ता हुआ विशाल समुदाय प्रभुत्व को एक व्यर्थ कपोल-कल्पना मानता है, जिसका वर्तमान संसार के तथ्यों से कोई आनुरूप्य नहीं है। ऑक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी के प्रोफेसर ए० डी० लिण्डसे (Lindsay) राज्य को अन्य मानव-संस्थाओं की भाँति, जिनका अपना व्यक्तित्व और अपनी इच्छाएँ हैं और जो राज्य के समान ही अनेक प्रकार की सामाजिक सेवाएँ करती हैं, एक संस्था मान कर इस निष्कर्ष पर पहुँचा है कि 'यदि हम वास्तविक तथ्यों पर विचार करें तो यह स्पष्ट हो जायगा कि प्रभुत्व का सिद्धान्त खण्डित हो चुका है।' इसी विश्वविद्यालय के प्रोफेसर अर्नेस्ट बार्कर का भी ऐसा ही मत है। उसने लिखा है, 'कोई भी राजनीतिक सिद्धान्त इस सिद्धान्त से अधिक शुष्क और निष्फल नहीं है।' इसी मत के समर्थक

दूसरे विद्वान् लेखकों में लीडेन (Leyden) यूनीवर्सिटी के प्रोफेसर क्रेब, लन्दन स्कूल ऑफ इकनॉमिक्स के प्रो० लास्की तथा बोर्डो विश्वविद्यालय के प्रोफेसर एम० ड्यूग्वी है। प्रो० क्रेब का मत है कि संसार के सभ्य राष्ट्र प्रभुत्व के सिद्धान्त को अब स्वीकार नहीं करते और राजनीतिक साहित्य से इनका निर्वासन कर देना चाहिए। प्रो० लास्की का मत है कि 'असीमित और अनुत्तरदायी प्रभुत्व का सिद्धान्त मानवता के हितों के प्रतिकूल है' और 'राज्य के प्रभुत्व की भी वही गति होगी जो राजाओं के ईश्वरीय अधिकार की हुई है।'[1] एम० ड्यूग्वी का कहना है कि प्रभुत्व की भावना कल्पनामात्र है जिसमें न कोई वास्तविकता है और न जिसका कोई मूल्य ही है। अतः इसका सार्वजनिक कानून के साहित्य से बहिष्कार कर देना ही उचित है। उनका यह स्पष्ट मत है कि 'राज्य-प्रभुत्व या तो मर चुका है या मृत्यु-शय्या पर पड़ा हुआ है।' अपने इस विचार का स्पष्टीकरण करते हुए वह लिखता है कि हम राज्य के प्रभुत्व को स्वीकार नहीं करते, हम इस विचार को मानते हैं कि जिन्हें शासन करने का अधिकार है उन्हें आदेश देने का अधिकार नहीं' " क्योंकि एक व्यक्ति की इच्छा सदैव दूसरे व्यक्ति की इच्छा के समान है क्योंकि किसी व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति को आदेश देने का अधिकार नहीं है।' उसने चार्ल्स बेनोइस्ट (Charles Benoist) के इन विचारों का समर्थन किया है कि 'राज्य-प्रभुत्व की भावना एक पुराना रहस्यवादी और धार्मिक विचार है। उसकी उत्पत्ति ही मिथ्या है, इतिहास ने भी उसे मिथ्या प्रमाणित कर दिया है और सभी बातों को सोचते हुए वह व्यर्थ और विफल ही नहीं वरन् खतरनाक भी है।' अन्त में वह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि 'राज्य-प्रभुत्व नाम की कोई चीज नहीं है; राज्य की कोई आदेश देने वाली और श्रेष्ठतम इच्छा नहीं है।' फ्रान्स के दूसरे कानून-विशेषज्ञ प्रो० ड्यूग्वी के विचार से सहमत नहीं है। एस्मीन का कथन है कि प्रो० ड्यूग्वी के सिद्धान्त से केवल अराजकता ही पैदा होगी और राज्य में केवल 'बल का शासन' होगा। एक दूसरे फ्रेन्च लेखक ने इसे 'सैद्धान्तिक अराजकता' कहा है और इसके प्रवर्तक प्रो० ड्यूग्वी को 'सैद्धान्तिक अराजकतावादी' (Anarchist of the Chair) कहा है। मिचौड (Michoud) ने भी इसे अराजकतावादी एवं सामाजिक आवश्यकताओं का विरोधी कहा है। अन्य फ्रेन्च कानून-विशारदों ने भी इसी प्रकार के विचार प्रकट किये हैं। ड्यूग्वी ने अपने आलोचकों को उत्तर देते हुए लिखा है कि उसका सिद्धान्त अराजकता के सिद्धान्त से सर्वथा भिन्न है क्योंकि उसने शासन की आवश्यकता एवं अस्तित्व को कदापि अस्वीकार नहीं किया, जैसा कि अराजकतावादी करते हैं। परन्तु जैसा हारियो (Hauriou) और मालबर्ग (Malberg) ने बताया है कि उसका सिद्धान्त शासन को शासन की छाया के रूप में परिवर्तित कर देता है क्योंकि शासन में जिस तत्व के कारण शक्ति और उपयोगिता होती है, अर्थात् सत्ता का सिद्धान्त, उससे वह उसे वंचित कर देता है।

इस प्रकार राज्य-प्रभुत्व के सिद्धान्त को हर प्रकार से दोषपूर्ण एवं भयानक सिद्ध करने के ये प्रयास उन लेखकों द्वारा किये गये हैं, जो अन्य ऐच्छिक समुदायों के लिए अधिकाधिक आन्तरिक स्वतन्त्रता चाहते हैं और जो कहते हैं कि ये सब समाज मिलकर उनके कार्यों को देखते हुए उतने ही महत्वपूर्ण हैं जितना कि राज्य और इस कारण वे चाहते हैं कि राज्य उन्हें अपना साझेदार माने और उस प्रभुत्व में उनको

---

१. Laski : Grammar of Politics (1926), p. 64 तथा The Problem of Sovereignty (1917), p. 209.

भी साझेदार बनाये जिस पर उसने अभी तक अपना एकाधिकार कर रखा है। परन्तु यह सत्य भी स्वीकार करना पड़ेगा, जैसा हम ऊपर चौथे अध्याय में लिख आये हैं कि जब साझेदारों में परस्पर संघर्ष होंगे तब उनके निर्णय तथा निपटारे के लिए तथा एक की दूसरे से रक्षा करने के लिए और उन संस्थाओं के सदस्यों को उनके शासन-कर्ताओं के सम्भावित अत्याचार से बचाने के लिए किसी प्रभुत्व-सम्पन्न पंच की आवश्यकता फिर भी होगी।[१]

---

१. Merriam Barnes and others कृत Political Theories, Recent Times में Coker लिखित 'The Attack Upon State Sovereignty नामक अध्याय देखिये। 'Democracy after the War' में Hobson की समीक्षा देखिये।

राज्य के सिद्धान्त

(1) कानूनी सिद्धान्त

दृष्टिकोण

जैसा कि हमने गत अध्यायों में उल्लेख किया है, राज्य का विवेचन अनेक दृष्टिकोणों से किया जा सकता है। समाजशास्त्री उसे मुख्यत: एक सामाजिक संगठन या तथ्य मानते हैं, इतिहास-वेत्ता उसे ऐतिहासिक विकास का फल मानते है, नीतिशास्त्री उसे एक ऐसी संस्था मानते हैं, जिसका ध्येय नैतिक लक्ष्य की प्राप्ति है; मनोवैज्ञानिक उसे एक ऐसा संगठन मानते है जो मनोवैज्ञानिक नियमों के अनुसार अपनी इच्छा को अभिव्यक्त करता है। राज्य-वैज्ञानिक उसे एक राजनीतिक संस्था मानता है, जिसकी प्रतिष्ठा शासन के लिए हुई है और कानूनशास्त्री उसे एक संस्था मानते हैं जिसका उद्देश्य कानून की रचना तथा कानूनी स्वत्वों की रक्षा करना है। इनमें से प्रत्येक व्यक्ति राज्य की परिभाषा एवं व्याख्या अपने-अपने विज्ञान के प्रकाश में करता है और उसके लक्षण एवं लक्ष्य अपनी विचारधारा के अनुसार मानता है। राज्य की उत्पत्ति, प्रकृति, क्षेत्र, कार्य एवं उद्देश्य के सम्बन्ध में प्रत्येक अपने विशिष्ट सिद्धान्तों का समर्थन करता है और ये सिद्धान्त एक-दूसरे से भिन्न हैं।

कानून-विशेषज्ञों के विचार

कानूनी-विशेषज्ञों में भी अनेक मतभेद हैं। उनके विचार इतिहास, विश्लेषण तथा समाजशास्त्र के आधार पर हैं। अत: उनमें तीन मुख्य वर्ग हैं; एक विश्लेषण-कर्त्ता, दूसरे ऐतिहासिक और तीसरे समाजशास्त्री। विश्लेषणकर्ता कानून-विशेषज्ञ राज्य को एक संस्था मानते हैं जिसका उद्देश्य कानून की रचना, उसकी व्याख्या और उसको अमल में लाना है और जो कानून के द्वारा कार्य करती है। वह राज्य को कानून का आदि स्रोत मानते है क्योंकि न्यायालय केवल उसी नियम को काम में लायेंगे, जो राज्य द्वारा कानून का रूप धारण कर चुका है। ऐतिहासिक कानून विशारद उनसे इस बात में सहमत हैं कि राज्य कानून का स्रोत है परन्तु वे यह स्वीकार नहीं करते कि कानून आवश्यक रूप से राज्य का एक आदेश है जो उसकी धारा-सभा द्वारा बनाया गया हो और जिसे अमल में लाने के लिए दण्ड की भी व्यवस्था हो। वे कानून के ऐतिहासिक विकास पर अधिक जोर देते हैं। उनका यह विचार है कि राज्य के कानून का अधिकांश रीति-रिवाज (Custom) से बना हुआ है जिसका निर्माण किसी धारासभा में नहीं हुआ और जिसके विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि उसका निर्माण राज्य ने किया है। ड्यूग्वी ने तो यहाँ तक माना है कि कानून राज्य के

अस्तित्व से भी पहले का हो सकता है और इसलिए उसकी इच्छा से स्वतन्त्र है। अतः राज्य कानून से बाध्य है और वह उसकी उपेक्षा नहीं कर सकता।

राज्य का व्यक्तित्व

इस प्रश्न पर कानून-विशारदों तथा राजनीतिक लेखकों में काफी वाद-विवाद रहा है कि क्या राज्य को कानूनी अर्थ में 'व्यक्ति' कहा जा सकता है, अर्थात् क्या राज्य को एक कानूनी सृष्टि माना जा सकता है जिसका अपना व्यक्तित्व हो तथा जिसमें एक व्यक्ति के समान आत्म-चेतना और इच्छा-शक्ति हो। मध्य-युग के कानून-वेत्ताओं ने 'कृत्रिम व्यक्ति' (Artificial person) के अस्तित्व को स्वीकार किया था और उसे एक काल्पनिक कानूनी व्यक्तित्व प्रदान किया। उन लोगों ने चर्च आदि संस्थाओं में इस प्रकार के कृत्रिम व्यक्तित्व की स्थापना की, परन्तु इसकी कल्पना शायद ही कभी की कि राज्य का भी, जो समस्त मानव-संस्थाओं में महान् है, ऐसा ही कृत्रिम व्यक्तित्व हो सकता है। उनके विचार में कानूनी व्यक्तित्व का विचार व्यक्तिगत कानून (Private law) का विषय था, सार्वजनिक कानून (Public law) का नहीं।[1] उन्नीसवीं शताब्दी में स्टाल (Stahl), स्टीन (Stein), गर्बर (Gerber), गियर्के (Gierke), ट्रीट्स्के (Trietschke), ब्लुन्ट्श्ली, जेलिनेक आदि जर्मन लेखकों ने व्यक्तिगत कानून के कानूनी व्यक्तित्व की भावना को सार्वजनिक कानून के क्षेत्र में भी स्थान देकर राज्य में कानूनी व्यक्तित्व की भी कल्पना की।[2] गियर्के ने मध्य-युगीन राजनीतिक लेखकों की इसलिए निन्दा की कि उन्होंने राज्य को कानूनी व्यक्तित्व प्रदान नहीं किया और अन्य मानव-संस्थाओं के व्यक्तित्व को भी, केवल 'काल्पनिक' (Fictitious) ही माना। उसकी दलील थी कि वे काल्पनिक व्यक्ति नहीं, वास्तविक व्यक्ति हैं, क्योंकि उनका एक शरीर है और उनके अवयव होते हैं, उनमें अपनी इच्छा-शक्ति है और वे एक प्राकृतिक व्यक्ति की भाँति ही कार्य कर सकते हैं। अन्त में, उसने कहा कि यह कानूनी व्यक्तित्व राज्य द्वारा प्राप्त नहीं हुआ, यह किसी चार्टर या मौन स्वीकृति के फलस्वरूप उन्हें प्राप्त नहीं है, वरन् उनका राज्य की इच्छा से स्वतन्त्र रूप से अपना अस्तित्व है। प्रसिद्ध अंग्रेजी विद्वान् प्रोफेसर मेटलैण्ड इस सिद्धान्त का समर्थक था। इसी प्रकार ब्लुन्ट्श्ली ने राज्य को सार्वजनिक कानून के अर्थ में एक परम श्रेष्ठ व्यक्ति स्वीकार करते हुए कहा कि राज्य की अपनी कानूनी इच्छा होती है, जो निवासियों की सामूहिक इच्छाओं से भिन्न होती है, राज्य में अपनी इच्छा की इच्छा और कार्यों में अभिव्यक्त करने की शक्ति भी है और वह अधिकारों का जनक एवं भोक्ता भी है। राज्य का व्यक्तित्व न तो कानूनी कल्पना है और न कोई रूपक ही, प्रत्युत वह वास्तविक है।[3]

---

१ तुलना कीजिये, Gierke, 'Political Theories of the Middle Ages (translated by Maitland), p 68.

२. इन सिद्धान्तों की समीक्षा के लिए देखिये, Coker, 'Organismic Theories of the State, pp. 22 ff. Dunning, 'Political Theories from Rousseau to Spencer, pp. 366 ff., Duguit The Law and the State, pp. 119 ff.

३. ट्रीट्स्के ने भी कहा है कि राज्य का व्यक्तित्व होता है, मुख्यतर कानूनी अर्थ में और गौण रूप से राजनीतिक अर्थ में। सदा से राज्य एक कानूनी व्यक्ति रहा है,

ग्रन्य लेखक, जिनमें अनेक जर्मन, कुछ फ्रेन्च तथा थोड़े से ब्रिटिश हैं, इस सिद्धान्त का समर्थन करते है कि राज्य का एक कानूनी व्यक्तित्व है, जो उसके निवासियों के सामूहिक व्यक्तित्व तथा अलग-अलग व्यक्तियों से भिन्न है, उसका अपना व्यक्तित्व, अपनी इच्छा और अपने अधिकार एवं हित हैं जो जनता के अधिकारों एवं हितों से भिन्न हैं। उनमें से कुछ यह मानते हैं कि राज्य का कानूनी व्यक्तित्व काल्पनिक या कृत्रिम नहीं है, वह उसी प्रकार वास्तविक है जिस प्रकार एक मनुष्य का व्यक्तित्व।[1] अपने इस सिद्धान्त की पुष्टि में कि राज्य के हित एवं अधिकार उसकी प्रजा या राष्ट्र के हितों एवं अधिकारों से भिन्न हैं, वे यह बतलाते हैं कि राज्य एक स्थायी और सनातन संस्था है, वह केवल वर्तमान प्रजा के हितों एवं स्वत्वों का संरक्षक ही नहीं है वरन् भावी सन्तति का भी संरक्षक है। अतः उसके हित किसी युग-विशेष की प्रजा के हितों से भिन्न हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त व्यक्तियों के हित उनके मतानुसार प्राय: परस्पर विरोधी होते हैं और यह निर्णय करना असम्भव होता है कि उनके हितों का योग क्या है। ऐसी अवस्था में राज्य का हित ही ऐसा सामूहिक हित है जिसका निर्णय किया जा सकता है।

राज्य-व्यक्तित्व के सिद्धान्त की समीक्षा

कुछ लेखक राज्य-व्यक्तित्व की भावना का पूर्णरूपेण अस्वीकार करते हैं। उनमें सबसे प्रसिद्ध प्रो० ड्यूगी और लफर हैं। ड्यूगी का विचार है कि राज्य-व्यक्तित्व की कल्पना एक आध्यात्मिक भावना है और पुरातन विद्वानों के विचारों पर निर्भर है, जिनका कोई मूल्य नहीं। यह कल्पना अवैज्ञानिक भी है। कानूनी सिद्धान्त का उसी सीमा तक मूल्य है, जहाँ तक वह साकार सामाजिक वास्तविकता को, आचार के आधारभूत सिद्धान्त को या एक राजनीतिक संस्था को अमूर्त भाषा में व्यक्त करता है।[2] राज्य-व्यक्तित्व का सिद्धान्त इन शर्तों में से किसी को भी पूरी नहीं करता। वह कोरी कल्पना है, जिसमें वास्तविकता का तनिक भी अंश नहीं है। प्रोफेसर लिफर ने भी काल्पनिक व्यक्तित्व और वास्तविक व्यक्तित्व के मतों की तुलना करके कहा है कि ये दोनों मत उन तथ्यों के विपरीत हैं जिनकी वे व्याख्या करना

वह ऐतिहासिक-नैतिक अर्थ में अब और भी अधिक एक व्यक्ति नजर आता है। उसकी इच्छा काल्पनिक नहीं, प्रत्युत सब इच्छाओं में सबसे अधिक वास्तविक है। (Politics, 1, pp. 15 ff.).

१. कई जर्मन लेखक राज्य के दो व्यक्तित्व मानते हैं—उसका सार्वजनिक सत्ता सम्बन्धी व्यक्तित्व तथा आर्थिक व्यक्तित्व। अपने आर्थिक व्यक्तित्व राज्य-सम्पत्ति का स्वामी होता है, अपनी आमदनी वसूल करता है, खर्च करता है और अन्य आर्थिक कार्य करता है। इस भेद को इंगलैण्ड तथा अमेरिका के लेखक नहीं मानते और कहते हैं कि ये दो व्यक्तित्व नहीं हैं, एक ही व्यक्तित्व के दो रूप हैं।

२. ड्यूगी ने अपनी पुस्तक 'Droit Constitutionnel' में कहा है कि रिवाज के अनुसार हम राज्य शब्द का प्रयोग प्राय: करते हैं, परन्तु यह सदा ध्यान में रखना चाहिए कि इस शब्द से हमारा आशय काल्पनिक सामूहिक व्यक्ति नहीं होता, हमारा आशय उन वास्तविक व्यक्तियों से होता है जिनके हाथ में वास्तविक सत्ता होती है (Vol. I, p. 33)। लेफर ने भी कहा है कि राज्य के अधिकारों का वर्णन करना शासकों के अधिकारों का वर्णन करने के बराबर ही है।

चाहते हैं। एक काल्पनिक व्यक्ति की भावना को समझ लेना तो सरल है, परन्तु काल्पनिक व्यक्ति में सत्ता एवं अधिकार भी निहित हो सकते हैं, इसे समझाना तनिक कठिन है। राज्य काल्पनिक वस्तु नहीं है। वह वास्तव में एक तथ्य है जो समस्त सामाजिक तथ्यों में सबसे महत्वपूर्ण है। हमें इन दो विकल्पों में से एक को चुनना होगा, यह व्यक्ति काल्पनिक है अर्थात् उसका अस्तित्व केवल हमारी कल्पना में ही है। अतः वह किसी भी प्रकार के अधिकार का प्रयोग नहीं कर सकता और यदि वह वास्तव में अधिकार का प्रयोग करता है तो वह सत्य है, यथार्थ है—काल्पनिक नहीं। इस प्रकार किसी काल्पनिक वस्तु को वास्तविक शक्ति देना या यह कहना कि वह कार्य कर सकती है विरोधोक्ति है क्योंकि कार्य करने की शक्ति तो वास्तविक वस्तु में ही हो सकती है और अन्त में वह लिखता है कि मनुष्य ही अधिकारों एवं दायित्वों का विषय हो सकता है, एक कल्पना या काल्पनिक वस्तु न तो अधिकारों तथा दायित्वों का विषय बन सकती है और न वह इच्छा कर सकती है और न कार्य ही।[1]

उपर्युक्त सिद्धान्त की कुछ संशोधन के साथ स्वीकृति

कानून-विशेषज्ञों का एक विशाल बहुमत राज्य के कानूनी व्यक्तित्व को स्वीकार करता है। परन्तु जर्मनी के बाहर के कानून विशेषज्ञ यह नहीं मानते कि राज्य ऐसा व्यक्ति है जिसकी इच्छा, चेतना, अधिकार एवं हित उसकी प्रजा या राष्ट्र की सामूहिक इच्छा, चेतना, अधिकारों एवं हितों से सर्वथा भिन्न है। आज राज्य के व्यक्तित्व को वास्तविक व्यक्तित्व मानने वालों की संख्या बहुत ही कम मिलेगी। जब वे राज्य का उसे एक व्यक्ति कह कर वर्णन करते हैं, तो उनका आशय यही होता है कि वह एक प्रभुत्वसम्पन्न संस्था (Corporation) है, अर्थात् एक कृत्रिम व्यक्ति जैसा कि कानून समस्त संस्थाओं को कृत्रिम व्यक्ति मानता है; राज्य की भी एक संस्था होने की हैसियत से सामूहिक इच्छा, कानूनी क्षमता और सामूहिक कार्य करने की मना होती है जो राज्य के अन्तर्गत समस्त जनता की इच्छा, क्षमता एवं सत्ता से उसी प्रकार भिन्न होती है जैसे एक निजी संस्था (Private Corporation) के अधिकार तथा दायित्व उसके हिस्सेदारों के दायित्वों एवं अधिकारों से भिन्न होते हैं। जो गुण प्राकृतिक व्यक्ति में होते हैं, वे कानून की कल्पना (Fiction of Law) के अनुसार राज्य में भी आरोपित किये गये हैं। अतः राज्य को एक व्यक्ति के रूप में माना जाता है—वह वास्तव में व्यक्ति नहीं माना जाता। इसका यह अर्थ नहीं कि इस प्रकार व्यक्ति बना हुआ राज्य एक कल्पनामात्र है जैसा कानूनी सिद्धान्त के विरोधी मानते हैं। इसके विपरीत राज्य एक वास्तविक वस्तु भी है। कल्पना केवल कानून-विशारदों के मस्तिष्क में अथवा उस कानून में है जो राज्य को ऐसे कानूनी लक्षण प्रदान करता है, जो केवल प्राकृतिक मनुष्य में ही हो सकते हैं। जब कानून-विशेषज्ञ कहते हैं कि 'राज्य राष्ट्र का कानूनी व्यक्तित्व है' तब उनका आशय यही होता है कि जिस व्यक्ति

---

१. लेफर ने कहा है कि जब कोई एक ऐसी वस्तु का, जो वास्तव में व्यक्ति नहीं है, व्यक्ति की तरह वर्णन करता है तो वह कानून या कानून-विशारदों द्वारा रचित एक कल्पना है। यदि इस कल्पना को हम तुलना के साधन या कुछ कानूनी-सम्बन्धों के समूह को एक शब्द द्वारा समझने की सुविधाजनक रीति से अधिक समझें तो वह मिथ्या और भयावह है।

समूह को राष्ट्र कहते हैं उसमे कानूनी व्यक्तित्व के गुण होते हैं। इसका यह कभी प्रयोजन नहीं होता कि यह व्यक्ति या व्यक्तित्व राष्ट्र से ऊपर या बाहर है और न इसका यही अर्थ है कि राज्य एक पूरक व्यक्ति है, जो राज्य का निर्माण करने वाले व्यक्तियों से ऊपर है। संक्षेप मे, राष्ट्र केवल अपने सगठन के कारण व्यक्ति या राज्य का रूप ग्रहण कर लेता है और इस 'व्यक्ति' का राष्ट्र से बाहर कोई अस्तित्व नहीं होता। इस प्रकार मिचौड (Michoud) का कथन है कि राष्ट्र की कोई भिन्न कानूनी सत्ता नहीं है; राज्य राष्ट्र ही है जिसका कानूनी रूप से संगठन हो गया है। यह समझना सर्वथा सम्भव है कि राष्ट्र राज्य से भिन्न अधिकार का विषय कैसे बन सकता है।

इस प्रकार यह कानूनी सिद्धान्त केवलमात्र एक दृष्टिकोण ही है जिससे कानून-विशेषज्ञ राज्य पर विचार करते हैं। यह कल्पना पर ही निर्भर हो सकता है, परन्तु कानून मे कल्पनाएँ भरी पडी हैं। एस्मीन ने बतलाया है कि कभी-कभी कल्पनाओं के द्वारा ही वास्तविकताएँ अपने ज्ञेय रूप मे प्रकट होती हैं। प्रोफेसर लेफर, जो राज्य व्यक्तित्व का सबसे प्रबल विरोधी था और कहता था कि यह मिथ्या और भयंकर है यह स्वीकार करता है कि तुलना के लिए यह सिद्धान्त विशेष उपयुक्त होगा, इससे उस वास्तविकता को अधिक उत्तमता के साथ समझा जा सकता है जो कल्पना के पीछे स्थित रहती है। इससे राज्य के गहन यंत्र का ठीक-ठीक ज्ञान हो सकेगा और इस प्रकार किसी समय राज्य तथा राज्य के अंश के हितों मे तथा शासक और शासितो के हितो मे भेद करने में सुविधा होगी।

(२) सावयव सिद्धान्त

सावयव कल्पना

राज्य का सावयव सिद्धान्त (Organismic theory) कानूनी सिद्धान्त के सर्वथा विपरीत है। कानूनी सिद्धान्त के अनुसार राज्य एक काल्पनिक कानूनी व्यक्ति है। परन्तु सावयव सिद्धान्त के अनुसार राज्य एक वास्तविक व्यक्ति है जिसके अंग एक जीवधारी व्यक्ति अथवा वृक्ष के समान कार्य करते हैं। यह एक प्राणि-वैज्ञानिक (Biological) कल्पना है जिसके अनुसार राज्य को एक जीवधारी व्यक्ति माना जाता है; राज्य के व्यक्तियों को जीवधारी के कोष्ठो (Cells) के समान माना जाता है; राज्य तथा व्यक्तियों का ठीक वैसा ही अन्योन्याश्रय-सम्बन्ध है, जैसा कि शरीर और उसके अंगों का। इस सिद्धान्त के कुछ समर्थको ने राज्य मे भी जीवधारी के समान ही रक्त-नाडियो, रक्त-संचालन, मस्तिष्क, स्नायु, नाडी-मण्डल, मास पेशियो, उदर, ऊरू, नासिका, केश-कलाप तथा नाखूनों तक की कल्पना की है।[१] यह एक प्रकार से समाज के अद्वैतवादी (Monistic) सिद्धान्त के समान है जिसके अनुसार समाज को एक ऐसा सामाजिक जीवधारी व्यक्ति माना गया है कि उसमे जो व्यक्ति होते हैं उनका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता; उनमे से प्रत्येक अपने निरन्तर जीवन के लिए एक-दूसरे पर तथा समस्त शरीर पर आश्रित होता है। इसके विरुद्ध एक दूसरा परमाणु (Monadnic) सिद्धान्त या विशुद्ध व्यक्तिवादी सिद्धान्त है जो समाज को

१. तुलना कीजिये Coker, 'Organismic Theories of the State' (1950), p. 194.

व्यक्तियों का समूह मानता है जिनमें से प्रत्येक व्यक्ति अधिकांश में दूसरों से अलग एवं स्वतन्त्र है और केवल दुर्बल व्यक्तियों की सबल व्यक्तियों से रक्षा की व्यवस्था के अतिरिक्त राज्य की अन्य किसी प्रकार की सहायता के बिना भी जीवित रह सकता है। प्राचीन काल में इस सिद्धान्त के अनेक पक्षपाती थे, परन्तु वर्तमान समय में शायद ही कोई प्रसिद्ध लेखक इसका समर्थन करता हो।[1]

यन्त्रवादी सिद्धान्त

राज्य के सावयव सिद्धान्त (Organismic Theory) के प्रतिकूल एक दूसरा सिद्धान्त भी है जो यन्त्रवादी सिद्धान्त (Mechanistic Theory) कहा जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य एक यन्त्र, एक मशीन है, जिसका निर्माण व्यक्तियों के स्वेच्छाकृत परस्पर समझौते (Contract) के फलस्वरूप हुआ है। वह एक यन्त्र के समान ही अपने कार्य करता है और उसके निर्माणकर्त्ता उसमें इच्छानुसार आवश्यक सुधार या परिवर्तन ऐतिहासिक नियमों तथा प्रतिष्ठित परम्पराओं का विचार किये बिना ठीक वैसे ही कर सकते हैं जैसे एक यन्त्र में। अत. इस सिद्धान्त की दृष्टि में राज्य एक विशाल भवन है और उसके संस्थापक उसके शिल्पी। जिस प्रकार एक शिल्पी या स्थापत्य कला-प्रवीण, जिसे एक भवन निर्माण करने का कार्य सौंप दिया जाता है, पुराने ग्रस्त व्यस्त खण्डहरों को धाराशायी करके समतल भूमि बनाकर नूतन ढंग से नये भवन खड़े करता है, उसी प्रकार समाज के व्यक्ति पुरातन संस्थाओं के खण्डहरों को मिटा कर, अतीत से समाज का सम्बन्ध-विच्छेद कर, इतिहास और परम्परा की बातों की उपेक्षा करके नवीन राज्य संगठन का निर्माण नवीन विचारधारा के प्रकाश में अपनी इच्छानुसार कर सकते हैं। यह फ्रान्स के क्रान्तिकारियों का मत था जिस पर बर्क ने एक विशेष प्रहार किया। इतिहास और अनुभव ने यह बतला दिया है कि यह सिद्धान्त अधिकांश में मिथ्या है। राज्य भी अन्य मानव संस्थाओं की भाँति मानवों (व्यक्तियों) की रचना है, परन्तु ऐसे मानवों की जो ऐतिहासिक शक्तियों तथा राष्ट्रीय संस्कारों एवं आदतों से सहयोग करते हुए कार्य करते हैं। इस प्रकार राज्य एक शिल्पी द्वारा निर्मित भवन की भाँति केवल एक विशुद्ध स्वच्छन्द यान्त्रिक रचना नहीं है। राज्य एक ऐतिहासिक रचना है। वह इससे भी अधिक है, वह, जैसा समाज-शास्त्री बताते हैं, एक केन्द्रीय संगठन है, एक सामाजिक समुदाय है जो उसके व्यक्तियों की एकता तथा अन्योन्याश्रितता पर निर्भर है।

सावयव सिद्धान्त का इतिहास तथा साहित्य

राज्य के सम्बन्ध में जितने भी सिद्धान्त हैं, उनमें सावयव सिद्धान्त सबसे पुरातन और प्रसिद्ध है। यह राज्य की एक मानव शरीर से जैसी तुलना करता है, उसकी कल्पना प्लेटो ने भी की थी।[2] सिसरो ने भी एक राज्य की तुलना व्यक्ति के

१. इन सिद्धान्तों के सम्बन्ध में तुलना भी कीजिये MacKenzie, 'Introduction to Social Philosophy' (1890), pp. 131-33, और Montague, Limits of Individual Liberty (1885 Chs. 3-4, Leslie Stephen 'Science of Ethics' (1852), Ch. 3, तथा MacKechnie, 'The State and the Individual' (1896).

२. De Republica,' Bk. IV; तुलना भी कीजिये Aristotle, 'Politics,' Jowetts' edition, p. 113, Barker, 'Political Thought of Plato and Aristotle,' pp. 127, 138, 276 ff.

शरीर से की थी और राज्य के प्रमुख को मानव-शरीर की आत्मा के समान बताया था। सेलिसबरी के जॉन, मार्सीलियो, एल्थूसियस आदि प्राचीन तथा आरम्भ के अर्वाचीन लेखकों ने ऐसी तुलनाएँ अपने राजनीतिक ग्रन्थों में भी की हैं।

गियर्के का कथन है कि मध्ययुग के विचारकों में राज्य की एक मानव-शरीर के समान रचना उतनी ही सामान्य थी जितनी उसकी यन्त्र के रूप में कल्पना अपरिचित थी। बाइबिल के रूपकों तथा रोम एवं यूनान के लेखकों द्वारा प्रस्तुत आदर्शों के प्रभाव से समस्त मानव जाति की तथा प्रत्येक छोटे समूह की एक शरीर से तुलना सर्वत्र की जाती थी।[१] सन्त पॉल के कथनानुसार चर्च एक रहस्यमय शरीर है जिसका शीर्ष ईसा होता है। पॉल का अनुसरण करते हुए चर्च का समर्थन करने वाले दल ने पोप को इस पृथ्वी पर ईसा का स्थानापन्न अथवा प्रतिनिधि स्वीकार कर लिया और इसके विपरीत सम्राट् के पक्षवालों ने सम्राट् को प्रमुख माना। यह बात एक-दो सिर वाले राक्षस की कल्पना के कारण उत्पन्न हुई जिससे बचने के लिए कुछ लोगों ने बतलाया कि दो शरीर थे जिनमें से प्रत्येक का अपना अलग सिर था और वे दोनों शरीर एक बड़े शरीर के अगमात्र थे जिसका सिर ईश्वर था।[२]

पिछले युग के लेखकों में हॉब्स तथा रूसो ने मानवों तथा समझौते द्वारा रचित कृत्रिम राज्यों की तुलना की है। हॉब्स के मतानुसार राज्य एक महाकाय परन्तु 'कृत्रिम मानव' है जिसका आकार और जिसकी शक्ति प्राकृतिक मनुष्य से बहुत बड़ी है। उसने राज्य के प्रभुत्व की तुलना मानव की आत्मा से की, मजिस्ट्रेटों की तुलना जोड़ों से तथा दण्ड एवं पुरस्कार की तुलना स्नायुमण्डल से। उसने राज्य की दुर्बलताओं की तुलना भी मानव शरीर के रोगों से की।[३] रूसो ने भी राज्य-शरीर की तुलना मानव-शरीर से की जिन दोनों में उसके मतानुसार इच्छा तथा बल की शक्ति (व्यवस्थापिका और कार्यकारिणी शक्ति) है। पहली शक्ति राज्य का 'हृदय' है और दूसरी उसका 'मस्तिष्क'।[४]

उन्नीसवीं शताब्दी में इस सिद्धान्त का विकास

आरम्भ में यह सिद्धान्त केवल उपमाओं या तुलनाओं के रूप में ही था; क्योंकि इस प्रकार की तुलना करने वालों में ऐसे विद्वान् ही अधिक थे जो राज्य की उत्पत्ति और प्रकृति के सम्बन्ध में समझौते के सिद्धान्त को मानते थे जो बाद में विकसित सावयव सिद्धान्त के प्रतिकूल था। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में अठारहवीं शताब्दी के सामाजिक समझौते के सिद्धान्त की जो प्रतिक्रिया हुई उसने सावयव सिद्धान्त (Organic Theory) के रूप में शरीर ग्रहण किया। यह सिद्धान्त राज्य की वास्तविक प्रकृति के अनुकूल और व्यक्तियों तथा राज्य के पारस्परिक सम्बन्धों को समुचित रूप में प्रकट करने वाला जान पड़ा।[५] इस नवीन सिद्धान्त

---

१. Gierke, 'Political Theories of the Middle Age' (Maitland), p 33.

२. Gilchrist, 'Principles of Political Science' (1920), p. 47.

३. Introduction to 'The Leviathan,' 'Works.' Vol. III, pp. IX-X.

४. 'The Social Contract.' Bk. III Chs 1, 2.

५. तुलना कीजिये Merriam : 'History of the Theories of Sovereign-

की उत्पत्ति जर्मनी मे हुई और वही इसके प्रसिद्ध समर्थक हुए। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाले प्रारम्भिक लेखकों मे मुख्य थे लीग्रो (Leo), शेलिंग (Schelling), क्राज (Krause), ग्रहरेन्स (Ahrens), स्मिथेनर (Smitthenner) वेट्ज (Waitz), गोरेज (Gorres), वोलग्राफ (Volgraff), स्टाह्ल (Stahl) जकरिया (Zacharia), फान्ज (Frantz), आदि। इस सिद्धान्त की प्राणिशास्त्र-सम्बन्धी उपमाओं तथा सादृश्यों का आकर्षण इतना बढ गया कि एक समय तो ऐसा लगने लगा कि राज्य-विज्ञान प्राकृतिक विज्ञान का ही अंग बन जायगा। ब्लुंट्श्ली ने सन् १८५२-१८८४ मे अपनी कृतियों मे इस सिद्धान्त को उच्चतम शिखर पर पहुँचा दिया और उसके सम्बन्ध मे अपने पूर्वकालीन लेखकों से भी अधिक अतिशयोक्तिपूर्ण विचार प्रकट किये। उसने बतलाया कि 'राज्य मानव शरीर की प्रतिमूर्ति ही है।' प्रत्येक के अंग प्रत्यंग, कार्य तथा जीवन-प्रक्रियाएँ हैं और मानव शरीर तथा राज्य की इन सभी बातों मे समानता है। यह तुलना यहाँ तक की गयी कि राज्य मे लिंगभेद का भी आरोप किया गया, राज्य को पुल्लिंग और चर्च को स्त्रीलिंग माना गया। ब्लुंट्श्ली ने राज्य और मानव शरीर की जो तुलना की है, वह अत्यन्त अतिशयोक्तिपूर्ण और बेतुकी है। उसकी दृष्टि मे राज्य कोई जीवन-रहित कृत्रिम यन्त्र नही था, प्रत्युत 'सजीव जीवात्मा' था। उसने लिखा है कि जिस प्रकार एक तैल चित्र, तैल बिन्दुओं से अधिक कुछ और ही है, मूर्ति संगमरमर के प्रस्तर-खण्डों के समूहमात्र मे अधिक कुछ और ही है, मनुष्य कोष्ठों तथा रक्त-नलिकाओं एवं खण्डिकाओं मे अधिक कुछ और ही है, उसी प्रकार राष्ट्र नागरिकों, व्यक्तियों, के समूहमात्र से और राज्य बाह्य नियमों के समूह से अधिक कुछ और ही है।

स्पेन्सर की उपमाएँ

यद्यपि राज्य के सावयव सिद्धान्त का प्रादुर्भाव जर्मनी मे हुआ तथापि इंगलैंड, रूस, फ्रान्स एवं ऑस्ट्रिया मे भी उसके अनेक समर्थक हुए।[१] इंगलैंड मे सन् १८७८-१८८० मे हरबर्ट स्पेन्सर ने अपनी पुस्तक 'समाजशास्त्र के सिद्धान्त' (Principles of Sociology) तथा अन्य कृतियों मे प्राणिशास्त्र के नये विज्ञान के ढंगों का अनुसरण करते हुए समाज की जीवधारी के शरीर से विस्तृत तुलना की है। उसके मत मे समाज एक प्राकृतिक शरीर है जो प्राणि-शरीरों से मुख्य बातों मे भिन्न नही है। उसने कहा कि प्राणि शरीर तथा समाज शरीर दोनों ही आरम्भ मे एक कीटाणु के रूप मे होते हैं और धीरे-धीरे उनका विकास होता है जिस प्रक्रिया मे उनके विभिन्न अंग, जैसे-जैसे उनका विकास होता है, एक-दूसरे से अधिकाधिक असमान होते जाते हैं और उनमे रचना-सम्बन्धी जटिलता बढती जाती है। जिस प्रकार जीवों मे जो सबसे निम्नकोटि

---

ty Since Rousseau' (1910), pp. 87 ff तथा Gettell : History of Political Thought, (1924), Vol. I, pp. 20-23

१. ट्रीटश्के उन थोडे से जर्मन लेखकों में से था जिसने सावयव सिद्धान्त की आलोचना की। राज्य को एक प्राणी मानना उसके विचार से स्पष्टतः भ्रमजनक था। उसने कहा कि राज्य को एक प्राकृतिक प्राणी मानना और राज्य-विज्ञान मे प्राकृतिक विज्ञान की शब्दावली का प्रयोग करना खतरनाक है। ऐन्द्रिय (Organic) तथा अनैन्द्रिय (Inorganic) जीवन मे भेद स्पष्ट नही है और राज्य को एक प्राणि-शरीर कहने से उसकी प्रकृति व्यक्त नहीं होती (Political, Vol. I, p. 18)।

वे हैं, वे केवल उदर और स्वादेन्द्रिय के रूप में ही होते हैं, उसी प्रकार प्रादिम अवस्था में समस्त समाज, शिकारी, कुटीर-निर्माता या औजार बनाने वाला होता था। जब समाज बढ़ते-बढ़ते मिश्रित होने लगता है, तो श्रम-विभाजन शुरू हो जाता है; अर्थात् जीव के विकास की भाँति समाज में भी अलग-अलग काम करने वाले नवीन अंगों का विकास होता है और इस 'मौलिक लक्षण' में दोनों बिलकुल समान हो जाते हैं। प्रत्येक स्थिति में अंग-प्रत्यंग एक-दूसरे पर आश्रित होते हैं और प्रत्येक अंग-प्रत्यंग द्वारा अपने कार्य का पूर्णरूप से सम्पादन अन्य अंगों के स्वास्थ्य एवं सुरक्षा के लिए आवश्यक है। जिस प्रकार शरीर के अवयवों द्वारा ठीक प्रकार कार्य न होने से शरीर को हानि पहुँचती है, उसी प्रकार समाज में यदि लुहार अपना काम न करे, खान खोदने वाला अपना काम बन्द कर दे, किसान अन्नोत्पादन न करे और व्यापारी अन्न वस्त्र का वितरण ठीक प्रकार न करे तो पूरे समाज को हानि पहुँचेगी। इस प्रकार सामाजिक जीवन तथा प्राणि-जीवन में एक सादृश्य है। जिस प्रकार प्राणि-शरीर में कोष्ठ तथा रक्तकण धीरे-धीरे परन्तु निरन्तर बदलते रहते हैं जिससे शरीर नष्ट होता रहता है और बनता रहता है उसी भाँति राज्य में भी प्रक्रिया होती रहती है; मनुष्य मरते और जन्म लेते रहते हैं और राज्य-संगठन सदा कायम रहता है शरीर में जैसे पोषण एवं अन्न-पाचन की क्रिया होती है, वैसे ही समाज में उत्पादन होता है। जिस प्रकार शरीर में रक्तवाहिनी होती है उसी प्रकार समाज में यातायात के साधन होते हैं। शरीर में जिस प्रकार स्नायु-मण्डल काम करता है उसी प्रकार राज्य में शासन एवं सेना का कार्य है।[1]

मानव-शरीर तथा राज्य-शरीर में इतनी समानताएँ होते हुए भी स्पेन्सर ने यह स्वीकार किया है कि इन दोनों में एक बड़ी असमानता है और वह यह है कि प्राणि शरीर के अंग-प्रत्यंग एक-दूसरे से अति घनिष्ठ होते हैं, परन्तु समाज की इकाइयाँ (व्यक्ति) स्वतन्त्र और बिखरी हुई होती हैं। उसने इस भेद को आधारभूत मानते हुए भी यह कहा है कि इस कारण इन दोनों की तुलना में कोई अन्तर नहीं पड़ता क्योंकि समाज और शरीर के समान घनिष्ठता से बंधा हुआ नहीं होने पर भी एक जीवित पूर्ण वस्तु है। उन दोनों शरीरों में एक दूसरा अन्तर और भी है जिसका प्रभाव समाज के लक्ष्यों के विषय में हमारी जो कल्पना है उस पर काफी पड़ता है। यह अन्तर है समाज-शरीर में चेतना-केन्द्र का अभाव। शरीर में चेतना एक छोटे-से भाग में केन्द्रित होती है, परन्तु समाज में वह सर्वत्र व्याप्त होती है। स्पेन्सर ने इस असमानता से यह निष्कर्ष प्राप्त किया है कि समाज में व्यक्तियों से भिन्न पूर्ण समाज का हित प्राप्त लक्ष्य नहीं है; समाज अपने सदस्यों के हित के लिए बना है; सदस्य समाज के हित के लिए नहीं है। समाज-शरीर तथा प्राणि-शरीर में स्पेन्सर ने जो यह असमानता देखी उससे प्रभावित होकर ही उसने व्यक्तिवादी सिद्धान्त की रचना की

१. स्पेन्सर ने Westminster Review में सन् १८६० में एक लेख लिखा था जिसमें उसने हृदय से बाहर रक्त ले जाने वाली और बाहर से हृदय को रक्त पहुँचाने वाली नाड़ियों तथा रेल के साथ ऊपर तथा नीचे की ओर जाने वाले तार की लाइनों में समानता बतलाई थी। परन्तु उसके संग्रहीत ग्रन्थों में इस सादृश्य का कहीं उल्लेख नहीं है। इसको यहाँ न देकर उसने बुद्धिमानी ही की है।

जो कुछ लोगो को उसके सावयव-सिद्धान्त के विपरीत दिखाई देता है।[1]

सावयव सिद्धान्त के अन्य समर्थक

ऑस्ट्रिया का लेखक एलबर्ट स्काफ्ले (Schaffle) उन लेखको मे से है जिन्होने जीव-विज्ञान सम्बन्धी उपमा को बहुत आगे बढा दिया है। उसने अपने ग्रन्थ 'The Structure and Life of Social Body' के चार खण्डो मे समाज तथा प्राणि-शरीर मे शारीरिक, शरीर-रचनात्मक, जीव-वैज्ञानिक तथा मनोवैज्ञानिक समानताओं की स्थापना की है और बतलाया है कि राज्य एक जीवधारी शरीर है जिसका जीवन तत्व मानव है और शरीर मे जो स्थान मस्तिष्क का है, समाज मे वही स्थान शासन या राज्य का है। यह ग्रन्थ बडा गवेषणात्मक है और इससे यह स्पष्ट है कि लेखक ने इस विषय मे गम्भीरता मे अपने विषय का विवेचन किया है। उसने समाज के सावयव सिद्धा त का बडी योग्यता और चातुर्य के साथ समर्थन किया है। इसी प्रकार का एक विद्वत्तापूर्ण और महान् ग्रन्थ पॉल लिलियनफेल्ड (Lilienfeld) नामक रूसी विद्वान् का है, 'Thoughts Concerning the Social Science of the Future' जो सन् १८७३-१८८१ के बीच पाँच खण्डो मे प्रकाशित हुआ था और जिसमे राज्य के सावयव सिद्धान्त का विशद् विवेचन है। इस विवेचन के साथ ही उसमे सामाजिक मनोविज्ञान तथा सामाजिक शरीर-विज्ञान के नियमो पर भी विचार किया गया है। उसने समाज की सावयव प्रकृति पर जो जोर दिया उसमे और प्राणिशास्त्र-सम्बन्धी समानताओ मे उसका विवेचन स्पेन्सर तथा ऑस्ट्रियन लेखक से भी आगे बढा हुआ है। ऑगस्ट कोत (August Comte), फौली (Fouille) और रेनीवर्म्स (Rene Worms) आदि फ्रेन्च लेखको ने भी इसका विवेचन और समर्थन किया है। आजकल फ्रेन्च लेखक वर्म्स इस सिद्धान्त का सबसे प्रमुख एवं महान् समर्थक है। अपनी पुस्तक 'Organism and Society' मे उसने प्राणिशास्त्र सम्बन्धी उपमाओ की व्याख्या तथा उनका समर्थन किया है और माना है कि समाज की रचना, उसके कार्य तथा रोग जीवित प्राणियों की शरीर-रचना, उनके कार्य तथा रोगों मे बडी समानताएँ हैं।

राज्य के सावयव सिद्धान्त का मूल्याकन

यदि इस सिद्धान्त का अर्थ केवल इतना ही होता कि राज्य किसी प्रकार के बन्धन मे न बँधे हुए व्यक्तियो के एक समूहमात्र से कुछ अधिक है, अर्थात् वह एक ऐसा समाज है जिसमे व्यक्ति सम्पूर्ण समाज पर आश्रित है और सम्पूर्ण समाज व्यक्तियो पर, तो इसके विरुद्ध कोई युक्तिसगत आपत्ति नही की जा सकती थी। प्राणि-शरीर सम्बन्धी तुलनाएँ भी, जिनकी कोई व्यावहारिक उपयोगिता नही है, एक सीमा तक निर्दोष और वैज्ञानिक दृष्टि से आपत्ति के अयोग्य हैं[2] क्योकि दोनो राज्य तथा प्राणि-शरीर की रचना तथा कार्यों मे कुछ समानताएँ हैं। परन्तु अनेक जगह यह तुलना विफल हो जाती है और समानताएँ कल्पनामात्र रह जाती है। राज्य के व्यक्तियो की प्राणि-शरीर के कोष्ठो से समानता बिलकुल ही ऊपरी प्रतीत होगी। शरीर के कोष्ठ यात्रिक टुकडे मात्र हैं, उनका कोई स्वतन्त्र जीवन नही हैं, वे अपने-अपने स्थान पर

१. स्पेन्सर ने [illegible]ाक, अपने प्राणिशास्त्र सम्बन्धी सिद्धान्त तथा अपने व्यक्तिवादी विचारो [illegible]स्य स्थापित करने के लिए किया।
२. तुलना कीजिये, Hobhose, 'Liberalism' pp. 125-131 तथा उसकी 'Social Evolution and Political Theory' (1911), p. 87.

स्थायी रूप से जमे हुए हैं, उनमें विचार और इच्छाशक्ति नहीं है और शरीर के जीवन को बनाये रखना ही उनका काम है। परन्तु राज्य के व्यक्ति बौद्धिक एवं नैतिक प्राणी होते हैं; उनमें अपनी इच्छाशक्ति है, दूरदर्शिता है इधर-उधर आने-जाने तथा आत्मसंयम की क्षमता है और उनका शारीरिक जीवन राज्य के जीवन से स्वतन्त्र है। प्रत्येक व्यक्ति एक सीमा तक अपने भाग्य का निर्माता है, समाज में उसके स्थान का निर्णय राज्य नहीं करता और न पूर्णतया उसके कार्यों का नियमन ही राज्य द्वारा होता है। इस प्रकार राज्य के व्यक्तियों में चेतना का अस्तित्व और प्राणि-शरीर के कोष्ठों में उसका अभाव उन अनेक उदाहरणों में से एक है जहाँ समानता नहीं ठहरती। प्राणि या वनस्पति के अंग-प्रत्यंग शरीर से इतने घनिष्ठ होते हैं कि उनके अस्तित्व शरीर के सम्बन्ध पर निर्भर है, यदि शरीर के किसी अंग को काट डाला जाय या किसी वृक्ष की टालों को तोड़ दिया जाय, तो उसका अस्तित्व कायम नहीं रह सकेगा। परन्तु यदि राज्य से कोई व्यक्ति अलग हो जाय, तो उसका अस्तित्व नहीं मिट जायगा, वह राज्य से अलग हो जाने पर भी व्यक्ति तो रहेगा ही।[1] इसके अतिरिक्त वृद्धि, विकास, ह्रास तथा मृत्यु के जो नियम मानव शरीर-रचना के सम्बन्ध में लागू होते हैं, वे उन नियमों के समान नहीं हैं जो राजनीतिक संसार में लागू होते हैं। शरीर की वृद्धि एवं विकास भीतरी संयोजन द्वारा होता है, वह बाहर से किसी वस्तु को अपने में शामिल करके अपना विकास नहीं करता, परन्तु राज्य में परिवर्तन होता है, वृद्धि नहीं और यह परिवर्तन बाहर से व्यक्तियों की इच्छाशक्ति और उनके चेतनामय कार्य का परिणाम होता है। यदि इसे वृद्धि कह सकें तो यह वृद्धि व्यक्तियों के सचेतन कार्य का परिणाम होता है और अधिकांश में आत्मसंचालित होता है। शरीर की वृद्धि में सचेतन कार्य एवं इच्छाशक्ति का काम नहीं होता। वह तो प्राकृतिक नियमों द्वारा संचालित यान्त्रिक कार्य के फलस्वरूप अपने आप होती है; अवयवों में यह शक्ति नहीं होती कि वे उसकी वृद्धि तथा विकास की गति को बदल दें अथवा उसके आकार में कुछ जोड़ दें।[2] जेलिनेक ने कहा है कि विकास, वृद्धि एवं मृत्यु *राज्य-जीवन की आवश्यक प्रक्रियाएँ नहीं हैं, परन्तु प्राणि-शरीर के जीवन से* उन्हें हम अलग नहीं कर सकते। जिस प्रकार वृक्ष या प्राणि-शरीर नया जन्म ग्रहण करता है उसी प्रकार राज्य का प्रदुर्भाव या पुनरुद्धार नहीं होता। उसने यह बतलाया है कि संसार में जर्मन साम्राज्य, इटली आदि अनेक राज्यों का जन्म तलवार के बल पर हुआ है, प्राणि-शरीर की रचना जिन प्रजनन-क्रियाओं के द्वारा होती है, वैसे नहीं।

हमारा निष्कर्ष यह है कि प्राणि-शरीर की उपमा जिस ढंग से प्रस्तुत की गयी है वह सर्वथा अनुचित और बेतुकी ही नहीं, अनिष्टकारी भी है और यदि सम्माननीय तथा विद्वान् लेखकों ने राज्य तथा व्यक्तियों के सम्बन्ध की व्याख्या करने में इसका प्रयोग न किया होता तो इस तुलना पर कोई ध्यान तक न देता। कुछ अंश में यह तुलनाएँ चातुर्यपूर्ण हैं और अच्छी तरह की गयी हैं। अनेक लेखकों के लिए वे

---

१. तुलना कीजिए, Mackenzie, 'Introduction to Social Philosophy' p. 138. बार्कर ने भी कहा है कि राज्य एक प्राणी नहीं है, प्राणी के समान है; वह प्राणी इसलिए नहीं है कि उसका कोई भौतिक शरीर नहीं है (Political Thought from Spencer to the Present Day (1951), p. 10.

२. तुलना कीजिये, Willoughby, 'Nature of the State,' p. 37 तथा Ward, 'Psychic Factors of Civilization' p. 299.

प्रलोभनकारी एवं आकर्षक सिद्ध हुई हैं। कुछ लेखकों को इससे अपने उस सिद्धान्त के लिए आधार मिल गए हैं जिसके द्वारा राज्य की वेदी पर व्यक्तियों का बलिदान किय जाता है। जिस अर्थ में बहुत से लेखक इसे समझते हैं उसमें यह सिद्धान्त केवल तुलन के आधार पर खड़ा किया गया है। इस सम्बन्ध में हमें लॉर्ड एक्टन ने समानताओं रूपकों और अलकारों के मायाजाल के विषय में जो चेतावनी दी है उसका सदा ध्या रखना चाहिए। इसी कारण जेलिनेक ने यह मत प्रकट किया है कि हमें इस प्राणि शरीर सम्बन्धी तुलना के सिद्धान्त को बिलकुल अस्वीकार कर देना चाहिए, नहीं त जो कुछ सत्य इसमें है, उपमाओं के असत्य द्वारा उसके छिप जाने का अन्देशा है।[१]

इस सिद्धान्त का मूल्य

इस सिद्धान्त की आलोचना के बावजूद भी इसका अपना मूल्य है। इस १८ वी शताब्दी के उस व्यक्तिवादी सिद्धान्त के विरुद्ध विषहर का काम किया, जिसके अनुसार राज्य एक कृत्रिम यन्त्र मात्र रह जाता है जिसके टुकड़े, जैसा बर्क ने कहा है शिल्पी की इच्छानुसार कहीं से भी इकट्ठे करके किसी भी सिद्धान्त पर जो जा सकते हैं।[२] इसने राज्य की एकता पर तथा व्यक्तियों की अन्योन्याश्रितता प जोर दिया और इस बात पर भी जोर दिया कि समाज से विलग होकर मनुष्य सम जीवन नहीं बिता सकता। इसने यह सिखलाया कि राज्य एक दिन के चमत्कार क तात्कालिक फल नहीं, प्रत्युत सतत प्रयत्नों का परिपक्व फल है, यह एक पौधे अथव प्राणि-शरीर की भाँति शनैः शनैः विकसित हुआ है, कला द्वारा निर्मित नहीं है; व्यक्ति उससे उसी प्रकार अलग नहीं हो सकते जिस प्रकार शरीर से हाथ या वृक्ष से डाल अलग होकर जीवित नहीं रह सकती।[३] इस सिद्धान्त की प्रमुख दुर्बलता उसकी अति शयोक्ति में और इस बात में है कि इसका आधार उन समानताओं पर है जो केवल ऊपरी या मिथ्या हैं।

(३) सामाजिक समझौते का सिद्धान्त

सिद्धान्त की व्याख्या

सामाजिक समझौते का सिद्धान्त (Contract theory) राजनीतिक विचा में अठारहवीं शताब्दी में प्रधान था। इस सिद्धान्त के समर्थकों ने इसकी कल्पना द रूपों में की—प्रथम, इसने राज्य की उत्पत्ति की व्याख्या की और दूसरे शासक तथ शासितों के सम्बन्धों पर प्रकाश डाला। जिन विद्वानों ने इस सिद्धान्त को राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त के रूप में ग्रहण किया उन्होंने राज्य की उत्पत्ति से पूर्व मान

---

१. बार्कर ने कहा है कि दो वस्तुओं में समानता दिखाने से उनके सम्बन्ध निश्चि नहीं होते, वरन् सादृश्य पर हम जितना अधिक जोर देने का प्रयत्न करेंगे उतन ही हम उनके पारस्परिक सम्बन्धों को निश्चित करना भूल जायेंगे। इस प्रका प्रयत्न करने तथा भूल जाने का स्पेन्सर बड़ा अच्छा उदाहरण है। (Politica Thought from Spencer to the Present Day, p. 106 ff)

२. Reflections on the French Revolution

३. तुलना कीजिये Vaughan, 'History of Political Philosophy' (1925) Vol II, p. 24; Gilchrist, 'Principles of Political Scienc (1920), p. 53; Gettell, 'History of Political Thought' (1924) pp. 410 ff.

जाति की आदिम अवस्था को प्राक्-नागरिक (Pre-civil) अथवा प्राक्-सामाजिक (Pre social) अवस्था माना जिस अवस्था से मुक्ति पाने के लिए व्यक्तियों ने परस्पर प्रकट या अप्रकट समझौता किया, जिसके फलस्वरूप प्रत्येक व्यक्ति ने अपनी इच्छानुसार व्यवहार करने के अपने 'प्राकृतिक अधिकार' (Natural Right) का परित्याग कर उसके स्थान पर नागरिक अधिकार' (Civil Rights) अर्थात् 'राज्य द्वारा उत्पन्न और रक्षित अधिकार' प्राप्त किये, अर्थात् इस प्रकार समझौते द्वारा राज्य का जन्म हुआ। समाज की इस प्राक्-नागरिक अवस्था को प्रकृति की आदि अवस्था कहा गया है।

हॉब्स के अनुसार जो व्यक्ति इस प्रकृति की आदि अवस्था में रहते थे उनके अधिकार केवल उनकी शारीरिक शक्ति द्वारा सीमित थे। उस स्थिति में उचितानुचित, न्याय अन्याय या सम्पत्ति की कोई भावना नहीं थी क्योंकि ये भावनाएं राज्य द्वारा उत्पन्न हुई हैं। स्वभावतः स्वार्थी, अहंकारी, पाशविक लोभी और आक्रमणकारी व्यक्ति सदैव एक-दूसरे के साथ लड़ा करते थे या कम से कम उनमें सदैव लड़ाई की सम्भावना रहा करती थी। इसके विपरीत लॉक के विचार के अनुसार प्रकृति की आदि अवस्था में व्यक्ति सामाजिक, परोपकारी एवं शान्तिमय थे। इसके अतिरिक्त प्रकृति की आदि अवस्था कानूनरहित राज्य की अवस्था नहीं थी। मनुष्य प्रकृति के नियम अथवा प्राकृतिक नियम नामक उन अस्पष्ट नियमों का पालन करते थे जिनके अस्तित्व को उन्नीसवीं शताब्दी से पूर्व कानून-विशेषज्ञ मानते थे; परन्तु हॉब्स ने इसे स्वीकार नहीं किया। लॉक ने यह माना है कि यह प्राकृतिक नियम सब लोगों के लिए स्पष्ट था। परन्तु उनमें एक असुविधा यह थी कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी समझ के अनुसार उसका मतलब निकालता था और उसका पालन करता था। ऐसी अवस्था में यह सोच कर कि मनुष्य स्वभावतः पक्षपातपूर्ण है और अपने ही मामले में वह न्याय करने के अयोग्य है, एक सामान्य न्यायाधीश की, जो कानून की निष्पक्ष रूप से व्याख्या कर सके और एक ऐसी सत्ता की आवश्यकता अनुभव की गयी जिसमें उस कानून का पालन कराने की क्षमता हो।

समझौते की प्रकृति

प्रकृति की अवस्था के स्वरूप के सम्बन्ध में विचारकों में चाहे जितना भेद हो, परन्तु वे इस बात से सहमत हैं कि वह एक असन्तोषप्रद स्थिति थी[1] और उससे मुक्ति पाने का केवल एक ही उपाय था—समझौता। यह समझौता किस प्रकार हुआ और किस रूप में हुआ, इस सम्बन्ध में भी विद्वानों में मतभेद है। हॉब्स के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अन्य सभी व्यक्तियों के साथ अपने आत्म-शासन के अधिकार का त्याग कर किसी एक व्यक्ति या परिषद् की सत्ता को स्वीकार करने को सहमत हो गया। इस प्रकार उन्होंने राज्य की स्थापना की और जिस व्यक्ति या परिषद् को उन्होंने सत्ता सौंप दी, वह प्रभु बन गया और वे सब उसकी प्रजा बन गये। इसके विपरीत, लॉक ने सन् १६८८ की इंगलैंड की क्रान्ति के सिद्धान्तों का समर्थन करने की इच्छा से, जैसे हॉब्स स्टुअर्ट

१. रूसो शायद एक अपवाद है क्योंकि उसने अपनी आरम्भिक कृतियों में बताया है कि प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य सुखी तथा निश्चिन्त था। देखिये, Social Contract के Tozer द्वारा किये हुए अंग्रेजी अनुवादक की भूमिका, pp. 29 ff.

राजाओं के निरकुंश शासन का समर्थन करना चाहता था, यह माना कि व्यक्तियों ने अपने अधिकारों का समर्पण किसी एक व्यक्ति या परिषद् को नहीं किया, वरन् समाज को किया। हॉब्स के अनुसार राजा समझौते से बाध्य नहीं था क्योंकि उसने समझौता नहीं किया था।[1] लॉक के अनुसार प्रभुत्व जनता में निहित था—राजा में नहीं, और यदि राजा उन शर्तों का पालन न करे, जिनके अनुसार उसे सत्ता सौंप दी गयी है तो वह अधिकार-च्युत हो जायगा।[2] रूसो का विचार तत्वतः लॉक के समान ही था। प्रत्येक व्यक्ति 'अपने व्यक्तित्व तथा शक्तियों का एक सामान्य इच्छा (General will) के निर्देशन पर एक सामान्य भण्डार में संचय करता है।' "प्रत्येक व्यक्ति सबको आत्मसमर्पण करते हुए भी, किसी को आत्मसमर्पण नहीं करता। सामाजिक समझौते द्वारा वह जो कुछ खो देता है, वह है प्राकृतिक स्वतन्त्रता तथा किसी भी वस्तु को जिस पर उसकी इच्छा हो प्राप्त करने का असीमित अधिकार, जो कुछ वह प्राप्त करता है वह है नागरिक स्वाधीनता और उन समस्त वस्तुओं का स्वाम्य, जो उसके अधिकार में हैं।"[3]

सामाजिक समझौते के सिद्धान्त की अस्वीकृति

इस सिद्धान्त का समर्थन किसी न किसी रूप में अनेक दार्शनिकों, विचारकों, कानून विशारदों तथा राजनीतिक लेखकों एवं काव्यकारों तक ने किया है जिनमें सोलहवीं शताब्दी के मॉनर्कोमैक लेखक (Monarchomachs) हॉब्स, लॉक, रूसो, हूकर, मिल्टन, ग्रोटियस, वुल्फ, प्यूफेनडोर्फ, स्वारेज, काण्ट, ब्लेकस्टोन, स्पिनोजा, फिक्टे आदि अनेक विद्वान् हुए हैं। परन्तु अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तथा उन्नीसवीं शताब्दी में ह्यूम, बेन्थम, बर्क, वॉन, हालर, ऑस्टिन, लेफर, बुन्जे, मेन, ग्रीन, ब्लुन्टश्ली तथा पॉलक आदि ने इस सिद्धान्त की कड़ी आलोचना की है। इन समस्त लेखकों ने यह बतलाया है कि इस सिद्धान्त का कोई ऐतिहासिक आधार नहीं है।[4] यह सिद्धान्त विवेक एवं दार्शनिक विचारधारा के आधार पर नहीं ठहरता क्योंकि इसके अनुसार प्रकृति की आदि अवस्था में रहने वाले मनुष्यों में राजनीतिक चेतना (Political consciousness) का अस्तित्व माना गया है, जो किसी प्रकार भी सम्भव

---

१. Leviathan' (1651), Ch. 17
२. Two Treatises on Government' (1689)
३. Social Contract' (1762), BK. I, Chs. 6 8.
४ मेसेचुसेट्स का शासन-विधान (सन् १७८०) प्रायः एक ऐतिहासिक प्रमाण की तरह बतलाया जाता है जिसमें लोगों ने स्पष्ट कहा है कि हम लोग एक-दूसरे के साथ समझौता कर रहे हैं। परन्तु वास्तव में वह एक घोषणामात्र थी, किसी ऐतिहासिक तथ्य का लेख नहीं। इसी प्रकार ११ नवम्बर सन् १६११ को योरोप से अमेरिका जाने वाले १०१ प्रवासियों ने जो समझौता (Mayflower Compact) किया उसका भी मौलिक समझौते की तरह उदाहरण दिया जाता है। परन्तु जरा ध्यान देने से प्रकट हो जायगा कि इस प्रकार के दृष्टान्त प्रकृति की अवस्था में रहते वाले लोगों द्वारा स्थापित नवीन राज्य के दृष्टान्त नहीं हैं। वे लोग पहले से ही एक राज्य के नागरिक थे। उन्होंने अपनी राजनीतिक संस्थाओं को केवल एक दूसरे देश में प्रतिष्ठित किया था। मेफ्लॉवर-समझौता करने वालों ने तो स्पष्ट कहा था कि हम एक विद्यमान प्रभु की राजभक्त प्रजा हैं।

नहीं। मेन के समान कुछ लेखकों ने इस सिद्धान्त को निस्सार माना है; ग्रीन जैसे विद्वान ने उसे एक कल्पना से अधिक कुछ नहीं माना। ब्लुंजे ने इसे 'सर्वथा मिथ्या' कहा है बेन्थम ने इसे मनोरंजन के लिए 'वृथा बकवाद' माना है, सर फ्रेडरिक पॉलक ने "सर्वाधिक सफल एवं घातक राजनीतिक छल" कह कर इसकी आलोचना की है। राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में इस समझौते के सिद्धान्त का अब पूर्व कालीन सिद्धान्तों की भांति कोई मूल्य नहीं रहा और इसके समर्थन के लिए अब कोई भी ख्यातिलब्ध दार्शनिक या लेखक नहीं मिलता।[1]

'सरकारी' समझौते का सिद्धान्त

जिन विद्वानों ने इस सिद्धान्त का खण्डन किया है, उनमें से कुछ ने यह स्वीकार किया है कि शासक तथा शासितों के बीच पारस्परिक सम्बन्धों की व्याख्या करने के लिए यह सिद्धान्त उपयुक्त है। यह ठीक है कि इस प्रकार के सामाजिक समझौतों के हमें इतिहास में कोई प्रामाणिक उदाहरण प्राप्त नहीं हैं, परन्तु प्रत्येक लोकतन्त्रात्मक देश में शासक तथा शासितों के सम्बन्धों में इस प्रकार का सिद्धान्त उपलक्षित है। यह पुनीत सिद्धान्त कि शासन अपनी सत्ता शासितों की अनुमति से प्राप्त करता है और जनता को उस शासन के विरुद्ध क्रान्ति या विद्रोह करने का जन्म-सिद्ध अधिकार है, जो उन शर्तों को भंग करता है, जिनके अनुसार उसे सत्ता सौंपी गयी है—इस सिद्धान्त पर आधारित है कि जो लोग शासन-सत्ता सरकार को सौंपते हैं, तथा जिन्हें यह सौंपी जाती है, उनके पारस्परिक सम्बन्ध एक उपलक्षित समझौते के आधार पर स्थित है। संक्षेप में, दोनों पक्षों पर पारस्परिक दायित्व हैं ; एक पर यह दायित्व है कि वह उन निश्चित शर्तों के अनुसार शासन करेगा और राज्य जिस उद्देश्य से स्थापित किया गया है, उनकी रक्षा के लिए सन्नद्ध रहेगा, दूसरे पर यह दायित्व है कि वह समुचित रीत्यानुसार और कानून द्वारा स्थापित सत्ता के आदेश का पालन करेगा और

१. मालबर्ग, लेफर, आर्लैण्डो ने इस सिद्धान्त को ठुकरा दिया है क्योंकि उनके विचार से मनुष्य समाज से अलग रह ही नहीं सकता और इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता कि मनुष्य समाज से अलग कभी रहा है। मालबर्ग का कथन है कि राज्य व्यक्तियों के बीच स्वेच्छा से किये समझौते से नहीं बना। मनुष्य को उन सामाजिक आवश्यकताओं से मजबूर होकर राज्य में रहना पड़ा जिनसे वह बच नहीं सकता था। लेफर ने कहा है कि परिवार की तरह राज्य समाज के लिए आवश्यक है और उसकी ही तरह वह समझौते का परिणाम नहीं है प्रत्युत वस्तु स्थिति के प्रभाव का परिणाम है। एस्मीन ने कहा है कि समझौता केवल एक कानूनी कल्पना है। यह सिद्धान्त ठीक नहीं हो सकता। प्रथम तो यह व्यक्ति के अधिकारों का बलिदान करता है क्योंकि उसके द्वारा उसे समाज के हित के लिए स्वयं अपना और अपने अधिकारों का दान करना पड़ता है, दूसरे इसके अनुसार व्यक्ति के अधिकार प्राकृतिक अवस्था की निरपेक्ष स्वतन्त्रता पर आधारित होते हैं। परन्तु प्राकृतिक अवस्था और समझौता दोनों ऐसी वस्तुएँ हैं जो इतिहास और समाजशास्त्र के तथ्यों के विपरीत हैं। द्यूग्वी ने भी इस सिद्धान्त को नहीं माना क्योंकि इसके अनुसार यह मानना पड़ता है कि प्रकृति की अवस्था में मनुष्य के मस्तिष्क में समझौते की भावना थी। यह असम्भव है क्योंकि जो मनुष्य समाज में नहीं रहते उनमें समझौते और उससे उत्पन्न होने वाले दायित्वों की कोई भावना हो ही नहीं सकती।

आवश्यकता पड़ने पर उसकी सेवा करेगा। यदि एक पक्ष अपने दायित्व का पालन करने में प्रमोद करता है, तो दूसरा पक्ष अपने दायित्व से मुक्त हो जाता है।

सिद्धान्त का मूल्यांकन

यद्यपि इस सिद्धान्त के लिए जिन पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया गया है उपयुक्त नहीं हैं, क्योंकि 'समझौता' (Contract) शब्द से जो ध्वनि निकलती है वह मिथ्या और खतरनाक है तथापि इस उपर्युक्त अर्थ में इस सिद्धान्त का अधिक समर्थन किया जा सकता है। जैसे यदि राज्य केवल समझौते का ही परिणाम समझा जाय, तो यह कहा जा सकता है क्योंकि समझौते का भाव ही स्वेच्छापूर्ण या ऐच्छिक सम्बन्ध है, कोई भी व्यक्ति चाहे तो ऐसा समझौता कर ले या राज्य से बाहर न्यायाधिकार-रहित अवस्था में रहे जिस प्रकार एक व्यक्ति किसी काम में इच्छानुसार भागीदार बन सकता है और उसका परित्याग भी कर सकता है, परन्तु यह स्थिति स्वीकार नहीं की जा सकती। इसके अतिरिक्त यह भी तर्क दिया जा सकता है कि यह समझौता उन मौलिक पक्षों को ही मान्य हो सकता है जिन्होंने अपनी अनुमति दी थी, वह उनके उत्तराधिकारियों पर बाध्य नहीं हो सकता, जिन्होंने उसके लिए अपनी कोई सम्मति नहीं दी है। इस तरह समझौता करने वालों की मृत्यु के साथ राज्य का भी अन्त हो जायगा और उनके उत्तराधिकारियों को फिर से नया राज्य स्थापित करना पड़ेगा। यह मानना कि समझौता करने वालों के उत्तराधिकारियों पर भी उनकी स्वीकृति के बिना भी वह समझौता लागू रहेगा, उस सिद्धान्त के विपरीत होगा जिसके अनुसार कोई समझौता उसके करने वालों पर ही लागू हो सकता है। इस प्रकार राज्य की उत्पत्ति का सामाजिक समझौते का सिद्धान्त राज्य को मन की चंचलता का विषय बना देता है और यदि इसे पूर्णरूप में मान लिया गया तो इससे राज्य की समस्त सत्ता ही नष्ट हो जायगी और सम्भवतः स्वयं राज्य का भी विघटन हो जायगा।

निष्कर्ष

इसका निष्कर्ष केवल यह है कि राज्य की सदस्यता और आदेशपालन तथा राजभक्ति के दायित्वों की व्याख्या एक कानूनी समझौते की भाषा द्वारा नहीं हो सकती। जिस प्रकार हम एक परिवार में बालक की सदस्यता और माता-पिता के प्रति उसके आज्ञापालन को अनुमति का विषय नहीं मान सकते उसी प्रकार राज्य की सदस्यता एवं राजभक्ति को भी समझौते का विषय नहीं माना जा सकता। ये सम्बन्ध उपयोगिता तथा समाज के सामान्य हितों और आवश्यकताओं पर निर्भर हैं; वे अनुमति पर निर्भर नहीं हैं और इन सम्बन्धों को व्यक्ति उनके औचित्य अथवा कानूनी आधार के विषय में सोचे बिना उसी प्रकार स्वीकार कर लेते हैं जैसे गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त को या सामान्यतः प्राकृतिक नियमों की क्रियाओं को।[1]

अन्त में समझौते का सिद्धान्त राज्य को एक साझेदारी (Partnership) या जॉयण्ट स्टॉक कम्पनी के रूप में परिवर्तित कर देता है, अर्थात् राज्य ऐतिहासिक विकास एवं सामाजिक आवश्यकताओं का फल न रह कर केवल एक कृत्रिम वस्तु रह जाता है। इस विचार का बर्क ने यह कह कर घोर विरोध किया था कि 'राज्य काली

---

१. जर्मन लेखक Von Haller ने कहा है कि राज्य के और व्यक्ति के समझौते की बात वैसी ही है जैसे यह कहना कि मनुष्य और सूर्य में समझौता है कि सूर्य मनुष्य को गर्मी पहुँचायेगा।

मिर्च, महुवा, तम्बाकू आदि के व्यापार के लिए, क्षणिक लाभ के लिए, साझेदारी का समझौता जैसा नहीं है, जिसे जब कोई पक्ष चाहे कर ले और भंग कर दे।' उसने कहा कि जिस अनुमति के आधार पर समझौता-सिद्धान्त खड़ा किया है, वह कोई वास्तविक अनुमति नहीं है और जो अनुमति मान ली गयी है उसमें इच्छा का कोई स्थान नहीं है, वह तो मनुष्य की प्रकृति की आवश्यकताओं द्वारा लादी गयी है।

एक सुप्रसिद्ध विचारक ने कहा है कि राज्य के उद्देश्यों की इससे अधिक उपर्युक्त परिभाषा नहीं की जा सकती जो बर्क के इस प्रासंगिक अवतरण में दी गयी है। आगे उसने कहा कि इसी प्रकार उनकी व्याख्या किसी ऐसे अर्थ में करना भी असम्भव है जो व्यक्तिवादियों द्वारा माने हुए बाहरी एवं परिमित उद्देश्यों का इससे अधिक निरपेक्ष विरोधी हो।[1]

इस समझौता सिद्धान्त ने सावयव सिद्धान्त की तरह अनुत्तरदायी शासकों के प्रतिरोध तथा अत्याचार का विरोध करने के लिए जनता को एक प्रबल शस्त्र प्रदान करके अपने समय में बड़ा उपयोगी काम किया है। इसी सिद्धान्त में से यह सिद्धान्त निकला कि राजा अपनी शासन-सत्ता जनता से प्राप्त करते हैं, वह उसके प्रति उत्तरदायी होते हैं और यदि वे उस समझौते का पालन न करें जिसे राज्याभिषेक के समय वे स्वीकार करते हैं ऐसा माना जाता है, तो वे पदच्युत किये जा सकते हैं।

(४) आदर्शात्मक या आध्यात्मिक सिद्धान्त

सिद्धान्त की व्याख्या

आदर्शात्मक, निरपेक्ष, दार्शनिक अथवा आध्यात्मिक सिद्धान्त (Idealistic, Philosophical or Metaphysical Theory) की उत्पत्ति प्लेटो और अरस्तू के इस सिद्धान्त से हुई बतलाई जाती है कि केवल राज्य ही स्वाश्रयी है और राज्य में ही व्यक्ति उत्कृष्ट जीवन का उपभोग करता हुआ अपने जीवन के सर्वोच्च लक्ष्य की प्राप्ति कर सकता है।[2] इस सर्वमान्य, प्रसिद्ध एवं समर्थित सिद्धान्त ने एक ऐसे दार्शनिक विचार को जन्म दिया जिसने राज्य को एक आदर्श बना दिया और उसकी प्रशंसा करके उसे देवता तुल्य बना दिया, जिसने राज्य को साधन की अपेक्षा साध्य बना दिया, सर्वशक्तिमान और सब प्रकार से समर्थ माना और एक ऐसे उच्च स्थान पर आसीन कर दिया जहाँ सब लोग उसके चरणों में नतमस्तक होकर उसकी देवता की भाँति पूजा करें, जो बताता है कि राज्य कोई अनुचित कार्य नहीं कर सकता और उसका आदेश, चाहे वह अच्छा हो या बुरा, सदैव पालन करने योग्य है तथा राज्य की सत्ता का विरोध अथवा उसके विरुद्ध विद्रोह, चाहे राज्य कितना ही अन्यायी एवं अत्याचारपूर्ण हो, अधर्म है। इसके अतिरिक्त इस सिद्धान्त की दृष्टि में राज्य का अस्तित्व उन व्यक्तियों से भिन्न एवं अलग है जिनसे मिलकर वह बना है। वह राष्ट्र से भी ऊपर एक रहस्यमय और अपौरुषेय सत्ता है; उसकी अपनी इच्छाशक्ति, अपने निजी हित एवं अधिकार और अपने सदाचार के आदर्श हैं जो व्यक्तियों की इन सब बातों से, यहाँ तक कि व्यक्तियों की इच्छाओं के योग से, भिन्न एवं अलग हैं। राज्य

---

१. Vaughan, 'History of Political Philosophy' (1924)., Vol. II, p. 54.

२. तुलना कीजिये, Joad, Introduction to Modern Political Theory (1924), p. 10.

ही वास्तव मे समस्त सभ्यता एवं प्रगति का ग्रादि स्रोत है, वैयक्तिक प्रयास एवं उद्योग नही।

सारारा में यही ग्रादर्शात्मक या ग्राध्यात्मिक सिद्धान्त है, ग्रथवा यों कहिये कि यह इस सिद्धान्त का वह रूप है जिसका उन राजनीतिक दार्शनिकों ने, जिनका नाम इस सम्बन्ध मे लिया जाता है ग्रौर उन युद्धवादियों ने जो उनके शिष्य थे, प्रतिपादन किया है। इस सिद्धान्त का जनक जर्मन दार्शनिक इमानुएल काण्ट था, यद्यपि कुछ विद्वान् उसके उत्तराधिकारी हेगल को यह सम्मान प्रदान करते हैं। काण्ट का सिद्धान्त मुख्यत उसके ग्रन्थ (Metaphysical First Principles of the Theory of Law मे प्रतिपादित है।[1] काण्ट के विचार में राज्य सर्व-शक्तिमान्, ग्रभ्रंशनीय ग्रौर सारत दैवी है, उसकी समस्त सत्ता परमात्मा से प्राप्त होती है; उसके प्रति भक्ति एव उसके ग्रादेश का पालन पुनीत धार्मिक कर्तव्य है, चाहे उसकी सत्ता ग्रवैध हो ग्रौर किसी ग्रपात्र के हाथो मे हो क्योकि राज्य पवित्र तथा दैवी ग्रादर्श की सिद्धि करता है। काण्ट राज्य-क्रान्ति स इतना भयभीत था कि उसने ऐसी गतिहीनता (Stagnation) का प्रचार किया जिसको बर्क भी ग्रतिशयपूर्ण समझता। परन्तु जब क्रान्ति हो गयी ग्रौर उसके फलस्वरूप वैध-शासन के स्थान पर हिंसा द्वारा नवीन व्यवस्था स्थापित हुई तो भी उसके प्रति उसने ग्रनन्य भक्ति प्रदर्शित की। प्रतिष्ठित सत्ता के प्रति उसकी इतनी ग्रन्धभक्ति थी कि उसने उस नवीन शासन के प्रति भी कर्तव्यपालन पर जोर दिया क्योंकि हिंसा पर टिका हुग्रा हाने पर भी उसके द्वारा राज्य-भावना का वास्तविकता प्राप्त हो रही थी। वास्तव मे प्रजा तथा नागरिकों को राज्य की न्याय्यता के विषय मे बहुत छानबीन नही करनी चाहिए, उनका कर्तव्य प्रतिष्ठित सत्ता के न्याय युक्त होने या न होने के प्रश्न को तय करने की उलझन मे पडना नही है, वरन् ग्रन्ध-भक्ति ग्रौर निर्विवादरूप से उसके ग्रादेश का पालन करना है।

हेगल के दार्शनिक विचार

हेगल ने ग्रपने दर्शन मे इस सिद्धान्त को चरम सीमा पर पहुँचा दिया। उसने इस सिद्धान्त को ऐसी निगूढ ग्रौर ग्राध्यात्मिक भाषा द्वारा व्यक्त किया कि एक सामान्य व्यक्ति के लिए उसे समझना कठिन हो जाता है[2] ग्रौर कभी-कभी ता उसकी सूक्ष्ममयी भाषा को देख कर पाठकों क हृदय मे क्रोध ग्रौर ग्लानि पैदा होती है। उसके विचारों का बडा व्यापक ग्रौर गहरा प्रभाव पडा ग्रौर उसके ऐसे भी ग्रालोचक है जो प्रथम विश्वयुद्ध के लिए उसे ही जिम्मेदार ठहराते हैं।[3] उसके विचार मे राज्य 'नैतिक

---

१. इस पुस्तक के विचार सक्षिप्त रूप में Dunning, 'Political Theories from Rousseau to Spencer' (1920), pp. 130-136, Vaughan, 'Studies in the History of Political Philosophy' (1924), Vol. II, Ch. 2 तथा Duguit, 'The Law and the State' (Trans. 1917), Ch. 3 मे दिये हुए हैं।

२. हेगल के विचारो का विश्लेषण उपर्युक्त पुस्तकों मे तथा Joad, 'Introduction to Modern Political Theory' pp. 11-17 ग्रौर Hobhouse, 'The Metaphysical Theory of the State' (1918) मे मिलता है। हॉबहाउस ने हेगल की पुस्तक (Philosophy of the State) के विषय में ग्रपने पुत्र को एक पत्र लिखा था जिसमे उसने लिखा है कि हेगल की पुस्तक

भावना की यथार्थता', (Reality of the ethical spirit)। 'वह मानव की तात्विक तथा प्रत्यक्ष एवं आत्मचेतन इच्छाशक्ति है, जो अपने ज्ञान अथवा ज्ञान के अनुपात के अनुरूप सोचता है, अपने आपको जानता है और कर्म करता है।' राज्य 'परिपूर्ण विवेक' है और वह स्वयं ही निरपेक्ष स्थिर साध्य है। चूंकि 'वह वस्तुगत विवेक अथवा आत्मा' है, 'इस कारण मानव में जो वास्तविक मानवता एवं नैतिक गुण हैं, वे उसके राज्य के सदस्य होने के कारण ही हैं। राज्य के अन्तर्गत ही वह अपनी वृहत्तर स्वाधीनता को वास्तविक बना सकता है और प्राप्त कर सकता है। उसकी सेवा स्वतन्त्रता देवी की पूजा है; मानव पर उसके अधिकार सर्वोच्च हैं। राज्य में मानव अपने बाह्य रूप को अपने विचार की अन्तरात्मा के स्तर तक उठा ले जाता है। संक्षेप में, अपने पूर्ण एवं विकसित रूप में मानव ही राज्य है। राज्य उन व्यक्तियों में ऊपर और अलग एक सत्ता है जो उसके अन्तर्गत हैं। उसकी अपनी इच्छा और अपना निजी व्यक्तित्व है, वह इच्छा 'सामान्य इच्छा' है—समस्त व्यक्तियों की इच्छाओं का योग नहीं। इसका आशय यह है कि जो कार्य सामान्य इच्छा से परिणाम-स्वरूप होता है, वह आवश्यक रूप से प्रशंसनीय होता है क्योंकि वह वैयक्तिक इच्छाओं का सर्वश्रेष्ठ अंश है। उसका अपना निजी वास्तविक व्यक्तित्व होने के कारण राज्य स्वयं साध्य समझा जा सकता है। उसके अधिकार व्यक्तियों के 'तथा-कथित' अधिकारों को भी कुचल सकते हैं, तथाकथित इसलिए कि व्यक्ति के कोई भी ऐसी वास्तविक अधिकार नहीं हो सकते जो राज्य के अधिकारों के प्रतिकूल हों, क्योंकि व्यक्तियों को अधिकार राज्य से ही प्राप्त होते हैं।

हेगल के उपर्युक्त विचारों के तीन आत्मविरोधी परिणाम निकलते हैं। प्रथम, राज्य कभी ऐसा नहीं कर सकता जो प्रतिनिध्यात्मक न हो; वह जो कुछ भी करता है उससे व्यक्तियों की वास्तविक इच्छा की अभिव्यक्ति ही होती है, जैसे यदि पुलिसमैन एक चोर को पकड़ता है तो वह भी उसकी वास्तविक इच्छा की अभिव्यक्ति ही है। दूसरे, जो बन्धन एक व्यक्ति को दूसरों से और राज्य से बांधे हुए हैं वह व्यक्ति के व्यक्तित्व का ही अभिन्न भाग है। तीसरे, उसके समस्त नागरिकों की सामाजिक नैतिकता उसमें निहित है और वह उसका प्रतिनिधित्व भी करता है; वह 'नैतिक भावना की प्राप्ति' है। इसका यह आशय नहीं है कि राज्य स्वयं नैतिक है अथवा वह अपने नागरिकों तथा दूसरे राज्यों के सम्बन्धों में नैतिकता या सदाचार के नियमों से बाध्य है।[1] वह न नैतिकता के नियमों से और न अन्तर्राष्ट्रीय नियमों से ही बाध्य है। वास्तव में अन्तर्राष्ट्रीय विधान जैसी कोई वस्तु है ही नहीं क्योंकि राज्य से उच्चतम कोई सत्ता नहीं है जो उसके लिए नियम बना सके। इन निष्कर्षों से एक पग आगे बढ़ने पर ही राज्य निरंकुश एवं सर्वशक्तिसम्पन्न बन जाता है और हेगल इस प्रकार आगे बढ़ने से रुका नहीं। हेगल का कथन है कि ऐसा करने में हानि से लाभ ही अधिक है क्योंकि व्यक्ति राज्य में ही पूर्ण स्वतन्त्रता, नैतिकता तथा अधिकार प्राप्त करता है। अतः हेगल को स्वेच्छाचारिता से तनिक भी भय नहीं था। वह तो उसमें देवत्व के गौरव का अनुभव करता था। राज्य चाहे श्रेष्ठ हो या निकृष्ट (यदि

मेरे सामने है। लन्दन पर अभी बम बरसे हैं। यह बम-वर्षा इस पुस्तक द्वारा प्रतिपादित मिथ्या तथा दुष्ट सिद्धान्त का परिणाम है।

१. तुलना कीजिये, Joad, उपर्युक्त pp. 13-14.

हम यह मान भी लें कि वह निकृष्ट हो सकता है), वह इस जगत में ईश्वर का प्रमाण है। 'वह पृथ्वी पर विद्यमान दैवी भावना है', 'वह संसार की वास्तविक आकृति एवं संगठन के रूप में अभिव्यक्त होती हुई दैवी इच्छा है।'[1] इस प्रकार उसकी दृष्टि में राज्य 'ईश्वरीय राज्य' (God State) है, जो कोई पाप या भूल नहीं कर सकता, जो सदैव प्रशंसनीय है, सर्वशक्तिसम्पन्न है और अपने हितों के लिए व्यक्ति से प्रत्येक बलिदान की माँग कर सकता है। राज्य अपने प्रति 'श्रेष्ठ चरित्र' तथा उस त्याग तथा बलिदान के कारण, जो वह व्यक्ति से करा सकता है, स्वार्थी प्रकृति वाले व्यक्ति को ऊँचा उठाता है और श्रेष्ठ बनाता है और 'उसे सार्वलौकिक तत्व के जीवन में वापस पहुँचा देता है'।

हेगल के शिष्यों के विचार

हेगल के विचारों का, कम से कम उनके कुछ तत्वों का, जर्मनी के विद्वानों पर बड़ा प्रभाव पड़ा और वहाँ के प्रसिद्ध विचारकों तथा दार्शनिकों ने उसके विचारों को अपना लिया। ऐसे विचारकों में नीत्शे, ट्रीट्स्के तथा बर्नहार्डी प्रमुख हैं। इन तीनों विद्वानों ने युद्ध की अनिवार्यता और श्रेष्ठता का समर्थन किया। उन्होंने राज्य को देवता बना दिया। वे यह मानते थे कि राज्य स्वयं अपने नैतिक आदर्श स्थिर करता है। वह अन्तर्राष्ट्रीय नियमों से उसी सीमा तक बाध्य है, जिसे वह स्वीकार करता है और प्रत्येक राज्य अपने अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों का स्वयं ही निर्णायक है। ट्रीट्स्के जर्मन राजनीतिक विचारकों में हेगल को 'प्रथम वास्तविक राजनीतिक व्यक्तित्व' मानता था।[2] उसके विचार में राज्य के कार्य क्षेत्र की कोई सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती। 'वह समस्त मानवीय कार्यों को अपनी सीमा के अन्तर्गत ला सकता है।' उसने इटली के मेकियावेली की भी बड़ी प्रशंसा की है, जिसने प्रथम बार यह घोषणा की कि राज्य ही सत्ता है। उसने भी 'राज्य ही सत्ता है' का राग अलापा। राज्य सत्ता है, यह तो बिलकुल ठीक है परन्तु उसने और उसकी शिष्य मण्डली ने उससे यह उप-सिद्धान्त निकाला—'इस कारण उसके सामने नतमस्तक होकर उसकी पूजा करो।'[3] राज्य का पहला कर्त्तव्य है कि वह स्वयं शक्तिशाली बने। राज्य में दुर्बलता पवित्र महात्मा के प्रति सबसे महान् पाप और अपराध है। इसलिये राज्य को स्वयं दृढ़-प्रतिज्ञ, आक्रमक तथा सैनिकवादी होना चाहिए। जिस राज्य की सभ्यता श्रेष्ठतम है

---

१. 'Philosophie des Rechts,' pp. 312-13, 327; 'राज्य पृथ्वी पर निरपेक्ष सत्ता' है, 'वह स्वयं अपना साध्य है'; 'वह अन्तिम सत्ता है जिसके व्यक्ति के विरुद्ध सर्वोच्च अधिकार हैं; व्यक्ति का सर्वोच्च अधिकार है, व्यक्ति का सर्वोच्च कर्त्तव्य राज्य का सदस्य बनना है' (वहीं, पृष्ठ ३०६; ४१७)।

२. अपनी पुस्तक 'Politics', Vol. 1. pp. 62, 63, 65, 84 में ट्रीट्स्के कहता है—'राज्य का दूसरा आवश्यक कर्त्तव्य युद्ध है'; युद्ध के बिना कोई राज्य रह नहीं सकता; युद्ध को संसार से मिटाना न सम्भव है, न वाञ्छनीय ही। युद्ध की महत्ता इसमें है कि राज्य की महान् कल्पना में तुच्छ मनुष्य बिलकुल नष्ट हो जाता है; 'इससे उस राजनीतिक आदर्शवाद को पोषण मिलता है जिसे भौतिकतावादी ठुकराता है'; 'जीवित ईश्वर ऐसा प्रबन्ध करेगा कि रोगी मानव समाज के लिए एक भयावह औषधि की तरह युद्ध फिर आयगा।'

३. तुलना कीजिये; Jenks, 'The State and the Nation' (1919), p. 153.

है, उसे यह अधिकार है और उसका यह कर्त्तव्य है कि वह अपने से कम सभ्य राष्ट्र या देश पर उसे लाद दे। जैसा कि गत अध्याय में बतलाया जा चुका है, वह छोटे राज्यों से बड़ी घृणा करता था। उसने यह कहा कि सभ्यता एवं प्रगति का कारण राज्य ही है और यदि व्यक्ति के उद्योग में राज्य की सहायता न हो तो वह कुछ नहीं कर सकता। ट्रीट्स्के की विचारधारा का अपने युग की जनता पर वैसा ही प्रभाव पड़ा, जैसा हेगल का और जो सन् १९१४ के विश्वयुद्ध का दायित्व जर्मनी पर थोपते हैं, वे उसके लिए ट्रीट्स्के और उन जर्मन ऐतिहासिकों एवं राजनीतिक दार्शनिकों के विचारों को ही उत्तरदायी मानते हैं जिनका मत उसी के समान था।[1] हेगल के सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि ट्रीट्स्के की अपेक्षा उसके विचार कम पाशविक और भौतिकवादी थे और ट्रीट्स्के के बहुत से निष्कर्ष हेगल के विचारों से साम्य नहीं रखते।

अँग्रेज आदर्शवादी

इंगलैण्ड तथा संयुक्त राज्य अमेरिका के राजनीतिक दर्शन में विशुद्ध आदर्शात्मक या आध्यात्मिक सिद्धान्त जड़ पकड़ न सका, यद्यपि कुछ अँग्रेज विचारकों ने मर्यादित एवं परिवर्तित रूप में इस सिद्धान्त को स्वीकार किया। इन विचारकों में ब्रैडले,[2] ग्रीन,[3] विलियम वालेस, नेटिलशिप और विशेषकर बर्नार्ड बोसान्क्वे[4] मुख्य हैं। बोसान्क्वे को हॉबहाउस ने हेगल के दर्शनशास्त्र का सबसे आधुनिक और सच्चा व्याख्याकार माना है। राज्य के सम्बन्ध में इन दार्शनिकों ने फिक्टे को नहीं, हेगल को अपना आचार्य माना और उनमें से किसी ने भी राज्य की सर्वशक्तिमता एवं निरंकुशता सम्बन्धी ट्रीट्स्के के विचारों को स्वीकार नहीं किया। उन्होंने हेगल के राज्य के देवत्व के विचार को भी स्वीकार नहीं किया और न इस सूत्र को ही अपनाया कि 'राज्य जगत में ईश्वर का पदार्पण है।' वे काण्ट के समान क्रान्ति के अधिकार से भी नहीं डरते थे। ग्रीन ने हेगल की अपेक्षा काण्ट की परम्परा को अपनाया। उसने यह बतलाया कि राज्य की सत्ता बाहर तथा भीतर सीमित है और राष्ट्र का जीवन राज्य के व्यक्तियों के जीवन से भिन्न अपना अस्तित्व नहीं रखता। उसने हेगल का अनुसरण केवल राज्य के नैतिक मूल्य एवं उसके गौरव पर जोर देने में किया। उसके विचार में राज्य ही व्यक्तियों के अधिकारों का जनक और आदि स्रोत था और यदि व्यक्ति राज्य की सत्ता को चुनौती देता है तो यह सिद्ध करने का दायित्व उसी पर है कि राज्य गलती पर है।[5] बोसान्क्वे ने भी, जो अँग्रेज दार्शनिकों में हेगल के सबसे निकट पहुँचता है, हेगल के विचारों को कुछ संशोधन के साथ अपनाया। अपने राज्य के

---

१. तुलना कीजिये, Willoughby, 'Prussian Political Philosophy' (1918), pp. 48-49 ; Members of the Oxford Faculty, Why We Are at War (1914), Ch. 6 ; Bryce and Others, 'The International Crisis ; The Theory of the State' (1916).
२. 'Ethical Studies'.
३. 'Principles of Political Obligation'.
४. 'The Philosophical Theory of the State', and other Works.
५. ग्रीन के विचारों के विश्लेषण के लिए देखिये, Barker, 'Political Thought from Spencer to the Present Day, pp 59-60.

दार्शनिक सिद्धान्त मे वह हेगल की अपेक्षा रूसो का अनुयायी अधिक था। ग्रीन के समान राज्य-सत्ता की प्रकृति और मर्यादाओं के विषय मे उसकी कल्पना भी अधिकांश मे निषेधात्मक थी।[1] उसने पुष्ट, आत्म-निर्भर तथा उत्तरदायी व्यक्तित्व के विकास पर अधिक जोर दिया। उसने यह बतलाया कि व्यक्तित्व के विकास मे जो बाधाएँ हैं, राज्य उन्हे दूर कर उनके लिए सुविधाएँ प्रदान करता है, परन्तु उसने भी व्यक्ति को राज्य की वेदी पर नहीं चढाया।

आदर्शात्मक सिद्धान्त की समीक्षा

हेगल के आदर्शात्मक सिद्धान्त का आधुनिक विद्वानो ने बडा तीव्र प्रतिवाद किया है और उसे मिथ्या ही नही वरन् अनिष्टकारी एवं भयानक भी बतलाया है। सर्वप्रथम तो कुछ विद्वान् ऐसे है जो यथार्थवादी वर्ग के हैं और जो आदर्शात्मक सिद्धान्त को विशुद्ध आध्यात्मिक सिद्धान्त मानते हैं। ऐसे आलोचको मे सबसे प्रमुख फ्रेन्च विद्वान् एम० ड्यूग्वी है जिसने इसकी आलोचना इस आधार पर की है कि आदर्शात्मक सिद्धान्त राज्य का उसके व्यक्तियों से भिन्न एव अलग व्यक्तित्व मानता है और इसके अतिरिक्त वह राज्य की सर्वशक्तिसम्पन्नता, स्वेच्छाचारिता एव देवत्व के सिद्धान्त की स्थापना करता है। यह व्यक्ति की स्वतन्त्रता का राज्य की वेदी पर बलिदान करता है और व्यक्तियो के क्रान्ति के जन्मसिद्ध अधिकार का ही निषेध नही करता प्रत्युत राज्य की सत्ता के अतिरिक्त उसके कार्य के नैतिक औचित्य की जाँच का भी अधिकार प्रजा को नही देता। ऐसे मत जैसे राज्य कभी भूल नही कर सकता, वह अभ्रमणीय है, वह अपने ही द्वारा निर्मित कानून के अतिरिक्त अन्य किसी कानून मे बाध्य नहीं है, वह नैतिक नियम या अन्तर्राष्ट्रीय नियम से भी बाध्य नहीं है आदि ड्यूग्वी की दृष्टि मे मिथ्या और अधर्म हैं। परन्तु आदर्शवादियो के साथ न्याय करने के लिए यह अवश्य कहना पडेगा कि जो निष्कर्ष उसने आदर्शवादी दार्शनिकों के माने हैं वे ड्यूग्वी ने स्वय निकाले हैं और उनमे मे कुछ तो निट्शे ट्रीट्श्के और बर्नहार्डी के उन उग्र विचारो को प्रकट करते हैं जिन्हे आदर्शवादी कभी स्वीकार नहीं करते। वस्तुत: वे अंग्रेज आदर्शवादियो के संयत विचारो का निरूपण नही करते।

आदर्शात्मक सिद्धान्त के आलोचकों का एक दूसरा वर्ग भी है जो आदर्शवादियो के दार्शनिक तर्क एव उनके अनुमानों का खण्डन करते हैं। वे कहते हैं कि हेगल तथा उसके शिष्यों के आदर्शात्मक विचार अनुपपन्न हैं, उसका राज्य के जीवन के तथ्यों के साथ समन्वय नहीं होता और उसके परिणाम असगत और बडे भयावह सिद्ध हुए हैं। कुछ उसका खण्डन इस आधार पर करते हैं कि यह वास्तविक राज्य को आदर्शात्मक बनाता है और उसम ऐसी पूर्णता का आरोप करता है जो व्यावहारिक रूप मे सम्भव नही। वे यह स्वीकार नही करते कि कोई भी राज्य उस आदर्श स्तर को प्राप्त कर सकता है। ऐसा राज्य स्वर्ग मे भले ही बनाया जा सके परन्तु इस भूतल पर उसकी प्रतिष्ठा सम्भव नहीं। वे राज्य की समाज के साथ एकता की स्थापना को स्वीकार नही करते और ऐसी बातो को भी नही मानते जैसे राज्य की इच्छा आवश्यक रूप से उन व्यक्तियों की आकांक्षाओं का योग है जो राज्य मे निवास करते हैं, अतः राज्य सर्व शक्तिमान है, उसका आचार कभी अनैतिक या अवैध नही हो सकता, राज्य साध्य

१. उपर्युक्त, pp. 70.

है—साधन नहीं; राज्य के ऐसे उद्देश्य एवं लक्ष्य हैं, जो नागरिकों के लक्ष्यों के योग्य से भिन्न हैं आदि।[1]

आदर्शात्मक सिद्धान्त का सबसे प्रसिद्ध आलोचक है—लन्दन विश्वविद्यालय का समाजशास्त्र का अध्यापक डॉ० हॉबहाउस जिसने अपनी पुस्तक Metaphysical Theory of the State में हेगल, ग्रीन और विशेषकर बोसान्क्वे के सिद्धान्त का खण्डन किया है। वह कहता है कि 'जो सिद्धान्त आदर्शात्मक सिद्धान्त के नाम से प्रसिद्ध है, वह राज्य की निरंकुशता में साफ इन्कार करने वाले किसी एकपक्षीय विज्ञान की अपेक्षा वास्तव में आदर्श का अधिक भयानक और घातक शत्रु है।' हेगल ने राज्य की जो गौरव-गाथा गायी है, उसे एक आध्यात्मवादी की विचार-तरंग मात्र मान लेना भूल है। उसके मिथ्या एवं भयानक सिद्धान्त ने (जिसके अनुसार 'ईश्वरीय राज्य' की कल्पना की गयी है) उन्नीसवीं सदी के बुद्धिवादी प्रजातांत्रिक मानवतावाद के सबसे भयानक विरोध के लिए पृष्ठिभूमि तैयार की है। हेगल की विचारधारा का उद्देश्य स्वतन्त्रता और कानून को एक बताकर स्वतन्त्रता के सिद्धान्त को कुण्ठित कर देना तथा समानता का, उसके स्थान पर अनुशासन की कल्पना स्थापित करके और व्यक्ति का, उसे राज्य में विलीन करके तथा राज्य को मानवीय संस्था का सर्वोच्च विकास मान कर मानवता का नाश कर देना था। हेगल ने राज्य को एक वृहत्तर सत्ता, एक आत्मा, एक अपौरुषेय वस्तु का रूप दे दिया जिसमें अपने अन्तकरण, अपने सुख-दुःख के साथ व्यक्तियों का स्थान केवल गौण रह गया। इस सिद्धान्त में कि व्यक्ति का राज्य से पृथक् न कोई मूल्य है और न उसका जीवन ही है और जब तक राज्य की नैतिक आत्मा द्वारा व्याख्या किये गये नियमों के अनुसार वह काम न करे तब तक उसे स्वतन्त्रता नहीं, स्वतन्त्रता का निषेध होता है। 'जब हमें ऐसा सोचने के लिए शिक्षा दी जाती है कि जिस संसार में हम रहते हैं, उसे हम एक श्रेष्ठ जगत समझें और अन्यायों, अत्याचारों, मिथ्याचारों और आपदाओं को पूर्ण आदर्श के आवश्यक तत्व समझें, तब यदि हम इन तर्कों को स्वीकार कर लें तो हमारी विद्रोह की शक्ति कुण्ठित हो जाती है, हमारी तर्क-शक्ति पर मोहनी का प्रभाव पड जाता है; हमारे जीवन-सुधार के प्रयत्न तथा अत्याचार-निवारण की चेष्टाएं मिट जाती हैं और हम भाग्यवाद के शिकार बन जाते हैं। इससे भी अधिक भयानक स्थिति वह उत्पन्न होती है जिसमें हम उस केवलात्म, (Absolute) के चिरदास बन कर उसकी पूजा करते हैं; जिसके हाथों में हम कठपुतली मात्र हो रह जाते हैं। अन्त में हेगल के राज्य गौरव की कल्पना का वर्णन करते हुए हॉबहाउस लिखता है कि 'राज्य एक महान संस्था है। उसका कल्याण एक सामान्य नागरिक के कल्याण से अधिक महान् एवं स्थायी महत्व का है। उसका क्षेत्र महान् है। उसकी सेवा के लिए चरम सीमा का आत्मत्याग एवं राजभक्ति की आवश्यकता है। यह सब सत्य है। परन्तु जब राज्य को हम व्यक्ति से भिन्न और पृथक सत्ता के रूप में मान लेते हैं तो वह एक मिथ्या देवता बन जाता है और उसकी पूजा इसे तथा साम के युद्धों में देखी हुई निर्जनता या शून्यता का अभिशाप हो जाती है।"

आदर्शात्मक सिद्धान्त का मूल्यांकन

सामान्यतया आज सभी राजनीतिक लेखक एवं विद्वान् हेगल के आदर्शात्मक

१. देखिये, Joad उपर्युक्त, pp. 17-23. जोड की राय है कि यह सिद्धान्त व्यक्ति की स्वतन्त्रता के लिए घातक है क्योंकि जब कभी व्यक्ति तथा राज्य में संघर्ष होता है तो इसके अनुसार राज्य ही सदा अनिवार्य रूप से सही माना जाता है।

सिद्धान्त को अस्वीकार करते हैं। वे विशेषतः राज्य की स्वेच्छाचारिता के सिद्धान्त, उसका देवत्व, सत्ता की अन्धपूजा, जबकि वह सत्ता अन्यायपूर्ण और दमनकारी हो और यह सिद्धान्त कि राज्य स्वयं साध्य है, एक रहस्यमय अपौरुषेय सत्ता है, ईश्वर का अवतार है और व्यक्तियों से प्रथम उसके अधिकार एवं हित हैं आदि के प्रबल विरोधी हैं।

यह कहा जाता है कि हेगल जर्मनी के शासक के प्रति ऐसा दास्य-भाव रखता था कि वह उस राज्य को स्वर्ग (Kingdom of Heaven) समझने लगा। उसका समूचा दर्शन किसी ठोस विज्ञान पर नहीं प्रत्युत सत्ता के धुरे पर आधारित था। अतः उसमें स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष विचारों का निरूपण नहीं था। इस पर भी इतना कहा जा सकता है कि आदर्शात्मक सिद्धान्त की आलोचना का अधिकांश अतिशयोक्ति एवं अनुचित है और ऐसी आलोचना आदर्शात्मक सिद्धान्त को गलत समझ कर की गयी है; जहाँ तक आदर्शवादियों ने राज्य के गौरव का गान किया, उसे समस्त मानव संस्थाओं से ऊँचा उठाया और श्रेष्ठ जीवन की प्राप्ति के लिए उसकी अनिवार्यता को माना तथा यह माना कि इस कारण नागरिकों का राज्य के प्रति भक्ति रखनी चाहिए और राज्य अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए उनसे बलिदान की आशा कर सकता है, राज्य ही कानून तथा अधिकारों का आदि-स्रोत है और राज्य ही में व्यक्ति अपने लक्ष्य की पूर्ण प्राप्ति कर सकते हैं और उसके बिना मानव-प्रगति तथा सभ्यता का विकास असम्भव है, वहाँ तक यह सिद्धान्त सर्वथा उचित और अभिनन्दनीय है। इसकी निन्दा अधिकांश में इसके विकृत रूपों तथा अनुचित निष्कर्षों के कारण हुई है।

यह सिद्धान्त ऐसी वस्तुओं को आदर्श रूप दे देता है जो न पूर्ण हैं और न कभी पूर्ण हो सकती हैं, यह भी आलोचकों की ओर से कहा गया है। इसका उत्तर यही है कि यह आलोचना राज्य-सिद्धान्त की सच्ची पद्धति के सम्बन्ध में गलतफहमी का ही परिणाम है। नीतिशास्त्र (Ethics) की भाँति राज्य सिद्धान्त आदर्श और वास्तविकता (क्या होना चाहिए और क्या है?) दोनों पर विचार करता है। किसी भी वस्तु का वास्तविक स्वरूप उसी समय जाना जा सकता है जब कि उसकी वृद्धि पूर्णरूपेण हो चुकी हो। अतः राजनीतिक विचारक राज्य को आदर्श मान कर उसके काल्पनिक सौन्दर्य, ऐश्वर्य एवं पूर्णता पर विचार कर सकता है।[1]

मुख्य पाठ्य-ग्रन्थ

Barker, "Political Thought from Spencer to the Present Day" (1915), Chs. 3-4.

Bluntschli, "Theory of the State" (English translation, 1896), pp. 18-24.

Bosanquet, "The Philosophical Theory of the State" (3rd ed., 1920), Chs. 9-10.

Bryce and Others, "The International Crisis, The Theory of the State" (1916), Chs. 2-3.

Coker, "Organismic Theories of the State" (1910), Chs. 2-5.

Duguit, "Law and the State" (translation by Slovere, 1917) Chs. 5-8.

१. तुलना कीजिये, Barker 'उपर्युक्त', पृ० ८०।

Dunning,	"Political Theories from Rousseau to Spencer" (1920), Ch. 4.
Esmein,	"Elements De Droit Constitutionnel" (5th ed , 1909), pp. 31-36. 220-233.
Gierke,	"Political Theories of the Middle Age" (translation by Maitland, 1900), pp. xxiv—xxviii ; 67-73.
Hobhouse,	"The Metaphysical Theory of the State" (1918), lect. II, V.
Hoernle,	"Bosanquet's Philosophy of the State," *Pol Sci. Quar.*, Vol. XXXIV, pp 6.
Jellinek,	"Recht des modernen Staates" (1905), Bk. II, Ch. 2.
Joad,	"Modern Political Theory" (1924), Ch. 1.
Mackenzie,	"Introduction to Social Philosophy" (1890), pp. 129-159.
Treitschke,	"The Personality of the State," "Politics" (English translation by Dugdale and Torben de Bille, 1916), Vol. I, pp 15-18 , 62-69, Vol II, Ch. 28.
Vaughan,	"History of Political Philosohhy" (1924), Vol. II, Chs. 1, 2, 4.
Willoughby,	"The Fundamental Concepts of Public Law" (1924), Ch. 4 ; "The Juristic Conception of the State," in *Amer. Pol Sci. Rev.*, Vol XII (1918), pp. 192 ff ; and "Prussian Political Philosophy" (1918), Ch. 2.

———

राज्यों के भेद और रूप

(१) वर्गीकरण के सिद्धान्त

वर्गीकरण के प्रयत्न

राज्यों में परस्पर जो स्पष्ट विभिन्नताएँ हैं और जिन दृष्टिकोणों से उनका अवलोकन किया जा सकता है, उनकी जो विविधता है, उनके कारण राज्यों का वर्गीकरण करने के अनेक प्रयास किये गये हैं। इस सम्बन्ध में काफी विशद् साहित्य भी रचा गया है परन्तु अधिकांश साहित्य असन्तोषप्रद है क्योंकि उसमें राज्यों का जो वर्गीकरण किया गया है, उसका आधार कोई वैज्ञानिक सिद्धान्त नहीं है जिससे मौलिक लक्षणों में राज्य एक-दूसरे से भिन्न बतलाये जा सकें। अपने कानूनी रूप, अपने सार, अपने प्राथमिक उद्देश्यों एवं लक्ष्यों में सब राज्य समान हैं, इसलिए एक को दूसरे से उस प्रकार भिन्नता प्रकट करना कठिन है जिस प्रकार प्राकृतिक प्राणियों, भौतिक पदार्थों अथवा रासायनिक तत्वों में भेद किया जा सकता है। एक राज्य में दूसरे से जो भिन्नता है, वह उसके विधायक तत्वों में भिन्नता के कारण नहीं वरन् उसके बाह्य संगठन अथवा विशिष्टताओं के कारण है। इन विशिष्टताओं में सबसे प्रमुख हैं उनके शासन-सगठनों अथवा शासन-प्रणालियों के भेद।

राज्यों तथा शासनों के वर्गीकरण के सम्बन्ध में भ्रान्ति

राज्य का सबसे सामान्य एवं सन्तोषप्रद वर्गीकरण वह है जो उसके शासकों की समानताओं तथा विभिन्नताओं पर आधारित है परन्तु विश्लेषण करने पर ऐसा वर्गीकरण राज्यों की अपेक्षा शासनों का ही रह जाता है। आधुनिक राज्य-विज्ञान तथा राजनीतिक व्यवहार में राज्य तथा शासन में स्पष्ट भेद माना जाता है। अतः शासनों के आधार पर किया गया राज्य-वर्गीकरण राज्य तथा शासन को एक समझ लेने की गलती पर आधारित है। सैद्धान्तिक अनुकूलता तथा वैज्ञानिक तर्क का तकाजा है कि ऐसे वर्गीकरणों को उनकी उपयुक्त कोटि में रखकर उन्हें शासनों का वर्गीकरण का ही नाम देना चाहिए, राज्यों का नहीं। यदि यहाँ हम इस सिद्धान्त को छोड़ रहे हैं तो प्रचलित रिवाज के अनुकूल रहने की इच्छा से ही ऐसा कर रहे हैं। इसका आशय यह नहीं समझना चाहिए कि यह रिवाज वैज्ञानिक दृष्टि से ठीक है।

कुछ परम्परागत वर्गीकरण

राज्यों के शासनों के रूप, विशेषताओं तथा उनकी प्रकृति के आधार पर

राज्यों का वर्गीकरण निम्न प्रकार किया गया है—एकतन्त्र राज्य[1] (पूर्ण तथा सीमित), गण-तन्त्र[2], कुलीनतन्त्र[3] (स्वाभाविक, पैतृक तथा निर्वाचित), प्रजातन्त्र[4] (विशुद्ध या प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष या प्रतिनिध्यात्मक), देवाधिराज्य[5], निरंकुश राज्य[6], पामरजन राज्य[7], प्रतिष्ठजन राज्य[8], अल्प-जन राज्य[9], धनिक राज्य[10], सामन्तशाही राज्य[11], कुलपति राज्य[12] आदि।

अपनी सम्पत्ति, साधनों, सैनिक शक्ति तथा अन्तर्राष्ट्रीय प्रभाव के आधार पर राज्य दो वर्गों में विभाजित है—महान् राज्य अथवा विश्व राज्य तथा लघु राज्य।* स्वतन्त्रता तथा स्वायत्त शासन के आधार पर उनका वर्गीकरण इस प्रकार किया गया है—प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य[13], आंशिक प्रभुत्व सम्पन्न राज्य[14], प्रभुत्वहीन राज्य[15], परतन्त्र राज्य[16], रक्षित राज्य[17] तथा तटस्थ बनाये गये राज्य[18]।

राज्यों का वर्गीकरण बहुत सी अन्य विशेषताओं के आधार पर भी किया गया है; जैसे जिन राज्यों के पास समुद्रतट और बड़े व्यापारिक जलयान अधिक संख्या में हैं, वे राज्य 'सामुद्रिक सत्ताएं' कहलाते हैं और जो राज्य चारों ओर से दूसरे राज्यों के थल-प्रदेश से घिरे हुए राज्य होते हैं, उन्हें 'भूमि-आवृत' राज्य कहते हैं। चारों ओर से समुद्रों से घिरे राज्यों को द्वीप' (Insular) राज्य भी कहते हैं; जो राज्य एक बड़े महाद्वीप पर स्थित हैं, उन्हें प्राय 'महाद्वीपी राज्य' कहते हैं, जिन राज्यों के पास विशाल सेना है, उन्हें 'सैनिक' राज्य कहते हैं और यदि उनकी नीति आक्रमणकारी होती है तो उन्हें 'साम्राज्यवादी राज्य' (Imperialistic States) कहते हैं।

प्रोफेसर हॉलकोम्ब (Holcombe) का कथन है कि जिन तथ्यों के आधार पर राज्यों का वर्गीकरण किया जा सकता है, उनमें राज्य की जनसंख्या में अभिवृद्धि की गति, सम्पत्ति, आय, अन्न तथा कच्चे माल की खपत तथा वृद्धि आदि भी माने जाते हैं। यदि लोक-कल्याण को केवल एक कसौटी मान ली जाय तो सबसे उपयुक्त कसौटी मृत्यु संख्या होगी। अतः राज्यों का वर्गीकरण उनमें निवास करने वाली जन-संख्या के जन्म तथा मृत्यु के विवरण के आधार पर भी किया जा सकता है। उपर्युक्त विद्वान् लेखक ने इस पूँजीवाद के युग में वर्गीकरण का सबसे उपयुक्त आधार राज्यों की विश्वसनीयता या साख को माना है जो संसार के बाजार में उन्हें प्राप्त है।[19]

जिन दृष्टिकोणों से राज्यों का अवलोकन किया जा सकता है, जिन बातों में

1. Monarchies (absolute or limited)
2. Republics
3. Aristocracies (natural, hereditary and elective)
4. Democracies (pure or direct and indirect or representative)
5. Theocracies
6. Despotisms
7. Ochlocracies
8. Timocracies
9. Oligarchies
10. Plutocracies
11. Feudal States
12. Patriarchical States

* Oppenheim, 'International Law' (3rd Ed.), Vol. I, pp 183-190.

13. Sovereign States
14. Part Sovereign States
15. Non-Sovereign States
16. Vassal States
17. Protected States
18. Neutralized States
19. 'The Foundations of the Modern Commonwealth' (1923), pp. 68-77.

उनकी तुलना की जा सकती है और फलतः जो वर्गीकरण उनके किए जा सकते हैं, वे अनेक हो सकते हैं ; परन्तु उनका विवेचन किसी भी उपयोग का नहीं है। शासन-प्रणाली के आधार पर राज्यों का वर्गीकरण वास्तव में शासनों (सरकारों) के वर्गीकरण से अधिक कुछ नहीं है। अतः उसका विवेचन शासन के प्रसग में किया जायगा।

उपर्युक्त वर्गीकरण की समीक्षा

हमने ऊपर जिन अन्य आधारों पर राज्यों के वर्गीकरण का उल्लेख किया है, उनमें से अधिकांश ऐच्छिक हैं क्योंकि वे राज्यों के सारभूत विधायक तत्वों की अपेक्षा उनकी आनुषगिक घटनाओं तथा सहायक तत्वों पर ही विचार करते हैं। उनमें से बहुत से अवैज्ञानिक भी हैं और राज्यों के भेद मौलिक लक्षणों के आधार पर नहीं करते। प्रदेश के विस्तार, जनसंख्या, सम्पत्ति, साधन, उद्योग-व्यवसाय, सभ्यता के मान, विश्व के आर्थिक सम्बन्धों में विश्वसनीयता तथा मृत्यु और जन्म के आँकड़े आदि इतिहासकारों एवं अर्थशास्त्रियों तथा समाजशास्त्रियों के उपयोग में आ सकते हैं, परन्तु कानून-विशारद अथवा राज्य-वैज्ञानिक के लिए वे अत्यन्त असन्तोषप्रद हैं और उनका कुछ भी उपयोग नहीं है। राज्यों के कृषि, वाणिज्य, उद्योग, सेना, प्रदेश आदि के आधार पर वर्गीकरण में राज्य-विज्ञान के लेखकों के लिए उसी प्रकार कुछ भी आकर्षण नहीं है, जैसे एक प्राकृतिक वैज्ञानिक को पशुओं तथा पौधों का उनके आकार, रंग तथा उनकी ऊँचाई के आधार पर वर्गीकरण अरुचिकर मालूम होता है। जैसा जेलिनेक ने ठीक ही कहा है, इस प्रकार के वर्गीकरण में राज्य की रचना के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञान नहीं होता, न यही मालूम होता है कि राज्य का मुख्य लक्षण क्या है। अनेक वर्गीकरण ऐसे हैं जिनके अनुसार एक राज्य कई वर्गों में स्थान पा सकता है। इस पर भी उन सबमें हमें राज्य की वास्तविक प्रकृति का ज्ञान नहीं होता। जब समस्त राज्य किसी एक ही विशिष्ट वर्ग में रख दिये जा सकें, तब इस प्रकार के वर्गीकरण की अनुपयोगिता स्पष्ट हो जाती है। इस प्रकार समस्त राज्यों का कृषिप्रधान, औद्योगिक एवं व्यापारिक राज्यों के रूप में वर्गीकरण किया जा सकता है। आज संसार में कहीं भी नगर-राज्य नहीं हैं, अतः सब राज्य सीले के अनुसार प्रादेशिक राज्य या देश-राज्य (Territorial or Country States) माने जा सकते हैं। अधिकांश राज्य 'सभ्य राज्य' होने का दावा करते हैं, सभी राज्य अपने को 'सांस्कृतिक' राज्य समझते हैं क्योंकि सभ्यता की प्रगति उन सबका लक्ष्य है। सभी राज्य 'कानूनी राज्यों (Law States) के वर्ग में आ जाते हैं जिसे जर्मन लेखकों ने इतना महत्व दिया है क्योंकि उनके लक्ष्यों में से एक कानून की रचना, उसकी व्याख्या तथा कानूनी स्वत्वों की रक्षा है। आज प्रायः सभी राज्य वैधानिक राज्य हैं क्योंकि उनकी शासन-पद्धति का निर्णय न्यूनाधिक मात्रा में किसी न किसी प्रकार के विधान द्वारा किया गया है।

राज्य के वर्गीकरण की उपयुक्त कसौटी प्राप्त करने में कठिनाइयाँ

राज्यों के सन्तोषप्रद वर्गीकरण में असली समस्या कोई वैज्ञानिक सिद्धान्त, कोई कानूनी कसौटी स्थिर करने की है जिसके आधार पर उनके बाह्य एवं आन्तरिक रूपों और मौलिक विशेषताओं में भेद किया जा सके। जेलिनेक ने लिखा है कि राज्यों में विस्तार की बातों में चाहे जितनी विभिन्नताएँ हों, उन सबमें कुछ स्थायी सम्बन्ध या तत्व होते हैं। ये तत्व कानूनी अथवा राजनीतिक होते हैं और वर्गीकरण के लिए केवल वे ही एक वैज्ञानिक आधार माने जा सकते हैं। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, वास्तव में राज्य मौलिक रूप से तत्वतः एक जैसे हैं ; उनके उद्देश्य एवं लक्ष्य भी

समान होते हैं और यद्यपि उनमे शासन के विभिन्न भ्रगो की व्यवस्था तथा बाह्य संगठन के सम्बन्ध में भेद होते हैं, तथापि उनसे हमे राज्यो का स्पष्ट वर्गीकरण करने के लिए कोई सन्तोषप्रद कसौटी नही मिलती।

अरस्तू की कसौटी

एक सिद्धान्त प्राचीन काल से आज तक बहुत से लेखको मे मान्यता प्राप्त कर चुका है। वह यह जानता है कि राज्य मे प्रभुत्व कितने व्यक्तियों मे निहित है। इस सिद्धान्त के आधार पर राज्य तीन प्रकार के होते हैं—एकतन्त्र, कुलीनतन्त्र तथा जनतन्त्र। एकतन्त्रीय राज्य वह है जिसमे प्रभुत्व एक व्यक्ति मे निहित होता है; कुलीनतन्त्र वह है जिसमे प्रभुत्व कुछ (श्रेष्ठ) पुरुषों मे निहित हो, जनतन्त्र वह है जिसमे प्रभुत्व जनसाधारण मे निहित हो। सारत: यह वर्गीकरण अरस्तू का, जो कभी कभी राज्य-विज्ञान का पिता माना जाता है, किया हुआ समझा जाता है। उसने राज्य और शासन (Government) मे भेद नही माना था। अतः यह वर्गीकरण भी शासकों की संख्या के आधार पर होने के कारण शासनों का है, राज्यो का नही, जैसा कि अरस्तू के ग्रन्थ 'पोलिटिक्स' (राजनीति), के जोवेट कृत प्रामाणिक अंग्रेजी अनुवाद से प्रकट है। उसने 'शासन के विभिन्न रूपों' का वर्णन करके लिखा है कि 'शासन के सच्चे रूप वे हैं जिनमे एक, कुछ और अधिक व्यक्ति सामान्य हित की दृष्टि से शासन करता या करते हैं।' ये एकतन्त्र (Monarchy) कुलीनतन्त्र (Aristocracy) और जनतन्त्र (Polity) के नाम से विख्यात हैं। तीसरे रूप के लिए उसने पॉलिटी शब्द का प्रयोग किया है जिसका निकटतम आधुनिक अंग्रेजी पर्याय 'वैधानिक जनतन्त्र' हो सकता है। ये शासन के प्रचलित एवं सामान्य रूप थे, जिनका साध्य सामान्य हितो की प्राप्ति था। इनमे से प्रत्येक का एक विकृत रूप भी था। जब एकतन्त्र शासन का संचालन शासक के स्वार्थमय उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए किया जाता था तो एकतन्त्रीय या राजतन्त्रीय शासन अत्याचारी शासन (Tyranny) के रूप मे परिणत हो जाता था। जब कुलीनतन्त्रीय शासन थोड़े से पुरुषों के स्वार्थ के लिए होता था, तब वह अल्पजन-शासन (Oligarchy) के रूप मे परिणत हो जाता था और जब जनतन्त्रीय शासन का संचालन बहुसख्यक व्यक्तियों की स्वार्थपूर्ण भावना से होता था तब वह जनतन्त्र का दूषित रूप बन जाता था।[1]

यह स्पष्ट है कि अरस्तू का वर्गीकरण दो सिद्धान्तो के आधार पर स्थिर था—प्रथम, उन व्यक्तियों की सख्या जिनके हाथ मे शासन-सत्ता थी और द्वितीय, शासन का ध्येय, भावना अथवा लक्ष्य। अरस्तू के इस सख्या-सिद्धान्त पर आधारित वर्गीकरण के अनेक समर्थक हैं और आज भी ऐसे लेखको की कमी नही है, जो यह मानते हैं कि इस वर्गीकरण का संशोधन नही किया जा सकता।

अरस्तू के वर्गीकरण की समीक्षा

इस वर्गीकरण की भी कई प्रकार से आलोचना की गयी है। प्रथम, जैसा हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं, यह अन्तिम विश्लेषण मे राज्यो का नहीं, शासनों का वर्गीकरण है और इसलिए राज्यो के रूपो के विवेचन मे इसे उचित स्थान नही मिल सकता। दूसरे, इसका कोई वैज्ञानिक आधार नही है, जिससे उसकी विशेषताओं तथा

---

१. 'Politics', Bk. III, 7, Bk. IV, I. अरस्तू राज्यों अथवा शासनो का वर्गीकरण करने वाला पहला लेखक नही था। उसके पहले हेरोडोटस ने भी राज्यो के कई भेद माने थे।

संगठन के रूपों के सम्बन्ध में एक शासन को दूसरे से भिन्नता बतलाई जा सके। संक्षेप में, जिस सिद्धान्त पर यह वर्गीकरण स्थिर है, वह गणित-सम्बन्धी है, सेन्द्रिय (Organic) नहीं, परिमाणात्मक है, गुणात्मक नहीं।[1] इस प्रकार कुलीनतन्त्रीय तथा प्रजातन्त्रीय शासनों में केवल संख्या का ही अन्तर है, उनमें कोई सेन्द्रिय अथवा कानूनी भेद नहीं है। अतः उनमें भेद स्थापित करने का प्रयत्न बाल की खाल निकालने जैसा ही होगा क्योंकि उनके मध्य विभाजक-रेखा अधिकांश में ऐच्छिक ही हो सकती है। सोले ने इस वर्गीकरण की आलोचना यह कह कर की है कि यह वर्तमान राज्यों के सम्बन्ध में लागू नहीं हो सकता।[2] अरस्तू के युग में केवल नगर-राज्य थे और उसे उन्हीं का ज्ञान था। परन्तु वर्तमान काल में देश-राज्य एवं राष्ट्र राज्य हैं जो उनसे बिलकुल ही भिन्न हैं और इनको अरस्तू के वर्गों में रखना निरर्थक होगा। यदि अरस्तू के राजतन्त्र तथा कुलीनतन्त्र के वर्गीकरण को उचित मान भी लिया जाय, जिसके अनुसार शासन-सत्ता ही नहीं, प्रत्युत प्रभुत्व एक और अनेक व्यक्तियों में निहित होता है तो भी यह वर्गीकरण आज के युग में तनिक भी व्यावहारिक मूल्य का नहीं होगा क्योंकि ऐसा कोई सभ्य राज्य नहीं है जिसमें प्रभुत्व एक व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों में निहित हो। इस प्रकार ग्रेट ब्रिटेन को एकतन्त्र (Monarchy) कहना सर्वथा असंगत होगा क्योंकि इससे उस राज्य अथवा उसके शासन के रूप का वास्तविक लक्षण बिलकुल प्रकट नहीं होता। इस प्रकार ग्रेट ब्रिटेन उसी श्रेणी में पहुँच जायगा जिसमें जारशाही रूस तथा टर्की के साम्राज्य और अन्य राज्य थे जिनमें और ब्रिटेन में कोई समानता नहीं थी। इसी तरह यद्यपि ग्रेट ब्रिटेन और अमेरिका के संयुक्त राष्ट्र वास्तव में प्रजातन्त्रीय गणतन्त्र हैं, तो भी वे अलग-अलग वर्गों में पड़ जायँगे।

देवाधिराज्य

पूर्वकालीन अनेक विद्वानों ने अपने वर्गीकरण में देवाधिराज्य (Theocracy) को भी स्थान दिया है जिसमें प्रभु व ईश्वर में या किसी अन्य अलौकिक व्यक्ति अथवा महान् आत्मा में निहित होता है। जर्मन लेखकों ने देवाधिराज्य दो प्रकार के माने हैं—

१. यह वॉन मोहल की समीक्षा है। बर्गेस (Political Science and Constitutionl law, p. 72) अरस्तू के वर्गीकरण के सिद्धान्त को, जहाँ तक उसमें राज्यों के (किन्तु सरकारों के नहीं) वर्गीकरण के लिए आधार मिलता है, उपयुक्त और तार्किक मानता है परन्तु उसने एकतन्त्र तथा जनतन्त्र राज्यों को एक, अल्प अथवा बहुसंख्यक व्यक्तियों का राज्य नहीं (जैसा अरस्तू ने माना है) वरन् उनका प्रभुत्व माना है। अरस्तू के वर्गीकरण की यह आलोचना कि वह केवल संख्यात्मक है, बर्गेस को उचित नहीं मालूम होती क्योंकि संख्या से यह मालूम हो जाता है, कि जनता में चेतना किस सीमा तक जागृत हो चुकी है। उन आदमियों की संख्या से जिनमें राजनैतिक चेतना है और जो इसी कारण शासन में भाग लेते हैं, उसका सेन्द्रिय लक्षण प्रकट होता है। फेयरली भी इस बात से सहमत है कि एकतन्त्र और कुलीनतन्त्र तथा कुलीनतन्त्र और जनतन्त्र के भेद परिमाणात्मक होते हुए भी गुणात्मक हैं क्योंकि जो अल्पसंख्यक व्यक्ति शासन करते थे, वे यूनानियों की दृष्टि में सर्वोत्तम थे। वे संख्या में कम थे, यह बात केवल आकस्मिक थी।

२. 'Introduction to Political Science', p. 46

एक विशुद्ध और दूसरा द्वैध (Dualistic) या सीमित। विशुद्ध देवाधिराज्य मे अलौकिक व्यक्ति, जिसमें प्रभुत्व निहित है, बिना किसी मानवीय माध्यम के प्रत्यक्ष रूप में शासन करता है, अर्थात् शासक या राजा स्वयं ईश्वर ही माना जाता था। सीमित या द्वैध देवाधिराज्य मे सीधे ईश्वर का शासन नहीं होता था वरन् मानव ईश्वर के प्रतिनिधि के रूप मे राजा होता था; वह ईश्वरीय इच्छा की व्याख्या करता था जो उसके सामने दिव्य रीति से प्रकट होती थी, अतः वह देवी और पुनीत माना जाता था। यह भावना दीर्घ काल तक सब देशो मे परिव्याप्त थी जिसके अनुसार राज्यत्व ईश्वर की अनुकम्पा से प्राप्त तथा राज्यारोहण उत्सव एक पुनीत धार्मिक कृत्य समझा जाता था।

ब्लुण्ट्श्ली ने विशुद्ध देवाधिराज्यो के जो उदाहरण दिए हैं, वे इथियोपिया (जिसे अबीसीनिया भी कहते हैं), प्राचीन मिस्र, ईरान तथा यहूदियों के राज्य हैं। वॉन माहल ने इनमे प्राचीन मेक्सिको और पेरू भी जोड़ दिये हैं।[1] मध्ययुगीन अधिकांश मुस्लिम राज्य भी ऐसे ही राज्य थे। पैगम्बर मुहम्मद अपने को ईश्वर (अल्लाह) का प्रतिनिधि मानता था और कुरान मे उन कानूनों तथा धार्मिक नियमो का विधान है जिनके अनुसार शासन होना चाहिए। खलीफा सम्राट् और धर्माचार्य दोनों ही था और धार्मिक तथा सांसारिक विषयो मे स्पष्ट भेद नहीं था। ट्रीट्स्के ने फोनीशिया को छोड़कर समस्त शक्तिशाली पूर्वीय राज्यों को देवाधिराज्य कहा है और तिब्बत को उसका एक बाद का नमूना बतलाया। उसने तुर्की साम्राज्य तथा रोम के पोप-राज्य को भी ऐसा ही राज्य माना है। योरोप के दूसरे राज्यों मे भी अब तक देवाधिराज्यों के कुछ लक्षण मौजूद थे और जैसा कि सर्वविदित है, उत्तरी अमेरिका की प्राचीन जातियों के राज्यों का आधार धार्मिक था।

यह सिद्ध करना सरल है कि अनेक आधुनिक राज्यो की नींव धर्म (चर्च) मे है। मध्य युग मे राज्य का आधार धर्म था। फिगिस ने कहा है कि 'चर्च' एक राज्य नहीं, एकमात्र राज्य था। राज्य का जैसा भी अस्तित्व था, वह चर्च का केवल पुलिस विभाग था। 'चर्च' ने रोम सम्राटों से निरपेक्ष और सार्वभौम अधिकार-सीमा के सिद्धान्त को प्राप्त कर उसे सर्वशक्तिमत्ता का रूप दे दिया जो चर्च के प्रधान 'पोप' मे प्रतिष्ठित थी। 'चर्च' राज्य का एक प्रबल प्रतिद्वन्द्वी था, वास्तव में जिस दुनिया मे हम रहते हैं, उसकी रचना विभिन्न विरोधी मतों एवं पंथो के, धर्माचार्यों तथा जनता के, केथोलिकों और प्राटेस्टेंटो के, लूथर-पन्थियों तथा काल्विन-पन्थियो के परस्पर संघर्ष के परिणामस्वरूप हुई है।[2] मध्य युग की समाप्ति पर ही विशुद्ध लौकिक (धर्मनिरपेक्ष) राज्य (Secular State) का आविर्भाव सफलतापूर्वक हो सका। बड़े लम्बे समय तक राज्य तथा 'चर्च' के बीच समझौता राज्य का मुख्य आधार रहा। इंगलैण्ड मे तो सीली के मतानुसार रानी ऐन के शासनकाल तक चर्च ही एक अर्थ मे इंगलैण्ड का राज्य था। बहुत वर्षों तक चर्च नागरिक शासन-प्रबन्ध का संचालन करता रहा, उसने राज्य के अनेक कार्यों पर अपना एकाधिकार स्थापित कर लिया

---

१. इस सम्बन्ध मे और भी देखिये, Willoughby, 'Nature of the State', pp. 42-53; Woolsey, 'Political Science', Vol. I, pp. 196-198; 497-500; Trietschke, 'Political', Vol. II, Ch. 14,

२. 'From Gerson to Grotius' (1907), pp. 4-6,

था और अनेक अलौकिक कार्यों के सम्पादन मे पादरियों को राज-कर्मचारियों के समान ही सत्ता थी। समय के परिवर्तन के साथ राज्य अधिकाधिक धर्मनिरपेक्ष होता गया, चर्च के प्रभाव से मुक्त होता गया और अन्त मे वह धर्म से सर्वथा स्वतन्त्र हो गया।[1]

एक सुप्रसिद्ध लेखक का कथन है कि देवाधिराज तथा निरकुश राज्यों का राज्य के ऐतिहासिक विकास मे अपना विशिष्ट स्थान है और राजनीतिक सभ्यता के निर्माण मे उनका कार्य भी अन्य संस्थाओं से कम महत्व का नहीं है। हमने अभी तक उनका परित्याग नहीं किया है। उनकी हमें वहाँ अब भी आवश्यकता पड़ती है, जहाँ और जब कभी जनता को बर्बर स्थिति से उभार कर सभ्यता के निम्नतर स्तर पर ला बिठाना होता है।[2] कानूनी दृष्टि से देवाधिराज्य राज्य का कोई पृथक् रूप नहीं है, प्रत्युत एकतन्त्र अथवा कुलीनतन्त्र का ही रूप है।[3] इस राज्य में प्रभुत्व चाहे ईश्वर में अथवा किसी अलौकिक शक्ति में निहित हो, सत्य तो यह है कि जो कोई, चाहे वह पैगम्बर हो या धर्माचार्य, इस अलौकिक सत्ता की इच्छा की व्याख्या करता है और जनता को आदेश एवं निर्देश देकर उनका पालन करवाता है, वही जहाँ तक राज्य-विज्ञान अथवा वैधानिक कानून से सम्बन्ध है, कानूनी प्रभुत्वाधिकारी है। ईश्वर को सत्ता का आदि स्रोत या शासक भले ही माना जाय परन्तु उसके आदेशों एवं नियमों की व्याख्या तथा उनका पालन तो मानव-माध्यम के द्वारा ही होगा। जो इच्छा ईश्वर की मानी जाती है, वह अन्त में किसी मानव या मानव-समुदाय की ही होगी। वास्तव मे देवाधिराज्य राज्य का एक भेद नहीं है, वरन् शासन का एक रूप है। अतः राज्य के भेदों के विवेचन मे इसे कोई स्थान नहीं मिल सकता।

(२) आधुनिक वर्गीकरण

वेज (Waitz) तथा दूसरों के वर्गीकरण

राज्यों के वर्गीकरण के अनेक प्रयत्न किये गये हैं और उन सब पर यहाँ विचार करने में कोई लाभ नहीं दिखाई देता। अत. यहाँ राज्य-विज्ञान के कुछ प्रसिद्ध विद्वानो के वर्गीकरण पर ही विचार करना उचित होगा। जर्मन विद्वान् वेज ने राज्यों को निम्न प्रकार वर्गीकृत किया है—गणतन्त्र, देवाधिराज्य, राजतन्त्र (Kingdom), एकात्मक राज्य, सयुक्त राज्य (Composite), सघ-राज्य या राज्य-मण्डल (Confederations)। यह वर्गीकरण भी राज्य-विज्ञान की कसौटी पर सही नहीं उतरेगा। देवाधिराज्य, जैसा अभी कह चुके हैं, राज्य का भेद नहीं, शासन का एक रूप है। यदि उसे राज्य का भेद भी माना जाय तो हम उसे एकतन्त्र (Monarchy) का केवल एक विशेष रूप मान सकते हैं, राज्य का एक अलग वर्ग नहीं। इस वर्गीकरण में कुछ राज्य कई वर्गों के अन्तर्गत आ जाते हैं, जैसे राजतन्त्र एकात्मक या सघात्मक

---

१. तुलना कीजिए, Seeley, 'Introduction to Political Science', Lect. II.

२. Burgess, 'Political Science and Constitutionl Law,' Vol. I, pp. 60 61.

३. ब्लुन्ट्श्ली कहता है कि देवाधिराज्य एकतन्त्र, कुलीनतन्त्र, जनतन्त्र किसी का भी रूप नहीं है, परन्तु वह अलग ही वर्ग का है जो आइडियोक्रसी (Ideocracy) कहलाता है, देवाधिराज्य में वास्तविक शासक अलौकिक प्राणी होते हैं, मानव नहीं। ट्रीट्स्के ने देवाधिराज को एकतन्त्र तथा गणतन्त्र के साथ ही राज्य का एक अलग भेद माना है।

या संयुक्त हो सकता है। राज्य एक इकाई है; इसलिये समस्त राज्य एक अर्थ में एकात्मक हैं। दूसरे अर्थ में यह कहा जा सकता है कि एकात्मक शब्द का प्रयोग केवल शासन के रूप के सम्बन्ध में हो सकता है, राज्य के सम्बन्ध में नहीं। 'संघीय' शब्द के सम्बन्ध में भी ऐसा ही कहा जा सकता है। यदि इसके शाब्दिक अर्थ पर विचार किया जाय तो 'संघीय राज्य' हो ही नहीं सकता। 'संघीय' शब्द से 'विभाजन' की भावना व्यक्त होती है जो राज्य की एकता की भावना के प्रतिकूल है। इसके विपरीत शासन संगठन में संघीय हो सकता है। 'राज्य-मण्डल' (Confederation) राज्य नहीं, वरन् राज्यों के संघ (Leagues) हैं। गैरीज (Garies) ने राज्यों का जो वर्गीकरण किया है—एकात्मक (Unitary) और संयुक्त (Composite) जिसमें वास्तविक संयोग (Real Unions), संघ तथा राज्य मण्डल शामिल हैं—उसमें भी वही दोष है।

अन्तर्राष्ट्रीय विधान के एक सुप्रसिद्ध फ्रेंच विद्वान् ने राज्यों को दो सामान्य समूहों में विभाजित किया है—एकाकी राज्य (Single State) और संयुक्त राज्य (United State)। प्रथम समूह के अन्तर्गत उसने वैयक्तिक संयोग, अर्थात् वे राज्य जिनका शासक एक ही व्यक्ति हो (Personal Unions), वास्तविक संयोग (Real Unions) और समाविष्ट संयोग (Incorporated Unions) को सम्मिलित किया है तथा दूसरे समूह के अन्तर्गत संघ राज्य (Feadral States) तथा 'राज्य-मण्डल' रखे हैं। यह बात अत्यन्त सन्देहास्पद है कि जिन राज्यों का शासक एक ही व्यक्ति हो वे वास्तव में एक राज्य माने जा सकें, वास्तव में राज्य-मण्डल (Confederation) निश्चय रूप से राज्य नहीं माना जा सकता और न राज्य को, जैसा अभी बतला चुके हैं, 'संघीय' ही कहा जा सकता है।

वॉन मोहल का वर्गीकरण

सुप्रसिद्ध जर्मन लेखक वॉन मोहल ने अपनी उन्नीसवीं सदी के मध्य में लिखी गयी पुस्तक, 'Encyclopedia of the Political Sciences में राज्यों के वर्गीकरण का सविस्तार एवं विशद् विवेचन किया है, यद्यपि इस सम्बन्ध में उसने भी किसी एक सिद्धान्त या कसौटी को नहीं माना। उसका वर्गीकरण निम्न प्रकार है—प्रथम, कुलपतितन्त्र (Patriarchal) राज्य, द्वितीय, देवाधिराज्य (Theocracy) या ऐसे राज्य जिनका कोई धार्मिक उद्देश्य हो और जो किसी अलौकिक सत्ता के निर्देशन में हो; तृतीय, पैतृक (Patrimonial) राज्य, चतुर्थ, प्राचीन (Classic or antique) राज्य; पंचम, कानूनी (Legal) राज्य या ऐसे राज्य जिनका कार्य-क्षेत्र कानून द्वारा निर्धारित होता है और जिनके काम भी कानून के अनुसार होते हैं; षष्ठ, स्वेच्छाचारी (Despotic) राज्य अर्थात् वे राज्य जिनका शासन बिना कानून के होता है। मोहल ने सैनिक अधीन (Military Vassal) राज्य को भी एक राज्य माना है। प्राचीन राज्यों (Classic States) को उसने तीन प्रकार माना है—एकतन्त्र, कुलीनतन्त्र या अल्पतन्त्र और जनतन्त्र। यह वर्गीकरण भी किसी एक तार्किक या वैज्ञानिक आधार पर नहीं है। इनमें से कुछ नाम तो आधुनिक राज्यों को दिये ही नहीं जा सकते और कुछ रूप ऐसे हैं जो एक ही वर्ग में रखे जा सकते हैं। कुलपतितन्त्र राज्य साथ ही एकतन्त्र होता है; इसी प्रकार देवाधिराज्य, स्वेच्छाचारी राज्य और पैतृक राज्य भी एकतन्त्र होते हैं। विशुद्ध कानूनी अर्थ में सब राज्य स्वेच्छाचारी होते हैं और सभी राज्य, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, कानूनी राज्य हैं क्योंकि वे कानूनों के स्रोत हैं और कानून के अनुसार शासन करते हैं। राज्यों को प्राचीन राज्यों के वर्ग में रखना ऐसा ही होगा जैसे राज्यों को 'प्रादेशिक राज्य', 'मानवीय राज्य', 'मध्य-

युगीन राज्य' अथवा 'आधुनिक राज्यों' के वर्गों में रखना। ये नाम राज्य-विज्ञान की परिभाषा में समुचित स्थान नहीं पा सकते, हाँ, साहित्य अथवा इतिहास की परिभाषा में स्थान पा सकते हैं। अतः इस वर्गीकरण का कोई वैज्ञानिक अथवा व्यावहारिक मूल्य नहीं है। मोहल ने राज्यों का वर्गीकरण यदि प्राचीन, मध्ययुगीन और आधुनिक राज्यों में किया होता तो वह अधिक उपयुक्त होता, यद्यपि वह भी ऐतिहासिक होता, वैज्ञानिक नहीं।

ब्लुंट्श्ली का वर्गीकरण

सुप्रसिद्ध जर्मन-स्विस राजनीतिक विद्वान् ब्लुंट्श्ली ने अपनी पुस्तक 'Theory of the State' में अरस्तू के वर्गीकरण के आधार पर राज्यों का वर्गीकरण किया है परन्तु उसने एकतन्त्र, अल्पतन्त्र तथा जनतन्त्र के अतिरिक्त देवाधिराज (Theocracy) को भी राज्य का एक भेद माना है जिसके विकृत रूप को उसने आइडिओक्रेसी (Ideocracy) का नाम दिया है। इन आधारभूत भेदों के अतिरिक्त उसने एक दूसरे प्रकार से भी राज्यों का वर्गीकरण किया है—स्वतन्त्र, अर्द्ध-स्वतन्त्र तथा परतन्त्र। उसके मत में देवाधिराज्य परतन्त्र राज्य में परिणत हो जाते हैं, अल्पतन्त्र अर्द्ध-स्वतन्त्र राज्य हो जाते हैं और जनतन्त्र स्वभावतः स्वाधीन राज्य होते हैं यद्यपि वे स्वेच्छाचारी या अधिनायकतन्त्र भी हो जा सकते हैं।[1] इसके बाद उसने राज्यों को निम्न प्रकार वर्गीकरण करके एक तरह से भ्रम पैदा कर दिया है, सभ्य एकतन्त्र, कुलपतितन्त्र राज्य, सामन्तशाही एकतन्त्र, सैनिक और कानूनी (judicial) राज्य, निरपेक्ष, सीमित तथा वैधानिक एकतन्त्र, संयुक्त राज्य आदि।

ब्लुंट्श्ली के वर्गीकरण में भी वे ही दोष हैं, जो हमने अन्य लेखकों के वर्गीकरण में देखे हैं। यह अवैज्ञानिक तो है ही, साथ ही उसने राज्य तथा शासन में भेद को नहीं माना। उसके बताए हुए कुछ राज्य तो ऐसे हैं जो वास्तव में राज्य हैं ही नहीं, जैसे उसने एक राज्य बतलाया है (Zusammengeset-ztestaatsform) जो एक संयुक्त (Composite) राज्य है जिसमें प्रभुत्व संघ और उसके विधायक अंगों में विभाजित होता है। इसके उदाहरण ऐसे राज्य हैं जिनके औपनिवेशिक या कर देने वाले अधीन प्रदेश हैं, वैयक्तिक संयोग राज्य-मण्डल और संघ। परन्तु एक उपनिवेश राज्य नहीं होता और न कई उपनिवेश वाला राज्य ही एक संयुक्त राज्य होता है। यही बात एक ही व्यक्ति द्वारा शासित राज्यों के संयोग अथवा राज्य मण्डल के विषय में कही जा सकती है। ये दोनों राज्य नहीं वरन् राज्यों के समुदाय हैं। इसके विपरीत संघ एक राज्य है, परन्तु संयुक्त राज्य राज्य नहीं होता। संयोग के विशिष्ट लक्षणों का तथा उसके शासन के रूप का वर्णन करने के लिए संघ शब्द का प्रयोग बिलकुल उचित है, परन्तु उसका प्रयोग राज्य के लिए नहीं हो सकता क्योंकि राज्य संयोग नहीं हो सकता। यह विरोधोक्ति है, जैसा हम ऊपर बतला आये हैं।

जेलिनेक का वर्गीकरण

हीडलबर्ग विश्वविद्यालय के प्रो० जॉर्ज जेलिनेक ने, जो आधुनिक युग के सबसे महान् राज्य-वैज्ञानिकों में गिना जाता है, अपने पूर्वकालीन लेखकों के राज्य-वर्गीकरण की बड़ी सूक्ष्म जाँच करने के बाद उन्हें सर्वथा अवैज्ञानिक, मनगढ़न्त, भ्रमोत्पादक और मूल्यहीन ठहराया है। उसने कहा है कि उनमें से अधिकांश वर्गीकरण तो ऐसे हैं

---

१. Theory of the State'. Bk. VI, विशेषकर अध्याय ४-६।

जो किसी समुचित कानूनी सिद्धान्त या कसौटी पर स्थिर नहीं है जिससे हम एक राज्य को दूसरे से भिन्न बतला सकें। उसका निष्कर्ष यह था कि वर्गीकरण का केवल एक ही ऐसा सिद्धान्त हो सकता है, अर्थात् वह रीति या प्रणाली जिसके द्वारा राज्य की इच्छा का निर्माण और अभिव्यक्ति होती हो। उसने बतलाया कि अरस्तू ने शासन के रूपों के वर्गीकरण के लिए इसी कसौटी को अपनाया था। परन्तु जेलिनेक ने अरस्तू द्वारा प्रतिपादन राज्य के तीन रूपों—एकतन्त्र, कुलीनतन्त्र तथा जनतन्त्र को स्वीकार नहीं किया। उसने कुलीनतन्त्र तथा जनतन्त्र को राज्य के दो पृथक् रूप नहीं माने; उसके अनुसार वह गणतन्त्र के ही विशिष्ट रूप है। अतः उसने सबसे सरल वर्गीकरण इस प्रकार किया—एकतन्त्र (Monarchy) और गणतन्त्र (Republic)। उसने एकतन्त्र राज्य की परिभाषा इस प्रकार की है। वह राज्य जिसका नियमन या पथदर्शन एक भौतिक इच्छा द्वारा होता हो, ऐसी इच्छा जो कानूनी दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ और सर्वोच्च हो और जो किसी दूसरी इच्छा से अनुशासित न हो। संक्षेप में, एकतन्त्र राज्य वह है जिसमें प्रभुत्व एक व्यक्ति में निहित होता है। उसके अनुसार यह आवश्यक नहीं है कि शासक या राजा की सत्ता मौलिक हो या ऐसी जो किसी से प्राप्त न की गई हो और जो उसके पास स्वयं अपने अधिकार से हो। यह निजी कानून (Private Law) की भावना है जो प्रभुत्व को सम्पत्ति का अधिकार मानती है, शासन करने का अधिकार नहीं। वह प्रभुत्व और शासन सत्ता को एक ही मानती है। इसे हम तभी स्वीकार कर सकते हैं जब हम राज्य को देवाधिराज्य या पैतृक राज्य मानें। जेलिनेक ने यह स्वीकार किया है कि एकतन्त्र वास्तविकता अथवा आदर्श रूप में अनेक प्रकार के हो सकते हैं; देवाधिराज्य जिसमें राजा को ईश्वर या ईश्वर का प्रतिनिधि माना जाता है (देवाधिराज्य की कल्पना), वह राज्य का स्वामी हो सकता है (पैतृक राज्य की कल्पना) या वह राज्य का एक अंग, सदस्य अथवा प्रतिनिधि हो सकता है। एकतन्त्र परम्परागत हो सकते हैं और निर्वाचित भी। वे असीमित अथवा सीमित भी हो सकते है। परन्तु चाहे उनमें कितने ही भेद हों, एक बात उनमें सामान्य है और वह है एक व्यक्ति का प्रभुत्व।

दूसरी ओर गणतन्त्र में एकतन्त्र से भिन्नता इस बात में है कि उनमें प्रभुत्व एक व्यक्ति में नहीं, एक छोटे या बड़े समुदाय में निहित होता है। इस समुदाय का एक 'सरल कानूनी' अस्तित्व होता है, जो उन व्यक्तियों के व्यक्तित्व से भिन्न होता है, जो राज्य में निवास करते है और इसी प्रकार जिसकी इच्छा उन व्यक्तियों की इच्छा से भिन्न होती है। गणतन्त्र के अनेक भेद हैं परन्तु कानूनी दृष्टि से वह भेद केवल संख्यात्मक है, गुणात्मक नहीं। सामाजिक अथवा राज्यविज्ञान की दृष्टि से अल्पसंख्यक व्यक्तियों की अभिव्यक्त इच्छा द्वारा नियमित तथा बहुसंख्यक जनता की अभिव्यक्त इच्छा द्वारा नियमित राज्य में बड़ा अन्तर हो सकता है, परन्तु कानूनी दृष्टि से इन दोनों में कुछ भी अन्तर नहीं है। इस प्रकार जिन राज्यों में प्रभुत्व एक से अधिक व्यक्तियों में निहित होता है, वे सब कानूनी दृष्टि से एकतन्त्र से भिन्न गणतन्त्र के अन्तर्गत आ जाते है, चाहे वे कुलीनतन्त्र धनिकतन्त्र, अल्पतन्त्र तथा प्रजातन्त्र या और कुछ हों। एकतन्त्र के समान गणतन्त्र भी अनेक प्रकार के हो सकते हैं— जनतन्त्रीय, कुलीनतन्त्रीय और अल्पतन्त्रीय। प्रजातान्त्रिक गणतन्त्र (Democratic Republic) प्रत्यक्ष अथवा प्रतिनिध्यात्मक हो सकते है। वे प्राचीन अथवा आधुनिक प्रकार के भी हो सकते हैं। परन्तु उनमें भेद चाहे जो कुछ भी हो, उनमे यह एक बात

सामान्य है कि उनकी इच्छाओं की अभिव्यक्ति एक व्यक्ति द्वारा नहीं, एक व्यक्ति-समूह द्वारा होती है।

बर्गेस का वर्गीकरण

बर्गेस नामक सुप्रसिद्ध विद्वान् ने वैज्ञानिक ढग से राज्यो के वर्गीकरण का प्रयत्न सन् १८८६ मे प्रकाशित अपनी पुस्तक, Political Science and Constitutional Law मे किया। उसने यह निष्कर्ष निकाला है कि अरस्तू ने शासनो का जो वर्गीकरण किया है, उसे ही राज्यो के वर्गीकरण मे लागू किया जाय तो ठीक होगा, और इन तीनो—एकतन्त्र, कुलीनतन्त्र और जनतन्त्र—को मिलाकर अथवा और बहुत से राज्यो के मेल से राज्य के नये रूप नही बन सकते। बर्गेस ने एकतन्त्र उस राज्य को बतलाया जिसमे प्रभुत्व एक व्यक्ति मे निहित हो, कुलीनतन्त्र मे अल्पमत का प्रभुत्व रहता है और जनतन्त्र में बहुमत का प्रभुत्व होता है। अन्य लेखकों ने राज्य के जिन अन्य रूपो का वर्णन किया है, वे राज्य के रूप नही, शासन के रूप हैं, अथवा राज्यो के समुदाय हैं, स्वय राज्य नहीं।

जेलिनेक तथा बर्गेस के वर्गीकरणो का मूल्यांकन

जेलिनेक तथा बर्गेस ने राज्यो का जो वर्गीकरण किया है, उसका सबसे बडा गुण सरलता है। उनका वर्गीकरण तार्किक और वैज्ञानिक है; उन्होने एक कानूनी सिद्धान्त के आधार पर राज्यो मे भेद स्थापित किया है। परन्तु इस पर भी उनका वर्गीकरण सर्वथा निर्दोष या सन्तोषप्रद नही है, और न वह उन आपत्तियो से ही मुक्त है जो उन्होने अन्य वर्गीकरणो पर की हैं। उनकी कसौटी अधिकतर सख्यात्मक है, सिद्धान्त की नही। ऐसे राज्य मे जिसमे प्रभुत्व नाम मात्र के बहुमत मे निहित हो और एक ऐसे राज्य मे जिसमे प्रभुत्व एक बडे अल्पमत मे हो भेद नाम मात्र का ही होगा। ऐसी दशा मे कुलीनतन्त्र तथा जनतन्त्र मे भेद बहुत कम हो जाता है और इन दोनों को अलग-अलग वर्गो मे नही रखा जा सकता। इसीलिये जेलिनेक ने कुलीनतन्त्र तथा जनतन्त्र को एक ही वर्ग मे रखकर और उन्हें एक ही वस्तु के दो भिन्न रूप मानकर उचित ही किया है।

उपसहार

सत्य तो यह है कि ऐसा कोई एक कानूनी सिद्धान्त या कसौटी नही है, जिसके आधार पर राज्यो का वर्गीकरण किया जा सके। जेलिनेक तथा बर्गेस ने जिस सिद्धान्त को ग्रहण किया है, वह वैज्ञानिक और तार्किक है परन्तु उसके आधार पर उन्होने जो वर्गीकरण किया है, वह सन्तोषप्रद नही कहा जा सकता। ऐसा विश्वास किया जाता है कि राज्यो की विभिन्न प्रकृति के कारण उनमें भेद स्थापित करने तथा उनका वर्गीकरण करने का प्रयत्न वृथा है और उसके जो परिणाम निकलते हैं, उनका न कोई वैज्ञानिक मूल्य है और न व्यावहारिक उपयोगिता ही। इसके विपरीत शासनों मे भेद किया जा सकता है और उनका वर्गीकरण भी हो सकता है और कानून विशारद या राज्य-वैज्ञानिक के लिए उनका ही वर्गीकरण करना लाभप्रद हो सकता है (अध्याय १३ देखिए)।

(३) आंशिक-प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य

आंशिक-प्रभुत्व-सम्पन्न राज्यो के भेद

अन्तर्राष्ट्रीय विधान के अनेक लेखकों ने ऐसे राजनीतिक सगठनो को भी राज्य

माना है जो पूर्ण स्वतन्त्र नहीं हैं और जो आन्तरिक तथा बाह्य विषयों में स्वतन्त्रता का उपभोग नहीं करते।[1] ऐसे राज्यों को कभी-कभी अर्द्ध-प्रभुत्वसम्पन्न राज्य और कभी-कभी आंशिक प्रभुत्वसम्पन्न कहा जाता है। दूसरे राज्यों के नियन्त्रण में होते हुए भी कुछ सीमा तक ये राज्य आन्तरिक शासन के सम्बन्ध में स्वराज्य के अधिकारों का भोग करते हैं और अन्तर्राष्ट्रीय जगत में भी उन्हें सीमित व्यक्तित्व प्राप्त होता है। ऐसे राज्यों के उदाहरण हैं—(१) संघ राज्य के सदस्य, (२) अधीन राज्य, (३) संरक्षित राज्य और (४) राष्ट्रसंघ के शासनादेश (League of Nations Mandates) के अधीन राज्य। कई लेखक इस सूची में तटस्थ बनाये गये राज्यों को भी सम्मिलित करते हैं। आंशिक प्रभुत्वसम्पन्न राज्य तथा उनके ऊपर नियन्त्रण रखने वाले राज्य के पारस्परिक सम्बन्ध भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं और इस कारण प्रत्येक वर्ग के समस्त राज्यों का वर्णन कर सकने के लिए कोई सामान्य नियम बनाना असम्भव है।

संघ-राज्यों के सदस्य-राज्य

संघ-राज्यों के सदस्य-राज्यों के सम्बन्ध में प्रभुत्व-सम्बन्धी अध्याय (आठवाँ) विवेचन करते समय विचार किया जा चुका है। वहाँ कहा गया था कि यद्यपि रिवाज के अनुसार उन्हें 'राज्य' माना जाता है, परन्तु विशुद्ध वैज्ञानिक दृष्टि से उन्हें कुछ प्रभुत्वसम्पन्न और कुछ प्रभुत्वहीन मानना अनुचित है क्योंकि प्रभुत्व एक इकाई है; उसका विभाजन उसका नाश किये बिना सम्भव नहीं। उस अध्याय में यह स्वीकार किया गया था कि संघ के अन्तर्गत राज्य प्रभुत्वहीन हैं और उनमें तथा संघ में जिस वस्तु का विभाजन किया जाता है, वह प्रभुत्व नहीं, शासनसत्ता है। यह सत्य है कि संघ के सदस्य-राज्यों को अपने राजदूत आदि दूसरे देशों में भेजने का सीमित अधिकार कभी-कभी दिया गया है (जैसे सन् १८७१-१९१९ तक के जर्मन साम्राज्य के सदस्यों को) परन्तु यह प्रभुत्व नहीं था। यह अधिकार शासन-विधान द्वारा प्राप्त हुआ था और उसके द्वारा यह छीना भी जा सकता था।

अधीन राज्य

आंशिक प्रभुत्वसम्पन्न राज्यों के दूसरे वर्ग में अधीन राज्य आते हैं जो किसी दूसरे राज्य की अधीनता में रहते हैं। हॉल नामक विद्वान् का मत है कि ये राज्य के ऐसे प्रदेश हैं जिनको क्रमिक विघटन की प्रतिक्रिया में अथवा प्रभु की कृपा से स्वतन्त्रता के कुछ अधिकार मिल गये हैं, जैसे व्यापारिक समझौते करना या दूसरे देशों के राजदूतों को अपने प्रतिनिधि की हैसियत से काम करने का अधिकार देना।[2] वे जिस प्रधान (Paramount) राज्य के अधीन होते है, उसे अधिपति (Suzerain) कहते हैं और इन दोनों राज्यों का सम्बन्ध आधिपत्य (Suzerainty) का है और यह अलग-अलग राज्यों में अलग-अलग होता है। साधारणतया अधीन राज्य को वही अधिकार प्राप्त होते हैं जो अधिपति उन्हें प्रदान कर देता है। उसकी अन्तर्राष्ट्रीय क्षमता सीमित होती है परन्तु अधिकांश में उसकी वैदेशिक नीति का नियमन तो अधिपति के

---

१. Oppenheim (International Law, Vol. I, p. 161). अधीन और संरक्षित राज्यों को अर्द्ध-प्रभुत्वसम्पन्न और संघ के सदस्य-राज्यों को आंशिक-प्रभुत्वसम्पन्न राज्य कहता है। यह केवल बाल की खाल खोंचना है।

२. 'International Law' (3d. Ed.), p. 31.

हाथ मे ही होता है। यह प्रधीन राज्य सामान्यतया अपने आन्तरिक मामलो में विदेशी नियन्त्रण से मुक्त होता है। उसके वैदेशिक मामलो मे अधिपति को कार्य प्रारम्भ करने (Initiation) का पूर्ण या आंशिक अधिकार हो सकता है या केवल उसके कामो को रद्द करने का निषेधात्मक अधिकार हो सकता है।

बलगेरिया, मिस्र, रूमानिया, सर्विया और मोण्टेनिगरो अधीन राज्यो के उदाहरण हैं। ये ऑटोमन साम्राज्य के आधिपत्य मे थे, परन्तु अन्त मे इन सबने स्वाधीनता प्राप्त कर ली। सन् १८८४ से सन् १६०१ तक ग्रेट ब्रिटेन के आधिपत्य मे दक्षिणी अफ्रीकन रिपब्लिक एक दूसरा उदाहरण है। आजकल ऐसे कोई उदाहरण नहीं मिलते। ये राजनीतिक सम्बन्ध साधारण तथा अल्पकालीन थे क्योंकि ससार के राजनीतिक विकास के साथ इनका अन्त होना अवश्यम्भावी था। टर्की के अधीन राज्य विद्रोह करके स्वतन्त्र हो गये, दूसरी प्रकार के अधीन राज्य, जैसे दक्षिणी अफ्रीकन रिपब्लिक अधिपति द्वारा विजय करने और अपने राज्य मे शामिल करने के फलस्वरूप समाप्त हो गये।

संरक्षित राज्य

एक विद्वान् के अनुसार संरक्षित राज्य (Protected State) की परिभाषा निम्न प्रकार है—'अन्तर्राष्ट्रीय विधान की दृष्टि से सरक्षित राज्य वह है, जो अपनी दुर्बलता के कारण, कुछ शर्तों के साथ या तो स्वय किसी दूसरे राज्य के अधीन हो गया हो अथवा उसमे हित रखने वाले राज्यो के परस्पर समझौते के फलस्वरूप वह किसी दूसरे राज्य के अधीन कर दिया गया हो।' सरक्षण उसी समय स्थापित होता है जब कोई दुर्बल राष्ट्र अपने को किसी सबल राज्य की सरक्षता मे सौंप देता है। अधीन राज्य को अधिपति अपनी ओर से अधिकार एव सत्ता प्रदान करता है; परन्तु सरक्षित राज्य के अधिकार अवशिष्ट अधिकार होते हैं, प्रदत्त नही। अत: अन्तर्राष्ट्रीय विधान की दृष्टि मे ऐसे राज्य का व्यक्तित्व होता है। अधीन और अधिपति राज्यो क के सम्बन्धो की तरह सरक्षक राज्य तथा सरक्षित राज्य के पारस्परिक सम्बन्ध भी विभिन्न परिस्थितियो पर निर्भर रहते हैं। अधिकाश मामलो मे सरक्षित राज्य संरक्षक राज्य को अपने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों तथा कभी-कभी आन्तरिक शासन-प्रबन्ध के कुछ अधिकार, जैसे सेना, न्याय तथा कुछ कर लगाने के अधिकार सौंप देता है। यदि सधि द्वारा कोई दूसरी व्यवस्था न की गयी हो तो अन्य मामलो में सरक्षित राज्य स्वतन्त्र होता है—उसका अपना शासन-विधान होता है, अपने नागरिक होते है, अपने कानून और अपना शासन होता है। जो सधियाँ सरक्षक राज्य तथा दूसरे राज्यो के बीच होती हैं, वे संरक्षित राज्यों पर बाध्य नही होती और यदि सरक्षक राज्य तथा दूसरे किसी राज्य के बीच युद्ध ठन जाय तो यह आवश्यक नही कि सरक्षित राज्य भी संरक्षक राज्य की ओर से युद्ध में सम्मिलित हो।

वर्त्तमान सरक्षित राज्य

कानूनी अर्थ मे वर्तमान समय मे केवल एक ही सरक्षित राज्य है—वह है पिरेनीज की घाटी मे अन्दोरा (Andora) नाम का एक छोटा-सा गणतन्त्र जो फ्रान्स तथा स्पेन के संयुक्त संरक्षण मे है। इसका क्षेत्रफल १६१ वर्गमील तथा जनसख्या ५,००० है। मोनाको का प्रदेश भी संरक्षित राज्य है। यह फ्रान्स के संरक्षण मे है। इसका क्षेत्रफल ८ वर्गमील और जनसख्या २३,००० है। १७ जुलाई सन् १६१८ की सधि के अनुसार फ्रान्स ने इस राज्य के प्रभुत्व तथा स्वाधीनता की गारण्टो दी। इस

संधि द्वारा मोनाको की सरकार ने यह स्वीकार कर लिया कि वह अपने शासनाधिकारों का प्रयोग फ्रान्स के सैनिक, आर्थिक, नौसैनिक तथा राजनीतिक हितों के अनुरूप करेगी और अपना प्रदेश या उसका कोई भाग फ्रान्स के अतिरिक्त किसी भी अन्य राज्य को हस्तान्तर नहीं करेगी। यदि मोनाको राज्य का शासक मृत्यु को प्राप्त हो जायगा और उसका कोई उत्तराधिकारी न होगा, तो मोनाको फ्रान्स के संरक्षण में स्वायत्तशासी राज्य बन जायगा। कुछ लेखक इटली में स्थित सान मारिनो के गणतन्त्र (क्षेत्रफल ३८ वर्ग मील, जनसंख्या १२,०००) को इटली का संरक्षित राज्य मानते हैं, परन्तु इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। कुछ लेखकों ने क्यूबा, पनामा और डोमीनिकन रिपब्लिक तथा हेटी को हाल ही में हुई संधियों के अनुसार संयुक्त राज्य अमेरिका के अर्द्ध-सरक्षित राज्य माने हैं। क्यूबा (क्यूबा के सन् १९०३ के शासन-विधान का 'प्लाट संशोधन' और उसी वर्ष की हुई संधि देखिए) और पनामा (१८ नवम्बर सन् १९०३ की संधि देखिए) के सम्बन्ध में तो तनिक भी संदेह नहीं कि वह संयुक्त राज्य अमेरिका के संरक्षण में है। दूसरे राज्यों के साथ भी जो संधियाँ हुई हैं, वे इसी प्रकार की हैं। वार्साई की संधि के अनुसार डेन्जिग का जर्मन स्वतन्त्र नगर 'राष्ट्रसंघ के संरक्षण' में रख दिया गया था परन्तु उसके वैदेशिक सम्बन्धों तथा विदेशों में उसके नागरिकों की रक्षा का अधिकार पोलैण्ड की सरकार को था।[1]

यहाँ हम कुछ ऐसे संरक्षित राज्यों का उल्लेख करेंगे जो पहले संरक्षित राज्य थे, परन्तु जो संरक्षक राज्यों में मिल जाने, दूसरे राज्यों को दे दिये जाने अथवा उनकी स्वाधीनता स्वीकार कर लेने के कारण संरक्षित राज्य नहीं रहे। सन् १८१५-१८६३ में ग्रेट ब्रिटेन के संरक्षण में आयोनियन द्वीप; सन् १८९३-१८९६ में फ्रान्स के संरक्षण में मेडागास्कर; सन् १८८९-१८९६ में इटली के संरक्षण में अबीसीनिया; सन् १९०४-१९१० में जापान के संरक्षण में कोरिया; सन् १९१४ से १९२२ तक परन्तु वास्तव में सन् १८८३ से इंगलैंड के संरक्षण में मिस्र। आज भी अफ्रीका तथा एशिया में ऐसे उपनिवेश तथा प्रदेश हैं जो योरोपीय राष्ट्रों के संरक्षण में हैं परन्तु वे राज्य नहीं हैं। ऐसे प्रदेशों एवं उपनिवेशों में ट्यूनिस, मोरक्को, जंजीबार, टोंकिन, अनाम, मलय राज्य तथा अन्य दूसरे प्रदेश हैं।[2]

राष्ट्रसंघ के शासनादेश प्रणाली के अन्तर्गत राज्य

कुछ प्रदेश, जो पहले टर्की के साम्राज्य के अन्तर्गत थे, जैसे फिलिस्तीन तथा ईराक (जिसका नाम पहले मेसोपोटामिया था), प्रथम विश्व-युद्ध के बाद राष्ट्रसंघ की अध्यक्षता में ग्रेट ब्रिटेन के शासन में रख दिये गये थे और अब आंशिक-प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य माने जाते हैं। इसी प्रकार फ्रान्स के शासन में सीरिया था। सन् १९२७ तक इराक भी ग्रेट ब्रिटेन के शासनादेश में था। राष्ट्रसंघ के विधान में इन राज्यों के सम्बन्ध में निम्न उल्लेख है—'ये राज्य ऐसे हैं जिनका विकास ऐसी स्थिति को प्राप्त कर चुका है जिसमें उनको स्वतन्त्र राज्य के रूप में अस्थायी रूप से स्वीकार किया जा सकता है; परन्तु जब तक वे पूर्णरूप से स्वावलम्बी न हो सकें तब तक शासना-

---

१. डेन्जिग पर जर्मन अधिकार के प्रश्न को लेकर पोलैण्ड के साथ जर्मनी का युद्ध सन् १९३९ में छिड़ा, जिसने द्वितीय विश्वयुद्ध का रूप धारण कर लिया। अब यह नगर पोलैण्ड के अधिकार में है।

२. संरक्षित एवं अधीन राज्यों का सबसे आधुनिक और सन्तोषप्रद वर्णन Oppenheim, उपर्युक्त, Vol. I. pp. 161 ff. में मिलता है।

देश के अन्तर्गत संरक्षक राज्यों को उन्हें शासन-प्रबन्ध के सम्बन्ध में परामर्श अथवा सहायता देने का अधिकार रहेगा।' इन राज्यों की कानूनी स्थिति के सम्बन्ध में आज भी मतभेद है। कभी-कभी उन्हें स्वतन्त्र राज्य माना जाता है, जो वास्तविकता के अनुसार नहीं। दूसरी ओर वे संरक्षक राज्यों के प्रभुत्व के अन्तर्गत भी पूर्णत नहीं है, उनके निवासी संरक्षक राज्यों के नागरिक नहीं हैं, उन्हें अपने आन्तरिक शासन में स्वराज्य के बहुत कुछ अधिकार प्राप्त हैं। एक लेखक का यह विचार कि इन राज्यों पर जब तक शासनादेश-प्रणाली के अन्तर्गत नियन्त्रण है और संरक्षक राज्यों द्वारा उनका शासन-प्रबन्ध होता है, तब तक उन राज्यों का प्रभुत्व स्थगित है, ठीक नहीं है। प्रोफेसर क्विन्सी राइट (Quincy Wright) का यह विचार ही सन्तोषप्रद है कि ऐसे राज्यों का प्रभुत्व राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत संरक्षण राज्यों (Mandatory Powers) में निहित है। इस प्रकार न तो शासनादेश के द्वारा शासित राज्य और न उनके प्रबन्धकर्त्ता संरक्षक राज्य ही प्रभु हैं।[1]

तटस्थ बनाये गये राज्य

संसार में कुछ ऐसे राज्य भी हैं, जिनकी स्वतन्त्रता तथा प्रभुत्व की रक्षा का दायित्व दूसरे राज्यों ने सम्मिलित रूप में ग्रहण कर लिया है और जिन्हें किसी युद्ध में सम्मिलित न होने का आदेश है। ऐसे राज्य तटस्थ बनाये गए राज्य (Neutralized States) कहलाते हैं।[2] ऐसे राज्यों को आक्रामक युद्धों में सम्मिलित न होने की शर्त स्वीकार कर लेने के कारण, जो उन पर रुकावट लगी है, उसके बदले में ही दूसरे राज्य उनकी स्वतन्त्रता तथा प्रभुत्व की रक्षा की गारण्टी देते हैं। किसी दुर्बल राज्य को, जिसे अपने सबल पड़ोसी राज्यों की ओर से युद्ध आदि का भय हो, उसकी इच्छानुसार तटस्थ राज्य बना दिया जाता है, या उस राज्य की इच्छा के विरुद्ध भी दूसरे राज्य शान्ति-स्थापन अथवा शक्ति-सन्तुलन बनाये रखने की दृष्टि से ऐसे राज्यों को तटस्थ बना देते हैं। ऐसे छोटे राज्य जिनकी भौगोलिक स्थिति ऐसी है जिससे उन्हें अपने पड़ोसी राज्यों द्वारा आक्रमण का अथवा अपनी तटस्थता भंग किये जाने का भय बना रहता है, दूसरे समस्त राज्यों द्वारा तटस्थ बना दिये जाते हैं। उन छोटे राज्यों से सम्बद्ध विभिन्न राज्यों के बीच की हुई सन्धि के द्वारा ही इस प्रकार की तटस्थता (Neutrality) प्राप्त की जाती है। इस प्रकार के तटस्थ बने हुए राज्यों को दूसरे राज्यों के साथ आत्मरक्षा की आवश्यकता को छोड़ कर कभी युद्ध नहीं करना चाहिए और न ऐसे

---

१. राष्ट्रसंघ के पतन के बाद सन् १९४५ में संयुक्त राष्ट्रसंघ (United Nations Organization) के अन्तर्गत संरक्षण-प्रणाली (Trusteeship System) के द्वारा ऐसे राज्यों का शासन-प्रबन्ध होता है। परन्तु फिलिस्तीन पर से इंगलैण्ड ने गत मई सन् १९४८ में अपना संरक्षण हटा लिया और वहाँ संयुक्त राष्ट्रसंघ के नियन्त्रण में फिलिस्तीन कमीशन ने दो भागों में विभाजन की योजना बनाई है। फिलिस्तीन के एक भाग में यहूदियों ने 'इजराईल' नामक स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया है परन्तु अरबों ने अभी तक इस विभाजन को स्वीकार नहीं किया है। —अनुवादक।

२. फाशिल का कहना है कि तटस्थता केवल स्वीकार ही की जा सकती है या उसकी गारण्टी भी दी जा सकती है। गारण्टी की अवस्था में सन्धि करने वाले पक्षों का तटस्थता की रक्षा करना कर्तव्य होता है। स्वीकृति की अवस्था में उनका कर्तव्य केवल इतना ही है कि वे स्वयं उसकी तटस्थता को भंग न करें।

अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों को स्वीकार करना चाहिए जिनके कारण किसी दूसरे राज्य के विरुद्ध उन्हें युद्ध में संलग्न हो जाना पड़े। इस मर्यादा को छोड़कर तटस्थ राज्य पूर्णतया स्वतन्त्र होते हैं और दूसरे राज्यों के साथ युद्ध-सम्बन्धी बन्धन स्वीकार किये बिना हर प्रकार की संधियाँ कर सकते हैं। वे आत्मरक्षा के लिए थल-सेना तथा नौसेना भी रख सकते हैं और दुर्ग-पंक्ति का भी निर्माण कर सकते हैं। कुछ लेखकों का यह भी विचार है कि ऐसे राज्य अपने प्रदेश के भागों को दूसरे राज्यों को हस्तान्तरित नहीं कर सकते और न अपने प्रदेश में दूसरे राज्यों से प्राप्त कर प्रदेश मिला ही सकते हैं। परन्तु लेखकों का एक विशाल बहुमत इससे सहमत नहीं है और यह उचित ही प्रतीत होता है।

तटस्थ राज्यों के उदाहरण

उन्नीसवीं शताब्दी में तटस्थ राज्य का सबसे महत्वपूर्ण उदाहरण हमें योरोप के मध्य में स्विट्जरलैण्ड देश में मिलता है। इस देश की सार्वकालिक तटस्थता को सन् १८१५ में वियना कांग्रेस में सम्मिलित राज्यों ने स्वीकार किया था और उसकी गारण्टी दी थी। सन् १८३१ में और सन् १८३९ में पाँच राज्यों के बीच की हुई लन्दन की सन्धि द्वारा बेल्जियम की तटस्थता स्वीकार की गयी। इसी प्रकार ११ मई सन् १८६७ में लन्दन की सन्धि द्वारा लक्जेम्बुर्ग की तटस्थता (निःशस्त्र तटस्थता) स्वीकार की गयी।

स्विटजरलैण्ड की तटस्थता आज पर्यन्त किसी भी राज्य ने भंग नहीं की और स्वयं स्विटजरलैण्ड ने भी बड़ी सतर्कता के साथ अपनी तटस्थता की शर्तों का पालन किया है।[1] प्रशा ने बेल्जियम तथा लक्जेम्बुर्ग की तटस्थता के सम्बन्ध में दोनों सन्धियों पर हस्ताक्षर किये थे; परन्तु सन् १९१४ में, प्रथम विश्वयुद्ध के प्रारम्भ में, जर्मनी ने इन देशों में होकर अपनी सेनाएँ भेजकर फ्रान्स पर आक्रमण किया और इस प्रकार उनकी तटस्थता भंग की।[2] जर्मन सरकार ने यह समझ कर कि यह बात तटस्थता नीति के प्रतिकूल नहीं होगी, बेल्जियम सरकार से अपने देश में होकर सेनाओं के लिए मार्ग की माँग की। बेलजियम सरकार ने इस माँग को यह कह कर स्वीकार नहीं किया

---

१. जब सन् १९१४ में योरोप में प्रथम विश्वयुद्ध प्रारम्भ हुआ तब स्विस फेडरल कौंसिल ने अपना यह दृढ़ निश्चय घोषित किया कि तटस्थता स्विस जनता की आकांक्षाओं के अनुकूल है तथा उसे अत्यन्त प्रिय है, उसका वह त्याग नहीं करेगी। स्विटजरलैण्ड तटस्थता के सिद्धान्त के प्रति इतनी आस्था रखता था कि राष्ट्रसंघ की सदस्यता स्वीकार करते समय उसने यह शर्त रखी कि यदि राष्ट्रसंघ अपने विधान का उल्लंघन करने वाले किसी देश के विरुद्ध सैन्य-कार्यवाही करने का निश्चय करेगा तो वह स्विट्जरलैण्ड की प्रादेशिक सीमा में होकर अपनी सेनाएँ न भेज सकेगा और न उससे सैन्य-सहायता ही माँगेगा। इस शर्त के साथ उसे राष्ट्रसंघ का सदस्य बनाया गया। सन् १९२१ में पोलैण्ड तथा लिथुएनिया के बीच जनमत-संग्रह के समय शान्ति स्थापित करने के लिए पोलैण्ड को स्विट्जरलैण्ड में होकर एक सैन्य टुकड़ी भेजने की राष्ट्रसंघ की कौंसिल की प्रार्थना स्विट्जरलैण्ड ने अस्वीकार कर दी।

२. सन् १९४० में द्वितीय विश्वयुद्ध के समय भी जर्मनी ने बेल्जियम तथा लक्जेम्बर्ग की तटस्थता भंग की थी।

कि इस तरह वह स्वयं भी सन्धि-भंग की दोषी बन जायगी। समस्त कानून-विशेषज्ञ इससे सहमत हैं कि बेल्जियम का जर्मन सेनाओं को अपने राज्य में से मार्ग देना बेल्जियम की तटस्थता के प्रतिकूल होता।

तटस्थ राज्यों के अधिकार

कुछ जर्मन विशेषज्ञों ने बाद में यह माना कि जर्मनी ने बेल्जियम की तटस्थता को भंग करके उचित ही किया, क्योंकि बेल्जियम की नीति तटस्थता की मर्यादा के प्रतिकूल थी; उसने युद्ध आरम्भ होने से पूर्व ग्रेट ब्रिटेन के साथ सैनिक सन्धि कर ली थी और अफ्रीका में कांगो प्रदेश को प्राप्त कर लेने से उसकी योरोपीय स्थिति इस इस प्रकार बदल गयी थी कि उस नई अवस्था में तटस्थता की सन्धि बन्धनकारी नहीं रह गयी थी। यदि यह मान भी लिया जाय कि बेल्जियम ने गारण्टी देने वाले राज्य में से किसी एक के सम्भावित आक्रमण से अपनी तटस्थता की रक्षा के लिए आत्म-रक्षात्मक सन्धि इंगलैंड के साथ कर भी ली तो वह सन्धि उसकी तटस्थता के प्रतिकूल नहीं हो सकती। अधिकांश लेखक यह मानते हैं कि तटस्थ राज्य को अपनी तटस्थता की रक्षा के लिए दूसरे राज्यों के साथ सैनिक सन्धि करने का अधिकार है और कुछ विद्वानों का यह भी मत है कि वह अपनी तटस्थता की रक्षा के लिए हर आवश्यक उपाय कर सकता है। हाँ, आक्रमण के लिए जो सन्धियाँ होती है, उनकी बात दूसरी है। जर्मन विद्वानों की यह दलील भी उचित नहीं है कि यदि तटस्थ राज्य कोई उपनिवेश या प्रदेश प्राप्त कर ले तो ऐसा करना उसकी तटस्थता के विपरीत है। यदि बेल्जियम ने योरोप में ही अपने प्रदेश में दूसरे प्रदेश मिला कर राज्य-विस्तार किया होता जिससे उसकी योरोपीय स्थिति में परिवर्तन हो जाता तो जर्मनी के विद्वानों द्वारा की हुई आपत्ति में कुछ सार भी होता। अफ्रीका में एक उपनिवेश की प्राप्ति से बेल्जियम की स्थिति में योरोपीय राज्य की हैसियत से कोई अन्तर नहीं पड़ा।

तटस्थता-सन्धि की विफलता के कारण प्रथम विश्वयुद्ध के बाद शान्ति-सन्धि के समय बेल्जियम ने यह इच्छा प्रकट की कि उसे तटस्थता की स्थिति से मुक्त कर दिया जाय। अतः सन् १८३९ की तटस्थता सन्धि सन् १९१९ की वार्साई की सन्धि (धारा ३१) द्वारा भंग कर दी गयी। इसी सन्धि द्वारा लक्जेम्बर्ग की तटस्थता का भी अन्त कर दिया गया। इस प्रकार योरोप में स्विटजरलैण्ड ही अकेला ऐसा राज्य है जो तटस्थ है।

मुख्य पाठ्य-ग्रन्थ

Bluntschli, "Theory of the State" (Eng. trans, 1896), Bk. VI, Chs. I, 4-7.

Burgess, "Political Science and Constitutional Law" (1891), Bk. II, Ch. 3.

Esmein, "Droit Constitutionnel" (5th ed, 1909), Introduction.

Fauchile, "Traite de droit International Public" (1922), Vol. I, pp 257-299.

Gilchrist, "Principles of Political Science" (1920), Ch II.

Hall, "International Law" (7th ed., 1917), Pt. I, Ch. I.

Holcombe, "The Foundations of the Modern Commonwealth" (1923), pp. 63-82.

Kunz,	"Die Staaten Verbindungen" (1929).
Jellinek,	"Recht Des Modernen Staates" (1905), Bk. II, Ch. 20.
Jenks,	"The State and the Nation" (1919), Ch. 17.
Oppenheim,	"International Law" (3rd ed., 1920), Vol. I, Secs. 101.
Pitamic,	"A Treatise on the State" (1933), Pt. II.
Seeley,	"Introduction to Political Science" (1896), Pt. I, lects. II ; VI-VIII.
Treitschke,	"Politics" (English translation, 1916), Vol. II, Chs. 13-19.
Willoughby,	"The Nature of the State" (1903), Ch. 10 ; also "The Fundamental Concepts of Public Law" (1925), Ch. 15.

राज्यों के समुदाय एवं संयोग

(१) वर्गीकरण के सिद्धान्त

संयोगों के भेद

दो या अधिक राज्य अपने सामान्य अथवा विशिष्ट उद्देश्यों की प्राप्ति के हेतु अपने समुदाय (Associations), परिषद् (Leagues) अथवा संयोग (Unions) स्थापित कर लेते हैं। इन समुदायों को अनेक प्रकार के रूपों में भेद किया जा सकता है और राज्यों की अपेक्षा उनका वर्गीकरण सरलता से हो सकता है। एक संयोग ऐसा होता है जिसमें प्रत्येक राज्य की अपनी स्वतन्त्र सत्ता बनी रहती है और संयोग द्वारा कोई नया राज्य स्थापित नहीं होता, दूसरे प्रकार का संयोग वह है जिसमें स्वतन्त्र राज्य अपने अस्तित्व को विलीन कर एक नये राज्य के रूप में परिणत हो जाते हैं, कोई संयोग ऐसा होता है जिसके सम्बन्ध में यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि उसके द्वारा किसी नये राज्य की उत्पत्ति हो गयी है, यद्यपि यह स्पष्ट होता है कि उसके अन्तर्गत राज्य अपनी स्वतन्त्र सत्ता कायम रखते हैं। राज्यों के संयोग समानता के सिद्धान्त के आधार पर कायम रह सकते हैं जिसमें प्रत्येक सदस्य अपना प्रभुत्व एवं अपनी स्वतन्त्रता कायम रखता है। संयोग असमानता के सिद्धान्त पर भी कायम हो सकते हैं जिनके अन्तर्गत कुछ राज्य दूसरों से श्रेष्ठ या निम्नतर माने जा सकते हैं, अथवा वे अपनी क्षमता की दृष्टि से परस्पर समानता के आधार पर भी संयोग के सदस्य बन सकते हैं, यद्यपि सदस्य-राज्यों में अपना प्रभुत्व नहीं रहता और इस प्रकार वे अपनी क्षमता की सीमा निर्धारित करने के अधिकारी भी नहीं माने जाते।

जेलिनेक द्वारा संयोगों (Unions) का वर्गीकरण

प्रो० जेलिनेक ने राज्य-संयोगों के वर्गीकरण के सम्बन्ध में विशेष अध्ययन किया है। उनके अनुसार संयोग दो वर्गों में विभाजित किये जा सकते हैं—प्रथम, वे संयोग जो संगठित होते हैं और द्वितीय, असंगठित। प्रथम वर्ग के अन्तर्गत उसने ऐसे संयोगों को रखा है जिनके सदस्यों के कानूनी सम्बन्ध न्यूनाधिक स्थायी होते हैं और जो सामान्य राजनीतिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए इस प्रकार के सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं, परन्तु ऐसे संयोग के अन्तर्गत कोई सामान्य (Common) शासन प्रबन्ध या संस्था कायम नहीं होती। इस वर्ग के अन्तर्गत उसने सन्धिबद्ध राज्य समूह (Alliance) समयबद्ध राज्य समूह (Ententes), राज्य परिषद् (Leagues) जैसे राज्यों के समुदाय सम्मिलित किये हैं जिनकी स्थापना सामान्य रक्षा, विशिष्ट अधिकारों की गारण्टी अथवा तटस्थता की रक्षा आदि के लिए की जाती है। उनकी स्थापना राज्यों के बीच पारस्परिक समझौतों एवं सन्धियों द्वारा होती है। उसने इस वर्ग के अन्तर्गत एक दूसरे

प्रकार के संयोग (Staatenstaat) को भी स्थान दिया है जिसमें एक श्रेष्ठ तथा एक निम्नतर राज्य के बीच सम्बन्ध होता है और निम्नतर राज्य के न्यूनाधिक नियन्त्रण में, विशेषत: अपनी वैदेशिक नीति के सम्बन्ध में, रहता है। मध्ययुग की सामन्तवादी व्यवस्था, वेस्टफेलिया की शान्ति के बाद पुरातन जर्मन-साम्राज्य, ऑटोमन साम्राज्य तथा आधुनिक संरक्षित राज्य इस प्रकार के राज्य-समुदायों के उदाहरण हैं। इन सम्बन्धों की स्थापना अनेक कारणों से हुई थी जो मुख्यकर ऐतिहासिक थे, यद्यपि संरक्षित राज्यों के ऐसे सम्बन्ध या तो संरक्षक राज्य ने संरक्षित राज्यों की स्वीकृति के बिना ही अपनी ओर से ही स्थापित कर दिये थे या ऐच्छिक समझौते के फलस्वरूप बने थे।

यह वर्गीकरण पूर्णरूप से सन्तोषप्रद नहीं है क्योंकि इसके अनुसार मित्रता-सम्बन्ध को संयोग मान लिया गया है, जो कानूनी अर्थ में सम्भव नहीं है। इसी प्रकार यह भी सन्देहास्पद है कि सार्वभौम सत्ता तथा अधीन राज्यों के सम्बन्ध या संरक्षक और संरक्षित राज्यों के सम्बन्ध, विशेषकर उस दशा में जबकि अधीनता उस राज्य पर लाद दी गयी, संयोग माने जा सकते हैं या नहीं। संयोग का भाव तो यह है कि समान पद वाले राज्य अपनी इच्छा से मिल जाँय, न कि एक शक्तिशाली राज्य एक निर्बल राज्य को बलपूर्वक अधीन बना ले।

जेलिनेक के अनुसार संयोग का दूसरा वर्ग संगठित संयोगों का है, जिनके सदस्य केवल कानूनी सम्बन्ध से बँधे ही नहीं रहते, प्रत्युत उनका एक सामान्य मुख्य शासक, सामान्य प्रशासन-संस्थाएँ, सामान्य सभाएँ, जो पूर्णतया धारासभाएँ हों या न भी हों, होती हैं। इस वर्ग के अन्तर्गत उन्होंने व्यक्तिगत संयोग (Personal Unions), वास्तविक संयोग (Real Unions), संघ (Federal Union), राज्य-मण्डल (Confederation) तथा अन्तर्राष्ट्रीय प्रशासन-संघ (International Administrative Unions) को रखा है। इनमें से प्रत्येक एक-दूसरे से महत्व-पूर्ण बातों में भिन्न होता है; परन्तु उन सबमें एक सामान्य विशेषता रहती है और वह यह है कि प्रत्येक की एक केन्द्रीय संस्था होती है जिसके द्वारा उन सबकी सामान्य इच्छा अभिव्यक्त होती है और जो सामान्य उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करती है।[1]

(२) व्यक्तिगत और वास्तविक संयोग

व्यक्तिगत संयोग

संयोग दो प्रकार के होते हैं—एक व्यक्तिगत संयोग (Personal Union) और दूसरा वास्तविक संयोग (Real Union)। व्यक्तिगत संयोग में दो अथवा अधिक राज्यों का राजा या मुख्य अधिकारी एक ही व्यक्ति होता है। ऐसे संयोग एकतन्त्रीय (Monarchies) होते हैं। यह सम्बन्ध साधारणतया आकस्मिक होता है; दो या

१. कुछ लेखक वास्तविक संयोगों, राज्य-मण्डलों तथा संघों को एक 'मिश्रित' या 'सहृत' (Composite) राज्य के विभिन्न रूप मानते हैं। एक मिश्रित राज्य और एक 'सरल' (Simple) राज्य में भी उन्होंने भेद माना है। परन्तु यह वर्गीकरण ठीक नहीं है क्योंकि वास्तविक संयोग तथा राज्य-मण्डल वास्तव में राज्य नहीं है और न संघ ही एक मिश्रित राज्य है। उसका शासन मिश्रित हो सकता है परन्तु राज्य नहीं।

अधिक राज्यों में उत्तराधिकार के नियमों के अनुसार एक ही व्यक्ति उनके शासन का उत्तराधिकारी बन जाता है। यह व्यक्तिगत संयोग कानूनी अर्थ में राज्यों का वास्तविक संयोग नहीं है, किन्तु जैसा जेलिनेक ने कहा है, वैधानिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून की क्रिया से उत्पन्न एक सामान्य आकस्मिक घटना है। व्यक्तिगत संयोग सन्धि-समझौते अथवा निर्वाचन की प्रणाली द्वारा भी स्थापित किया जा सकता है जबकि चुनाव या सन्धि द्वारा एक राज्य के वर्तमान शासक को दूसरे राज्य का भी शासक मान या चुन लिया जाता है। ऐसी दशा में यदि उस शासक की मृत्यु पर उसका उत्तराधिकारी भी सामान्य शासक न चुन लिया जाय तो उस शासक की मृत्यु के साथ ही संयोग का भी अन्त हो जाता है, यदि ऐसा संयोग उत्तराधिकार के कानून के अनुसार बनता है तो उसका अन्त उस समय हो जाता है जब एक राज्य के उत्तराधिकार के कानून के अनुसार ऐसा व्यक्ति शासक बन जाता है, उदाहरणार्थ, एक स्त्री, जो दूसरे राज्य के कानून के अनुसार वहाँ स्वीकृत न हो सके। इस कारण व्यक्तिगत संयोग की एक विशेषता यह है कि वह स्थायी नहीं होता। संयोग में सम्मिलित प्रत्येक राज्य दूसरे से स्वतन्त्र होता है, प्रत्येक का अपना शासन-विधान एवं अपने कानून होते हैं और अपनी नागरिकता एवं स्थानीय संस्थाएं होती हैं। उनके सामान्य शासक के एक राज्य के सम्बन्ध में किये हुए कार्य दूसरे राज्यों में मान्य नहीं होते। वास्तव में एक राज्य के नागरिक दूसरे राज्य में विदेशी माने जा सकते हैं, बल्कि माने भी जाते हैं। यद्यपि शासक एक ही व्यक्ति होता है, परन्तु उसके दो विभिन्न कानूनी व्यक्तित्व होते हैं और अपने संयोग के विभिन्न राज्यों में वह विभिन्न अधिकारों एवं सत्ताओं का उपभोग करता है। एक राज्य में वह स्वेच्छाचारी शासक हो सकता है तो दूसरे राज्य में एक वैधानिक शासक। अपने आन्तरिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में व्यक्तिगत संयोग के प्रत्येक राज्य का अपना भिन्न एवं पृथक् व्यक्तित्व होता है और यह भिन्नता यहाँ तक होती है कि यदि उनमें से एक राज्य दूसरे पर आक्रमण कर दे तो संयोग का विनाश नहीं होता अथवा यदि संयोग का एक राज्य संयोग से बाहर की किसी दूसरी सत्ता के विरुद्ध युद्ध घोषित कर दे तो संयोग के दूसरे राज्यों को युद्ध में सम्मिलित होने की आवश्यकता नहीं होती। यह संयोग अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अन्तर्गत उन राज्यों से पृथक्, जिनसे मिलकर वह बनता है, कोई राज्य नहीं होता। प्रत्येक राज्य का पृथक् अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व होता है और प्रत्येक के विभिन्न वैदेशिक सम्बन्ध तथा राजदूत होते हैं, यद्यपि वे कभी-कभी सामान्य राजदूत भी रख सकते हैं प्रायः रखते भी हैं, परन्तु ऐसी अवस्था में वे इस संयोग के नहीं होते वरन् उन अलग-अलग राज्यों के होते हैं।[1]

व्यक्तिगत संयोगों के उदाहरण

व्यक्तिगत संयोगों के उदाहरण निम्न प्रकार हैं—पंचम चार्ल्स के अधीन सन् १५२० से सन् १५५६ तक स्पेन तथा प्राचीन जर्मन साम्राज्य का संयोग; सन् १६०३ से सन् १७०७ तक स्कॉटलैण्ड तथा इंगलैण्ड का संयोग जिसका ग्रेट ब्रिटेन की युनाइटेड किंगडम में दोनों के सम्मिलित हो जाने से अन्त हुआ। ग्रेट ब्रिटेन तथा हेनोवर (सन् १७१४-१८३७) का संयोग जिसका रानी विक्टोरिया के ग्रेट ब्रिटेन के

---

१. Oppenheim, 'Internationl Law,' Vol. I, p. 124 कुछ लेखक व्यक्तिगत संयोग को मिश्रित राज्य का एक रूप मानते हैं, परन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि ऐसे संयोग में कोई नया राज्य नहीं बनता।

राज्य-सिंहासन पर आरूढ़ हो जाने के बाद अन्त हो गया क्योंकि हैनोवर के उत्तराधिकार के कानून के अनुसार एक स्त्री वहाँ के राज्य-सिंहासन पर आरूढ़ नहीं हो सकती थी। सन् १८१५ से १८९३ तक हॉलैण्ड तथा लक्जेम्बर्ग का संयोग, जिसका अन्त भी उसी प्रकार हुआ, जैसे इंगलैण्ड और हैनोवर के संघ का। सन् १७७६ से सन् १८६३ तक श्लेस्विग-होल्स्टीन तथा डेनमार्क का संयोग; बेल्जियम और कांगो का सम्बन्ध (सन् १८८५ में बर्लिन-सम्मेलन के निश्चयानुसार बेल्जियम के राजा का कांगो के राज्य के साथ केवल वैयक्तिक सम्बन्ध माना गया था)।[1] सन् १९०८ में इस संयोग का अन्त हो गया जब कि बेलजियम ने कांगो को अपने राज्य में मिला लिया। आजकल एक ही व्यक्तिगत संयोग विद्यमान है जो सन् १९१८ में आइसलैण्ड तथा डेनमार्क के बीच दोनों राज्यों की पार्लामेण्टों द्वारा स्वीकृत कानूनों के द्वारा स्थापित किया गया जिसके द्वारा डेनमार्क का राजा दशम क्रिश्चियन आइसलैण्ड का भी राजा स्वीकार किया गया। आइसलैण्ड स्वतन्त्र राज्य है, परन्तु उसकी वैदेशिक नीति का निर्धारण डेनमार्क के द्वारा होता है। आइसलैण्ड तटस्थ राज्य भी घोषित कर दिया गया है। उसका अपना व्यापारिक झंडा है, परन्तु उसकी नौसेना का कोई अपना झंडा नहीं है। दोनों देशों की पार्लामेण्टों की एक संयुक्त परामर्शदात्री समिति स्थापित कर दी गयी है, जो दोनों देशों पर प्रभाव डालने वाले कानून पर विचार करने तथा उनके आपसी झगड़ों का निर्णय करने में पंचायती न्यायालय का काम करती है। यह भी समझौता हो चुका है कि प्रत्येक देश के नागरिकों को दूसरे देश में नागरिकता के पूर्ण अधिकार दिये जाँय।[2]

वास्तविक संयोग

वास्तविक संयोग (Real Union) की स्थापना उस समय होती है जब दो या अधिक राज्यों का केवल एक सामान्य शासक (Common ruler) ही नहीं होता वरन् सामान्य कामों की व्यवस्था के लिए सामान्य वैधानिक अथवा अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था भी होती है। हॉल के अनुसार ऐसा संयोग उस समय कायम होता है, जब वे राज्य एक ही शासक की अधीनता में अटूट सम्बन्ध में आबद्ध हो जाते हैं। जहाँ तक उनका बाह्य विषयों से सम्बन्ध होता है, उन सबके व्यक्तित्व एक ही राज्य में लीन हो जाते हैं; यद्यपि उनके आन्तरिक कानून तथा संस्थाएँ भिन्न हो सकती हैं। इसमें तथा व्यक्तिगत संयोग में यह भेद है कि वास्तविक संयोग के समस्त सदस्य वैधानिक बन्धनों द्वारा अंगागिभाव से आबद्ध होते हैं और वे एक सामान्य सरकार की भी स्थापना करते हैं यद्यपि ऐसी अवस्था में भी वे अपनी स्वतन्त्रता एवं प्रभुत्व बनाये

---

१. सन् १८४८ में प्रशा का राजा न्यूफशैटल का प्रभु था, यद्यपि न्यूफशैटल स्विस राज्य-मण्डल का सदस्य था। रिवियर का कथन है कि सन् १८७७ के बाद ग्रेट ब्रिटेन तथा भारत का सम्बन्ध भी व्यक्तिगत संयोग का था, परन्तु स्पष्ट है कि यह व्यक्तिगत संयोग का उदाहरण नहीं है। व्हीटन ने नार्वे तथा स्वीडन का संयोग भी व्यक्तिगत बताया, परन्तु वह वास्तविक संयोग था।

२. डेनमार्क तथा आइसलैण्ड का जो वर्तमान सम्बन्ध है, वह सामान्यतया व्यक्तिगत संयोग का बतलाया जाता है, परन्तु यह मानने के लिए काफी आधार है कि यह वास्तविक संयोग है।

रखते हैं।[1] यह व्यक्तिगत संयोग की अपेक्षा अधिक स्थायी होता है। सामान्य शासक की मृत्यु से अथवा राजवंश के अन्त से उसका अन्त नहीं होता। कुछ लेखक, जिनमें वेस्टलेक (Westlake) भी एक है, यह मानते हैं कि वास्तविक संयोग स्वयं संयोग के सदस्य-राज्यों से पृथक् एवं भिन्न राज्य है, किन्तु ओपेनहीम, जेलिनेक आदि दूसरे लेखक ऐसा नहीं मानते। उनकी राय है कि यह राज्यों का केवल एक संयोग होता है जिसका एक अकेला अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व होता है। यह राय ठीक मालूम होती है। यह बात निस्सन्देह सत्य है कि व्यक्तिगत संयोग की अपेक्षा इस संयोग में एक सच्चे राज्य के लक्षण कहीं अधिक होते है।[2]

वास्तविक संयोग का सबसे प्रमुख उदाहरण हमें सन् १८६७-१९१९ के आस्ट्रिया-हंगरी के संयोग में मिलता है। सन् १८१५ से सन् १९०५ तक नॉर्वे तथा स्वीडन का संयोग दूसरा उदाहरण है। पहला संयोग एक समझौते के आधार पर था जिसकी शर्तें सन् १८६७ में दोनों राज्यों की पार्लमिन्टों ने एकसे कानून बना कर स्वीकार की थीं। उनका शासक एक ही था (यद्यपि उसकी उपाधियाँ दोनों राज्यों में विभिन्न थीं और उसका राज्याभिषेक प्रत्येक राज्य में अलग-अलग किया गया था); यही नहीं, उनकी राजदूत-सेवा, वैदेशिक नीति, राजस्व, युद्ध-मन्त्रि-मण्डल, चुङ्गी, सीमित प्रयोजनों के लिए उनकी धारा सभा भी एक ही थी, उनकी सेना भी एक थी, एक ही आधार पर संगठित थी और उसे आदेश भी एक ही भाषा में दिये जाते थे और मजदूर-संघ आदि सब सामान्य थे। संयुक्त शासन-प्रबन्ध का खर्च समझौते द्वारा निश्चित अनुपात में दोनों राज्यों के जिम्मे था। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के लिए संयोग एक ही व्यक्तित्व माना जाता था, यद्यपि आन्तरिक शासन-प्रबन्ध के अधिकांश मामलों में दोनों राज्य स्वतन्त्र थे। प्रथम विश्वयुद्ध तथा उसके उपरान्त शान्ति-सन्धि के परिणामस्वरूप ऑस्ट्रिया-हंगरी का संयोग समाप्त हो गया।

जिस समझौते की शर्तों के अनुसार नॉर्वे और स्वीडन ने अपना संयोग बनाया था, वह ६ अगस्त सन् १८१५ को हुआ था। इस समझौते के अनुसार नॉर्वे ने स्वीडन के राजा को अपना शासक और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में उसे अपना प्रतिनिधि स्वीकार किया, यद्यपि नॉर्वे के विधान में यह स्पष्टरूप से घोषित किया गया था कि नॉर्वे 'स्वतन्त्र एवं अविभाज्य साम्राज्य' बना रहेगा। इस समझौते में सामान्य शासक के उत्तराधिकारी के चुनाव की भी व्यवस्था की गयी थी। दोनों राज्यों की सामान्य राजदूत-सेवा थी परन्तु उनके वैदेशिक सम्बन्ध का ऑस्ट्रिया-हंगरी के समान नॉर्वे-स्वीडिश सामान्य मन्त्रि मण्डल द्वारा नियमन नहीं होता था वरन् स्वीडिश वैदेशिक मन्त्री द्वारा

१ जेलिनेक के विचारों में 'वास्तविक संयोग' राज्य-मण्डल का एक विशेष रूप है जिसकी उत्पत्ति एक ही व्यक्ति की अधीनता में सामान्य रक्षा के निमित्त दो या अधिक स्वतन्त्र राज्यों के कानूनी संयोग से होती है। उस एक ही व्यक्ति के पास विधायक सदस्यों की सत्ता रहती है, यद्यपि प्रत्येक सदस्य के पास अपना प्रभुत्व बना रहता है।

२. ओपेनहीम तथा जेलिनेक कहते हैं कि वास्तविक संयोग के सदस्य-राज्य एक-दूसरे के साथ युद्ध नहीं कर सकते, परन्तु यह सन्धि की शर्तों पर निर्भर है। यह कहना अधिक सत्य होगा कि वे अलग-अलग किसी बाहरी राज्य से युद्ध नहीं कर सकते।

होता था जो दोनों राज्यों के वैदेशिक सम्बन्धों की व्यवस्था करता था।[1] दोनों राज्यों के व्यापारिक तथा नौसैनिक झण्डे अलग अलग थे, उनकी आन्तरिक शासन-व्यवस्था भी भिन्न थी। उनकी अपनी अलग-अलग सेना भी थी जो उस सामान्य शासक की अधीनता में थी। ऑस्ट्रिया-हंगरी के संयोग की भाँति उनकी न सामान्य धारासभा थी और न सम्मिलित मन्त्रि-मण्डल ही। जिन सामान्य हितों का सामान्य राजा द्वारा नियमन नहीं हो सकता था, उनकी व्यवस्था दोनों राज्यों की पार्लमेण्टों द्वारा होती थी। सामान्य शासन-प्रबन्ध के विषय इतने कम थे कि कई लेखकों ने इसे व्यक्तिगत संयोग माना है। परन्तु ऐसी मान्यता उचित नहीं क्योंकि इस संयोग का स्थायित्व किसी राजवंश या उत्तराधिकार के नियम पर निर्भर नहीं था। नॉर्वे के बढ़ते हुए असन्तोष तथा बाह्य सम्बन्धों के लिए एक वास्तविक सम्मिलित मन्त्रि-मण्डल और अपनी पृथक् राजदूत-व्यवस्था की उसकी इच्छा के कारण ही यह संयोग सन् १६०५ में समाप्त हो गया और दोनों राज्य एक संधि द्वारा स्थायीरूप से पृथक् हो गये। इस तरह यदि हम डेन्मार्क तथा आइसलैण्ड के संयोग को इस रूप में स्वीकार न करें तो इस समय वास्तविक संयोग का कोई भी उदाहरण नहीं मिलता। वास्तविक संयोग एक अल्पकालिक अन्तरिम व्यवस्था होती है। वे या तो एकसंघीय या एकात्मक राज्य में परिणत हो जाते हैं या, जैसा अधिक सम्भव है, विघटन द्वारा उनका अन्त हो जाता है।

(३) राज्य-मण्डल

राज्य-मण्डल की विशेषता

राज्य के समान राज्य-मण्डल (Confederation) की भी अनेक परिभाषाएँ हैं जिनका यहाँ उल्लेख करने से कोई लाभ नहीं होगा। अधिकांश लेखक इससे सहमत हैं कि राज्य-मण्डल राज्यों का एक संयोग है, जो विशेष उद्देश्यों की सिद्धि के लिए, विशेषत: सामान्य बाह्य सुरक्षा की रक्षा के निमित्त बनाया जाता है। राज्य-मण्डल का प्रत्येक राज्य संघ या एकात्मक राज्य के सदस्यों से भिन्न, अपनी स्वतन्त्रता तथा अपना प्रभुत्व कायम रखता है, केवल जो शासन-सत्ता या जो अधिकार राज्य-मण्डल की सामान्य संस्था को सौंप दिये गये हैं, उनके सम्बन्ध में उसके अधिकार नहीं रहते। केवल मित्रता-सन्धि (Alliance) में बँधे हुए राज्य-समूह तथा राज्य-मण्डल में यह अन्तर है कि राज्य-मण्डल में कोई केन्द्रीय संस्था या संस्थाएँ होती हैं जिनके द्वारा सदस्य-राज्यों की इच्छा अभिव्यक्त होती है। राज्य-मण्डल के उद्देश्य भी कई तरह के होते हैं और उसमें स्थायित्व की इच्छा भी होती है।[2] व्यक्तिगत संयोग में और राज्य

---

१. दोनों राज्यों की सामान्य वैदेशिक नीति होते हुए भी राष्ट्र-परिवार में प्रत्येक राज्य का व्यक्तित्व और उसकी पृथकता बनी रही और कभी-कभी प्रत्येक ने अन्य राज्यों से अलग-अलग, यद्यपि एक समान, सन्धियाँ कीं। अमेरिका के संयुक्त राज्य ने इसी प्रकार अलग-अलग तिथियों पर प्रत्येक राज्य के साथ एकसे समझौते किये थे, यद्यपि वे समझौते नार्वे तथा स्वीडन के राजा के साथ किये गये थे।

२. व्हीटन की राय है कि मित्रता में बँधे हुए राज्यों और राज्य मण्डल में कोई विशिष्ट अन्तर नहीं है (Elements of International Law, p. 75), परन्तु ऑस्टिन का मत है कि सामान्य अथवा निगूढ़ कथनों द्वारा दोनों का भेद

मण्डल मे यह भेद है कि राज्य-मण्डल के सदस्यो को आपस में सम्बन्ध रखने वाला बन्धन केवल सामान्य प्रभु के अतिरिक्त और कुछ भी होता है। राज्य-मण्डल की स्थापना एक लिखित अन्तर्राष्ट्रीय समझौते द्वारा होती है, किसी उत्तराधिकार-कानून की आकस्मिक क्रिया के कारण नहीं। इस प्रकार राज्य मण्डल (Confederation) एक विशुद्ध समझौते के आधार पर खड़ी की गयी वस्तु है ; वह अन्तर्राष्ट्रीय समझौते पर आधारित होता है, वैधानिक कानून पर नहीं , वह राजनीतिक अधिक है, कानूनी कम। उसका अन्त भी व्यक्तिगत सयोग की तरह नहीं होता, वरन् अलग हो जाने, विघटन और सघ-राज्य (Federal Union) अथवा एकात्मक राज्य की स्थापना द्वारा होता है। एकात्मक-राज्य मे तथा राज्य-मण्डल मे यह अन्तर है कि राज्य-मण्डल के विधायक अग केवल मर्यादित प्रशासनीय सस्थाएँ ही नहीं होते, वे प्रभुत्वसम्पन्न और स्वतन्त्र राज्य होते हैं। सघ-राज्य से भिन्न राज्य-मण्डल मे एक प्रभुत्व नही बल्कि अनेक प्रभुत्व होते है, अर्थात् जितने उसमे राज्य होते हैं, उतने ही प्रभुत्व होते हैं। सामान्यतया प्रत्येक राज्य एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति होता है, वह दूसरे राज्यों के साथ शान्ति या युद्ध कर सकता है और उसके इस कार्य का प्रभाव राज्य-मण्डल के दूसरे राज्यों पर नहीं पड़ता। राज्य समूह (Confederation) के दो या अधिक राज्यो के बीच युद्ध छिड़ जाय तो वह अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध माना जाता है, गृह-युद्ध नहीं। परन्तु विशेष समझौते द्वारा राजदूत नियुक्त करने तथा युद्ध एव शान्ति के अधिकार राज्य-मण्डल की केन्द्रीय सत्ता को भी सौंपे जा सकते हैं। अत. एक राज्य-मण्डल के अन्तर्गत राज्यों के मण्डल मे जो सम्बन्ध होते हैं वे सभी राज्य-मण्डलों मे समान नहीं होते। वे प्रत्येक विषय से समझौते के आधार पर होते हैं। अन्त मे , राज्य-मण्डल वास्तविक सयोग से अपने उद्देश्यों और प्रकृति मे भिन्न होता है , उसमे वास्तविक सयोग की अन्य सामान्य संस्थाएँ नहीं होती।

राज्य-मण्डल के कोई नागरिक नहीं होते, जिन्हें वह आदेश दे सके या जिनसे कर्त्तव्यपालन कराया जा सके। राज्य-मण्डल स्वतन्त्र राज्यों का समूहमात्र होता है, इसलिए उसकी शासन-सस्थाओं का नागरिकों से सीधा सम्बन्ध नहीं होता , प्रत्युत विभिन्न राज्यों के माध्यम द्वारा ही वह जनता से अपना सम्बन्ध रखता है।[1] राज्य-मण्डल की इच्छा समस्त सम्मिलित राज्यों की इच्छाओं का योग मात्र होती है। इस इच्छा की अभिव्यक्ति किसी धारासभा के द्वारा निर्मित कानून के रूप में नहीं होती

ठीक-ठीक नहीं बतलाया जा सकता क्योंकि दोनों के अनेक भेद हैं जिनमें से कुछ में एक-दूसरे से बड़ी समानता है (Province of Jurisprudence Determined, pp. 223-224).

१. जेलिनेक ने राज्य-मण्डलों के दो भेद माने हैं—प्रथम, वे जिनमें मण्डल की सरकार के कार्य सदस्य-राज्यों पर बन्धनकारी नहीं होते और द्वितीय, वे जिनमें मण्डल की धारा-सभा केवल प्रतिनिधि-सभा नहीं होती वरन् वास्तविक धारासभा होती है जिसके कार्यों का प्रभाव सदस्य-राज्यों पर नहीं, वरन् उनके नागरिकों पर सीधा पड़ता है। यह दूसरे प्रकार का राज्य-मण्डल सघ के निकट पहुँच जाता है। उत्तरी अमेरिका के दक्षिण राज्यों (सन् १८६१-६५) का उसने इस सम्बन्ध मे उदाहरण दिया है परन्तु उस मण्डल के विधान की परीक्षा करने से प्रकट होता है कि वह नाममात्र का ही मण्डल था और उन राज्यों से, जो संघ कहलाते है, उनमे कोई भेद नहीं था।

प्रयुक्त राजदूत-सम्मेलन, प्रतिनिधि-सम्मेलन अथवा राज्याधिकारियों के सम्मेलन के प्रस्तावों के रूप में होती है। राज्यों के प्रतिनिधि राज्य की ओर से मत देते हैं और प्रायः अपनी-अपनी सरकारों के आदेशानुसार वे अपना मत देते हैं। उन प्रस्तावों का व्यक्तियों पर कोई अनिवार्य प्रभाव नहीं पड़ता अर्थात् जनता उनसे अनिवार्यतः बाध्य नहीं होती ; प्रत्युत वे प्रस्ताव राज्य-मण्डल के अंगों (Organs) के पास भेजे जाते हैं और जब तक उस राज्य की सरकार उन्हें स्वीकार करके कानूनी रूप न दे दे, वे प्रयोग में नहीं आते। राज्य-मण्डल की कांग्रेस या धारा-सभा (Diet) अपने प्रस्तावों को केवल-बल-प्रयोग द्वारा ही कार्य रूप में परिणत कर सकती है, इसके अतिरिक्त उसे कोई दूसरा अधिकार नहीं है। प्राचीन समय में अधिकांश राज्य-मण्डलों के पास न तो कार्यकारिणी व्यवस्था होती थी और न न्याय की मशीनरी और वे अपने आदेशों का मण्डल के सभी राज्यों की अनुमति द्वारा ही पालन करा सकते थे। अतः राज्य मण्डल की प्रकृति से ही यह स्पष्ट है कि इसके सदस्य स्वेच्छानुसार मण्डल से पृथक् होकर मण्डल को भंग कर सकते हैं और मण्डल की सत्ता का किसी पृथक् हुए सदस्य के विरुद्ध कोई कार्यवाही करने का या किसी सदस्य को पृथक् होने से रोकने का कोई वैधानिक अधिकार नहीं होता।

राज्य-मण्डल राज्य नहीं है

राज्य-मण्डल की कानूनी प्रकृति के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। एक वर्ग, जिसमें मालबर्ग, फाशिल, जेलिनेक, वॉन मोहल, लेबेण्ड, ओपेनहीम आदि है, यह मानता है कि राज्य-मण्डल राज्य अथवा फ्रेन्च लेखकों के शब्दों में एक 'नैतिक व्यक्ति' नहीं है। वह राज्यों का एक सामान्य समुदाय है जिसका न कोई कानूनी व्यक्तित्व है और न अपने अधिकार ही हैं, केवल उन अधिकारों को छोड़कर जो समझौते के द्वारा राज्यों ने राज्य मण्डल को सौंप दिये हैं। दूसरे वर्ग के अनुसार जिसमें लेफर, क्लूज़े आदि हैं, यद्यपि राज्य-मण्डल राज्य नहीं है, तथापि विधायक राज्यों के समान उसका निजी अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व है।[1] सत्य तो यह है कि आज पर्यन्त जितने भी राज्य-मण्डल बने, उनमें से किसी में भी एक राज्य के गुण विद्यमान् नहीं थे ; परन्तु इसका कोई कारण नहीं मालूम होता कि उसके सीमित अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व को क्यों न स्वीकार किया जाय। उसका अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व है या नहीं, यह भी समझौते की शर्तों पर निर्भर है।

राज्य-मण्डलों के उदाहरण

इतिहास में राज्य-मण्डलों के उदाहरण भरे पड़े हैं ; क्योंकि राज्यों में आत्म-रक्षा तथा सामान्य हितों की सिद्धि के लिए परस्पर संगठित होकर रहने की प्रवृत्ति उतनी ही मजबूत है, जितनी व्यक्तियों की सामाजिक प्रवृत्ति। प्राचीन यूनानियों में कई राज्य-मण्डल थे जिनमें बोयोटियन (Boeotian), डेलियन (Delian), लिसियन (Lycian), एकियन (Achaean) तथा एटोलियन (Aetolian) लीग अधिक प्रसिद्ध हैं। कुछ मण्डलों में सदस्य-राज्यों के सम्बन्ध अन्य मण्डलों की अपेक्षा अधिक घनिष्ठ थे। एकियन लीग में सामान्य धारासभा, सामान्य न्याय-व्यवस्था और सामान्य

---

१. विलोबी इस कथन से सहमत है कि राज्य-मण्डल राज्य नहीं है परन्तु उसका कोई अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व होता है या नहीं, इस विषय में वह कोई मत प्रकट नहीं करता। (Fundamental Concepts of Public Law, p. 192),

शासन-व्यवस्था को स्थान दिया गया था।[1] उसका सगठन इतना विकसित था कि कुछ लेखक उसे राज्य मण्डल न मान कर सारत सघ-राज्य मानते हैं।[2] इटली में भी राज्य परिषद् तथा राज्य-मण्डल काफी थे ; परन्तु उन्होंने इतना विकसित रूप प्राप्त नहीं किया जितना कि यूनान में। मध्ययुग में अनेक मण्डल स्थापित हुए जिनमें से 'ह्र्रेनिश कान्फेडरेशन' (Rhenish Confederation) (सन् १२५४-१३५०) में ७० राज्य थे। इसके बाद दूसरा प्रसिद्ध राज्य-मण्डल था हेनसियाटिक लीग (Hanseatic League) (सन् १३६७-१७६९) जो आरम्भ में व्यापार-वाणिज्य की प्रगति एव रक्षा के लिए बना था और जो बाद में एक महत्वपूर्ण राजनीतिक सस्था के रूप में विकसित हो गया, जिसने युद्ध किये, सधियाँ की और जिसका योरोप के अन्तर्राष्ट्रीय मामलों पर बड़ा प्रभाव पड़ा। उसकी एक प्रकार की केन्द्रीय धारासभा तथा राज्यों के आपसी झगड़ों का निर्णय करने के लिए एक केन्द्रीय न्याय-व्यवस्था भी थी। पवित्र रोमन साम्राज्य (सन् १५३६-१८०६) उन्नीसवीं सदी से पूर्व स्थापित मण्डलों में सबसे महान् मण्डल था। उसमें कई सौ की सख्या में विविध प्रकार के राज्य, स्वतन्त्र नगर, धार्मिक प्रदेश, पैतृक राजतन्त्र आदि सम्मिलित थे। उसकी सामान्य धारासभा (Diet) और अनेक न्यायालय भी थे।[3] दूसरे उदाहरण हैं, स्विस कॉन फेडरेशन (सन् १२९१-१७९८) तथा (सन् १८०३-१८४८) जिसकी उत्पत्ति तीन छोटे प्रदेशों (Cantons) के सयोग से हुई परन्तु जिसमें बाद में सब शामिल हो गये ; यूनाइटेड नीदरलैण्ड (सन् १५२९-१७४६) डच प्रान्तों में बना था। राज्य-मण्डलों के आधुनिक काल के दो बड़े उदाहरण हैं—सयुक्त राज्य अमेरिका (सन् १७८१-१७८९) और जर्मन राज्य-मण्डल (सन् १८१५-१८६७)। प्रथम राज्य-मण्डल के विधान में उसे 'मित्रता की सुदृढ परिषद्' कहा गया। वह उससे अधिक कुछ सिद्ध नहीं हुआ। उस विधान में यह स्पष्ट कहा गया था कि प्रत्येक राज्य की अपनी प्रभुता, स्वतन्त्रता तथा शासनाधिकार एव सत्ता राज्य मण्डल को नहीं सौंपी गई है, वह सब राज्यों के पास सुरक्षित रहेंगे। उसका एकमात्र ध्येय समस्त राज्यों की आक्रमण से सामान्य रक्षा था। राज्य-मण्डल की सामूहिक इच्छा एक कांग्रेस द्वारा अभिव्यक्त होती थी जो प्रत्येक राज्य के प्रतिनिधियों की सभा थी, और जिसके निर्माण में राज्यों की जनसंख्या का कोई विचार नहीं रखा गया था। उसमें सामान्य शासन-प्रबन्ध तथा न्याय-प्रबन्ध की व्यवस्था नहीं की गई थी। कांग्रेस के प्रस्तावों पर कार्यवाही करना राज्यों पर ही छोड़ दिया गया था। कांग्रेस को इतने कम अधिकार सौंपे गये थे और अपनी इच्छा के अनुसार कार्य कराने की उसकी शक्ति इतनी अपर्याप्त थी कि उसकी सरकार की दुर्बलता के कारण ही उसका पतन हो गया।[4]

जर्मन राज्य-मण्डल (German Bund) १८१५-१८६७

जर्मन राज्य-मण्डल में कई प्रकार के कुल ३८ राज्य सम्मिलित थे—राज्य, स्वतन्त्र नगर, जागीरें आदि। यह 'जर्मनी की आन्तरिक एव बाह्य सुरक्षा, स्वतन्त्रता की रक्षा तथा सदस्य राज्यों को अक्षत बनाये रखने के लिए एक 'स्थायी सस्था' घोषित की गया। मण्डल की सामूहिक इच्छा की अभिव्यक्ति राज्यों के प्रतिनिधियों की एक

---

१. Hart, 'Introduction to Federal Government', p. 32.
२. यथा Freeman (History of Federal Government, 1863).
३. Bryce, 'Holy Roman Empire,' विशेषकर पृष्ठ ३४०-३६५।
४. Democracy in America, Vol, I, p. 168.

धारा-सभा (Diet) द्वारा की जाती थी जिसके अधिवेशन ऑस्ट्रिया की अध्यक्षता में फ्रैंकफोर्ट में होते थे। इसके प्रतिनिधि सम्मिलित राज्यों की सरकारों द्वारा नियुक्त किये जाते थे और वे उनके आदेशानुसार मत देते थे। 'डायट' को जर्मन कॉनफेडरेशन की ओर से राजदूत भेजने तथा राजदूतों को अपने यहाँ रखने, युद्ध एवं संधि करने तथा एक सीमा तक राज्यों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने का भी अधिकार था। प्रत्येक राज्य को अपने प्रतिनिधि दूसरे देशों में भेजने का अधिकार था, वे दूसरे देशों से मित्रता-सन्धि भी करते थे परन्तु शर्त यह थी कि ऐसी संधि मण्डल की अथवा उसके किसी राज्य की सुरक्षा के विरुद्ध न हो। यदि मण्डल युद्ध की घोषणा करता था तो कोई भी सदस्य-राज्य उसकी अनुमति के बिना संधि नहीं कर सकता था। मण्डल का कोई भी राज्य किसी दूसरे सदस्य-राज्य के विरुद्ध युद्ध-घोषणा नहीं कर सकता था और यदि उनमें परस्पर कोई विवाद होता था, तो निपटारे के लिए वह डायट को सौंप दिया जाता था। एक शाही न्यायालय भी था जिसकी अधिकार-सीमा सीमित थी, परन्तु कोई सामान्य शासन-प्रबन्ध नहीं था। डायट के निश्चयों को अमल में लाना प्रत्येक राज्य पर निर्भर था।

मध्य-अमेरिकन राज्य-मण्डल (१६०७-१६१८)

राज्य-मण्डल का एक नया उदाहरण हमें मध्य अमेरिकन राज्य-मण्डल (Central American Federation) में मिलता है। यह पाँच मध्य अमेरिकन राज्यों से मिल कर बना था—गुआटेमाला, कोस्टारिका, हौन्डुरास, निकारागुआ और सेलवेडॉर। यह अन्य राज्य-मण्डलों से अपने उद्देश्यों तथा निर्माण के ढंग में भिन्न था। उसकी स्थापना वाशिंगटन में सन् १६०७ में सात अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों द्वारा हुई थी। उनमें से मुख्य समझौतों द्वारा निम्न बातें निश्चित की गयीं—

(१) कारटेगो में एक मध्य-अमेरिकन न्यायालय स्थापित हो और दस वर्ष तक दो या अधिक राज्यों के बीच जो विवाद किसी प्रकार तय न हों, इस न्यायालय से तय किये जायें; (२) एक केन्द्रीय अमेरिकन ब्यूरो की स्थापना तथा (३) कम से कम ५ वर्ष तक वार्षिक सम्मेलनों की व्यवस्था। दस वर्षीय अवधि की समाप्ति के बाद सन् १६१८ में न्यायालय के इस निर्णय के फलस्वरूप कि निकारागुआ ने सन् १६१४ में अमेरिका के संयुक्तराज्य से संधि करके अन्य मध्य-अमेरिकन राज्यों के अधिकारों का उल्लंघन किया है, इस राज्य-मण्डल का अन्त हो गया।[1]

इस समय जो व्याख्या हमने राज्य-मण्डल की की है उसके अनुसार कोई राज्य-मण्डल दुनिया के किसी भी भाग में नहीं है अनुभव ने इस प्रकार के संयोग की दुर्बलता प्रमाणित कर दी है। राज्य-मण्डल राजनैतिक विकास में एक अस्थायी मंजिल है। जो राज्य-मण्डल भूतकाल में हुए हैं वे सब उनके एक संघ (Federal Union) में या एकात्मक राज्य में परिणत हो जाने के कारण मिट गये हैं।[2]

---

१. Munro : The Five Republics of Central America, p. 218 ff. Hicks : 'The New World Order' pp 87 ff. 171 ff., Buell : 'International Relations', pp. 202 ff., 531 ff.

२. पिछले वर्षों में डेनमार्क, नॉर्वे, स्वीडन, फिनलैण्ड तथा आइसलैण्ड का किसी प्रकार का राज्य-मण्डल अथवा संघ निर्माण करने की चर्चा चली थी। ग्रेट ब्रिटेन तथा उसके स्वायत्तशासी डॉमीनियनों के संयोग को भी किसी मात्रा में राज्य-

(४) संघ-राज्य (Federal Unions)

संघ-राज्यों के उदाहरण

जब अनेक राज्य एक सामान्य प्रभुत्व के अधीन अपने सामान्य शासन-प्रबन्ध के लिए एक सामान्य केन्द्रीय शासन (Common Central Government) की स्थापना करते हैं या जब कुछ प्रान्त या अधीन राज्य सर्वोच्च अधिकारी के द्वारा स्वायत्त-शासित प्रान्त बना दिये जाते हैं, तब सघ राज्य की स्थापना हो जाती है। सन् १८६३ में लिखते हुए अंग्रेज इतिहासकार फ्रीमैन ने कहा है कि इतिहास में सबसे प्रसिद्ध चार सघ राज्य थे। प्राचीन-कालीन यूनान के उत्तरकाल का एकियन लीग, सन् १२९१ से आज तक का स्विस राज्य-मण्डल, सन् १५७९ से १७९५ तक नीदरलैण्ड के सयुक्त प्रान्त और सयुक्त राज्य अमेरिका (सन् १७८९-१८६३)। प्रथम तथा अन्तिम संघ वास्तव में पूर्णरूपेण विकसित सघ राज्य थे, यद्यपि कई प्राचीन राज्य-मण्डल भी ऐसे थे जिनमें संघ की भावना उतनी ही पूर्ण थी जितनी एकियन लीग में थी।[1]

फ्रीमैन के 'सघ शासनों के इतिहास' के प्रकाशन के बाद संसार के अनेक भागों में सघ-राज्य स्थापित हो गये हैं। इनमें सबसे महत्वपूर्ण हैं—कनाडा (सन् १८६७); जर्मनी (सन् १८७१) जिसके विधान में सन् १९१९ में काफी संशोधन हो गया, स्विस गणतन्त्र (सन् १८७४), ब्राजील (सन् १८९१); ऑस्ट्रेलिया (सन् १९००)[2]; ऑस्ट्रिया का गणतन्त्र (सन् १९२०)।[3]

संघ-राज्य की प्रकृति

इतिहासकार फ्रीमैन ने सघ-शासन (Federal Government) तथा सघ-राज्य (Federal State) शब्दों का प्रयोग बिना उनमें भेद माने किया है। उसका कथन है कि सघ-शासन शब्द का प्रयोग किसी भी ऐसे सघ के लिए किया जा सकता है, जिसमें उसके सदस्य-राज्यों का सम्बन्ध मित्रता-सम्बन्ध से, चाहे वह कितना ही घनिष्ठ हो, अधिक हो और उन्हें अपने आन्तरिक शासन-प्रबन्ध में स्थानीय स्वशासन से जितनी स्वतन्त्रता का अभिप्राय है उससे अधिक मात्रा में स्वतन्त्रता भी हो।[4] उसने यह भी लिखा है कि एक संघीय राष्ट्र-मण्डल (Federal Commonwealth) अपने पूर्णरूप में वह है, जो अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध की दृष्टि से एक राज्य माना जाता है;

मण्डल बताया जाता है। परन्तु जिस अर्थ में हमने राज्य-मण्डल शब्द का प्रयोग किया है उसमें यह राज्य मण्डल नहीं है। इसी प्रकार फाडिल ने रूसी सोवियत गणतन्त्रों के सघ को भी राज्य-मण्डल का एक रूप माना है।

१ History of Federal Government, p. 7.

२. फॉडिल कनाडा और ऑस्ट्रेलिया को सघ नहीं मानता क्योंकि उनका अपने वैदेशिक सम्बन्धों पर पूर्ण अधिकार नहीं है। जिस समय यह ग्रन्थ लिखा गया उस समय ऐसा नहीं था परन्तु अब तो सभी स्वायत्तशासी डॉमिनियन पूर्णरूप में स्वतन्त्र हैं और यथार्थ में सघ-राज्य हैं।

३. मेक्सिको के सघ की स्थापना सन् १८५७ में हुई थी और अर्जेण्टाइना की सन् १८६० में। बोलिविया, इक्वेडॉर, कोलम्बिया, चिली तथा पीरू अब भी एकात्मक केन्द्रीभूत गणतन्त्र हैं।

४. 'History of Federal Government', pp. 2-3,

परन्तु जहाँ तक उसके आन्तरिक शासन का सम्बन्ध है, उसमें अनेक राज्य होते हैं।[1] संघ में एकात्मक तथा संघीय दोनों ही सिद्धान्त काम करते हैं। वह एकात्मक राज्य तो इस अर्थ में होता है कि समस्त राष्ट्रीय प्रदेश पर उसकी केन्द्रीय शासन-सत्ता का विस्तार होता है; वह संघ इस अर्थ में है कि उसके अन्तर्गत राज्यों तथा संघ-राज्य के बीच शासन-सत्ता एवं अधिकारों का विभाजन या वितरण होता है। यहाँ यह उल्लेख करना आवश्यक है कि वर्तमान समय में संघ-राज्यों में एकात्मक सिद्धान्त की ओर प्रवृत्ति पाई जाती है, अर्थात् संघ-राज्य केन्द्रीकरण की प्रक्रिया द्वारा अधिकाधिक एकात्मक तथा न्यूनातिन्यून संघीय बनते जा रहे हैं।

सामान्यतया संघ-राज्य के विशेष लक्षण इस प्रकार हैं—प्रथम, ऐसे राज्यों, प्रदेशों एवं प्रान्तों का अस्तित्व, जिनका अपना शासन-विधान या सरकारें हों और जो अपने एक मर्यादित क्षेत्र में सर्वोच्च हों। दूसरे, कुछ विशेष सामान्य कार्यों के लिए समस्त राज्यों का एक सामान्य शासन-विधान और शासन। राज्य-मण्डल (Confederation) तथा संघ-राज्य (Federation) में अन्तर यह है कि राज्य-मण्डल के अन्तर्गत राज्य स्वाधीन रहते हैं और वे केवल आत्मरक्षा एवं सुरक्षा के लिए परस्पर मिल कर व्यवस्था करते हैं, परन्तु संघ-राज्य उन विभिन्न राज्यों के विलीन हो जाने से बनता है जो आपस में मिल कर सामान्य हित के मामलों का एक केन्द्रीय सरकार द्वारा शासन-प्रबन्ध करते हैं। संघ-राज्य एक प्रकार का मिश्रित राज्य होता है, अन्तर्राष्ट्रीय समझौते द्वारा संगठित राज्यों का समूहमात्र नहीं। संघ की स्थापना केवल समझौते द्वारा नहीं, प्रत्युत शासन-विधान द्वारा होती है। ऐसा भी कहा जाता है कि संघ विविध राज्यों के बीच किये हुए अन्तर्राष्ट्रीय समझौते पर आधारित होता है। लेफर, जेलिनेक आदि दूसरे लेखक यह मानते हैं कि संघ-राज्य का विकास दो स्थितियों में होकर होता है—एक अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति और दूसरी वैधानिक स्थिति। उनके अनुसार संघ की स्थापना (वैधानिक कार्य) के पहले 'संघ की सन्धि' (Treaty of Union) (अन्तर्राष्ट्रीय कार्य) होती है। इस प्रणाली का प्रयोग वास्तव में हो सकता है और नहीं भी हो सकता है। इस प्रणाली का सन् १८६७ के उत्तरी जर्मन संघ-राज्य की स्थापना के सम्बन्ध में प्रयोग किया गया था, क्योंकि उसका प्रारम्भ अगस्त ६, सन् १८६६ की सन्धि के अनुसार हुआ था जिसके द्वारा उत्तरी जर्मन राज्यों ने संघ-राज्य की स्थापना का निश्चय किया। इसके बाद उन्होंने संघ का विधान बनाया। परन्तु जिन राज्यों ने मिल कर अमेरिका के संयुक्त राज्य को संघ-राज्य का रूप दिया, उन्होंने इस विधि से कार्य नहीं किया था। संयुक्त राज्य अमेरिका का शासन-विधान बनाने से पूर्व उनमें परस्पर कोई सन्धि नहीं हुई थी और न इस विधि के अनुसार ब्राजील का ही संघ-राज्य बना था। ब्राजील प्रारम्भ में एकात्मक राज्य था। उसे केन्द्रीय सरकार ने अपनी ओर से ही विकेन्द्रीकरण करके संघ-राज्य का रूप दे दिया। इनमें से कोई भी संघ अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति से नहीं गुजरा।

---

१. उपर्युक्त, पृ० ६१। जेलिनेक ने संघ की व्यवस्था इस प्रकार की है—"कई राज्यों से मिलकर बना हुआ एक प्रभुत्वसम्पन्न राज्य जिसकी सत्ता उसके विधायक राज्यों से प्राप्त होती है जो इस प्रकार आपस में सम्बद्ध हैं कि उनकी एक राजनीतिक इकाई बन जाती है। वह एक राज्यों का समुदाय है जिसके परिणामस्वरूप उसमें सम्बद्ध राज्यों से ऊँची प्रभुत्व-शक्ति है, यद्यपि उन राज्यों का भी उसमें साझा है।"

अपने बाह्य सम्बन्धों में संघ वास्तविक संयोग (Real Union) से मिलता-जुलता है और आन्तरिक मामलों में यह राज्य-मण्डल से मिलता है। लेखक हॉल का यह मत है कि अन्तर्राष्ट्रीय पक्ष में, संघ-राज्य की केन्द्रीय सरकार वैदेशिक नीति का नियमन करती है और राज्यों को संघ से पृथक् होने का अधिकार नहीं होता।[1] संघ-राज्य तथा राज्य-मण्डल में प्रमुख एवं आधारभूत अन्तर संघ तथा उसके विधायक राज्यों के पारस्परिक सम्बन्ध की प्रकृति तथा उसकी अवस्था है, वे दोनों इस बात में भी भिन्न हैं कि संघ में एक केन्द्रीय शासन होता है जो केवल वैदेशिक सम्बन्ध का ही नियमन नहीं करता, वरन् सामान्य आन्तरिक मामलों की व्यवस्था में भी उसे महत्वपूर्ण अधिकार रहते हैं। संघ-राज्य में उसके विधायक अंग एक ही प्रभु के अधीन होते हैं और सामूहिक रूप से उनका एक ही संयुक्त राज्य होता है। राज्य मण्डल में विभिन्न अंगों का सामान्य प्रभु नहीं होता; प्रत्येक राज्य का पृथक् प्रभुत्व होता है। संघ-राज्य में एक वास्तविक राज्य, एक केन्द्रीय सरकार और कतिपय स्थानीय सरकारें होती हैं, अर्थात् राज्य के संगठन का उतना ही विस्तार होता है जितना केन्द्रीय सरकार के संगठन का होता है। इसके विपरीत राज्य-मण्डल में उतने ही राज्य होते हैं जितने उसके विधायक सदस्य।

संघ-राज्यों के भेद

फ्रीमैन, टॉकविल, मिल, ब्लैंटन, फेडरलिस्ट के लेखक आदि कुछ विद्वान् संघ-राज्यों को दो प्रकार के मानते हैं, एक पूर्ण संघ-राज्य (Perfect Federal Union) और दूसरा अपूर्ण संघ-राज्य (Imperfect Federal Union)। इन दोनों में केवल मात्रा का ही अन्तर है। पूर्ण संघ-राज्य में राज्य-मण्डल के कोई तत्व नहीं होते। उसमें केन्द्रीय शासन वैदेशिक नीति एवं अन्तर्राष्ट्रीय मामलों तथा सामान्य हित के कुछ निर्दिष्ट आन्तरिक मामलों में पूर्णरूप से सर्वोच्च सत्ताधारी होता है। उसका संघ के समस्त नागरिकों पर अपना सीधा अधिकार होता है और उसे अपनी अभिव्यक्त इच्छा तथा अपने निर्णय के अनुसार व्यवहार कराने की पूर्ण क्षमता होती है। एक जर्मन लेखक ब्री (Brie) ने इसे 'आदर्श संघ-राज्य' माना है। अपूर्ण संघ-राज्य में राज्य-मण्डल के कुछ अवशेष रहते हैं और उसका संगठन एकात्मक राज्य की अपेक्षा राज्य-मण्डल के समान अधिक होता है; उसमें संघ के विधायक राज्यों को विदेशी मामलों में कुछ मर्यादित अधिकार रहते हैं, केन्द्रीय सरकार के कानूनों पर राज्यों की सरकारें अमल करवाती हैं और उसकी सत्ता केवल मात्र इतनी रहती है कि वह संघीय सत्ता की उचित सीमा के अन्दर राज्यों की सरकारों के लिए आदेश जारी कर सकती है जिसका पालन करना राज्यों की सरकारों का कर्तव्य है।[2] सन् १८७१-१९१६ का जर्मन साम्राज्य इसी प्रकार के अपूर्ण संघ-राज्य का उदाहरण है। जर्मन साम्राज्य के अन्तर्गत जो राज्य थे उन्हें राजदूत नियुक्त करने तथा सैनिक प्रशासन के सीमित अधिकार थे और साम्राज्य के कानूनों को व्यवहार में लाने का दायित्व राज्यों पर ही था। कुछ राज्यों को कुछ विशेषाधिकार भी प्रदान किये गये थे, जिनसे उन्हें उनकी अनुमति के बिना वंचित नहीं किया जा सकता था। इस प्रकार जर्मन-साम्राज्य में अन्य संघों की

---

१. International Law, p. 26 जेलिनेक ने कहा है कि संघ के विधायक राज्यों में उससे अलग होने के अधिकार का अभाव संघ की कानूनी प्रकृति से ही उत्पन्न है।

२. Freeman, 'History of Federal Government', p. 11.

अपेक्षा राज्य-मण्डल की विशेषताएं अधिक थी। सन् १६१६ के विधान के अनुसार जर्मन संघ-राज्य का पुनर्संगठन इस प्रकार हो गया कि यह नहीं कहा जा सकता कि वह एक संघ-राज्य रहा भी है या नहीं। केवल इतना ही नहीं हुआ कि उसके अन्तर्गत जो राज्य थे उनका नाम राज्य (State) नहीं रहा, वे अब प्रदेश (Lander) कहलाने लगे और उनके अधिकार एवं कार्यक्षेत्र भी बहुत सीमित कर दिये गये हैं। अब उन्हें अपनी शासन-पद्धति एवं विधान का निर्धारण करने का स्वतन्त्र अधिकार नहीं है; पहले जो व्यापक अधिकार जर्मन-साम्राज्य के अन्तर्गत राज्यों को थे, वे अब जर्मनी की केन्द्रीय सरकार (Reich) को हैं। जो थोड़े-बहुत अधिकार उनके पास हैं, उनके सम्बन्ध में भी केन्द्रीय सरकार को बन्धनकारी वैधानिक सिद्धान्तों को स्थिर करने का अधिकार है, वे अपने मताधिकार का भी नियमन स्वतन्त्रता से नहीं कर सकते और केन्द्रीय सरकार तथा उसके प्रदेशों के बीच शासन के वितरण में केन्द्रीय सरकार अपनी इच्छानुसार परिवर्तन कर सकती है। इस प्रकार संघ-राज्य के अंगों को जो स्वशासन का अधिकार होना चाहिए वह उन्हें प्राप्त नहीं है। जैसा कि पूर्व शासन-विधान के अन्तर्गत होता था, केन्द्रीय सरकार अपनी सत्ताओं के प्रयोग के लिए स्थानीय सरकारों पर बहुत कुछ निर्भर है; परन्तु स्थानीय सरकारें, जब उन्हें यह कर्त्तव्य सौंप दिया जाता है, केन्द्रीय सरकार के नियन्त्रण में रहती हैं। जब अमेरिकन मानदण्ड के अनुसार हम इस सम्बन्ध में विचार करते हैं, तो जर्मन संघ हमें एकात्मक राज्य का रूप ही दिखाई देता है। उच्च-कोटि के विकसित राज्य-मण्डल के लक्षणों से युक्त संघ राज्य की स्थिति में जर्मन राज्य अब केन्द्रीयकृत एकात्मक राज्य हो गया है।[१] आस्ट्रिया के नये संघीय गणतन्त्र में भी जर्मनी की भाँति ही संघ की अपेक्षा एकात्मक राज्य के लक्षण अधिक हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका में भी, पुराने जर्मन साम्राज्य की भाँति, राज्य-मण्डल के कुछ लक्षण हैं। यह बात सबसे प्रथम मेडिसन ने बतलाई थी। उसका यह कथन था कि संयुक्त राज्य के शासन विधान की स्वीकृति तथा उसके संशोधन की विधि एवं सीनेट का संगठन सिद्धान्त में राज्य-मण्डल की विधियों के समान है, परन्तु शासन के अधिकारों के स्रोत, सैन्य-संगठन तथा नियमों का कार्यरूप में परिणत करने की दृष्टि से संयुक्त राज्य-संघवत् (Federal) है।[२]

अपनी स्वाभाविक स्थिति में संघ-राज्य की सरकार का प्रभाव सीधा नागरिकों पर होता है, विधायक राज्यों पर नहीं। अतः नागरिकों को उसके आदेश स्थानीय सरकारों द्वारा नहीं दिये जाते। राज्य-मण्डल के विपरीत संघ-राज्य के अन्तर्गत सामान्य अथवा सार्वदेशिक तथा विशिष्ट या स्थानिक दो प्रकार की नागरिकता

---

१. जर्मन टीकाकार इस प्रश्न पर अपनी राय में बराबर विभाजित हैं कि सन् १६१६ के विधान के अनुसार जर्मनी वास्तव में एक संघ है या एकात्मक राज्य। देखिये, Brunet, 'The New German Constitution', p. 70 तथा Oppenheim, 'The Constitution of the German Republic' p. 300

लेखक ने जर्मनी के संघीय शासन का यह वर्णन द्वितीय विश्व-युद्ध के पहले लिखा था।

२. The Federalist No. 39 जिसमें मेडिसन ने अमेरिका के संयुक्त राज्य की उत्पत्ति तथा उसकी रचना बतलाई है और उसकी सरकार के कार्य में 'संघीय' तथा 'राष्ट्रीय' तत्वों में भेद किया है।

होती है। यदि सघ-राज्य के अङ्गों मे परस्पर सघर्ष छिड़ जाय तो उसे अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध नही, गृह-युद्ध (Civil War) कहा जायगा। संघ-राज्य के अन्तर्गत राज्य एकतन्त्र या गणतन्त्र अथवा दोनों प्रकार के हो सकते हैं, अथवा वे केवल प्रान्त, प्रदेश अथवा औपनिवेशिक अधीन राज्य हो सकते हैं। पुराना जर्मन सघीय साम्राज्य कई प्रकार के राज्यों से बना था, परन्तु उसके वर्तमान विधान के अन्तर्गत उसके समस्त राज्यों का गणतन्त्र होना आवश्यक है। स्विट्जरलैण्ड प्रदेशो या जिलो का एक संघ है जिनमे से कुछ का संगठन प्रतिनिधि-सत्तात्मक आधार पर और दूसरो का विशुद्ध प्रजातन्त्र के आधार पर है। सयुक्त राज्य अमेरिका के सघ-राज्य में कुछ राज्य गणतन्त्र हैं जो राज्य कहलाते हैं और कुछ अधीन राज्य हैं, जिन्हे 'प्रदेश' (Territories) कहा जाता है। प्रत्येक राज्य समानता के आधार पर सघ-राज्य का सदस्य है, किसी को विशेषाधिकार प्राप्त नही है, जैसा पुराने जर्मन साम्राज्य में था। कनाडा के संघ-राज्य के अन्तर्गत राज्य केवल प्रान्त हैं, उन्हें एकात्मक राज्य के प्रान्तो मे अधिक स्वराज्य के अधिकार प्राप्त है। आस्ट्रेलिया तथा लेटिन अमेरिका के सघो के अन्तर्गत राज्य 'राज्य' (States) कहलाते हैं।

क्या सघ-राज्य के सदस्य राज्य है ?

जिन समुदायो (Communities) को मिला कर सघ बनाये जाते हैं, वे वास्तविक अर्थ मे राज्य नही होते, यद्यपि अनेक सघ-राज्यो मे ऐसे सदस्यों को राज्य ही कहा जाता है। उनमे से अधिकाश पहले स्वाधीन और प्रभुत्वसम्पन्न राज्य थे और जब वे सघ मे सम्मिलित हो गये, तब भी उन्होने अपना नाम राज्य, अपना बहुत कुछ गौरव और यही नहीं, प्रभुत्वसम्पन्न राज्यों के कुछ अधिकारों को भी कायम रखा। परन्तु, वास्तव में सघ मे सम्मिलित हो जाने से उनकी प्रभुता नष्ट हो गयी और उसके साथ ही उनका वह विशिष्ट गुण भी नष्ट हो गया जिससे राज्य, राज्य बनता है। सघ मे अपने पृथक् अस्तित्व को विलीन कर देने से वे नवीन राज्य के प्रदेश-मात्र ही बन गये, यद्यपि उनको किसी सीमा तक स्थानीय स्वायत्त शासन के अधिकार रहे और उनका कुछ राजनीतिक महत्त्व भी रहा जो एकात्मक राज्य के प्रान्तो का नहीं होता। उनको अपना निजी शासन विधान तथा अपनी निजी राजनीतिक व्यवस्था रखने और सामूहिक इच्छा के निर्माण मे भाग लेने का अधिकार होता है, जो एकात्मक राज्य के प्रान्तो को नहीं होता। इस प्रकार सघ के सदस्यों (Component Parts) की स्थिति न तो राज्य-मण्डल के राज्यों की भाँति है और न एकात्मक राज्य के प्रान्तों की तरह।[1] दुर्भाग्य से राज्यविज्ञान मे ऐसा कोई समुचित शब्द नही है, जिसका प्रयोग इस स्थिति के लिए किया जा सके।[2]

अभी तक यह मत प्रकट किया गया है कि संघ मे विधायक राज्य वास्तव मे

---

१. लेफर सघ के सदस्यों को वास्तविक राज्य नहीं मानता, परन्तु वह उन्हें एकात्मक राज्यों के प्रान्तो के समान भी नही मानता। उसने बोरेल के इस मत की आलोचना की है कि संघ के सदस्य राज्यो और एकात्मक राज्य के प्रशासन सम्बन्धी विभागो मे कोई कानूनी अन्तर नहीं है।

२. बर्गेस ने अपनी पुस्तक (Political Science and Constitutional Law) में इस स्थिति को प्रकट करने कॉमनवेल्थ शब्द के प्रयोग की सलाह दी है। उसने स्वय भी इसी शब्द का प्रयोग किया है, परन्तु राजनीतिक लेखक इस शब्द को

राज्य नहीं है, परन्तु बहुत से लेखक, विशेषकर जर्मन, इस मत को नहीं मानते। वे कहते हैं कि संघ-राज्य के अन्तर्गत जो सदस्य होते हैं, उनमें प्रभुत्व को छोड़ राज्य के सभी गुण होते हैं, अत. उनको राज्य ही मानना चाहिए, न कि प्रदेश अथवा प्रान्त। जो जर्मन विचारक इस मत को मानते हैं उनमें लेबेण्ड, जेलिनेक, ब्री तथा रोमिन आदि प्रमुख हैं। लेबेण्ड ने पूर्व जर्मन साम्राज्य के अंगों को राज्य माना है, यद्यपि वह यह स्वीकार करता है कि उन्हें प्रभुत्व प्राप्त नहीं था। उसका सिद्धान्त इस विचार पर आधारित था कि राज्य की प्रमुख विशेषता प्रभुत्व नहीं, आदेश करने तथा उसका पालन कराने की शक्ति है और चूंकि संघ के प्रत्येक सदस्य को ऐसा अधिकार प्राप्त होता है अतः वह राज्य कहलाने का अधिकारी है। परन्तु इस पर यह कहा जा सकता है कि यदि राज्य की समुचित कानूनी कसौटी आदेश देने तथा उसके पालन कराने की सत्ता मान ली जाय, तो हमें यह मानना पड़ेगा कि एक प्रान्त या म्यूनिसिपैलिटी को भी राज्य कहलाने का अधिकार है। केवल स्थानीय स्वशासन तथा कुछ कार्यों में स्वाधीनता के अधिकार—स्थानीय संस्था में इच्छा की अभिव्यक्ति तथा आदेश देने और उसका पालन कराने की सत्ता होने से ही राज्य नहीं बनता। यदि प्रभुत्वहीन समुदाय को ही राज्य माना जाने लगे तो एक राज्य तथा जिले या प्रान्त में अन्तर रह ही नहीं जाता। यदि आदेश देने तथा उसके पालन कराने की सत्ता से यह प्रयोजन है कि वह सत्ता मौलिक, अप्राप्य एवं स्वतन्त्र सत्ता है तब असन्दिग्ध रूप से वह प्रभुत्व है और यह सत्ता संघ-राज्य के अन्तर्गत राज्यों में नहीं होती।[1] संघ-राज्य के सदस्य को संघ में अपनी स्थिति के निर्णय का अधिकार नहीं होता और न उन्हें परस्पर अपने सम्बन्धों तथा संघ के साथ जो सम्बन्ध हैं, उनमें परिवर्तन करने का अधिकार ही होता है, न वे अपनी अधिकार-सीमा या कार्यक्षेत्र की सीमा ही निर्धारित कर सकते हैं। यह सत्ता उनकी अधिकारसीमा के बाहर है और जिसमें वह निहित है, वही राज्य है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में उनका कोई व्यक्तित्व नहीं होता और जहाँ तक आन्तरिक व्यवस्था से सम्बन्ध है, वे कानूनी दृष्टि से स्वशासित प्रदेश (Self-governing Territorial Units) के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं। कानूनी दृष्टि से इन स्वशासित तथा दूसरे प्रशासन सम्बन्धी जिलों एवं प्रदेशों में बहुत कम अन्तर होता है। अनेक अमेरिकन राज्यों के शासन-विधानों द्वारा नगरों तथा स्थानीय संस्थाओं को एक बड़ी मात्रा में स्वराज्य प्राप्त है; अत. जर्मन सिद्धान्त के अनुसार वे भी राज्य माने जा सकते हैं। संघ-राज्यों के निर्माण की ऐतिहासिक रीति या पद्धति चाहे जो रही हो, जैसे लिंकन ने अमेरिकन संघ के विषय में बतलाया है, चाहे वे अपने अवयवों से पुरातन हों या इसके विपरीत उनके अवयव पुरातन हों, परन्तु वे अवयव समूचो जनता की इच्छा से बने हैं और उस इच्छा के अधीन हो उनका अस्तित्व है। यदि उनका अस्तित्व संघ की स्थापना से पहले भी था तो उनका उस कानून या समझौते द्वारा, जिसके द्वारा वह स्वयं (संघ-राज्य) अस्तित्व में आया, पुनर्निर्माण किया गया और जो शक्तियाँ उनके पास हैं वे उन्हें दुबारा मिली।[2]

---

१. तुलना कीजिये, Burgess in the Political Science Quarterly, Vol III. p. 128; Willoughby, 'The Fundamental Concepts of Public Law' p. 254 ff.

२. स्वर्गीय वुडरो विलसन ने यह तो माना कि संघ के सदस्य-राज्यों का सामान्यतया अपने कानून के सम्बन्ध में आत्मनिर्णय का अधिकार नहीं रहा और उनके क्षेत्र संघ-राज्य की सत्ता द्वारा मर्यादित हैं, परन्तु उसने कहा कि सदस्य-राज्य

कई लेखकों ने संघ-राज्य तथा उसके अंगो के पारस्परिक सम्बन्धों पर विचार करते हुए प्रत्येक अंग मे प्रभुत्व का एक अश माना है। इस सिद्धान्त का आशय यह हुआ कि प्रभुत्व विभाज्य है और उसका इच्छानुसार वितरण किया जा सकता है। इस सिद्धान्त के अनुसार संघ उन विषयो मे प्रभुत्वसम्पन्न है जो उसे सौंप दिये गये हैं तथा वे अंग उन विषयों मे प्रभुत्वसम्पन्न हैं, जो उनको सौंपे गये हैं। दूसरे शब्दों में, यों कहिये कि प्रत्येक अपने वैधानिक क्षेत्र मे प्रभुत्वसम्पन्न है। उनका यह तर्क है कि यदि सघ के अंग प्रभुत्वसम्पन्न हैं तो संघ केवल एक राज्य-मण्डल ही है और इसके विपरीत यदि वे प्रभुत्वहीन है, तो राज्य एकात्मक राज्य है। परन्तु क्योंकि वे न तो पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न हैं और न पूर्ण प्रभुत्वहीन ही, अत वे आंशिक रूप से प्रभुत्व-सम्पन्न और आंशिक रूप से प्रभुत्वहीन हैं। इस विचार का जर्मनी मे वेज, मेयर, गूल्जे, ब्लुंटश्ली, गरबर, वॉन मोहल तथा ट्रीट्श्के ने, फ्रान्स में टॉकविल ने बेल्जियम में रिविियर ने, इंगलैण्ड मे फ्रीमेन तथा ओपेनहीम ने, अमेरिका मे केंट, स्टोरी, कूले आदि ने समर्थन किया है। इस विचार का संयुक्त राज्य अमेरिका की सर्वोच्च न्याय-संस्था 'सुप्रीम-कोर्ट' ने भी सदा समर्थन किया है।[1] हम इस सिद्धान्त का 'प्रभुत्व' पर विचार करते समय विवेचन कर चुके हैं। उस समय हमने यह विचार प्रकट किया था कि प्रभुत्व एक इकाई है, उसका विभाजन नहीं हो सकता और सघ-राज्य में जिस वस्तु का विभाजन होता है, वह शासन-सत्ता (Powers of Government) से अधिक कुछ नहीं है। प्रभुत्व सघ-राज्य मे अर्थात् जो राज्य राज्यो के सघ मे बनता है उसमे निहित है और उसके अंगो के पास जो सत्ता होती है वह कुछ मामलो के सम्बन्ध मे केवल स्थानीय स्वराज्य ही है। आज के राज्य-वैज्ञानिकों तथा कानून-विशारदों का एक सुविशाल बहुमत इसी विचार का मानता है।

संघ-राज्यो का निर्माण कैसे होता है

सघ राज्यों का निर्माण दो मे से एक प्रकार से होता है—एक विधि तो यह है और यही सामान्य विधि है कि कुछ प्रभुत्वसम्पन्न तथा स्वतन्त्र राज्य स्वेच्छा से एक होकर संघ का निर्माण करते हैं और दूसरी विधि विकेन्द्रीकरण की है, जिसके अनुसार केन्द्रीय सरकार द्वारा एकात्मक राज्य के विभिन्न प्रान्त या प्रदेश स्वशासित राज्य बना दिये जाते हैं तथा राज्य की क्षमता एव सत्ताएँ उनके साथ बाँट ली जाती हैं और एकात्मक राज्य संघ राज्य बन जाता है। ऐसी अवस्था मे एकात्मक राज्य का सघ-राज्य मे परिवर्तन उसके अङ्गो के कार्य का परिणाम नहीं, वरन् एकात्मक राज्य की

फिर भी राज्य हैं क्योंकि उनकी सत्ता मौलिक है, प्राप्त नहीं क्योंकि उनके राजनीतिक अधिकार उनके कानूनी कर्त्तव्य नहीं है और उनके आदेश के पीछे उनके कानूनो द्वारा स्वीकृत दण्डों का पूरा बल है। परन्तु हम देख चुके हैं कि उनकी सत्ता मौलिक और अप्राप्त नहीं है और फिर वह कनाडा के सदस्य राज्यों के विषय मे क्या कहता जिनकी सत्ता प्रदत्त है?

१. License Cases (5. How) मे न्यायालय के निर्णय को देखिये जिसमें सघीय तथा राष्ट्रों की सरकारों के विषय मे कहा गया है कि वे पृथक् और सुनिश्चित प्रभुत्वसम्पन्न इकाइयाँ हैं जो अपने-अपने क्षेत्र मे अलग और स्वतन्त्ररूप से कार्य करती हैं। तुलना कीजिये, Lowell, 'Essays on American Government.' प्रभुत्व शीर्षक वाला अध्याय।

केन्द्रीय सरकार के कार्य के फलस्वरूप होता है। सन् १८८६ में ब्राजील के साम्राज्य के विकेन्द्रीकरण के कारण ही वहाँ संघ-राज्य बना था। इसी प्रकार ब्रिटिश उत्तरी अमरीका तथा आस्ट्रेलिया मे संघ-शासन-प्रणाली की स्थापना क्रमशः सन् १८६६ और सन् १६०० मे हुई थी। इन दोनो देशो में अमेरिका तथा जर्मनी के समान संघ की उत्पत्ति स्वतन्त्र राज्यो मे से नहीं, प्रत्युत औपनिवेशिक अधीन राज्यो में से हुई।

आवश्यक दशाएं एवं तत्व

डायसी का कथन है कि संघ-राज्यों के निर्माण के लिए दो अवस्थाएं आवश्यक हैं—प्रथम, कुछ समुदाय हो (राज्य, जिले, प्रान्त आदि) जो प्रदेश, इतिहास, जाति, आदि द्वारा सम्बन्धित हो और जिन पर वहाँ के निवासियो की दृष्टि मे सामान्य राष्ट्रीयता की भावना की छाप हो, द्वितीय, उसके निवासियों में एक असाधारण भावना हो, अर्थात् वे बिलकुल एक न होकर भी संयोग चाहे, एकता और पार्थक्य की विरोधी भावनाओं मे सामजस्य स्थापित कर सकें और इसी प्रकार राष्ट्रीय ऐक्य के लाभो तथा शक्ति-वितरण एव कानूनो की विभिन्नता से उत्पन्न हानियो मे भी सामजस्य स्थापित कर सकें। अपने व्यक्तिगत अस्तित्व को कायम रखते हुए सामान्य उद्देश्यो की पूर्ति के लिए एक राज्य की स्थापना की इच्छा होनी चाहिये। सघ-राज्य केवल एक राजनीतिक युक्ति है जिसका उद्देश्य राष्ट्रीय ऐक्य एवं सत्ता तथा राज्यो के अधिकारों के बीच इस प्रकार सामजस्य स्थापित करना है जिससे दोनों पक्षो को सन्तोष हो सके।[1] संघ-राज्यो के इतिहास से यह स्पष्ट है कि उनका निर्माण आन्तरिक आवश्यकताओ के कारण नही वरन् अन्तर्राष्ट्रीय आवश्यकता के कारण हुआ है।।

संघ-राज्यो के निर्माण की चाहे जो प्रणाली हो, उसके लिए एक सामान्य कानून या विधान होना आवश्यक है, जिसके द्वारा संघ की केन्द्रीय सरकार तथा उसके विभिन्न अवयवों के सम्बन्धो की व्याख्या की गयी हो तथा उनमे से प्रत्येक के कार्य-क्षेत्र निर्धारित किये गये हो। यह विधान उसके अंगो के विधानो से सर्वोपरि होना चाहिए, अन्यथा सघ का कायम रहना असम्भव हो जायगा। यह भी आवश्यक है कि वह एक लिखित विधान हो। डायसी के अनुसार सघ-राज्य की नींव एक गहन एवं जटिल समझौते पर होती है और उसके द्वारा जो व्यवस्थाएं की जाती हैं वे भी स्पष्ट होनी चाहिए। उन्हे इस दृष्टि से अस्पष्ट नही छोडा जा सकता कि उनको सब समझते हैं या वैसा ही रिवाज चला आ रहा है। यह बात केवल एकात्मक राज्य मे ही हो सकती है। वह लिखित ही न हो, वरन् उसमे एक सीमा तक कठोरता या अपरिवर्तन-शीलता (Rigidity) भी होनी चाहिए, अर्थात् वह ऐसा होना चाहिए जिसमे केन्द्रीय सरकार परिवर्तन न कर सके।

अन्त मे सघ-राज्य मे एक निष्पक्ष सामान्य न्यायालय होना चाहिए, जिसको सघीय विधान की व्याख्या करने, केन्द्रीय तथा स्थानीय शासनो के अधिकार-क्षेत्रो की मर्यादाओ का निर्णय करने तथा ऐसी व्यवस्था करने की सत्ता हो जिससे एक दूसरे की अधिकार सीमा मे प्रवेश न कर सके। सघ के विभिन्न विधायक राज्यों के पारस्परिक विवादो तथा उनमे और केन्द्रीय सरकार मे परस्पर जो वैधानिक विवाद हो उन सबका अन्तिम निर्णय करने का अधिकार इस न्यायालय को होना चाहिए। उसको यह भी अधिकार होना चाहिए कि वह किसी स्थानीय विधान या कानून की ऐसी धारा को

---

१. 'Law of the Constitution', pp. 129-132,

अवैध ठहरा दे जो सघ-विधान के प्रतिकूल हो। इस प्रकार की पंच-व्यवस्था के अभाव मे सघ-पद्धति का कायम रहना कठिन होगा।[1]

अन्तर्राष्ट्रीय प्रशासनात्मक सयोग

प्रकृति एव उद्देश्य

अनेक राज्यो ने अपने उन सामान्य हितो (अधिकाश मे अराजनैतिक) के वर्द्धन तथा नियमन के उद्देश्य से, जो अन्तर्राष्ट्रीय समाज के विकास मे स्थानीय या राष्ट्रीय नही रह गये हैं, 'अन्तर्राष्ट्रीय सयोगो' अथवा 'अन्तर्राष्ट्रीय प्रशासनात्मक संयोगों' का निर्माण किया है। सघ-राज्यों के समान अन्तर्राष्ट्रीय संयोगो का निर्माण सामान्य शासन प्रबन्ध या रक्षा के उद्देश्य से नही होता, प्रत्युत कुछ विशिष्ट हितो अथवा सेवाओ के नियमन अथवा रक्षा के लिए होता है। इनका निर्माण भी संघो से भिन्न अन्तर्राष्ट्रीय समझौते के द्वारा ही होता है इस कारण वे विशुद्ध अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ होती हैं, वैधानिक नहीं।

अन्तर्राष्ट्रीय सयोगो के प्रकार तथा उदाहरण

ससार के राज्यो मे परस्पर बढती हुई अन्योन्याश्रितता और अपने आर्थिक तथा अन्य सामान्य हितो की अभिवृद्धि के सम्बन्ध मे सहकारिता की आवश्यकता के कारण हाल मे अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाओ एव परिषदो में काफी वृद्धि हुई है और इस समय ३० से भी अधिक अन्तर्राष्ट्रीय संयोग तथा संस्थाएँ ससार के विविध भागो मे स्थापित हैं और कार्य कर रही हैं। जिस माध्यम के द्वारा वे कार्य करती हैं, वे प्राय: अन्तर्राष्ट्रीय कार्यालय सम्मेलन, काँग्रेस, कमीशन, समिति आदि के नाम से प्रसिद्ध हैं जिनकी स्थापना राष्ट्रो के परस्पर समझौते के परिणामस्वरूप होती है। इन सस्थाओ के प्रधान केन्द्र या कार्यालय जिनेवा, बर्न, ब्रूसेल्स, पेरिस अथवा रोम हैं।[2] इन विविध सयोगो का वर्गीकरण उनके विशेष हितो के आधार पर अथवा उनकी केन्द्रीय सस्थाओ के कार्यों एव अधिकारियो के आधार पर किया जा सकता है। कुछ संयोग अन्तर्राष्ट्रीय सन्देशवाहन (Communication) और यातायात (Transportation) की व्यवस्था करते हैं, जैसे यूनिवर्सल पोस्टल यूनियन, टेलिग्राफ यूनियन, रेडियो टेलिग्राफ यूनियन, यारोपियन रेलवे यातायात तथा रेलवे के प्रमाणीकरण के लिए यूनियन आदि। दूसरे सघ आर्थिक एवं औद्योगिक हितो से सम्बन्ध रखते हैं, जैसे

---

१. जैसा कि प्रसिद्ध है, सयुक्त राज्य अमेरिका मे उसके सुप्रीम कोर्ट को यह अधिकार प्राप्त है। वह एक प्रकार से संघ-राज्य तथा उसके दूसरे अंगो के बीच निर्णायक है—पच है। वह शासन-विधान के अनुसार प्रत्यक को अपने क्षेत्र मे ही सीमित रखता है।

आस्ट्रेलिया के शासन-विधान मे यह उल्लेख है कि यदि कामनवेल्थ के राज्य का कोई कानून उसके सघ-विधान के प्रतिकूल हो, तो वह अवैध माना जायगा।

२. प्रस्तुत पुस्तक का नया सस्करण सन् १९३५ मे प्रकाशित हुआ था। गत १५ वर्षों में अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाओ मे काफी वृद्धि हुई है। अब प्रमुख सस्था संयुक्त राष्ट्र सघ (United Nations Organisation) है। यह राजनीतिक संस्था है। इसके अन्तर्गत अनेक सस्थाएँ हैं। इनका मुख्य कार्यालय न्यूयार्क (सयुक्त राष्ट्र अमेरिका) मे है। वैसे पेरिस, लन्दन आदि मे भी इनके अधिवेशन होते हैं। अब जिनेवा की अपेक्षा न्यूयार्क का महत्व बढ गया है। —अनुवादक।

इन्टरनेशनल मेट्रिक यूनियन (Metric Union), साहित्य, कला एवं औद्योगिक सम्पत्ति की रक्षा के लिए संयोग ; अन्तर्राष्ट्रीय कृषि-संस्था ; चुंगी की दर प्रकाशित करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय संयोग ; अन्तर्राष्ट्रीय चीनी संयोग , राष्ट्र-संघ का अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-कार्यालय (I.L.O.)। कुछ संयोगो का सार्वजनिक स्वास्थ्य से सम्बन्ध है, जैसे अन्तर्राष्ट्रीय शुद्धि संयोग (Sanitary Union), अन्तर्राष्ट्रीय स्वास्थ्य कार्यालय। कुछ संयोग अपराधो के दमन तथा पुलिस एवं अपराध-विज्ञान से सम्बन्धित हितो की वृद्धि के लिए स्थापित किये गये थे जैसे अफ्रीका मे शराब के प्रचलन पर नियन्त्रण करने के लिए संयोग , अन्तर्राष्ट्रीय अफीम कमीशन, दास-व्यापार के दमन के लिए संयोग, स्त्री-अपहरण तथा नारी-व्यापार के अवरोध के लिए संयोग, दूषित साहित्य प्रचार विरोधी संयोग। कुछ संयोग सामान्य वैज्ञानिक हितों की अभिवृद्धि के लिए स्थापित किये गये, जैसे इन्टरनेशनल जियोडेटिक यूनियन (International Geodetic Union), काउन्सिल फॉर एक्सप्लोरेशन ऑफ सी (Council for Exploration of Sea), इन्टरनेशनल सीस्मोलॉजिकल यूनियन (The International Seismological Union), यूनियन फॉर दी स्टेण्डर्डाइजेशन ऑफ इलेक्ट्रिकल यूनिट्स (The Union for the Standardisation of Electrical Units) और पैन-अमेरिकन साइन्टिफिक कांग्रेस (Pan-American Scientific Congress)। इनके अतिरिक्त और भी अन्तर्राष्ट्रीय संयोग है, जैसे इण्टर-पार्लामेंटरी यूनियन, पैन-अमेरिकन यूनियन आदि।[१] इन संयोगों के सदस्य-राष्ट्रों की संख्या विभिन्न है। कुछ संयोग ऐसे हैं, जैसे यूनिवर्सल पोस्टल यूनियन, जिनके प्राय: सभी सभ्य राज्य सदस्य हैं, परन्तु कुछ ऐसे भी हैं जैसे योरोपियन यूनियन तथा पैन-अमेरिकन यूनियन, जिनके सदस्य केवल किसी विशिष्ट महाद्वीप के ही हैं।

संगठन

जहाँ तक इन संयोगो की संस्थाओं एवं उनके कार्यों से सम्बन्ध है, उनमे परस्पर समानता नही है। इनमे से अनेक संयोगो के प्रधान कार्यालय योरोप के किसी बड़े नगर मे हैं और उनके स्थायी कर्मचारी भी हैं। अनेक संयोगो की एक सामान्य सभा है, जो असेम्बली या कांग्रेस कहलाती है। इनके अधिवेशन समय-समय पर या किसी सदस्य की माँग पर होते हैं, जिनमे सदस्य-राज्यों के प्रतिनिधि भाग लेते हैं। इनके स्थायी कार्यालयो का मुख्य कार्य अपने विषय-सम्बन्धी ज्ञातव्य सूचनाओं एवं विवरणों को एकत्र करना और वितरण करना है। उनमे से कुछ को सीमित प्रशासन-सम्बन्धी अधिकार भी हैं।

इनके सम्मेलनों मे मुख्यकर किसी सम्बन्धित प्रश्न पर विचार तथा मत का परस्पर आदान-प्रदान होता है। वे सदस्य-राज्यो की स्वीकृति के लिए नियम एवं समझौतो के मसविदे तैयार करते हैं। किसी भी संयोग को कोई ऐसा कानून बनाने या नियम बनाने का अधिकार नही है, जो उसके सदस्य-राज्यो पर बन्धनकारी हो।[२]

---

१. पैन-अमेरिकन यूनियन वास्तव मे यूनियन ऑफ दी रिपब्लिक्स ऑफ दी अमेरिकन कॉण्टिनेण्ट की प्रशासन-सम्बन्धी संस्था का नाम है। इस यूनियन का निर्माण संधि द्वारा नही हुआ बल्कि विभिन्न गणतन्त्रो के प्रतिनिधियो द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में स्वीकृत प्रस्तावों के फलस्वरूप हुआ है।

२. इण्टरनेशनल शुगर एसोसियेशन ही ऐसी संस्था है जिसको कानून बनाने की शक्ति करीब-करीब प्राप्त है। यद्यपि उसे ऐसे कोई निर्णय करने का अधिकार नही है

इन सस्थाओ के संचालन पर जो व्यय होता है, वह कुछ अपवाद के साथ सदस्य-राज्यों से एक नियत अनुपात मे प्राप्त किया जाता है।

मूल्यांकन

इन अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाओ का निर्माण ससार के विभिन्न राज्यों के हितो की एकता तथा बढती हुई अन्योन्याश्रितता से उत्पन्न समस्याओं के समाधान के लिए किया गया था। इनके परिणाम विभिन्न निकले हैं। कुछ सयोगों ने तो कोई उपयोगी कार्य नहीं किया और असन्तुष्ट सदस्यो ने उनसे त्यागपत्र भी दे दिये। परन्तु कुछ सयोगो ने, जैसे पोस्टल यूनियन ने, समस्त संसार के राष्ट्रो की बडी बहुमूल्य सेवाएँ की हैं। कुछ संयोग कोई उपयोगी कार्य नहीं कर सके। इसका मूल कारण यह है कि उन्हें अपने कार्य करने के लिए यथोचित एवं पर्याप्त अधिकार नहीं दिये गये। उन्हे जो कुछ भी सफलता मिली हो, वे अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के बडे रोचक प्रयोग हैं और उनके द्वारा हमें जो अनुभव प्राप्त हुए हैं वे एक सर्वाङ्गपूर्ण विश्व-संघ के रूप में मानव-समाज के विकास में हमें मूल्यवान् सिद्ध होगे। राष्ट्र संघ के संस्थापको ने इन अन्तर्राष्ट्रीय प्रशासनात्मक सयोगो की उपयोगिता को भलीभाँति समझ कर ही अपने विधान की धारा २४ में यह व्यवस्था की थी कि यदि सम्बन्धित राष्ट्र या पक्ष स्वीकार करें तो उन्हे राष्ट्रसघ के निर्देशन में कर देना चाहिए और भविष्य में अन्तर्राष्ट्रीय हितो के लिए जो समितियाँ एव कमीशन कायम हो, वे राष्ट्र-सघ के ही निरीक्षण में हो।

(६) राष्ट्र-संघ

राष्ट्र-सघ के सदस्य

चौथे अध्याय मे हमने बतलाया है कि राष्ट्र-सघ (League of Nations) राज्यो की सभा है जिसमे भारत तथा ब्रिटिश राष्ट्र-मण्डल के स्वायत्तशासी राज्य (Dominions) भी सम्मिलित हैं जो पूर्ण अर्थ मे राज्य नही हैं। अन्य अन्तर्राष्ट्रीय प्रशासनात्मक सघों के समान राष्ट्रसघ का निर्माण भी सधि के आधार पर हुआ था, परन्तु राष्ट्र-सघ दूसरे अन्तर्राष्ट्रीय सयोगो से अपने सगठन एव उद्देश्य में भिन्न है। उसका सगठन ऐसा है जिससे उसमे राज्य के कुछ लक्षण आ गये हैं, उसका अपना कानूनी व्यक्तित्व है; वह दावा न्यायालय मे दावा कर सकता है, उसकी सम्पत्ति है; वह उत्तराधिकार को स्वीकार कर सकता है, उसका अपना कोष है और अपना आय-व्यय पत्रक और उसका अपना एक विधान भी है।[1] परन्तु उसका अपना कोई प्रदेश

जो उसमें सम्मिलित राज्यो पर बन्धनकारी हो, परन्तु उन्ही तथ्यो के प्रश्नो पर निर्णय करने का अधिकार है और उसके अनुसार शक्कर के निर्यात के लिए दी जाने वाली राज्य की सहायता के सम्बन्ध में जो कानून है उनमें राज्यो को आवश्यक परिवर्तन करना पडता है।

१ सन् १९२१ मे राष्ट्र-सघ के विरुद्ध जनीवा के एक व्यापारी के एक ठेका-सम्बन्धी अभियोग को स्वीकार करने से स्विस कोर्ट ने यह कहकर इन्कार कर दिया था कि सघ के विरुद्ध अभियोग स्वीकार करने की क्षमता उसमें नहीं है। राष्ट्र-सघ के कई सदस्यो के राष्ट्र-सघ मे राजदूत है। यह मानने का कोई कारण नही दिखाई देता कि राष्ट्र-सघ अन्य राज्यो से बातचीत करने के लिए अपने कम से कम अस्थायी दूत क्यो नियुक्त नहीं कर सकता।

नही है; उसके न अपने नागरिक हैं, न सेना, न नौसेना और न पुलिस ही। उसमे राज्य का वह आवश्यक तत्व भी नही है जिसके कारण राज्य राज्य होता है, अर्थात् प्रभुत्व। राष्ट्र संघ की स्थापना जनवरी सन् १९२० मे १८ राज्यों की मौलिक सदस्यता के साथ हुई। सन् १९३४ मे उसके कुल सदस्य ५६ थे और उसमे अफगानिस्तान, अरब, ब्राजील, कोस्टारिका, मिस्र और संयुक्त राज्य अमेरिका को छोडकर संसार के सभी पूर्ण स्वतन्त्र राज्य सम्मिलित थे। आइसलैण्ड ने सन् १९१९ मे डेनमार्क के साथ व्यक्तिगत संयोग स्थापित करके राष्ट्र-संघ का सदस्य बनने की शर्तें जानने का प्रयत्न किया था, परन्तु ऐसा नही मालूम होता कि संघ के कार्यालय ने इस पर कोई कार्यवाही की हो। सन् १९३० मे लिचटेंस्टीन (Liechtenstien), मोनाको तथा सान मरीनो ने भी सदस्य बनने की प्रार्थना की, परन्तु संघ ने यह सोचकर कि ये अत्यन्त छोटे राज्य हैं, उनकी प्रार्थना पर कोई अन्तिम निर्णय नही किया। आरमीनिया, आजरबैजान, जाजिया और यूक्रेन की प्रार्थनाएँ भी राष्ट्र-संघ ने स्वीकार नही की, यद्यपि आरमीनिया को बाद मे राष्ट्र-संघ मे स्थान निस्सन्देह दे दिया गया होता, यदि वह सोवियत संघ के अन्तर्गत न चला गया होता। राष्ट्र-संघ की सदस्यता के लिए प्रार्थना-पत्रो पर विचार करते समय प्रथम परिषद् मे इन बातो पर विचार किया गया—राज्य का आकार एवं जनसंख्या; क्या उसकी सरकार स्वीकृत वास्तविक सरकार या वैध सरकार है? क्या उसकी सरकार दृढ है और उसकी सीमाएँ निर्धारित हैं? क्या वह स्वशासित राज्य है? अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वो के सम्बन्ध मे भूतकाल मे उसका क्या रवैया रहा है, आदि?

सामान्य सिद्धान्त यह है कि एक बार सदस्य बन जाने पर राज्य को राष्ट्र-संघ में अपने अधिकारो एवं दायित्वों के सम्बन्ध में समानता प्राप्त हो जाती है। किन्तु स्विट्जरलैण्ड के सम्बन्ध में एक अपवाद है क्योंकि जब वह राष्ट्र-संघ का सदस्य बनाया गया तब संघ ने उसकी स्थायी तटस्थता के विचार से, जिसे वह छोडना नही चाहता था, राष्ट्र-संघ की किसी भी सैनिक कार्यवाही में भाग लेने और अपने देश में होकर राष्ट्र-संघ की सेनाओ को मार्ग देने के दायित्व से मुक्त कर दिया। परन्तु यह समझा जाता है कि राष्ट्र-संघ के विधान का उल्लंघन करने वाले राष्ट्र के विरुद्ध जो आर्थिक कार्यवाही की जायगी उसमें स्विट्जरलैण्ड का सहयोग होगा।

इसी प्रकार एक दूसरे तटस्थ राज्य लक्जेमबर्ग ने भी संघ की सैनिक कार्यवाही में सहयोग देने के दायित्व से मुक्ति की शर्त पर संघ का सदस्य बनने की प्रार्थना की थी, यद्यपि वह अपने राज्य में से सेना को मार्ग देने तथा संघ की आर्थिक कार्यवाही में भाग लेने के लिए प्रस्तुत था। परन्तु जब इस प्रार्थना-पत्र पर विचार हो रहा था, तब यह बात वापस ले ली गयी और वह सभी अधिकारों एवं कर्तव्यों की स्वीकृति के साथ सदस्य बना लिया गया। जब सन् १९२६ में जर्मनी ने राष्ट्र-संघ की सदस्यता के लिए प्रार्थना की कि वह भी स्विट्जरलैण्ड की भाँति राष्ट्र-संघ द्वारा किसी भी राज्य के विरुद्ध की गयी सैनिक कार्यवाही में भाग नही लेना चाहेगा तो राष्ट्र-संघ ने यह प्रार्थना स्वीकार नही की। स्केण्डीनेवियन राज्यो ने भी तटावरोध की कार्यवाही में भाग न लेने की इच्छा प्रकट की, परन्तु राष्ट्र-संघ ने उसे भी स्वीकार नही किया।[1] कोलम्बिया

---

१ परन्तु सन् १९२१ में एसेम्बली ने अपने विधान में एक संशोधन स्वीकार कर लिया जिसके अनुसार कौंसिल को यह अधिकार दे दिया गया कि वह किसी भी सदस्य को ऐसे दायित्व से मुक्त कर दे जबकि वह देखे कि नियम भंग करने वाले राज्य के पडोस में होने से वह बड़े संकट में पड जायगा।

ने यह इच्छा प्रकट की कि उसे राष्ट्र-संघ का सदस्य स्वीकार किया जाय परन्तु वह इस प्रकार से हो कि उसे पनामा की स्वतन्त्रता न स्वीकार करनी पड़े जिसे उसने कभी स्वीकार नहीं किया था। इस पर विचार करने के बाद राष्ट्र-संघ की कौंसिल ने अपने सेक्रेटरी-जनरल को कहा कि वह कोलम्बिया के प्रस्ताव की पहुँच इस प्रश्न पर कोई राय प्रकट किये बिना ही स्वीकार कर ले।

एक प्रश्न और भी उठा था कि क्या राष्ट्र-संघ राज्यों को सदस्य बनाते समय उन पर कोई ऐसी शर्तें लगा सकता है, जो दूसरे राज्यों पर नहीं लगाई गयी हों, जैसे कुछ राज्यों पर अपने राज्य के अल्पमतों की रक्षा के सम्बन्ध में गारण्टी देने की शर्त लगाना जो पोलैण्ड तथा चेकोस्लोवाकिया ने विशिष्ट सन्धियों द्वारा दी हैं। इस प्रकार की शर्तों के कानूनी औचित्य के सम्बन्ध में सन्देह होने के कारण राष्ट्र-संघ की असेम्बली ने इस आशय की एक सिफारिश स्वीकार की कि जो राज्य सदस्यता के लिए प्रार्थना करें उन्हें इस दायित्व को स्वीकार करना चाहिए। फिनलैण्ड ने सदस्यता के प्रार्थना पत्र में यह स्वीकार किया कि वह अल्पमत की रक्षा के लिए आश्वासन देगा और उसका प्रार्थना-पत्र इस आश्वासन पर स्वीकार कर लिया गया।

सदस्यता का अन्त

राष्ट्र-संघ की सदस्यता का अन्त तीन प्रकार से हो सकता है—(१) दो वर्ष पूर्व सदस्यता से त्याग-पत्र की सूचना दे देने पर, परन्तु यह शर्त है कि उसने राष्ट्र-संघ के प्रति अपने समस्त अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों को पूरा कर दिया हो। यह स्पष्ट नहीं है कि सूचना किसे दी जायगी और दायित्वों के सम्बन्ध में कौन निर्णय करेगा। सम्भवतः यह काम कौंसिल और असेम्बली करेंगी। (२) राष्ट्र-संघ के विधान में समुचित रीति से किये गये संशोधन को, यदि कोई राज्य स्वीकार न करे, तो वह स्वतः उसकी सदस्यता से पृथक् हुआ समझा जाता है। (३) राष्ट्र-संघ के किसी सदस्य द्वारा उसके नियम अथवा समझौते का उल्लंघन करने पर कौंसिल एवं एसेम्बली द्वारा सर्वसम्मति से, जिसमें नियम भंग करने वाले सदस्य का मत नहीं गिना जायगा, घोषित किया जा सकता है कि वह राष्ट्र-संघ का सदस्य नहीं रहा। इस प्रकार राष्ट्र-संघ से पृथक्ता का अधिकार स्वीकार किया गया और राष्ट्र-संघ के विघटन का द्वार खुला छोड़ दिया गया। संघ के नियम भंग करने वाले सदस्य को निकालने का अधिकार सुरक्षित रखा गया है क्योंकि संघ नियमों एवं समझौतों पर ही आधारित है और ऐसी दशा में नियम तथा समझौते भंग करने वालों के लिए उसमें कोई स्थान नहीं हो सकता।

राष्ट्र-संघ के उद्देश्य तथा प्रयोजन

जिन सामान्य उद्देश्यों की सिद्धि के लिए राष्ट्र-संघ का निर्माण किया गया, वे संघ के मुख्य समझौते अथवा विधान (Covenant) की प्रस्तावना में इस प्रकार दिये हुए हैं—अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की अभिवृद्धि तथा (२) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा की रक्षा। इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए निम्नलिखित साधन प्रस्तावना में दिये हुए हैं—(१) राज्यों द्वारा युद्ध न करने के दायित्व की स्वीकृति, (२) राज्यों का अपने पारस्परिक सम्बन्ध समुचित, सम्माननीय तथा स्पष्ट रखना; (३) अन्तर्राष्ट्रीय विधान के नियमों का समस्त सरकारों द्वारा दृढ़तापूर्वक पालन और (४) न्याय की रक्षा तथा राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्धों में आपस में की गयी संधियों द्वारा स्वीकृत दायित्वों का पूर्ण मान।

राष्ट्र-संघ की, अर्थात् उसके अंगो की, सत्ताएं अनेक हैं ; परन्तु हम उन्हें संक्षेप में निम्न प्रकार वर्गीकृत कर सकते है—(१) वे सत्ताएं जो शान्ति-सन्धियों को कार्यरूप मे परिणत करने के सम्बन्ध में हैं, (२) अपने सदस्यों की सुरक्षा की गारण्टी तथा युद्ध के अवरोध के सम्बन्ध में प्रयोग में आने वाली सत्ताएं ; (३) वे सत्ताएं जिनके द्वारा संसार में श्रमजीवियों के कल्याण की व्यवस्था की जा सकती है और (४) विविध प्रकार की सत्ताएं जैसे सन्धियों की रजिस्ट्री ; सूचना का संग्रह एवं वितरण ; शासनादेश के अन्तर्गत प्रदेशों का निरीक्षण, सार-प्रदेश तथा डेन्जिग के स्वतन्त्र नगर के न्यासों का निरीक्षण।[2]

मुख्य पाठ्य-ग्रन्थ

Dicey, "The Law of the Constitution" (3rd ed , 1886), lect. IV.

Fauchille, "Traite de droit International Public" (1922), Vol. I, Pt. I, pp. 227-257

Finer, "The Theory and Practice of Modern Government" (1932), Vol I, Chs 8 9.

Freeman, "History of Federal Government" (1863), Chs. 1-2.

Hall, 'International Law' (7th ed., 1917), Pt. I. Ch 1.

Hart, "Introduction to the Study of Federal Government" 1891, Chs. 1-5.

Hicks, "The New World Order" (1920), Ch. 18.

Holcombe, "Foundations of the Modern Commonwealth" (1918), Ch. 2.

Hughan, "A Study of International Government" (1923), Chs. 8-18.

Marriott "The Mechanism of the Modern State" (1927), Vol. I, Chs. 9, 10 ; Vol II, Chs. 37, 38.

Moore, "Digest of International Law" (1906), Vol. I, Ch. 2.

---

१. *कहा जाता है कि वर्साई की सन्धि में राष्ट्र-संघ का कोई सत्तर स्थानों पर उल्लेख है।* Hicks, 'The New World Order', p. 51.

२. वर्तमान समय में राष्ट्र-संघ के स्थान में उसका उत्तराधिकारी संयुक्त राष्ट्र-संघ तथा उससे सम्बद्ध अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएं कार्य कर रही हैं। संयुक्त राष्ट्र-संघ का विधान, जिसे चार्टर कहते हैं, राष्ट्र-संघ से ही मिलता-जुलता है। जिस प्रकार उसके तीन प्रमुख अंग थे. वैसे ही संयुक्त राष्ट्र-संघ के भी हैं—(१) सुरक्षा-समिति (Security Council) ; (२) सामान्य परिषद् (Assembly) तथा (३) कार्यालय (Secretariat)। संयुक्त राष्ट्र की सुरक्षा-समिति में ५ महान् राष्ट्र स्थायी सदस्य हैं और ६ राष्ट्र अस्थायी सदस्य हैं। इसके अधिवेशन सदा होते रहते हैं। प्रत्येक महत्वपूर्ण प्रश्न सर्वसम्मति से तय होता है। इसकी सहायता एवं परामर्श के लिए एक सैनिक-समिति भी है। संयुक्त राष्ट्र-संघ किसी भी विरोधी राष्ट्र के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही भी कर सकता है। संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्रिटेन, सोवियत रूस, फ्रान्स और चीन महान् राष्ट्र गिने जाते हैं।

—अनुवादक।

Oppenheim, "International Law" (3rd ed, 1920), Vol. I, secs. 85-89.
Potter, 'Introduction to the Study of International Organization" (1922), Ch. 17.
Reinsch, "Public International Unions" (1911), various chapters.
Sayre, Experiments in International Administration" (1919).
Willoughby, "The Fundamental Concepts of Public Law" (1925), Ch. 13.
Woolf, "International Government" (1916).

द्वितीय खण्ड
शासन

शासन के रूप और भेद

(१) वर्गीकरण

राज्य और शासन में भेद

राज्यों तथा राज्यों के संयोगों के भेदों पर विचार करने के उपरान्त हम शासन और राज्य के भेद को ध्यान में रखते हुए शासन के भेदों पर विचार करेंगे। जैसा हमने प्रथम खण्ड में विश्लेषण किया है, राज्य बाह्य नियन्त्रण से विमुक्त राजनीतिक रूप से संगठित जनता का नाम है, जो अपने आन्तरिक मामलों में प्रभुत्व-सम्पन्न होती है अथवा जिसे स्वशासन का ऐसी मात्रा तक अधिकार होता है कि वह व्यवहार में राज्य कहलाने योग्य हो। दूसरी ओर, शासन उस संगठन का नाम है जिसके द्वारा राज्य अपनी इच्छा को अभिव्यक्ति करता है, आदेश देता है और अपने कार्यों का सम्पादन करता है। हमने पीछे एक अध्याय में यह उल्लेख किया है कि सारतः सभी राज्य समान होते हैं, अर्थात् उनके विधायक तत्व मुख्यत: समान होते हैं और सामान्यतया अपने उद्देश्यों तथा लक्ष्य में भी वे समान होते हैं। इस कारण उनमें सरलता से भेद नहीं किया जा सकता। परन्तु शासन के सम्बन्ध में यह बात नहीं है। शासनों में उनके संगठन के रूपों में बड़े भेद होते हैं और उनकी भावनाओं तथा तरीकों, शासनकर्त्ताओं के चुनाव की रीतियों एवं प्रणालियों तथा उनकी सत्ता की प्रकृति और विस्तार, उनके विशिष्ट उद्देश्य तथा उनके व्यवस्थापक, प्रबन्धक और न्यायिक अङ्गों के पारस्परिक सम्बन्धों में भी प्रायः काफी भेद होते हैं। इसी कारण राज्यों में भेद करने के लिए जो प्रयत्न किये गये हैं उनकी अपेक्षा शासनों में जो भेद करने के प्रयत्न किये गये हैं, वे अधिक सफल हुए हैं क्योंकि शासनों के भेदों की स्थापना के लिए हमें कई सन्तोषप्रद कसौटियाँ प्राप्त हैं, जिनके अनुसार हम शासनों को विविध वर्गों में रख सकते हैं। ये भेद व्यावहारिक होने के साथ ही साथ वैज्ञानिक भी हैं।

वर्गीकरण की कसौटियाँ

राज्यों के वर्गीकरण की भाँति यहाँ भी मुख्य समस्या है एक उपयुक्त कसौटी का निश्चय करना। अतः स्वभावतः राज्य-वैज्ञानिक, कानून-विज्ञ, अन्तर्राष्ट्रीय विधान-वेत्ता और समाजशास्त्री अपने-अपने दृष्टिकोण से शासनों की विविध विशिष्टताओं पर जोर देते हैं और उनमें इस कारण किसी एक कसौटी के सम्बन्ध में सहमति नहीं है। स्वयं राज्य-वैज्ञानिक भी एक मत से किसी एक कसौटी को स्वीकार नहीं करते। विद्वानों ने अनेक वर्गीकरण जो किये हैं, वे कई कारणों से सन्तोषप्रद नहीं कहे जा सकते। कुछ वर्गीकरण तो ऐसे हैं जो किसी संगतिपूर्ण वैज्ञानिक आधार पर स्थिर

नहीं है। दूसरे वर्गीकरण ऐसे आधारों पर किये गये हैं कि उनका तनिक भी वैज्ञानिक या व्यावहारिक मूल्य नहीं रहता। यह स्मरण रखना चाहिए कि एक बड़ी कठिनाई इस कारण भी है कि वर्तमान समय में शासन के विविध नूतन रूपों का प्राविर्भाव हो गया है जिनमें सतत परिवर्तन होता जा रहा है जिसके कारण उनमें और उनके पुराने रूपों में मौलिक भेद पड़ गया है। इसका परिणाम यह है कि एक युग में हम जो शासनों का वर्गीकरण करते हैं और जो हमें उस समय सन्तोषप्रद भी लगता है, वही कुछ समय के पश्चात् ठीक नहीं रहता।

(२) एकतन्त्र, कुलीनतन्त्र, अल्प-जनतन्त्र और प्रजातंत्र

प्रभुत्वधारी जनसंख्या के प्राधार पर वर्गीकरण

जिस आधार पर राज्यों का वर्गीकरण किया गया है उसी आधार पर, अर्थात् उन व्यक्तियों की संख्या, जिनके हाथ में प्रभुत्व होता है, बहुत से लेखकों ने शासनों का भी वर्गीकरण किया है—एकतन्त्र, कुलीनतन्त्र, अल्प-जनतन्त्र और प्रजातन्त्र। अपने व्यापक अर्थ में जिस शासन में सर्वोच्च एवं अन्तिम सत्ता एक व्यक्ति में निहित होती है, चाहे वह निर्वाचित हो या पैतृक उत्तराधिकारी, वह एकतन्त्र कहलाता है, उसे आप चाहे जिस नाम से संबोधित करें—सम्राट्, राजा, जार, राष्ट्रपति अथवा अधिनायक। एक व्यक्ति की इच्छा के अनुसार शासन ही एकतन्त्र कहलाता है।

जैसा कि हमने गत अध्याय में उल्लेख किया है, कुछ लेखकों के मतानुसार एकतन्त्र उसी को कहते हैं जिसमें राज्य का प्रमुख पैतृक उत्तराधिकार द्वारा, उत्तराधिकार कानून के अनुसार, जो भिन्न-भिन्न राज्यों में विभिन्न होते हैं, शासन-सत्ता प्राप्त करता है। यही विशेषता है जो एकतन्त्र तथा गणतन्त्र में भेद स्थापित करती है, गणतन्त्र में राज्य-प्रमुख निर्वाचित होता है। हम देख चुके हैं कि जेलिनेक ने एकतन्त्र की परिभाषा इस प्रकार की है—जिस राज्य में एकाकी भौतिक इच्छा के अनुसार शासन हो, वही एकतन्त्र है। इसकी विशेषता यही है कि राजा में राज्य की सर्वोत्तम सत्ता की अभिव्यक्ति करने की क्षमता होती है। यदि वह नाममात्र का प्रमुख हो और उसकी सत्ता का प्रयोग दूसरों के द्वारा होता हो तो ऐसा शासन गणतन्त्र होता है; उसका नाम, उसकी पदवी, निर्वाचन की पद्धति अथवा उसका कार्य-काल चाहे कुछ भी हो। इस प्रकार सन् १७९१ में फ्रान्स अपने शासन-विधान के अनुसार एकतन्त्र था परन्तु वह वास्तव में पैतृक राज्य-प्रमुखयुक्त गणतन्त्र ही था।[1] यही बात ब्रिटिश एकतन्त्र के सम्बन्ध में भी सत्य है।

एकतन्त्र के भेद

राजा जिस स्रोत से सत्ता हस्तगत करता है, उसके आधार पर एकतन्त्र पैतृक तथा निर्वाचित अथवा दोनों के मिश्रित रूप हो सकते हैं। प्राचीन काल के अधिकांश एकतन्त्र पैतृक ही थे; आजकल के एकतन्त्र भी पैतृक ही हैं, अर्थात् राजा निर्धारित उत्तराधिकार के नियमों के अनुसार शासन-सत्ता प्राप्त करता है। इस उत्तराधिका

१. ब्राइस (Modern Democracies, Vol. II, p. 535) के मत से तुलना कीजिये। उसने कहा है—'एकतन्त्र से मेरा आशय नाम नहीं, वस्तु है, अर्थात् ऐसा कोई राज्य नहीं जिसका प्रमुख राजा या सम्राट् कहलाता है, परन्तु ऐसा राज्य जिसमें राजा की इच्छा सदा चलती है।' उसने बताया कि नार्वे को कहने को एकतन्त्र है परन्तु वास्तव में वह प्रजातन्त्रीय गणतन्त्र है।

का निर्णय शासन विधान या पार्लामेन्ट के कानून अथवा किसी राज्य-परिवार के विशेष नियम अथवा इनमें से किसी एक या अधिक विधि से हो सकता है। विविध राज्यों में उत्तराधिकार के नियम भी विभिन्न रहे हैं। जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है, प्राचीन काल में भी 'निर्वाचित' एकतन्त्र-शासनों का अभाव नहीं था।[1] पूर्वकालीन रोम के राजा निर्वाचित होते थे और पोलैण्ड के प्राचीन राजा भी निर्वाचित होते थे। पवित्र रोमन साम्राज्य का सम्राट् एक ही राज्य-परिवार में से एक छोटे से निर्वाचक मण्डल द्वारा निर्वाचित किया जाता था। मध्ययुग में भी निर्वाचित एकतन्त्र थे, परन्तु एक विशेष राज-परिवार में से ही राजाओं के चुनाव के कारण एकतन्त्र पैतृक बन गये थे। किन्तु उनका निर्वाचन सदा आजीवन नहीं होता था। जेलिनेक की दृष्टि में यह एकतन्त्र की सच्ची भावना के प्रतिकूल था। प्राचीनकाल में आरम्भ में राजा का निर्वाचन होता था या किसी प्रकार से प्रजा उन्हें स्वीकृत करती थी, परन्तु पैतृक परम्परा इतनी सुदृढ़ थी कि निर्वाचन का सिद्धान्त शनैः शनैः पीछे छूट गया। प्राचीन समय में अँग्रेजी राजाओं के निर्वाचन के सम्बन्ध में उल्लेख करते हुए स्टब्स ने लिखा है—"सिद्धान्ततः राजा का सदैव निर्वाचन होता था और मध्ययुग की प्राचीन परम्परा के अनुसार निर्वाचन का उल्लेख राज्यारोहण सम्बन्धी प्रार्थना में रहता था।" परन्तु आगे वह लिखता है कि "यह बात भी असत्य नहीं है कि वैधानिक परम्परा के अनुसार उत्तराधिकार एक ही परिवार में सीमित था और पैतृक उत्तराधिकार के नियम का, अत्यन्त सकटकाल को छोड़, कभी उल्लंघन नहीं किया गया।" एक अर्थ में ब्रिटिश एकतन्त्र आज भी निर्वाचित है क्योंकि ब्रिटिश पार्लमिन्ट अपनी इच्छानुसार उत्तराधिकार के कानून के नियमन का दावा करती है और इस अधिकार का प्रयोग भी करती है। कुछ समय पूर्व कायम किये गये राज्यों, जैसे बेल्जियम और बलकान के कुछ राज्यों, के सम्बन्ध में प्रथम शासकों का निर्वाचन किया गया था किन्तु उनके उत्तराधिकारियों को पैतृक उत्तराधिकार प्राप्त हुआ। सन् १६०५ में नॉर्वे के राजा का निर्वाचन जनमत सग्रह के बाद नॉर्वेजियन पार्लमिन्ट द्वारा किया गया था। इसके बाद वहाँ पैतृक उत्तराधिकार का नियम काम में आने लगा। सन् १६०३ में सर्बिया के राजा की हत्या के बाद उसके उत्तराधिकारी का निर्वाचन सर्बियन पार्लमिन्ट ने किया था।

निरकुश एकतन्त्र

अपनी चारित्रिक विशिष्टताओं के कारण एकतन्त्र-शासन दो वर्गों में विभाजित है—(१) निरंकुश या स्वेच्छाचारी ; (२) वैधानिक, सासद या सीमित एकतन्त्र। निरंकुश एकतन्त्र शासन वह है, जिसमें राजा केवल नाममात्र का ही राज्य-प्रमुख नहीं वरन् वास्तविक सत्ताधारी होता है, अर्थात् जिन मामलों में वह अपनी इच्छा प्रकट करता है, उनमें उसकी इच्छा ही कानून होती है। संक्षेप में, उस पर स्वयं अपनी इच्छा को छोड़ किसी का कोई प्रतिबन्ध नहीं होता। ऐसे एकतन्त्र में राज्य और शासन एक ही चीज होती है ; राजा राज्य का एक अंग ही नहीं होता, वह प्रभुत्व-सम्पन्न भी होता है। फ्रान्स के राजा लुई चतुर्दश की इस उक्ति से कि—"मैं ही राज्य हूँ" (I am the State) निरकुश एकतन्त्र शासन का काफी अच्छा चित्र खिंच जाता है। निरंकुश एकतन्त्र शासन के उदाहरण मध्ययुग में मिलते हैं ; उनमें से कुछ तो उन्नीसवीं तथा बीसवीं शताब्दियों तक भी चले आये हैं। उनमें रूसी और तुर्की के

१. कुछ लेखक निर्वाचित एकतन्त्र को गणतन्त्र का ही एक विशेष रूप मानते हैं।

एकतन्त्र शासन और एक सीमा तक प्रशा, ऑस्ट्रिया और हंगरी के एकतन्त्र उल्लेखनीय हैं। लोकतन्त्र की प्रगति के साथ-साथ योरोप में निरंकुश शासन का एकदम खात्मा हो चुका है। कुछ पिछड़े एशियाई तथा अफ्रीकी राज्यों में आज भी निरंकुश शासन विद्यमान है।

वैधानिक एकतन्त्र

वैधानिक या सीमित एकतन्त्र शासन से अभिप्राय ऐसे शासन का है जिसमें राजा की सत्ता पर लिखित विधान या अलिखित विधान के कुछ मौलिक सिद्धान्तों द्वारा प्रतिबन्ध लगा दिये गये हों, जैसे ब्रिटिश एकतन्त्र। ये वैधानिक नियम एक सीमा तक राजा की सत्ता की मर्यादा स्थिर करते हैं और "राजकीय विशेषाधिकार" (Royal prerogative) को सीमित कर देते हैं तथा राज्याभिषेक के समय राजा को उनका सच्चाई से पालन करने की शपथ ग्रहण करनी पड़ती है। यह सत्य है कि कुछ देशों में ये विधान प्रजा-परिषदों द्वारा निर्मित नहीं किये गये थे, वरन् राजा द्वारा ही जारी किये गये थे (उदाहरणार्थ, सन् १८५० को प्रशा का विधान और सन् १८४८ का इटली का विधान); परन्तु ऐसे विधानों के एक बार जारी हो जाने के बाद वे प्रजा और राजा के मध्य एक प्रकार के समझौते ही समझे जाते थे और इस प्रकार वे राजाओं पर बन्धनकारी होते थे। योरोप के समस्त विद्यमान एकतन्त्र-शासन और एशिया तथा अफ्रीका के कुछ एकतन्त्र वैधानिक या सीमित एकतन्त्र की कोटि में आते हैं। प्रत्येक वर्ग के अन्तर्गत जो एकतन्त्र शासन शामिल हैं, उनमें भी उपभेद हैं, परन्तु वे भेद केवल मात्रा या ऐतिहासिक विकास के हैं। अतः यहाँ उन पर विचार करने में कोई लाभ नहीं होता।

कुलीनतन्त्र

जिस शासन में राजनीतिक सत्ता अल्प व्यक्तियों में सन्निहित होती है, वह कुलीनतन्त्र होता है। कुछ लेखकों ने इसे नागरिकों के अल्पमत की सरकार कहा है। परन्तु इस परिभाषा के अनुसार यह आवश्यक रूप से अल्पलोगों की सरकार नहीं होती क्योंकि 'अल्पमत' एक विशाल जनसमुदाय भी हो सकता है। अल्पमत तथा बहुमत में विभाजक रेखा इतनी अस्पष्ट और अनिश्चित भी हो सकती है कि दोनों में भेद करना कठिन हो जाता है। वास्तव में अनेक प्रजातन्त्रात्मक राज्यों में राजसत्ता नागरिकों के अल्पमत के हाथों में होती है। पहले महिलाओं को शासन में भाग लेने का अधिकार नहीं था और आज भी कुछ राज्यों में उन्हें ऐसा अधिकार नहीं है। समस्त देशों में अवयस्कों (Minors) को मताधिकार प्राप्त नहीं है, कुछ देशों में निरक्षर नागरिकों को मताधिकार से वंचित रखा गया है। कुछ ऐसे भी देश हैं जिनमें सैनिकों, अभियुक्तों, दिवालियों और निर्धनों आदि को मताधिकार प्राप्त नहीं है। अतः कुलीनतन्त्र की परिभाषा यही ठीक होगी कि उसमें राज्य के उच्च कर्मचारियों की नियुक्ति और राज्य की नीतियों का निर्णय करने की सत्ता अपेक्षाकृत थोड़े से नागरिकों के हाथों में होती है। शासन को कुलीनतन्त्रीय कहे जाने योग्य होने के लिए अल्पमत कितना बड़ा हो, इस विषय में कोई नियम बनाना सम्भव नहीं है। प्राचीन यूनानी लोग सर्वश्रेष्ठों द्वारा शासन को ही कुलीनतन्त्र मानते थे। परन्तु सर्वश्रेष्ठ व्यक्तियों से यूनानियों का तात्पर्य शिक्षा, चरित्र और अनुभव में सर्वश्रेष्ठ व्यक्तियों से था अथवा सामाजिक पद या धन-सम्पदा की दृष्टि से श्रेष्ठ व्यक्तियों से—यह स्पष्ट नहीं है। दोनों दशाओं में शासन सामान्यतया अल्पसंख्यक नागरिकों के हाथों में होना चाहिए था, परन्तु आवश्यक रूप से वह ऐसा नहीं होता क्योंकि यह सम्भव

है कि किसी समाज मे बुद्धि, सदाचार तथा धार्मिक दृष्टि से श्रेष्ठ पुरुषों का बहुमत हो। उस दशा मे वह अल्पमतों द्वारा शासन नही रह जाता।

प्रो० जेलिनेक ने कुलीनतन्त्र को गणतन्त्र का ही एक विशेष रूप माना था और उसने कुलीनतन्त्र के सामाजिक पक्ष पर जोर दिया। उसके अनुसार कुलीनतन्त्र वह शासन है जिसमे एक विशेष वर्ग का प्राधान्य होता है। वह पुरोहित वर्ग, सैनिक वर्ग, व्यवसायी वर्ग या जमींदार वर्ग हो सकता है या उनमे से कुछ का सबका सम्मिलित रूप हो सकता है। किसी भी दशा में वे वर्ग जनता का एक अंशमात्र होते हैं जो अपने अधिकारो की दृष्टि से कानूनी रूप में जनता से भिन्न होते हैं। अपने समस्त रूपो में कुलीनतन्त्र राज्य मे एक प्रभावशाली सामाजिक वर्ग पर आधारित रहता है, जो अपनी अवस्था के कारण राज्य मे स्वतन्त्र होता है और राजनीतिक दृष्टि से अवशिष्ट जनता पर अपना आधिपत्य कायम रखता है।

प्राचीन काल मे कुलीनतन्त्र की शासन-प्रणाली सामान्यतया प्रचलित थी। अनेक शासन जो लोगो द्वारा एकतन्त्र माने जाते थे, वास्तव मे कुलीनतन्त्र ही थे। प्रो० जेलिनेक ने कुलीनतन्त्र के दो सामान्य प्रकार माने हैं—प्रथम, वह जिसमे शासक वर्ग शासित वर्ग से इस प्रकार सर्वथा भिन्न और अलग था कि शासित वर्ग के किसी व्यक्ति के लिए शासक-वर्ग मे प्रवेश पाना असम्भव था; द्वितीय, वह जिसमे शासक और शासित के इस प्रकार के भेद नही थे और शासित जनता मे से भी व्यक्ति कुछ विशेष अवस्थाओं मे राजनीतिक विशेषाधिकार प्राप्त कर शासक-वर्ग मे सम्मिलित हो सकते थे। प्रथम प्रकार के कुलीनतन्त्र पैतृक कुलीनतन्त्र थे और दूसरे प्रकार के कुलीनतन्त्र वे थे जो सम्पत्ति, शिक्षा, सामाजिक प्राधान्य आदि पर आधारित थे।

रूसो ने कुलीनतन्त्रो को प्राकृतिक, निर्वाचित एवं पैतृक माना है।[1] प्राकृतिक कुलीनतन्त्र से उसका अभिप्राय उन व्यक्तियो के शासन से था। जो नेता की हैसियत से अपनी प्राकृतिक योग्यता, शिक्षा और अनुभव के कारण शासन करने के योग्य थे; निर्वाचित कुलीनतन्त्र से उसका प्रयोजन ऐसे अपेक्षाकृत अल्प व्यक्तियो के शासन से था जिन्हें जनता ने निर्वाचित किया हो। निर्वाचित कुलीन व्यक्ति प्राकृतिक कुलीन व्यक्ति हो सकते थे और नही भी हो सकते थे।

अल्प-जनतन्त्र

प्राचीन यूनानियो ने कुलीन-तन्त्र (Aristocracy) और अल्प-जनतन्त्र (Oligarchy) में बड़ी सावधानी से भेद किया था। अरस्तू ने अपने स्वार्थ-साधन के लिए अल्प व्यक्तियो द्वारा अथवा धनी व्यक्तियो द्वारा शासन को अल्प-जनतन्त्र कहा है।[2] इस प्रकार अल्प-जनतन्त्र कुलीनतन्त्र का, जिसमे राज्य के सर्वश्रेष्ठ व्यक्तियो का शासन होता था, विकृतरूप था। प्रो० सीले ने अल्प-जनतन्त्र को

---

१. The Social Contract, Bk. III, Ch. 5.

२. Politics, Bk. III, Secs. 6 and 7. प्रजातन्त्र और अल्प-जनतन्त्र (Oligarchy) मे अरस्तू के अनुसार वास्तविक भेद निर्धनता और धन का था। जहाँ धनिको का राज्य है, चाहे वे कम हो या अधिक, वहाँ अल्प-जनतन्त्र है और निर्धनो का राज्य प्रजातन्त्र है क्योंकि धनी सदा कम होते हैं और निर्धन बहुसंख्यक, इस कारण अल्प-जनतन्त्र थोड़े से व्यक्तियों का शासन और प्रजातन्त्र बहुसंख्यक लोगो का शासन होता है।

कुलीनतन्त्र का रोगीरूप माना है। लौकिक भाषा में आज इन दोनों में कोई भेद नहीं माना जाता और इन दोनों ही शब्दों का प्रयोग ऐसे शासन के लिए किया जाता है जिसमें अल्प लोगों के हाथों में सत्ता हो। परन्तु कुछ विद्वान् अब भी इनमें भेद मानते हैं। उनके अनुसार प्रशा की पूर्व सरकार अल्प-जनतन्त्रीय थी, कुलीनतन्त्रीय नहीं; परन्तु इस भेद का कोई महत्व नहीं मालूम होता।[1] वास्तव में वह तथाकथित युंकर (Junker) भूमिपतियों तथा अन्य धनिक एवं शिक्षित कर्मचारी वर्ग का शासन था। वह कुलीनतन्त्र था या अल्प-जनतन्त्र, यह तो केवल परिभाषा की बात है। योरोप में इस प्रकार के शासन का खात्मा हो चुका है, परन्तु वहाँ कुछ राज्यों में धारा-सभा के उच्च सदन में पैतृक अधिकार वाले सदस्य, राजा द्वारा मनोनीत सदस्य अथवा मर्यादित मत द्वारा निर्वाचित सदस्य होते हैं। ऐसे देशों के शासन आंशिक रूप में कुलीनतन्त्र ही हैं।

प्रजातन्त्र

प्रजातन्त्र (Democracy) की कल्पना विभिन्न प्रकार से की गयी है। वह एक राजनीतिक स्थिति, एक नैतिक भावना और एक सामाजिक अवस्था माना जाता है। गिडिंग्ज के मतानुसार प्रजातन्त्र शासन का ही एक रूप नहीं है, वरन् राज्य का भी रूप है और समाज की एक अवस्था है या इन तीनों का मिश्रण है।[2] कुछ लेखक राजनीतिक, आर्थिक (औद्योगिक) तथा सामाजिक प्रजातन्त्र में भेद मानते हैं और कहते हैं कि यह आवश्यक नहीं कि एक ही राज्य में ये तीनों प्रकार के प्रजातन्त्र विद्यमान हों। एक देश में जनता प्रजातान्त्रिक हो सकती है, परन्तु उसकी सरकार अप्रजातन्त्रात्मक हो सकती है और एक प्रजातन्त्रात्मक शासन के अन्तर्गत अप्रजातन्त्रात्मक समाज भी हो सकता है। परन्तु स्वाभाविक स्थिति वही है जिसमें ये तीनों एक ही स्थान में विद्यमान् हों, अर्थात् यदि कोई समाज अपने सामाजिक एवं आर्थिक जीवन में प्रजातन्त्रात्मक है तो वह राजनीतिक दृष्टि से भी प्रजातान्त्रिक होगा। दूसरी ओर,

---

१. Introduction to Political Science, Lect VI. कुछ लोगों के मत में कुलीनतन्त्र एक वर्ग (Class) का राज्य है और अल्प-जनतन्त्र थोड़े से व्यक्तियों का जिनका वास्तव में कोई एक वर्ग नहीं होता।

२. The Responsible State, pp. 19 ff. , Democracy and Empire, pp, 199 ff. ब्राइस (Modern Democracies, Vol. I, p. 23) का मत है कि प्रजातन्त्र तथा प्रजातान्त्रिक शब्दों से शासन के एक विशिष्ट रूप से अधिक कुछ मतलब नहीं होता। फिर भी उसने कहा है कि संयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा और ऑस्ट्रेलिया में मुख्यकर इन शब्दों के साथ बड़ी आकर्षक सामाजिक और नैतिक भावनाओं का भी समावेश हो गया है। इस प्रकार प्रजातान्त्रिक पुरुष वह है जो धनी और समाज में प्रतिष्ठित होते हुए भी बड़ा प्रसन्न एवं मैत्रीपूर्ण है और सबसे अच्छी तरह मिलता है। कभी-कभी कुछ राजाओं को भी प्रजातान्त्रिक कहा गया है। कुछ जर्मन लेखक ऐसे भी हैं जो कहते हैं कि जर्मनी का पुराना शासन प्रजातान्त्रिक था क्योंकि वहाँ राज्य की ओर से लोक-सेवा के कई काम किये जाते थे जो अन्य देशों में निजी प्रयत्न के लिए छोड़ दिये जाते थे। उनके मत में प्रजातन्त्र शासन का वह रूप है जो प्रजा की सेवा करे, चाहे प्रशासन में उसकी कोई आवाज हो या न हो।

यदि समाज विविध वर्गों में विभाजित है, तो यह सम्भव है कि उसका शासन आंशिक रूप से उच्च वर्गों के विशेषाधिकारों की स्वीकृति के आधार पर हो।

शासन के रूप में प्रजातन्त्र की परिभाषाएं अनेक हैं, परन्तु कई परिभाषाओं के समान वे पूर्ण और सर्वमान्य नहीं हैं। प्राचीन काल के यूनानी लोग प्रजातन्त्र को बहुसंख्यक जनों द्वारा शासन मानते थे।[1] प्रोफेसर सीले ने आधुनिक अर्थ में उसकी परिभाषा 'ऐसा शासन जिसमें प्रत्येक का हिस्सा हो' कह कर की है। यह ऐसी परिभाषा है जिसे यदि मान लिया जाय तो इससे सभी वर्तमान शासन और सभी अतीत के शासन प्रजातन्त्र की श्रेणी में नहीं रहेंगे। डायसी के अनुसार प्रजातन्त्र शासन का वह रूप है जिसमें शासन-प्रबन्ध करने वाली संस्था समूचे राष्ट्र का एक अपेक्षाकृत बड़ा भाग होता है। लार्ड ब्राइस ने, जिसका लोकतन्त्र तथा लोकतन्त्रात्मक शासन-प्रणाली का ज्ञान एवं अनुभव आधुनिक लेखकों में सर्वाधिक था, कहा है कि 'हेरोडोटस के युग से ही प्रजातन्त्र शब्द से अभिप्राय ऐसे शासन से ग्रहण किया जाता रहा है जिसमें राज्य की शासन-सत्ता प्रधानतः किसी विशेष वर्ग या वर्गों में नहीं, वरन् समूचे समाज या राष्ट्र में निहित हो।' इसके आगे उसने कहा कि 'इसका अर्थ यह है कि उन समाजों में जो मत के द्वारा कार्य करते हैं, शासन बहुमत का होता है क्योंकि समस्त समाज या जनता, जो एकमत न हो, की इच्छा को शान्तिमय और कानूनी रीति से जानने का इससे बढ़िया और कोई उपाय नहीं है।'[2]

प्रजातन्त्र की यह परिभाषा, जिसके अनुसार जनता के बहुमत द्वारा शासन प्रजातन्त्र कहलाता है, शायद अन्य परिभाषाओं के समान ही सन्तोषप्रद है; परन्तु

---

१. जेम्स रसेल लविल (Democracy and other Essays, p. 37) प्रजातन्त्र को एक सामाजिक व्यवस्था समझता है। उसके विचार में प्रजातन्त्र समाज का वह रूप है जिसमें प्रत्येक मनुष्य को अवसर प्राप्त है और इस बात का उसे ज्ञान भी है।

२. Lord Bryce: Modern Democracies, Vol. I, p. 20। प्रो० ए० ओ० होंल ने अपनी पुस्तक 'Popular Government' (सन् १६२१, पृष्ठ १) में प्रजातन्त्र की परिभाषा इस प्रकार की है—"अन्तिम विश्लेषण में और समस्त व्यावहारिक कार्यों के लिए लोकशासन राजनीतिक संगठन का वह रूप है जिसमें लोकमत के हाथ में नियन्त्रण होता है। यदि लोकमत न हो, तो लोकशासन भी नहीं होगा।" लोकमत क्या है, इस सम्बन्ध में लॉवेल ने अपनी 'Public Opinion and Popular Government' पुस्तक में लिखा है कि यदि प्रजातन्त्र में लोकमत को वास्तव में एक शक्ति बनना है तो उसे वास्तव में सार्वजनिक होना चाहिए और ऐसा होने के लिए यह आवश्यक है कि वह बहुमत से अधिक हो। यह आवश्यक नहीं कि वह समस्त जनता का मत हो, परन्तु वह मत ऐसा हो, जिसे यदि अल्पमत पसन्द न करे, तो भी उसे स्वीकार करना आवश्यक समझे और यदि प्रजातन्त्र पूर्ण है तो यह अधीनता अनिच्छापूर्ण नहीं होनी चाहिए (पृष्ठ १४-१५)। सेसिल चेस्टर्टन (The Great State) का विचार है कि प्रयुक्त साधन चाहे जो कुछ भी हो, प्रजातन्त्र का सार यह है कि शासन का चुनाव और कार्य दोनों जनता द्वारा हो। शासक निरंकुश हो सकता है, परन्तु यदि उसका शासन सामान्य इच्छा के अनुकूल है तो साररूप से वह प्रजातन्त्र ही है।

जैसा लॉर्ड ब्राइस ने स्वयं स्वीकार किया है, यदि कुछ ऐसे राज्यो के सम्बन्ध मे इस परिभाषा को लागू किया जाय जिन्होंने सम्पत्ति एवं साक्षरता के आधार पर मताधिकार प्रदान किया है तो वे प्रजातन्त्र की श्रेणी में न रहेंगे, चाहे वे अपने आपको प्रजातान्त्रिक समझते हों। क्या जिन राज्यो मे महिला मताधिकार नहीं है, वे भी प्रजातन्त्र की श्रेणी से न निकल जायेंगे ? पूर्व समय में महिलाओं को मताधिकार से वंचित रखना राजनीतिक प्रजातन्त्र के विरुद्ध नहीं माना जाता था ; परन्तु आज, जबकि बहुत से राज्यों मे स्त्रियाँ पुरुषों के समान राजनीतिक स्वत्वों का भोग करती हैं, बहुतसो की राय है कि जो राज्य स्त्रियों को मताधिकार नहीं देता, जो उन्हें धारा-सभाओं की सदस्यता का अधिकार नहीं देता और जो लोकसेवा मे उनके लिए समान पद प्रदान करने की सुविधा नहीं देता, वह सच्चा प्रजातन्त्र नहीं कहा जा सकता। जिस राज्य मे विधान-मण्डल की एक सभा प्रौढ मताधिकार के आधार पर निर्वाचित हो और दूसरी अनिर्वाचित या सोमित मताधिकार के आधार पर निर्वाचित हो, तो क्या ऐसी सरकार प्रजातन्त्रात्मक मानी जा सकती है ? और यदि दोनो सभाओं का चुनाव प्रौढ मताधिकार के आधार पर हो परन्तु राज्यप्रमुख पैतृक शासक हो अथवा जिस राज्य मे प्रौढ मताधिकार हो, पर अधिकांश जनता अज्ञानवश अथवा उदासीनतावश उसका प्रयोग न करे अथवा किसी दबाव के कारण वह उसका प्रयोग न कर सके, जैसा कि लेटिन अमेरिकन राज्यो मे हुआ, तो क्या ऐसे राज्यों के शासन प्रजातन्त्रात्मक कहे जा सकते हैं ?

प्रजातन्त्र के भेद—विशुद्ध प्रजातन्त्र

एकतन्त्र के समान प्रजातन्त्र भी अनेक प्रकार के हैं। सामान्यतया उनका वर्गीकरण निम्न प्रकार किया जाता है—(१) विशुद्ध या प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र ; (२) प्रतिनिधिसत्तात्मक या अप्रत्यक्ष। विशुद्ध प्रजातन्त्र मे राज्य की समस्त जनता एक विशाल जन-सभा मे अपनी इच्छा की अभिव्यक्ति करती है, प्रतिनिधियो द्वारा नहीं। प्रत्यक्ष विशुद्ध प्रजातन्त्र एक सर्वथा छोटे और अपेक्षाकृत कम विकसित समाज या जाति में ही हो सकता है जहाँ समस्त निर्वाचक एक स्थान पर एकत्र हो सकें और जहाँ शासन की समस्याएँ कम और सरल हो। बड़े समाजो या राष्ट्रों में, जहाँ समस्त निर्वाचकों के लिए एक स्थान पर एकत्र होना सम्भव नहीं और जहाँ समाज एवं शासन की समस्याएँ अनेक और बड़ी विकट हैं, वहाँ विशुद्ध प्रजातन्त्र नहीं हो सकता। यूनान तथा रोम के प्राचीनकालीन छोटे नगरों में प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र असम्भव और असामान्य नहीं था, परन्तु आज के बड़े-बड़े राज्यों में ऐसा सम्भव नहीं। आज स्विट्जरलैंड के केवल चार जिलों (एपेनजेल, उरि, अण्टरवाल्डन तथा ग्लारस) में ही विशुद्ध प्रजातन्त्रात्मक शासन स्थापित है जहाँ मतदाता मध्य-युग से ही एक सार्वजनिक सभा के रूप में एकत्र होकर अपने राज-कर्मचारी मण्डल के निर्वाचन, करों की स्वीकृति तथा व्यवस्थापन एवं प्रशासन-सम्बन्धी नियम आदि के निर्माण के अभ्यासी रहे हैं। सन् १८४८ तक जग तथा श्वीज (Zug and Schweiz) नामक केण्टनों में भी विशुद्ध प्रजातन्त्र विद्यमान था, परन्तु जनसख्या में वृद्धि तथा शासन की समस्याओं में पेचीदगियाँ बढ़ जाने के कारण उन्होंने प्रतिनिधि-सत्तात्मक प्रजातन्त्र को ग्रहण किया। जिन केण्टनो में यह आज तक प्रचलित है, उनमें भी कुछ काल में इन्हीं कारणों से इसका लोप हो जायगा। अमेरिकन राज्यो के कुछ नगरों के, मुख्यकर न्यू इंगलैंड के, शासन का कभी-कभी विशुद्ध प्रजातन्त्र-शासन के सम्बन्ध में उदाहरण दिया जाता है। पहले वे सन्तोषप्रद ढंग से कार्य करते थे ; परन्तु कालान्तर में उनमें अनेक

परिवर्तन ऐसे पैदा हो गये जिनके कारण यह प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र प्रणाली कम सन्तोष-जनक होती गयी।

उन राज्यों तथा स्थानीय शासनों में, जहाँ कोई कानून बनाने के लिए बहुलता से जनमत लिया गया है, या जहाँ जनता को अपनी ओर से कानून का मसविदा बनाकर या अन्य रीति से उस पर विचार करवाने का अधिकार है, वहाँ एक मर्यादित रूप में विशुद्ध प्रजातन्त्र विद्यमान होता है। आज भी ऐसे ही कुछ राज्यों में प्रजा-जन के लिए यह सम्भव है कि वह प्रतिनिधियों के हस्तक्षेप अथवा सहयोग के बिना ही स्वयं कानून बनावे (Initiate) और स्वीकृत करे तथा विधान में संशोधन करे अथवा राज्य की नीतियों के प्रश्नों का निर्णय करे। ऐसे देशों में प्रातिनिधिक प्रणाली शनैः शनैः विशुद्ध प्रजातन्त्र की ओर अग्रसर हो रही है, यद्यपि यह सम्भव नहीं है कि इसका स्थान विशुद्ध प्रजातन्त्र बिलकुल ही ले लेगा।

प्रातिनिधिक प्रजातन्त्र

दूसरे प्रकार का प्रजातन्त्र, जिसे सामान्यतया प्रातिनिधिक प्रजातन्त्र (Representative Democracy) कहा जाता है, शासन का वह रूप है जिसमें राज्य की इच्छा का निर्माण एवं उसकी अभिव्यक्ति जनता द्वारा निर्वाचित अपेक्षाकृत अल्पसंख्यक प्रतिनिधियों द्वारा की जाती है। यह पद्धति इस विचार पर आधारित है कि यद्यपि राजधानी में समस्त जनता वास्तविक रूप से उपस्थित नहीं हो सकती तो भी वह अपने प्रतिनिधियों द्वारा उपस्थित रहती है। यदि प्रजातन्त्र का वास्तविक अर्थ ग्रहण किया जाय तो प्रतिनिधिक प्रणाली आवश्यक रूप से प्रजातान्त्रिक नहीं होती, क्योंकि प्रतिनिधियों का चुनाव सीमित मताधिकार के द्वारा भी हो सकता है। परन्तु यदि प्रजातन्त्र का विशद अर्थ लिया जाय तो प्रतिनिधि-शासन-प्रणाली प्रजातन्त्र का ही एक रूप है।[१] विशुद्ध प्रजातन्त्र के समान ही प्रातिनिधिक प्रजातन्त्र में सत्ता का स्रोत जनता या प्रजा में निहित माना जाता है, परन्तु प्रातिनिधिक प्रजातन्त्र में उससे इस बात में भिन्नता है कि इसमें यह समझा जाता है कि जनता अपनी सत्ता का प्रयोग स्वयं सन्तोषप्रद रीति से नहीं कर सकती। संक्षेप में, इसका आधार प्रभुत्व पर अधिकार और उसके प्रयोग के भेद में है।

प्रातिनिधिक प्रजातन्त्र की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। कुछ लेखकों का यह विचार है कि इसकी उत्पत्ति प्राचीन काल में स्विट्जरलैंड, जर्मनी तथा हॉलैण्ड और हंगरी में हुई। दूसरों का विचार है कि आधुनिक प्रातिनिधिक प्रजातन्त्र प्राचीनकालीन आदिम ट्यूटॉनिक स्वतन्त्र पुरुषों की परिषद् का ही पुनः सर्वातत रूप है।[२] परन्तु प्रो० हेनरी जे० फोर्ड ने अपनी "प्रातिनिधिक शासन"

---

१. रूस ऐसे शासन का एक उदाहरण है जिसका प्रातिनिधिक सिद्धान्त पर आधारित होने का दावा है, परन्तु जिसके विषय में वहाँ के नेता स्वीकार करते हैं कि वह प्रजातान्त्रिक नहीं है। वास्तविक श्रमिकों तथा सैनिकों को छोड़कर वहाँ किसी को भी मताधिकार नहीं है। वहाँ श्रमिकों का अधिनायकतन्त्र है और उस साम्यवादी आधार पर है जो अन्य सब लोगों को शोषक तथा पराश्रयी समझता है।

२. मॉण्टेस्क्यू ने ('Esprit des Lois', 1743, Bk. XI, Ch. 6) टैसिटस के आधार पर लिखा है कि अपने राजनीतिक शासन की कल्पना अंग्रेजों को जर्मनों से मिली है। इस सुन्दर प्रणाली का आविष्कार वनों में हुआ

(Representative Government) नामक पुस्तक में गम्भीर अध्ययन के बाद यह निष्कर्ष निकाला है कि यह प्रणाली उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से पूर्व की नहीं है। इसका आरम्भ तो इंगलैण्ड में सत्रहवीं शताब्दी में हुआ और १८३० में वेल्जियम में इसे स्थान मिला, किन्तु प्रातिनिधिक शासन के लिए सामान्य आन्दोलन सन् १८४८ में फ्रान्स तथा इटली में सहसा प्रारम्भ हुआ। उसी समय से यह किसी न किसी रूप में फैला, यहाँ तक कि आज यह संसार भर में व्यापक हो गया।

प्रतिनिधि-शासन के मूल तत्व

यथार्थ दृष्टि से, प्रतिनिधि-शासन का प्रयोजन उस शासन से है जिसके अधिकारी वर्ग तथा प्रतिनिधियों का प्रजातन्त्रात्मक रूप से संगठित निर्वाचकों या मतदाताओं द्वारा निर्वाचन होता है, जो अपने कार्य-काल में जनता की इच्छानुसार कार्य करते हैं और जो जनता के प्रति उत्तरदायी होते हैं। इस परिभाषा के अनुसार ऐसे कर्मचारियों द्वारा शासन, चाहे वे व्यवस्थापिका सभा के सदस्य हों या प्रशासी या न्याय-विभाग के सदस्य हों, जो लोकप्रिय विधि द्वारा निर्वाचित न किये गये हों, अथवा यदि वे प्रजातान्त्रिक ढंग से सुसंगठित मतदाताओं द्वारा चुने भी गये हों, परन्तु निर्वाचकों की आकांक्षा को प्रतिबिम्बित न करें अथवा उनके प्रति दायित्व को अमल में न लाया जा सके तो ऐसा शासन सच्चा प्रातिनिधिक शासन नहीं होता। किन्तु यदि इस कठिन कसौटी पर वर्तमान शासनों की परीक्षा की जाय तो कोई भी शासन प्रातिनिधिक सिद्ध नहीं हो सकेगा।

ऐसे बहुत से राज्य हैं जिनमे कार्यपालक विभाग (Executive) के प्रमुख का जनमत द्वारा निर्वाचन नहीं होता। दूसरे, ऐसे भी अनेक राज्य हैं जिनमें कार्यपालक विभाग के अधिकारी तथा प्रशासी कर्मचारी एवं प्रातिनिधिक और साधारण कर्मचारी जनता द्वारा नहीं चुने जाते। ऐसे भी बहुत से राज्य हैं जिनमे न्यायाधीश कार्यपालक विभाग द्वारा नियुक्त किये जाते हैं अथवा धारासभा द्वारा चुने जाते हैं। लौकिक रिवाज के अनुसार प्रतिनिधि-शासन वह है जिसमें कम से कम धारासभा का चुनाव जनता द्वारा हो।[1] इस प्रकार योरोप की बहुत सी प्रातिनिधिक प्रणालियों में से अधिकांश ऐसी हैं जिनमें (उदाहरणार्थ ब्रिटेन) पार्लमेंट तथा स्थानिक संस्थाओं के अतिरिक्त कोई भी राजकीय अधिकारी अथवा कर्मचारी या दूसरा कोई प्रतिनिधि

था। आधुनिक प्रातिनिधिक शासन-प्रणाली की उत्पत्ति के इस सिद्धान्त का प्रचार फ्रीमैन ने अपनी पुस्तक, 'The History of Federal Government' में किया है।

१. लार्ड ब्राउघम (British Constitution, Works Vol. XI, p. 49) ने कहा है—प्रातिनिधिक शासन से हमारा आशय ऐसे शासन से है जिसमें समस्त जनता या उसका काफी बड़ा भाग व्यवस्थापिका सभा के अपने सदन के सदस्य चुने। जॉर्ज कार्नेवाल लेविस ने कहा—एक शासन उस समय प्रातिनिधिक होता है जबकि समाज (जिसमें साधारणतया सब पुरुष शामिल हों) या सम्पत्ति, निवास तथा अन्य किसी आकस्मिक बात की योग्यता के आधार पर निर्धारित उसके एक भाग को अपनी प्रभुत्वसम्पन्न धारा-सभा के विशिष्ट सदस्यों का समय-समय पर चुनाव करने का अधिकार हो' (Use and Abuse of Political Terms, p. 107)।

जनता द्वारा नहीं चुना जाता। इन समस्त देशों में कर्मचारियों तथा न्यायाधीशों एवं मजिस्ट्रेटों की शासन द्वारा नियुक्ति प्रतिनिधि-शासन के सिद्धान्त के प्रतिकूल नहीं मानी जाती, यहाँ तक कि स्विट्ज़रलैण्ड और संयुक्त राज्य अमेरिका में भी, जो संसार के सबसे अधिक प्रजातन्त्रीय गणतन्त्रों में से है, प्रतिनिधि-शासन के सिद्धान्त का यह अर्थ नहीं लिया जाता कि न्यायाधीश तथा राज्य-कर्मचारी वर्ग का भी चुनाव जनता द्वारा हो और न वहाँ असीमित मताधिकार के आधार पर धारा-सभा के सदस्यों का चुनाव ही आवश्यक समझा गया है। जैसा कि अभी बतलाया गया है, स्त्रियों को व्यवस्थापिका के सदस्यों तथा अन्य कर्मचारियों के चुनाव के अधिकार से भी कुछ वर्षों पहले तक वंचित रखा गया और अब भी ऐसे अनेक राज्य हैं जो प्रतिनिधि-शासन कहलाते हैं किन्तु जिनमें स्त्रियों को ऐसे अधिकार से वंचित रखा गया है। इसी प्रकार ऐसे भी देश हैं जो प्रजातन्त्रात्मक कहलाते हैं, परन्तु जिनकी धारा-सभाओं के दोनों सदनों के सदस्यों का निर्वाचन ऐसे निर्वाचक-मण्डलों द्वारा होता है जिनमें प्रौढ़ों के बड़े-बड़े वर्गों को सम्मिलित होने का अधिकार नहीं दिया गया है। जैसा कि लॉर्ड ब्राइस ने कहा है, सत्य तो यही है कि समस्त शासन (सरकारें) वास्तव में कुलीनतन्त्र ही हैं; ऐसा इस अर्थ में है कि उनका संचालन अपेक्षाकृत अल्पसंख्यक व्यक्तियों द्वारा ही होता है।[१] यह आवश्यक रूप से ऐसा होना भी चाहिए, क्योंकि यदि बिना किसी प्रतिबन्ध के निर्वाचन-मण्डल द्वारा राज्य के सभी कर्मचारी वर्ग के निर्वाचन को ही प्रातिनिधिक प्रजातन्त्र समझा जाय तो छोटे या अविकसित राज्यों को छोड़ अन्यत्र वह उतना ही असम्भव होगा जितना कि विशुद्ध प्रजातन्त्र।

गणतन्त्र-शासन

प्रातिनिधिक शासन (Representative Government) का प्रयोग प्राय: "गणतन्त्र" शासन (Republican Government) के अर्थ में किया जाता है। मेडीसन ने 'फ़ेडरलिस्ट' में गणतन्त्र-शासन को वह शासन समझा है, जिसमें प्रतिनिधित्व की योजना' को स्थान दिया गया हो।[२] उसने लिखा है कि "गणतन्त्र-शासन वह है जो अपनी समस्त सत्ताएँ, प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से, जनता के एक बड़े भाग से प्राप्त करता है तथा जिसमें शासन-प्रबन्ध का ऐसे व्यक्तियों द्वारा सम्पादन किया जाता है जो एक सीमित अवधि या अपने सद्व्यवहारकाल या प्रसादकाल तक पदारूढ़ रहते हैं।'[३] मेडीसन के मतानुसार गणतन्त्र तथा प्रजातन्त्र (उसका आशय विशुद्ध प्रजातन्त्र से है) में दो बड़े भेद हैं—"प्रथम, गणतन्त्र में शासन-सत्ता नागरिकों द्वारा निर्वाचित व्यक्तियों की अल्प संख्या को सौंप दी जाती है और द्वितीय, गणतन्त्र में प्रजातन्त्र की अपेक्षा अधिक जनता और प्रदेश का अधिक विस्तार भी हो सकता है। प्रजातन्त्र में जनता सभा के रूप में एकत्रित होकर स्वयं शासन-संचालन करती है; परन्तु गणतन्त्र में वह अपने प्रतिनिधियों द्वारा एकत्र होती और शासन-संचालन करती है।"[४] मेडीसन का यह विचार सत्य ही है कि किसी राजकीय पद का पैतृक होना

---

१. Modern Democracies, Vol. II, p. 592.

२. The Federalist No. 10.

३. The Federalist No. 39.

४. The Federalist No. 14.

प्रजातन्त्र की भावना के प्रतिकूल है; हाँ, न्यायाधीश अपने पद पर सद्व्यवहारकाल तक रह सकते हैं। गणतन्त्र के लिए यह भी आवश्यक है कि प्रतिनिधित्व का सिद्धान्त यथोचित व्यापक मताधिकार पर आधारित हो। अति सीमित मताधिकार, जैसा कि सन् १८१४-१८३० में फ्रान्स में जब ३ करोड़ नागरिकों में से ३ लाख नागरिकों को ही मताधिकार प्राप्त था या सन् १८९३ के पहले बेल्जियम में था, गणतन्त्र-शासन के अनुकूल नहीं माना जा सकता।

गणतन्त्रों को कई वर्गों में रखा गया है—कुलीनतन्त्रीय और प्रजातन्त्रीय; एकतन्त्रीय (Monocratic) तथा धनिकतन्त्रीय (Plutocratic); असीमित मिश्रित एवं सीमित; संसृष्ट (Corporate), अल्पतन्त्रात्मक, कुलीनतन्त्रात्मक और प्रजातन्त्रात्मक; संघीय (Federal) और संयुक्त (Confederate); केन्द्रीभूत (Centralized) और एकात्मक (Unitary) तथा निर्वाचित और पैतृक आदि।

पूर्व काल में "गणतन्त्र" शब्द ऐसे शासनों के लिए भी प्रयुक्त किया जाता था जो आजकल लौकिक अर्थ में एकतन्त्रात्मक एवं कुलीनतन्त्रात्मक समझे जाते हैं। इस प्रकार स्पार्टा, एथेन्स, रोम, वेनिस और पोलैण्ड राजनीतिक लेखकों द्वारा गणतन्त्र माने गये हैं; यद्यपि उनमें से किसी में भी पूर्ण प्रतिनिधि शासन के वे तत्व विद्यमान् नहीं थे जो आज गणतन्त्रों के मुख्य लक्षण माने जाते हैं। रोम सैनिक आधार पर संगठित था, वेनिस पैतृक अधिकार वाले रईसों का धनिक-तन्त्र था; पोलैण्ड कुलीनतन्त्र और एकतन्त्र का मिश्रणमात्र था। फ्रान्स को भी क्रान्ति के बारहवें वर्ष के विधान में गणतन्त्र माना जाता था, यद्यपि उसमें राज्य प्रमुख को सम्राट् की पदवी से विभूषित किया गया था और ताज नेपोलियन के परिवार में ही पैतृक कर दिया गया था।

---

१. फ़ेडरलिस्ट, संख्या ३९। सर हेनरीमेन ने यह विचार प्रकट किया है कि गणतन्त्र का प्रयोग एक समय एक अस्पष्ट अर्थ में ऐसे शासन के लिए होता था जिसमें कोई पैतृक राजा नहीं होता था, परन्तु आज उसमें यह आशय और भी शामिल हो गया है कि सरकार व्यापक मताधिकार पर आधारित हो। "Popular Government", p. 198.

ब्लुण्ट्शली ने अपनी पुस्तक "पॉलिटिक" (Politik) में पृष्ठ २९५ पर यह मत प्रकट किया है कि गणतन्त्र व्यापक तथा सीमित अर्थ में समझा जा सकता है। व्यापक अर्थ में हम उन सब राज्यों को गणतन्त्र कहते हैं, जिनमें सामान्य हित (Res Publica) की भावना व्यापक हो अर्थात् सार्वजनिक कानून (Jus Publicum) वाले राज्य। इस अर्थ में सत्रहवीं तथा अठारवीं शताब्दियों में प्राकृतिक कानून पर लिखने वालों ने समस्त स्वतन्त्र राज्यों को गणतन्त्र माना था। इसी अर्थ में वह शासन भी गणतन्त्र है जिसमें कोई भी व्यक्ति लोक-सत्ता का एक साम्पत्तिक अधिकार की तरह भोग नहीं करता, जिसमें सत्ता का प्रयोग सामान्य हित के लिए होता है और जिसमें सब नागरिक एक ही साथ नागरिक और प्रजा दोनों होते हैं। अपने सीमित अर्थ में गणतन्त्र का प्रयोग एकतन्त्र के विरुद्ध किया जाता है। इस अर्थ में वह कुछ व्यक्तियों द्वारा शासन होता है और कुलीनतन्त्र अथवा प्रजातन्त्र होता है।

अन्य वर्गीकरण

मान्टेस्क्यू ने शासनों के भेद इस प्रकार किये हैं—गणतन्त्र, एकतन्त्र और निरंकुश शासन। उसके अनुसार गणतन्त्र-शासन वह है जिसमें समस्त नागरिक या जनता का एक भाग सर्वोच्च सत्ता का प्रयोग करता है; एकतन्त्र में एक व्यक्ति सर्वोच्च सत्ता का प्रयोग सुनिश्चित नियमानुसार करता है, निरंकुश शासन में एक व्यक्ति अपनी इच्छानुसार हर एक कार्य करता है। इस वर्गीकरण का आधार कुछ तो जन-संख्या और कुछ शासन का चरित्र एवं उसकी भावना है। बुलर्जे ने शासकों के भेद एकतन्त्र, कुलीनतन्त्र, प्रजातन्त्र तथा मिश्रित राज्य माने हैं। दूसरे लेखक केवल दो भेद मानते हैं—एकतन्त्र और गणतन्त्र, गणतन्त्र के अन्तर्गत कुलीनतन्त्र और प्रजातन्त्र दोनों सम्मिलित हैं।

इन वर्गीकरणों में भी वैसा ही दोष है जैसा राज्यों के वर्गीकरणों में है। इनका कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है जिससे मौलिक लक्षणों की दृष्टि से शासनों में भेद किया जा सके। कोई एक वर्गीकरण अधिक मूल्य नहीं रखता। शासन को जितने दृष्टिकोणों से देखा जाय, उतने ही वर्गीकरण होने चाहिए।

शासनों को एकतन्त्र, कुलीनतन्त्र तथा प्रजातन्त्र में विभाजित करने का कोई व्यावहारिक मूल्य नहीं है। किसी शासन को एकतन्त्र-शासन कह देने मात्र से उसकी वास्तविक प्रकृति की कोई उपयुक्त कल्पना नहीं हो सकती। बहुत से एकतन्त्र कहे जाने वाले शासन वास्तव में प्रजातन्त्रीय हैं। कुलीनतन्त्रों तथा प्रजातन्त्रों में भेद अस्पष्ट है और वह प्रायः परिभाषा का ही है। यदि इस वर्गीकरण को मान लिया जाय तो ब्रिटेन की सरकार और रूस की जारशाही सरकार एक ही श्रेणी में रखी जायँगी और संयुक्त राज्य अमेरिका तथा ब्रिटेन जैसे प्रजातन्त्र अलग-अलग श्रेणियों में रहेंगे।

मुख्य पाठ्य-ग्रन्थ

Bluntschli,	"Theory of the State" (*Oxford translation, 1892*), Bk. VI.
Burgess,	"Political Science and Constitutional Law" (1896), Vol II, Bk. III, Chs. 1-2.
Bryce,	"Modern Democracies" (1921), Vol. I, Bks. III-V.
Duguit,	"*Droit Constitutionnel*" (*2nd ed., 1923*), *Vol. II*, Secs. 47-51.
Esmein,	"Droit Constitutionnel" (7th ed., 1921), Pt. I, Chs. 2, 4, 5.
Ford,	"Representative Government" (1924), various chapters.
Gettell,	"Readings in Political Science" (1911), Secs. 225-255.
Gilchrist,	"Principles of Political Science" (1921), Ch. 11.
Hall,	"Popular Government" (1921), Ch. 1.
Jellinek,	"Recht Des Modernen Staates" (1905), Ch. 20.

Seeley, "Introduction to Political Science" (1896), various chapters.

Treitschke, "Politics" (Eng. translation, 1916), Chs. 13, 15 20.

Willoughby, (W. W.) and Rogers, "Introduction to the Problem of Government' (1921), Chs. 7, 9, 17, 18.

Willoughby, W. F., "The Government of Modern States"(1919), Chs. 3-5.

शासन के रूप और भेद

(३) परिषद्-शासन

प्रोफेसर बर्गेस का वर्गीकरण

प्रोफेसर बर्गेस ने शासन के वर्गीकरण के लिए निम्नलिखित सिद्धान्त स्वीकार किये हैं—प्रथम राज्य और शासन की एकरूपता अथवा भिन्नता ; द्वितीय, राजकीय सम्बन्ध (Official relation) तथा सर्वोच्च सरकार की अवधि (Official tenure) की प्रकृति ; तृतीय, व्यवस्थापिका परिषद् और कार्यपालक विभाग के पारस्परिक सम्बन्ध ; चतुर्थ, शासन-सत्ता का केन्द्रीकरण अथवा वितरण ।[1]

शासन की राज्य के साथ एकरूपता अथवा भिन्नता के आधार पर बर्गेस ने उसके दो भेद माने हैं : प्राथमिक तथा प्रातिनिधिक । विशुद्ध प्रजातन्त्र, जहाँ समस्त नागरिक एक सभा के रूप मे एकत्र होकर राज्य के कानूनो एव प्रशासन-सम्बन्धी नियमो का निर्माण करते हैं, प्राथमिक शासन (Primary Government) के अति निकट है । परन्तु जहाँ जनता शासन के एक या अधिक अंगो को अपनी ओर से शासन-संचालन का भार सौंप देती है, वहाँ किसी रूप मे प्रातिनिधिक शासन होता है । यह आवश्यक नही है कि ऐसा शासन लोक-शासन (Popular Government) भी हो ।

सर्वोच्च सरकार के कार्य-काल की दृष्टि से शासनो के दो भेद माने गये हैं—पैतृक तथा निर्वाचित । यह वर्गीकरण किसी काम का नही, क्योंकि ऐसी कोई भी सरकार नहो जो पूर्णतः पैतृक या परम्परागत अथवा पूर्णतः निर्वाचित हो । ऐसे अनेक शासन हैं और हुए हैं जिनमे राज्य-प्रमुख पैतृक उत्तराधिकार के आधार पर है या था और ऐसे भो शासन हैं और हुए हैं जिनमे वह और अन्य राजकर्मचारी निर्वाचित थे या हैं परन्तु ऐसा कोई शासन नहीं हुआ जिसमे शासक वर्ग पूर्णतः पैतृक रहा हो ।

व्यवस्थापिका परिषद् तथा कार्यपालक विभाग के सम्बन्धो के आधार पर भी शासन के दो भेद माने गये हैं—परिषद्-शासन (Cabinet Government) तथा अध्यक्षात्मक या राष्ट्रपति-शासन (Presidential Government) । परिषद्-शासन को 'उत्तरदायी' तथा 'सांसद' (Parliamentary) शासन भी कहते हैं ।[2]

१. 'Political Science and Constitutional Law, Vol. II, Bk. III. Ch. 1.
२. इंगलैण्ड, भारतवर्ष तथा डॉमिनियनो मे 'उत्तरदायी' शासन का प्रयोग होता है, योरोप में 'सांसद' शासन कहने का रिवाज है ।

परिषद्-शासन की परिभाषा

परिषद्-शासन वह शासन-प्रणाली है। जिसमे वास्तविक कार्यपालिका (मन्त्रि-परिषद्) व्यवस्थापक मण्डल अथवा उसके एक लोकप्रिय सदन के प्रति तथा अन्त मे निर्वाचक-मण्डल के प्रति अपनी राजनीतिक नीतियो एव कार्यो के लिए कानूनी रूप से उत्तरदायी होती है और नाममात्र की कार्यपालिका (राज्य का प्रमुख) अनुत्तरदायी होती है। मन्त्रि-परिषद् के सदस्य व्यवस्थापक मण्डल के सदस्य एव व्यवस्थापक मण्डल के बहुमत दल के नेता होते हैं और चाहे वे सदस्य हो या न हो, उन्हे सामान्य-तया व्यवस्थापक मण्डल मे बैठने का अधिकार होता है तथा वे उनकी कार्यवाही मे भाग ले सकते है, *परन्तु यदि वे सदस्य नही हैं, तो किसी प्रश्न पर मत नही दे सकते*।[1] यह भी परम्परा है (कभी-कभी विधान मे इसका उल्लेख भी होता है) कि उनसे सदस्य प्रश्न कर सकते है और उनके लिए उनका उत्तर देना अनिवार्य होता है। *संक्षेप मे, एक ही व्यक्ति के मन्त्री तथा व्यवस्थापक मण्डल का सदस्य होने मे कोई* असगति नही है। इसके विपरीत, परिषद्-शासन मन्त्री तथा सदस्य के दोहरे लक्षण को स्वीकार करता है और इस प्रकार उसमे कार्यपालक (Executive) और व्यवस्थापक (Legislative) कार्य मिश्रित होते हैं। इल्बर्ट का विचार है कि 'कार्यपालक तथा व्यवस्थापक सत्ताओ मे ऐसा कोई पार्थक्य नही है जैसा अमेरिकन विधान का प्रमुख लक्षण है।' उल्टे, दोनो का परस्पर सम्बन्ध घनिष्टता और अन्योन्याश्रितता का है। बेजहॉट ने ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल का वर्णन करते हुए कहा है कि 'वह एक कडी है जो कार्यपालक और व्यवस्थापक विभागो को मिलाती है।' एक दूसरे स्थल पर उसने लिखा है कि 'वह पार्लमेण्ट की एक समिति है जो राष्ट्र का शासन करने के लिए चुनी जाती है।'[2] यदि इसे पार्लमेण्ट के बहुमत दल की एक समिति कहा जाय तो अधिक उपयुक्त होगा क्योकि सामान्यतया अल्पमत-दल का उसमे कोई सदस्य नही होता। इस विषय मे वह अन्य पार्लमेण्टरी समितियो से भिन्न है। लॉवेल ने लिखा है कि 'वह सत्ताधारी दल के सासद नेताओ की एक अनियमित परन्तु स्थायी गुप्त-समिति है।'[3] कानूनी कल्पना के *अनुसार नाममात्र का कार्यपालक* (Titular-Executive)

---

१. कभी-कभी ब्रिटेन मे मन्त्री पार्लमेण्ट के किसी भी सदन के सदस्य नही होते। *सन् १६०८ मे चर्चिल को चुनाव म पराजय होने के कारण उसे हाउस ऑफ* कॉमन्स मे स्थान नही मिल सका। प्रथम विश्वयुद्ध के समय लॉयड जॉर्ज के मन्त्रिमण्डल मे ८८ मन्त्रियो मे से ५ किसी भी सदन (House) के सदस्य नही थे। ग्रेट ब्रिटेन मे, योरोप की प्रथा के विरुद्ध मन्त्री उस सभा मे भाषण नहीं दे सकता, जिसका वह सदस्य नही है। अत एक लार्ड सदस्य कॉमन्स सभा म एक उप-सचिव (Under-Secretary) द्वारा ही भाषण दे सकता है। कुछ समय पहल तक लोक-सभा के सदस्यो को मन्त्रि-पद स्वीकार करन पर अपना फिर से चुनाव करवाना पडता था, परन्तु अब यह बात नही रही।

२. डायसी न कहा है कि परिषद्-प्रणाली का आधार कार्यपालिका तथा व्यव-स्थापिका सत्ताओं का मिश्रण और साथ ही उन दोनो का सामंजस्यपूर्ण सम्बन्ध है।

३. Government of England, Vol I, p. 56 ग्लेड्स्टन ने एक बार कहा था कि मन्त्रि-परिषद् एक तिहरा कब्जा है जो एक साथ राजा, लार्ड-सदन तथा लोक-सभा को जोडता है।

राजनीतिक अर्थ में कोई गलती नहीं कर सकता और वह मन्त्रियों की संरक्षता में रहता है, जो उसके राजकीय (Official) कार्यों का दायित्व ग्रहण करते हैं। इन सबको मिला कर ही 'शासन' (Government) बनता है। वे ही व्यवस्थापक मण्डल में प्रस्तुत करने के लिए अधिक महत्वपूर्ण कानूनों के मसविदे तैयार करते हैं, उन्हें पेश करते हैं और उन्हें स्वीकार करने का आग्रह करते हैं। व्यवस्थापक मण्डल में अपने स्थान से वे सदस्यों द्वारा की जाने वाली अपनी नीतियों की आलोचना का उत्तर देते हैं और जब उनके कार्यों पर आक्षेप किये जाते हैं तो वे उनका भी उत्तर देते हैं। वे बड़े प्रशासकीय विभागों के प्रमुख होते हैं और जैसा उल्लेख किया जा चुका है, साधारणतया व्यवस्थापक मण्डल के बहुमत-दल के नेता भी होते हैं। जब तक उनकी शासन नीतियों तथा राजकीय व्यवहार को व्यवस्थापक मण्डल के या या कहिये कि उस सभा के जिसके वे सदस्य हैं, बहुमत का समर्थन प्राप्त होता है, वे अपने पदों पर आसीन रहते हुए देश का शासन करते हैं। परन्तु जैसे ही व्यवस्थापक मण्डल मन्त्रि-परिषद् के प्रति निन्दा-प्रस्ताव द्वारा या उसके किसी बिल या प्रस्ताव अथवा बजट की किसी माँग को अस्वीकार करके अपना अविश्वास प्रकट कर देता है वैसे ही समूचा मन्त्रि-परिषद् त्याग-पत्र दे देता है अथवा उस सभा-गृह को भंग कर देता है जिसके प्रति वह जिम्मेदार होता है। वह उसका पुनः निर्वाचन करवाता है और निर्वाचकों से अपनी नीतियों के प्रति सहानुभूति रखने वाले नये व्यवस्थापक मण्डल के निर्वाचन द्वारा अपने समर्थन के लिए प्रार्थना करता है। यदि नये चुनाव में मन्त्रि-परिषद् के पक्ष में बहुमत प्राप्त हो तो वे अपने पद पर बने रहते हैं और यदि निर्वाचकों ने मन्त्रि-परिषद् के विरुद्ध अपना मत दिया हो तो चुनाव का परिणाम ज्ञात होने के बाद या नवीन व्यवस्थापक मण्डल के प्रथम अधिवेशन में विरोध के प्रस्ताव के बाद मन्त्रि-मण्डल त्याग-पत्र दे देता है।

ब्रिटेन में परिषद्-पद्धति[1]

ग्रेट ब्रिटेन जैसी आदर्श मन्त्रि-परिषद् प्रणाली में मन्त्रि परिषद् का निर्माण लोक-सदन (Popular Chamber) के बहुमत-दल द्वारा होता है और इस प्रकार

---

१. सिद्धान्ततः ग्रेट ब्रिटेन में मन्त्री अपने-अपने विभागों के सचालन के लिए व्यक्तिगत रूप से और शासन की सामान्य नीति के लिए सामूहिक रूप से उत्तरदायी होते हैं। व्यक्तिगत त्याग-पत्रों के उदाहरण भी मिलते हैं। परन्तु संसद पद्धति के विकास के कारण मन्त्रियों के व्यक्तिगत दायित्व का स्थान सामूहिक दायित्व ने ले लिया है। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि कम महत्वपूर्ण प्रश्नों पर मन्त्रि-मण्डल की हार हो जाने पर वह त्याग-पत्र देने के लिए बाध्य नहीं होता। अक्टूबर सन् १९१९ ई० में लॉयड जार्ज की सरकार की (११३ मत पक्ष में तथा १८५ विपक्ष में होने के कारण) हार हो जाने पर भी मन्त्रि-मण्डल ने त्याग-पत्र नहीं दिया। प्रश्न महत्वपूर्ण नहीं था, सदन में उपस्थिति भी कम थी और उसके कुछ दिन पहले ही चुनाव हुआ था, उसमें लॉयड जार्ज की सरकार को जनता का पूर्ण समर्थन मिल चुका था। लार्ड रॉबर्ट सेसिल ने इसे एक मूर्खतापूर्ण सिद्धान्त माना है कि हर प्रश्न पर मन्त्रि-परिषद् के विरुद्ध मत मिलने पर उसे त्याग-पत्र देना पड़े। उसने यह सुझाव पेश किया है कि सरकार को यह घोषित कर देना चाहिए कि कुछ विशेष अवसरों को छोड़ सामान्यतया पार्लमेण्ट में पराजय के कारण मन्त्रि-परिषद् त्याग-पत्र नहीं देगी।

उसमे एकरूपता रहती है।[1] कानूनी सिद्धान्तानुसार प्रधानमन्त्री की नियुक्ति नाममात्र के अध्यक्ष द्वारा होती है और प्रधानमन्त्री अपने सहयोगियों को चुनता है, यद्यपि जहाँ व्यवस्थापक मण्डल के प्रति उत्तरदायित्व की पद्धति का पूर्ण विकास हो चुका है, वहाँ प्रधानमन्त्री तथा अन्य मन्त्रियों का चुनाव वास्तव मे व्यवस्थापिका-सभा द्वारा ही होता है और अध्यक्ष द्वारा नियुक्ति केवल नाममात्र की होती है। मन्त्रियों की सख्या कानून या रिवाज द्वारा निश्चित नहीं होती, वह आवश्यकतानुसार घट-बढ सकती है। किसी भी अवस्था मे उनकी संख्या प्रधानमन्त्री द्वारा या प्रशासकीय आदेश द्वारा निर्धारित की जाती है।

परिषद्-पद्धति की उत्पत्ति इगलैण्ड म हुई और वह इतिहास की सृष्टि है, आविष्कार नहीं। इगलैण्ड से वह धीरे-धीरे हॉलैण्ड, फ्रान्स, बेल्जियम, रूमानिया, स्वीडन, नार्वे, डेनमार्क तथा ग्रीस (यूनान) मे प्रचलित हो गयी और कुछ सीमित रूप मे चीन तथा जापान म भी प्रचलित हो गयी। प्रथम विश्व-युद्ध के बाद योरोप मे जो नये राज्य स्थापित हुए उनमे भी इसी पद्धति की स्थापना हुई। इस प्रकार यह ससार की प्रमुख शासन-प्रणाली बन गयी। विश्व-युद्ध (१६१४-१८) से पूर्व इगने

१. विश्व-युद्ध (१६१४-१८) के आरम्भ होने के बाद इस सिद्धान्त का परित्याग करके उदार, अनुदार तथा मजदूर-दल के सदस्यो की 'राष्ट्रीय सरकार' (Coalition Government) बनाई गयी। सन् १६१६ मे जब लॉयड जॉर्ज प्रधानमन्त्री बना तब उसने इस परम्परा मे और भी परिवर्तन कर दिये। उसने पाँच मन्त्रियो की एक युद्ध-मन्त्रि-परिषद् बनाई (यह भी राष्ट्रीय थी) जो अपनी पूरी शक्ति युद्ध-सम्बन्धी कार्यों मे लगाती थी। शासन-सत्ता का प्रयोग २३ मन्त्रियो के स्थान पर इन पाँच सदस्यो की 'वार केबिनेट' द्वारा होने लगा। अब प्रधानमन्त्री हाउस ऑफ कॉमन्स का सक्रिय नेता नहीं रहा, वह उसके अधिवेशनो मे बहुत कम भाग लेता था। युद्ध-मन्त्रि-परिषद् की स्थापना से मन्त्रि-परिषद् पर कोई प्रभाव नही पडा, यद्यपि मन्त्रियो की स्थिति मे अवश्य अन्तर आ गया और उनकी सख्या बढकर ८८ हो गयी। युद्ध-मन्त्रि परिषद् तीन वर्ष तक कार्य करती रही। उसकी ४१५ बैठकें हुई। इस मन्त्रि-परिषद् का एक सचिव था जो उसकी कार्यवाही का विवरण रखता था। इसी समय एक साम्राज्य युद्ध-मन्त्रि मण्डल (Imperial War Cabinet) भी बनाया गया जिसमे युद्ध-मन्त्रि-मण्डल के सदस्य, प्रत्येक उपनिवेश का प्रधानमन्त्री तथा भारत के दो प्रतिनिधि सम्मिलित थे।

मजदूर दल के प्रादुर्भाव से इंगलैण्ड की परिषद्-प्रणाली में कुछ जटिलता आ गयी है। जब तक वहाँ दो दल थे तब तक मन्त्रि-परिषद् की नियुक्ति बडी सरल थी। सन् १६२३ ई० में ऐसा हुआ कि तीनों दलो में से किसी का भी अजेय बहुमत नहीं हो पाया। अनुदार दल की संख्या दोनों अन्य दलों की सख्या से अलग-अलग अधिक अवश्य थी। परन्तु वे दोनों मिल कर उसमे अधिक थे। ऐसी अवस्था में राजा ने उसका अजेय बहुमत न होते हुए भी मजदूर-दल के नेता रैमजे मेकडोनेल्ड को प्रधानमन्त्री बनाया। उदार दल के सहयोग मे वह एक वर्ष के लगभग शासन करता रहा, परन्तु जब उस दल ने सहयोग बन्द कर दिया तो उसे त्याग-पत्र देना पडा। सन् १६२४ में नया चुनाव हुआ जिसमें अनुदार दल को अजेय बहुमत मिला और उसकी मन्त्रि-परिषद् बनी।

जर्मनी मे कोई प्रगति नही की; स्विट्जरलैण्ड तथा संयुक्त राज्य अमेरिका मे तो इसकी प्रगति हुई ही नहीं और लेटिन अमेरिका मे बहुत कम।[1] परिषद्-शासन-प्रणाली का ग्रेट ब्रिटेन मे पूर्ण विकास हुआ है और वहाँ इसके अत्यन्त सन्तोषप्रद परिणाम निकले हैं।

ब्रिटिश उपनिवेशों मे मन्त्रि-मण्डल शासन

ब्रिटेन की परिषद्-शासन-प्रणाली की प्रतिष्ठा ब्रिटिश उपनिवेशो (Dominions) मे भी की गयी। इस पद्धति तथा उपनिवेशो की पद्धति मे साम्य है, परन्तु उपनिवेशो मे इसको उतनी सफलता प्राप्त नही हुई जितनी कि उसे अपनी मातृ-भूमि मे मिली है। कुछ उपनिवेशो मे, विशेषत. ऑस्ट्रेलिया मे, यह प्रणाली अत्यन्त अस्थिर रही है। ऑस्ट्रेलिया मे एक "मन्त्रि-परिषद् के बाद दूसरी मन्त्रि-परिषद् बनती है और कुछ सप्ताहो या महीनो मे ही टूट जाती है।"[2] प्रो० कीथ के अनुसार सन् १८५६ से सन् १९१२ तक न्यू साउथ वेल्स मे ३४, साउथ ऑस्ट्रेलिया मे ४१, विक्टोरिया मे ३३ और टसमानिया मे २७ मन्त्रि-परिषद् बनीं और नष्ट हुईं। कनाडा मे मन्त्रि-परिषद् अपेक्षाकृत अधिक स्थायी रहे है और उनका नीतियो मे भी सातत्य रहा है। अधिकांश उपनिवेशो मे यह मूर्खतापूर्ण प्रथा प्रचलित है जो कुछ समय पहले तक इंगलैण्ड मे भी प्रचलित थी कि मन्त्री पदग्रहण के बाद धारा-सभा की सदस्यता का परित्याग कर देते हैं और उनका पुन: चुनाव होता है। ब्रिटेन के समान ही उपनिवेशो मे इस सम्बन्ध मे कोई एक-सा नियम नही है कि निर्वाचन का परिणाम ज्ञात हो जाने पर पराजित मन्त्रि-परिषद् को त्याग-पत्र दे देना चाहिए या उस समय तक अपने पद पर बने रहना चाहिए जब तक कि नवीन धारा-सभा मे उसके विरुद्ध निन्दा-प्रस्ताव पास न हो जाय। जैसा कि ग्रेट ब्रिटेन मे प्रचलित है, सामान्य नियम यह है कि मन्त्री सदैव हाउस ऑफ कॉमन्स द्वारा ही अलग किये जा सकते हैं, उच्च सदन चाहे जनता द्वारा निर्वाचित ही क्यो न हो।[3]

---

१. चिली को छोड़कर जहाँ सन् १८६१ से परिषद्-पद्धति प्रचलित है। वर्तमान विधान के (जो १८ सितम्बर सन् १९२५ को लागू हुआ था) अनुसार रिपब्लिक के राष्ट्रपति के समस्त आदेशो पर उस मन्त्री के भी हस्ताक्षर होने चाहिए जो (कांग्रेस के प्रति) उसके प्रत्येक कार्य के लिए उत्तरदायी होगा। मन्त्री कांग्रेस के दोनों सदनो के अधिवेशनो में भाग ले सकते हैं, परन्तु वे मत नही दे सकते। कुछ विद्वानो का मत है कि हेटी, डोमीनिकन रिपब्लिक और लेटिन अमरीकी गणतन्त्रो में परिषद्-पद्धति प्रचलित है, किन्तु यदि ऐसा है तो अभी वहाँ इसका पूर्ण विकास नही हुआ है। वेनेजुएला में मन्त्रियो को व्यवस्थापिका सभा में भाग लेने का अधिकार नही है। अत इसमें सन्देह है कि वहाँ परिषद्-प्रणाली *प्रचलित है क्योंकि मन्त्रियो का धारा-सभा में भाग लेना उसकी एक मुख्य विशे-*षता मानी जाती है। सिडनी लो ने अपनी 'Governance of England' में लिखा है कि सासद शासन-पद्धति का सार यह है कि मन्त्री पार्लामेण्ट के सदस्य हों।

२. Keith : Responsible Government in the Dominions (1912) Vol. I, p. 322.

३. सन् १९१९ मे पार्लामेण्ट के कानून द्वारा भारत मे जिस प्रणाली की प्रतिष्ठा की गयी थी, वह कुछ अशो मे ब्रिटेन की मन्त्रि-मण्डल-पद्धति से मिलती-

बेल्जियम की परिषद् शासन-प्रणाली

योरोप मे जिन देशो मे परिषद् शासन-प्रणाली प्रतिष्ठित है उनमे मे बेल्जियम की प्रणाली ब्रिटेन की प्रणाली से काफी मिलती-जुलती है, यद्यपि इंगलैण्ड की अपेक्षा बेल्जियम मे ताज (Crown) का कार्य अधिक महत्वपूर्ण है। बेल्जियम के विधान मे यह स्पष्ट उल्लेख है कि उस समय तक राजा का कोई भी काय मान्य नहीं होगा जब तक कि कोई मन्त्री उस पर अपने हस्ताक्षर करके उसका दायित्व अपने ऊपर न ले ले बेल्जियम मे मन्त्रियों का राजा के प्रति दायित्व इंगलैण्ड की अपेक्षा अधिक वास्तविक है। वह मन्त्रियों को अधिक स्वतन्त्रता से आदेश दे सकता है और उन्हें पदच्युत भी कर सकता है।[1] किन्तु चूंकि वहाँ सामान्यतया सर्वस्वीकृत सासद नेता हैं, अतः राजा को मन्त्रियों के चुनाव में कोई वास्तविक स्वतन्त्रता नही है।[2] बेल्जियम मे, ब्रिटेन की भाँति बिना किसी विभागीय दायित्व के भी कुछ मन्त्रियो की नियुक्ति की जाती है जिससे शासन मे ऐसे व्यक्ति सम्मिलित किये जा सकें जो सुयोग्य तथा अनुभवी हो और जिनका सहयोग शासन मे आवश्यक हो, परन्तु जो किसी विभाग का भार अपने ऊपर लेने को तैयार न हो। ब्रिटेन की भाँति, मन्त्रियों की नियुक्ति विशेषज्ञ-प्रशासको मे से नहीं, बल्कि पार्लामेण्ट के सदस्यो में से और वह भी सामान्यतया निम्न सदन मे से की जाती है, उच्च सदन मे से नही। केवल युद्ध-मन्त्री ही सैनिक होता है। सभी मन्त्रियों को धारा-सभाओं के दोनो सदनो मे जाने का और बोलने का अधिकार है।

फ्रान्स मे परिषद् पद्धति

फ्रान्स मे परिषद्-प्रणाली की प्रतिष्ठा सन् १८१४ के चार्टर द्वारा की गयी थी, परन्तु वह आंग्ल-प्रणाली की एक अपूर्ण नकल थी। राजा को अनुत्तरदायी घोषित कर दिया गया, मन्त्री भी निम्न सदन के प्रति उत्तरदायी बना दिये गये, किन्तु पुनः प्रतिष्ठित बूर्बों वंश के राजाओ ने अपना जो प्राधान्य स्थापित कर लिया, वह सासद-प्रणाली के सफल सचालन के विपरीत था। सन् १८३० मे सत्ता का प्राधान्य राजा के पास से धारा-सभा के निम्न सदन के हाथो मे पहुँच जाने के कारण मन्त्रि परिषद् पर उसका प्रभाव विशेष हो गया और इस प्रकार सच्ची परिषद्-प्रणाली की आवश्यक अवस्था स्थापित हो गयी। थियर (Thiers) के शब्दो मे, अब राजा का राज अवश्य था, परन्तु वह शासन नहीं करता था। परन्तु आरम्भ मे ही इंगलैण्ड की, जहाँ यह पद्धति बहुत सफल हुई है तथा फ्रान्स की प्रणालियों मे भेद था। सर्वप्रथम फ्रान्स मे

जुलती थी। वायसराय की शासन-परिषद् मन्त्रि-मण्डल से मिलती थी। उसके सदस्य धारा-मण्डल के किसी भी सभा-गृह के सदस्य होते थे। वायसराय उनकी सलाह से कार्य करता था। परन्तु सन् १९१९ ई० के कानून मे यह स्पष्टरूप मे नहीं लिखा था कि वायसराय की परिषद् के ये सदस्य भारतीय धारा-सभा के प्रति उत्तरदायी होगे।

१. एक लेखक ऑर्बन (Orban) ने कहा है कि राजा अपने मन्त्रियों का अतिक्रमण नही करता, किन्तु अपने परामर्श मे उनकी सहायता करता है, उनके आदेशों की उग्रता को मंद कर देता है और उनके कामों को अपनी राय के अनुकूल बनाने का प्रयत्न करता है।

२. पिछले वर्षों मे वहाँ तीन दल बन जाने के कारण राजा को मन्त्रियो की नियुक्ति में अधिक स्वतन्त्रता हो गयी है।

अनेक राजनीतिक दलों के अस्तित्व के कारण चेम्बर ऑफ डिपुटीज (निम्न सदन) मे किसी भी एक दल का बहुमत नही हो सकता था। अतः यह आवश्यक हो गया कि मन्त्रि-परिषद् भी एकदलीय न होकर संयुक्त (Coalition) हो। ऐसे मन्त्रि-परिषद् प्रायः दुर्बल होते हैं और उनकी कार्य अवधि भी ब्रिटिश मन्त्रि-परिषद् की अपेक्षा अल्प-कालीन होती है। फ्रान्स की मन्त्रि-परिषदो की अवधि औसतन ८ मास से अधिक नहीं रही और हाल मे तो उनकी औसत अवधि ३ मास की ही रही है।[1] स्वभावतः फ्रान्स के प्रधानमन्त्री का (जो कौंसिल का प्रेसिडेण्ट कहलाता है) चुनाव बड़ा कठिन होता है तथा उसमे देर भी लगती है और उसके लिए अपने सहयोगियों का चुनाव तो और भी कठिन होता है। ऐसी प्रणाली मे नीति का सातत्य आवश्यक रूप से कठिन होता है और कभी-कभी असम्भव भी होता है।

अपनी अन्य विशेषताओं के कारण भी फ्रेन्च प्रणाली इंगलेण्ड की प्रणाली से भिन्न है। फ्रेन्च लोगों का स्वभाव परिषद्-प्रणाली को सुचारु ढंग से कार्यान्वित करने के अनुकूल नही है। ग्रेट ब्रिटेन मे तो पार्लमेण्ट की यह प्रवृत्ति है कि वह मन्त्रि-परिषद् द्वारा मार्ग-दर्शन एवं संचालन ठीक समझती है और केवल अन्तिम नियन्त्रण ही अपने हाथों मे रख कर सन्तुष्ट रहती है।[2] इसके विपरीत फ्रान्स मे पार्लमेण्ट तथा मन्त्रि-परिषद् के कार्य विपरीत दिशा में होते हैं। वहाँ मन्त्रि-परिषद् पार्लमेण्ट का मार्ग-दर्शन करने के स्थान पर कानून-निर्माण तथा शासन-प्रबन्ध के सम्बन्ध में स्वयं उसी के द्वारा नियन्त्रित होती है और साधारण प्रश्नों पर भी उसका जीवन समाप्त हो जाता है; यद्यपि विधान में यह स्पष्ट उल्लेख है कि वह केवल अपनी सामान्य नीतियों के लिए ही उत्तरदायी होगी। फ्रान्स में प्रश्नोत्तरों के अतिशय विकास के कारण मन्त्रियों को तंग किया जाता है और उन्हें साधारण घटनाओं के सम्बन्ध में वक्तव्य देने को बाध्य होना पड़ता है और उन्हें ऐसी सामान्य बातों के लिए त्याग-पत्र तक दे देना पड़ता है, जिन्हें ब्रिटेन में पार्लमेण्ट में विचार करने योग्य भी नहीं समझा जायगा। इस स्थिति को, जिसके कारण पार्लमेण्ट का बहुत सा समय व्यर्थ नष्ट होता है और छोटी-छोटी बातों पर भी मन्त्रि-परिषदों का पतन होता रहता है, फ्रेन्च विद्वानों ने भी कड़ी आलोचना की है। उनका यह कथन है कि फ्रान्स की वर्तमान प्रणाली सांसद प्रणाली

---

१. सन् १८७३ से १९२६ तक फ्रान्स में ७५ मन्त्रि-परिषदें बनीं जबकि उसी काल में इंगलैण्ड में १२ प्रधानमन्त्री हुए। १ नवम्बर सन् १९१७ से जुलाई सन् १९२६ तक की नौ वर्ष से भी कम की अवधि मे फ्रान्स मे १५ मन्त्रि-परिषदें बनीं जिनकी अवधि २ दिन से लेकर २ वर्ष और ३ महीने तक रही। नौ परिषदें तो चार महीने से कम रहीं और पाँच एक महीने से भी कम। एक बार रूस के जार एलेक्जेण्डर द्वितीय ने फ्रेन्च राजदूत से कहा था कि पिछले १६ वर्षों मे फ्रान्स मे १५ विदेश मन्त्री हुए और इस प्रकार कोई इस बात पर विश्वास नहीं कर सकता कि फ्रान्स की विदेशी नीति मे कोई सातत्य भी रहेगा या नहीं।

२. तुलना कीजिये, Sidney Low, 'The Government of England', p. 81 तथा Bagehot, 'The English Constitution', Ch. 6. बेजहॉट ने कहा है कि पार्लमेण्ट का सिद्धान्त अपने नेताओं की आज्ञा का पालन है। वह अपने नेताओं को चुनती है और फिर उनका अनुकरण करती है।

नहीं है प्रत्युत पार्लमिण्ट के सदस्यों का शासन (Deputantism) है।[1]

फ्रान्स में मन्त्री पार्लमिण्ट के किसी न किसी सदन के सदस्य होते हैं, केवल कभी-कभी युद्ध-मन्त्री थल-सेना या जल-सेना का पदाधिकारी होने के कारण पार्लमिण्ट का सदस्य नहीं होता। ब्रिटिश प्रथा के प्रतिकूल फ्रान्स में मन्त्री दोनों सदनों में जा सकते हैं, भाषण दे सकते हैं तथा उनसे प्रश्न पूछे जा सकते हैं, चाहे वे उसके सदस्य न भी हों। फ्रान्स में भी, बेल्जियम की भाँति और ब्रिटेन की भाँति, अब जो सदस्य मन्त्री के पद पर नियुक्त हो जाते हैं, उन्हें पुनः निर्वाचन के लिए खड़े होने की आवश्यकता नहीं होती। सन् १८६८ तथा सन् १९१४ के मध्य बिना विभागीय दायित्व के कोई मन्त्री नियुक्त नहीं किया गया, परन्तु विश्व-युद्ध (सन् १९१४-१८) के समय में पुरानी रीति फिर से जारी की गयी। उप-सचिव (Under-Secretaries) भी, जिनके हाथों में किसी विभाग का प्रशासन कार्य रहता है, नियुक्त किये जाते हैं। सन् १८१६ की विचियानी परिषद् में ऐसे उप-सचिव थे। सन् १९०६ से उन्हें मन्त्रि-मण्डल की बैठकों में भी निमन्त्रित किया जाने लगा। वास्तव में तो वे पार्लमिण्ट के प्रति उत्तरदायी नहीं होते, परन्तु वे भी जिस मन्त्रि-परिषद् के साथ होते हैं उसके त्याग पत्र देने पर अपना पद त्याग देते हैं।

फ्रेन्च शासन-विधान के टीकाकारों में इस बात पर काफी विवाद रहा है कि मन्त्री सीनेट तथा चेम्बर ऑफ डिपुटीज दोनों के प्रति उत्तरदायी हैं या नहीं। ब्रिटिश तथा बेल्जियन पद्धति के आधार पर यह कहा जाता है कि मन्त्री केवल चेम्बर ऑफ डिपुटीज के प्रति उत्तरदायी हैं। सन् १८१४ से सन् १८४८ तक के फ्रेन्च अनुभव से भी यही प्रकट होता है। चूँकि सीनेट को भंग नहीं किया जा सकता और चेम्बर को भंग किया जा सकता है, इससे सीनेट का चेम्बर पर इतना आधिपत्य हो जायगा कि वह मन्त्रि परिषद् का पतन कर सकेगी। दूसरी ओर, विधान स्पष्ट शब्दों में यह घोषित करता है कि मन्त्रि-मण्डल चेम्बरों के प्रति उत्तरदायी रहेगा, केवल एक चेम्बर के प्रति नहीं। सीनेट को चेम्बर के समान ही कानून बनाने की क्षमता है। ब्रिटिश हाउस ऑफ लॉर्ड्स का चुनाव नहीं होता, परन्तु फ्रेन्च सीनेट का चुनाव होता है, वह मन्त्रियों से प्रश्न भी कर सकती है और चेम्बर के समान उनके प्रति विश्वास अथवा निंदा के प्रस्ताव भी स्वीकार कर सकती है। वास्तव में कई बार सीनेट के विरोधी प्रस्तावों के कारण मन्त्रि-मण्डलों को त्याग-पत्र देने पड़े हैं[2] और अब यह स्पष्टतः निश्चित है कि सीनेट मन्त्रियों को त्याग-पत्र देने के लिए बाध्य कर सकती है।[3] इस प्रकार दोनों चेम्बरों के प्रति मन्त्रि-मण्डल के दायित्व और चेम्बर

---

१. American Political Science Review, Vol VIII (1914), pp. 353 II मोरो (Moreau) ने लिखा है कि फ्रांस में संसद शासन उल्टा है। उनका सिर भूमि पर है और पाँव हवा में। धारा-सभा के सदन शासन करते हैं और मन्त्रियों से मार्ग-दर्शन प्राप्त करने की जगह उनका निर्देशन करते हैं।

२ उदाहरणार्थ सन् १८९६ में बूर्ज्वा (Bourgeois) मन्त्रि-परिषद् ने, सन् १९१३ में ब्रियन्द मन्त्रि-परिषद् ने तथा सन् १९२५ में हेरियट परिषद् ने त्याग पत्र दिये।

३ एसमीन का कथन है कि इन उदाहरणों से केवल यही मालूम होता है कि सीनेट को मन्त्रि परिषद् को त्याग-पत्र देने के लिए बाध्य करने की सत्ता प्राप्त है, यह नहीं कि उसे इसका अधिकार है। कई बार चेम्बर ऑफ डिपुटीज ने ऐसी मन्त्रि-परिषदों से त्याग-पत्र दिलवाया है जिन्हें सीनेट का विश्वास प्राप्त था।

ऑफ डिपुटीज को भंग करने के लिए प्रेसिडेण्ट के लिए सीनेट की अनुमति प्राप्त करने की आवश्यकता के कारण फ्रान्स में परिषद्-शासन की कठिनाइयाँ और भी बढ़ जाती हैं। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि फ्रान्स में चेम्बर के भंग करने की प्रथा का व्यवहार में प्रयोग बन्द-सा ही हो गया है। सन् १८७७ में इसका प्रयोग किया गया था जब कि प्रेसिडेण्ट मेकमेहॉन ने निर्वाचकों के बहुत बड़े बहुमत का समर्थन प्राप्त होते हुए भी चेम्बर को भंग कर दिया था। यह कार्य विधान की भाषा के अनुकूल होते हुए भी उसकी भावना के प्रतिकूल था। तबसे इसके प्रयोग के सम्बन्ध में भय पैदा हो गया है और इसे गणतन्त्र की भावना के प्रतिकूल समझा जाता है। यह बात ग्रेट ब्रिटेन में प्रचलित प्रथा के प्रतिकूल है, जहाँ हाउस ऑफ कॉमन्स का भंग और निर्वाचकों से अपील सामान्य बात है और इसे उत्तरदायी शासन का अत्यन्त आधारभूत लक्षण समझा जाता है।[1]

इटली में परिषद्-प्रणाली

इटली में जिन परिस्थितियों में परिषद्-प्रणाली पर कार्य होता है, वे फ्रान्स के ही समान हैं। फ्रान्स की भाँति इटली में भी चेम्बर विविध राजनीतिक दलों में विभाजित है। इनमें प्रत्येक दल में से मन्त्री चुनना पड़ता है और जब कोई भी दल असन्तुष्ट प्रतीत होता है, तब उसको सन्तुष्ट करना पड़ता है। जो मन्त्रि-मण्डल बड़े परिश्रम से की गयी समझौता-वार्ता के फलस्वरूप बनते हैं, वे पहले ही विवादग्रस्त प्रश्न पर भंग हो जाते हैं। चेम्बर का मन्त्रियों के चुनाव में उतना महत्व नहीं है जितना ब्रिटेन तथा फ्रान्स में है। राजा को मन्त्रियों के चुनाव में बड़ी स्वतन्त्रता है और विधान के अनुसार वह उन्हें पदच्युत भी कर सकता है। विधान के अनुसार वे उत्तरदायी हैं। विधान में यह नहीं कहा गया है कि मन्त्री दोनों चेम्बरों या एक के प्रति उत्तरदायी है। चेम्बरों ने अपनी नियन्त्रण की सत्ताएँ त्याग दी हैं और अब वे मुख्यतर राजा के प्रति ही उत्तरदायी हैं।[2] मन्त्री चेम्बर ऑफ डिपुटीज में से ही नियुक्त किये जाते हैं और प्रधानमन्त्री तो प्रायः सदा उसी में से होता है, परन्तु उन्हें दोनों सदनों में जाने और जब वे चाहें वहाँ भाषण देने का अधिकार है। युद्ध-मन्त्री तथा नौसेना-मन्त्री साधारणतया नौसेना के उच्च अफसर होते हैं और यदि व सीनेट के सदस्य नहीं हुए, तो नियुक्ति के समय राजकीय विशेषाधिकार द्वारा वे सीनेटर बना दिये जाते हैं। ऐसे मन्त्री भी होते हैं जिन पर किसी विभाग का भार नहीं होता। सन् १८८८ से प्रत्येक मन्त्री के अधीन एक उप-सचिव भी होता है जो चेम्बर में मन्त्री का प्रतिनिधित्व कर सकता है और सरकार के कामों पर किये जाने वाले आक्षेपों का उत्तर दे सकता है।

---

१ डायसी ने इस बात पर जोर दिया है कि धारा-सभा को भंग करने की सत्ता मन्त्रि मण्डल शासन-पद्धति की प्रमुख विशिष्टता है। Nineteenth Century, 1919, p. 25

२. यह डुप्रीज (Dupreiz) का विचार है, जो अतिशयोक्तिपूर्ण है। इसमें सन्देह नहीं कि इंगलैण्ड की अपेक्षा इटली में राजा को मन्त्रियों के चुनाव में अधिक महत्वपूर्ण अधिकार है, परन्तु उसके चुनाव पर भी मर्यादाएँ हैं और जिमॉलिटी तथा सोनिनो जैसे शक्तिशाली दलीय नेताओं को उसे स्वीकार करना ही पड़ता है। वास्तव में, व्यवहार-क्षेत्र में, मन्त्रि-गण धारा-सभा के प्रति ही उत्तरदायी होते हैं, राजा के प्रति नहीं।

इटली में मुसोलिनी के अधिनायकतन्त्र की प्रतिष्ठा के फलस्वरूप मन्त्रियों की पार्लमिण्ट के प्रति जिम्मेदारी का खात्मा हो गया। प्रथम विश्व-युद्ध के बाद दुर्बल, शक्तिहीन, अल्पकालीन मन्त्रि-मण्डलों की असफलता के कारण परिषद्-प्रणाली का वस्तुतः पतन हो गया। सन् १९२३ में स्वीकृत एक कानून के अनुसार जिस राजनीतिक दल को चेम्बर ऑफ़ डिपुटीज के चुनाव में सबसे अधिक मत प्राप्त हो, उसे उस चेम्बर के दो-तिहाई संख्या में सदस्यता प्राप्त करने के अधिकार की व्यवस्था की गयी। इस प्रकार फैसिस्ट दल को, चेम्बर में बहुमत प्राप्त न होने पर भी, उस पर नियन्त्रण रखने की सुविधा प्राप्त हो गयी। इसके बाद एक कानून इस आशय का स्वीकार किया गया कि मन्त्री पार्लमिण्ट के स्थान में राजा के प्रति उत्तरदायी हों जिससे मुसोलिनी को पार्लमिण्ट से पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त हो गयी और चेम्बर वास्तव में एक प्रकार की परामर्श देने वाली संस्था में परिणत हो गया।

जर्मनी में परिषद् प्रणाली

जर्मनी में प्रथम विश्व-युद्ध की समाप्ति से पूर्व परिषद् शासन-प्रणाली सर्वथा अपरिचित थी। सन् १८४८ में फ्रेन्कफोर्ट पार्लमिण्ट द्वारा प्रस्तावित विधान में उसे स्थान अवश्य मिला था और सन् १८७१ के बाद सामाजिक प्रजातन्त्रवादी (Social Democratic Party) उसकी माँग भी करते रहे। जर्मनी के सम्राट् के कार्य में सहायता के लिए इम्पीरियल चान्सलर (मुख्यमन्त्री) तथा अन्य मन्त्री, जो उसके साथ होते थे, उसके सहयोगी नहीं थे, वे उसके अधीनस्थ कर्मचारी समझे जाते थे। वे सरकारी कर्मचारियों में से ही नियुक्त किये जाते थे और उनका उत्तरदायित्व सम्राट् प्रति था। यदि जर्मन पार्लमिण्ट (Reichstag) में उनके प्रति अविश्वास भी प्रकट किया जाता तो उसका उन पर कोई प्रभाव नहीं होता था। अनेक अवसरों पर जर्मन पार्लमिण्ट ने जर्मन सरकार की नीति की निन्दा की और सामाजिक प्रजातन्त्रवादियों (Social Democrats) ने चान्सलर के त्याग-पत्र की माँग की, परन्तु चान्सलर ने उसे केवल अपने और अपनी पार्लमिण्ट के बीच मतभेद ही माना और उसे पार्लमिण्ट का त्याग-पत्र देने का बन्धनकारी आदेश नहीं माना। उसका विचार यह था कि उसका दायित्व सम्राट् के प्रति था और जब तक सम्राट् का उस पर विश्वास था तब तक त्याग-पत्र देने का उसका कोई विचार नहीं था। इस प्रकार जर्मन पार्लमिण्ट जर्मन शासन पर कोई नियन्त्रण रखने में असक्त थी। हाँ, बजट की स्वीकृति के सम्बन्ध में उसे कुछ सीमित सत्ता अवश्य प्राप्त थी। यहाँ यह स्वीकार करना पड़ेगा कि जर्मनी में सामाजिक प्रजातन्त्रवादियों को छोड़ कर सासद प्रणाली की माँग करने वालों की संख्या कम थी। बहुत से जर्मन लेखकों तथा राजनीतिज्ञों ने सासद प्रणाली की यह कह कर निन्दा की कि वह 'चंचल बहुमत' द्वारा शासन है और जर्मनी की शक्तिशाली वैधस्थिर शासन की भावना के अनुकूल नहीं है। वे यह भी नहीं चाहते कि वे फ्रेन्च तथा ब्रिटिश प्रणाली की नकल करते हुए दिखाई दें।[1]

प्रथम विश्व-युद्ध की समाप्ति पर जब सामाजिक प्रजातन्त्रवादियों के हाथों में

---

१ तुलना कीजिये, Schmoller, 'Modern Germany', p. 213 तथा Treitschke, 'Politics', Vol. II, p. 177. ट्रीट्स्के का कथन था कि यह प्रणाली एकतन्त्र का निषेध है और वैधानिक दृष्टि से असम्भव है। उसने पूछा कि यह किसने और कहाँ कहा है कि ऐसे गौरवमय इतिहास वाले देश जर्मनी को एक छोटे द्वीप-राज्य का अनुकरण करना चाहिए?

सत्ता आई तब सासद शासन-प्रणाली की स्थापना निश्चित हो गयी।[1] तदनुसार सन् १९१९ में जर्मनी के नये विधान की सत्रहवी धारा के अनुसार जर्मन पार्लमेण्ट के प्रति मन्त्रि-परिषद् के उत्तरदायी होने का नियम बनाया गया और साथ ही जर्मनी के अन्तर्गत राज्यो मे भी इसी प्रणाली को स्थापित किया गया। साराश मे, जर्मन गणतन्त्र के लिए वैयक्तिक शासन प्रणाली का निषेध कर देने पर तर्क और सगति की दृष्टि से यह आवश्यक हो गया कि उसके अन्तर्गत राज्यो मे से भी यह प्रणाली उठा दी जाय। यह स्पष्ट उल्लेख किया गया कि मन्त्रियो को राइकस्टेग (पार्लमेण्ट) का विश्वासपात्र होना चाहिए और नियमानुकूल प्रस्ताव द्वारा अविश्वास प्रकट किये जाने पर उन्हे त्याग-पत्र देना चाहिए। विधान के अनुसार गणतन्त्र के राष्ट्रपति के समस्त राजकीय पत्रो या आदेशों पर चान्सलर या किसी दूसरे मन्त्री के हस्ताक्षर होना आवश्यक है, जो इस प्रकार जर्मन पार्लमेण्ट के प्रति राष्ट्रपति (जो राजनीतिक दृष्टि से जर्मन पार्लमेण्ट के प्रति अनुत्तरदायी होता है) के द्वारा किये गये कार्यों के लिए उत्तरदायी है। राष्ट्रपति को राइकस्टेग को भग करने का अधिकार है; परन्तु उसे भग करने के आदेश पर एक मन्त्री का हस्ताक्षर भी प्राप्त करना पड़ता है जो कभी-कभी असम्भव होता है। जर्मन प्रणाली मे यह विलक्षणता है कि इसमे चान्सलर तथा दूसरे मन्त्रियों के कार्यों मे भेद माना गया है। राष्ट्रपति चान्सलर की नियुक्ति करता है और उसके परामर्श से दूसरे मन्त्रियो की नियुक्ति तथा पद-च्युति की जाती है। चान्सलर शासन की सामान्य नीति निर्धारित करता है और वह राष्ट्रपति के सामान्य नीति-सम्बन्धी कागजो पर अपने हस्ताक्षर करके उनके लिए जिम्मेदार बनता है। दूसरे मन्त्री अपने विभागो की नीतियो एवं कार्यों के लिए जर्मन राइकस्टेग के प्रति उत्तरदायी होते हैं और वे राष्ट्रपति के उन कागजो पर अपने हस्ताक्षर करते हैं, जो उनके विभाग से सम्बन्धित होते हैं। इस प्रकार फ्रेन्च प्रथा के अनुसार शासन (Governing) तथा प्रशासन (Administrating) मे भेद स्थापित किया गया है। चान्सलर ऐसी नीतियों के लिए उत्तरदायी होता है जिनका सम्बन्ध शासन से है और दूसरे मन्त्री ऐसी नीतियो के लिए उत्तरदायी होते हैं जिनका सम्बन्ध प्रशासन (Administration) से है। इसका यह परिणाम होता है कि वहाँ सामान्य नीतियो के प्रश्नो के सम्बन्ध मे भी सामूहिक दायित्व का सिद्धान्त नही है। इस कारण जर्मनी मे परिषद्-प्रणाली मे एक विलक्षणता आ गयी है जिसके कार्यान्वित होने पर जो परिणाम निकलेंगे उनके लिए राजनीति के विद्वानो मे बड़ी दिलचस्पी होगी। जर्मनी मे अनेक राजनीतिक दलो की उपस्थिति के कारण मन्त्रि-परिषद्-निर्माण का कार्य सदा सरल नही होता। वस्तुतः वे सयुक्त मन्त्रि-परिषद् ही होती हैं और जर्मन

---

१. वास्तव मे विराम-सन्धि (३० सितम्बर सन् १९१८) से कुछ सप्ताह पूर्व जर्मन सम्राट् ने समाजवादियों की मांग को स्वीकार करते हुए एक पत्र मे चान्सलर को यह लिखा कि हमारी यह इच्छा है कि जर्मनी की जनता को अपनी पितृभूमि के भाग्य के निर्णय मे अतीत की अपेक्षा अधिक प्रभावकारी ढग से सहयोग करना चाहिए' और 'जनता के विश्वासपात्र व्यक्ति शासन के अधिकारों एव कर्तव्यो में अधिक भाग लें।' अतः २६ अक्टूबर सन् १९१८ को एक कानून स्वीकार किया गया जिसके अनुसार चान्सलर को राइकस्टेग (निम्न सदन) तथा बुदेसराथ (उच्च सदन) के प्रति उत्तरदायी घोषित किया गया और यह भी व्यवस्था की गयी कि मन्त्री राइकस्टेग के सदस्यो मे से चुने जाय।

पार्लमिण्ट में विविध गणतन्त्रात्मक राजनीतिक दलों को जो शक्ति होती है, उसी के अनुपात से मन्त्रि-परिषद् में भी उनके प्रतिनिधि लिये जाते हैं। सन् १९३३ में हिटलरी शासन के प्रादुर्भाव के कारण सन् १९१९ के विधान द्वारा प्रतिष्ठित शासन-पद्धति का वस्तुतः अन्त हो गया।

अन्य योरोपीय राज्यों में परिषद्-प्रणाली

सन् १९२० में ऑस्ट्रिया में नवीन गणतन्त्र-शासन की स्थापना हुई और वहाँ भी इसी प्रकार की परिषद् प्रणाली की प्रतिष्ठा की गयी। राष्ट्रपति के समस्त सरकारी पत्रों एवं आदेशों पर उसके अतिरिक्त किसी एक मन्त्री या चासलर के भी हस्ताक्षर होना आवश्यक है। राष्ट्रपति, कानून भंग को छोड़, सामान्यतया धारा-सभा या पार्लमिण्ट के प्रति उत्तरदायी नहीं होता, परन्तु सम्पूर्ण मन्त्रि परिषद् और प्रत्येक मन्त्री व्यक्तिगत रूप से पार्लमिण्ट के निम्न सदन के प्रति उत्तरदायी होता है और निम्न सदन में उसके प्रति अविश्वास का प्रस्ताव स्वीकृत हो जाने पर मन्त्री स्वतः अपने पद से पृथक् हो जाते हैं।

ऑस्ट्रिया की परिषद् प्रणाली में दूसरे देशों की परिषद्-प्रणालियों की अपेक्षा एक बड़ी विलक्षण विशिष्टता यह है कि वहाँ समस्त मन्त्रियों का निर्वाचन निम्न सदन द्वारा होता है, राज्य प्रमुख द्वारा नहीं और यद्यपि मन्त्रियों के लिए यह आवश्यक है कि उनमें निम्न सदन के सदस्य बनने की योग्यता हो, तथापि यह आवश्यक नहीं है कि वे उसके सदस्य भी हों। ऑस्ट्रिया में भी अनेक राजनीतिक दलों के अस्तित्व के कारण अन्य सासद प्रणाली वाले देशों की भाँति ही सयुक्त मन्त्रि-मण्डल (Coalition Cabinet) होते हैं।

पोलैण्ड की परिषद्-प्रणाली फ्रान्स से मिलती-जुलती है। निम्न सदन उच्च सदन अर्थात् सीनेट की अनुमति से ही भंग किया जा सकता है, अन्तर केवल इतना ही है कि पोलैण्ड में सीनेट के तीन-पंचमांश सदस्यों की अनुमति आवश्यक होती है जब कि फ्रान्स में केवल साधारण बहुमत की अनुमति आवश्यक होती है। यूगोस्लाविया में मन्त्री राजा तथा पार्लमिण्ट दोनों के प्रति उत्तरदायी होते हैं। यदि समस्त मन्त्री राजा के आज्ञा-पत्र पर अपने हस्ताक्षर कर दें, तभी राजा पार्लमिण्ट को भंग कर सकता है। चेकोस्लोवाकिया में राष्ट्रपति पार्लमिण्ट (दोनों सदनों) को अपने (राष्ट्रपति के) कार्य-काल के अन्तिम ६ मासों के भीतर ही भंग कर सकता है। किन्तु वहाँ भी मन्त्रि-मण्डल चेम्बर ऑफ डिपुटीज के प्रति ही उत्तरदायी होता है। रूमानिया में राजा का मन्त्रियों पर अन्य परिषद् प्रणाली वाले देशों की अपेक्षा अधिक नियन्त्रण है। हाल ही में उसने मन्त्रि-परिषद् को त्याग-पत्र देने के लिए बाध्य किया और एक अल्पमत दल में से मन्त्रि-परिषद् का निर्माण किया।[1]

(४) अध्यक्षात्मक शासन

अध्यक्षात्मक शासन-पद्धति के प्रमुख लक्षण

अध्यक्षात्मक शासन पद्धति (Presidential Government) की जो परिषद्-प्रणाली (Cabinet Government) से भिन्न है, मुख्य विशेषता इस बात में है

१ द्वितीय विश्व-युद्ध (सन् १९३९-१९४५) के उपरान्त योरोप के मानचित्र में महान् परिवर्तन हो गये हैं। केन्द्रीय तथा पूर्वी योरोप के देशों की शासन-प्रणालियों में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो गये हैं। —अनुवादक।

कि प्रथम प्रणाली के अन्तर्गत राज्य-प्रमुख तथा उसके मन्त्री पार्लामिण्ट से सर्वथा स्वतन्त्र होते हैं और वे अपनी अवधि तथा अपनी राजकीय नीतियों के लिए उसके प्रति उत्तरदायी नही होते । इस प्रणाली के अन्तर्गत राष्ट्रपति की सत्ता नाममात्र की नही होती वरन् वह वास्तव मे शासनाध्यक्ष होता है और विधान द्वारा प्रदत्त सभी सत्ताओं का प्रयोग करता है । वह भी अपने मन्त्रियों (Ministers) द्वारा कार्य करता है (वहाँ 'मिनिस्टर' के लिए 'सेक्रेटरी' अर्थात् सचिव शब्द का प्रयोग किया जाता है), परन्तु मन्त्री राष्ट्रपति के कार्यों के लिए पार्लामिण्ट के प्रति उत्तरदायी नही होते । कानूनी सिद्धान्त के अनुसार उनके कार्य राष्ट्रपति के ही कार्य हैं ; वे राष्ट्रपति द्वारा अपने ही दल मे से नियुक्त किये जाते हैं, परन्तु वे धारा-सभा के सदस्य नही होते और वास्तव मे ऐसे राजनीतिक दल के भी सदस्य हो सकते हैं जिसका धारा-सभा के किसी भी सदन का बहुमत न हो ।[1] वास्तव मे सयुक्त राज्य अमेरिका में मन्त्री कांग्रेस (अमेरिका की धारा-सभा) के सदस्य नही हो सकते, क्योंकि कानून बनाने का कार्य तथा मन्त्रि-पद, यह दोनो वैधानिक दृष्टि से असंगत हैं । अत: परिषद्-प्रणाली वाले राज्यो की भाँति अमेरिका मे मन्त्री धारा-सभा मे प्रस्तुत करने के लिए वांछित कानून के मसविदे तैयार नही करते, उन्हे उसमे प्रस्तुत नही करते और न उनका समर्थन ही करते हैं । जो व्यवस्थापक-सभा के सदस्य उनके पक्ष मे होते हैं, उनके द्वारा ही वे यह सब कुछ कराते हैं । वे धारा-सभा मे जाकर भाषण दे सकते हैं और उनसे वहाँ प्रश्न भी किये जा सकते हैं , परन्तु व्यवहार मे, उन्हे ये अधिकार साधारणतया प्राप्त नही है, अमेरिका मे तो ऐसा कदापि नही होता । वे वास्तव मे राष्ट्रपति के, जो राज्य का प्रमुख होता है, मन्त्री और सेवक होते हैं—धारा-सभा के नही । राष्ट्रपति ही उन्हे नियुक्त करता है और वह किसी भी कारण से, जिसे वह उचित समझे, उन्हे पदच्युत भी कर सकता है ; चाहे धारा-सभा का उनमे विश्वास हो या न हो । राष्ट्रपति (President) और उसके मन्त्री कुछ गम्भीर अपराधो के लिए धारा-सभा या उसके किसी एक सदन के प्रति उत्तरदायी होते हैं , उन पर दोषारोपण किया जा सकता है और दोष प्रमाणित होने पर उन्हे अपने पद से अलग किया जा सकता है, परन्तु वे अपने राजनीतिक कार्यों एव नीतियो के लिए धारा-सभा के प्रति उत्तरदायी नही होते । इस कारण धारा-सभा मे स्वीकृत अविश्वास-प्रस्ताव, निन्दा-प्रस्ताव तथा निन्दा का उन पर कोई कानूनी प्रभाव नही पडता और न धारा-सभा द्वारा बजट की किसी माँग की अस्वीकृति अथवा उनके द्वारा समर्थन किये हुए किसी मसविदे की अस्वीकृति के कारण वे त्याग-पत्र नही देते । मन्त्री राष्ट्रपति के प्रति उत्तरदायी हैं जो उनकी नियुक्ति करता है और राष्ट्रपति (यदि उसका जनता द्वारा निर्वाचन हो) निर्वाचको के प्रति उत्तरदायी होता है। क्योंकि अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली के अन्तर्गत राष्ट्रपति और उसकी मन्त्रि-परिषद् धारा-सभा के अल्पमत मे से भी हो सकते हैं, इस कारण यदि वह और मन्त्री धारा-सभा के प्रति उत्तरदायी हो, तो यह प्रणाली असम्भव हो जायगी ।

सयुक्त राज्य अमेरिका मे अध्यक्षात्मक पद्धति

अध्यक्षात्मक प्रणाली का सबसे विकसित रूप हमे संयुक्त राज्य अमेरिका की राष्ट्रीय सरकार तथा राज्यो की सरकारो मे और लैटिन अमेरिका के अधिकाश

---

१. सयुक्त राज्य अमेरिका के विधान मे ऐसी कोई व्यवस्था नही है कि राष्ट्रपति अपने मन्त्रियों का चुनाव अपने ही दल मे से करे । रूजवेल्ट तथा टाफ्ट ने अपने मन्त्रि-परिषद् मे विरोधी दल मे से एक या दो मन्त्री नियुक्त किये थे ।

राज्यों में भी, जिन्होंने संयुक्त राज्य का अनुकरण किया है, मिलता है। एक परिवर्तित रूप में यह पूर्व जर्मन साम्राज्य (सन् १८७१—१९१६) में भी प्रचलित थी जहाँ मन्त्रियों की नियुक्ति पार्लमिण्ट के सदस्यों में से नहीं होती थी। वे जर्मन सम्राट् के ही सेवक माने जाते थे और वह तथा उसके मन्त्री अपनी राजनीतिक नीतियों एवं कार्यों के लिए जर्मन पार्लमिण्ट के प्रति उत्तरदायी नहीं होते थे तथा मन्त्री सम्राट् की इच्छानुसार अपने पद पर रहते थे। पार्लमिण्ट को उन्हें पद-च्युत करने का कोई अधिकार नहीं था।

संयुक्त राज्य अमेरिका में राष्ट्रपति का कार्य-काल विधान के अनुसार चार वर्ष का होता है। वह समस्त राज्यों के निर्वाचकों द्वारा निर्वाचित किया जाता है और उसके अधिकार विधान द्वारा निर्णीत हैं। अतः वह अपने निर्वाचन सत्ताओं तथा अवधि के सम्बन्ध में काँग्रेस पर निर्भर नहीं है। वह काँग्रेस के विचारार्थ वांछित कानूनों के मसविदों की सिफारिशें कर सकता है और विशेष कार्यों के लिए धन की स्वीकृति के लिए सिफारिश कर सकता है; वह काँग्रेस द्वारा स्वीकृत बिलों को अस्वीकार कर सकता है, किन्तु न वह और न उसके मन्त्री काँग्रेस में उपस्थित होकर उनकी स्वीकृति के लिए भाषण द्वारा आग्रह कर सकते हैं। परन्तु वह काँग्रेस के किसी भी सदन को भंग करने या नये निर्वाचन के लिए आदेश जारी नहीं कर सकता। वह अपने मन्त्रियों की नियुक्ति में बिलकुल स्वतन्त्र है और उसके लिए काँग्रेस के किसी भी सदन के बहुमत-दल में से उनकी नियुक्ति करने की आवश्यकता नहीं है। परिषद्-प्रणाली वाले देशों के राज्य-प्रमुखों की भाँति उसका अधिकार केवल प्रधानमन्त्री नियुक्त करने तक ही, जो अपने सहयोगियों का चुनाव करे, सीमित नहीं है, वही समस्त मन्त्रियों की नियुक्ति करता है। मन्त्री उसके अधीनस्थ कर्मचारी हैं, उसके सहयोगी नहीं। इस प्रकार उसका अपने मन्त्रियों के साथ जो सम्बन्ध है वह ब्रिटेन के प्रधान-मन्त्री तथा उसके मन्त्रियों के सम्बन्ध से भिन्न है। मन्त्री अपने राजनीतिक कार्यों के लिए काँग्रेस के प्रति नहीं—राष्ट्रपति के प्रति उत्तरदायी होते हैं। राष्ट्रपति अपने मन्त्रियों को किसी कारणवश या बिना किसी कारण के भी पद-च्युत कर सकता है।[1] इस प्रकार संयुक्त राज्य अमेरिका की शासन-प्रणाली, जहाँ तक उसके कार्यपालक विभाग (Executive) से सम्बन्ध है, वैधानिक दृष्टि से बहुत कुछ स्वेच्छाचारी और काँग्रेस द्वारा अनियन्त्रित है।[2]

लेटिन अमेरिका में अध्यक्षात्मक प्रणाली

लेटिन अमेरिका के अधिकांश राज्यों में संयुक्त राज्य अमेरिका की अध्यक्षात्मक प्रणाली के समान ही प्रणाली प्रचलित है। अर्जेण्टाइना के शासन-विधान में

---

१. राष्ट्रपति विल्सन ने मन्त्री लेनसिंग को बिना कारण बतलाये पद-च्युत कर दिया था।

२. संयुक्त राज्य अमेरिका के अन्तर्गत राज्यों में इस पद्धति में कुछ भिन्नता है। राज्यों में मुख्य अधिकारियों का, जो राष्ट्रपति के मन्त्रियों के समान होते हैं, चुनाव साधारणतया जनता द्वारा होता है, अतः वे गवर्नरों के नियन्त्रण में नहीं रहते। मन्त्री गवर्नरों के सहयोगी होते हैं, उनके अधीन अधिकारी नहीं होते। अपनी अवधि तथा सत्ताओं के सम्बन्ध में वे गवर्नरों के समान ही स्वतन्त्र होते हैं, यद्यपि वे भी गवर्नर के समान धारा-सभा के प्रति इस अर्थ में उत्तरदायी नहीं होते कि धारा-सभा उन्हें पद-च्युत कर सके।

यह व्यवस्था है कि राष्ट्रपति के प्रत्येक आदेश या कागज पर उसके मन्त्री के भी हस्ताक्षर होंगे और वे उन कार्यों के लिए, जिन पर वे हस्ताक्षर करते है, व्यक्तिगत रूप से तथा उन सब कामों के लिए, जिनमें सबकी सहमति होती है, सामूहिक रूप से उत्तरदायी होंगे (धारा ८७-८८)। यह भी व्यवस्था है कि मन्त्री पार्लामेण्ट की कार्यवाही में भाग ले सकेंगे और बहस में भी भाग ले सकेंगे ; परन्तु वे पार्लामेण्ट में किसी प्रश्न पर मत-दान नही कर सकेंगे (धारा ६२)। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि विधान ने मन्त्रियों के उत्तरदायित्व का तो उल्लेख किया है, परन्तु स्पष्ट शब्दों में यह नही बतलाया कि वे पार्लामेण्ट के प्रति उत्तरदायी होंगे या राष्ट्रपति के प्रति। कांग्रेस में मन्त्रियों से प्रायः प्रश्न किये जाते हैं और २६ जनवरी सन् १८८४ की बैठक में विरोधी पक्ष के एक सदस्य ने यहाँ तक कहा कि यह कांग्रेस का सदैव अधिकार है कि वह मन्त्रियों को अधिवेशन में उपस्थित होने के लिए कहे और वे अपनी नीतियों का स्पष्टीकरण करें। राष्ट्रपति और मन्त्रियों ने कभी-कभी इसलिये भी त्याग-पत्र दे दिये है कि उनमें तथा कांग्रेस में मतभेद थे। परन्तु साधारण राय और व्यवहार से वहाँ भी संयुक्त राज्य की भाँति मन्त्री कांग्रेस से स्वतन्त्र हैं।

ब्राजील का विधान (२४ जुलाई सन् १८६१) अपने देश के राष्ट्रपति, मन्त्रियों और कांग्रेस के सम्बन्धों की अधिक स्पष्टता के साथ व्याख्या करता है। विधान में यह स्पष्टतः उल्लेख है कि मन्त्री कांग्रेस के किसी भी सदन की कार्यवाही में भाग नही ले सकते, वे लेख द्वारा अथवा उसकी समितियों के साथ सम्मेलनों द्वारा ही किसी सदन से सम्बन्ध स्थापित कर सकते है। वे राष्ट्रपति को दिये गये किसी भी परामर्श के लिए (कानून द्वारा परिभाषित किसी अपराध को छोड) कांग्रेस या न्यायालयों के प्रति उत्तरदायी नही हैं। राष्ट्रपति की कार्य-अवधि चार वर्ष की है और वह कांग्रेस के समक्ष दोषारोप के अतिरिक्त अन्य किसी रीति से अपने पद से नही हटाया जा सकता। एक बात में संयुक्त राज्य की प्रणाली तथा ब्राजील की प्रणाली में अन्तर है। ब्राजील के विधान में यह व्यवस्था है कि राष्ट्रपति के आदेशों पर उसके मन्त्रियों के भी हस्ताक्षर होंगे, परन्तु इस कारण मन्त्री कांग्रेस या उसके किसी सदन के प्रति उत्तरदायी नही हो जाते। उनका राजनीतिक दायित्व राष्ट्रपति के प्रति ही है जो उनकी नियुक्ति करता है।

(५) स्विस पद्धति

स्विस पद्धति के कारण

स्विट्जरलैण्ड की शासन-प्रणाली का अपना ही एक वर्ग है जो परिषद्-प्रणाली तथा अध्यक्षात्मक प्रणाली दोनों से मौलिक बातों में भिन्न है, यद्यपि उसमें दोनों प्रणालियों के कुछ लक्षण विद्यमान हैं। स्विट्जरलैण्ड में धारा-सभा (Legislature) द्वारा साधारणतया अपने ही सदस्यों में से सात सदस्यों की एक कार्यपालिका समिति उसी अवधि के लिए, जो धारा-सभा की होती है, नियुक्त की जाती है, जो शासन-प्रबन्ध करती है। इसमें और परिषद्-प्रणाली में कुछ साम्य है, क्योंकि यह भी मन्त्रि-परिषद् के समान धारा-सभा की एक समिति होती है, उसके प्रत्येक सदस्य के अधीन एक विभाग होता है, उसके सदस्य धारा-सभा के दोनों सदनों में बैठ सकते है, प्रस्ताव रख सकते हैं, भाषण दे सकते हैं (परन्तु मतदान नही कर सकते), अपने राजकीय कार्यों एवं नीतियों के सम्बन्ध में उनसे प्रश्न किये जा सकते हैं, उन पर धारा-सभा (अथवा उसके निम्न सदन) का नियन्त्रण भी होता है और धारा-सभा के निर्णयों को, यदि वह

प्राप्त करे, उन्हे मानना पड़ता है। यह समिति अन्य बातों में भी मन्त्रि-परिषद् के समान होती है। यह कानून के मसविदे तथा बजट आदि तैयार करती है, उन्हे धारा-सभा में पेश करती है और उनका समर्थन करती है। समिति के सदस्य फ्रेन्च मन्त्रि-परिषद् से कहीं अधिक धारा-सभा का नेतृत्व तथा मार्ग दर्शन भी करते हैं।[1] परिषद्-प्रणाली तथा इसमें यह भेद है कि यह सदैव बहुमत दल की नहीं होती और इसी कारण यह राजनीतिक दृष्टि से एक मत की नहीं होती। अपने चुनाव के समय समिति के सदस्यों का कोई राजनीतिक कार्यक्रम नहीं होता और न प्रश्नोत्तरों के बाद निन्दा-प्रस्ताव ही प्रस्तुत किये जाते हैं। समिति के सदस्य धारा-सभा के प्रति उत्तरदायी भी नहीं होते क्योंकि यदि धारा सभा में उनके विरुद्ध निन्दा का प्रस्ताव स्वीकार हो जाय या उनके द्वारा प्रस्तावित कार्य या नीति का धारा-सभा अनुमोदन न करे तो उन्हें अपने पद से त्याग-पत्र देने की आवश्यकता नहीं होती। इस समिति को व्यवस्थापिका सभा अथवा उसके किसी सदन को भंग करने का अधिकार भी नहीं होता जैसे परिषद्-प्रणाली में होता है।

(६) रूस की सोवियत-प्रणाली

प्रमुख लक्षण

हाल ही में एक नवीन ढंग की शासन-प्रणाली का आविर्भाव रूसी समाजवादी सोवियत प्रजातन्त्र में हुआ है, जो न केवल प्रतिनिधि-प्रणाली की दृष्टि से वरन् अपने प्रबन्धक तथा विधायी अंगों के पारस्परिक सम्बन्धों की दृष्टि से अपने ढंग की है। सर्वोच्च विधायी सत्ता (Legislative power) और विधान-रचना की सत्ता अखिल रूसी कांग्रेस में निहित है जो विविध सोवियतों की प्रतिनिधि-सभा है। जिन दिनों उसका अधिवेशन नहीं होता, उस समय उसकी सत्ताओं का प्रयोग एक केन्द्रीय कार्य-पालिका समिति द्वारा होता है जिसमें कांग्रेस द्वारा निर्वाचित ३०० से अधिक सदस्य होते हैं। कांग्रेस के बहुत बड़ी होने के कारण यह कार्यपालिका-समिति ही विधायी सत्ताओं का प्रयोग करती है और वर्ष भर, चाहे कांग्रेस का अधिवेशन हो रहा हो या नहीं, इसके अधिवेशन होते रहते हैं और यह अपना कार्य करती रहती है। इस प्रकार यह एक उप पार्लामिण्ट बन गयी है, जो कांग्रेस के नियन्त्रण में अपना कार्य करती हुई उसकी सत्ता का प्रयोग करती है। सोवियत राज्य की शासन सत्ता प्रजा के सचिवों की परिषद् (Council of People's Commissars) में निहित है जिनमें से प्रत्येक एक विभाग का अध्यक्ष होता है। उनका निर्वाचन या नियुक्ति कांग्रेस की कार्य-पालिका समिति द्वारा होती है और वे अपने कार्यों एवं नीतियों के लिए उस समिति के प्रति व्यक्तिगत तथा सामूहिक रूप से उत्तरदायी होते हैं। यह परिषद् पार्लामेण्टरी देशों के मन्त्रि-परिषद् जैसी है। रूसी-प्रणाली अध्यक्षात्मक प्रणाली की अपेक्षा परिषद्-प्रणाली से अधिक साम्य रखती है, यद्यपि इन दोनों में काफी अन्तर है और इस प्रकार स्विस प्रणाली के समान इसका अपना अलग हो गया है। इस बात को छोड़कर कि यह प्रणाली प्रजातान्त्रिक नहीं है और न होने का दावा ही करती है तथा इसका आधार व्यावसायिक प्रणाली (Vocational System) है, भौगोलिक नहीं, इसकी सबसे प्रमुख विशिष्टता यह है कि इसमें शक्ति-पार्थक्य का सिद्धान्त नहीं माना जाता।

---

१ प्रथम विश्व-युद्ध के आरम्भ होने पर धारा-सभा ने कार्यपालिका समिति को असीमित अधिकार दे दिये थे। इससे प्रकट होता है कि धारा-सभा को इस समिति में पूर्ण विश्वास है।

(७) एकात्मक तथा संघीय शासन

एकात्मक शासन

राज्य में सत्ता के केन्द्रीकरण तथा वितरण और केन्द्रीय तथा प्रान्तीय या स्थानिक अधिकारियों के पारस्परिक सम्बन्धों के दृष्टिकोण से शासनों को एकात्मक (अथवा केन्द्रीभूत) तथा संघीय इन दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। जहाँ शासन की समस्त सत्ता विधान द्वारा एक ही केन्द्रीय शासन को सौंप दी जाती है और स्थानीय अधिकारियों को इस केन्द्रीय शासन से उनकी सत्ता ही क्या, उनका जीवन भी प्राप्त होता है, वहाँ एकात्मक (Unitary) शासन होता है। इस प्रकार की शासन-प्रणाली की एक विशेषता यह है कि राज्य की केन्द्रीय सरकार और स्थानीय सरकारों के बीच सत्ता का कोई वैधानिक विभाजन या वितरण नहीं होता। ऐसे राज्य में सत्ता का केवल एक सामान्य स्रोत होता है और केवल एक ही इच्छा चलती है। शासन-प्रबन्ध की सुविधा के हेतु एकात्मक राज्य के प्रदेश का विभाजन प्रान्तों, जिलों आदि के रूप में कर दिया जाता है जिनमें से प्रत्येक को अपने स्थानीय विषयों में स्वशासन के कुछ सीमित अधिकार होते हैं। साधारणतया ये प्रान्त या जिले विधान द्वारा नहीं, प्रत्युत केन्द्रीय सरकार द्वारा निर्मित किये जाते हैं और उनमें उसकी इच्छानुसार परिवर्तन किये जा सकते हैं। इन स्थानीय अधिकारियों को जो कुछ सत्ता प्राप्त होती है वह उन्हें केन्द्रीय सरकार से ही मिलती है जो उसे घटा-बढ़ा सकती है। संक्षेप में, ये प्रान्त या जिले केन्द्रीय संगठन के ही अंग होते हैं, जो शासन-प्रबन्ध की सुविधा के लिए उसके प्रतिनिधिस्वरूप बना दिये जाते हैं। उन पर उसी का आधिपत्य होता है और उन्हें जो कुछ स्वायत्तशासन सम्बन्धी सत्ता या क्षमता होती है, वह केन्द्रीय शासन की इच्छा पर निर्भर रहती है, किसी वैधानिक गारण्टी पर नहीं।

ग्रेट ब्रिटेन की सरकार तथा योरोप एवं एशिया की अधिकांश सरकारें इसी प्रकार की हैं। ग्रेट ब्रिटेन के जिलों (काउण्टी) एवं नगरों में जो स्थानिक संस्थाएँ हैं, उन्हें पार्लमिण्ट के सामान्य कानूनों द्वारा स्वशासन-सत्ता प्राप्त हुई है। पार्लमिण्ट द्वारा इस प्रकार की सत्ता में वृद्धि या विस्तार अथवा न्यूनता की जा सकती है और स्थानीय सरकारों के अधिकांश कार्यों पर केन्द्रीय सरकार का ही नियन्त्रण होता है।

योरोप में फ्रान्स भी एकात्मक शासन का एक प्रमुख उदाहरण है। फ्रान्स 'डिपार्टमेंन्टों (प्रान्तों) में विभाजित है और प्रत्येक डिपार्टमेंन्ट के अन्तर्गत केन्टन, एरॉण्डीजमेन्ट और कम्यून हैं जिनमें से प्रत्येक में स्थानीय स्वशासन के निमित्त अपना संगठन है, परन्तु उनके अधिकार बहुत सीमित हैं। उन्हें यह सत्ता विधान द्वारा नहीं, बल्कि फ्रेन्च पार्लमिण्ट द्वारा प्राप्त है। स्थानीय संस्थाएँ केन्द्रीय सरकार की प्रतिनिधिमात्र हैं और जो सत्ताएँ उन्हें प्रदान की गयी हैं, उन पर, यहाँ तक कि स्थानीय शासन के मामलों पर भी, केन्द्रीय सरकार का काफी नियन्त्रण है। योरोप के दूसरे देशों में भी (उन देशों को छोड़ जहाँ संघीय प्रणाली स्थापित है; जैसे जर्मनी, आस्ट्रिया, स्विट्जरलैंड) स्थिति फ्रान्स से केवल मात्रा में ही भिन्न है।

संघीय शासन की व्याख्या

संघीय शासन-प्रणाली में एकात्मक शासन के विपरीत केन्द्रीय शासन तथा उसके राज्यों के अथवा उसके अन्य विधायक भौगोलिक उप-प्रदेशों के शासन के मध्य

समस्त शासन-सत्ता का वितरण विधान द्वारा होता है। राज्यों के शासनों का निर्माण संघ-शासन द्वारा नहीं होता, अनेक दशाओं में स्थिति उसके विपरीत होती है, अर्थात् केन्द्रीय शासन का निर्माण संघ-निर्माण के कार्य द्वारा उसके विधायक राज्यों द्वारा ही होता है। ये राज्य केन्द्रीय शासन या संगठन के अंगमात्र से कुछ अधिक होते हैं, उनके स्वशासन के अधिकारों का निर्णय संघीय सरकार द्वारा नहीं, प्रत्युत संघ के विधान द्वारा होता है। ब्रिटिश उपनिवेशों में यह काम ब्रिटिश पार्लमिण्ट के एक्ट द्वारा होता है जो उनके लिए विधान का काम देता है। इसके फलस्वरूप वे केन्द्रीय सरकार की इच्छा पर निर्भर नहीं रहते और न केन्द्रीय सरकार उनकी सत्ता पर प्रतिबन्ध ही लगा सकती है।

संघीय सरकार की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है—यह सामान्य प्रभुत्व के अधीन केन्द्रीय एवं स्थानीय शासनों की ऐसी व्यवस्था है जिसमें ये दोनों प्रकार के शासन अपने अपने क्षेत्रों में सर्वोच्च हैं जिनका निर्धारण उस शासन-विधान या पार्लमिण्ट के एक्ट के द्वारा होता है, जिसके द्वारा स्थानीय शासनों का निर्माण होता है। यह एकात्मक शासन के विपरीत दोहरी शासन-प्रणाली है और इसमें केन्द्रीभूत शासन के विपरीत स्थानीय स्वशासन उपलक्षित होता है। यह एकात्मक शासन तथा राज्य मण्डल शासन (Confederate Government) के मध्य एक प्रकार से समझौता है। संघीय सरकार के प्रादेशिक क्षेत्र केवल प्रशासनात्मक जिले नहीं होते, वरन् वे स्वशासित और स्वयं-निर्मित राजनीतिक संस्थाएँ होती हैं और उनका अपना शासन-विधान एवं अपनी राजनीतिक प्रणाली भी होती हैं, किन्तु केन्द्रीय तथा स्थानीय सरकारें संगठन में एक दूसरे से बिलकुल असम्बद्ध और अलग नहीं होतीं। संघीय सरकार (Federal Government) केवल केन्द्रीय सरकार का ही नाम नहीं है जैसा कभी-कभी समझा जाता है। उसमें दोनों केन्द्रीय तथा राज्यों की, सरकारों का बोध होता है। राज्यों की सरकारें भी संघ-प्रणाली के उसी प्रकार अंग हैं, जैसे केन्द्रीय सरकार, यद्यपि उनका निर्माण केन्द्रीय सरकार द्वारा नहीं होता और न उन पर उसका कोई नियन्त्रण ही होता है।

संघ-प्रणाली में सत्ता का विभाजन

जिस सिद्धान्त के आधार पर संघ-प्रणाली के अन्तर्गत केन्द्रीय तथा स्थानिक (राज्यों की) सरकारों के बीच सत्ता का वितरण होता है वह यह है कि जो विषय संघ के सामान्य हित के होते हैं और जिनके लिए सामान्य नियमन की आवश्यकता होती है, उनकी व्यवस्था केन्द्रीय सरकार के हाथों में हो और जो विषय सामान्य हित के नहीं हैं, वे स्थानीय सरकारों के अधीन रहें।[1] संक्षेप में, राष्ट्रीय मामलों के लिए एक सरकार तथा स्थानीय मामलों के लिए अनेक स्थानीय सरकारें होनी चाहिए। जहाँ तक केन्द्रीय सरकार से सम्बन्ध है, यह सरकार एकात्मक सरकार से मिलती है और जहाँ तक स्थानीय सरकारों से सम्बन्ध है, यह राज्य मण्डल-सरकार से अधिक मिलती है। कौनसी बातों का नियमन केन्द्रीय सरकार द्वारा तथा कौन कौन से मामलों का स्थानीय सरकारों द्वारा हो। इस सम्बन्ध में मतभेद है। अधिकांश संघ-राज्यों में वैदेशिक सम्बन्ध अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, युद्ध एवं शान्ति, वैदेशिक तथा अन्तर्राज्य-वाणिज्य, मुद्रा, एकस्व (Patents), प्रतिलिप्यधिकार (Copyright) आदि केन्द्रीय सरकार के नियन्त्रण में

१. तुलना कीजिये, (Dicey, 'Law of the Constitution,' p. 131. तथा Freeman, History of Federal Government,' pp. 3-4.

रखे गये हैं। जहाँ तक अन्तर्राष्ट्रीय विषयों से सम्बन्ध है, संघ-राज्य के विधायक सदस्य राज्यों का कोई व्यक्तित्व नहीं होता, परन्तु वे केन्द्रीय सरकार द्वारा सामान्य वैदेशिक नीति के समुचित संचालन में कभी-कभी बाधाएँ उपस्थित करते रहते हैं। योरोप में हाल ही में जो नये संघ-राज्य स्थापित हुए हैं, उनमें किन-किन विषयों में नियमन की एकरूपता होनी चाहिए और किन-किन में नियन्त्रण की विविधता हो, इस विषय की भावना उससे भिन्न है जो हम संयुक्त राज्य अमेरिका में पाते हैं। इसी कारण सत्ता-वितरण का सिद्धान्त भी भिन्न है। ऐसे अनेक विषय हैं जो संयुक्त राज्य अमेरिका में स्थानीय महत्व के माने गये हैं, परन्तु जो योरोप के इन राज्यों में सामान्य महत्व के माने जाने के कारण केन्द्रीय शासन के नियन्त्रण के योग्य माने जाते हैं। इस प्रकार जर्मनी में समस्त दीवानी और फौजदारी कानून, वाणिज्य-कानून, जाब्ता, फौजदारी तथा विवाह एवं विवाह-विच्छेद-कानून राष्ट्रीय विषय माने गये हैं—स्थानीय नहीं। समस्त जर्मनी में इस सम्बन्ध के सर्वत्र एक से ही कानून हैं। भिन्न-भिन्न प्रदेशों में भिन्न भिन्न नहीं।[१] संयुक्त राज्य अमेरिका में अनेक विषयों पर, जो वास्तव में स्थानीय नहीं, राष्ट्रीय हैं, अनेक प्रकार के कानून होने के कारण अनेक बुराइयाँ उत्पन्न हो गयी हैं और इस कारण वहाँ राष्ट्रीय सरकार के अधिकारों में वृद्धि करने के अनेक उपाय सुझाये जा रहे हैं।

सत्ता-वितरण की रीति

जिन राज्यों में संघीय शासन-प्रणाली प्रतिष्ठित है, उनमें केन्द्रीय तथा स्थानीय राज्यों के बीच शासन-सत्ता के वितरण की दो रीतियाँ हैं। अधिकांश राज्यों में केन्द्रीय सरकार को जो अधिकार सौंपे गये हैं उनका विधान में उल्लेख किया गया है और वे समस्त अवशिष्ट अधिकार, जिनका निषेध नहीं किया गया है, स्थानीय सरकारों को दे दिये गये हैं। इस प्रकार केन्द्रीय सरकार की सत्ताएँ सौंपी हुई सत्ताएँ (Delegated powers) कहलाती हैं और स्थानीय सरकारों की सत्ताएँ अवशिष्ट सत्ताएँ (Residuary powers)। दूसरे शब्दों में, केन्द्रीय सरकार की क्षमता विधान द्वारा

---

१. नवीन जर्मन संघ (११ अगस्त सन् १९१९ के विधान के अन्तर्गत) में नागरिकता, आन्तरिक गमन, स्वदेश-त्याग, प्रवास आदि संघीय विषय हैं। इनके सम्बन्ध में स्थानीय सरकारें कानून नहीं बना सकतीं। अन्य अनेक विषय जो अमेरिका में स्थानीय सरकारों के अधीन हैं, वे जर्मनी में केन्द्रीय सरकार के अधीन माने गये हैं, जैसे, दीवानी तथा फौजदारी कानून, गरीबों की सहायता, आवारागर्दी, प्रेस, समुदाय, सार्वजनिक सभाओं, सार्वजनिक स्वास्थ्य, मजदूर, बैंक, बीमा, थियेटरों तथा सिनेमागृहों का नियमन आदि। यह व्यवस्था है कि यदि उपर्युक्त विषयों पर जर्मन पार्लमिण्ट कानून न बनाये, तो जर्मनी के राज्यों की सरकारें कानून बना सकेंगी। कुछ विषयों पर भी, यदि उनमें एकरूपता लाना वाञ्छनीय हो, तो जर्मन पार्लमिण्ट कानून बना सकती है या राज्यों द्वारा पालन कराने के लिए उनके सम्बन्ध में मौलिक सिद्धान्त निर्णीत कर सकती है। वे विषय इस प्रकार हैं—सार्वजनिक व्यवस्था तथा शान्ति की रक्षा, शिक्षा, धर्म, भूमि का स्वाम्य तथा मृत व्यक्तियों का दाह-कर्म आदि। सन् १९३३ में, जब हिटलर ने राजसत्ता अपने हस्तगत कर ली तब यह समस्त संघ-प्रणाली खत्म कर दी गयी और उसके स्थान पर एकात्मक प्रणाली स्थापित हो गयी। इसी प्रकार की अनेक विभिन्नताएँ आस्ट्रिया, कनाडा तथा ब्राजील में भी पाई जाती हैं।

विध्यात्मक रूप से निर्धारित है और स्थानीय सरकारों को निषेधात्मक रूप से । जहाँ कोई सन्देह होता है, वहाँ कानून का अनुमान यही होता है कि जिस सत्ता का दावा केन्द्रीय सरकार करती है वह उचित नहीं है और जिस सत्ता का दावा स्थानीय सरकार करती है वह उचित है कनाडा की संघ-प्रणाली में एक दूसरा ही सिद्धान्त प्रचलित है। वहाँ स्थानीय सरकारों के अधिकारों का स्पष्टरूप से उल्लेख किया गया है और केन्द्रीय सरकार को सौंपी हुई तथा अवशिष्ट सत्ताएँ दोनों ही प्राप्त हैं। स्थानीय तथा केन्द्रीय शासनों के बीच सत्ता-प्रदान किसी रीति से या किसी सिद्धान्त पर किया गया हो, उसमें परिवर्तन विधान द्वारा ही हो सकता है, कोई सरकार अपनी ओर से शासन-सत्ता का पुन: वितरण अथवा अपनी क्षमता में वृद्धि नहीं कर सकती। यह कार्य प्रभु का ही है।

संघीय नियन्त्रण एवं दमन

कुछ संघ-प्रणालियों में केन्द्रीय सरकार को स्थानीय सरकारों के संगठन तथा कार्यों पर सीमित नियन्त्रण का अधिकार दिया गया है। इस प्रकार संयुक्त राज्य अमेरिका की राष्ट्रीय सरकार का यह कर्तव्य माना गया है कि वह इस बात पर पूरा ध्यान दे कि उसके अन्तर्गत राज्यों में गणतन्त्र शासन बना रहे। इसका तात्पर्य यह है कि राष्ट्रीय सरकार (केन्द्रीय सरकार) ऐसे स्थानीय संगठनों को निषिद्ध ठहरा सकती है, जो उसकी दृष्टि में इस सिद्धान्त के अनुसार नहीं हैं। इसी प्रकार सन् १९१९ का जर्मन विधान भी यह व्यवस्था देता है कि जर्मनी के अन्तर्गत प्रत्येक राज्य में गणतन्त्र शासन होगा, अर्थात् वह ऐसा राज्य होगा जिसमें प्रतिनिधियों का निर्वाचन स्त्री-पुरुष दोनों के सर्वगत, समान, प्रत्यक्ष एवं गोपनीय मताधिकार के आधार पर आनुपातिक प्रणाली द्वारा होगा और राज्य में मन्त्रि-परिषद् प्रणाली होगी। ऑस्ट्रिया के सन् १९२० के विधान में भी ऐसी ही व्यवस्था है (धारा ९५)। कनाडा में, केन्द्रीय शासन को प्रान्तीय व्यवस्थापिका परिषदों के कानूनों को अस्वीकार करने का अधिकार है। इसी प्रकार वेनेजुएला में राष्ट्रीय सरकार प्रान्तीय सरकारों के कानूनों को अस्वीकार कर सकती है। जर्मनी में केन्द्रीय सरकार किसी भी ऐसे सदस्य-राज्य को, जो विधान द्वारा निर्धारित कर्तव्यपालन में त्रुटि करता है, सशस्त्र बल-प्रयोग से अपना कर्तव्य पूरा करने के लिए बाध्य कर सकती है (धारा ४८)। अमेरिका के विधान में ऐसी कोई धारा नहीं है जिससे उसके अन्तर्गत राज्यों को केन्द्रीय सरकार बाध्य कर सके। ऐसा सामान्यतया माना जाता है कि अमेरिका की राष्ट्रीय सरकार को ऐसी कोई सत्ता नहीं है और न उसने ऐसी सत्ता का कभी प्रयोग ही किया है। परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं होता कि संयुक्त राज्य अमेरिका की राष्ट्रीय सरकार अपनी सार्वजनिक सम्पत्ति की रक्षा, संघीय विधान के उपबन्धों, कानूनों एवं सन्धियों को कार्यान्वित करने तथा संघीय न्यायालयों के निर्णयों का पालन कराने के हेतु बल-प्रयोग नहीं कर सकती। सुप्रीम कोर्ट ने यह घोषित किया है कि संयुक्त राज्य अमेरिका को अपने राष्ट्रीय प्रदेश में अपनी सत्ता को कार्यान्वित करने के लिए प्रत्येक बाधा को दूर करने का वैधानिक अधिकार है। जो राज्य इस प्रकार के कार्य में हस्तक्षेप करेगा या बाधा उपस्थित करेगा, उसके विरुद्ध बल का प्रयोग किया जायगा, परन्तु इसे उस अर्थ में संघीय दबाव नहीं कहा जा सकता जिस अर्थ में जर्मन विधान में है। इस अधिकार के आधार पर ही राष्ट्रपति लिंकन ने सन् १८६१ में दक्षिणी राज्यों में अपनी सशस्त्र सेनाएँ भेजी थीं।

संघीय कानूनों का स्थानीय पालन

संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्राजील तथा दूसरे अनेक राज्यों की संघ-प्रणाली तथा जर्मनी, ऑस्ट्रिया और स्विट्जरलैंड की प्रणालियों में एक और भी अन्तर है। अमेरिका आदि में संघीय सरकार के अपने पृथक् कर्मचारी होते हैं और अपने कानूनों का पालन कराने, अपनी आमदनी को वसूल करने तथा अपने अन्य कर्त्तव्यों के पालन के लिए उसका अपना पृथक् संगठन होता है। ब्राजील के विधान में यह स्पष्टतः घोषित किया गया है कि संघ के कानून और उसके अधिकारियों के निर्णय आदि संघीय राज-कर्मचारियों द्वारा कार्यान्वित किये जायेंगे। किन्तु विधान में यह भी उल्लेख है कि संघ-शासन संघीय नियमों एवं कानूनों को कार्यान्वित करने का कार्य राज्यों के अधिकारियों को भी उनकी अनुमति से सौंप सकता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में भी इस प्रकार का अधिकार राज्यों की अनुमति से उनके अधिकारियों को सौंपा जा सकता है, परन्तु व्यवहार में ऐसा बहुत कम होता है। इसके विपरीत जर्मनी, स्विट्जरलैण्ड तथा ऑस्ट्रिया में सामान्यतया संघीय कानूनों को कार्यान्वित करने के सम्बन्ध में संघीय सरकारें अपने अन्तर्गत राज्यों पर निर्भर रहती हैं। जर्मनी में विधान द्वारा यह व्यवस्था की गयी है कि जर्मन पार्लमिण्ट के कानूनों को, यदि कोई दूसरी व्यवस्था न की गयी हो, राज्यों के अधिकारी कार्यान्वित करेंगे। कुछ विषयों को छोड़, (जैसे वैदेशिक मामले, राष्ट्रीय रक्षा, मुद्रा, आयात निर्यात, डाक-प्रबन्ध आदि) जो संघीय सरकार को ही सौंपे गये हैं, वह अपने अधिकारियों पर निर्भर नहीं होती, वरन् उसे राज्यों के अधिकारी वर्ग पर निर्भर रहना पड़ता है। ऑस्ट्रिया के विधान में भी ऐसी ही व्यवस्था है। कुछ विशेष मामलों में संघीय कानून को कार्यान्वित करना संघीय सरकार के अधिकारियों का कार्य है, परन्तु अन्य मामलों में उनको कार्यान्वित करने का कार्य राज्यों के अधिकारियों को सौंपा गया है। स्विट्जरलैण्ड में भी ऐसी ही व्यवस्था है; वहाँ संघीय पार्लमिण्ट द्वारा स्वीकृत कानूनों में से अधिकांश कानूनों को कार्यान्वित करना कैण्टनों के अधिकारियों का कार्य है और कुछ संघीय करों को भी वे ही वसूल करते हैं।

प्रत्येक प्रणाली के लाभ और हानियाँ दोनों ही हैं। राज्यों के अथवा स्थानीय अधिकारियों पर निर्भर रहने से शासन-यन्त्र की दोहरी व्यवस्था नहीं करनी पड़ती, परन्तु इससे एक बड़ी हानि यह है कि राज्यों के अधिकारियों के कन्धों पर संघीय कानूनों तथा नीतियों की रक्षा का दायित्व आ पड़ता है और स्थानीय अधिकारी, जिन्हें स्थानीय लोकमत का समर्थन प्राप्त होता है, ऐसे कानूनों एवं नीतियों के विरोधी हो सकते हैं अथवा उनको कार्यान्वित करने के मामले में वे उदासीन हो सकते हैं। संघीय कानूनों पर राज्यों के अधिकारियों द्वारा तत्परता के साथ अमल किया जायगा, इसकी गारण्टी के लिए जर्मन, स्विस तथा ऑस्ट्रियन विधानों में संघीय सरकारों की ओर से राज्यों के तत्सम्बन्धी कार्यों के निरीक्षण या पर्यवेक्षण तथा दमन की व्यवस्था है। इस प्रकार जर्मनी में संघीय मन्त्रि-परिषद् को राज्यों के अधिकारियों के लिए संघीय कानूनों को कार्यान्वित करने के सम्बन्ध में आदेश जारी करने तथा उनके द्वारा कानूनों को कार्यान्वित करने के सम्बन्ध में किये जाने वाले कार्यों के निरीक्षण के लिए कमिश्नर भेजने का भी अधिकार है (धारा १५)। ऑस्ट्रिया के विधान में भी (धारा १५) ऐसी ही व्यवस्था है। स्विटरलैण्ड में भी केन्द्रीय शासन कैण्टनों के अधिकारियों पर संघीय कानूनों के पालन के सम्बन्ध में निरीक्षण रखता है।

स्थानीय मामलो मे संघीय हस्तक्षेप

ऐसे अधिकांश राज्यों में, जिनमे सघ-शासन-प्रणाली स्थापित है, राष्ट्रीय सरकार को स्थानीय मामलो मे, विशेषतः आन्तरिक व्यवस्था की रक्षा-सम्बन्धी मामलों मे, हस्तक्षेप का अधिकार है। यदि संयुक्त राज्य अमेरिका के किसी राज्य मे आन्तरिक हिंसा के दमन की आवश्यकता हो और उस राज्य का गवर्नर अथवा यदि उसकी धारा-सभा का अधिवेशन हो रहा हो तो वह इस आशय की प्रार्थना करे तो राष्ट्रीय सरकार अपनी सशस्त्र सेनाएँ शान्ति-रक्षार्थ भेज सकती है। यदि राज्यो मे किसी उपद्रव के कारण राष्ट्रीय सरकार के कार्यों अथवा सघीय न्यायालयों की कार्यवाही तथा अन्तर्राज्य-वाणिज्य के सम्बन्ध मे विघ्न खड़ा हो जाता है तो राष्ट्रपति गवर्नर या राज्य की धारा-सभा की प्रार्थना की प्रतीक्षा किये बिना भी घटनास्थल पर अपनी सेनाएँ भेजकर शान्ति स्थापित कर सकता है। सन् १८९४ मे शिकागो की हड़ताल के मामले मे राष्ट्रपति क्लीवलैण्ड ने हस्तक्षेप किया था।

ब्राजील में सघीय सरकार को राज्यों के भीतर आक्रमण के निराकरण, गणतन्त्र शासन-प्रणाली को कायम रखने, शान्ति एवं व्यवस्था के पुनस्स्थापन, सघीय कानूनो को कार्यान्वित करने तथा सघीय न्यायालयों के निर्णयों को कार्यरूप मे परिणत करने के सम्बन्ध मे हस्तक्षेप का अधिकार है।[१] संयुक्त राज्य अमेरिका के विधान ने इससे भी आगे बढ़कर सघीय सरकार का यह कर्तव्य निर्धारित किया है कि वह अपने राज्यो पर आक्रमण के प्रतिरोध तथा गणतन्त्र शासन-प्रणाली के संरक्षण के लिए हस्तक्षेप करे। स्विस राज्य-मण्डल के विधान के अन्तर्गत संघीय सरकार का यह कर्तव्य माना गया है कि वह केण्टनो की अखण्डता तथा प्रभुत्व की रक्षा की, जहाँ तक उनका प्रभुत्व स्वीकृत है, गारण्टी दे। यदि केण्टनो मे आन्तरिक उपद्रव उत्पन्न हो जाँय तो संघीय सरकार को केण्टन के अधिकारियों की प्रार्थना के बिना भी ऐसे मामलों मे हस्तक्षेप करने का अधिकार है (धारा १४–१६)। सन् १८४८ मे आज पर्यंत ऐसे ११ मामले हुए हैं जिनमे स्विट्जरलैण्ड की सघीय सरकार ने केण्टनो के मामलो मे हस्तक्षेप किया है; पाँच बार तो अकेले टिसिनो केण्टन मे ही हस्तक्षेप हुआ है।

जर्मनी के विधान मे यह उल्लेख है कि यदि सार्वजनिक सुरक्षा एवं शान्ति के लिए कोई सकट हो, तो राष्ट्रपति उसके निवारण के लिए आवश्यक कार्यवाही, यहाँ तक कि सैन्य-कार्यवाही भी, कर सकेगा। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह जनता के विधान द्वारा स्वीकृत नागरिक अधिकारो एवं स्वतन्त्रता को पूर्ण या आंशिक रूप मे स्थगित कर सकता है और फौजी कानून की घोषणा कर सकता है।

(८) शासन के अन्य रूप

राज्य-मण्डल शासन-प्रणाली

राज्य मण्डल शासन-प्रणाली (Confederate Government) से तात्पर्य ऐसी प्रणाली से है, जिसके अन्तर्गत प्रत्येक राज्य का अपना प्रभुत्व (Sovereignty) कायम रहता है और उसकी अपनी इच्छानुसार शासन-प्रणाली होती है तथा पारस्-

---

१ Brooks - Government and Politics of Switzerland, p. 59. and Bryce 'Modern Democracies', Vol. I, p. 342.

रिक सहायता एवं रक्षा के लिए एक केन्द्रीय सरकार होती है।[1] संघीय प्रणाली तो सामान्य प्रभुत्व के अधीन एक दोहरी पद्धति है, किन्तु राज्य-मण्डल में उतने ही प्रभुत्व होते हैं, जितने सदस्य-राज्य। उसमें संघ-प्रणाली की भाँति केन्द्रीय तथा सदस्य राज्यों के बीच सत्ता का वितरण नहीं होता। यदि राज्य-मण्डल में केन्द्रीय सरकार होती है तो वह परस्पर सन्धि अथवा समझौते की शर्तों के अनुसार ही होती है, विधान द्वारा उसकी व्यवस्था नहीं होती और वह राज्यों की एजेण्टमात्र होती है जो उनकी ओर से कुछ सीमित कार्य करती है। उसमें कार्यपालिका तथा न्यायपालिका संस्थाएँ नहीं होतीं और व्यवस्थापक-मण्डल के स्थान पर राज्यों के प्रतिनिधियों की एक कांग्रेस या डायट होती है, जो राजदूतों के समान कार्य करते हैं, धारा-सभा के सदस्यों के समान नहीं। यह कांग्रेस प्रस्ताव पास कर सकती है, परन्तु उसे बन्धनकारी कानून-निर्माण का अधिकार नहीं है। ऐसे प्रस्ताव व्यक्तियों को नहीं, राज्यों को सम्बोधित किये जाते हैं और राज्यों द्वारा ही वे जनता तक पहुँच पाते हैं। वास्तव में, राज्य-मण्डल के अपने नागरिक नहीं होते जो उसके प्रति सीधे राजभक्त हों। उसमें वैदेशिक मामलों, आत्म-रक्षा के प्रश्नों तथा कुछ अन्तर्राज्य प्रश्नों पर ही विचार करने की क्षमता होती है। उसे अपनी आय के साधनों पर भी कोई अधिकार नहीं होता, उसे अपनी आय के लिए राज्यों द्वारा स्वेच्छा से दिये गये चन्दे पर निर्भर रहना पड़ता है। अन्त में, राज्य-मण्डल में स्थायित्व एवं स्थिरता का अभाव होता है और उसका जीवन भी डाँवाडोल होता है क्योंकि यह प्रत्येक राज्य की इच्छा पर निर्भर है कि वह मण्डल से अलग हो जाय या उसकी कांग्रेस के द्वारा स्वीकृत किसी प्रस्ताव को स्वीकार करे या न करे। यह एक अल्पकालीन राजनीतिक संगठन है जो कालान्तर में संघ-प्रणाली के रूप में विकसित हो जाता है अथवा जिसका उसके विधायक राज्यों के पृथक् हो जाने से विघटन हो जाता है।

नौकरशाही शासन

कुछ सरकारें उनकी भावना, उनकी रीतियों तथा उनके राज्य-कर्मचारीवर्ग के व्यावसायिक (Professional) चरित्र के कारण नौकरशाही सरकारें (Bureaucratic Governments) कहलाती हैं। यथार्थ रूप में, नौकरशाही शासन-प्रणाली वह है जिसमें राजकीय विभागों द्वारा महत्वपूर्ण नीतियों का निर्धारण होता है और इन विभागों के अध्यक्ष ही महत्वपूर्ण प्रश्नों का निर्णय करते हैं। व्यापक अर्थ में, इस प्रणाली से प्रयोजन ऐसी सरकार से है जिसके कर्मचारियों को लोकसेवा के लिए व्यावसायिक प्रशिक्षण दिया जाता है और जो स्थायी रूप से अपने पदों पर बने रहते हैं। उनकी पदोन्नति योग्यता तथा पदोच्चता (Seniority in Office) के अनुसार होती है। ऐसी सरकार में राजकीय सेवा एक व्यवसाय मानी जाती है और जो इसे ग्रहण करते हैं, उनके लिए एक जीवनवृत्ति बन जाती है। सामान्यतया ऐसे कर्मचारी-मण्डल में समुदाय-भक्ति तथा सैन्यवत् अनुशासन की भावना उत्पन्न हो जाती है। स्वभावतः उनमें एक जाति (Caste) की भावना का विकास हो जाता है और वे स्वयं जनता से भिन्न एक पृथक् जाति बन जाते हैं। जो शासन ऐसे कर्मचारीवर्ग द्वारा संचालित किया जाता है, उसमें अतिशय नियम-निष्ठता रहती है और मौलिक सिद्धान्तों की अपेक्षा प्रशासन सम्बन्धी दैनिक कार्य की परिपाटी पर अधिक ध्यान दिया जाता

१. तुलना कीजिये, Burgess: 'Political Science and Constitutional Law,' Vol. II, p. 6

है। जैसा कि बर्क ने कहा है, 'नौकरशाही सार की अपेक्षा बाह्य रूप पर अधिक ध्यान देती है। नौकरशाही का सबसे उत्कृष्ट उदाहरण आधुनिक संसार में सन् १७२० से सन् १८०८ तक के प्रशा में मिलता है। इससे कम स्वेच्छाचारी नौकरशाही सन् १८०८ के बाद नेपोलियन के अधीन फ्रान्स में थी। इस प्रकार की शासन-प्रणाली, कुछ परिवर्तित रूप में योरोप के अनेक राज्यों में है, विशेषतः जर्मनी और आस्ट्रिया में तथा कुछ कम अंश में इंगलैण्ड और फ्रान्स में। सामान्यतया नौकरशाही का एकतन्त्र राज्यों के सम्बन्ध में ही विचार किया जाता है, परन्तु उसके रूप, उसकी रीतियाँ और कुछ सीमा तक उसकी भावना कई गणतन्त्र राज्यों की शासन-पद्धतियों में भी विद्यमान है।'[1]

आजकल फ्रान्स में नौकरशाही के ढंगों की बड़ी शिकायत सुनने में आती है। वहाँ राज्य-शासन अत्यन्त केन्द्रीभूत है, मुख्यकर पेरिस में और प्रान्तों की राजधानियों में भी। इस कारण मन्त्रियों तथा प्रान्तों के प्रिफेक्टों के कार्यालयों में कार्य अत्यधिक बढ़ गया है। राज्य भर से सहस्रों की संख्या में पेरिस सरकार के पास ऐसे प्रश्न समाधान के लिए भेजे जाते हैं जिनका संयुक्त राज्य अमेरिका में स्थानीय अधिकारियों द्वारा समाधान किया जाता है और जिनमें उन्हीं की दिलचस्पी होती है या जिनका उन्हीं पर प्रभाव पड़ता है। फ्रान्स के प्रान्तों में कम्यूनों के बजट पर प्रिफेक्ट की स्वीकृति आवश्यक होती है। बड़े प्रान्तों में तो प्रिफेक्ट के समक्ष सैकड़ों की संख्या में ऐसे बजट स्वीकृति के लिए आते हैं। इस प्रकार इन बजटों के सम्बन्ध में अथवा अन्य बातों में निर्णय अधिकांश में प्रिफेक्ट के कार्यालय के कर्मचारियों पर ही निर्भर होता है। किसी प्रश्न पर एक निम्नस्थ अधिकारी द्वारा किया हुआ निर्णय स्वीकृति के लिए अनेक अफसरों के पास से होता हुआ मन्त्री या प्रिफेक्ट तक पहुँचता है। इस प्रकार नौकरशाही का यन्त्र बहुत धीरे-धीरे काम करता है और एक साधारण से प्रश्न के निर्णय में प्रायः वर्षों लग जाते हैं। रिपोर्टें, विरोधी रिपोर्टें, स्मरण-पत्र, सिफारिशें और निर्णय एक के पश्चात् दूसरे आते रहते हैं और उनका संचय होता रहता है तथा किसी भी एक विषय से सम्बन्ध रखने वाले कागजों और दस्तावेजों का एक छोटा-सा पर्वत खड़ा हो जाता है।[2]

इस प्रणाली में दोष ही दोष भरे हों, यह बात नहीं है। नौकरशाही प्रणाली में गुण भी है। नौकरशाही में ऐसे व्यक्तियों के हाथ में शासनाधिकार होता है जिन्हें अपने कार्य के लिए उपयुक्त प्रशिक्षण दिया जाता है। उनमें कार्यक्षमता और कार्य-कुशलता पर्याप्त मात्रा में होती है जो उन्हें कार्यकाल के स्थायित्व तथा अनुभव से प्राप्त होती है। फलतः ऐसा शासन उन कर्मचारियों के शासन से अधिक अच्छा होता है जिन्हें कोई तत्सम्बन्धी प्रशिक्षण नहीं प्राप्त होता जिनकी नियुक्ति कार्य-कुशलता की दृष्टि से नहीं होती और जो जल्दी ही अपने पद से निवृत्ति प्राप्त करके अपना स्थान दूसरे प्रशिक्षणहीन व्यक्तियों के लिए खाली कर देते हैं। सुप्रसिद्ध आंग्ल दार्श-

---

१. नौकरशाही शासन के लिए देखिये, Goodnow: 'Comparative Administrative Law,' Vol. II, pp. 8—9, Mill: 'Representative Government', pp. 109-110, Bryce: 'Modern Democracies,' Vol. I, pp. 274-75

२. फ्रान्स में इस प्रकार के शासन के लिए, जिसमें इतने पत्र इकट्ठे हो जाते हैं, 'कागजी राज्य' (Paperasseire) शब्द का प्रयोग किया जाता है।

निक जॉन स्टुमर्ट मिल ने लिखा है—"वह (नौकरशाही) अनुभव का सचय करती है, सुपरीक्षित एव सुचिन्तित परम्परागत सिद्धान्त स्थिर करती है और उन लोगो के लिए उपयुक्त व्यावहारिक ज्ञान जुटाती है, जिन्हें वास्तव में शासन-संचालन करना पड़ता है।"[1]

लोक-शासन

नौकरशाही शासन के विपरीत लोक-शासन (Popular Government) है। लोक-शासन से अभिप्राय ऐसे शासन से है जो ऐसे व्यक्तियों द्वारा हो जो सामान्य जनता में से समय-समय पर लिये जाँय, जिनमें बहुत से जनता द्वारा निर्वाचित हो और जो अल्पकाल तक शासन करने के उपरान्त निवृत्त होकर पुनः अपने व्यक्तिगत जीवन में लग जाँय। साधारणतया ऐसे व्यक्तियों को कोई विशिष्ट प्रशिक्षण प्राप्त नहीं होता। वे प्राय वेतन नहीं लेते और शासन में अपने पद पर रहते हुए भी अपने दूसरे कार्य करते रहते हैं। ऐसी प्रणाली के अन्तर्गत राजकीय पद बिना किसी प्रतियोगिता एव तैयारी के सब लोगों के लिए खुले रहते हैं। इनके लिए किसी व्यावसायिक योग्यता की आवश्यकता नहीं मानी जाती। इस प्रणाली में इस प्रकार राज्य-कर्मचारी-वर्ग अपना एक पृथक् वर्ग नहीं बनाता और उसका जनता के साथ सम्पर्क भी नहीं टूटता। उस पर लोकमत का न्यूनाधिक प्रभाव रहता है और अपने राजकीय कार्यों के सम्पादन में उस पर प्रशासन के नियन्त्रण की अपेक्षा धारा-सभा का नियन्त्रण अधिक रहता है।

व्यक्तिवादी (Individualistic) एव पैत्र्य (Paternalistic) शासन

शासन के कार्यों और कार्य-क्षेत्रों की दृष्टि से शासनों को व्यक्तिवादी और पैत्र्य भी माना जा सकता है। पहले प्रकार का शासन वह है जिसका कार्य समाज की सुरक्षा, आन्तरिक एव बाह्य संकट से रक्षा तथा व्यक्तिगत अधिकारों की रक्षा-मात्र है। पैत्र्य शासन वह है जो उपरोक्त कार्यों का सम्पादन करने के अतिरिक्त जनता के कल्याण तथा प्रगति के लिए भी विविध कार्य करता है। वह जनता के कल्याण के लिए ऐसी सेवाएँ भी करता है जिन्हें व्यक्ति स्वय भी कर सकते हैं, परन्तु जिनका सम्पादन वह व्यक्तियों से अधिक क्षमता एव कुशलता के साथ कर सकता है। ऐसा शासन उद्योगों पर अपना स्वाम्य स्थापित कर उनका संचालन जनता के हित के लिए कर सकता है; वह व्यावसायिक धन्धे आदि कर सकता है; वृद्धों, रोगियों तथा दुर्बल मनुष्यों के लिए वृत्तियों की व्यवस्था भी कर सकता है और सामाजिक हितों की अभिवृद्धि के लिए अनेक प्रकार से प्रयत्न कर सकता है।

---

१. Mill : Representative Government (Universal Library Edition), p. 109.

परन्तु मिल ने यह भी बतलाया कि इसमें अवगुण गुणों से भी अधिक हैं। 'जो रोग नौकरशाही सरकारों पर आक्रमण करता है और जिससे वे मृत्यु को प्राप्त हो जाती है, वह है परिपाटी (Routine) से संलग्नता। वे अपने सिद्धान्तों की अस्थिरता से तथा इस सार्वभौमिक नियम के कारण मर जाती है कि जो वस्तु दैनिक परिपाटी का रूप ग्रहण कर लेती है, वह अपनी जीवनदायिनी शक्ति खो बैठती है।'

शासन के रूपों का अनुक्रम

पूर्वकालीन लेखकों के सिद्धान्त

किसी भी राज्य के अपने जीवनकाल में शासन का एक ही रूप या एक ही प्रणाली नहीं रही है। शासन सदैव अपने रूपों में परिवर्तन करते रहे हैं और नये वातावरण के अनुकूल वे नूतन रूप धारण करते रहे हैं। इस प्रकार एथेन्स में पहले राजाओं का राज्य रहा, फिर कुलीनतन्त्र, बाद में अत्याचारियों का शासन, फिर प्रजातन्त्र और अन्त में फिर राजाओं का शासन हुआ। इसी प्रकार रोम में भी शासन-परिवर्तन हुए। उसका आरम्भ नगर-राज्य से हुआ, तदुपरान्त वह एक गणतन्त्र में और अन्त में साम्राज्य में परिवर्तित हो गया। फ्रान्स के शासन में गत एक शताब्दी में अनेक परिवर्तन हुए, पहले निरंकुश एकतन्त्र शासन, फिर क्रमशः गणतन्त्र, साम्राज्य, राजा का शासन, फिर गणतन्त्र, पुनः साम्राज्य और पुनः तीसरी बार गणतन्त्र स्थापित हुआ।

प्राचीन समय में लोगों में यह विश्वास था कि प्रकृति की ओर से ऐसी प्राकृतिक व्यवस्था है जिसके अनुसार प्रत्येक राज्य को अपने जीवन में विविध स्थितियों में से गुजरना पड़ता है। प्लेटो ने यह बतलाया कि विकास की स्वाभाविक गति कुलीनतन्त्र से सर्वश्रेष्ठों के शासन, धनिकतन्त्र, सैन्य शासन, अल्प-जनतन्त्र, पामर-जनतन्त्र और अत्याचारी-तन्त्र की ओर है।[1] अरस्तू का प्लेटो के विकास-क्रम से मतभेद था, किन्तु उसका भी विश्वास था कि शासन के रूपों का एक के पश्चात् दूसरे में परिवर्तन एक सुनियमित अनुक्रम के अनुसार होता है। उसके अनुसार राज्य पैतृक एकतन्त्र-शासन से आरम्भ हुआ और कालान्तर में वह कुलीनतन्त्र में परिवर्तित हो गया। कुलीनतन्त्र ही कालान्तर में धनिक या अल्प-जनतन्त्र के रूप में परिवर्तित हो गया। यह धनिकतन्त्र बाद में अत्याचारी-तन्त्र बन गया और अन्त में उससे प्रजातन्त्र का विकास हुआ। साधारणतया प्रजातन्त्र के प्रति असन्तोष के परिणामस्वरूप फिर एक-तन्त्र का उदय होगा और इस प्रकार फिर यह चक्र पूर्ववत् चलने लगेगा।[2] पॉलिबियस ने बतलाया कि राज्य में सर्वप्रथम सबसे बलवान व्यक्ति शासक बना, अर्थात् पहले एकतन्त्र शासन स्थापित हुआ, इसके बाद शासन का आधार शक्ति के स्थान पर न्याय बना। इस शासन को पॉलिबियस ने 'रॉयल्टी' (Royalty) नाम दिया है। इसी से आगे चलकर अत्याचारी शासन का विकास हुआ जिसको कुलीनतन्त्र ने उखाड़ फेंका। यह कुलीनतन्त्र कालान्तर में धनिक-तन्त्र बन गया। इसका जनता ने विनाश कर प्रजातन्त्र की स्थापना की। मेकियावेली ने भी इसी प्रकार के विचार शासन के अनुक्रम के सम्बन्ध में प्रकट किये हैं।

एक सुप्रसिद्ध जर्मन विद्वान् श्लीयरमेखर (Schleiermacher) का यह मत था कि राजनीतिक परिवर्तन अधिकांश में राजनीतिक चेतना द्वारा निर्धारित होते हैं। आरम्भ में राजनीतिक चेतना किसी भी मस्तिष्क में अधिक विकसित नहीं थी, यद्यपि जनता में वह व्यापक थी। प्रजातन्त्र शासन इस स्थिति के अनुकूल था। अतः सबसे प्रथम प्रजातन्त्र का उदय हुआ। इसके बाद राजनीतिक चेतना कुछ व्यक्तियों के मस्तिष्कों में औरों से अधिक विकसित हुई। इससे कुलीनतन्त्र की स्थापना हुई। अन्त में,

---

१. The Republic Bk. III.

२. Politics, Bk. VI.

वह राजनीतिक चेतना एक व्यक्ति में केन्द्रीभूत हो गयी और उससे राज्य के सर्वोच्च रूप एकतन्त्र का जन्म हुआ। इस सिद्धान्त में कुछ सत्यांश है। परन्तु राजनीतिक चेतना के विकास का यह क्रम ठीक नही मालूम होता। यह मानना अधिक युक्तिसंगत होगा कि राजनीतिक चेतना पहले पहल एक व्यक्ति में व्यक्त हुई, फिर अल्प व्यक्तियों में विकसित हुई और धीरे धीरे सारी जनता मे व्याप्त हो गयी। इस प्रकार शासनो का अनुक्रम उल्टा हुआ। राज्य का प्रारम्भ एकतन्त्र-प्रणाली के रूप मे हुआ, वह कुलीनतन्त्र में परिवर्तित हुआ और तदुपरान्त राजनीतिक चेतना के व्यापक होने के साथ राज्य प्रजातान्त्रिक हो गया। इतिहास से यह सिद्ध है कि राजनीतिक विकास इसी क्रम से हुआ है।

ब्लु ट्श्ली के अनुसार शासन-प्रणाली के रूपो का विकास निम्न प्रकार से हुआ है—पहले देवाधिराज्य, फिर एकतन्त्र, बाद मे कुलीनतन्त्र और अन्त मे प्रजातन्त्र। इनमे से प्रत्येक रूप प्राय. सभी स्थितियो में होकर विकसित हुआ। उदाहरणार्थ, एकतन्त्र अपने विशुद्ध रूप मे प्रारम्भ हुआ, उसके बाद वह कुलीनतन्त्र मे परिणत हो गया और अन्त में प्रजातन्त्र मे। गणतन्त्र भी इसी प्रकार एकतन्त्रात्मक, कुलीन-तन्त्रात्मक तथा प्रजातन्त्रात्मक स्थितियो मे से गुजरे हैं।

इस अनुक्रम के नियम या सिद्धान्त पर विचार करने के बाद यही निष्कर्ष निकलता है कि भौतिक जगत की भांति शासन के क्षेत्र मे ऐसे परिवर्तन किसी एक नियम या सिद्धान्त के अनुसार नहीं होते। इतिहास मे इसके कई प्रमाण मिलते हैं। उदाहरणार्थ, प्राचीनकालीन एकतन्त्र सदा ही अत्याचारी शासन के रूप मे परिवर्तित नही हुए, अत्याचारी शासन का तो कुलीनतन्त्र के नेताओं के पारस्परिक संघर्ष के कारण उदय हुआ। एकतन्त्र अनेक बार प्रजातन्त्र मे परिवर्तित हो गये हैं, कुलीनतन्त्र एकतन्त्र मे तथा प्रजातन्त्र कुलीनतन्त्र मे परिवर्तित हुए है। बोदों ने गणतन्त्र पर लिखी हुई अपनी पुस्तक मे ऐसे शासन-परिवर्तनों के अनेक उदाहरण दिये हैं। आधुनिक समय मे एकतन्त्र शासन प्रायः प्रजातन्त्रो मे विकसित हुए हैं, कुलीनतन्त्रो म नहीं। सोलहवीं तथा सत्रहवीं सदियो मे योरोप के अनेक राज्यो मे जागीरदारी कुलीनतन्त्रो के अवशिष्ट खण्डहरो पर एकतन्त्र शासनो की स्थापना हुई। इनका अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जायगा कि नियम की अपेक्षा अपवाद अधिक है। राजनीतिक विकास के कुछ नियम हैं, परन्तु शासनो के अनुक्रम का ऐसा कोई सिद्धान्त नही है जैसाकि प्राचीन लेखकों ने बतलाया है। सब राज्य समान अवस्था मे से नहीं गुजरे हैं और न उनमे समान परिवर्तन ही हुए हैं। कुछ राज्यो मे परिवर्तन आन्तरिकक्रान्ति के फलस्वरूप और कुछ मे जानबूझ कर या अनुकरण द्वारा स्वत: ही किये गये हैं। बुल्जे ने यह सत्य ही कहा है कि यदि शासकों का अनुक्रम वैसा ही हो जैसा कि पॉलिबियस ने बतलाया है तो ससार का भविष्य अत्यन्त निराशाजनक होगा।[१] इसका अर्थ होगा भाग्यवाद का राज्य और राजनीति के क्षेत्र मे मृत्यु का राज्य।

———

१. Political Science, Vol. I, p. 469; Leacock, Elements of Political Science,' pp 46-47; Rousseau, 'Contrat Social', Bk III, ch. II,

विविध शासन-प्रणालियों के गुण-दोष

(१) एकतन्त्र शासन

एकतन्त्र शासन—कहां है?

शासन के विविध भेदो तथा रूपो पर विचार करने के बाद अब हम इतिहास के आलोक मे तथा अनुभव के आधार पर प्रत्येक शासन के गुण-दोषो पर विचार करने का प्रयत्न करेंगे। समस्त शासन प्रणालियो मे एकतन्त्र प्रणाली सबसे पुरातन है। मध्ययुग मे यह ससार भर मे व्यापक थी और आधुनिक समय मे योरोप, एशिया तथा अफ्रीका के विविध देशो मे जीवित है। प्रजातन्त्र की अनिवार्य प्रगति के कारण योरोप से स्वेच्छाचारी एकतन्त्र शासन तो विलीन हो गया, परन्तु अभी कुछ वर्षों पहले तक योरोप महाद्वीप के अनेक देशो मे वह किसी न किसी रूप मे विद्यमान रहा। प्रो० सिजविक ने कहा है कि 'अठारहवी शताब्दी के मध्य में एकतन्त्र शासन का अन्तिम रूप माना जाता था जिसकी प्राप्ति सुव्यवस्थित दैशिक राज्यों के निर्माण की दीर्घकालीन प्रक्रिया के फलस्वरूप हुई है और जिसके द्वारा एक सम्पतापूर्ण राजनीतिक व्यवस्था की स्थापना एव उसके कायम रखने का काम पूर्ण रीति से सफल हुआ है जबकि दूसरी राजनीतिक प्रणालियाँ इस कार्य मे विफल रही हैं।"

सुप्रसिद्ध आग्ल विद्वान् फिशर ने सन् १९११ मे यह घोषित किया कि सन् १८७० से योरोप मे गणतन्त्रवाद को कोई ठोस सफलता नही मिली। उसने बतलाया कि उस समय फ्रान्स ही एक महान् राज्य था जिसने गणतन्त्र-प्रणाली को अपनाया और उसका अपना अनुभव ऐसा नहीं है जिससे दूसरो को उसके अनुकरण के लिए प्रोत्साहन मिले। योरोप के अनेक देशो में गणतन्त्र स्थापित हुए, विशेषत: सन् १८४८ मे, परन्तु वे सब अल्पकालिक रहे और जिन एकतन्त्रों के विनाश पर वे कायम हुए थे, वे (एकतन्त्र) पुन. स्थापित हो गये। उसने बतलाया कि गणतन्त्रवाद का भविष्य आशाजनक नही है। उसने यह भी कहा कि जर्मनी तथा इटली जैसे अनेक देशो मे सामाजिक प्रजातन्त्रवादी लोग भी, जो राजनीतिक दलों मे सबसे प्रगतिशील थे, एकतन्त्र-विरोधी नही थे; वह उदार मताधिकार-प्राप्ति तथा अन्य प्रजातन्त्रीय सुधारों से ही सन्तुष्ट थे जिन्हें वे एकतन्त्र के विनाश से अधिक महत्वपूर्ण समझते थे।

गणतन्त्रवाद की प्रगति

फिशर ने गणतन्त्रवादी (Republicanism) आन्दोलन की विफलता के अनेक कारण बतलाये हैं। सर्वप्रथम, एकतन्त्रो की स्थिति, जो सन् १८४८ मे इतनी संदिग्ध थी, उस समय के (जब कि फिशर ने अपना ग्रन्थ लिखा था) योरोप के शासकों के बुद्धि-कौशल, चरित्र एव योग्यता के कारण, जिन बातों मे वे उस शताब्दी के

प्रारम्भ के राजाओं से कहीं अच्छे थे, अत्यधिक पुष्ट हो गयी थी। इंगलैण्ड में साम्राज्ञी विक्टोरिया, सम्राट् एडवर्ड सप्तम बेल्जियम में लियोपोल्ड द्वितीय, डेनमार्क में क्रिश्चियन नवम्, स्वीडन में ऑस्कर द्वितीय, जर्मनी में विलियम प्रथम तथा द्वितीय, ऑस्ट्रिया-हंगरी में फ्रान्सिस जोजेफ और इटली में विक्टर इमैनुअल द्वितीय को अपने-अपने देशों में जनता का इतना सम्मान प्राप्त था जितना सन् १८४८ से पूर्व शासकों एवं राजाओं को कभी प्राप्त नहीं हुआ था। इटली तथा जर्मनी में राष्ट्रीय एकता का जो महान् कार्य सम्पन्न हुआ वह भी एकतन्त्र शासनों की बड़ी देन समझी जाती है। इसी प्रकार अन्य योरोपीय देशों ने भी एकतन्त्र शासनों के अधीन आश्चर्यजनक उन्नति की जिससे जनता उनसे सन्तुष्ट रही। फिशर ने यह भी बतलाया कि सन् १९०५ में नॉर्वे की सीधी-सादी प्रजातान्त्रिक जनता ने (जिसमें किसान, व्यापारी तथा मछुए सम्मिलित थे) गणतन्त्र की अपेक्षा एकतन्त्र शासन को ही पसन्द किया। नॉर्वे में एक गणतन्त्रवादी दल भी था; परन्तु उसमें इस बात पर मतभेद था कि गणतन्त्र का रूप कैसा हो—अमेरिकन या फ्रेन्च ? यह तर्क कि गणतन्त्र की अपेक्षा एकतन्त्र जर्मनी तथा इंगलैण्ड दोनों देशों को अधिक स्वीकार्य होगा और यह विश्वास ही अन्त में विजयी रहा कि एकतन्त्र की स्थापना से राजवंशों में जो सम्बन्ध होंगे उनसे देश की सुरक्षा और गौरव की वृद्धि होगी और इस प्रकार गणतन्त्र का तिरस्कार कर दिया गया।

सन् १९११ में पुर्तगाल में एकतन्त्र को हटा कर उसके स्थान पर गणतन्त्र की स्थापना की गयी, परन्तु प्रथम विश्व-युद्ध के अन्त तक योरोप में गणतन्त्रवाद ने कोई प्रगति नहीं की। प्रथम विश्व-युद्ध के उपरान्त जर्मनी और ऑस्ट्रिया गणतन्त्र राज्य बन गये। इसके उपरान्त जो अनेक नये राज्य बने उनमें और यूनान तथा स्पेन में भी गणतन्त्र शासन स्थापित हो गया। रूस ने भी एकतन्त्र का खात्मा कर डाला; परन्तु उसके स्थान पर उसने जो शासन-प्रणाली प्रतिष्ठित की वह प्रचलित अर्थ में गणतन्त्र-प्रणाली नहीं कही जा सकती और न वह प्रजातन्त्र ही है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि यूगोस्लाविया ने एकतन्त्र शासन-पद्धति स्वीकार की और हंगरी ने कौनसी पद्धति अपनाई, यह स्पष्ट नहीं कहा जा सकता, परन्तु देखने में यह राजा-रहित एकतन्त्र है। बेल्जियम और रूमानिया में प्रजातन्त्र का विस्तार हुआ, परन्तु शासन-प्रणाली एकतन्त्रीय बनी रही। इटली में फासिस्ट दल के शासन में मौलिक परिवर्तन हो गये हैं, परन्तु वहाँ भी एकतन्त्र है और वह गणतन्त्र होना नहीं चाहता। ग्रेट ब्रिटेन, स्कैंडिनेवियन देशों, बलगेरिया तथा नीदरलैण्ड में युद्ध के बाद भी एकतन्त्र शासन-प्रणाली बनी हुई है और उसके गणतन्त्र प्रणाली में बदलने के कोई चिह्न नहीं दिखाई देते। इस प्रकार रूस तथा छोटे-छोटे रक्षित राज्यों को छोड़ योरोप के आधे देशों में एकतन्त्र शासन-प्रणाली बनी हुई है। एकतन्त्र उत्तरी अमेरिका में अपना प्रभाव नहीं जमा सका, मेक्सिको में इस दिशा में फ्रेन्च प्रयोग विफल रहा। दक्षिणी अमेरिका में जहाँ पहले ब्राजील में एकतन्त्र शासन था, वह प्रणाली नहीं रही। एशिया में जापान, स्याम, फारस और कुछ छोटे राज्यों में एकतन्त्र-शासन है। अफ्रीका में मिस्र और अबीसीनिया में एकतन्त्र-शासन बना हुआ है।

एकतन्त्र के गुण

अठारहवीं शताब्दी में बोसुए (Bossuet) ने एकतन्त्र का बड़ा गुणगान किया और कहा कि एकतन्त्र की सिफारिश इतिहास के अनुभव द्वारा ही नहीं हुई है, वरन् ईश्वर ने भी इसी के लिए आदेश दिया है। उसने कहा कि एकतन्त्र सबसे प्राचीन, अति

व्यापक, सर्वश्रेष्ठ और सर्वाधिक स्वाभाविक शासन-प्रणाली है। ससार का प्रारम्भ एकतन्त्र से हुआ और एकतन्त्र ने ही उसे कायम रखा है। यह स्वाभाविक ही नहीं वरन् अत्यन्त गौरवमय भी है। इसके द्वारा शासक एवं शासित के हितों में साम्य सुनिश्चित होता है और यह ईश्वरीय व्यवस्था के अत्यन्त अनुकूल भी है। अठारहवीं सदी के अन्तिम भाग तक यह प्रणाली मनुष्य की बुद्धि द्वारा रचित राजनैतिक सगठन के पूर्णरूप के सबसे निकट समझी जाती थी। इसके गुणों के सम्बन्ध में आगल इतिहासकार एवं दार्शनिक ह्यू म ने अठारहवीं सदी के मध्य में लिखा है कि "आधुनिक समय में सब प्रकार के शासनों में सुधार हो सकता है, परन्तु एकतन्त्रीय शासन ने पूर्णता की ओर सर्वाधिक प्रगति की है। जो बात पहले गणतन्त्रों के सम्बन्ध में कही जाती थी, वह आज सभ्य एकतन्त्रों के सम्बन्ध में कही जा सकती है कि यह मानवों का शासन नहीं, प्रत्युत कानूनों का शासन है। उनमें एक आश्चर्यजनक सीमा तक व्यवस्था नियम तथा स्थायित्व हो सकता है। उनमें (एकतन्त्रों में) सम्पत्ति सुरक्षित है, उद्योगों को प्रोत्साहन मिलता है, कला की अभिवृद्धि होती है और राजा अपनी प्रजा में ऐसे ही रहते हैं जैसे पिता अपनी सन्तानों के मध्य। उसने यह भी कहा कि फ्रान्स की अपेक्षा, जो ह्यू म की दृष्टि में उस समय 'विशुद्ध एकतन्त्र का पूर्णतम आदर्श था', इगलैण्ड जैसे स्वतन्त्र शासनों में पतन के स्रोत अधिक पाये जाते हैं। सर हेनरी मेन ने इस कथन को सत्यहीन माना। इसके उपरान्त तुर्गो नामक विद्वान् ने एकतन्त्र के विषय में कहा कि 'यह मानव जाति के सामान्य कल्याण एवं आनन्द के लिए सबसे उपयुक्त है क्योंकि निकृष्ट कानून प्रचारित करने में राजा या शासक का अपना कोई हित नहीं हो सकता।'

हमारा एकतन्त्र का मूल्यांकन तुर्गो अथवा ह्यू म जैसे लेखकों के विचारों के आधार पर नहीं हो सकता। तुर्गो राजा का सेवक था और ह्यू म ने ऐसे युग में ये विचार प्रकट किए जब ससार भर में एकतन्त्र का एकछत्र प्रभाव था तथा उसके कोई विरोधी नहीं थे। हमें इसकी परीक्षा सुशासन के सुनिश्चित सिद्धान्तों के आधार पर ही करनी चाहिए ; तर्क, विवेक तथा अनुभव के आधार पर ही इसका निर्णय करना होगा। एकतन्त्र की जाँच करते समय हमें उसके उन रूपों पर विचार करना होगा जो उसने अतीत मे ग्रहण किये या जो हो सकते है—अर्थात् स्वच्छाचारी एकतन्त्र, जिसमे राजा ही शासनसत्ता का एकमात्र स्रोत होता है और वही शासन करता है तथा सीमित या वैधानिक एकतन्त्र, जिसमे वह नाममात्र का सत्ताधारी होता है, विधान द्वारा मर्यादित होता है और अपने मन्त्रियों द्वारा शासन करता है, जो निर्वाचित पार्लमिण्ट के प्रति अपनी नीतियों और कार्यों के लिए उत्तरदायी होते हैं। एकतन्त्र के प्रथम रूप के सम्बन्ध मे यह कहा जाता है कि इस शासन मे अन्य शासनों की अपेक्षा अधिक शक्ति, सगठन की सरलता, शीघ्रता से कार्य करने की क्षमता, मन्त्रणा का ऐक्य, नीति की स्थिरता एव सगति और वैदेशिक सम्बन्धों के सचालन मे प्रतिष्ठा होती है। यह भी कहा जाता है कि स्वेच्छाचारी एकतन्त्र मे कानूनों को बड़ी सुविधा के साथ कार्यान्वित किया जा सकता है क्योंकि राजा स्वतन्त्र रीति से अपने कर्मचारी-वर्ग का चुनाव करता है और वह उन्हें उनके कार्यों के लिए एक प्रजातन्त्र के अधिकारियों से अधिक उत्तरदायी ठहरा सकता है, क्योंकि प्रजातन्त्र मे वे एक नियत अवधि के लिए नियुक्त किये जाते हैं और उन्हें उसके पूर्व पद-च्युत नहीं किया जा सकता। अन्त मे, यह भी कहा जाता है कि एकतन्त्र शासन सामाजिक न्याय (Social Justice) के लिए अधिक सहायक है क्योंकि राजा, निर्वाचन पर निर्भर न होने के कारण और स्वय

दलों एवं वर्गों के दलदल से अलग रहने के कारण अपनी प्रजा के साथ अधिक सहानुभूति रख सकता है और पक्षपातरहित होकर शासन कर सकता है। रूसो ने भी, जो अपने समय का क्रान्तिकारी प्रजातन्त्रवादी था, कहा है कि स्वेच्छाचारी एकतन्त्र में अनेक गुण हैं। उसने कहा कि 'जहाँ एकतन्त्र शासन प्रतिष्ठित है, वहाँ प्रजा की आकांक्षा और राजा की इच्छा, राज्य की लोक-शक्ति और शासन की वैयक्तिक शक्ति, सब एक ही प्रेरक शक्ति के अनुसार आचरण करती है। यन्त्र के सभी पुर्जे एक ही व्यक्ति के हाथ में होते हैं और सभी एक ही लक्ष्य की ओर देखते हैं। उसमें ऐसी कोई विरोधी क्रियाएँ नहीं होतीं जो एक दूसरी का विरोध करें और किसी दूसरे ऐसे विधान की कल्पना नहीं की जा सकती, जिसके अन्तर्गत अल्प प्रयास से अधिक कार्य सम्पन्न हो।' रूसो ने एक चतुर राजा को, जो स्थान पर अचल रहते हुए भी राज्य का शासन कुशलता से करता है, तुलना एक जलयान के इन्जीनियर से की है, जो तट पर शान्ति से बैठे हुए बिना कठिनाई के जहाज को चलाता है।

सभ्यता के प्रारम्भिक काल में जबकि उच्च राजनीतिक चेतना का विकास नहीं हुआ था, एकतन्त्र उस समय की जनता के लिए उपयुक्त था जिसमें शासन-प्रबन्ध में भाग लेने की योग्यता का अभाव था। असभ्य जनता को बर्बरता से विमुक्त करने और उसमें आज्ञा-पालन एवं अनुशासन की भावना का उदय करने के लिए एकतन्त्र से बढ़कर और कोई प्रणाली नहीं हो सकती। जॉन स्टुअर्ट मिल ने ठीक ही कहा है कि 'बर्बर लोगों का शासन करने के लिए स्वेच्छाचारी शासन एक उचित शासन-प्रणाली है; परन्तु शर्त यह है कि उसका लक्ष्य बर्बर जातियों का सुधार करना हो और उसके साधन भी ऐसे हों जो उस लक्ष्य की पूर्ति कर सकें।'[1] उसने लिखा है कि 'नागरिक स्वतन्त्रता का सिद्धान्त किसी भी परिस्थिति में उस समय तक लागू नहीं हो सकता जबकि मनुष्य इस योग्य नहीं बन जाँय कि स्वतन्त्रता और समानता के साथ विचार-विनिमय करके अपनी उन्नति कर सकें। उस समय तक उनके लिए इसके सिवा और क्या अच्छी बात हो सकती है, वे अकबर या शार्लमेन की आज्ञा का पालन करें यदि उन्हें ऐसा कोई शासक मिल सके।' मध्य युग तथा आधुनिक युग के पूर्वकाल में स्वेच्छाचारी एकतन्त्र या असीमित एकतन्त्र ने राष्ट्रीकरण और एकीकरण के कार्य से अपने अस्तित्व के औचित्य को सिद्ध किया है। लॉर्ड ब्राइस ने कहा है कि 'सत्रहवीं तथा अठारहवीं शताब्दियों में योरोपीय देशों में ऐसे अनेक सुधार हुए जो एकतन्त्र से कम किसी शक्ति द्वारा नहीं किये जा सकते थे।[2]

असीमित एकतन्त्र के दोष

एकतन्त्र के अनेक गुण, जिनका विद्वानों ने वर्णन किया है, अनुभव की कसौटी पर ठीक नहीं उतरते। अन्तिम विश्लेषण में, एकतन्त्र ऐसा शासन है जिसका संचालन एक व्यक्ति शासितों के लिए उचितानुचित का अपनी बुद्धि से निर्णय करके करता है और इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जिनसे यह स्पष्ट है कि ऐसे शासनों का संचालन राजा के निजी हितों की दृष्टि से ही हुआ है, जनता के हितों की दृष्टि से कम। जॉन स्टुअर्ट मिल ने कहा है कि 'यह साधारणतया कहा जाता रहा है कि यदि अच्छा निरंकुश शासक मिल सके, तो एकतन्त्र सर्वोत्कृष्ट शासन है।' परन्तु आगे चलकर उसने कहा कि यह 'श्रेष्ठ शासन के सम्बन्ध में अत्यन्त अनिष्टकारी धारणा

१. John Stuart Mill, "On Liberty", p. 23.
२. Bryce : Modern Democracies, Vol. II, p. 536.

है ।' यदि तर्क के लिए यह मान भी लिया जाय कि एक ही व्यक्ति में निहित सर्वोच्च सत्ता का कभी दुरुपयोग नहीं होगा वरन् इसके विपरीत वह सच्चाई और बुद्धिमत्तापूर्वक शासन-प्रबन्ध करेगा, यदि यह भी मान लिया जाय कि श्रेष्ठ कानून बनाये जायेंगे और उनका उदारता के साथ प्रयोग किया जायगा, समस्त प्रजा के साथ समान न्याय किया जायगा और राज्य-कोष का उचित रीति से उपयोग किया जायगा। संक्षेप में यदि यह मान भी लिया जाय कि निरंकुश शासन सर्वाधिक बुद्धिमान् और परोपकारी होगा तो भी अनेक ऐसी बातें हैं जिनके कारण एकतन्त्र आदर्श शासन-प्रणाली नहीं माना जा सकता। शासन-प्रबन्ध की कुशलता श्रेष्ठ शासन की केवल एक कसौटी है। जो शासन जनता के प्रेम एवं आदर-भाव पर आधारित नहीं, जो शासन जनता में सार्वजनिक मामलों के सम्बन्ध में दिलचस्पी उत्पन्न नहीं कर सकता और जो सक्रिय, बुद्धिमत्तापूर्ण और जागरूक नागरिकता का आविर्भाव नहीं कर सकता, वह आदर्श नहीं कहा जा सकता और निश्चय रूप से जिस शासन में जनता को किसी रूप से भाग लेने का अधिकार नहीं, वह ऐसे नागरिकों को पैदा नहीं कर सकता।[1]

यदि एकतन्त्र के समस्त गुणों को, जो बतलाये गये हैं, मान भी लिया जाय, तो भी इस प्रणाली की बहुत कुछ बातें संयोग या आकस्मिकता पर ही निर्भर रहती हैं। जहाँ राजा वंशानुगत उत्तराधिकार के आधार पर सत्ता प्राप्त करता है, वहाँ इसकी क्या जमानत है कि एक परोपकारी और सर्वश्रेष्ठ राजा का उत्तराधिकारी भी वैसा ही होगा। इसके विपरीत, सम्भावना यही है कि ऐसे परोपकारी राजा का उत्तराधिकारी कोई दुर्बल, शक्तिहीन या मूर्ख व्यक्ति होगा, जिसे लाखों व्यक्तियों के भाग्य-निर्णय का अधिकार होगा। इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जिनसे प्रकट होता है कि इस नियम के अनुसार अपरिपक्व बुद्धि के अयोग्य एवं निर्बल शासकों ने उत्तराधिकार प्राप्त किया है। उदाहरणार्थ, फ्रान्स में ५०० वर्षों से भी अधिक समय तक ऐसे राजाओं के राज्य रहे, जिन्होंने राज्यारोहण के समय २५ वर्ष की आयु भी प्राप्त नहीं की थी और १०० वर्ष तक तो ऐसे राजाओं का शासन रहा जिन्होंने २१ वर्ष की आयु भी प्राप्त नहीं की थी।[2]

---

१. गुडनाउ ने अपनी, Comparative Administrative Law नामक पुस्तक में लिखा है—"समस्त शासन-पद्धतियों का एक मुख्य ध्येय यह होना चाहिए कि जनता में ओजमय राजनीतिक शक्ति, देशभक्तिपूर्ण राजभक्ति और सामाजिक एकता का आविर्भाव किया जाय।"

२. रानी विक्टोरिया के राज्यारोहण के समय की स्थिति के सम्बन्ध में निर्देश करते हुए उसकी जीवनी का लेखक 'ली' लिखता है—

"सन् १८०० में रानी विक्टोरिया के राज्यारोहण (सन् १८३७) तक इंगलैण्ड में तीन राजाओं ने राज किया। उनमें से पहला अल्पमति या मूढ़ था, दूसरा दुराचारी और तीसरा विदूषक की श्रेणी में था।"

जेफरसन ने यह मत प्रकट किया है—

"राज-परिवारों में बीस पीढ़ियों में एक भी ऐसा राजा नहीं जन्मा जो सामान्य बुद्धि के व्यक्तियों से अधिक बुद्धिमान हुआ हो।"

अमेरिका के प्रसिद्ध जीव-विज्ञानवेत्ता डॉ० एफ० ए० वुड्स ने योरोपीय राजाओं का बुद्धि तथा सदाचार की दृष्टि से अध्ययन किया है। उसने दो

बुद्धिमान्, सुयोग्य, परोपकारी और उद्योगी राजाओं की कमी नहीं रही, विशेषतः उन्नीसवीं सदी में, परन्तु ऐसे राजाओं की संख्या बहुत कम है जिन्होंने कुलीन वर्गों के विरुद्ध जनसाधारण के हितों की रक्षा की हो। इस सम्बन्ध में लॉर्ड ब्राइस ने कहा है कि 'इतिहास, यद्यपि वह कुछ राजाओं को मानवता की प्रगति में सेवाएँ करने का श्रेय देता है, हमें यह स्पष्टरूप से बतलाता है कि पन्द्रहवीं सदी के अन्त से, जबकि वंशानुगत उत्तराधिकार का नियम प्रतिष्ठित हो चुका था, ऐसे सुयोग्य राजा बहुत कम हुए हैं जिन्होंने सच्चाई के साथ अपनी जनता के कल्याण के लिए प्रयत्न किया हो।'' उदाहरणार्थ, स्पेन में चार्ल्स पंचम के राज्यकाल के बाद तीन शताब्दियों तक कोई ऐसा राजा नहीं हुआ जिसका स्पेन की प्रजा आभार मानती और न हंगरी, पोलैण्ड या नेपल्स में ही ऐसा कोई राजा हुआ।

सीमित एकतन्त्र के गुण

सीमित एकतन्त्र शासन वह है जिसका राजा नाममात्र का सत्ताधिकारी होता है और वास्तविक राजसत्ता का प्रयोग उसके नाम पर मन्त्रियों द्वारा किया जाता है जो धारासभा के बहुमत का प्रतिनिधित्व करते हैं और जो उसके प्रति अपने कार्यों के लिए उत्तरदायी होते हैं। अन्तिम विश्लेषण में, ऐसे सीमित एकतन्त्र (Limited Monarchy) के गुण-दोष मुख्यकर वही हैं जो उस राज्य-शासन में होते हैं, जिसका प्रमुख नाममात्र का होता है और जो निर्वाचन द्वारा नहीं, वरन् वंशानुगत उत्तराधिकार द्वारा अपना पद प्राप्त करता है। यह अन्तिम लक्षण ही ऐसा है जिससे एकतन्त्र की गणतन्त्र से भिन्नता प्रकट होती है। जहाँ तक वास्तविक सत्ता के स्रोत और शासन की प्रक्रियाओं से सम्बन्ध है, एकतन्त्र प्रजातन्त्र हो सकता है और गणतन्त्र भी। यह बात ब्रिटेन तथा बेल्जियम आदि देशों के सम्बन्ध में सत्य है जो एकतन्त्र कहे जाते हैं। ग्रेट ब्रिटेन में, राजा एक नाममात्र का राज्य-प्रमुख है। वह ऐसा ही है, जैसे किसी भवन का शिखर हो। वह राज्य करता है परन्तु शासन नहीं। उसे परामर्श एवं प्रोत्साहन देने तथा चेतावनी देने का अधिकार है और किसी शक्तिशाली राजा द्वारा इन सत्ताओं का प्रयोग सफलता के साथ किया जा सकता है। परन्तु परामर्श और चेतावनी देने के पश्चात् अन्तिम निर्णय तो मन्त्रियों के हाथों में ही रहता है और उन्हें यह निश्चय करने का अधिकार है कि राजा के परामर्श को माना जाय या नहीं। उदाहरणार्थ, इंगलैण्ड की रानी विक्टोरिया की शासन-नीति और विशेषतः वैदेशिक नीति पर बड़ा प्रभाव था। परन्तु इसका कारण उसके दीर्घकालीन अनुभव, उसकी वयोवृद्धता तथा उसके विमल चरित्र के प्रति आदरभाव ही था। परन्तु उसका प्रभाव उतना अधिक नहीं था जितना कि उसने इस दिशा में प्रयत्न किया था। यही बात

पुस्तकें Heredity in Royalty (1906) और The Influence of Monarch (1913) लिखी हैं। वह इस परिणाम पर पहुँचा है कि राजकीय परिवारों ने जनसाधारण से अधिक संख्या में प्रतिभाशाली व्यक्तियों को जन्म दिया है। योग्यता में योरोप के राजा सामान्य योरोपियनों से अधिक क्षमता रखते हैं।

फ्रान्स के २७ राजाओं में १२ व्यभिचारी, ७ सन्दिग्ध और ८ सदाचारी थे। इनमें ८ निर्दयी थे। २३ आंग्ल राजाओं में ८ व्यभिचारी, ४ सन्दिग्ध और ११ सदाचारी थे। उनमें ६ निर्दयी थे।

इंगलैण्ड के अन्य शासकों तथा दूसरे देशों के सम्बन्ध में कही जा सकती है, जहाँ विशुद्ध ढग का उत्तरदायी परिषद्-शासन प्रतिष्ठित है। पूर्व समय में जनता में रहस्यमय तथा अर्द्ध-दैवी राजा के प्रति श्रद्धा और सम्मान की भावना राज्य-भक्ति का एक सुदृढ़ बन्धन थी। बेजहॉट ने सन् १८७२ में प्रकाशित 'आंग्ल विधान' (English Constitution) नामक पुस्तक में आंग्ल राजाओं का मूल्यांकन करते समय इसे एक महत्वपूर्ण तत्व माना है। प्राचीन रूस में भी जार के प्रति जनता में जो अपार अन्ध-श्रद्धा थी, उससे भी यही परिणाम निकला। परन्तु ग्रेट ब्रिटेन तथा अन्य एकतन्त्रीय देशों में जनता में राजनीतिक विवेक के अधिक विकसित हो जाने के फलस्वरूप जनता में राजा के प्रति अब वैसी श्रद्धा नहीं रही और इस प्रकार राजभक्ति प्रेरक-शक्ति के रूप में एकतन्त्र का मूल्य अधिकांश में नष्ट हो चुका है। परन्तु इस पर भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि दूसरी दृष्टियों से इससे लाभ है। लॉवैल ने बताया है कि इंगलैण्ड में बिना नाममात्र के प्रभु के, जो दलबन्दी से ऊपर है, मन्त्रिमंडल-प्रणाली की कल्पना ही नहीं हो सकती। उसने लिखा है कि यदि इंगलैण्ड का राजा राज्य-पोत की मूल प्रेरक-शक्ति नहीं है तो वह एक मस्तूल है जिस पर पाल लगा हुआ है। इस प्रकार वह उपयोगी ही नहीं, वरन् राज्य-पोत का एक आवश्यक अंग भी है। यह सर्वथा सत्य है कि निर्वाचित राज्य-प्रमुख, जैसा फ्रान्स में है, इस उद्देश्य की पूर्ति कर सकता है। इंगलैण्ड में, जहाँ एकतन्त्र अधिक लोकप्रिय है, वहाँ ऐसा विश्वास किया जाता है कि सुव्यवस्थित उत्तराधिकार के नियम के अनुसार नियुक्त प्रमुख के होने में जनता द्वारा निर्वाचित प्रमुख के होने की अपेक्षा अधिक लाभ है। इसके अतिरिक्त जनता को वंशानुगत प्रमुख में उस प्रमुख की अपेक्षा अधिक श्रद्धा होगी जो दल-संघर्ष के फल-स्वरूप जनता द्वारा चुना जायगा। ग्रेट ब्रिटेन तथा ब्रिटिश उपनिवेशों में यह बात सर्वमान्य है कि एकतन्त्रीय शासन-प्रणाली से एक लाभ यह है कि उसके कारण साम्राज्य के सुदूर स्थित उपनिवेश तथा अन्य प्रदेश आपस में मिले हुए हैं। इस बात को मजदूर-दल ने भी स्वीकार किया है।[1]

(२) कुलीनतन्त्रीय शासन

कुलीनतन्त्रीय शासन के भेद

कुलीनतन्त्रीय शासन (Aristocratic Government) के गुण-दोषों का विवेचन करने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि पहले उसके विविध रूपों पर विचार कर लिया जाय। जैसा पूर्व अध्याय में उल्लेख किया जा चुका है। कुलीनतन्त्र के अनेक रूप हैं—जन्म-परक या पारिवारिक कुलीनतन्त्र, धनिकों का कुलीनतन्त्र, शिक्षितों एवं सुसंस्कृत पुरुषों का कुलीनतन्त्र, सैनिकों तथा पुजारियों का कुलीनतन्त्र, प्राकृतिक

---

१. जे० एच० टॉमस ने अपनी पुस्तक, "When Labour Rules" (1920) में पृष्ठ ४५-४७ पर लिखा है—

"विचारशील लोगों में इस विषय में कोई सन्देह नहीं हो सकता कि एक-तन्त्र ने ब्रिटिश साम्राज्य को बनाये रखने में अधिक कार्य किया है। मजदूर-दल एक वंशानुगत राजा के अस्तित्व की बुद्धिमत्ता को मानता है।"

सिजविक ने अपनी 'Elements of Politics' में, डॉ० पेली ने अपनी "Political and Moral Philosophy" में और जर्मन लेखक ट्रीट्स्के ने "Politics" में वंशानुगत एकतन्त्र का बड़ी प्रबलता से समर्थन किया है।

तथा कृत्रिम कुलीनतन्त्र आदि। प्रत्यक्षतः प्रत्येक रूप में गुण-दोष समान नहीं है। कुलीनतन्त्र के वर्गीकरण की रीतियाँ एवं आधार चाहे जो हों किन्तु सामान्य सिद्धान्त यह है कि कुलीनतन्त्र जनता के अल्प भाग का शासन होता है। यदि इस शब्द का व्युत्पत्ति के अनुसार जो अर्थ है, वही वास्तव में इसका अर्थ हो तो यह निश्चित रूप से संसार में सर्वश्रेष्ठ शासन-प्रणाली होती। यदि कुलीनतन्त्र की व्याख्या सर्वश्रेष्ठों द्वारा शासन मान लिया जाय तो यह एकमात्र सर्वोत्तम प्रणाली होगी जिसका बौद्धिक एवं स्वस्थ सिद्धान्तों द्वारा समर्थन किया जा सकता है। सर जेम्स स्टीफन ने कहा है कि बुद्धिमान और श्रेष्ठ व्यक्तियों को ही सब देशों में शासन करना चाहिए। परन्तु सीले का कथन है कि यदि 'श्रेष्ठ' (good) केवल एक अच्छा मालूम होने वाला शब्द है, जिसका अर्थ है—वह गुण जो सम्पत्तिशाली या कुलीन जनों में ही मिलता है तो कुलीनतन्त्र धनिकतन्त्र का ही, जो कुलीनतन्त्र का ही भ्रष्ट रूप है, एक दूसरा प्रिय नाम ही है। किसी समय कुलीनतन्त्र अत्यन्त आदरणीय शासन था और संसार भर में व्यापक था, परन्तु आधुनिक समय में इस शब्द की लक्षणा अपकीर्तिकर नहीं तो नीरस अवश्य हो गयी है। अरस्तू जैसे प्राचीन लेखकों ने कुलीनतन्त्र और धनिकतन्त्र में स्पष्ट भेद माना था। पहला शासन सर्वश्रेष्ठों का शासन और दूसरा, धनिकों द्वारा अपने स्वार्थ-साधन के लिए शासन था। परन्तु आज यह भेद नहीं रहा और लोग कुलीनतन्त्र को धनिकतन्त्र ही समझते हैं।

कुलीनतन्त्र के गुण

कुलीनतन्त्र की विशिष्टताओं में से एक मुख्य विशेषता यह है कि वह परिमाण की अपेक्षा गुण, संख्या की अपेक्षा चरित्र पर अधिक जोर देता है। उसकी एक मान्यता यह है कि कुछ व्यक्ति अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा राजकाज के लिए अधिक योग्य होते हैं; वह अनुभव एवं शिक्षण को विशेष राजनीतिक सद्गुण मानता है और विशिष्ट प्रतिभाशाली पुरुषों को विशेष रूप से सम्मानित करता है और उन्हें लोक-सेवा का मार्ग ग्रहण करने के लिए प्रोत्साहन भी देता है। यह प्रधानतः स्थितिपालक शासन ही होता है। इसमें अधिकार के लिए आदर होता है, विशेषकर यदि वह दीर्घ काल से प्रतिष्ठित हो और इसमें प्राचीन प्रथाओं एवं परम्पराओं के लिए विशेष मान होता है। उसका मूल अतीत में होता है और उसका सुधार में विश्वास नहीं होता, विशेषकर उस दशा में जबकि उसके द्वारा सुप्रतिष्ठित संस्थाओं का विनाश होता है। जहाँ उसका एकतन्त्र और प्रजातन्त्र से सम्बन्ध होता है, वहाँ वह संयम एवं नियन्त्रण स्थापित करने वाले तत्व की भाँति काम करता है। वह प्रजातन्त्र के उत्तेजित भावों एवं विकारों का नियन्त्रण करता है और एकतन्त्र की स्वेच्छाचारी प्रवृत्तियों पर प्रतिबन्ध लगाता है। इस अर्थ में, जैसा लॉर्ड ब्राउघम ने कहा है, यह शासन-प्रणाली का आवश्यक तत्व है क्योंकि स्वेच्छाचारी शासक से और अनुत्तरदायी समूह के असमर्थनीय अत्याचार से नागरिक स्वतन्त्रता की रक्षा पाने का इसके अतिरिक्त कोई उपाय नहीं है।[1] मौंतेस्क्यू ने कहा है कि सदाचार पर आधारित संयम ही कुलीनतन्त्र

१. Lord Brougham, Works, Vol. XI, p. 20. कुलीनतन्त्र नागरिक स्वतन्त्रता का विरोधी नहीं है। महाकवि मिल्टन ने लिखा है—

"If not equal all, yet free
Equally free; for orders and degrees
Jar not with liberty, but well consist."

—Paradise Lost, Bk. V, 791-793,

की आत्मा है। इसमें एक ऐसी अन्तर्जात शक्ति है जो प्रजातन्त्र में नहीं होती। नेपोलियन ने कहा था कि कुलीनतन्त्र एकतन्त्र का एकमात्र आधारस्तम्भ है; वह उसका उत्तोलक दण्ड है, उसके बिना राज्य आकाश में गुब्बारे अथवा पतवार के बिना नाव जैसा है। कुलीनतन्त्र अपने विशेषाधिकारों के प्रति सदा सतर्क और अपनी सुरक्षा के लिए सदैव भयभीत रहता है, अतः वह अपनी सत्ता का असीमित अथवा विवेकशून्य प्रयोग नहीं कर सकता। अतः वह अदूरदर्शी राजनीतिक परीक्षण करना नहीं चाहता। वह बड़ी सतर्कता के साथ अपना पग उठाता है। यदि शासन में वरण का सिद्धान्त योग्यता ही हो तो कुलीनतन्त्रीय शासन के विरुद्ध कुछ भी नहीं कहा जा सकता। यदि शासन के गुण की दृष्टि से देखा जाय और जो लोग उसमें भाग लेने से वंचित हैं, उन पर होने वाले प्रभाव का विचार न किया जाय तो कुछ योग्य व्यक्तियों द्वारा शासन में वह कुशलता और शक्ति होती है जो अशिक्षित और अदीक्षित जनता द्वारा शासन में नहीं होती। जॉन स्टुअर्ट मिल ने लिखा है कि 'इतिहास में जो शासन योग्यता एवं शक्ति के लिए प्रसिद्ध रहे हैं, वे सामान्यतया कुलीनतन्त्र ही हैं।' परन्तु वे बिना किसी अपवाद के सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओं के कुलीनतन्त्र हो थे; वे ऐसे व्यक्तियों द्वारा संचालित थे जिन्होंने सार्वजनिक कार्यों को ही अपना मुख्य व्यवसाय और अपने जीवन का प्रमुख कार्य बना लिया था।'

कुलीनतन्त्र के दोष

व्यावहारिक क्षेत्र में कुलीनतन्त्र-शासन की कमजोरी यह है कि चुनाव में योग्य पुरुष [illegible] उपयुक्त सिद्धान्त ढूँढ़ निकालना कठिन है जिससे राजनीतिक दृष्टि से [illegible] है जिससे वे लोग [illegible]योग्य पुरुषों से अलग किये जा सकें और ऐसी व्यवस्था करना भी कठिन [illegible] बात में सभी सहमत हों [illegible] अपनी शक्तियों का उपयोग अपने ही हितों में न कर सकें। [illegible] सकता, क्योंकि राजनीतिज्ञ [illegible] कि कुछ परिवारों में से ही व्यक्तियों का चुनाव नहीं किया [illegible] विरासत में नहीं मिलते। [illegible]क योग्यता और सच्चाई ऐसे गुण हैं जो व्यक्तियों को [illegible]

कुलीनतन्त्र के आधुनिक समर्थक

पूर्व काल में ऐसे अ[illegible] Aristo[illegible] नेक सम्माननीय विद्वान लेखक हुए हैं, जिन्होंने [illegible] सिद्धान्त के आधार पर सम[illegible] न आवश्यक कुलीनतन्त्रों का समर्थन किया है। उदाहरणार्थ, सर हेनरी मेन ने यह मत प्रकट [illegible] अध्याय में किया था कि राज्य की सेवा के लिए सुयोग्य व्यक्तियों को प्राप्त करने के अवसर हमें [illegible] परिवारिकशानुगत उत्तराधिकार के सिद्धान्त के अन्तर्गत उतने ही मिलते हैं जितने जनता द्वारा [illegible]न्त्र, संगि निर्वाचित प्रणाली के अन्तर्गत।

प्रोफेसर सीले ने क[illegible]हा है कि 'जो पुरुष एक राजनीतिज्ञ का पुत्र है जिसका राजनीतिज्ञ के गृह में पालन-पोषण हुआ है, उसके सम्बन्ध में यह अनुमान किया जा सकता है कि उसने कुछ तो [illegible] पुस्तक[illegible] [illegible]सा होगा, सार्वजनिक समस्याओं के सम्बन्ध में कुछ तो जानकारी प्राप्त की होगी ज[illegible] दूसरों को प्राप्त नहीं हो सकती। इसकी भी पर्याप्त सम्भावना है कि उसने [illegible] राज्य का बहुमूल्य ज्ञान अर्जित किया होगा और इसकी पूर्ण सम्भावना है कि उसने छोटे पिट की [illegible] में इस वि[illegible] [illegible], बहुत कुछ अर्जित किया हो तथा बहुत कुछ विरासत में पाया हो।'

लेकी ने आयरलैण्ड राजा के [illegible]भाँति, बहुत कुछ अर्जित किया हो तथा बहुत कुछ विरासत में आलोचना करते हुए अपनी 'D[illegible] Moral' [illegible] कुलीनतन्त्र के समर्थन में बेंजामिन फ्रेंकलिन की इस उक्ति की इसी प्रकार के राजनी[illegible] एक परिवार का सद[illegible]शानुगत एकाक 'जब वंशपरम्परागत गणित-अध्यापक नहीं होते, तब [illegible]ज्ञ कैसे हो सकते हैं; यह आशा करना मूर्खता होगी कि [illegible] के ज्येष्ठ पुत्र सदा ही अत्यन्त प्रभावशाली या प्रतिभासम्पन्न

होगा'। यह भी कहा है कि 'यह आशा करना मूर्खता नहीं है कि पाँच सौ से अधिक परिवार जो अधिक काल से सार्वजनिक क्षेत्र में कार्य कर रहे हैं, जो परम्परा और महत्वाकांक्षाओं से स्फूर्ति प्राप्त कर रहे हैं और जो ऐसी परिस्थितियों में रहते हैं जो राजनीतिक प्रतिभा के विकास के लिए सर्वथा अनुकूल है, अधिक संख्या में शासन करने की योग्यता वाले व्यक्तियों को जन्म दें। सफल राजनीतिक जीवन के लिए जो गुण अपेक्षित है, वे कविता या दर्शनशास्त्र के अध्ययन के लिए अपेक्षित असाधारण कोटि के गुणों की भाँति नहीं हैं। वे अधिकांश में निर्णय, उद्योग, चातुर्य, मानव तथा सार्वजनिक समस्याओं की जानकारी आदि गुण हैं, जो ऐसे पुरुषों द्वारा उच्च मात्रा में अर्जित किये जा सकते हैं, जो असाधारण रूप से प्रतिभासम्पन्न नहीं हैं। मेरे विचार से बहुत कम व्यक्ति इस बात से असहमत होंगे कि 'आंग्ल कुलीनतन्त्रीय जीवन शासन के लिए अत्यन्त उच्च कोटि की योग्यता को जन्म देता है।' ऐसे कुलीनतन्त्र के मूल्य के सम्बन्ध में लेकी का मत है कि 'यह कम महत्व की बात नहीं है कि राष्ट्र में एक ऐसा वर्ग है, जिसका देश की समृद्धि में बड़ा हित है, जिसका राजनीति से अलग एक बड़ा स्थान है और जो राजनीतिक जीवन की परम्परा और उसके सातत्य का प्रतिनिधित्व करता है और जिससे ऐसी आशा की जा सकती है कि उसमें चाहे कोई भी अवगुण हों, परन्तु वह सच्चाई और सम्मान के साथ शासन-कार्य कर सकता है। कूटनीतिक क्षेत्र में तथा उन महान् प्रशासन-सम्बन्धी पदों पर, जो एक विस्तृत साम्राज्य में इतने अधिक हैं, उच्च श्रेणी और उससे सम्बद्ध शिष्टाचार अत्यन्त मूल्यवान है और प्रजातन्त्र के साथ व्यवहार करने में भी उनका वजन कम नहीं मालूम होता।'[1]

चुनाव के सिद्धान्त

चुनाव के सिद्धान्त के रूप में जन्म के पक्ष में सब कुछ कहने के उपरान्त यह तथ्य आज भी सत्य है, जैसा प्रो० सीले ने स्वीकार किया है कि 'इससे सच्चे तथा मिथ्या दोनों प्रकार के कुलीनतन्त्रों का जन्म होता है और जन्म द्वारा जहाँ श्रेष्ठ संस्कार प्राप्त होते हैं, वहाँ दूषित संस्कार भी प्राप्त होते हैं।

सम्पत्ति भी, विशेषकर जबकि वह उत्तराधिकार में मिली हो, राजनीतिक योग्यता की समान रूप से असन्तोषप्रद कसौटी है और यही बात अन्य कसौटियों के सम्बन्ध में भी सत्य है जिनका आधार स्वाभाविक योग्यता एवं गुण नहीं है। यदि कोई पर्याप्त एवं सच्ची कसौटी नहीं मिलती तो इससे कुलीनतन्त्र के विरुद्ध कोई बात सिद्ध नहीं होती। इस प्रश्न का कि ऐसी कोई कसौटी है जिससे शासन-कार्य में मनुष्य की योग्यता की परीक्षा हो सके, यह कहने से उत्तर पूरा नहीं होगा कि सम्पत्ति या जन्म इसकी कसौटी नहीं हैं। कुलीनतन्त्र का इसमें कोई दोष नहीं। हमारे सामने बाधा तो यही है कि चुनाव की हमारे पास कोई सन्तोषप्रद कसौटी नहीं है।

रूसो और जेफरसन ने, जो दोनों ही अपने-अपने देशों में प्रजातन्त्र के समर्थक हुए हैं, स्वाभाविक कुलीनतन्त्र और कृत्रिम कुलीनतन्त्र के भेद माने हैं। रूसो ने निर्वाचित कुलीनतन्त्र को सबसे श्रेष्ठ माना है क्योंकि इसमें सत्यता, ज्ञान, अनुभव और सुशासन की अन्य सभी प्रत्याभूतियाँ (गारण्टियाँ) विद्यमान हैं। उसने कहा कि यदि इसकी कोई प्रत्याभूति है कि शासन प्रजा के हित में किया जायगा, अपने स्वार्थ के लिए नहीं, तो सर्वश्रेष्ठ और सर्वाधिक स्वाभाविक व्यवस्था वह है जिसमें सबसे बुद्धिमान् व्यक्ति शासन करते हैं। जेफरसन भी रूसो से इस बात में सहमत था कि

---

1. Lecky : Democracy and Liberty, Vol. I, p. 321.

सम्पत्ति और जन्म पर आधारित कुलीनतन्त्र "अनुपयोगी ही नहीं, वरन् कुटिल और मकटपूर्ण है।" परन्तु वह उन कुलीनतन्त्रों का समर्थन करता था जो 'गुण और प्रतिभा' पर आधारित थे। लोक-प्रचलित विश्वास के विपरीत जेफरसन का कुलीनतन्त्रीय शासन में विश्वास था, परन्तु उस दशा में जबकि वह गुण तथा प्रतिभा के आधार पर स्थिर हो। उसने कहा कि गुण एवं प्रतिभा पर आधारित एक कुलीनतन्त्र होता है जिसका समस्त समाजों और समस्त राजनीतिक संस्थाओं पर शासन अनिवार्य है *और सर्वोत्तम शासन वह है जिसमें इस प्रकार के योग्य व्यक्तियों का चुनाव हो सके* और वे शासन-कार्य में भाग ले सकें। कृत्रिम कुलीनतन्त्रों में जनता सदा घृणा करती रही है क्योंकि वे इस सिद्धान्त पर स्थिर हैं कि कुछ व्यक्ति शासन करने के लिए उत्पन्न हुए हैं और कुछ शासित होने के लिए अथवा धनी निर्धनों से अधिक योग्य हैं, केवल इसलिए कि उनके पास धन है। सभी कुलीनतन्त्र, चाहे वे स्वाभाविक हों या कृत्रिम, संकीर्ण एवं वर्जनशील बन जाते हैं, वे अहंकारी तथा अत्यन्त दकियानूसी बन जाते हैं और कभी-कभी स्वस्थ प्रगति के मार्ग में बाधक सिद्ध होते हैं।

इतिहास में हम यह निष्कर्ष निकालते हैं, जैसा बुल्जे ने कहा है कि "यदि *कुलीनों के हाथ में ही सारी शासन-सत्ता हो या वे राज्य में सर्वाधिक शक्तिशाली हों* तो कुलीनतन्त्र अधिक काल तक जीवित नहीं रह सकता।"

सभी शासन आंशिक रूप में कुलीनतन्त्रीय हैं

जन्म तथा सम्पत्ति के भेदों पर प्रतिष्ठित एक अल्प वर्ग के शासन के रूप में कुलीनतन्त्र सभ्य संसार से विलीन हो चुका है, यद्यपि उसके कुछ अवशेष उन राज्यों में आज भी विद्यमान हैं, जिनमें वंशानुगत शासक हैं, जिनकी धारासभाओं के एक सदन में वंशानुगत अथवा मनोनीत सदस्य होते हैं अथवा जहाँ मताधिकार शिक्षा, सम्पत्ति आदि के आधार पर मर्यादित है।

फिर भी कुलीनतन्त्र किसी न किसी रूप में एक ऐसा सिद्धान्त है जिसे समस्त राज्यों ने स्वीकार किया है और जिसे एक सीमा तक कार्यान्वित किया है। प्राचीन राज्यों में, प्रजातन्त्र तथा कुलीनतन्त्रों, दोनों में जनता के बड़े वर्ग शासन कार्यों *में भाग लेने से वंचित थे। मजदूर वर्ग को तो सर्वत्र हाल ही में मताधिकार* मिला है। इंगलैण्ड में अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ में निम्नतम वर्ग तथा मध्यम वर्ग की एक बड़ी संख्या देश में शासन-कार्य में भाग लेने से वंचित थी। अमेरिका में भी स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद भी बहुत दिनों तक बहुत कुछ यही दशा थी। आधुनिक प्रजातन्त्र मजदूर वर्गों को शासन में भाग लेने से वंचित नहीं रखते, परन्तु सभी प्रजातन्त्र योग्यता के मानदण्ड लागू करते हैं, चाहे वे उनका प्रयोग अप्रत्यक्ष रूप से या बिना जाने ही करें। लॉर्ड ब्राइस ने कहा है कि सब सरकारें एक अर्थ में कुलीनतन्त्र ही हैं। उन्होंने बतलाया है कि कोई भी पर्यवेक्षक इस तथ्य से प्रभावित हुए *बिना नहीं रह सकता कि संसार का शासन अत्यन्त अल्प व्यक्तियों द्वारा होता है।* उसने कहा कि 'समस्त परिषदों और समुदायों में तथा मनुष्यों को संगठित संस्थाओं में, एक आमोदगृह से लेकर एक राष्ट्र तक, आदेश देने तथा निर्णय करने के अधिकार थोड़े से व्यक्तियों के हाथ में होते हैं और संख्या जितनी बड़ी होती है, उसमें ऐसे व्यक्ति आनुपातिक दृष्टि से उतने ही थोड़े होते हैं और जहाँ जनसंख्या बहुत ही विशाल है, जैसे राज्य में, वहाँ तो ऐसे व्यक्तियों की संख्या नगण्य सी होती है। *यह बात शासन के समस्त* रूपों के सम्बन्ध में सत्य है यद्यपि उनमें मात्रा का भेद अवश्य रहता है।' उसने इस कथन की पुष्टि में भारत-सरकार का उदाहरण दिया है, जहाँ शासन एक ज्ञान-गरिमा-

युक्त, निष्पक्ष एवं उद्योगशील परन्तु अत्यन्त छोटे राजकीय वर्ग द्वारा होता है। ब्रिटेन तथा फ्रान्स और विशेषकर अमेरिका के संयुक्त राज्य जैसे महान् प्रजातन्त्रात्मक राज्यों में भी वह लोकमत, जो राजनीति पर प्रभाव डालता है, जनता के एक अत्यन्त अल्प भाग द्वारा ही निर्मित होता है।

(३) प्रजातन्त्रात्मक अथवा लोकप्रिय शासन

प्रजातन्त्रात्मक शासन की परिभाषा

प्रजातन्त्रात्मक शासन की, जैसा गत अध्याय मे लिखा जा चुका है, विविध प्रकार से व्याख्या या परिभाषा की गयी है—वह ऐसा शासन है जिसमे प्रत्येक का हिस्सा होता है, जिसमे बहुमत का शासन होता है, जिसमे प्रौढ (पुरुष) जनता को आवाज प्रभावकारी होती है और वह जिसमे लोकमत का नियन्त्रण होता है आदि। अब्राहम लिंकन ने प्रजातन्त्र को जनता के लिए, जनता द्वारा, जनता का शासन कहा है। प्रजातन्त्र के गुण-दोषों का विवेचन करने मे हम उसके विविध रूपो एवं भेदो पर ध्यान न देते हुए इस सामान्य मान्यता को आधार मान कर चलेंगे कि प्रजातन्त्रात्मक शासन वह है जिसमे प्रत्येक प्रौढ व्यक्ति (आधुनिक कल्पना मे स्त्री-पुरुष दोनो) को जो किसी अपराध के कारण अथवा कहीं-कहीं निरक्षरता के कारण अयोग्य न ठहरा दिया गया हो, अपने कानून-निर्माता प्रतिनिधियो को चुनने का समान अधिकार है और जिनमें प्रत्येक निर्वाचक की आवाज का उतना ही महत्व है जितना किसी दूसरे की आवाज का।

कुछ राज्यो की सरकारें, जो प्रजातान्त्रिक मानी जाती हैं, पूर्णत: इस स्तर तक नहीं पहुँचती। कुछ सरकारें इससे भी आगे बढ गयी हैं और इस सिद्धान्त पर संगठित हैं कि साक्षर नागरिक की भाँति ही निरक्षर नागरिक को भी शासन-कार्य में भाग लेने का अधिकार है और उसका कार्य धारासभा के सदस्यों के निर्वाचन तक ही परिमित नहीं है। अमेरिकन संयोग के राज्यों में मतदाताओं को अनेक शासनाधिकारियों तथा उसके कुछ राज्यों में न्यायाधीशों को भी चुनने का अधिकार है। इसमें तथा और दूसरे राज्यों में, जहाँ जनता को राजनीतिक प्रश्नों पर मत देने (Referendum) का अधिकार है, मतदाताओं को सीधे कानून बनाने तथा नीति-निर्धारण करने का विस्तृत अधिकार प्राप्त है। किन्तु व्यवहार में चाहे जितने भी भेद हो, वे सब मात्रा के ही भेद हैं। सामान्यतया आज के प्रजातन्त्र, इस सिद्धान्त पर आधारित हैं कि प्रत्येक स्वाश्रयी एवं सच्चा प्रौढ नागरिक शासन-प्रबन्ध के कार्यों में हिस्सा लेने के योग्य है और वह अपने दूसरे नागरिक बन्धुओं के समान ही योग्य है। जेफरसन ने कहा है कि प्रजातन्त्र जनसाधारण की स्वशासन की योग्यता के विश्वास पर और औसत मनुष्य अथवा औसत मनुष्यों की समाज के हित में शासन करने वाले शासकों को चुनने की योग्यता पर निर्भर है। परन्तु ऐसे भी विद्वान् सदा हुए हैं और हैं जो इस कथन की सत्यता को स्वीकार नहीं करते।

प्रजातन्त्रात्मक शासन के गुण

शासन के रूप में प्रजातन्त्र के गुणों का विवेचन करते समय हमें उन लोगो के अविचारपूर्ण मतो पर ध्यान नहीं देना चाहिए जिनका प्रजातन्त्र को पूर्णता में विश्वास एक प्रकार का पथ है, जो अन्ध-भक्ति के वशीभूत होकर उसकी पूजा करते हैं और जानबूझ कर उसके अनुभव द्वारा प्रमाणित दोषों को और नहीं निहारते। दूसरी ओर, हमें तेलीरां जैसे विद्वानों द्वारा की हुई प्रजातन्त्र की अविचारपूर्ण निन्दा पर भी

म्भीरता से विचार करने की आवश्यकता नहीं है जिसने प्रजातन्त्र को 'नीचों का कुलीनतन्त्र' (Aristocracy of Black guards) कहा है। इसी प्रकार कविवर कार्लाइल ने बड़े घृणोत्पादक शब्दों में जनता को 'अधिकांश में मूर्ख' कहा था। आधुनिक विद्वानों में एच० जी० वेल्स ने भी कहा है कि आधुनिक राज्यों में निर्वाचित प्रजातन्त्रात्मक शासन के पक्ष में कोई ऐसी बात नहीं है जिसका पाँच मिनट में खण्डन न किया जा सके।' लुडोविसी ने कहा है कि 'प्रजातन्त्र मृत्युरूप है और कुलीनतन्त्र जीवन।' ऐसे मतों पर हमें विचार करने की आवश्यकता नहीं है। हम अपना निर्णय विद्वानों द्वारा की हुई प्रजातन्त्रात्मक शासन की परीक्षा के परिणामों की समीक्षा के आधार पर, अनुभव और इतिहास के आलोक में देंगे।

शासन की किसी प्रणाली अथवा रूप की शक्ति अथवा दुर्बलता की कसौटी उसकी कार्यक्षमता है, अर्थात् वह किस सीमा तक शासन के प्राथमिक उद्देश्य को, जिसके लिए उसकी स्थापना की गयी है, सिद्ध करता है। दूसरे, उसकी कार्यक्षमता इससे भी जानी जा सकती है कि वह राज्य के नागरिकों एवं प्रजा पर अपनी शैक्षणिक, सामाजिक तथा नागरिक नीतियों द्वारा कैसा प्रभाव उत्पन्न करता है। शासन की स्थापना जिस ध्येय से की जाती है, उस ध्येय की पूर्ति के साधन की दृष्टि से और ध्येय की पूर्ति के लिए किए जाने वाले कार्यों के जनता की सामान्य इच्छा के अनुकूल होने की दृष्टि से प्रजातन्त्र ही अन्य शासन-प्रणालियों से श्रेष्ठतम है। वास्तव में प्रजातन्त्रात्मक प्रणाली ही एक ऐसी शासन-पद्धति है जिसमें वे लोग, जो शासन-प्रबन्ध करते हैं, शासितों के नियन्त्रण में रखे जा सकते हैं और उन्हीं के प्रति उत्तरदायी बनाये जा सकते है। सिद्धान्त यह है कि जो व्यक्ति शासन प्रबन्ध का संचालन करते हैं, वे स्वतन्त्ररूप से नागरिकों द्वारा साधारणतया अल्प समय के लिए निर्वाचित होने और जिस ढंग से वे अपना कार्य सम्पादन करते हैं, उसके लिए अपने निर्वाचकों के प्रति उत्तरदायी होने के कारण सर्वाधिक रूप से प्रतिनिधि, कार्यक्षम और जनता के विश्वासपात्र होंगे। परन्तु एकतन्त्र अथवा कुलीनतन्त्र में जो व्यक्ति शासन करते हैं, वे विभिन्न विचारों से नियुक्त किये जा सकते हैं। संक्षेप में, यह दावा किया जाता है कि कार्यक्षमता लोक-निर्वाचन, लोक-नियन्त्रण एवं लोक-उत्तरदायित्व के द्वारा किसी दूसरी प्रणाली की अपेक्षा प्रजातन्त्र में अधिक मात्रा में सुनिश्चित हो सकती है।

जान स्टुअर्ट मिल ने प्रजातन्त्र के गुण बताते हुए कहा है कि 'प्रजातन्त्र-प्रणाली में समस्त जनता अथवा उसका एक विशाल भाग समय-समय पर स्वयं निर्वाचित प्रतिनिधि द्वारा शासन करता है।' उसने लिखा है कि 'यह सिद्ध करने में कोई कठिनाई नहीं है कि आदर्श की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ सरकार वह है जिसमें अन्ततोगत्वा सर्वोच्च नियन्त्रण-शक्ति समाज में निहित होती है, जिसमें प्रभुत्व के प्रयोग में प्रत्येक नागरिक केवल भाग ही नहीं लेता, परन्तु समय-समय पर वह कुछ सार्वजनिक स्थानीय या सामान्य कार्यों के सम्पादन द्वारा वास्तविक शासन में भाग लेने के लिए आमन्त्रित भी किया जाता है।' जो शासन सामाजिक राज्य की आवश्यकताओं की पूर्णरूपेण पूर्ति कर सकता है, वह ऐसा ही शासन हो सकता है जिसमें समस्त प्रजा भाग ले। यह भाग समस्त जनता की प्रगति के अनुकूल होना चाहिए और अन्त में समस्त लोगों को राज्य की सर्वोच्च सत्ता में भाग लेने की सुविधा होनी चाहिए। जहाँ तक समाज के कल्याण का प्रश्न है, लोक-शासन की श्रेष्ठता दो सिद्धान्तों पर स्थिर है—प्रथम, व्यक्ति के हितों एवं अधिकारों का संरक्षण उसी समय सम्भव है, जब वह स्वयं उनके लिए खड़ा हो सके; द्वितीय, लोक-कल्याण एवं सार्वजनिक समृद्धि की

मात्रा उसी परिमाण में अधिक होती है और वह उसी अनुपात में अधिक व्यापक होती है जिसमें उसकी अभिवृद्धि में व्यक्तिगत शक्तियाँ योग देती हैं।

परन्तु प्रजातन्त्र का सबसे महान् गौरव उसके भक्तों की दृष्टि में उसके शासन-रूप की सहज श्रेष्ठता के कारण उतना नहीं है, जितना उसके उस प्रभाव के कारण है जो जनसाधारण को ऊपर उठाने एवं बढ़ाने, जनसाधारण की शक्तियों का विकास करने, जनता में सार्वजनिक प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन देने और शासन प्रबंध में उन्हें भाग लेने का सुयोग देकर उनकी देश-भक्ति को सुदृढ़ बनाने में उसका पड़ता है। लावेले (Laveleye) ने कहा है कि 'यदि देश के शासन में कोई व्यक्ति भाग लेने से वंचित है तो वह राजनीतिक अर्थ में स्वतन्त्र नहीं कहा जा सकता और यदि उस पर ऐसे व्यक्ति शासन करते हैं जिनके चुनने में उसका कोई हाथ नहीं होता तो वह नागरिक नहीं, प्रजा है।' लॉर्ड ब्राइस ने कहा है कि राजनीतिक मताधिकार के कारण व्यक्ति का मनुष्यत्व गौरवान्वित होता है और उसमें कर्तव्य-भावना के आरोप द्वारा और भी उच्चता आ जाती है। इसी प्रकार मिल ने भी यह उचित ही कहा है कि यदि किसी व्यक्ति को शासन में मत देने का अधिकार न हो और न उसकी कोई आशा हो हो तो वह या तो असन्तुष्ट रहेगा अथवा समाज के सामान्य मामलों के प्रति उदासीन होगा। जिस शासन में जनसाधारण का कोई भाग नहीं होता, उसके लिए उनमें बलिदान या त्याग करने की तत्परता नहीं होती। प्रजातन्त्र देश-प्रेम को जाग्रत करता है क्योंकि नागरिक यह अनुभव करते हैं कि शासन के निर्माता वे स्वयं हैं और मजिस्ट्रेट उनके स्वामी नहीं, सेवक हैं। लावेले के शब्दों में फ्रान्स की जनता अपने देश को क्रान्ति के बाद तक प्रेम नहीं करने लगी थी। क्रान्ति के बाद जबसे लोगों को राज-काज में भाग लेने का सुयोग मिला तबसे वे अपने देश की पूजा करने लगे। लोक-शासन, शासितों की अनुमति और समानता के सिद्धान्त पर आधारित होने के कारण, उन देशों की अपेक्षा उपद्रवों से अधिक मुक्त रहते हैं, जिनमें जनता को शासन में भाग लेने का कोई अधिकार नहीं होता। डॉ० टॉकविल का मत है कि प्रायः उन समस्त क्रान्तियों का, जिन्होंने विश्व के रूप में परिवर्तन किया है, उद्देश्य असमानता का नाश ही रहा है।

इसी लेखक ने अमेरिका के प्रजातन्त्र के अध्ययन में अमेरिकन जनता की सार्वजनिक कार्यों में रुचि, राजनीतिक मामलों में उनके ज्ञान एवं बुद्धिमत्ता की तथा उनकी स्वाभाविक देश-भक्ति की चर्चा की है। उनने बतलाया है कि प्रजातन्त्र का एक सबसे बड़ा लाभ तो यह है कि वह नागरिकता के लिए एक प्रकार की शिक्षणशाला है। इसी प्रकार मिल ने जनता की राजनीतिक बुद्धि तथा चरित्र को ऊँचा बनाने में प्रजातन्त्र के प्रभाव पर जोर दिया है। उसने लिखा है कि 'किसी भी शासन में यदि कोई महत्वपूर्ण गुण हो सकता है तो वह जनता में बुद्धि एवं सद्गुणों की अभिवृद्धि करना है और किसी शासन-प्रणाली के गुणों पर विचार करते समय सबसे प्रथम ध्यान इस बात पर देना चाहिए कि वह कहाँ तक नागरिकों में बौद्धिक एवं नैतिक गुणों का पोषण करती है।' जो शासन इस कार्य को सर्वश्रेष्ठ ढंग से करे, उसकी दूसरी बातों में भी सर्वश्रेष्ठ होने की सम्भावना है। प्रजातन्त्रात्मक शासन ही अन्य शासनों की अपेक्षा ऐसे गुणों का आविर्भाव करता है।

प्रजातन्त्र के दोष

प्रजातन्त्रात्मक शासन-प्रणाली के आलोचक सदा ही रहे हैं और आज भी, जबकि प्रजातन्त्र-प्रणाली संसार भर में व्यापक है, आलोचकों की कमी नहीं है।

प्राचीन तथा मध्य काल में प्रजातन्त्र से अनुत्तरदायी समूह द्वारा शासन का भाव ग्रहण किया जाता था। अरस्तू ने इसे वैधानिक शासन का विकृत रूप माना था। जर्मन विद्वान् ट्रीट्स्के ने अपनी एक रचना में ऑग्जबर्ग में स्थित रेथॉस (Rathaus) के तीन आलंकारिक चित्रों का वर्णन किया है। उनमें से एक चित्र कुलीनतन्त्र का है जो एक गम्भीर सीनेट के रूप में चित्रित किया गया है। दूसरे चित्र में एकतन्त्र को एक ऊँघते हुए अत्याचारी शासक के रूप में दिखाया गया है जो अपने भक्तों से अपना गुणगान सुन रहा है। तृतीय चित्र में प्रजातन्त्र को एक उन्मत्त व्यक्ति के रूप में चित्रित किया गया है जिसके चारों ओर मनुष्यों के समूह चोंच रहे हैं। जिस समय यह चित्र अंकित किया गया था, उस समय प्रजातन्त्र की यही कल्पना प्रचलित थी। आजकल आलोचक इसे इतना दूषित नहीं मानते परन्तु उन्होंने दूसरे आधारों पर इसकी आलोचना की है। उनका यह मत है कि सर्वप्रथम, प्रजातन्त्र गुण की अपेक्षा संख्या पर अधिक जोर देता है, वह जनता के बहुमत के निर्णय को, चाहे वह छोटासा ही बहुमत हो, कानून का रूप देता है, हालांकि अल्पमत की राय उसकी बौद्धिक, नैतिक तथा आर्थिक उत्कृष्टता के कारण अधिक विवेकपूर्ण हो सकती है।

प्रजातन्त्र इस मिथ्या सिद्धान्त पर स्थिर है कि प्रत्येक मनुष्य, चाहे उसकी वास्तविक योग्यता कुछ भी हो, दूसरे मनुष्य के समान है, जहाँ तक उसकी शासन-कार्य में भाग लेने की योग्यता से सम्बन्ध है, अतः सार्वजनिक कर्मचारियों के चुनाव तथा सार्वजनिक नीतियों के निर्धारण में किसी भी व्यक्ति का मत दूसरे व्यक्ति के मत से अधिक न माना जाना चाहिए। इस प्रकार या तो इसके कारण शासन-क्षेत्र में विशिष्ट प्रशिक्षण एवं विशिष्ट ज्ञान के मूल्य की उपेक्षा होती है जो निजी व्यवसाय के क्षेत्र में आवश्यक समझे जाते हैं या सार्वजनिक सेवा के लिए विशेषज्ञों को प्राप्त करना कठिन हो जाता है। न्यायाधीश स्टोरी ने एक बार कहा था कि एक महान् राष्ट्र के शासन के लिए असाधारण मात्रा में विशिष्ट ज्ञान और अनेक प्रकार के प्रतिभाशाली व्यक्तियों के शान्त एवं संयत प्रयास की आवश्यकता है। यह कहा जाता है कि प्रजातन्त्र अधिकांश में अज्ञात, अशिक्षित तथा अयोग्य व्यक्तियों द्वारा शासन का नाम है। इसमें विशेषज्ञों पर विश्वास नहीं किया जाता और विशेषज्ञों की सरकार को सच्चे प्रजातन्त्र के विरुद्ध माना जाता है।[1] ए० जी० सिजविक नामक विद्वान् ने अमेरिकन प्रजातन्त्र की दुर्बलताओं का विशेष अध्ययन अपनी 'प्रजातान्त्रिक भूल' (Democratic Mistake) नामक पुस्तक में किया है।[2] उसमें उसने अन्य आलोचकों के समान बतलाया है कि प्रजातन्त्र का सबसे प्रमुख दोष तो यह है कि उसमें उत्तरदायित्व की सुरक्षा के लिये पर्याप्त साधनों का अभाव है। यह प्रचलित विश्वास कि

---

१. यह आलोचना ट्रीट्स्के ने की है। उसका मत है कि प्रजातन्त्र को प्रारम्भिक तथा औद्योगिक शिक्षा से परे उच्च शिक्षा में कोई प्रेम नहीं होता और आधुनिक प्रजातन्त्रों से कला एवं विज्ञान की उन्नति के प्रोत्साहन की आशा करना व्यर्थ है।

२ फेगे (Faguet) का कथन है कि 'शासन एक कला है और उसके लिए ज्ञान की अपेक्षा है, परन्तु जनता का शासन ऐसे व्यक्तियों द्वारा होता है जिनमें न ज्ञान होता है और न कला और जो इसी कारण चुने जाते हैं कि उनमें ये बातें नहीं हैं। उसने कहा है कि फ्रेंच शासन के प्रत्येक भाग में अयोग्यता दिखाई देती है, विशेषकर न्यायालयों में तो बहुत ही अधिक अयोग्यता है।

'लोक-निर्वाचन द्वारा लोक-सेवकों को समाज के प्रति उत्तरदायी बना देने से, उनकी अवधि अल्पकालिक रखने तथा क्रमानुसार बदल-बदलकर पद प्रदान करने की व्यवस्था से उत्तरदायित्व प्राप्त किया जा सकता है, तथ्यों द्वारा सिद्ध नहीं हो सका है। उसके विचार में उत्तरदायित्व की प्राप्ति का एक ही मार्ग है जो हमें व्यवसाय के क्षेत्र में मिलता है और वह है 'कार्य-काल की सुनिश्चितता'। इसी सुनिश्चितता के अभाव को उसने महान् 'प्रजातान्त्रिक भूल' कहा है। परन्तु प्रजातन्त्र के समर्थक देर से होने वाले चुनावों तथा कार्य-काल की लम्बी अवधि को ठीक नहीं मानते क्योंकि ये बातें साधारणतया प्रजातन्त्र के विरुद्ध मानी जाती हैं। प्रजातन्त्रों की आलोचना इसलिए भी की गयी है कि उनमें स्वाभाविक नेताओं पर विश्वास नहीं किया जाता और उनमें एक प्रकार से उत्तेजनाकारी कार्यकर्त्ता, मिथ्या-प्रशंसक तथा अनुत्तरदायी नेता खूब पनपते हैं। यह भी कहा जाता है कि प्रजातन्त्र अतिव्ययी और वृथाव्ययी होते हैं; वे समाज को उच्च स्तर पर ले जाने के स्थान में निम्न स्तर को ले जाते हैं और वे शिक्षा, कला, साहित्य तथा विज्ञान की प्रगति के शत्रु नहीं तो उनके प्रति उदासीन अवश्य होते हैं।'[1]

मेन द्वारा प्रजातन्त्र का मूल्यांकन

उन्नीसवीं शताब्दी में प्रजातन्त्र की सबसे प्रबल, यद्यपि तर्क की दृष्टि से अपूर्ण आलोचना आंग्ल कानूनविज्ञ सर हेनरी मेन ने सन् १८८६ में प्रकाशित अपने ग्रन्थ 'लोक-शासन' (Popular Government) में की है। लोक-शासन के इतिहास का अवलोकन करने के पश्चात् वह इस परिणाम पर पहुँचा कि 'यह मानने के लिए कोई आधार नहीं कि उसका भविष्य अपरिमित रूप से लम्बा है।' उसके मत में अनुभव से यह सिद्ध होता है कि इस प्रकार का शासन अत्यन्त दुर्बल अथवा भंगुर रहा है और जबसे संसार में प्रजातन्त्र का उदय हुआ है, 'शासन के सभी रूप पहले की अपेक्षा अधिक अरक्षित हो गये हैं।' उसने यह कहा है कि 'लोक-शासन को सेना और जन-समूहों के सम्मिलित बल ने बार-बार तहसनहस कर दिया है, समस्त शासनों में प्रजातन्त्रीय शासन ऐसे होते हैं जो राष्ट्रवादियों का, जो सबसे अधिक असान्त्वनीय होते हैं, सफलतापूर्वक मुकाबला नहीं कर सकते; वे शासन-सत्ता के टुकड़े-टुकड़े करके प्रत्येक व्यक्ति को एक अत्यन्त छोटा सा टुकड़ा दे देना चाहते हैं; वे सार्वभौम मताधिकार पर टिके रहते हैं और यह अत्याचार का प्राकृतिक आधार है; वे बौद्धिक प्रगति और वैज्ञानिक सत्य की अभिवृद्धि के प्रतिकूल हैं, उनमें स्थायित्व का अभाव है और वे बुद्धिहीनों एवं अज्ञानियों के शासन हैं।' 'सब प्रकार की शासन-प्रणालियों में प्रजातन्त्र सबसे अधिक कठिन है।' इसी कठिनाई के कारण उसका जीवन क्षणिक होता है।

उसने आगे चलकर लिखा है कि प्रजातन्त्रात्मक शासन की आन्तरिक कठिनाइयाँ इतनी अधिक एवं महान् हैं कि वह बड़े पेचीदा समाजों में उस समय तक

---

१. विशेषकर पृष्ठ ६० तथा ११८ देखिये। उसकी 'The Dread of Responsibility' नामक पुस्तक में उल्लिखित फेगे के विचारों से भी तुलना कीजिये, जहाँ उसने फ्रेन्च प्रजातन्त्र की यह कह कर आलोचना की है कि वह सर्वव्यापी अनुत्तरदायित्व के सिद्धान्त पर आधारित है। उसने कहा है कि फ्रेन्च लोग उत्तरदायित्व से डरते हैं और उससे बचने के लिए उन्होंने उसको इस प्रकार विभाजित तथा उपविभाजित कर दिया है कि उसका अस्तित्व ही मिट गया।

जीवित नहीं रह सकता जब तक उससे उन शक्तियों को सहायता न मिले जो उससे सम्बद्ध तो नहीं हैं परन्तु जिन्हें उससे स्फूर्ति मिलती है। सम्पत्तिजीवी वर्ग की अपेक्षा जनता के पूर्वग्रह अधिक हैं ; वे (जनता) कहीं अधिक अशिष्ट और संकटजनक भी हैं क्योंकि उनके विचार वैज्ञानिक निष्कर्षों के विरुद्ध हो सकते हैं।[1]

मेन प्रजातन्त्र तथा स्वतन्त्रता में कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं मानता और कहता है कि यदि इन दोनों में कोई सम्बन्ध हो भी और यदि इन दोनों में से चुनाव करना हो तो एक राष्ट्र के सद्गुणों का प्रदर्शन करने योग्य राष्ट्र बने रहना स्वतन्त्र होने की अपेक्षा श्रेष्ठ है।[2] 'विवेकपूर्ण संविधान द्वारा प्रजातन्त्र उतना ही शान्त बताया जा सकता है जितना किसी कृत्रिम जलाशय का जल, परन्तु यदि उसकी रचना में कहीं भी कोई त्रुटि है तो वह शक्ति जो उसे नियन्त्रण में रखती है, उसमें से फूट निकलेगी और दूर-दूर तक प्रलय ढा देगी।

लेकी की आलोचना

प्रजातन्त्र का दूसरा आलोचक आँग्ल इतिहासकार लेकी था जिसने अपनी पुस्तक 'प्रजातन्त्र और स्वतन्त्रता' (Democracy and Liberty) में 'अत्यन्त दरिद्री, अत्यन्त अज्ञानियों एवं अत्यन्त अयोग्य व्यक्तियों द्वारा, जो आवश्यकरूप से बहुसंख्यक होते हैं,' शासन के दोषों को बतलाया है।[3] उसने लिखा है कि ऐसे व्यक्तियों के वर्ग शासन-संचालन का विचार मानव-जाति के समस्त पूर्व-संचित अनुभव को उलट देता द्वारा है। 'मानव उद्योग के प्रत्येक क्षेत्र में, जीवन की समस्त गतिविधियों में, प्रकृति के अटल नियम के अनुसार श्रेष्ठता कुछ व्यक्तियों में ही होती है, बहुसंख्यकों में नहीं और उन थोड़े से व्यक्तियों के हाथों में नियन्त्रण और मार्ग-दर्शन का भार सौंप कर ही सफलता प्राप्त की जा सकती है।' 'प्रजातन्त्र से न तो श्रेष्ठतर शासन सुनिश्चित होता है और न अधिक स्वतन्त्रता ही, वास्तव में कुछ शक्तिशाली प्रजातान्त्रिक प्रवृत्तियाँ स्वतन्त्रता के विरुद्ध हैं। इसके विपरीत, इतिहास तथा वस्तुस्थिति से ऐसे उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनसे यह सिद्ध हो जायगा कि प्रायः प्रजातन्त्र स्वतन्त्रता के बिलकुल विरुद्ध हो सकता है।' अत्यन्त अज्ञानी समुदाय के हाथों में प्रमुख सत्ता दे देने का अर्थ ऐसे व्यक्तियों के हाथों में सत्ता दे देना होगा जो राजनीतिक स्वतन्त्रता की तनिक भी चिन्ता नहीं करते और जो सम्भवतः एक शक्तिशाली नेता का अनुसरण करेंगे। उच्च तथा मध्यम वर्गों ने स्वतन्त्रता के प्रति अधिकतम अनुराग प्रकट किया है और वे उसके समर्थक रहे हैं, परन्तु प्रजातन्त्र ने प्रायः स्वतन्त्रता को पद च्युत करने का प्रयत्न किया है।[4] डी॰ टॉकविल के समान ही उसने भी अमेरिका के सम्बन्ध में यह मत प्रकट किया है कि शायद ही किसी दूसरे देश में सर्वश्रेष्ठ जीवन और राष्ट्र की शक्ति का स्रोत इस प्रकार राजनीति से दूर प्रवाहित होता हो और सर्वश्रेष्ठ प्रतिभाशाली व्यक्तियों को राजकीय पदों का काम करने के लिए इतने कम सुयोग दिये जाते हों।[5] टॉकविल, ब्लुण्ट्स्ली, मेन, ट्रीट्स्के आदि के समान उसका भी मत है कि प्रजातन्त्र

१. Maine, Popular Government, p. 67.
२. वहीं, पृष्ठ ६३। उनकी राय थी कि एक सदाशय निरंकुश शासक का शासन प्रजातन्त्र से अच्छा है।
३. देखिये, Leckey, Democracy and Liberty, Vol. I, pp. 18-21.
४. वहीं, पृष्ठ २१२-१५।
५. वहीं, पृष्ठ ६४।

बौद्धिक जीवन के उच्च रूपों अर्थात् कला, साहित्य एवं विज्ञान के विकास के प्रतिकूल होता है; संक्षेप में, प्रजातन्त्र ऊँचा उठाने के स्थान में नीचे गिराता है।[1] अमेरिकन प्रजातन्त्र के आधार समानता के सम्बन्ध में मेन ने लिखा है कि 'संसार में शायद ही दूसरा कोई राष्ट्र हो जिसमें दुर्बलों की ऐसी दुर्गति की गयी हो, जिसमें सफलता प्राप्त करने वाले व्यक्ति सदैव सबल ही हुए हों और जिसमें इतने अल्प समय में निजी सम्पत्ति तथा विलास की इतनी अधिक विषमता पैदा हुई हो।[2] लावेले ने भी इसी प्रकार के विचार व्यक्त किये हैं। उसके मत में प्रजातन्त्र आवश्यकरूप से समानता को उसी प्रकार जन्म नहीं देता जिस प्रकार स्वतन्त्रता को नहीं देता और वह सम्पत्ति तथा संस्कृति का शत्रु है। असमान स्थितियाँ और वर्ग-संघर्ष ही प्राचीन प्रजातन्त्रों के पतन के कारण थे। यदि लोग अज्ञानी और अयोग्य हैं तो प्रजातन्त्र अराजकता एवं स्वेच्छाचारी शासन में अवश्य परिवर्तित हो जायगा और स्वतन्त्रता तथा समानता दोनों से ही हाथ धोना पड़ेगा। इस तथा इस प्रकार की दूसरी आलोचनाओं का अनेक विद्वानों ने उत्तर दिया है। उन्होंने कहा है कि जो अनेक दोष प्रजातन्त्र के बतलाये गये हैं, वे उसके दोष नहीं हैं, प्रत्युत वे उसके साथ चलते हैं और प्रजातन्त्र आवश्यकरूप से अज्ञानियों तथा अयोग्यों का शासन नहीं है।

ट्रीट्स्के की आलोचना

जर्मन इतिहासकार ट्रीट्स्के ने, जो स्वेच्छाचारी एकतन्त्र का, विशेषकर प्रशा के एकतन्त्र का, जिसे वह सदाशयी निरंकुश शासन कहता था, अन्धभक्त था, प्रजातन्त्रीय शासन-प्रणाली की बड़ी कड़ी आलोचना की है। वह अमेरिकन प्रजातन्त्र का प्रबल विरोधी था। उसके मतानुसार अमेरिकन गृह-युद्ध से पूर्व दक्षिण के दास-स्वामियों का कुलीनतन्त्र 'उत्तर के प्रजातन्त्र से लाख गुना अधिक श्रेष्ठ था।' उसे (उत्तर के प्रजातन्त्र को) वह दूषित, भ्रष्ट डालर-पूजकों का शासन अथवा एक प्रकार का धनिक-तन्त्र समझता था।[3] वास्तव में उसने तो यह भविष्यवाणी तक की थी कि 'संयुक्त राज्य अमेरिका का विधान अधोगति को प्राप्त हो रहा है।[4] फ्रान्स, फ्रेन्च और स्विस प्रजातन्त्रों के सम्बन्ध में भी उसके ऐसे विचार थे। फ्रान्स वास्तव में, 'पूर्णतः धनिकतन्त्र था जिसमें कुछ बैंकों का हाथ था जो चुपचाप प्रजातन्त्रीय संस्थाओं का अपने स्वार्थ-साधन के लिए दुरुपयोग कर रहे थे।' स्विट्ज़रलैण्ड में उसके मतानुसार प्रशा से भी कम स्वतन्त्रता थी। उसने कहा कि समानता तथा बहुमत-शासन के सिद्धान्त पर स्थिर प्रजातन्त्र की कल्पना मिथ्या है, इसमें धनिकों के लाभ के हेतु गरीबों का शोषण होता है। प्रजातन्त्र चंचल, अस्थिर एवं अयोग्य है। वह बुद्धि की प्रखरता को हतोत्साहित

---

१. वही, पृष्ठ १०५-१०८।
२. Popular Government, p. 51, Stephen (Liberty, Fraternity and Equality, p. 329) ने भी कहा है कि विशुद्ध प्रजातन्त्र में गुणरूप से कार्य साधने वाले और उनके मित्र ही शासन करेंगे और वे जनता के बराबर उसी प्रकार नहीं होंगे जिस प्रकार सिपाही या राज्य के मन्त्री एक राजा की प्रजा के बराबर नहीं हो सकते। सभी अवस्था में साधारण जनता का किसी न किसी प्रकार के नेता ही नेतृत्व करते हैं जो उसकी सामूहिक शक्ति को अपने अधिकार में कर लेते हैं।
३. Politics, Vol. II, p. 271.
४. वही, पृष्ठ २६१।

करता है, अविवेकी नेताओं के लिए क्षेत्र तैयार करता है और संस्कृति तथा जीवन की उच्च आध्यात्मिक बातों के लिए वह कुछ भी नहीं करता।"

ट्रीट्स्के को प्रजातन्त्र से द्वेष था और जिन प्रजातन्त्रों की उसने आलोचना की है, उनके इतिहास तथा अनुभव के सम्बन्ध में उसमें आश्चर्यजनक अज्ञान था, इस कारण उसके विचारों को हम अधिक महत्व नहीं दे सकते।

दूसरे आधुनिक आलोचक

वर्तमान काल के मर्यादित आलोचकों में से कुछ विद्वानों का हम उल्लेख कर सकते हैं। मेलॉक ने अपनी पुस्तक 'विशुद्ध प्रजातन्त्र की मर्यादाएं' (The Limits of Pure Democracy) में आधुनिक प्रजातन्त्र के आधारभूत प्रमेयों की समीक्षा की है और बतलाया है कि ऐसा प्रजातन्त्र जिसमें सब मनुष्यों का समान प्रभाव होता है, न है और न कभी था। प्रो० अर्नेस्ट बार्कर ने कहा है कि 'प्रजातन्त्रात्मक शासन में कार्यक्षमता की बड़ी क्षति होती है।' सब कुछ कहने के बाद यह स्पष्ट है कि प्रजातन्त्र उन थोड़े चतुर व्यक्तियों का शासन है, जो सफलता के साथ निर्वाचकों को अपनी ओर कर सकते हैं।[2] फ्रेन्च लेखक लेबों के अनुसार लोक-शासन पर भावुकता का अत्यधिक प्रभाव होता है और वह समूह द्वारा शासन हो जाता है। वाल्टर ई० वेल की दृष्टि में अमेरिकन प्रजातन्त्र दूषित धनिकतन्त्र ही है। प्रोफेसर गिडिंग्ज के अनुसार प्रजातन्त्र में दो बड़े संकट हैं—प्रथम अमर्यादित भावुकता जिसकी अभिव्यक्ति भीड़ों के हिंसाकाण्डों तथा क्रान्तियों में होती है और जो अल्पमत के अधिकारों का दमन कर भीड़ों के स्वेच्छाचार का समर्थन करती है। दूसरा संकट है—राष्ट्रीय-चरित्र का पतन।[3] कई लेखक जो प्रजातन्त्रीय आदर्श के समर्थक हैं, आजकल की प्रजातन्त्रीय प्रणाली में कई प्रकार के परिवर्तनों की आवश्यकता बतलाते हैं।[4]

इनके अतिरिक्त एक और बड़ा दोष है, चुनावों में अपार धन का खर्च जो विशेषकर अमेरिका में देखा जाता है। जैसा कि प्रसिद्ध है, राष्ट्रपति के प्रत्येक निर्वाचन के समय उम्मीदवारों द्वारा करोड़ों रुपये व्यय किये जाते हैं। सन् १९२६ में अमेरिकन कांग्रेस की सीनेट के लिए उम्मीदवारों के चुनाव-व्यय की जाँच के समय यह प्रकट हुआ था कि किसी-किसी हालत में एक उम्मीदवार को अपनी नामजदगी के लिए

---

१. प्रजातन्त्र की आलोचना के लिए उसकी Politics, Vol. II का बीसवां अध्याय देखिये। प्रथम विश्व-युद्ध के पूर्व अनेक जर्मन लेखक प्रजातन्त्र को सन्देह की दृष्टि से देखते थे। अनेक देशों के प्रजातन्त्रों का अध्ययन करके हेजवेक ने अपनी पुस्तक, 'Die Moderne Demokratie' में लिखा है कि 'पिछले पृष्ठों में प्रजातन्त्रीय राज्य का जो चित्र दिया है, उससे प्रजातन्त्र की तुलना एकतन्त्र से करने वाले किसी व्यक्ति को यह विश्वास नहीं हो सकेगा कि वह एकतन्त्र से श्रेष्ठ है। मांतेस्क्यू का यह मत कि अपनी प्रकृति से ही प्रजातन्त्र राजनीतिक संगठन का स्वतन्त्र रूप नहीं है, आज भी उतना ही सत्य है जितना १६० वर्ष पूर्व था, यद्यपि तबसे स्वतन्त्रता का रक्षक बनने का दम भरता आ रहा है।

२. Political Thought in England from Spencer to the Present Day, p 172.

३. *Democracy and Empire*, p. 239

४. जैसे Follett (The New State, 1918), Lippman (Public Opinion, 1922), Wallas (The Great Society) आदि।

५,००,००० डॉलर व्यय करने पड़े थे। यदि इस सारे व्यय को सद्‌व्यय और नियमानुसार भी मान लिया जाय तो भी इस प्रकार की पद्धति सच्चे प्रजातन्त्र के विरुद्ध है क्योंकि उसके सिद्धान्तों के अनुसार सार्वजनिक पद आवश्यक योग्यता वाले सभी व्यक्तियों को समान रूप से प्राप्त होने चाहिए। निश्चय ही जिस प्रजातन्त्र में धन का ऐसा महत्व हो, वहाँ धनी उम्मीदवार साधारण स्थिति के परन्तु सुयोग्य उम्मीदवारों की अपेक्षा अत्यधिक लाभ उठा सकते हों, वह प्रजातन्त्र, वास्तव में, उससे भिन्न है जिसकी कल्पना उसके संस्थापकों ने की थी और वह उन लोगों के, जिनका उसमें अभी तक विश्वास बना हुआ है, श्रेष्ठ आदर्शों के भी विरुद्ध है। यह वास्तव में सत्य है कि अमेरिका में प्रजातन्त्र की प्रक्रियाओं को कार्यरूप में परिणत करने के लिए संसार के किसी भी देश की अपेक्षा अधिक समय और धन नष्ट होता है।

लॉर्ड ब्राइस के विचार

प्रजातन्त्र पर सबसे अर्वाचीन तथा सर्वाधिक मूल्यवान् अध्ययनपूर्ण ग्रन्थ लॉर्ड ब्राइस का है जो "आधुनिक प्रजातन्त्र" (Modern Democracies) नाम से सन् १९२१ में दो खण्डों में प्रकाशित हुआ। यह ग्रन्थ विशद अध्ययन, वैयक्तिक पर्यवेक्षण और अनुभव के आधार पर ऐसे विद्वान् द्वारा लिखा गया है जिसकी प्रजातन्त्र से हार्दिक सहानुभूति थी और इस कारण उसके विचार अति मूल्यवान् हैं। लॉर्ड ब्राइस ने सामान्य रूप में प्रजातन्त्र के और विशेषरूप में वर्तमान प्रजातन्त्रों के, गुण-दोषों पर विचार किया है। उसके अध्ययन पर तीव्र अन्तर्दृष्टि, उत्कृष्ट विश्लेषण तथा सहानुभूति की छाप है। प्रजातन्त्र पर जितना भी साहित्य उपलब्ध है, उसमें इससे अधिक निष्पक्ष विश्लेषण एवं मूल्यांकन नहीं मिलेगा। अमेरिकन प्रजातन्त्र की सामान्य समालोचना करते हुए उसने उन दोषों पर प्रकाश डाला है जो संयुक्त राज्य अमेरिका के लोक-शासन को कार्यान्वित करने में प्रकट हुए हैं। इनमें से अधिक महत्वपूर्ण निम्नलिखित हैं—राज्यों की व्यवस्थापिका-परिषदों में और कुछ कम अंश में राष्ट्रीय कांग्रेस में लोक-विश्वास का क्षय; अधिकांश राज्यों में न्याय-विभाग की निम्नता; दण्ड-व्यवस्था (Criminal Justice) की शिथिलता, अनिश्चितता और अक्षमता; कानूनों पर अपूर्ण रीति से अमल; नगरों का भ्रष्ट, खर्चीला और अयोग्य शासन-प्रबन्ध; राजनीतिक दलों में, जिनका नियन्त्रण व्यावसायिक राजनीतिज्ञों द्वारा किया जाता है, स्वार्थपरता और धन-लोलुपता; धारासभाओं तथा न्यायालयों पर सम्पत्ति का भयानक प्रभाव; सार्वजनिक सेवा (Public Service) की प्रतिभाशाली व्यक्तियों को आकर्षित करने में बढ़ती हुई विफलता, वह भी ऐसे देश में जहाँ प्रतिभाशाली व्यक्तियों की भरमार है।[1] उसने यह भी बतलाया है कि इनमें से कुछ दोष तो ऐसे हैं जो राजनीतिक कारणों से नहीं हैं या जो प्रजातन्त्र में अनिवार्य नहीं है और जो अन्य प्रकार की शासन-प्रणाली में भी मिलते या मिल सकते हैं। जिन छह प्रजातन्त्रीय राज्यों का उसने अध्ययन किया था, उनके दोष संक्षेप में इस प्रकार हैं—(क) कानून-निर्माण तथा शासन-प्रबन्ध को भ्रष्ट करने में धन का प्रभाव; (ख) राजनीति को एक प्रकार का व्यवसाय बनाने या व्यापार बनाने की प्रवृत्ति; (ग) शासन-प्रबन्ध में अपव्यय; (घ) समानता के सिद्धान्त

---

१. Lord Bryce : Modern Democracies, Vol. II, p. 154-155 इसी पुस्तक के प्रथम खण्ड में पृष्ठ ४८३ पर उसने लिखा है कि सर्वत्र प्रजातन्त्र की एक कमजोरी यह है कि वह शासन की कठिनाइयों को कम समझता है और साधारण आदमी की योग्यता को अधिक।

की विकृति और प्रशासनीय वुद्धि एवं चातुर्य की बेकदरी ; (ड) राजनीतिक दलों की अनुचित सत्ता, (च) शासन के कर्मचारियों तथा व्यवस्थापिका परिषदों के सदस्यों में भविष्य में मत प्राप्त करने की दृष्टि से कानून बनाने तथा व्यवस्था-भंग को सहन करने की प्रवृत्ति। किन्तु, उसने बतलाया कि इन दोषों में से प्रथम तीन दोष सब प्रकार की शासन-प्रणालियों में विद्यमान हैं, चाहे वे प्रजातन्त्रीय हों अथवा कोई अन्य। सबसे अन्तिम तीन दोष प्रजातन्त्रों में ही प्राय मिलते हैं, परन्तु वे प्रजातन्त्र के ऐसे लक्षण नहीं माने जा सकते जो उससे पृथक् न किये जा सकें। उसने यह भी स्वीकार किया है कि 'प्रजातन्त्र ने कुछ नवीन धाराएँ जारी कर दी हैं जिसमें से सुपरिचित दोषपूर्ण प्रवृत्तियाँ प्रवाहित हो सकती हैं, परन्तु उसने कुछ पुरातन धाराओं को रोक दिया है और सरिता का विस्तार बढ़ने नहीं दिया है।' उसके विचार से सभी प्रजातन्त्रों के लिए दो महान् संकट हैं। एक संकट तो उन व्यक्तियों के स्वार्थ से है जो शासन का नियन्त्रण अपने हाथों में ले लेते हैं और जो उसका दुरुपयोग करते हैं। दूसरा बड़ा संकट उन लोगों की अनुत्तरदायी सत्ता में है जो जनता को मनुष्यों एवं कार्यों को पहचानने के साधन प्रदान करते हैं। स्वार्थपरायण नेता समाचार-पत्रों द्वारा अर्द्ध-सत्य तथा मिथ्या का प्रचार करते हैं और हिंसात्मक कार्यों के लिए प्रेरणा देते हैं।[1] जो अनेक तर्क प्रजातन्त्र के विरुद्ध दिये जाते हैं, जैसे प्रजातन्त्र व्यक्तित्व तथा मौलिकता का दमन करता है, समाज को नीचे गिरा कर मध्यम स्तर पर ले आता है तथा विज्ञान, साहित्य, संस्कृति एवं कला के विकास के साधारणतया प्रतिकूल होता है आदि, वे उसके विचार में वास्तविक तथ्यों पर आधारित नहीं, केवल कल्पित हैं। प्रजातन्त्र ने बौद्धिक प्रगति को प्रोत्साहन दिया है या उसे हतोत्साहित किया है, यह सिद्ध करने के लिए कोई तथ्य प्राप्त नहीं है। सत्य तो यह है कि साहित्य कला, विज्ञान और संस्कृति की प्रगति सभी प्रकार की शासन-प्रणालियों के अन्तर्गत हुई है, चाहे वे एकतन्त्रीय रही हों या कुलीनतन्त्रीय अथवा प्रजातन्त्रीय। बौद्धिक तथा नैतिक शक्तियों की गति इतनी सूक्ष्म, विलक्षण और दुर्बोध होती है कि कुछ बाह्य तथ्यों के आधार पर उसकी व्याख्या अधूरी और भ्रमजनक ही होगी।[2]

प्रजातन्त्र का भविष्य

प्रजातन्त्र की चाहे जो दुर्बलताएँ हों और निस्सन्देह उसमें दुर्बलताएँ हैं, परन्तु इस पर भी उसके भाग्य में ससारव्यापी होना बदा है और वास्तव में वह ससारव्यापी हो भी गया है। प्रथम विश्व-युद्ध के उपरान्त जर्मनी जैसा अत्यन्त स्वेच्छाचारी एकतन्त्रात्मक शासन तक गणतन्त्र के रूप में परिणत हो गया और उसमें सभी आधुनिक प्रजातान्त्रिक संस्थाओं का विकास हुआ, जैसे लिंग-भेद के बिना सार्वभौम मताधिकार, राज्य-प्रमुख का जनता द्वारा निर्वाचन, संसदीय मन्त्रि-परिषदीय उत्तरदायित्व, आनुपातिक प्रतिनिधित्व, जनमत द्वारा निर्णय (Referendum), जनता का कानून-निर्माण में प्रवर्तक अधिकार (Initiative) तथा राजकीय कर्मचारियों एवं अधिकारियों का जनता द्वारा प्रत्याह्वान (Recall) आदि। बेल्जियम, रूमानिया और हंगरी जैसे पुरातन एकतन्त्रों ने नवीन प्रजातन्त्रात्मक विधानों की रचना की है। यह सम्भव नहीं है कि वे प्रजातन्त्र से कभी विमुख होंगे क्योंकि जैसा लास्की ने कहा है—'जिन्होंने एक बार सत्ता का स्वाद ले लिया है, वे उसे कदापि त्याग

---

१. वही, पृष्ठ ४५८-४६० ।
२. वही, पृष्ठ ५१६-५२६ ।

देना न चाहेंगे।'[1] चाहे प्रजातन्त्र 'हतोत्साह करने वाला राजनीतिक तथ्य' हो जैसा सिजविक का मत था, परन्तु उसे भी यह स्वीकार करना पड़ा कि प्रजातन्त्र 'उत्साहपूर्वक तथा व्यापक रूप से स्वीकृत आदर्श है।'[2] हाल ही में रूस, इटली, आस्ट्रिया और जर्मनी ने प्रजातन्त्र का परित्याग कर दिया है, परन्तु इसमें सन्देह है कि उनका यह परित्याग स्थायी रहेगा। सर हेनरी मेन ने अपना यह मत प्रकट करने का साहस किया था कि लोक-शासन के इतिहास से यह प्रमाणित नहीं होता कि इसका भविष्य दीर्घ-जीवी है, परन्तु उसने भी यह बात स्वीकार की है कि संयुक्त राज्य अमेरिका के उदाहरण से प्रजातन्त्रात्मक शासन की साख बढ़ गई है और उसकी क्षमता प्रकट हो गई है। लेकी ने, जो मेन की भाँति लोकतन्त्र से भयभीत था और उस पर विश्वास नहीं करता था, यह स्वीकार किया है कि समस्त सभ्य देशों में अधिक समय तक उसका आधिपत्य बने रहने की सम्भावना है।' जिन प्रश्नों का हमें सामना करना है, वे हैं उसके रूप के सम्बन्ध में और उन साधनों के सम्बन्ध में जिनसे उसके विशिष्ट दोषों का परिहार किया जा सके।

हम प्रजातन्त्र की चाहे जितनी आलोचना करें, परन्तु जैसा बार्थेलेमी ने कहा है, यह बात उतनी ही व्यर्थ है जितनी ऋतुओं के क्रम अथवा तारागणों के आकर्षण के नियमों की आलोचना करना। किन्तु यह असम्भव नहीं है कि कुछ देशों में प्रजातन्त्र का जैसा रूप प्रतिष्ठित है, उसमें महत्त्वपूर्ण परिवर्तन होंगे। ऐसे भी व्यक्ति हैं जो यह मानते हैं कि जो दोष प्रजातन्त्र में विद्यमान हैं, उनके निवारण का उपाय प्रजातन्त्र में कमी करना नहीं; वरन् उसका अधिक से अधिक विकास करना है। अतः इस प्रकार जो परिवर्तन होंगे, उनमें प्रजातन्त्र के सिद्धान्त का विस्तार ही होगा। दूसरी ओर, बढ़ती हुई संख्या में बुद्धिमान् व्यक्तियों का यह विश्वास है कि प्रजातन्त्र का रूप अयोग्य जनता को शक्ति सौंप देने से विकृत हो गया है और इसकी प्रतिक्रिया अनिवार्य है। लॉर्ड ब्राइस प्रजातन्त्र के भविष्य के सम्बन्ध में अतिशय आशावादी नहीं था, जिस प्रतिनिधि-परिषद् द्वारा शासन के रूप में प्रजातन्त्र प्रायः प्रत्येक स्थान में प्रतिष्ठित है, उसके विचार में उसमें क्षय के लक्षण प्रकट हो रहे हैं, प्रायः प्रत्येक देश में इन परिषदों में विश्वास प्रत्यक्षतः नष्टप्राय: हो चुका है। कुछ देशों में वे अपने कार्य में अयोग्य सिद्ध हुई है और दूसरे देशों में वे राजनीतिक दलों के अत्यधिक अधीन हो गयी हैं। हाल में योरोप के कुछ देशों में कुछ प्रतिनिधि-शासनों के स्थान पर अधिनायकतन्त्र की जो स्थापना हो गयी है, वह प्रतिनिधि-प्रणाली के प्रति असन्तोष के कारण ही हुई है। किन्तु जैसा ब्राइस ने कहा है, जो प्रजातन्त्र की आलोचना करते हैं, उनका यह कर्तव्य है कि वे इससे अधिक अच्छी प्रणाली बतलावें।

सफल प्रजातन्त्र के लिए आवश्यक शर्तें

प्रजातन्त्र का जो विशद और व्यापक अनुभव हमें है, उसके आधार पर हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि प्रजातन्त्र की सफलता के लिए कुछ आवश्यक शर्तें हैं। मेन ने जो प्रजातन्त्र का अत्यन्त तीव्र आलोचक था, यह स्वीकार किया है कि 'विवेकपूर्ण संविधान' द्वारा प्रजातन्त्र को अशान्ति नियन्त्रित करके इतनी शान्त की जा सकती है जैसा एक सरोवर का जल। लेकी ने भी जो अमेरिकन प्रजातन्त्र का

---

१. Grammar of Politics, p. 17.
२. Elements of Politics, p. 608.

आलोचक था, कहा कि प्रजातन्त्र विफल नहीं हुआ है, परन्तु उसने बतलाया कि प्रजातन्त्र की सफलता के लिए एक कर्तव्य अत्यन्त आवश्यक है—अर्थात् 'एक लिखित संविधान, जिसके द्वारा सम्पत्ति तथा इकरार सुरक्षित किये जा सकें, मौलिक परिवर्तन के मार्ग में कठिनाइयाँ डाली जा सकें, बहुमत की सत्ता पर अंकुश लगाया जा सके और क्षणिक असन्तोष के विस्फोट को तथा राज्य के प्रमुख स्तम्भों को गुटबन्दियों द्वारा विध्वंस किये जाने से रोका जा सके।'

इस बात को कहने की कोई आवश्यकता नहीं है कि प्रजातन्त्र को सफलतापूर्वक कार्यान्वित करने के लिए शायद सबसे आधारभूत शर्त यह है कि जो जनता उसे कार्यान्वित करे, उसमें काफी ऊँची मात्रा में राजनीतिक विवेक-बुद्धि हो, सार्वजनिक मामलों में स्थायी दिलचस्पी, सार्वजनिक उत्तरदायित्व की तीव्र भावना तथा बहुमत के निर्णय को स्वीकार करने की तत्परता हो। बहुमत को ये यह स्वीकार करने के लिए राजी होना चाहिए कि शक्तिशाली अल्पमतों (Minorities) के अधिकार हैं, जिनका आदर किया जाना चाहिए और प्रजातन्त्र के मौलिक सिद्धान्तों में से एक सिद्धान्त की अवहेलना किये बिना उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। अनेक देशों में निर्वाचकों की दुःखप्रद उदासीनता प्रजातन्त्र के लिए वास्तव में एक संकट है। मातेस्क्यू का यह कथन सत्य है कि एक अत्याचारी राजा के शासन में राज्य का विनाश उतना शीघ्र नहीं हो सकता जितना गणतन्त्र में सामान्य लोक-कल्याण के प्रति उदासीनता से। लावेले तथा मिल ने भी यह ठीक ही कहा है कि प्रजातन्त्रों को राज्य की ओर से प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था करनी चाहिए और उसे अनिवार्य भी कर देना चाहिए। यह हर्ष की बात है कि बहुत से राज्य आज इस कर्तव्य को काफी मात्रा में पूरा कर रहे हैं।

लॉर्ड ब्राइस ने यह ठीक ही निष्कर्ष निकाला था कि लोकशासन की प्रगति या अवनति मानव जाति की बौद्धिक एवं नैतिक प्रगति के अनुपात में होगी। उसके मत में बौद्धिक प्रगति से तात्पर्य पुस्तकों द्वारा अर्जित बुद्धिमत्ता से, केवल लिखने-पढ़ने की योग्यता से, ही नहीं है, प्रत्युत ऐसी बुद्धिमत्ता से है जो 'सम्मान द्वारा उन्नत, सहानुभूति द्वारा पोषित और समाज के प्रति कर्तव्य-भावना द्वारा उत्तेजित हो।' संक्षेप में, प्रजातन्त्र का भविष्य दो विस्तृत विषयों—धर्म का भविष्य तथा मानव-प्रगति की प्रत्याशा—का ही अंग है। प्रोफेसर बार्थेलेमी ने अपने सूक्ष्म अध्ययन से यह निष्कर्ष निकाला है कि सफलता की आवश्यक शर्त यह है कि प्रजातन्त्र का संचालन सबसे अधिक बुद्धिमानों, मेधावियों और सर्वश्रेष्ठ व्यक्तियों द्वारा हो।[1]

१. नॉर्मन एन्जेल ने अपनी पुस्तक, The Public Mind के प्रथम अध्याय में प्रजातन्त्र की तीव्र आलोचना की है। यह विचार करते हुए कि प्रजातन्त्र सम्भव है या नहीं, उसने यह निष्कर्ष निकाला है कि यदि इसका अर्थ 'बहुमत द्वारा शासन' है तो जनता की रायों पर प्रभाव डालने वाले गहरे दुराग्रह, राष्ट्रीय शत्रुताएँ धर्मान्धता तथा व्यापक आवेगों पर विचार करते हुए यह कहना पड़ेगा कि वह एक कपट से अधिक कुछ नहीं हो सकता। वह कहता है कि उसके दोषों को स्वीकार करके और निम्नलिखित सत्यों को स्वीकार कर, उनका निवारण करने का प्रयत्न करके हम प्रजातन्त्र को सफल बना सकते हैं। हमें स्वीकार करना चाहिए कि 'जनता की आवाज साधारणतया शैतान की आवाज होती है', जनता के निर्णय की स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ अत्यन्त अविश्वसनीय एवं दोषयुक्त

प्रजातन्त्रात्मक शासनों के लिए जनता की विभिन्न योग्यताएँ

अनुभव के निष्कर्षों से यह निस्सन्देह प्रमाणित होता है कि प्रजातन्त्र की सफलता उन लोगों की योग्यता पर निर्भर है जो उसका प्रयोग करते हैं, क्योंकि, जैसा मिल ने कहा है, शासन मानवीय साधन हैं और मनुष्यों द्वारा ही उनका प्रयोग हो सकता है। संसार मे निस्सन्देह ऐसे भी देश हैं, जिनमे इसके प्रयोग निराशाजनक सिद्ध हुए हैं। इस प्रकार लेटिन अमेरिका के अधिकांश गणतन्त्रों मे प्रजातन्त्र के रूप विद्यमान् हैं। परन्तु उनमें से कुछ में प्रजातन्त्र को कार्यान्वित करने में अधिक मात्रा मे सफलता नही मिली क्योंकि वहाँ जनता में प्रजातन्त्र के लिए उस आवश्यक पात्रता का अभाव था जो आंग्ल सेक्सन जनता में काफी मात्रा मे विद्यमान् है। वहाँ स्थायी एव व्यवस्थित शासन के स्थान पर क्रान्तियाँ एवं अधिनायकतन्त्र अभी तक प्रचलित हैं। पेरू के एक विद्वान् लेखक ने स्वीकार किया है कि लेटिन अमेरिका के अधिकांश क्षेत्र मे प्रजातन्त्र विफल रहा है। 'एक सौ वर्ष व्यतीत हो गये ; तिस पर भी इन राज्यों मे अशान्ति परिव्याप्त है, ऐसा मालूम होता है कि इन्हे भाग्य ने अराजकता को समर्पित कर दिया है', लेटिन अमेरिका में राजनीतिक शिक्षण का, यहाँ तक कि किसी भी प्रकार की प्राथमिक शिक्षा का भी, अभाव है। अशिक्षित जनता, कुछ बड़े नगरों को छोड़, सार्वजनिक मामलों मे भाग नहीं लेती ; वरन् वह अपने कुछ नेताओं के आदेशों को ही मानती है। मेक्सिको मे यह बात दो-तिहाई जनता के सम्बन्ध मे सत्य है। मध्य-वर्ग का विकास बड़ी धीमी गति से होता है। सामन्तयुगीन कृषक राज आज भी अर्जेन्टाइना, ब्राजील आदि देशों मे हैं। प्राथमिक उद्योग तथा व्यापार पर विदेशी एकाधिकार है। प्रत्येक स्थान मे सामाजिक संगठन और राजनीतिक सिद्धान्तो के दावों मे सामञ्जस्य का अभाव है ; एक ओर धनिकतन्त्र है तथा दूसरी ओर निरपेक्ष प्रजातन्त्र और समानता के सिद्धान्त।'[1] इन्ही कारणों से कुछ विद्वानो ने एशियाई राष्ट्रों के लिए, कम से कम उनकी वर्तमान स्थिति मे, प्रजातन्त्र को अनुपयुक्त बतलाया है। जिन देशों मे यह सबसे अधिक सफल हुआ है, उनमे उसका विकास स्वाभाविक रूप से हुआ है। यदि ऐसे देशो मे प्रजातन्त्र की प्रतिष्ठा सहसा कर दी

होती हैं और यदि हम प्रवृत्तियों को ठीक करने और उनका पथ-प्रदर्शन करने की आवश्यकता महसूस करें तो हम उन्हे उचित सामाजिक अनुशासनों एव शैक्षणिक प्रक्रियाओं द्वारा ठीक कर सकते हैं। यह कहते रहना कि 'जनता की आवाज ईश्वर की आवाज है और इसका यह अर्थ निकलना कि 'जनता स्वाभाविक रूप से' सही होती है, उतना ही गलत है जितना एक नाविक के लिए यह कहना कि समुद्र मे ऐसी कोई ऊपर उठी हुई चट्टानें नहीं हैं जिनका मुझे डर है। जब नाविक यह कहता है तभी से वे चट्टानें उसके लिए एक घातक खतरा बन जाती हैं। उस नाविक के लिए उन चट्टानों से कोई खतरा नहीं रहता जो कहता है कि 'हाँ' चट्टाने हैं, मैंने उन्हे ऊपर अपने नक्शे में चिन्हित कर लिया है और मैं उनसे बचना भी जानता हूँ।' एन्जेल ने स्पष्ट शब्दों मे स्वीकार किया है कि प्रजातन्त्र का कोई विकल्प नहीं है ; निरंकुश शासन, कुलीनतन्त्र अधिनायकतन्त्र इन सबमें वही दोष हैं जो प्रजातन्त्र मे हैं।

१. Dictatorship and Democracy in Latin America, *Foreign Affairs*, Vol. III (April, 1925), p. 474.

जाय जो शताब्दियो से स्वेच्छाचारी एकतन्त्रो द्वारा शासित रहे हैं तो यह कृत्रिम सृष्टि होगी और उसकी जड शनैः शनैः और कठिनाई से जम सकेगी।[1]

हाल मे चीन, फारस और टर्की मे कुछ प्रजातन्त्रात्मक संस्थाओ की विशेषत उत्तरदायी संसद शासन-प्रणाली की स्थापना के लिए प्रयत्न किये गये हैं।[2] परन्तु इसका अर्थ है—ऐसे देश मे एक विदेशी प्रणाली की स्थापना जहाँ इसके लिए राजनीतिक शिक्षण तथा स्वशासन के अभ्यास द्वारा किसी प्रकार की तैयारी नही की गयी है। यह अभी देखना है कि इन प्रयोगो के परिणाम उन लोगो की आशा के अनुकूल सिद्ध होगे या नहीं जिन्होने ये प्रयोग किये हैं। हाल मे पूर्वी तथा दक्षिण-पूर्वी योरोप के अनेक राज्यो मे प्रजातन्त्रात्मक शासनो की स्थापना की गयी है। किन्तु वहाँ भी पहले से भूमि तैयार नहीं थी और जनता मे प्रजातन्त्र के लिए आवश्यक गुणो का अभाव है। कुछ समय के लिए वहाँ अवश्य ही इस शासन के सचालन मे अनेक कठिनाइयाँ होगी और शायद वह असफल भी हो, किन्तु यह असफलता अस्थायी भी हो सकती है।

प्रजातन्त्र पर अतिशय भार

एक बात जिसे कुछ लेखक प्रजातन्त्रो का खतरा नहीं तो दोष अवश्य मानते हैं, उनका अतिशयता का मार्ग है। वे निर्वाचकों पर इतने कार्यो का भार डालते है जिन्हें वे उनकी प्रकृति तथा विविधता के कारण सफलतापूर्वक नही कर सकते। प्रेसीडेण्ट लॉवेल ने कहा था कि प्रजातन्त्र मे एक कठिनाई यह है कि वह बहुत अधिक करना चाहता है। यह समालोचना सर्वथा उचित है, विशेषतया जहाँ तक इसका संयुक्त राज्य अमेरिका मे प्रजातन्त्र के प्रयोग से सम्बन्ध है।

जो विद्वान् प्रजातन्त्र की इस प्रकार आलोचना करते हैं, वे कहते हैं कि जनमत-संग्रह और जनता द्वारा कानून-निर्माण तथा अति-प्रजातन्त्रीय उपायो का प्रयोग जिनके द्वारा निर्वाचको पर ऐसे निर्णयों एवं उत्तरदायित्वो का भार डाला गया है, जिनको उनके प्रतिनिधि बडी अच्छी तरह कर सकते हैं, वास्तव मे सच्चे प्रजातन्त्र को विकृति है और ऐसा करना सच्चे प्रजातन्त्र के स्थान पर एक मिथ्या प्रजातन्त्र की प्रतिष्ठा करना है। इस समालोचना मे सत्य की मात्रा उस सीमा पर निर्भर है जिस तक पूर्णतः स्वस्थ प्रजातान्त्रिक सिद्धान्त को व्यवहार मे लागू किया जाता है, प्रजातन्त्र की ये रीतियाँ (Devices) सम्यक् रीति से प्रयोग मे लायी जाती हैं या उनसे अधिक काम लिया जाता है ?ज हाँ, जैसा कुछ अमेरिकन राज्यो मे प्रत्यक्ष देखने मे आया

---

१. तुलना कीजिए, Bryce, Modern Democracies, Vol. II, Ch. 71.

२. ब्राइस ने कहा है कि फारस तथा मेक्सिको मे प्रजातन्त्र का भविष्य अधकारमय है और चीन के लिए, जहाँ जनता सदा से ही एक पूज्य निरकुश शासक की आज्ञा का पालन करती रही है, उसकी पूजा करती रही है, गणतन्त्र की अपेक्षा एकतन्त्र ही अधिक उपयुक्त है। 'आप सरकती हुई रेत पर कोई भवन खडा नहीं कर सकते और न किसी देश मे एकदम कोई ऐसी संस्था स्थापित कर सकते हैं जिसे दू[illegible] देश शताब्दियो की शिक्षा और घोर परिश्रम एव संघर्ष के बाद स्थापित [illegible] में है। ऐसे मनुष्यो को स्वशासन का काम सौंपना, जो उनके योग्य नहीं [illegible] और [illegible] है, जैसा अटलाटिक सागर के कोहरों तथा हिम-खण्डो के बीच एक [illegible]यिक जहाज के चालन के कार्य को केबिन के किसी लडके को सौंप देना या बच्चे को मोटर चलाने को कहना। Modern Democracies, Vol. II, pp 502, 511, 516.

है, एक ही निर्वाचन मे निर्वाचकों को प्राय: ५०० कानून सम्बन्धी प्रस्तावों पर अपना मत देना होता है, वहाँ जनमत-संग्रह का मर्यादित प्रयोग करने वाले अनुभव करते हैं कि ऐसा करना प्रजातन्त्र का अनुचित सीमा तक विस्तार करना है।

अमेरिकन प्रजातन्त्र की एक आलोचना, जिसके समर्थक अनेक हैं, यह है कि इसमें जनता अपने मतदान द्वारा प्रशासनीय अधिकारियों तथा प्रौद्योगिक कर्मचारियों (Technical Functionaries), यहाँ तक कि न्यायाधीशों तक की नियुक्ति करती है और ये नियुक्तियाँ सामान्यतया अल्प काल के लिए होती हैं। इसका अर्थ है—केवल भ्रान्तिजनक और अत्यन्त लम्बे मत-पत्र ही नहीं, वरन् बारम्बार होने वाले अनेक चुनाव जिससे नागरिकों पर ऐसा बोझ आ पड़ता है जिससे योरोप के प्रजातन्त्रीय देशों की जनता अपरिचित है। अमेरिकन प्रजातन्त्र इन बातों मे दूसरे प्रजातन्त्रों से, यहाँ तक कि स्विट्जरलैण्ड की प्रजातन्त्र-प्रणाली से भी भिन्न है, जो प्रजातन्त्र-प्रणाली का प्राचीन घर समझा जाता है। योरोप के अत्यन्त प्रजातान्त्रिक राज्यों मे अर्थात् इगलैण्ड, फ्रान्स तथा स्विट्जरलैण्ड मे केवल व्यवस्थापिका-परिषदों तथा स्थानीय संस्थाओं के सदस्यों का ही चुनाव किया जाता है, शासन के कर्मचारियों तथा न्यायाधीशों का चुनाव इन देशों मे प्राय: कभी नहीं किया जाता। सिद्धान्ततः कनाडा मे भी ऐसा ही होता है, जहाँ न्यायाधीश, सरकारी वकील, शेरिफ और क्लर्क आदि की नियुक्ति की जाती है, निर्वाचन नहीं। इस मान्यता का कोई औचित्य सिद्ध नहीं हो सका है कि लोक-निर्वाचन उत्तरदायित्व की आवश्यक शर्त है।[1] इसके विपरीत इससे शासन के कर्मचारियों तथा न्यायाधीशों का निर्वाचन राजनीतिक दलों के संचालकों (Bosses) तथा दलों की मशीन के हाथों में पहुँच गया है और कुछ लेखकों के अनुसार इसके फलस्वरूप लोकप्रिय शासनों की नहीं, अलोकप्रिय शासनों (Unpopular Governments) की प्रतिष्ठा हुई है।[2] सच्चे प्रजातन्त्र मे व्यवस्थापिका-परिषदों तथा कार्यपालिका के ऐसे अधिकारियों (Executive Officers) का ही निर्वाचन होता है, जिनका कर्त्तव्य उच्च नीति के प्रश्नों का निर्णय करना है; दूसरे कर्मचारियों का निर्वाचन इसके लिए आवश्यक नहीं है।[3]

प्रथम विश्व-युद्ध के पश्चात् वैदेशिक मामलों पर लोक-नियन्त्रण के लिए किये जाने वाला आन्दोलन एक नये क्षेत्र में प्रजातन्त्र के विस्तार के लिए सबसे अन्तिम तथा चरम सीमा तक पहुँचने वाली माँग करता है। यदि ऐसा विस्तार किया गया तो प्रजातन्त्र का कार्य और बढ़ जायगा और उसे कार्यान्वित करने मे उस पर और भी अधिक भार बढ़ जायगा। जनता राजकीय पदों के लिए उम्मेदवारों के चरित्र एवं

१. देखिये, Sidgwick, The Democratic Mistake, Ch. 2.
२. Kales, Unpopular Government in the United States, Willoughby and Rogers, Introduction to Problem of Government.
३. तुलना कीजिये, Ford, 'Too Much Election' (Representative Government, Ch. 9)। लेखक ने कहा है कि 'प्रातिनिधिक शासन की यह आवश्यक शर्त है कि निर्वाचन केवल प्रतिनिधियों के चुनाव तक ही सीमित रहे; इस सिद्धान्त का अतिक्रमण करना प्रातिनिधिक शासन को निर्बल करना है और यदि प्रशासनीय कर्मचारियों के निर्वाचन की प्रथा सामान्य हो जाती है तो प्रातिनिधिक शासन का रूप भले ही बना रहे, वस्तुतः वह नष्ट हो जाता है (पृष्ठ १५३)।

उनकी पात्रता के सम्बन्ध मे विवेकपूर्ण निर्णय देने मे चाहे कितनी ही कुशल हो, जिन लोगों मे देश की वैदेशिक नीति के प्रश्नो पर अपना मत देने की योग्यता होती है, ऐसे लोगो की संख्या अत्यन्त सभ्य देशो मे भी बहुत छोटी होती है। विशेषत: संयुक्त राज्य अमेरिका मे, वैदेशिक मामलो के प्रति जनता मे रुचि का अभाव और फलत: जनता मे अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नो के सम्बन्ध मे अज्ञान की अनेक बार आलोचना की गयी है।[1] इन परिस्थितियो मे, वैदेशिक नीति पर लोक-नियन्त्रण से, यदि इसमे सन्धियो पर जनमत तथा राजनीतिक आन्दोलनो मे वैदेशिक नीति के सवालों पर जनता का निर्णय सम्मिलित है, अत्यन्त भयंकर परिणाम निकलेंगे। एलिहू रूट ने ठीक ही कहा है कि यदि वैदेशिक नीति का लोक-नियन्त्रण कभी व्यावहारिक हो सकता है तो जनता को शिक्षा तथा विशेष रुचि द्वारा उसके लिए योग्यता प्राप्त करनी चाहिए वरना वह उन राजदूतों की अपेक्षा अधिक गडबड करेगी जिनकी कथित अयोग्यता तथा दोषों के विरुद्ध यह माँग की जाती है।[2]

मुख्य पाठ्य-ग्रन्थ

Angell,	"The Public Mind" (1927), Ch. 1.
Bonn,	"The Crisis of European Democracy" (1925), Ch. 6.
Bryce,	"Modern Democracies" (1921), Vol. I, Ch 8 ; Vol. II, Chs. 45, 73-75, 78.
Dicey,	"Law and Opinion in England" (1915), Lecture III.
Farrer,	"The Monarchy in Politics" (1917), concluding chapter.
Finer,	"*The Theory and Practice of Modern Government*" (1932), Vol I, Ch. 5 and Vol. II, Ch. 22.

---

१ प्रथम विश्व-युद्ध के बाद से अमेरिका मे अन्तर्राष्ट्रीय मामलो मे जनता की रुचि काफी बढ़ी है और जिन लोगो को इन बातों का अच्छा ज्ञान है, उनकी संख्या अधिक हो गयी है, यद्यपि सारी जनता को देखते हुए वे थोड़े से ही हैं।

२. बार्थेलेमी ने भी विदेशी नीति के नियन्त्रण के सम्बन्ध मे जनता की अयोग्यता पर जोर दिया है। यह अयोग्यता इस कारण है कि विदेशी नीति सम्बन्धी प्रश्नो के ज्ञान का उसमे अभाव है और ऐसे मामलो मे लोगो की रुचि भी नहीं है। उसने कहा है कि फ्रान्स के सन् १७६३ के सविधान के निर्माताओ ने भी, जिन्होंने प्रजातन्त्र के चरम रूप को फ्रान्स में प्रतिष्ठित किया था, सन्धियो के लिए जनता की स्वीकृति की व्यवस्था नहीं की। आज ऐसा कोई व्यक्ति नही मिलेगा जो इस बात पर जोर देता हो कि सभी कानूनो एवं नीतियो, उदाहरणार्थ बजट पर जनमत प्राप्त करना चाहिए।

किन्तु स्विट्जरलैण्ड ने विदेशी मामलो के लोक-नियन्त्रण की ओर कदम उठाया है। अभी हाल ही मे वहाँ के सविधान मे एक सशोधन हुआ है जिसके अनुसार यदि ३०,००० नागरिक या ८ केन्टन उसके लिए प्रार्थना करें तो अनिश्चित अवधि या १५ वर्ष से अधिक अवधि के लिए की हुई सन्धि पर जनमत लेना पड़ता है। इस संशोधन के अनुसार फ्रान्स तथा स्विट्जरलैण्ड के बीच ७ अगस्त सन् १६२१ को की गयी सन्धि पर जनमत लिया गया था और वह अस्वीकृत कर दी गयी थी। स्विट्जरलैण्ड के राष्ट्र-सघ मे शामिल होने के प्रश्न पर भी जनमत द्वारा निर्णय हुआ था।

Fisher,	"The Republican Tradition in Europe" (1911), Ch. 13.
Follett,	"The New State" (1918), Chs. 16-21.
Giddings,	"Democracy and Empire" (1900), Chs 12, 14, 16.
Hall,	"Popular Government" (1927), Chs 1, 3.
Holcombe,	"The Foundations of the Modern Commonwealth" (1923), Ch 1.
Kales,	"Unpopular Government in the United States" (1914), Chs. 1-2.
Lecky,	"Democracy and Liberty," Vol. 1, Chs. 1, 4.
Lowell,	Public Opinion and Popular Government" (1913), Ch. 10, also "Essays on Government" (1889), Ch. 2.
Ludovici,	"A Defence of Aristocracy" (1915), Chs. 1, 6-8.
Maine,	"Popular Government" (1886), Essays I-II.
Mallock,	"The Limits of Pure Democracy" (3rd ed., 1819), Chs. 1, 2, 3.
Marriott,	"The Mechanism of the Modern State" (1927), Vol. II, Chs. 24-26.
Mencken,	"Notes on Democracy" (1922).
Mill,	"Considerations on Representative Government" (1861), Chs. 2-4.
Penman,	"The Irresistible Movement of Democracy" (1923), Ch. 10.
Sidgwick,	"The Democratic Mistake" (1914), Chs. 2-3.
Treitschke,	"Politics," Vol. II, Chs. 15, 20.
Weyl,	"The New Democracy" (1914), Ch. 20.
Willey,	"Some Recent Critics and Exponents of the Theory of Democracy" in Merriam, Barnes and others, "Political Theories. Recent Times" (1924), Ch. 2.

विविध शासन-पद्धतियों के गुण-दोष (क्रमशः)

(४) एकात्मक और केन्द्रीय शासन

एकात्मक तथा केन्द्रीय शासन की व्यवस्था

गत अध्याय में हम बतला चुके हैं कि एकात्मक शासन-प्रणाली के अन्तर्गत राज्य की सर्वोच्च शासन-सत्ता उसके किसी एक या कुछ अंगों में केन्द्रित होती है जिसकी प्रतिष्ठा एक सामान्य केन्द्र में होती है जहाँ से वह शासन-सचालन का कार्य सम्पादन करती है। इसी कारण कभी-कभी उसे केन्द्रीय शासन (Centralized Government) *भी कहते हैं, यद्यपि एकात्मक शासन तथा केन्द्रित शासन आवश्यक रूप से समान नहीं हैं।* एक प्रकार से, समस्त ऐसी सरकारें, जो संघीय नहीं हैं, इस *श्रेणी के अन्तर्गत आ जाती हैं, परन्तु संघ-शासन भी केन्द्रित होता है,* क्योंकि उसमें केन्द्रीय शासन उन समस्त सार्वदेशिक विषयों के सम्बन्ध में कानून बनाता है और *उनके प्रशासन की व्यवस्था करता है जो केन्द्रीय शासन को सौंप दिये गये हैं।*

एकात्मक शासन और संघीय शासन में जो भेद है, वह यह है कि एकात्मक शासन-प्रणाली में शासन तथा प्रशासन सम्बन्धी समस्त मामलों में अन्तिम सत्ता और नियन्त्रण केन्द्रीय शासन के हाथ में होता है, परन्तु संघीय शासन में यह अन्तिम शासन-सत्ता एवं नियन्त्रण केन्द्रीय एवं स्थानिक शासनों में विभाजित होती है। इस प्रकार एकात्मक शासन का सार है—उसमें स्थानीय स्वशासन का अभाव। उसमें भी स्थानीय स्व-शासन होता है परन्तु उतना ही जितना केन्द्रीय शासन प्रदान करता है और उसमें भी वह कमीवेशी कर सकता है।

अकेन्द्रीकरण (Deconcentration) और विकेन्द्रीकरण (Decentralisation)

जैसा ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, एकात्मक शासन, अधिकांश में केन्द्रित होते हुए भी, आवश्यक रूप से केन्द्रित शासन नहीं होता। उदाहरणार्थ, फ्रान्स में, जहाँ शासन-प्रणाली इस अर्थ में एकात्मक है कि राज्य की अन्तिम शासन-सत्ता पेरिस में स्थित केन्द्रीय सरकार में ही केन्द्रित है और वहीं से उसका प्रसार होता है, उसका प्रभाव अकेन्द्रीकरण और कुछ सीमा तक विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया के फल-स्वरूप कम हो गया है। अकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया से अनेक मामलों का वास्तविक प्रशासन केन्द्रीय सरकार ने स्थानिक शासनों (डिपार्टमेन्ट, एरॉण्डिजमेन्ट तथा कम्यून) में कार्य करने वाले अपने प्रतिनिधियों और एजेण्टों (प्रिफेक्ट, सब-प्रिफेक्ट, मेयर, *पुलिस-कमिश्नर आदि) को सौंप दिया है।* इसका प्रभाव यह हुआ है कि पेरिस में जो कार्याधिक्य हो गया था, वह कम हो गया और समस्त स्थानीय क्षेत्रों में प्रशासन-व्यवस्था सरल हो गयी। परन्तु ऐसे समस्त अधिकारी तथा एजेण्ट (मेयर को छोड़)

पेरिस को केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त किये जाते हैं और उन पर (केन्द्रीय शासन के एजेण्ट की हैसियत से काम करने के समय मेयर पर भी) केन्द्रीय सरकार का ही निर्देशन तथा नियन्त्रण होता है। इस सीमा तक फ्रान्स का शासन केन्द्रित है। विकेन्द्रीकरण (Decentralization) की प्रक्रिया द्वारा एक सीमित मात्रा मे स्वशासन की स्थापना हो गयी है। पार्लमिण्ट के कानून द्वारा प्रान्तों, जिलों तथा नगरों (डिपार्टमेन्टों, एरॉन्डिजमेन्टों तथा कम्यूनों) मे लोक-निर्वाचित स्थानिक समितियाँ स्थापित हो गयी हैं और उनमें प्रत्येक कम्यूनल समिति (Council) अपना एक मेयर चुनती है। इसमे सन्देह नही कि स्थानीय सरकारों के अधिकार अधिक सीमित हैं और उन पर बडी मात्रा मे केन्द्रीय प्रशासनीय नियन्त्रण भी है। फ्रान्स की पार्लमेण्ट, जो कुछ स्थानीय स्वराज्य प्रान्तो को मिला है, उसे सीमित कर सकती है अथवा उसे वापस भी ले सकती है। इस प्रकार फ्रांस का शासन जहाँ तक व्यवस्थापन तथा प्रशासन-सत्ता के अन्तिम स्रोत से सम्बन्ध है, पूर्णरूपेण और जहाँ तक वास्तविक प्रशासन से सम्बन्ध है वहाँ तक काफी मात्रा मे केन्द्रित है। योरोप के अन्य शासन भी जो संघीय नही हैं, विभिन्न मात्राओं म इसी प्रकार के हैं।[१]

एकात्मक शासन के गुण

एकात्मक शासन मे जो इतना प्रचलित है, कम से कम उन लोगो की दृष्टि मे जिन्होंने उसे अपने देश मे स्थापित किया है और जो उसके अधीन रहने मे सुख अनुभव करते हैं, अवश्य ही ऐसे गुण होने चाहिए जो संघ-शासन से कही अधिक श्रेष्ठ हैं। ये गुण मुख्यकर समस्त देश मे कानून, नीति तथा प्रशासन की एकरूपता और केन्द्रित शासन की सहज आन्तरिक तथा बाह्य शक्ति के परिणामस्वरूप हैं। एकात्मक शासन-प्रणाली मे स्वाभाविक रूप से भी शक्ति का संचार होता है। जिन देशो मे व्यवस्था तथा प्रशासन सम्बन्धी सत्ताओं का केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों के मध्य विभाजन कर दिया जाता है और जहाँ स्थानीय सरकारें वैधानिक दृष्टि से अपने क्षेत्रों मे सर्वोच्च होती है और उन पर केन्द्रीय नियन्त्रण कम अथवा सर्वथा नही होता, वहाँ स्वभावतः राष्ट्रीय सत्ता कुछ दुर्बल हो जाती है; देश के विविध भागों मे कानून तथा नीति मे विभिन्नता होती है और कभी-कभी कानून को कार्यान्वित करने मे (स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार विभिन्न मात्राओं मे) क्षमता का अभाव या न्यूनता देख पडती है और शायद स्थानीय शासन अत्यन्त खर्चीले तथा फिजूलखर्च भी होते हैं। वैदेशिक नीति तथा देश-रक्षा के क्षेत्र मे केन्द्रित शासन प्रत्यक्षतः शक्तिशाली होता है। एकात्मक शासन अपने संगठन मे बड़ा सरल और संघीय शासन की अपेक्षा कम खर्चीला भी होता है, क्योंकि उसमे केन्द्रीय तथा स्थानीय अधिकारी तथा सेवाएँ दोहरी नही होती।[२]

---

१. इंगलैण्ड मे भी इन प्रक्रियाओं के द्वारा केन्द्रित शासन का प्रभाव कम कर दिया गया है। इस प्रक्रिया को 'समर्पण' (Devolution) की प्रक्रिया द्वारा अर्थात् इंगलैण्ड, स्कॉटलैण्ड तथा वेल्स के लिए गौण व्यवस्थापिका-सभाओं का निर्माण करके और भी अधिक विस्तार करने की माँग की जा रही है। इस विषय पर देखिये, Chiao, Devolution in Great Britain (1926).

२. यह बात जर्मनी तथा ऑस्ट्रिया के संघों को लागू नही होती, जहाँ राष्ट्रीय कानूनो पर अमल कराने का भार स्थानीय शासनो का होता है और इस प्रकार दोहरी सेवाएँ बहुत कम होती हैं।

इस प्रणाली के दोष—फ्रान्स का उदाहरण

इस प्रणाली के विरुद्ध एक स्पष्ट आक्षेप तो यह है कि इसमें स्थानीय स्वशासन का अधिकार नहीं होता और ऐसे कार्यों का नियमन तथा ऐसे प्रश्नों का निर्णय, जिनका सम्बन्ध स्थानिक जनता से ही होता है, ऐसे दूरस्थ अधिकारियों को सौंप दिया जाता है जिन्हें उन मामलों में कोई रुचि नहीं होती। इस प्रणाली का प्रभाव फ्रांस में स्पष्टरूप से देख पड़ता है, जहाँ पेरिस में स्थित राष्ट्रीय पार्लमेण्ट स्थानीय मामलों के लिए भी कानून बनाती है और जहाँ केन्द्रीय शासनाधिकारियों का स्थानीय अधिकारियों एवं स्थानीय समितियों पर व्यापक नियन्त्रण है। इस प्रकार राष्ट्रीय पार्लमेण्ट तथा केन्द्रीय शासन पर जो भार आ पड़ता है, उसके कारण स्थानीय अधिकारियों के आदेश प्राप्त करने में असाधारण विलम्ब लगता है और इस अवधि में स्थानिक हितों को क्षति पहुँचती है। पार्लमेण्ट पर राष्ट्रीय तथा स्थानीय कानूनों के निर्माण का अत्यधिक भार तो होता ही है, उसे उन स्थानीय स्थितियों तथा आवश्यकताओं का पर्याप्त एवं आवश्यक ज्ञान भी नहीं होता, जिनके सम्बन्ध में कानून बनाने पड़ते हैं। यही हाल केन्द्रीय शासन के अधिकारियों का है इसका परिणाम यह होता है कि स्थानीय मामलों की व्यवस्था ऐसे अधिकारियों द्वारा होती है, जिन्हें उनके सम्बन्ध में बहुत कम ज्ञान होता है और स्थानीय अधिकारियों को, जो अपने ज्ञान तथा दिलचस्पी के कारण उन्हें अच्छी तरह कर सकते हैं, पेरिस से या डिपार्टमेण्ट के प्रिफेक्टों की आज्ञा प्राप्त किये बिना कार्य करने की सत्ता नहीं होती। बहुत-से फ्रेन्च लेखकों ने भी इस केन्द्रित शासन की निन्दा की है, जिसके अधीन वे रहते हैं। उसे वे एकतन्त्रात्मक (अधिकांश में यह नेपोलियन के समय से चला आ रहा है) तथा गणतन्त्र के सिद्धान्तों के विरुद्ध और इस कारण अनावश्यक (क्रान्ति के बाद कुछ समय के लिए वह आवश्यक भले ही रहा हो) तथा स्थानिक स्वतन्त्रता का विनाशक मानते हैं। समय-समय पर मन्त्रि-परिषदों ने भी वर्तमान प्रणाली में आमूल परिवर्तन करने की आवश्यकता तथा स्थानीय स्वशासन की अधिक विस्तृत प्रणाली की स्थापना की आवश्यकता का समर्थन किया है, परन्तु इस दिशा में अभी तक कुछ भी नहीं हो सका है और फ्रेन्च जनता आज भी उसी शासन के अधीन है, जिसे सन् १८०० में नेपोलियन ने स्थापित किया था।[1]

जहाँ कहीं भी एकात्मक शासन प्रतिष्ठित है, उसकी आलोचना यह कह कर की जाती है कि जिसके कारण स्थानीय जनता में अपनी ओर से कार्य करने की शक्ति मन्द पड़ जाती है, उसमें सार्वजनिक कार्यों के लिए प्रोत्साहन एवं प्रेरणा के स्थान में उत्साह भंग होता है, स्थानीय शासन की शक्ति दुर्बल होती है और केन्द्रित नौकरशाही का विकास होता है। एकात्मक शासन एक छोटे तथा ऐसे देश के लिए उपयुक्त होता है, जिनमें जनता समान जाति की होती है और विशेषतः ऐसी जनता जिसमें स्थानीय स्वशासन की आदतों तथा उसके लिए क्षमता का अधिक मात्रा में विकास न हुआ हो, परन्तु यह प्रणाली ऐसे सुविशाल देश के लिए उपयुक्त नहीं है जहाँ स्थानीय अवस्थाओं की तथा अन्य प्रकार की अनेक विविधताएँ हों। जिस देश में जनता में

---

१. सन् १९१० के चुनाव में ५९७ में से ३४६ सदस्यों ने शासन-प्रणाली के सुधार का सकल्प ग्रहण किया था। फ्रान्स के एक प्रसिद्ध लेखक (Paul Deschand) ने अपनी अनेक पुस्तकों में लिखा है कि फ्रान्स में वर्तमान् केन्द्रित शासन-प्रणाली के अस्तित्व के कारण प्रजातन्त्र नहीं, वरन् नौकरशाही (Bureaucracy) है।

स्थानीय स्वशासन के लिए अनुराग तथा जिसमें स्थानीय स्वतन्त्रता के लिए प्रेम है, वहाँ ऐसी शासन-प्रणाली असहनीय होती है और अधिक टिकाऊ नहीं होती।

(५) संघीय शासन

संघीय शासन के लक्षण

संघीय (Federal Government) शासन-प्रणाली एकात्मक प्रणाली के विपरीत है। उसकी लाक्षणिक विशिष्टता इस बात में है कि राज्य में नियमन, शासन एवं प्रबन्ध की सत्ता, केन्द्र या राजधानी में स्थित केन्द्रीय अंगों में या उनके स्थानीय प्रतिनिधियों तथा एजेण्टों में निहित न होकर केन्द्रीय तथा संघ की विधायक इकाइयों (Units) के शासनों के बीच विभाजित एवं वितरित होती है। जैसा गत अध्याय में उल्लेख किया जा चुका है, संघ-शासन की केन्द्रीय सरकार तथा उसके विविध अंगों (Units) की सरकारों के बीच सत्ताओं का विभाजन एवं वितरण संघ के विधान या उस कानून द्वारा निश्चित किया जाता है, जिसके अनुसार संघ की स्थापना की जाती है। इस प्रकार संघ के अन्तर्गत विविध राज्यों को स्वराज्य (Autonomy) के जो अधिकार दिये जाते हैं या सुरक्षित रहते हैं, उनकी गारण्टी रहती है, केन्द्रीय सरकार उन्हें अपनी इच्छानुसार कम नहीं कर सकती और न उन्हें वापस ही ले सकती है। सामान्यतया वे वैयक्तिक राज्य अपने-अपने क्षेत्र में सर्वोच्च सत्ताधारी होते हैं और उनके आन्तरिक शासन-प्रबन्ध में उन पर केन्द्रीय सरकार का नियन्त्रण बहुत कम होता है या बिलकुल नहीं होता। अपने इस क्षेत्र में वे स्थानीय आवश्यकताओं एवं हितों के अनुरूप कानून बनाने तथा शासन-प्रबन्ध करने में स्वतन्त्र हैं। इस प्रकार संघीय-प्रणाली केन्द्रित एवं स्थानीय शासन का मिश्रण है। कानून तथा प्रशासन सम्बन्धी उन सब मामलों में जो केन्द्रीय सरकार को सौंप दिये गये हैं, वह केन्द्रित शासन है, अन्य सब मामलों में वह स्थानीय शासन है।

संघीय शासन के गुण

अन्य शासन-प्रणालियों की भाँति ही संघीय शासन में भी गुण-दोष हैं। उसके गुण वे ही हैं, जो एकात्मक शासन के दोष माने जाते हैं। सर्वप्रथम, अन्य प्रणालियों से अधिक इस प्रणाली द्वारा छोटे-छोटे राज्यों को ऐसा सुयोग मिलता है जिससे वे एक बलवान राज्य (Commonwealth) के रूप में संयुक्त हो सकते हैं और इस प्रकार उन्हें संयोग-जन्य आन्तरिक तथा वाह्य लाभ प्राप्त होते हैं। इसके साथ ही उन राज्यों का पृथक् अस्तित्व बना रहता है और अपने हित के मामलों का प्रबन्ध स्वयं करने का अधिकार भी नष्ट नहीं होता है। इस प्रकार इसमें राष्ट्रीय ऐक्य के साथ स्थानीय स्वशासन और स्वशासन के अधिकार के लाभ भी प्राप्त होते हैं। इस लाभ के बदले में सामान्य हितों के मामलों की व्यवस्था की अपनी सत्ता को केन्द्रीय सरकार को सौंप देने से जो क्षति उन राज्यों को होती है, उसे वे सहर्ष सहन कर लेते हैं। इसके द्वारा विविध प्रकार की प्रवृत्तियों वाले राज्यों की केन्द्राभिमुखी तथा केन्द्रोन्मुखी शक्तियों में समतुलन स्थापित हो जाता है। संघीय शासन-प्रणाली ही एकमात्र ऐसी प्रणाली है जिसमें, उन मामलों में जिनमें एकरूपता की आवश्यकता है, समस्त देश के लिए कानून, नीति तथा प्रशासन की एकरूपता प्राप्त की जा सकती है और साथ ही साथ जहाँ देश के विविध भागों की विविध परिस्थितियों के कारण विविधता वाञ्छनीय है, वहाँ विविधता भी सम्भव हो सकती है। इस शासन-प्रणाली के अन्तर्गत शासन तथा कानून के सम्बन्ध में अनेक प्रयोग एवं परीक्षण किये जा सकते हैं, जो एकात्मक शासन-

प्रणाली में सम्भव नहीं। अतः यह शासन-प्रणाली विशेषरूप से ऐसे देशों के लिए अधिक उपयुक्त है, जिनका क्षेत्रफल एवं विस्तार अधिक है तथा जिनमें विविध प्रकार की अवस्थाएं हैं। यह प्रणाली उन छोटे राज्यों के लिए भी उपयुक्त है जिनकी जनता में जाति, भूगोल तथा अन्य बातों की दृष्टि से अनेक भेद होते हैं और जो एक सामान्य शासन के अधीन उसी समय रह सकती है, जबकि उसे एक सीमा तक स्वशासन का अधिकार हो। राज्य के प्रत्येक विधायक अंग के लोगों को एक बड़ी मात्रा में स्थानीय स्वशासन का अधिकार मिल जाने से सार्वजनिक मामलों में उनकी अभिरुचि उत्तेजित होती है। वे अपनी नीतियों के निर्धारण तथा अपनी स्थानीय समस्याओं को हल करने में दूरस्थ अपर्याप्त ज्ञान वाले, कार्य-भार से अधिक दबे हुए अधिकारियों की अपेक्षा अधिक कार्य-क्षम और योग्य होते हैं। इस प्रकार कार्य-क्षमता (Competence) के विभाजन के फलस्वरूप केन्द्रीय कानून बनाने वाले तथा प्रशासनीय अधिकारी-वर्ग, उस कार्य-भार एवं कार्याधिक्य से मुक्त हो जाते हैं, जिससे वे एकात्मक शासन में त्रस्त रहते हैं। लॉर्ड ब्राइस ने इस बात की ओर भी संकेत किया है कि संघीय प्रणाली के अन्तर्गत स्वेच्छाचारी केन्द्रित शासन के, जो जनता के अधिकारों को कुचलने का प्रयास करता है, आविर्भाव की आशंका कम होती है।[1]

संघीय शासन-प्रणाली के लाभों पर मांतेस्क्यू से लेकर आधुनिक समय तक के लेखकों ने बार-बार जोर दिया है। जॉन फिस्के के मत में यही एकमात्र ऐसा शासन है जो आधुनिक विचारों के अनुकूल एक समस्त महाद्वीप में स्थायी रूप से स्थापित किया जा सकता है।[2] आंग्ल लेखक सिजविक ने यह भविष्यवाणी की थी कि हम इसका विस्तार पश्चिम योरोप में भी देखेंगे जहाँ अमेरिका के आदर्श का अनुसरण किया जायगा।[3] जर्मन लेखक फ्री ने, जिसने संघीय शासन-प्रणाली का विशद अध्ययन किया है, घोषणा की थी इसमें राज्य-भावना की उच्चतम सिद्धि प्राप्त होती है। वेस्टर कॅप ने इसका गुणगान करते हुए लिखा है कि संसार में इस प्रणाली का इतना विस्तार हो गया है कि आजकल योरोप के क्षेत्रफल से तिगुने भाग में यही शासन-प्रणाली मिलती है।

संघीय शासन के दोष

संघीय शासन-प्रणाली में अन्य प्रणालियों के समान ही दोष भी हैं। उनमें से कुछ दोष तो इस प्रणाली में स्वाभाविक ही हैं और कुछ दोष उन विशेष रूपों के कारण हैं, जो विविध राज्यों ने ग्रहण किये हैं। हाल में लेखकों में उसके दोषों की चर्चा अधिक और गुणों की चर्चा कम करने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है क्योंकि आधुनिक समाज की बढ़ती हुई पेचीदगियों के कारण उसके दोष अधिकता से दृष्टि-गत होने लगे हैं। एक लेखक ने हाल में लिखा है—"संघीय शासन में सुनिश्चित मर्यादाएँ और रचना सम्बन्धी गंभीर दोष हैं, जिन पर उसके जन्म के समय कोई ध्यान नहीं दिया गया, नवीन वातावरण के दबाव के कारण यह नष्ट हो सकता है। राजनीतिक दृष्टि से तथा बाह्य पक्ष में यह प्रणाली शक्तिशाली सिद्ध हो चुकी है; परन्तु

---

१. संघीय शासन के गुणों के सम्बन्ध में ब्राइस के मत के लिए उसकी पुस्तक American Commonwealth के अध्याय २६, ३० देखिये।

२. John Fiske, American Political Ideas, p. 92.

३. Sidgwick, Development of European Polity, p. 439.

आर्थिक दृष्टि से और अपने आन्तरिक पक्ष में यह शक्तिहीन सिद्ध हो रही है।[1]

सबसे प्रथम, वैदेशिक नीति के संचालन में संघीय शासन में ऐसी स्वाभाविक दुर्बलता है जो एकात्मक शासन में नहीं मिलती। संयुक्त राज्य अमेरिका का इस सम्बन्ध में अनुभव यह बतलाता है कि संघ के सदस्य-राज्य, दैहिक तथा सम्पत्ति सम्बन्धी अपने सुरक्षित अधिकारों के कारण, संयुक्त राज्य अमेरिका में रहने वाले विदेशियों के सम्बन्ध में की हुई संधियों के दायित्वों का पालन करने में राष्ट्रीय शासन को परेशान कर सकते हैं।[2]

आन्तरिक मामलों के सम्बन्ध में भी संघीय शासन ने अनेक दुर्बलताएँ दिखलाई हैं। इसका कारण यह है कि इसमें कानून-रचना तथा प्रशासन के सम्बन्ध में सत्ताओं का विभाजन समान पद वाले अधिकारियों के बीच होता है और सत्ता-विभाजन का सामान्यतया अर्थ है—दुर्बलता, उसके दूसरे लाभ चाहे जो भी हों। इसका अर्थ है—ऐसे मामलों में कानूनों की विविधता जिनके लिए देश के सामान्य हितों की दृष्टि से कानून की एकरूपता की आवश्यकता है। इस प्रकार संयुक्त राज्य अमेरिका में अपराध, विवाह, विवाह-विच्छेद, बीमा, हुण्डी, चेक, बैंक तथा अन्य मामलों में कानूनों की एकरूपता की जगह अनेक प्रकार के कानून होते हैं जिनमें से कोई-कोई तो परस्पर-विरोधी भी होते हैं, जबकि यह मान लिया गया है कि इनमें से कुछ मामलों में एकरूपता होने से लाभ ही रहेगा। वास्तव में पिछले कुछ वर्षों में इनमें से कुछ मामलों के सम्बन्ध में एकरूपता प्राप्त करने के लिए लगातार उद्योग किया गया है और उसमें काफी सफलता भी मिली है। यह कार्य समान राज्य-कानूनों के सम्बन्ध में राष्ट्रीय कमीशन (National Commission on Uniform State Laws) द्वारा सम्पन्न हुआ है, जिसने अनेक विषयों पर कानून के मसौदे बनाकर उन्हें अमेरिका (संयुक्त राज्य) के विविध राज्यों की व्यवस्थापिकाओं द्वारा स्वीकार कराया है। किसी कानून पर ४८ राज्यों की स्वीकृति प्राप्त करने की आवश्यकता होने के कारण यह कार्य कठिन है और मंद गति से ही हो सकता है। इसी कारण इसके परिणाम भी पूर्णरूपेण सन्तोषप्रद नहीं हैं। यह दोष संघीय शासन का स्वाभाविक दोष नहीं है वरन् संयुक्त राज्य अमेरिका में संघ तथा उसके अन्तर्गत राज्यों के बीच व्यवस्था-सम्बन्धी सत्ता का जिस प्रकार विभाजन हुआ है, उसके कारण है। अमेरिका के अतिरिक्त अन्य देशों में, जहाँ संघीय शासन स्थापित हैं, जैसे स्विट्जरलैण्ड, कनाडा, ब्राजील, आस्ट्रेलिया, जर्मनी तथा ऑस्ट्रिया में राष्ट्रीय धारासभा को ही अपराध, दंड-व्यवस्था, विवाह-विच्छेद, बीमा, चेक, बैंक, हुण्डी, पर्चा आदि के सम्बन्ध में, जर्मनी तथा ऑस्ट्रिया में तो अन्य विषयों पर भी, समस्त देश के लिए कानून बनाने का अधिकार है। इसका परिणाम यह है कि इन देशों में इन मामलों में कानूनों में एकरूपता है।[3]

---

1. Leacock, "*Limitations of Federal Government*", *Proceeding* of the American Political Science Association, Vol. V, p. 39
२. कैलीफोर्निया के राज्य में जापानी-विरोधी कानून के सम्बन्ध में संयुक्त राज्य तथा जापान के विवाद का हाल देखिये। Amer. Pol. Sci. Rev., Vol. I, p. 393 तथा Amer. Jour. of Int. Law, Vol. I, p. 273.
३. देखिए, Munro, The Constitution of Canada, Ch. I, p. 297; James, The Constitutional System of Brazil, pp. 21 ff; Brooks,

अमेरिका में व्यवस्था सम्बन्धी सत्ता के इस अतिशय पुरातन विभाजन से जो स्थिति पैदा हो गई है, उसकी पिछले वर्षों में काफी चर्चा हुई है और उसके दोषों के निराकरण के लिए विविध राज्यों की व्यवस्थापिकाओं से समान कानूनों की स्वीकृति प्राप्त करने का उपाय ही नहीं किया जा रहा है वरन् वैधानिक व्याख्या की प्रक्रिया द्वारा राष्ट्रीय शासन की सत्ता के विस्तार के लिए भी प्रयत्न हो रहे है।[१] ब्रिटिश राष्ट्र-मण्डल के अन्तर्गत स्वराज्य-भोगी उपनिवेशों (डॉमिनियनों) में, जहाँ संघीय शासन-प्रणाली की प्रतिष्ठा हुई है, केन्द्रीय शासन के अधिकारों का विस्तार तथा प्रान्तीय या सदस्य-राज्यों के अधिकारों में न्यूनता करने के लिए सतत् प्रयत्न जारी है। कुछ लेखकों ने इस प्रवृत्ति को इस बात का प्रमाण माना है कि संघीय शासन-प्रणाली का वह रूप जिसमें केन्द्रीय तथा सदस्य-राज्यों के शासनों की सत्ताओं का विशेष रूप में स्पष्ट निर्धारण किया जाता है, दोषपूर्ण है, क्योंकि इस प्रकार एक बार जो सत्ता-विभाजन कर दिया जाता है, वह आगे चलकर परिवर्तित अवस्थाओं के अनुकूल नहीं रहता और इस कारण उसमें वैधानिक संशोधन द्वारा अथवा व्याख्या द्वारा परिवर्तन करना पड़ता है।[२]

संघीय शासन की अन्य दुर्बलताएँ हैं—उसकी पेचीदगी, राष्ट्रीय तथा राज्यों की अधिकार सीमा के सम्बन्ध में दोनों प्रकार के शासनों में संघर्ष, शासन-यन्त्र तथा

Government and Politics of Switzerland, p 61 ; Brunet, The New German Constitution, pp. 61 ff, Foley, The Federal System of the United States and the British Empire, p. 330 ; Goodnow, Principles of Constitutional Government, p. 67

१. इस प्रवृत्ति के कई समर्थक हैं, यथा Root, How to Preserve the Local Self-Government of the States (Addresses on Government and Citizenship) ; Ford, The Influence of State Politics in Expanding Federal Power, *Procs. Amer. Pol Sci. Assoc.*, Vol. II, p 53 ; Croly, The Promise of American Life, Ch. 14.

परन्तु इसका Pierce (Federal Usurpation, 1908) तथा West (Federal Power, 1919) ने विरोध भी किया है।

विधान के १४वें संशोधन के फलस्वरूप राज्यों पर राष्ट्रीय शासन का नियन्त्रण काफी बढ़ गया है। देखिए, Moore, Increased Control of State Activities by The Federal Courts. *Procs. Amer. Pol. Sci. Assoc*, Vol. V, pp. 64 ff और इसी विषय पर Scott Ibid., Vol. II, pp. 346 ff राष्ट्रीय शासन ने अपनी पुलिस-शक्ति के प्रयोग द्वारा जो अभी तक प्रसुप्त दशा में थी, *Minn. Law Rev.*, 1919-20 में Cushman के लेख देखिये) तथा कुछ शर्तें लगा कर राज्यों को आर्थिक सहायता देना आरम्भ करके भी राज्यों पर अपना नियन्त्रण बढ़ा लिया है। देखिए, Douglas, A System of Federal Grants in Aid, *Pol. Sci. Quar*, June and Dec, 1920).

२. तुलना कीजिए, Goodnow, Principles of Constitutional Government, p. 78.

सेवाओं का द्विगुणीकरण तथा परिणामस्वरूप परिवर्द्धित व्यय और राज्यों की सीमाओं के जाल के कारण न्याय की व्यवस्था की कठिनाइयाँ।[1]

(६) मन्त्रि-परिषद्-शासन

मन्त्रि-परिषद्-शासन के गुण—(१) व्यवस्थापक तथा कार्यपालक विभागों में सहयोग

मन्त्रि-परिषद्-शासन (Cabinet Government) के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि (अस्वीकृत निरंकुश शासन को छोड़ कर) यही एकमात्र ऐसी प्रणाली है जिसके द्वारा राज्य के व्यवस्थापक (Legislative) तथा कार्यपालक (Executive) विभागों के बीच सामञ्जस्यपूर्ण सहयोग सुनिश्चित हो सकता है। जैसा गत अध्याय में बतलाया जा चुका है, इसकी मुख्य विशेषता, जो इसको राष्ट्रपति-शासन-प्रणाली से भिन्नता प्रकट करती है व्यवस्थापक तथा कार्यपालक अंगों का संयोग है। मन्त्रि-परिषद्, जो वास्तविक कार्यपालिका संस्था है, वास्तव में व्यवस्थापिका-सभा की एक समिति ही है। उसके सदस्य साधारणतया व्यवस्थापिका-सभा के सदस्य भी होते हैं, जब कभी वे उसके सदस्य नहीं होते तो उन्हें उसमें या उसके किसी गृह में स्थान दिया जाता है जिससे वे राजकीय नीतियों एवं कार्यों के सम्बन्ध में प्रश्नों का उत्तर दे सकें और उनके सम्बन्ध में भाषण भी दे सकें। वे स्वयं जिन कानूनों का निर्माण करवाना चाहते हैं, उनके विधेयक व्यवस्थापिका-सभा में प्रस्तुत कर सकते हैं तथा अपने विभाग के संचालन के लिए आर्थिक सहायता के सम्बन्ध में माँग भी प्रस्तुत कर सकते हैं। जब उनके द्वारा प्रस्तुत विधेयक कानून का रूप धारण कर लेते हैं, तब मन्त्रि-परिषद् का कर्तव्य उन्हें कार्यान्वित करना ही जाता है। जब कानून द्वारा किसी सेवा (Service) की व्यवस्था की जाती है, तब मन्त्रि-परिषद् का कर्तव्य है कि उसके समुचित संगठन का प्रयत्न करे और जब व्यवस्थापिका-सभा उनके द्वारा माँगी हुई धनराशि स्वीकार कर लेती है, तब मन्त्रि-परिषद् का कर्तव्य उस धन को उन्हीं कार्यों में जिसके लिए वह स्वीकृत हुई है, समुचित रीति से व्यय करना होता है। आदि से अन्त तक एक ओर कानून निर्माण करने वाले तथा आर्थिक खर्च को स्वीकृति देने वाले अधिकारियों तथा दूसरी ओर

---

१. इस पक्ष के लिए देखिए, Willoughby and Rogers, Introduction to the Problem of Government, pp. 481-82. संघीय प्रणाली के विषय में डी टॉकविल ने लिखा है, 'यह प्रणाली मनुष्य की समृद्धि तथा स्वतन्त्रता के लिए बहुत ही अनुकूल है। जिन राष्ट्रों ने इसे स्वीकार किया है, उन पर मुझे ईर्ष्या होती है।' परन्तु इसके साथ ही उसने यह शंका भी प्रकट की है कि ऐसा राज्य समान शक्ति वाले एकात्मक राज्य का अधिक दिनों तक मुकाबला शायद ही कर सकता है (Democracy in America, Vol. I, p. 183)। लार्ड ब्राइस ने संघ-शासन (Federal Government) के निम्नलिखित दोष बतलाये हैं : (१) वैदेशिक नीति के संचालन में दुर्बलता; (२) आन्तरिक शासन की दुर्बलता अर्थात् विधायक राज्यों तथा नागरिकों पर संघ-शासन के अधिकार में न्यूनता; (३) सदस्य-राज्यों के विद्रोह या अलग हो जाने के कारण संघ-शासन के भंग का डर तथा, (४) विभिन्न विधायक राज्यों की गुटबन्दियों के संघ के विभाजन का भय (The American Commonwealth, Ch. 29.).

कानून को कार्यान्वित करने वाले तथा व्यय करने वाले अधिकारियों में पूर्ण एवं सामंजस्ययुक्त सहयोग रहता है। यह बात इसलिए सम्भव है कि मन्त्रि-परिषद् में व्यवस्थापक-मण्डल (Legislative) के या लोकप्रिय सभा-गृह (Popular Chamber) के बहुमत के प्रतिनिधि ही होते हैं, जिसके प्रति वह उत्तरदायी होती है। इसके फलस्वरूप इन दोनों अधिकारियों में कोई मतभेद नहीं होता और न दोनों अंगों के बीच किसी प्रकार का गत्यवरोध ही होता है जैसा उन देशों में प्रायः होता है, जिनमें राष्ट्रपति-शासन-प्रणाली होती है। अन्ततः यह उद्देश्य की एकता, राज्य के दो प्रमुख विभागों, व्यवस्थापक एवं कार्यपालक का, जिनका सामंजस्यपूर्ण सहयोग इतना आवश्यक है, यह घनिष्ठ और सीधा सम्बन्ध मन्त्रि-परिषद्-शासन का प्रमुख गुण है। दूसरी किसी भी शासन-प्रणाली में शासन का कार्य इतनी तत्परता, शीघ्रता तथा कुशलता के साथ नहीं हो सकता।

(२) उत्तरदायित्व

दूसरे, मन्त्रि-परिषद्-प्रणाली ही एकमात्र ऐसी प्रणाली है जिसमें उन अधिकारियों के उत्तरदायित्व को प्रभावकारी ढंग से व्यवस्था की गई है जो कानूनों को कार्यान्वित करते हैं, शासन का प्रबन्ध करते हैं और राज्य-कोष का धन व्यय करते हैं। यह उत्तरदायित्व प्रत्यक्ष रूप से व्यवस्थापिका अथवा उसके लोक-निर्वाचित सभा-गृह (Chamber) के प्रति और अप्रत्यक्षरूप से निर्वाचक-मण्डल के प्रति होता है। जब मन्त्रि-परिषद् की नीतियाँ एवं कार्य जनता के निर्वाचित प्रतिनिधियों को स्वीकार नहीं होते, तो मन्त्रि-परिषद् को पदच्युत कर दिया जाता है और उसके स्थान पर व्यवस्थापिका-सभा के विश्वासपात्र नूतन मन्त्रि-परिषद् की नियुक्ति होती है। परन्तु यदि मन्त्रि-परिषद् को यह विश्वास हो कि उसकी नीतियाँ, व्यवस्थापिका के नहीं, निर्वाचकों के मत का प्रतिनिधित्व करती हैं, तो वह व्यवस्थापिका को भंग करा कर निर्वाचकों से प्रत्यक्ष अपील कर सकती है और इस प्रकार उस प्रश्न का निर्णय करा सकती है। इस प्रकार मन्त्रि-परिषद् के हाथ में पार्लमिण्ट को भंग करने का अधिकार आत्मरक्षा का एक प्रबल अस्त्र है और इससे यह बात भी सुनिश्चित हो जाती है कि अन्त में निर्वाचकों की इच्छा ही मान्य होगी।

इस प्रणाली का एक स्पष्ट गुण यह है कि जो लोग देश का वास्तविक शासन करते हैं, वे सदा शासितों के ही नियन्त्रण में रहते हैं। यह नियन्त्रण प्रथम तो उनके निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा किया जाता है और मन्त्रि-परिषद् तथा व्यवस्थापिका में संघर्ष होने पर पार्लमेण्ट का निर्वाचन करके जनता द्वारा किया जाता है। ऐसी प्रणाली के अन्तर्गत शासकों द्वारा ऐसी नीतियों तथा कार्यों का संचालन, जिनको जनता या उसके प्रतिनिधि स्वीकार नहीं करते, अधिक समय तक सम्भव नहीं होता। जैसे राष्ट्रपति शासन-प्रणाली में वे अपने कार्य-काल की अवधि तक शासन करते रहते हैं, ऐसा इस प्रणाली में आवश्यक नहीं है, वे किसी भी समय पदच्युत किये जा सकते हैं और जनता की अथवा उनके निर्वाचकों की इच्छा के अनुसार काम होता रहता है। इस प्रकार का शासन 'उत्तरदायी शासन' (Responsible Government) ठीक ही कहलाता है। चूँकि यह राष्ट्रपति-शासन से कहीं अधिक उत्तरदायी है, इसलिए संसार के अधिकांश देशों में लोगों ने इस शासन-प्रणाली को स्वीकार किया है।[1]

---

१. लॉर्ड ब्राइस ने कहा है कि मन्त्रि-परिषद्-प्रणाली में एक संस्था—व्यवस्थापिका—के हाथ में समस्त अधिकार केन्द्रित होते हैं। उसके बहुमत का मन्त्रि-परिषद् पर

(३) लचीलापन

मन्त्रि-परिषद्-शासन का तीसरा गुण, जिस पर बेजहॉट ने जोर दिया है, उसका लचीलापन है जो राष्ट्रीय सकट के समय बड़े काम का होता है।[1] इस प्रणाली मे, जैसा बेजहॉट ने कहा है, राष्ट्रीय संकट के समय जनता 'उस समय के लिए अपना ऐसा शासक चुन सकती है' जो ऐसे अवसर पर राष्ट्र का पथ-प्रदर्शन बडी योग्यता के साथ कर सकता हो।[2] 'राष्ट्रपति-शासक-प्रणाली' के अन्तर्गत आप इस प्रकार की कोई व्यवस्था नही कर सकते। अमेरिकन सरकार स्वयं अपने को प्रभुत्व-सम्पन्न जनता की सरकार मानती है, परन्तु सहसा सकट उत्पन्न हो जाने के समय जब प्रभुत्व-शक्ति की अत्यन्त आवश्यकता होती है, आप प्रभुत्व-सम्पन्न जनता को नही पाते। आपकी कांग्रेस (अमेरिका की व्यवस्थापिका) एक नियत अवधि के लिए निर्वाचित होती है, उसमे कमीबेशी नही हो सकती, आपका एक नियत अवधि के लिए

पूर्ण अधिकार होता है, जिसके कारण वह व्यवस्थापिका का समर्थन प्राप्त कर उसके बहुमत की इच्छाओं को अधिकतम स्फूर्ति तथा तत्परता के साथ कार्यान्वित कर सकती है। इस प्रणाली का सार यह है कि कार्यपालिका का बहुमत दोनों एक-दूसरे को प्रभावित करते हुए परस्पर सहयोग करते है। विरोधी दल के सदस्यो के साथ सदा सम्पर्क मे रहने तथा अपने दल के सदस्यों के साथ सम्पर्क और भी अधिक घनिष्ठ होने के कारण मन्त्रियों को व्यवस्थापिका की इच्छा तथा उसके द्वारा लोकमत को जानने के सुयोग प्राप्त रहते हैं। इस कारण इस प्रणाली मे कार्य मे स्फूर्ति और निर्णय में शीघ्रता सुनिश्चित की जा सकती है और मन्त्रि-परिषद् आवश्यक कानूनों का निर्माण करा सकती है तथा इस विश्वास के साथ कि विरोधी दल के आक्रमणों से बहुमत उसकी रक्षा करेगा, वह आन्तरिक प्रशासन एवं विदेशी नीति का संचालन कर सकती है। इन गुणो के साथ ही इसमें एक गुण यह भी है कि इसमें उत्तरदायित्व केन्द्रित होता है। त्रुटियों के लिए व्यवस्थापिका मन्त्रियों को और जनता मन्त्रियों तथा व्यवस्थापिका के बहुमत दोनों को दोष दे सकती है (Modern Democracies, Vol. II, p. 464).

१. The English Constitution, Ch 2, Sec. 9.

२. जैसा क्रीमियो के युद्ध तथा प्रथम विश्वयुद्ध (द्वितीय विश्वयुद्ध में भी—अनुवादक) में हुआ था। डायसी ने Nineteenth Century, Jan., 1919 में अपने लेख में मन्त्रि-परिषद्-प्रणाली के इस गुण पर जोर दिया है। उसने इसके मुख्य गुणों में इस बात की भी चर्चा की है कि इस प्रणाली में मन्त्री और इसलिए देश के शासक, माने हुए सासद नेता होते हैं, परन्तु राष्ट्रपति-शासन में वे ऐसे नेता नही होते और न हो ही सकते है। जैसा सयुक्त राज्य में प्रायः होता है, वे ऐसे व्यक्ति हो सकते हैं जिन्हे व्यवस्थापिका का कोई अनुभव न हो और जो किसी भी अर्थ में नेता नही माने जा सकते। लास्की ने भी इस गुण पर जोर दिया है (Grammar of Politics, p. 300)। उसने कहा है कि औसत अमेरिकन केबिनेट 'शायद ही किसी वस्तु का प्रतिनिधित्व करती है,' जबकि इंगलैण्ड की केबिनेट का औसत मन्त्री ऐसा होता है जिसकी जनता की दृष्टि में एक लम्बे समय तक परीक्षा हो चुकी होती है। वह अपने कार्य को समझता है। जिन कार्यों को उसे अब करना होता है, उनके सम्पर्क में वह पहले रह चुका होता है।

निर्वाचित राष्ट्रपति (President) होता है जो उसकी अवधि में अपने पद से पृथक् नही किया जा सकता। सारी व्यवस्थाएँ एक नियत काल के लिए होती हैं। इसमें कहीं भी लचीलापन (Flexibility) नहीं है। प्रत्येक वस्तु दृढ़, निर्दिष्ट तथा उल्लिखित होती है। चाहे जो हो, आप किसी की गति को तेज या मन्द नहीं कर सकते। आपने पहले से ही अपनी सरकार स्थिर कर ली है, चाहे वह आपके अनुकूल हो या प्रतिकूल, चाहे वह ठीक प्रकार से कार्य करे या न करे, चाहे आप उसे चाहें या न चाहें, कानून के अनुसार आपको उसे कायम रखना ही होगा।'

मन्त्रि-परिषद्-प्रणाली के दोष

इस प्रणाली के विरुद्ध भी कुछ आक्षेप किये गये हैं। प्रथम, यह शासन के उस सिद्धान्त की अवहेलना करती है, जिसे कुछ विद्वान् मानते आये हैं क्योंकि उसके अनुसार शासन के व्यवस्थापक (Legislative) तथा कार्यपालक (Executive) कार्य शामिल कर दिये जाते हैं जिन्हें उन विद्वानों के मत के अनुसार पृथक् रख कर अलग-अलग विभागों को सौंपना चाहिए जो एक-दूसरे से स्वतन्त्र या प्रायः स्वतन्त्र हों।[1] यह सत्य है कि वह अधिकांश में एक सिद्धान्त ही है जिसका व्यावहारिक मूल्य शायद ही किसी देश में अनुभव द्वारा सिद्ध हुआ हो। इसके विपरीत यह विश्वास किया जाता है कि मन्त्रि-परिषद्-शासन-प्रणाली के वास्तविक व्यवहार के इतिहास में व्यवस्थापक तथा कार्यपालक विभागों के घनिष्ठ सम्बन्ध एवं सहयोग का मूल्य जो मन्त्रि-परिषद्-शासन की एक महत्वपूर्ण विशिष्टता मानी जाती है, सिद्ध हो चुका है। दूसरे, इस प्रणाली के विरुद्ध यह भी आक्षेप किया जाता है कि यह अत्यधिक अंश में दलीय शासन की प्रणाली है। जिन देशों में दो महत्वपूर्ण राजनीतिक दल होते हैं, उनमें राज्य की नीतियों एवं शासन के संचालन का समस्त भार उस दल के हाथों में सौंप दिया जाता है जिसका व्यवस्थापिका-सभा में या उस सदन में, जिसके प्रति मन्त्रि-परिषद् उत्तरदायी होती है, बहुमत होता है।[2] किन्तु यह समझना सरल नहीं है कि राष्ट्रपति-शासन-प्रणाली

---

१. Sidgwick (Elements of Politics, p. 444) की आलोचना देखिये। उसका मत है कि यद्यपि मन्त्रि-परिषद्-प्रणाली में यह गुण तो है कि इससे शासन के दो प्रमुख अंगों में सामञ्जस्य स्थापित होता है तो भी इसमें बड़े दोष हैं। व्यवस्थापिका सम्बन्धी कार्यों में व्यस्त रहने से मन्त्री अपने विभाग का काम ठीक से नहीं देख पाते और संसद को 'प्रशासन की रोचक समस्याओं के सामने जिनमें, विशेषकर विदेशी मामलों में, उसका हस्तक्षेप अत्यधिक हो सकता है, व्यवस्थापन सम्बन्धी समस्याओं की अपेक्षा करने का प्रलोभन रहता है'

२. सासद प्रणाली के गम्भीर दोषों की चर्चा करते हुए लॉर्ड ब्राइस ने कहा है कि इससे 'दलीय भावना बढ़ती है और सदा तीव्र बनी रहती है। यदि राष्ट्र के सामने नीति के कोई महत्वपूर्ण प्रश्न न भी हों, तो भी पदों के लिए संघर्ष तो सदा बना ही रहता है। वे एक दल के हाथ में होते हैं और दूसरा दल उन्हें प्राप्त करना चाहता है और यह संघर्ष कभी समाप्त नहीं होता । व्यवस्थापिका अन्दर इससे समय और शक्ति की बड़ी क्षति होती है। सिद्धान्त की दृष्टि से ता वरोधी दल का कर्तव्य शासन की गलतियों को प्रकट करना है परन्तु व्यवहार में वह उसकी अधिकांश व्यवस्थाओं का और सामरिक उसके अधिकांश कार्यों का विरोध करते हैं। जिस प्रणाली में शासन की अवधि उसके प्रस्तावित कार्यों के [illegible]ग्य पर निर्भर रहती है, उसमें प्रत्येक मन्त्रि-परिषद् में अधिकतर

के सम्बन्ध में भी यह बात सत्य कैसे नहीं है। वास्तव में, योरोप के जिन देशों में मन्त्रि-परिषद्-प्रणाली स्थापित है और जिनमें किसी एक दल का व्यवस्थापिका में बहुमत नहीं होता, वहाँ मन्त्रि-परिषद् पर नियन्त्रण एक दल का नहीं, प्रत्युत कई दलों का होता है।

तीसरे, मन्त्रि-परिषद्-प्रणाली, विशेषकर इंगलैंड की इस प्रणाली के विरुद्ध यह आक्षेप किया जाता है कि यह प्रणाली 'एक व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों के एक छोटे से दल का अधिनायक-तन्त्र है जो न्यूनाधिक बँधे हुए सदस्यों के आज्ञाकारी बहुमत के द्वारा शासन करता है।' यह कहा जाता है कि पार्लामेण्ट की कॉमन्स-सभा ने अपनी विधायक सत्ताओं (Legislative Powers) का प्रयोग करना प्राय: बन्द कर दिया है। उसने अपना यह कार्य मन्त्रि-परिषद् को सौंप दिया है; उसका कार्य तो केवल निषेधात्मक तथा सामान्य नियन्त्रण का ही रह गया है। संक्षेप में, ग्रेट ब्रिटेन के वास्तविक शासन का संचालन न हाउस ऑफ कॉमन्स में और न मन्त्रि-परिषद् (Cabinet) में ही होता है, वरन् प्रधान कर्मचारियों सहित मन्त्रियों तथा ऐसे लोगों के प्रतिनिधियों की गुप्त समितियों द्वारा होता है जिन पर किसी प्रस्तावित कानून या शासन के किसी कार्य का प्रभाव पड़ता है।'[1] यह आंशिक रूप से सत्य है। कॉमन्स-सभा इतनी विशाल सभा है कि उसमें प्रभावकारी विचार-विनिमय बहुत कुछ असम्भव हो गया है।

यही सोचने की प्रवृत्ति रहती है कि आकर्षक प्रस्तावों द्वारा वह कितना समर्थन प्राप्त कर सकती है, राष्ट्र की वास्तविक आवश्यकताओं पर वह विचार कम करती है; यह व्यवस्था, यदि कोई विधेयक स्वीकार न हो, उन व्यक्तियों को पदत्याग करने के लिए विवश करती है जिनका उन पदों पर बने रहना आवश्यक है और जो छोड़े नहीं जा सकते (Modern Democracies, Vol. II, pp. 466-88)। डायसी ने भी (Nineteenth Century, Jan. 1919) में अपने Cabinet Versus Presidential Government नामक शीर्षक वाले लेख में मन्त्रि-परिषद्-प्रणाली के दो दोष बतलाये हैं। प्रथम, यह बहुसंख्यक कार्यपालिका का शासन है जो इसी कारण युद्ध अथवा संकटकाल में विशेषत: निर्बल होता है। द्वितीय, इसमें शासन अत्यधिक दलीय तथा पक्षपातपूर्ण होता है। परन्तु यह दोष राष्ट्रपति-शासन में भी होता है। लास्की ने भी कहा है कि इस प्रणाली में अनेक गुण होते हुए भी यह दोष है कि कार्यपालिका को अत्याचार के लिए सुयोग मिलता है और संसद मन्त्रियों के निर्णयों को स्वीकार करने वाली संस्था ही रह जाती है जिनकी न वह आलोचना कर सकती है और न जिनमें परिवर्तन ही कर सकती है (Grammar of Politics, p. 347)। परन्तु यह आलोचना उचित नहीं है। यदि मन्त्रि-परिषद् अत्याचारी हो जाती है और व्यवस्थापिका केवल एक रबर की मोहर तो यह इसी कारण होता है कि व्यवस्थापिका इसे होने देती है। अमेरिका में भी प्रेसिडेण्ट विल्सन ने, कांग्रेस, को, इसी, तरह, से, सा, दिया, था।

१. इस सम्बन्ध में निम्नलिखित विद्वानों ने भी इसी विचार की पुष्टि की है।
Sidney & Webb : A Constitution for a Social Commonwealth of Great Britain (1622), p 67; G. D. H. Cole : Labour in the Commonwealth (1919), p. 101; Belloc : The House of Commons & Monarchy, p. 9, Dodds : Is Liberalism dead ? p. 71; Laski : The Crisis in the Constitution (1932).

व्यवस्थापक सत्ता कॉमन्स-सभा ने मन्त्रिमण्डल को सौंप दी है और वह केवल एक वाद-विवाद सभा रह गयी है।[1] इन परिस्थितियों में कॉमन्स सभा, जैसा बेजहॉट ने बतलाया है, अपने नेताओं को चुन लेती है और फिर उनका अनुसरण करती है, मानो हाउस ऑफ कॉमन्स अपने मन्त्रियों से यह कहता हो—'हम इतने हैं कि कानून की रचना ठीक-ठीक नहीं कर सकते ; इसलिए हमने आपको हमारा मार्ग-दर्शन करने के लिए चुना है क्योंकि हम आपको अपना नेता मानते हैं और आपमें हमारा विश्वास है, हम ऐसे कानूनों के मसविदे बनाने का काम आपको सौंपते हैं, जिन्हें आप आवश्यक समझते हैं और शासन-सचालन के लिए जो धन आवश्यक हो, उसे आप निश्चय करें तथा धन-प्राप्ति के लिए कर आदि की व्यवस्था करें। आपके कार्य यदि हमारे मत में विवेकपूर्ण हैं तो हम अपनी अनुमति दे देंगे। यही बात धन की माँग तथा कर के सम्बन्ध में होगी। हम आप पर अपनी दृष्टि और अपना नियन्त्रण रखेंगे और आपको आपके कार्यों तथा नीतियों के लिए उत्तरदायी ठहरायेंगे। हम अभी से चेतावनी दे देते हैं कि जब भी वे कार्य तथा नीतियाँ हमारी अनुमति के प्रतिकूल होंगी, हम आपका पदच्युत कर देंगे और आपके स्थान पर नये मन्त्री नियुक्त कर देंगे।' इस सीमा तक हाउस ऑफ कॉमन्स ने अपनी प्रवर्तक-शक्ति तथा अपना नेतृत्व अपने सदस्यों की एक छोटी-सी समिति को सौंप दिया है, जिसमें उसका पूर्ण विश्वास है।

यह प्रश्न उठाना उचित ही है कि क्या अमेरिकन प्रणाली, जिसके अन्तर्गत कांग्रेस अनेक समितियों में विभाजित हो जाती , जिनमें से प्रत्येक एक छोटी व्यवस्थापिका-सभा सी होती है और जिनके छोटे कमरों में कानून-रचना का कार्य सम्पादन होता है, ग्रेट ब्रिटेन की प्रणाली से श्रेष्ठ है, जहाँ कॉमन्स सभा अपने सासद नेताओं की एक छोटी समिति (मन्त्रि-परिषद्) पर निर्भर रहती है। आधुनिक परिस्थिति में, जबकि व्यवस्थापिका-सभाएँ बहुत बड़ी हो गयी हैं, कानून निर्माण का कार्य छोटी समितियों द्वारा सपादित होना चाहिए। ब्रिटिश प्रणाली इस विचार पर आधारित है कि यह भार पार्लामेण्ट के बहुमत दल के नेताओं की समिति को सौंप देना अधिक अच्छा है। इसके विपरीत अमेरिकन लोग कानून-निर्माण की सत्ता को कई समितियों में विभाजित करना पसन्द करते हैं, जिनमें दोनों दलों के प्रतिनिधि असमान संख्या में रहते हैं।[2]

---

१. इस सम्बन्ध में तुलना कीजिये, Low, Governance of England, p. 75; तथा Lowell, The Government of England, Vol. I, p. 326. लॉवेल ने कहा है कि 'यदि हम यह कहें कि संसद के परामर्श और उसकी स्वीकृति से मन्त्रि-परिषद् कानून बनाती है तो इसमें कोई अत्युक्ति नहीं होगी। परन्तु उसने आगे कहा है कि सासद प्रणाली ने मन्त्रि-परिषद् को अनियन्त्रित तो बना दिया है, परन्तु इसकी अनियन्त्रित सत्ता का प्रयोग निरन्तर और अधिकतम आलोचना के प्रकाश में होता है।'

२. अमेरिका की इस कमिटी-प्रणाली की ब्राइस तथा विल्सन दोनों ने ही आलोचना की है। विल्सन ने कहा है कि कांग्रेस का नेतृत्व ५०-६० कमिटियाँ नहीं कर सकती। उनकी जगह ब्रिटिश केबिनेट के समान एक छोटी संस्था होनी चाहिए जो कांग्रेस में प्रस्तुत किये जाने वाले असंख्य विधेयकों में से आवश्यक विधेयक छाँट सके और उन्हें कांग्रेस में स्वीकृत करा सके (Congressional Government, Ch. 2)।

कुछ देशों की मन्त्रि-परिषद्-प्रणाली के दोष

स्वभावतः मन्त्रि-परिषद्-प्रणाली में कुछ दोष ऐसे भी हैं जो आवश्यक रूप से उसके स्वाभाविक दोष नहीं हैं वरन् उन विभिन्न देशों की विशेष परिस्थितियों के कारण हैं, जहां इस प्रणाली के अनुसार शासन होता है, उदाहरणार्थ, जनता की विभिन्न राजनीतिक मनोवृत्ति तथा परम्परा ; अनेक राजनीतिक दलों का अस्तित्व तथा पार्लामेण्टरी प्रक्रियाएँ, जिनके अनुसार कार्य किया जाता है। फ्रान्स में, पार्लामेण्ट की ब्रिटिश कॉमन्स-सभा के समान अपने नेताओं का अनुकरण न करने की प्रवृत्ति, प्रश्नोत्तर प्रणाली का पार्लामेण्ट के सदस्यों द्वारा मन्त्रियों को परेशान करने के लिए दुरुपयोग तथा सामान्य नीति के आधारभूत प्रश्नों की अपेक्षा तुच्छ प्रश्नों पर भी मन्त्रियों को पद से अलग कर देने की प्रवृत्ति आदि के कारण मन्त्रि-परिषद्-प्रणाली के अनुसार ठीक प्रकार कार्य नहीं किया जा सकता।[1] योरोप के उन देशों में जहाँ मन्त्रि-परिषद्-प्रणाली स्थापित है और जहां दो से अधिक राजनीतिक दल हैं, ब्रिटेन की अपेक्षा इस पद्धति को सफलता कम मिली है।[2] वहाँ मन्त्रि-परिषद् एकदलीय न होकर संयुक्त होते हैं, अर्थात् अनेक दलों के प्रतिनिधियों द्वारा मन्त्रि-परिषद् निर्मित होते हैं। अतः वे दुर्बल, शक्तिहीन और अल्पकालिक होते हैं।[3] इसका परिणाम यह होता है कि मन्त्रि-परिषदों का निर्माण तथा पतन शीघ्रता से होता रहता है और शासन-सञ्चालन में स्थिरता तथा नीतियों में सन्तुलन का अभाव रहता है।[4] इस परिस्थिति के कारण ही इटली में मुसोलिनी के नेतृत्व में मन्त्रि-परिषद्-प्रणाली में सबसे मनोरंजक सुधार यह हो सका है कि जिस राजनीतिक दल का सामान्य बहुमत पार्लामेण्ट में हो, वह मतदान के लिए दो-तिहाई के बराबर माना जायगा।[5]

(७) राष्ट्रपति-शासन-प्रणाली

राष्ट्रपति-शासन-प्रणाली की विशेषताएँ

जैसा गत अध्याय में उल्लेख किया जा चुका है, राष्ट्रपति-शासन-प्रणाली

---

१. फँगे (Faguet, Dread of Responsibility, p. 31) ने कहा है कि फ्रेन्च मन्त्री पार्लामेण्ट के केवल क्लर्क हैं।

२. अभी हाल ही में बतलाया गया है कि पोलैण्ड में २१ दल हैं। फ्रान्स तथा जर्मनी दोनों देशों में कोई एक-एक दर्जन दल हैं।

३. बॉन (Bonn, The Crisis of European Democracy, Ch. 6) के विचारों से तुलना कीजिये। उसने बतलाया है कि योरोप में पार्लामेण्ट में अनेक दलों के अस्तित्व का परिणाम यह हुआ है कि शासन पंगु हो जाता है, बड़ा असन्तोष उत्पन्न होता है और अधिनायक-तन्त्र के लिए माँग को प्रोत्साहन मिला है।

४. परिषद्-प्रणाली का यह दोष फ्रान्स में विशेषरूप से है। किन्तु मन्त्रि-परिषदों के परिवर्तनमात्र से परिणाम नहीं निकालना चाहिए। इस विषय पर American, Pol. Sci. Rev., Vol. VIII (1914) में मेरा 'Cabinet Government in France' शीर्षक वाला लेख देखिये।

५. वर्तमान शासन में मन्त्रि-मण्डल-प्रणाली है भी या नहीं, यह बात सन्देहास्पद है। मुसोलिनी ने तो स्पष्ट कहा था कि उसने उसको तिलाजलि दे दी है। (New York Times, July 24, 1929, p. 3)

(Presidential System) का सबसे विशिष्ट लक्षण यह है कि उसके अन्तर्गत व्यवस्थापक तथा कार्यपालक विभाग एक-दूसरे से सर्वथा पृथक् एवं स्वतन्त्र (विशेषकर अपनी नीतियों, सत्ताओं एवं अवधि मे) होते हैं।' प्रमुख कार्यपालक (Executive) का विधान द्वारा नियत अवधि के लिए निर्वाचन होता है; उसके अधिकार भी अधिकाश मे विधान द्वारा निर्णीत होते हैं। उसकी मन्त्रि-परिषद् (Cabinet) के सदस्य उसी के द्वारा नियुक्त किये जाते हैं और वे राष्ट्रपति के निर्देशानुसार कार्य करते हुए उसी के नियन्त्रण मे रहते हैं। राष्ट्रपति के मन्त्री (Ministers) व्यवस्थापिका के किसी भी सभागृह के न सदस्य होते हैं और न हो ही सकते हैं। अर्जेण्टाइना के सिवाय वे कहीं व्यवस्थापिका-मण्डल मे भाषण देने अथवा प्रश्नो का उत्तर देने के लिए बैठ भी नही सकते, न राष्ट्रपति और न उसके मन्त्री ही व्यवस्थापिका के प्रति अपने कार्यों एवं नीतियों के लिए उत्तरदायी होते हैं। राष्ट्रपति एवं उसके मन्त्रियों के कार्य व्यवस्थापिका या निर्वाचक-मण्डल चाहे पसन्द न करें, उन्हें निन्दा-प्रस्ताव अथवा अविश्वास-प्रस्ताव के द्वारा पद से पृथक् नहीं किया जा सकता। वह देश मे चाहे कुशासन करें और वह चाहे जितने ही अकार्यकुशल क्यों न हो, राष्ट्रपति को अपने कार्य-काल की अवधि तक अपने पद पर बने रहने का वैधानिक अधिकार है और उसके मन्त्रियों को भी जब तक राष्ट्रपति की इच्छा हो तब तक अपने पदों पर रहने का अधिकार है। केवल उसी समय जबकि उनका आचरण अपराधी हो, तभी वे हटाये जा सकते हैं, परन्तु उस समय भी व्यवस्थापिका मे उन पर विधिवत् ढंग से दोषारोपण करना पड़ता है और उसके स्वीकृत होने पर ही वे हटाये जा सकते हैं। यदि राजकीय नीतियों के सम्बन्ध मे व्यवस्थापिका के विचार राष्ट्रपति तथा उसके मन्त्रि-परिषद् के विचारों से भिन्न हों तो राष्ट्रपति उसे भंग करके निर्वाचकों से उस प्रश्न के निर्णय के लिए अपील नहीं कर सकता। उसे व्यवस्थापिका के वैधानिक कार्यकाल की अवधि तक उसका विरोध सहन करना होगा और व्यवस्थापिका को भी शासन की उन नीतियों को, जिन्हें वह पसन्द नहीं करती, राष्ट्रपति की अवधि के अन्त तक सहना पड़ेगा। ऐसा हो सकता है और प्रायः होता भी है कि राष्ट्रपति एक दल का हो और व्यवस्थापिका मे दूसरे दल का नियन्त्रण हो। ऐसी दशा मे वे दोनों विभागों के बीच गत्यावरोध पैदा हो सकता है और ऐसी स्थिति पैदा हो सकती है जो मन्त्रि परिषद्-प्रणाली मे कदापि उत्पन्न नहीं होती।

राष्ट्रपति-शासन-प्रणाली के दोष

इस प्रकार की प्रणाली योरोपियनों को निरंकुश, अनुत्तरदायी तथा सकटपूर्ण प्रतीत होती है। यह निरंकुश इसलिये है कि राष्ट्रपति जनता के निर्वाचित प्रतिनिधियों के नियन्त्रण से स्वतन्त्र होती है, वह अपनी कार्य-अवधि मे बहुत कुछ मनमाने ढंग से शासन कर सकता है, जब तक उसका आचरण अपराधी न हो तब तक चाहे व्यवस्थापिका का प्रत्येक सदस्य अथवा प्रत्येक निर्वाचक उसके विरुद्ध क्यों न हो, उसे कोई हटा नहीं सकता। यह अनुत्तरदायी इसलिए है कि उसे व्यवस्थापिका के प्रति अपने कार्यों के लिए उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता; व्यवस्थापिका उसकी निन्दा कर सकती है, उसके द्वारा प्रस्तुत मसविदों को स्वीकार कर सकती है और उसे किसी कार्य के लिए जैसे संकट के समय मे, विशेषाधिकार देने से इन्कार कर सकती है; वह राष्ट्रपति द्वारा निषिद्ध कानूनों को स्वीकार कर सकती है, परन्तु वह उसे उसके वैधानिक अधिकारों से वंचित नहीं कर सकती और न उसके निर्वाचन के समय निर्वाचकों द्वारा उसे दिये हुए आदेश को वापस ले सकती है, अर्थात् उसे अपने पद से

नहीं हटा सकती। यह सत्य है कि सिद्धान्ततः वह इस आदेश के प्रयोग के लिए निर्वाचकों के प्रति उत्तरदायी है; परन्तु राष्ट्रपति को वापस बुला लेने (Recall) की व्यवस्था के अभाव में इस उत्तरदायित्व के निर्वाह का कोई उपाय नहीं है। प्रत्यक्षतः कई वर्षों के कुशासन के उपरान्त उसे पुनः निर्वाचित न करना उत्तरदायित्व को कार्यान्वित करने का कोई प्रभावकारी साधन नहीं कहा जा सकता।[1] यह हो सकता है कि वह पुनः निर्वाचन के लिए खड़ा न हो या कानून अथवा रिवाज के अनुसार वह पुनः निर्वाचन के लिए योग्य न हो। ऐसी दशा में निर्वाचकों को उसके कार्यों तथा नीतियों के सम्बन्ध में अपना मन प्रकट करने का कोई अवसर नहीं मिलता, उसे पद-च्युत करना तो दूर रहा।

राष्ट्रपति-शासन-प्रणाली के दूसरे दोष इस प्रकार हैं। कानून-निर्माण के सम्बन्ध में राष्ट्रपति तथा उसकी मन्त्रि-परिषद् का कोई सीधा प्रारम्भिक कार्य नहीं होता, व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका के बीच गत्यावरोध तथा उनके बीच सामंजस्य-पूर्ण सहयोग के अभाव के कारण शक्ति एवं नैपुण्य की क्षति होती है, यथा (यदि व्यवस्थापिका में अनेक कमिटियों की व्यवस्था राष्ट्रपति-शासन का आवश्यक लक्षण समझा जाय) अधिक संख्या में ऐसी समितियों द्वारा कानून-निर्माण का कार्य सन्तोषप्रद रीति से नहीं हो सकता जो एक-दूसरे से स्वतन्त्र होती हैं, जिनकी अधिकार-सीमा एक-दूसरी का अतिक्रमण करती हैं जिनमें से कोई भी उस विधेयक के लिए उत्तरदायी नहीं होती जिसकी वे सिफारिश करती है और जो सभी ऐसी स्थिति में विचार करती हैं जिसमें लोकमत का उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।[2]

---

१ स्व० हेनरी जे० फोर्ड ने कहा है कि निरंकुश और वैधानिक शासन में असली भेद यह नहीं है कि निरंकुश शासन असीमित होता है और वैधानिक शासन सीमित होता है। वास्तविक भेद तो सत्ता के प्रयोग के लिए उत्तरदायित्व को सुनिश्चित करने के साधन का है। किसी अधिकारी को असीमित सत्ता देना उस समय तक भयावह नहीं होता जब तक वह अपनी सत्ता के प्रयोग के लिए उत्तरदायी ठहराया जा सके। (Representative Government, p. 304).

२. तुलना कीजिये, Bryce, The American Commonwealth, Vol. I, Chs. 14-15 तथा 20-21; Modern Democracies, Vol. II, p. 469; Wilson, Congressional Government, Chs. 2, 5, Ford, Rise and Growth of American Politics, Chs. 14-22. लॉवेल का मत है कि "जिन देशों में सत्ता विविध संस्थाओं में विभक्त है अथवा कमिटियों में छिपी हुई है, वहाँ उत्तरदायित्व प्रत्यक्ष नहीं होता। प्रत्येक व्यक्ति उत्तरदायित्व को दूर फेंक सकता है और इस प्रकार यह आँख-मिचौनी का खेल बन जाता है।" (Government of England, p 532).

लॉर्ड ब्राइस का मत है कि राष्ट्रपति-शासन का निर्माण सुरक्षा के लिए किया गया था, गति के लिए नहीं। विविध समितियों के कारण कानून-निर्माण में बड़ा मतभेद तथा बड़ी देर और भ्रान्ति होती है। सत्ता-पार्थक्य के सिद्धान्त का व्यावहारिक परिणाम स्वाभाविक रूप से सम्बद्ध वस्तुओं को जबरदस्ती पृथक् कर देना हुआ है।

यह प्रणाली-सांसद-प्रणाली की अपेक्षा संयोग पर अधिक निर्भर रहती है।

यह हर्ष की बात है कि राष्ट्रपति शासन-प्रणाली के प्रमुख दोष, अर्थात् जो राष्ट्रपति के वैधानिक दृष्टि से निरंकुश होने तथा उसके उत्तरदायित्व को कार्यान्वित करने के साधन के अभाव के कारण सदा सम्भव हैं, संयुक्त राज्य अमेरिका मे व्यवहार मे प्रकट नही हुए। इस सम्बन्ध मे बहुत कम गम्भीर शिकायतें हुई हैं और ऐसे अमेरिकनो की संख्या, जो राष्ट्रपति शासन-प्रणाली के स्थान पर सासद-प्रणाली की प्रतिष्ठा चाहते हैं, बहुत कम है। सयुक्त राज्य अमेरिका मे राष्ट्रपति के सम्बन्ध मे जो भावना परिव्याप्त है, वे उसे त्याग कर ब्रिटेन के समान नाममात्र का राज्य-प्रमुख चुनना नही चाहेंगे।[1]

सयुक्त राज्य अमेरिका मे मन्त्रि-परिषद्-प्रणाली की स्थापना क्यो नही की गयी

इस प्रश्न पर प्रायः विचार किया जाता है कि जब अमेरिकन उपनिवेशो ने अपनी मातृभूमि, इगलैण्ड, से सम्बन्ध-विच्छेद किया तब उन्होने अन्य आग्ल राजनीतिक एवं कानूनी सस्थाओं के साथ मन्त्रि-परिषद्-प्रणाली को स्वीकार क्यो नहीं किया। किसी न किसी रूप मे ब्रिटिश प्रणाली संसार भर मे उस समय प्रतिष्ठित थी और यह अमेरिकनो के लिए स्वाभाविक था कि वे उसे अपने राजनीतिक विचारो तथा परिस्थितियों के अनुकूल कुछ परिवर्तनो के साथ स्वीकार करते। परन्तु उन्होंने उसे स्वीकार नहीं किया और उसके विपरीत उन्होने एक नूतन पद्धति का आविष्कार किया जो मातृभूमि की प्रणाली से बहुत भिन्न थी। स्वर्गीय राष्ट्रपति विल्सन का मत था कि अमेरिका मे ब्रिटिश प्रणाली अपकीर्ति प्राप्त कर चुकी थी और उसमे अनेक ऐसी

फिर भी प्रशासन की दृष्टि से यह लाभ ही है कि मन्त्रियो को व्यवस्थापिका की निरन्तर खुशामद नही करनी पडती और यदि कोई मन्त्री किसी अच्छी नीति को प्रारम्भ करना चाहता है तो उसे यह भय नही रहता कि सहसा शासन के बदल जाने से उसका कार्य अधूरा रह जायगा और वह अपनी नीति पर कार्य कर सकता है। इसके अतिरिक्त मन्त्रि परिषद्-प्रणाली की अपेक्षा इस प्रणाली मे व्यवस्थापिका पर दलीय भावना का प्राधान्य कम रहता है। इसमे स्थिरता की भावना भी विशेष रहती है, कुछ तो इस कारण कि राजनीतिक समतोलन में परिवर्तन कानून द्वारा निर्धारित निर्वाचन के समय ही हो सकता है और कुछ इस कारण कि यदि मन्त्री कोई ऐसा काम करना चाहते हैं जिसमे खतरे की सम्भावना हो तो व्यवस्थापिका उसके लिए व्यय अस्वीकार करके उसे रोक सकती है। इतने पर भी ब्राइस को स्वीकार करना पड़ा कि कार्यपालिका के उत्तरदायित्व की दृष्टि से राष्ट्रपति-शासन दोषपूर्ण है। यदि कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका मे सघर्ष हो तो दोनो एक-दूसरे पर उत्तरदायित्व डाल सकते हैं और जनता को नये निर्वाचन तक इस गत्यावरोध को सहन करना पडता है (Modern Democracies, Vol. II, pp. 468-71)।

१. स्व० प्रो० हेनरी जे० फोर्ड की निम्नलिखित राय अधिकाश अमरिकनो की राय है। 'यह अमेरिकनो के लिए सौभाग्य की बात है कि इगलैण्ड की जैसी सासद संस्थाओ को सयुक्त राज्य के विधान ने, जो स्विट्जरलैण्ड के विधान की तरह व्यवस्थापिका के सदस्यो को एक ही समय कार्यपालिका मे पद स्वीकार नहीं करने देता, स्वीकार नहीं किया। सयुक्त राज्य मे स्विस-प्रणाली के अनुसार ही प्रातिनिधिक शासन स्थापित हो सकता है, इगलैण्ड की प्रणाली के अनुसार नहीं।' (Representative Government, p 198).

बातें थी जिनका अनुकरण गणतन्त्रवादी (Republicans) नहीं कर सकते थे। उसने कहा कि अधिकांश अमेरिकनों की दृष्टि में आंग्ल विधान ह्विग्ज की अपेक्षा जॉर्ज तृतीय तथा लॉर्ड नॉर्थ का था और मन्त्रि परिषद् राजकीय कृपापात्रों का एक गुट था जिस पर नियन्त्रण कॉमन्स-सभा का नहीं, वरन् राजा का था।[1] वे इस बात में विश्वास नहीं कर सकते थे कि व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका के बीच इतना घनिष्ठ सम्बन्ध, जो मन्त्रि-परिषद्-प्रणाली में होता है, व्यवस्थापिका पर मन्त्रि-परिषद् का प्राधान्य लादे बिना स्थापित हो सकता था। इस खतरे से बचने के लिए ही इन दोनों अंगों को पृथक् रखा गया और इसी उद्देश्य से उन्होंने 'अवरोध एवं समतोलन' (Check and Balances System) की प्रणाली की प्रतिष्ठा की जो मन्त्रि-परिषद्-प्रणाली में नहीं हो सकती।

लॉर्ड ब्राइस ने बतलाया है कि अमेरिकनों ने मन्त्रि-परिषद्-प्रणाली को उसकी वास्तविकता का ज्ञान न होने के कारण ही अस्वीकार कर दिया था। वे उसे समझते नहीं थे क्योंकि यह प्रणाली उस समय अपरिपक्व दशा में थी; अंग्रेज भी उसे नहीं समझते थे और न प्रामाणिक अधिकारियों ने ही उसका उल्लेख किया था।[2]

संयुक्त राज्य में पूर्वकालीन सासद रीतियाँ

प्रारम्भ में कांग्रेस ने जिस प्रणाली का अनुसरण किया था, वह सासद-प्रणाली से मिलती-जुलती थी। मन्त्रि-परिषद् के सदस्य समय-समय पर प्रतिनिधि-परिषद् (House of Representatives) में सूचना देने तथा परामर्श देने के लिए सम्मिलित होते थे।[3] प्रथम राजस्व-मन्त्री हेमिल्टन ने राजा के मन्त्री के समान अपना कार्य किया और दूसरे मन्त्रियों ने भी उसका अनुसरण किया। उस समय शासन के सभी विभाग एक ही भवन में स्थित थे जिससे मन्त्रि-परिषद् तथा व्यवस्थापिका के बीच सम्पर्क सरल था। वास्तव में, व्यवस्थापिका से उनका सम्पर्क इतना घनिष्ठ था मानो वे व्यवस्थापिका के ही सदस्य हों।[4] कुछ वर्षों तक इस प्रकार का घनिष्ठ सम्बन्ध इन दोनों विभागों में बना रहा और मन्त्री कानून-निर्माण के कार्य पर अपना महत्वपूर्ण प्रभाव डालते रहे। जब अन्त में इन दोनों का घनिष्ठ सम्बन्ध तोड दिया गया और मन्त्रि-परिषद् के सदस्यों का कांग्रेस में बैठने से वंचित कर दिया गया तो कांग्रेस के कुछ सदस्यों ने इस परिवर्तन पर खेद प्रकट किया।[5]

मन्त्रियों को कांग्रेस में स्थान देने के सम्बन्ध में प्रस्ताव

कुछ समय के बाद जब मन्त्रि-परिषद् तथा व्यवस्थापिका के पृथक्करण की हानियाँ प्रकट होने लगी और कानून-निर्माण में दोनों के घनिष्ठ सम्बन्ध के लाभ अधिक स्पष्ट दिखाई देने लगे तो कई बार पुरानी रीति के अनुसार काम करने और प्रश्नों के उत्तर देने, सूचना देने तथा राष्ट्रपति ने कानूनों के जिन मसविदों की सिफारिशें की हैं, उनका समर्थन करने के लिए कांग्रेस के किसी भवन में मन्त्रियों को स्थान

---

१. Congressional Government, pp. 308 309
२. The American Commonwealth (1910), Vol I, p. 286.
३. Annals of the First Congress, pp. 51, 66, 684, 689.
४ तुलना कीजिये, Ford, Rise and Growth of American Politics, pp. 81, 226.
५. एक लेखक (Fisher Ames) ने खेद के साथ लिखा है कि इस परिवर्तन से मन्त्रियों की स्थिति 'प्रमुख लिपिकार' (Chief Clerk) जैसी हो गयी।

देने के लिए प्रस्ताव प्रस्तुत किये गये। कांग्रेस की एक विशेष समिति ने ३८वीं कांग्रेस में तथा सीनेट की ऐसी ही एक समिति ने ४६ वीं कांग्रेस (सन् १८८१) में इस आशय का प्रस्ताव रखा था। न्यायाधीश स्टोरी ने अपने 'विधान' (The Constitution) नामक ग्रन्थ में ऐसी पद्धति के लाभों पर प्रकाश डाला तथा बाद में राष्ट्रपति टाफ्ट ने सन् १९१३ में कांग्रेस को भेजे हुए अपने संदेश में इसको अपनाने के लिए जोर दिया था।[1] राष्ट्रपति विल्सन भी इस प्रस्ताव के पक्ष में था। उसने कहा कि व्यवस्थापिका तथा मन्त्रि-परिषद् को परस्पर दूर रखने और उन्हें विभिन्न उद्देश्यों से काम करने देने की अपेक्षा परस्पर परामर्श तथा सहयोग करने के लिए उन्हें आमने-सामने लाने से कांग्रेस के समय की बचत होगी और व्यवस्थापिका के सदस्य कार्य-पालिका के विभागों के कार्यों की अधिक जानकारी प्राप्त कर सकेंगे, दोनों विभागों में सामंजस्य एवं सहयोग स्थापित हो सकेगा और इस प्रकार मन्त्रि-परिषद् को भ्रान्ति तथा गलत सूचना के आधार पर आधारित अनावश्यक आलोचना का शिकार न बनना पड़ेगा। राष्ट्रपति टाफ्ट ने बतलाया कि 'सुयोग्य पर्यवेक्षकों का ध्यान इस ओर बारम्बार आकर्षित होता है कि समय-समय पर कांग्रेस कार्यपालिका के कार्यों से जो अनभिज्ञता प्रकट करती है और कांग्रेस में घण्टों बहस करने में जो समय नष्ट होता है और कांग्रेस की कार्यवाही की पुस्तक (Congressional Record) के पन्ने जो रंगे जाते हैं, यह सब कांग्रेस में एक मन्त्री के केवल एक ही प्रश्न के उत्तर से बच सकता है।[2] इस समय कांग्रेस जिस साधन द्वारा राष्ट्रपति की नीतियों के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त कर सकती है, वह बहुत मन्दगति और वक्र है, कांग्रेस को इस सम्बन्ध में एक प्रस्ताव स्वीकार कर राष्ट्रपति को भेजना पड़ता है और जब राष्ट्रपति उसका उत्तर देता है तभी उसकी नीतियों की जानकारी हो सकती है। राष्ट्रपति के लिए कानून के मसविदों को बिल के रूप में कांग्रेस में प्रस्तुत कराने का एक ही तरीका है कि कोई कृपालु सदस्य उसे प्रस्तुत कर दे और यदि राष्ट्रपति उनके सम्बन्ध में कुछ कहना चाहें तो वह केवल अपने मन्त्रियों द्वारा ही, जब वे समितियों में आमन्त्रित किये जाते हैं, कांग्रेस की समितियों के समक्ष कह सकता है। कांग्रेस में मन्त्रियों की उपस्थिति से राष्ट्रपति को खुले और अधिकारी ढंग से कांग्रेस पर अपना वह प्रभाव डालने

---

१. Congressional Record, Jan. 13, १९१३, p. 12. दक्षिणी संघ (Southern Confederacy) के संविधान ने मन्त्रियों को व्यवस्थापिका के दोनों भवनों में उपस्थित होने तथा अपने विभाग से सम्बद्ध मामलों में होने वाले विवादों में भाग लेने का अधिकार दिया था। अर्जेन्टाइना का विधान (धारा ९३) भी मन्त्रियों को यह अधिकार देता है, किन्तु मत देने का अधिकार नहीं। उसमें तो मन्त्री को व्यवस्थापिका के सदस्यों से पहले बोलने का अवसर देने की व्यवस्था है। ब्राजील संविधान (धारा ५१) में मन्त्रियों के लिए किसी भी भवन में उपस्थित होने का निषेध है। स्विटजरलैंड में फेडरल कौंसिल के सदस्य व्यवस्थापिका के दोनों सदनों में जा सकते हैं, भाषण दे सकते हैं और प्रस्ताव प्रस्तुत कर सकते हैं, किन्तु मत नहीं दे सकते (धारा १०१)।

२. *Independent, 1913, p. 1197 में The Presidency* नामक शीर्षक वाला उसका लेख तथा उसकी पुस्तक Our Chief Magistrate and His Powers, p. 31 भी देखिये। किन्तु मन्त्रि-परिषद् के एक सदस्य (D. F. Houston) ने इसका विरोध किया है (World's Work, Feb 1926, p. 360)।

का सुयोग मिलेगा जिसकी देश उससे अधिकाधिक आशा करता है और जो देश के प्रति उसके दायित्व की दृष्टि से आवश्यक है। इस समय तो उसकी सत्ता अपना नियमित सदेश कांग्रेस को भेज देने पर ही समाप्त हो जाती है, क्योंकि इसके बाद वह अथवा उसके मन्त्री उसकी व्याख्या, तर्क अथवा अनुनय द्वारा किसी प्रकार से भी उस पर कोई कार्यवाही नही कर सकते।'[1]

(८) सर्वश्रेष्ठ शासन-प्रणाली

शासन की कसौटी

समाज मे प्रतिष्ठित मुख्य शासन-प्रणालियो के गुण-दोषो पर विचार करने के बाद सबसे मुख्य प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि इनमे से कौनसी प्रणाली सर्वश्रेष्ठ है और भविष्य म किस प्रणाली के ससार में सर्वाधिक अपनाये जाने की सम्भावना हो सकती है। इन दोनो ही प्रश्नो का उत्तर सरल नही है। रूसो ने यह सत्य ही कहा था कि 'जब आप यह पूछते हैं कि कौन-सी शासन-प्रणाली निरपेक्ष रूप से सर्वश्रेष्ठ है, तब आप एक अनिश्चित एवं निरुत्तर प्रश्न पूछते हैं।'[2] प्रथम प्रश्न का उत्तर अधिकाश मे इस बात पर निर्भर है कि श्रेष्ठ शासन की भावना क्या है तथा वे आधारभूत उद्देश्य क्या हैं, जिनके लिए शासन की स्थापना हुई है। स्वभावत: उस कसौटी के सम्बन्ध मे मतभेद है, जिसके आधार पर किसी विशेष शासन की परीक्षा की जा सकती है। कुछ लेखको ने मानव समाज की सब अवस्थाओ मे, सब प्रकार की जनता के लिए उपयुक्त सर्वश्रेष्ठ शासन के सामान्य सिद्धान्त स्थिर करने का प्रयास किया है। परन्तु प्रत्यक्षत ऐसी कोई कसौटी नही है जिसके आधार पर किसी एक प्रकार की प्रणाली को दूसरी प्रणालियो से श्रेष्ठ कहा जा सके। किसी भी शासन को श्रेष्ठता की जाँच उसके उन परिणामो से करनी चाहिए जिनके लिए उसकी स्थापना की गयी हो और जिनकी उससे आशा थी। विभिन्न देशो की जनता मे शासन के उद्देश्य विभिन्न रहे हैं। कुछ लोग कार्यक्षमता मितव्ययिता, स्फूर्ति तथा कार्य की शीघ्रता को सर्वश्रेष्ठता की प्राथमिक कसौटी मानते हैं। जर्मन जनता इस कसौटी को ही मुख्य मानती है। अमेरिका मे शासन की श्रेष्ठता के मानदण्ड भिन्न हैं। वहाँ यह देखा जाता है कि शासन नागरिकों मे सार्वजनिक मामलो के प्रति अभिरुचि कहाँ तक उत्पन्न करता है और नागरिको मे कहाँ तक देशभक्ति एवं नागरिक सद्गुण उत्पन्न करता है। सक्षेप मे, सर्वश्रेष्ठ शासन वह नही है जो सबसे अधिक निपुण हो, परन्तु वह है जो नागरिको के राजनीतिक शिक्षण एव नागरिकता की शिक्षा के लिए नागरिकता के विद्यालय के समान अधिक से अधिक काम करता हो। जॉन स्टुअर्ट मिल के भी ऐसे ही विचार थे। उसने लिखा है कि 'श्रेष्ठ शासन का प्रथम तत्व यह है कि उसके द्वारा जनता की बुद्धि तथा सद्गुणो का अभिवर्द्धन हो।' शासन 'सार्वजनिक कार्य के लिए संगठित प्रबन्ध का नाम ही नही है', बल्कि 'वह मनुष्य के मन पर

---

१. इस विषय पर मैंने Proceedings of the Amer. Pol. Sci. Assoc., 1913-14, pp. 176 ff. पर Executive Participation in Legislation शीर्षक वाले लेख मे विस्तार से लिखा है। और भी देखिये, Hinsdale, The Cabinet and Congress, Ibid., pp. 126 ff; Black, The Relation of Executive Power to Legislation, Ch. 4.

२. The Social Contract, Bk. I, Ch. 9.

प्रभाव डालने वाली एक महान् शक्ति भी है।' उसकी परीक्षा जनता एवं वस्तुओं पर उसके प्रभाव को देख कर की जा सकती है। मिल ने यह भी कहा है कि 'वह प्रथम प्रश्न, जिस पर विचार करना है, यह है कि शासन कहाँ तक नागरिकों में बौद्धिक एवं नैतिक गुणों का पोषण करता है?' जो शासन इस कार्य को सर्वश्रेष्ठ ढंग से करता है, वह दूसरे मामलों में भी सर्वश्रेष्ठ हो सकता है। सर्वश्रेष्ठ शासन की मुख्य कसौटी शासितों में व्यक्तिगत एवं सामूहिक रूप में, सद्गुणों की वृद्धि की प्रवृत्ति है प्रशासनीय सस्था की हैसियत से स्वय उसकी अपनी निपुणता नहीं।[1]

दूसरे लेखकों ने कवि के इस मत को स्वीकार किया है कि 'शासन के रूपों के लिए मूर्खों को वाद-विवाद करने दो। जिस शासन में सुप्रबन्ध है, वही सर्वश्रेष्ठ है।[2] इस विचार के अनुसार शासन का रूप गौण है, उसकी कसौटी शासन-प्रबन्ध की सफलता है। परन्तु हैमिल्टन के मत में यह सिद्धान्त एक 'राजनीतिक पाखण्ड' हो है; क्योंकि निकृष्ट शासन-प्रणाली में कभी सुप्रबन्ध नहीं हो सकता। परन्तु एक श्रेष्ठ शासन-प्रणाली में कुप्रबन्ध हो सकता है।[3]

लोगों तथा परिस्थितियों के साथ शासन की अनुकूलता

यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं है कि मानव समाज की सभी अवस्थाओं एवं सभी स्थितियों में सभी प्रकार की जनता के लिए किसी एक ही प्रकार की शासन-प्रणाली अनुकूल नहीं हो सकती। किसी समाज के लिए सर्वश्रेष्ठ शासन का निर्णय करने के लिए हमें उसके विकास की अवस्थाओं, जनता की बुद्धि एवं राजनीतिक क्षमता, उसका इतिहास तथा उसकी परम्पराओं और जातीय विशिष्ट गुणों तथा अन्य अनेक विभिन्न बातों पर विचार करना चाहिए। मिल के अनुसार 'समाज की प्रत्येक अवस्था के लिए कौन सी शासन प्रणाली उपयुक्त है, इसका निर्णय करना राजविज्ञान पर एक स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखना ही होगा।'

मिल तथा ब्राइस दोनों ही विद्वानों ने एक ऐसे सत्य पर जोर दिया है जिसकी सामान्यतया उपेक्षा कर दी जाती है। वह सत्य यह है कि शासनों की स्थापना एवं उनका सचालन मनुष्यों द्वारा ही होता है, उनकी उत्पत्ति और उनका कार्य वृक्ष की भाँति नहीं होता। अपने अस्तित्व की प्रत्येक अवस्था में उनका रूप वही होता है जिसका मनुष्य अपनी इच्छा से निर्माण करते हैं। अत. उनकी सफलता उस जनता की क्षमता और रुचि पर निर्भर है जो उनको प्रतिष्ठा करती है और उनका सचालन भी।

---

१ Representative Government, Ch 2.

२. 'For Forms of Government, let fools contest,
That which is best administered is best.'

३ स्वयं हैमिल्टन 'अच्छे प्रशासन को जन्म देने की योग्यता तथा प्रवृत्ति' को ही 'अच्छे शासन की कसौटी' मानता था (The Federalist, No. 66)। रूसो ने अच्छे शासन की एक विचित्र कसौटी बतलाई है: 'अन्य सब बातें समान होते हुए वह शासन सर्वश्रेष्ठ है जिसमें बाह्य सहायता, नागरिकरण तथा उपनिवेशों के बिना जनता की सख्या में अधिक से अधिक वृद्धि हो। जिस शासन में जनता का ह्रास होता है, वह निकृष्ट है (Social Contract, Bk. II, Ch. 9)। यह कसौटी स्पष्टतः हास्यास्पद है।

एकतन्त्र कुछ लोगो के लिए एक अनिवार्य प्रणाली है;[1] दूसरो के लिए कुलीनतन्त्र श्रेष्ठतर है और कुछ ऐसे भी समाज हैं जिनके लिए प्रजातन्त्र ही श्रेष्ठतर है। ग्रेट ब्रिटेन मे मन्त्रि-परिषद्-प्रणाली लेटिन देशो की अपेक्षा अधिक सफलता के साथ संचालित हुई है और शायद उतनी सफलता उसे संयुक्त राज्य मे भी नहीं मिलेगी। प्रौढ मताधिकार समाज की कुछ अवस्थाओ मे ही उपयुक्त है; दूसरी अवस्थाओं मे उससे शासन का भंग हो जायगा। संघीय प्रणाली राजनीतिक विकास की कुछ अवस्थाओं में बडी अच्छी रहती है तथा ऐसे देशो के लिए भी अच्छी है जो बडे विशाल हैं और जहाँ विभिन्न प्रकार की अवस्थाएं हैं, दूसरो के लिए एकात्मक शासन ठीक हैं। राज्य-समूहो तथा देवाधिराज्यो का भी राज्य के विकास मे अपना-अपना स्थान रहा है। *जिस प्रकार एक सूट सब लोगो के लिए उपयुक्त नहीं हो सकता, उसी प्रकार* एक शासन-प्रणाली भी सभी समाजो के लिए उपयुक्त नही हो सकती। जो प्रणाली स्पार्टा के लिए सर्वश्रेष्ठ थी, वह एथेन्स के लिए सर्वश्रेष्ठ नहीं थी; जो प्रणाली एक सुविशाल साम्राज्य के लिए ठीक है, वह एक छोटे राज्य के लिए ठीक नही हो सकती। ट्यूडर-युग मे इंगलैण्ड के लिए जो व्यवस्था उचित समझी जाती थी, वह आज के युग मे अनुपयुक्त है। यदि जीवन तथा सम्पत्ति की अधिकतम सुरक्षा ही लक्ष्य है, तो एक ऐसे शासन की आवश्यकता होगी जो उस शासन से सर्वथा भिन्न होगा जो जन-कल्याण की अभिवृद्धि को अपना ध्येय मानता है। लाइबर (Lieber) ने कहा है कि 'यदि मिस्र की जैसी गरम जलवायु वाले किसी बडे देश की भ्रष्ट एवं शक्तिहीन जनता का सुधार एवं पुनर्संगठन करना शासन का उद्देश्य है तो शासन-प्रणाली उस जनता की शासन-प्रणाली से भिन्न होनी चाहिए जो उद्योगशील है, जैसे डच, जिन्हें समुद्र से युद्ध करना पडता है।'[2] शासन एक प्रकार का भवन है जिसका निर्माण भवन मे रहने वालों की आवश्यकताओ एवं प्रयोजनो के अनुसार होना चाहिए और आवश्यकताओ के परिवर्तन के साथ-साथ समय-समय पर उसमे भी परिवर्तन होने चाहिए।

भविष्य का शासन

भविष्य मे सामान्यतया जनता द्वारा कौन-सी शासन-प्रणाली स्वीकार्य होगी,

---

१. लॉर्ड ब्राइस तथा प्रेसिडेण्ट गुडनाऊ का विचार है कि राजनीतिक विकास की वर्तमान अवस्था मे चीन के लिए एकतन्त्र ही उपयुक्त है। जॉन स्टुअर्ट मिल का भी विचार था कि पिछडी हुई तथा अनुशासनहीन जातियो के लिए निरंकुश एकतन्त्र ही एकमात्र उपयुक्त शासन-प्रणाली है। ब्राइस का विचार था कि लेटिन अमेरिका के गणतन्त्रो, फारस तथा रूस मे सच्चा प्रजातन्त्र अव्यवहार्य है। उसका यह भी विश्वास था कि दक्षिण-पूर्वी योरोप मे जो प्रजातान्त्रिक प्रयोग किये गये हैं, वे न किये जाते तो अच्छा रहता (Modern Democracies, Vol II, pp. 502-507)। रूसो ने लिखा है कि 'पृथ्वी पर सैंकडो राष्ट्र ऐसे हुए हैं *जिनमे अच्छे कानून ही हो नहीं सकते थे और जिनमे थे भी, वे* अपने जीवनकाल के बहुत थोडे से भाग मे ही इस दिशा मे सफल हुए होंगे। अधिकांश राज्य ऐसे होते हैं जो बाल्यकाल मे ही वश मे रखे जा सकते हैं, ज्यों-ज्यो वे बडे होते जाते हैं, त्यो-त्यो वे सुधार से परे हटते जाते हैं।...... एक राष्ट्र जन्म से ही शासन के योग्य होता है, दूसरा दस शताब्दियो के बाद भी वैसा नहीं बन सकता (The Social Contract, Bk. I, Ch 8)।

२. Political Ethics, Vol. I, p. 313.

इस पर विचार करना कठिन है। संसार के विभिन्न देशो मे विचारो तथा स्थानीय अवस्थाओ की जो विभिन्नताएं विद्यमान हैं और जो भविष्य मे भी सदा किसी न किसी रूप मे कायम रहेंगी, उन पर विचार करते हुए यह कहना ही उचित होगा कि भविष्य मे कोई एक शासन प्रणाली सर्वत्र प्रतिष्ठित नहीं हो सकेगी। परन्तु सर्वत्र हमे कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ देख पड़ती हैं जो कुछ रूपो की ओर जा रही हैं और कुछ रूपो से दूर हट रही हैं और जिनसे ऐसा प्रतीत होता है कि अखिल संसार सर्वश्रेष्ठ शासन की खोज मे एक निर्दिष्ट मार्ग की ओर अग्रसर है। इस प्रकार संसार मे प्रवृत्ति एकतन्त्र शासन, स्वेच्छाचारी शासन तथा पैतृक शासन के विरुद्ध है। आज संसार मे जो एक-तन्त्र शासन जीवित हैं, वे नाममात्र के एकतन्त्र हैं ; वास्तव मे वे गणतन्त्र है। कुलीनतन्त्र, स्वेच्छाचारी शासन तथा पैतृक शासन के चिन्ह भी जहाँ-तहाँ दिखायी देते हैं, परन्तु वे भी भविष्य के गर्भ मे अवश्य विलीन हो जायेंगे। यह बहुत सम्भव है कि अन्त मे समस्त राज्य, सम्भवतः इस शताब्दी के समाप्त होने से पूर्व ही वैधानिक, प्रातिनिधिक तथा प्रजातन्त्रात्मक गणतन्त्र हो जायेंगे। किन्तु यह भी सम्भव है कि प्रतिनिधि शासन के सार्वभौम हो जाने पर भी प्रतिनिधित्व के रूपो मे परिवर्तन हो जायेंगे। कई देशो मे प्रतिनिधित्व की वर्तमान प्रणाली से बड़ा व्यापक असन्तोष है और नई प्रणालियो के प्रयोग किये जा रहे हैं। स्व० प्रोफेसर हेनरी फोर्ड का निष्कर्ष यह है—'यह कहने के लिए पर्याप्त कारण है कि प्रातिनिधिक शासन राज्य का पतनशील रूप है।' परन्तु उसके विचार मे यह बात वास्तविक वस्तु के स्थान मे कृत्रिम वस्तु को ही वास्तविक समझ लेने के कारण है। उसकी दृष्टि मे सभ्य संसार मे जिस बात की सम्भावना है, वह प्रातिनिधिक शासन की अस्वीकृति नहीं वरन् उसके 'कृत्रिम रूपो का परित्याग' ही है।[1] मुसोलिनी का दावा था कि इटली में उसने ऐसा ही किया है।

प्रजातन्त्र का भविष्य

समस्त आधुनिक राजनीतिक प्रवृत्तियो में सबसे अधिक महत्वपूर्ण है—प्रजातन्त्र की दिशा मे शीघ्रता के साथ गति और इस प्रकार का शासन प्राय. संसार भर में विभिन्न मात्राओ मे परिव्याप्त हो गया है। प्रजातन्त्र का विकास और विस्तार इतना अधिक हो गया है कि जिन देशो का वातावरण उसकी प्रतिष्ठा के लिये अत्यन्त उपयुक्त है और स्थितियाँ उसके विकास के लिए अत्यन्त अनुकूल है, वहाँ भी उसके पतन का भय है। प्रजातन्त्र के अनुपम पुजारी लॉर्ड ब्राइस ने अपने अन्तिम ग्रन्थ मे बिना किसी सकोच के यह विचार प्रकट किया है कि प्रजातन्त्र का भविष्य उन कुछ देशो मे, जहाँ उसकी स्थापना हाल ही मे हुई है, उज्ज्वल नहीं है। यद्यपि यह बार-बार कहा गया था कि पिछला (प्रथम) विश्व-युद्ध प्रजातन्त्र की रक्षा के लिए लड़ा गया था, तथापि एक शासन-पद्धति के रूप मे प्रजातन्त्र राष्ट्रों मे ऐसा निन्दित एवं सदिग्ध बन गया है जैसा आधुनिक समय मे पहले कभी नहीं हुआ था और आज प्रजातन्त्रात्मक देशो मे लोकमत का एक विशाल भाग अधिनायकतन्त्रों की माँग करता है। परन्तु इस सम्बन्ध मे भी यह कहा जाता है कि यह संकट स्वयं प्रजातन्त्र के कारण नहीं है वरन् उसके विकृत रूपो तथा उसके कृत्रिम एवं मिथ्या रूपो को ही प्रजातन्त्र का सच्चा रूप मान लेने के कारण है। अनेक देशो मे प्रतिक्रिया के लक्षण देख पड़ते हैं और कुछ देशो मे तो उसका (प्रजातन्त्र) पतन ही हो चुका

---

1. Representative Government, pp. 303-304.

है।[1] भविष्य में सम्भावना यही है कि प्रजातन्त्र का परित्याग तो नहीं होगा और न प्रजातान्त्रिक साधनों को बढ़ाने का प्रयत्न ही किया जायगा जिनके सम्मिलित भार को जनता सहन नहीं कर सकती, वरन् संसार अधिक सरल एवं मर्यादित प्रातिनिधिक शासन की ओर लौटेगा।

संघीय शासन का भविष्य

भविष्य में शासन सामान्यतया अधिक संघीय होगा या केन्द्रित, इस प्रश्न का उत्तर देना भी कठिन है। यह भी मानना पड़ेगा कि संघीय शासन, अनेक गुणों से सम्पन्न होते हुए भी, संसार के देशों में वैसी लोकप्रियता प्राप्त नहीं कर सका जैसी इसके समर्थक सोचते थे और जिन देशों में इसकी पिछले वर्षों में प्रतिष्ठा की गयी है, उनमें इसके रूप में इतने काफी महत्वपूर्ण परिवर्तन कर दिये गये हैं कि वह अमेरिकन रूप से, जो संसार का सर्वप्रथम महत्वपूर्ण आदर्श था, सर्वथा भिन्न हो गया है। अपने परिवर्तित रूप में वह वास्तव में, संघीय प्रशासन (Federalized Administration) तथा केन्द्रीकृत व्यवस्थापन का सम्मिश्रण है और भविष्य में जहाँ कहीं भी वह प्रतिष्ठित होगा, उसका शायद यही रूप होगा।

मन्त्रि-परिषद् शासन का भविष्य

राष्ट्रपति-शासन-प्रणाली तथा मन्त्रि-परिषद्-शासन प्रणाली, इन दोनों में से भविष्य मन्त्रि-परिषद-प्रणाली के पक्ष में दिखाई देता है। कुछ लेटिन (दक्षिणी) अमेरिकन राज्यों को छोड़कर संसार के दूसरे देशों ने संयुक्त राज्य का अनुकरण नहीं किया और न सम्भावना ही है कि भविष्य में उसका अनुकरण होगा। संयुक्त राज्य अमेरिका में भी व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका में घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित करने की प्रवृत्ति देख पड़ती है। दूसरी ओर, हाल में जिन देशों में मन्त्रि-परिषद्-प्रणाली स्थापित हुई है, उनमें राज्य-प्रमुख को अधिक वास्तविक सत्ता एवं व्यवस्थापिका-परिषद् से अधिक मात्रा में स्वतन्त्रता देने की प्रवृत्ति दिखाई देती है। शायद भविष्य में जो प्रणाली स्थापित होगी, वह इन दोनों प्रवृत्तियों का परिणाम होगी।[2]

श्रेष्ठ शासन का मूल्य

युग-युगों में जनता की चेष्टा यही रही है कि शासन-प्रणाली का खोज करे जिससे उन व्यक्तियों की सामान्य आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके जिनके हितार्थ शासन स्थापित किया जाता है। शासन-प्रणालियाँ युग-युग में और देश-देश में भिन्न रही हैं और आज भी सर्वसम्मति में कोई प्रणाली सर्वश्रेष्ठ नहीं मानी जाती। एक

---

१. New York Times, May 20, 1926 में प्रकाशित मुसोलिनी के भाषण में कहा गया है कि इटली में प्रजातन्त्र मृत्यु को प्राप्त हो चुका है। नार्मन एन्जेल के विचार भी उसकी पुस्तक, 'The Public Mind', p. 1 में देखिये।

२ तुलना कीजिये, Burgess, Political Science and Constitutional Law, Vol. II, p. 39. उसने भी कहा है कि भविष्य में शासन-प्रणाली के यही रूप धारण करने की सम्भावना है, अर्थात् एक गणतन्त्र होगा जिसमें संघीय प्रशासन के साथ-साथ केन्द्रीकृत व्यवस्थापन होगा। कार्यपालिका की अवधि स्वतन्त्र होगी और उसे व्यवस्थापिका के कार्यों पर वास्तविक निषेधाधिकार होगा, परन्तु उसे अपनी मन्त्रि-परिषद् को व्यवस्थापिका के निम्न सदन के बहुमत के अनुकूल रखना पड़ेगा।

बात मे इस सम्बन्ध मे मतैक्य है कि जनता का सुख तथा कल्याण अन्य बातों की अपेक्षा सुशासन पर ही अधिकार निर्भर है। जैसा रूट ने कहा है—'इस पृथ्वी-तल के अत्यन्त सुन्दर एव उर्वर प्रदेश शताब्दियो तक कुशासन के कारण वन-प्रदेश एव मरुभूमि बने रहे ; वे देश ही नही जो करोडो को सुख एव समृद्धि प्रदान करने में समर्थ हैं, किन्तु वे प्रदेश भी, जिन्होने अतीत मे सुख एवं समृद्धि प्रदान की है, आज कुशासन के कारण दारिद्रय, अज्ञान तथा दुर्गुणों के गढ बने हुए हैं। परन्तु जहाँ सुशासन है, वहाँ जलवायु चाहे कितनी ही विपरीत हो और भूमि चाहे मरुस्थल ही क्यो न हो, उद्योग-व्यवसाय तथा सुख की अभिवृद्धि होती है।'[1]

मुख्य पाठ्य-ग्रन्थ

Black, "The Relation of the Executive Power to Legislation" (1919), Chs. 3-4.

Burgess, "Political Science and Constitutional Law" (1896), Vol. II, Ch. 2.

Bryce, "The American Commonwealth" (1910), Vol. I, Chs. 29-30; also his "Modern Democracies" (1922), Vol. II, Ch. 68.

Dicey, "Law of the Constitution" (2nd ed., 1886), pp. 158-168 ; also his article "A Comparison Between Cabinet Government and Presidential Government," *Nineteenth Century*, Vol. LXXXV (Jan., 1919), pp. 25 ff.

Finer, "The Theory and Practice of Modern Government" (1932), Vol I, Chs. 8-9

Fiske, "American Political Ideas" (1885), Ch. 2.

Ford, "Representative Government" (1924), Ch. 11.

Goodnow, "Principles of Constitutional Government" (1916), Chs. 5-7.

Haines, "Ministerial Responsibility *versus* Separation of Powers," *Amer. Pol. Sci. Rev.*, Vol. XVI (1922), pp. 194 ff.

Laski, 'The Crisis and the Constitution" (1932).

Leacock, "Limitations of Federal Government," *Procs. Amer. Pol. Sci. Assoc.*, Vol. V, pp 37 ff.

Lowell, "Essays on Government" (1889), Ch 1

Marriott, "The Mechanism of the Modern State" (1927), Vol. II, Chs 25 26.

---

१. Elihu Root : The Citizen's Part in Government, p. 6. John Stuart Mill (Representative Government, Ch. 2) ने भी कहा है कि 'शासन जनता में प्रत्येक प्रकार के दोष, जो मनुष्य में हो सकते हैं, उत्पन्न कर सकता है और सामाजिक जीवन से जो भलाइयाँ उत्पन्न हो सकती हैं, उनमें से केवल उतनी प्राप्त की जा सकती हैं जिनके अनुकूल शासन होता है और जिनकी प्राप्ति के लिए वह सुयोग प्रदान करता है। समाज के कल्याण पर शासन का प्रभाव जानने के लिए हमें मानव-समाज के समस्त हितो को ध्यान में रखना होगा, उनमें जरा भी कमी नहीं की जा सकती।'

Martin, "Growth of Presidential Government in Europe," *Amer. Pol. Sci. Rev.*, Vol. XVII (1923), pp. 567 ff.
Maxey, "The Problem of Government" (1925), Ch. 14.
Mill, "Representative Government" (1861), Chs. 2-3.
Sait & Barrows, "British Politics in Transition" (1925), Chs 2, 5.
Sidgwick, "Elements of Politics" (1897), Ch. 22.
Wilson, "Congressional Government" (1890), Ch. 2.

शासन का कार्य-क्षेत्र

(१) शासन के कार्यों के सिद्धान्त

अराजकतावादी मत

अराजकतावादी सिद्धान्त

राज्य की आवश्यकता एवं कार्यों के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के सिद्धान्त प्रचलित हैं और रहे हैं। ये ऐसे सिद्धान्त हैं जिनके अनुसार राज्य की न कोई आवश्यकता है और न कोई उपयोगिता ही और जो उसे अनुसंधानमात्र मानते हैं। इसके विपरीत ऐसे सिद्धान्त भी हैं जो राज्य को 'मनुष्य के मन की सबसे शक्तिशाली रचना, मानव प्रयोजन की सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति'[१] तथा एक ऐसी अत्यन्त आवश्यक संस्था मानते हैं जिसके द्वारा समस्त सामाजिक, औद्योगिक, कलात्मक, साहित्यिक और वैज्ञानिक प्रगति हुई है।[२]

एक और अराजकतावादी हैं जो विस्तार की बातों में आपस में मतभेद रखते हुए भी राज्य को हिंसात्मक मान कर उसका विरोध तथा उसके विनाश की इच्छा करने में एकमत हैं। उनका एक वर्ग, 'क्रान्तिकारी अराजकतावादी' तो उससे मुक्ति प्राप्त करने के लिए हिंसात्मक उपायों का प्रयोग भी ठीक समझता है और इसके फलस्वरूप वे शासनाधिकारियों की हत्या तथा राजकीय सम्पत्ति, भवन, कार्यालय आदि को बम फेंक कर या अन्य उपायों द्वारा नष्ट कर देना उचित समझते हैं। उनका एक दूसरा वर्ग 'दार्शनिक अराजकतावादियों' का है जिसमें अधिकतर विचारक हैं और जो जनता को राज्य की अनुपयोगिता एवं अनावश्यकता तथा अराजक समाज (Anarchic Society) की श्रेष्ठता बतलाने के लिए प्रचार तथा तर्क तक ही अपने कार्य को सीमित रखना चाहते हैं। वे समस्त शासन के विरुद्ध नहीं, वरन् उस शासन के विरुद्ध हैं जो बल-प्रयोग एवं दमन के आधार पर स्थिर है। संक्षेप में, वे ऐसे शासन के विरुद्ध हैं जिसके लिए उन्होंने स्वतन्त्रता से अपनी अनुमति नहीं दी हो। इस तर्क के उत्तर में कि आधुनिक प्रजातन्त्रात्मक शासन शासितों की अनुमति पर कायम हैं, वे कहते हैं कि यह केवल सिद्धान्तमात्र है, इसमें तथ्य बिल्कुल नहीं है। वे कहते हैं कि यह अनुमति भी केवल बहुमत की अनुमति है और वह भी स्पष्टरूप से स्वतन्त्रतापूर्वक शायद ही कभी दी जाती हो। उनका कहना है कि किसी भी दशा में एक विशाल अल्पमत पर दबाव डाला जाता है, जिसे उन्होंने कभी स्वीकार नहीं किया है

---

१. Giddings' Apotheosis, "The Responsible State", p. 48.
२. Ward, Pure Sociology, p 555.

और जिसे यदि उन्हें अपना मत प्रकट करने का सुयोग मिले तो वे कदापि स्वीकार नहीं करेंगे। हक्सले के अनुसार अराजकता समाज की ऐसी अवस्था है 'जिसमें प्रत्येक व्यक्ति द्वारा स्वयं अपना शासन ही ऐसा शासन होता है जिसका औचित्य स्वीकार किया जाता है—वह ऐसा शासन है जिसमें कोई व्यक्ति अपने पड़ोसी की रक्षा के लिए बल-प्रयोग द्वारा विवश नहीं किया जाता।'[1] अराजकतावाद के सबसे मेधावी प्रतिपादक क्रोपॉटकिन के अनुसार अराजकतात्मक शासन की मुख्य विशिष्टता यह है कि उसमें कोई दबाव नहीं होता, न कोई कानून (Law) और न बल-प्रयोग करने वाली कोई सरकार।[2] अराजकतावादी प्रत्येक वर्तमान शासन के विरुद्ध हैं, केवल इसलिए नहीं कि वह व्यक्ति पर उसकी अनुमति के बिना दबाव डालता है और इस प्रकार स्वतन्त्रता तथा वास्तविक स्वशासन का शत्रु है, वरन् इसलिए भी कि समस्त सरकारें बिना किसी अपवाद के नैपुण्यहीन सिद्ध हुई हैं, वे स्वेच्छाचारी तथा अत्याचारपूर्ण हैं, अतः घृणाजनक भी हैं; उनका संचालन विशेषाधिकारयुक्त वर्ग के हित में किया जाता है, वे जिस समान व्यवहार की बात करते हैं, वह कोरी कल्पना ही है, उसका कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं है। अराजकतावादी के अनुसार एक व्यक्ति को समाज पर दबाव डालने का उतना ही नैतिक अधिकार है जितना समाज को उस पर है।[3] कुछ अराजकतावादी, जैसे टॉलस्टॉय, राज्य की निंदा इसलिए करते हैं कि वह युद्ध को प्रोत्साहन देता है और युद्ध करता भी है। राज्य अपने प्रचार-यन्त्र द्वारा अपने नागरिकों में दूसरे राज्यों की जनता के विरुद्ध विषाक्त प्रचार करता है; वह लूट, आक्रमण और सरासर डकैतियाँ करता है, इस कारण वह महान् अपराधी तथा मानव जाति का घोर शत्रु एवं विनाशक है।'[4]

शासन के स्थान पर क्या हो ?

अराजकतावादियों में इस बात में मतैक्य नहीं है कि राज्य के स्थान पर किस प्रकार की व्यवस्था स्थापित होनी चाहिए। जिन अराजकतावादियों ने रचनात्मक प्रस्ताव करने का साहस किया है, उनका मत है कि दमनकारी राज्य के स्थान पर ऐसी ऐच्छिक समाओं (Voluntary Associations) की व्यवस्था पर्याप्त और वाञ्छनीय होगी जिनका प्रत्येक व्यक्ति अपनी स्वतन्त्र इच्छानुसार सदस्य बन सकेगा और जब चाहे उनसे पृथक् भी हो सकेगा।[5] ये समाएँ शासन के जो थोड़े से कार्य आवश्यक

---

१. Collected Essays, Vol. I, p. 333. तुलना भी कीजिये, B. Russell, Proposed Roads to Freedom, p. 33; Jethro Brown, The Underlying Principles of Modern Legislation, p. 7; and Zenker, Anarchism, p. 3 Encyclopedia of Social Reform के पृष्ठ ५५ पर अराजकता का अर्थ बतलाया गया है—व्यक्ति के सहज नैतिक एवं उचित व्यवहार पर, जिसे अज्ञानी कानूनों ने अपराधी ठहरा रखा है, लगे हुए समस्त नियन्त्रणों का निराकरण।'

२. उनकी निम्नलिखित पुस्तकें देखिये, Fields, Factories and Workshops and Conquest of Bread.

३. Tucker, Instead of a Book, p. 132.

४. Tolstoy, What To Do, The Kingdom of God is Within You.

५. क्रोपाटकिन (Law and Authority, pp 18, 66) तथा बेंजामिन टुकर Instead of a Book, pp. 32, 326) ने यही मत प्रकट किया है।

हैं, उनका सम्पादन करेंगी, यथा आन्तरिक व्यवस्था का संरक्षण, इकरारनामों पर अमल, राष्ट्रीय रक्षा की व्यवस्था आदि। वे उन व्यक्तियों को अपनी सेवा प्रदान करेंगी जो उनकी रक्षा चाहेंगे और प्रतियोगिता में जो सर्वाधिक निपुण होंगे या कम से कम दामों पर वस्तुएं बेचेंगे, उन्हें अधिक काम मिलेगा। अराजकतावादियों की दृष्टि में इस व्यवस्था की वर्तमान व्यवस्था से श्रेष्ठता इस बात में है कि इस व्यवस्था में दबाव तथा बल-प्रयोग को स्थान नहीं है। वह ऐसी व्यवस्था होगी जो समस्त व्यक्तियों की स्वतन्त्र अनुमति से स्थापित होगी और इस कारण उसमें सच्ची स्वतन्त्रता तथा सच्चा स्वराज्य होगा।

अराजकतावादी तर्क का उत्तर

अराजकतावादियों ने अपने मत के समर्थन में जो तर्क दिये हैं, उन सब पर विचार करना आवश्यक नहीं है। यह कथन ही पर्याप्त है कि उनका समस्त पक्ष ही दोषपूर्ण है। प्रथम, उनका मत शासन को, जिसे वे दमनकारी (Coercive) कहते हैं, प्रकृति के सम्बन्ध में गलत मान्यताओं के आधार पर स्थिर है और दूसरे, शासन के स्थान पर उन्होंने जो व्यवस्था बतलाई है, वह आज के पेचीदा समाज में सर्वथा अपर्याप्त होगी। उन्होंने राज्य की जो आलोचना की है, वह पूर्णतः निराधार नहीं है; परन्तु उसमें अतिशयोक्ति बहुत अधिक है और उसके स्थान पर जिस व्यवस्था की स्थापना की जायगी, वह उन भ्रान्तियों से मुक्त नहीं होगी।

उनकी यह मान्यता गलत है कि शासन के समस्त कार्य आक्रमण पर आधारित हैं तथा उसी से उत्पन्न हुए हैं और शासन के कार्य में दमन तथा बल प्रयोग आवश्यक होता है। आजकल के शासनों के कार्यों का अधिक भाग ऐसा है जो सहायता के रूप में होता है और उसमें व्यक्ति पर कोई दबाव नहीं पड़ता। इसके अतिरिक्त उनकी यह मान्यता भी सत्य नहीं है कि बल तथा प्रतिबन्ध इस दुनिया से दूर किये जा सकते हैं। अनुभव तथा मानव प्रकृति का हमारा ज्ञान इस मान्यता की पुष्टि नहीं करता। इतिहास हमें यह सिखलाता है कि यदि व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर से समस्त प्रतिबन्ध हटा लिये जांय और प्रत्येक व्यक्ति को अपनी स्वतन्त्रता की सीमा निर्धारित करने का अधिकार दे दिया जाय तो जो सीमाएं निर्धारित की जायंगी, वे परस्पर-विरोधी होंगी और उसका परिणाम यह होगा कि जो शक्तिशाली होंगे, वे दुर्बलों पर अपने निर्णय थोपेंगे तथा अन्याय एवं अत्याचार करेंगे और उस स्थिति में हम जो प्राप्त करेंगे, वह होगा सबलों का अत्याचार तथा निर्बलों की पराधीनता, सब व्यक्तियों की स्वतन्त्रता नहीं।[1] जैसा रिची ने कहा है, अमर्यादित स्वतन्त्रता का किसी स्वस्थ मस्तिष्क वाले या विवेकशील व्यक्ति ने कभी दावा नहीं किया।[2] मानव जीवन का नियम शैशव से मृत्यु तक मर्यादाओं का नियम है।[3] यदि मानव प्रकृति भिन्न भी होती जिससे सामान्य स्त्री-पुरुषों को समुचित रीति से व्यवहार करने में किसी प्रतिबन्ध की आवश्यकता न पड़ती तो भी समाज को विक्षिप्त मस्तिष्क वाले पुरुषों, नैतिक दृष्टि से पतित व्यक्तियों और जो क्षणिक भावावेश में आकर अपराध कर डालते हैं उनसे भय रहेगा। जैसा बर्ट्रेण्ड रसेल ने, जो स्वयं भी अराजकतावाद का महानुभूतिपूर्ण

१. तुलना कीजिये, Lacy, Liberty and Law, p. 100.
२. Studies in Political and Social Ethics, p. 136.
३. तुलना कीजिये, McKinnon, History of Modern Liberty, Vol. I, p vii.

समालोचक है, कहा है—'यदि, जैसा अराजकतावादी चाहते हैं, शासन द्वारा बल-प्रयोग नहीं किया जाय तो बहुमत संगठित होकर अल्पमत के विरुद्ध बल-प्रयोग कर सकेगा। अन्तर केवल इतना ही होगा कि उसकी पुलिस एवं सेना अस्थायी होगी, स्थायी तथा व्यवसायी नहीं।' उसका निष्कर्ष यह है—'अराजकतावादियों का समाज का ऐसा आदर्श, जिसमें कानून द्वारा कोई भी कार्य निषिद्ध न हो, उनके अभीष्ट समाज की स्थिरता के लिए कम से कम वर्तमान समय में तो अनुकूल नहीं है।'[2] राज्य के दोषों, उसकी गलतियों, नैपुण्यहीनता, सत्ता का दुरुपयोग आदि के सम्बन्ध में कुछ भी कहा जाय, सभ्य समाज के लिए वह किसी न किसी रूप में सर्वथा अनिवार्य है और सदा रहेगा। सीले ने ठीक ही कहा है कि मानव इतिहास में जो कुछ भी महान् एवं प्रशंसनीय है, वह शासित समाज में ही उपलब्ध हुआ है, अर्थात् वह स्वतन्त्रता पर मर्यादाएँ लगाने का ही परिणाम है।[3] यदि राज्य का विनाश कर दिया जाय तो कुछ काल तक अराजक स्थिति रहने के बाद उसके स्थान पर पैतृक शासन-प्रणाली अथवा अन्य कोई प्राथमिक 'प्राकृतिक' समुदाय-व्यवस्था प्रतिष्ठित हो जायगी, अर्थात् समाज फिर से अपनी प्राथमिक अवस्था और अपने निम्नतम तत्वों से विकास करना प्रारम्भ करेगा और अन्त में राज्य की पुनः स्थापना करके ही बर्बरता एवं असभ्यता से मुक्ति पा सकेगा।[4] फिर भी, जैसा अराजकतावाद के कुछ सहृदय समालोचकों का विचार है, यद्यपि अराजकतावादियों की अनेक मान्यताएँ सत्य नहीं हैं और राज्य के स्थान पर वे जिस व्यवस्था को स्थापित करना चाहते हैं, वह प्रभावकारी सिद्ध नहीं होगी, तथापि शासन के विरुद्ध उन्होंने जो दोषारोप किये हैं और जिन्हें हम व्यवहार में देखते हैं, वे अधिकांश में सत्य ही हैं। समस्त राज्यों में सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक दोष हैं जो अधिकांश में निकृष्ट, उदासीन, क्षमताहीन तथा भ्रष्ट शासन के कारण हैं। इन्हीं दोषों के कारण अनेक व्यक्तियों की दृष्टि में राज्य बदनाम हो गया है और उनके चित्त में उसके प्रति घृणा के भाव प्रादुर्भूत हो गये हैं। एक सुप्रसिद्ध लेखक ने कहा है—'अराजकतावाद हमारी नागरिकता की भावना को एक चुनौती देता है जिसे हमको गम्भीरतापूर्वक स्वीकार कर लेना होगा और जो राजनीतिक संस्थाओं में विश्वास करते हैं, उन्हें चाहिए कि वे उन्हें ऐसा बनावें जिनसे जनता की उनके प्रति भक्ति एवं श्रद्धा बढ़े।'[5]

(२) व्यक्तिवादी सिद्धान्त

सिद्धान्त की व्याख्या

अराजकतावादियों से भिन्न व्यक्तिवादी लोग राज्य की आवश्यकता स्वीकार

---

१. तुलना कीजिये, Douglas, Anarchism, in Merriam and Others, Political Theories, Recent Times, p. 215.
२. Proposed Roads to Freedom, pp. 121, 199,
३ Introduction to Political Science, p. 127.
४. तुलना कीजिये, Ritchie, Principles of State Interference, p. 57 ; Amos, Science of Law, p. 70 ; Jevons, The State in Relation to Labor, p. 13.
५. Brown, The Underlying Principles of Modern Legislation, p. 31. तुलना कीजिये, Joad, Modern Political Theory, pp. 102-103.

करते हैं, परन्तु वे अराजकतावादियों की भाँति उसे आवश्यक रूप से एक अनिष्ट मानते हैं। इसलिए उनका विश्वास है कि शासन अथवा राज्य के कार्य (Functions) सीमित होने चाहिए और केवल उतने ही होने चाहिए जिससे शान्ति, व्यवस्था और सुरक्षा कायम रह सके। व्यक्तिवाद के सिद्धान्त (Individualistic or Laissez Faire Theory) व्यक्ति पर समस्त प्रतिबन्धों को प्रतिबन्ध की हैसियत में एक दोष और राज्य की सत्ता के प्रत्येक विस्तार को व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर उतना ही अधिक आक्रमण मानता है। उसकी दृष्टि में राज्य की आवश्यकता केवल इस कारण है कि मनुष्य स्वाभाविक रूप से अहकारी है जिसके कारण वह अपनी स्वार्थ-साधना के लिए दूसरों के अधिकारों की उपेक्षा करता है। एक सुप्रसिद्ध फ्रेंच लेखक जूल्स साईमन ने व्यक्तिवाद की प्रतिवादी व्याख्या करते हुए कहा है कि राज्य को अपने आपको अनुपयोगी बनाने तथा अपनी मृत्यु का स्वयं आह्वान करने का प्रयत्न करना चाहिए। इसी प्रकार का भाव इतिहासकार फ्रीमैन ने भी ऐसी भाषा में प्रकट किया है जिसमें अराजकतावाद का स्पष्ट आभास मिलता है। उसने कहा है कि 'आदर्श शासन-प्रणाली शासन का अभाव ही है, किसी भी रूप में शासन का अस्तित्व मानव की अपूर्णता का लक्षण है।'[1] व्यक्तिवादी का यह तर्क है कि राज्य का अस्तित्व केवल अपराध के अस्तित्व के कारण है और इसलिए शासन या राज्य का मुख्य उद्देश्य व्यक्तियों की रक्षा एवं नियन्त्रण है—वर्द्धन एवं पोषण नहीं। जब राज्य यातायात के लिए रेल का प्रबन्ध करता है, डाक तथा तार का प्रबन्ध करता है और नाट्य-गृहों को आर्थिक सहायता देता है तथा मनोरंजनों की स्वयं व्यवस्था करता है; वाचनालयों, अद्भुतालयों, कलाकक्षों, चिकित्सालयों, पशुवाटिकाओं, उद्यानों, क्रीड़ा-क्षेत्रों तथा सार्वजनिक स्नानागारों एवं शौचालयों की व्यवस्था करता है, निर्धनों के लिए निवास-गृहों और विद्यालयों, विश्व-विद्यालयों एवं विज्ञान-शालाओं का निर्माण करता है तथा विदेशों में वैज्ञानिक शिष्ट-मण्डलों को भेजने की व्यवस्था करता है तो वह केवल ऐसे कार्य ही नहीं करता जो व्यक्ति की रक्षा के लिए आवश्यक नहीं है जिसके आधार पर ही शासन के अस्तित्व का औचित्य स्थिर है, वरन् इस प्रकार वह व्यक्ति के निजी कार्य-क्षेत्र पर आक्रमण तथा उसके द्वारा उसकी स्वतन्त्रता पर प्रहार करता है। इसलिए अधिकांश व्यक्तिवादी सार्वजनिक शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य-सफाई, टीका लगाना तथा उद्योग-वाणिज्य सम्बन्धी नियमों, विशुद्ध खाद्यान्न सम्बन्धी नियमों आदि को, वस्तुतः उन सब नियमों की निन्दा करते हैं जो उद्योग-व्यवसायों पर नियन्त्रण लगाते हैं या व्यक्तियों की सामाजिक अथवा नैतिक आदतों में हस्तक्षेप करते हैं। संक्षेप में, उनका यह कथन है कि उद्योग तथा नैतिकता के सम्बन्ध में राज्य का एकमात्र कर्त्तव्य व्यक्ति को स्वतन्त्र ही रहने देना है।' व्यक्तिवादी कहते हैं कि आधुनिक राज्य बहुत अधिक कार्य करना चाहता है। उसका यह विचार है कि राज्य को इकरारों पर अमल करवाने, सम्पत्ति की रक्षा करने, शान्ति कायम रखने, अपराधियों को दण्ड देने और समाज की बाह्य आक्रमण से रक्षा करने के लिए एक पुलिस-संगठन से अधिक कुछ

---

१. Donisithorpe, Individualism, p. 38. ब्रूम स्मिथ (Liberty and Liberalism, p. 251) ने कहा है कि पार्लमेण्ट का प्रत्येक कानून, यदि उसका वास्तव में कोई प्रभाव हो, किसी न किसी की स्वतन्त्रता का अपहरण करता है क्योंकि वह आवश्यक रूप से किसी कार्य को, जो पहले स्वेच्छा से किया जाता था, करने या न करने का आदेश देता है।

नहीं होना चाहिए और जब राज्य इन कार्यों का सम्पादन कर लेता है तो उसके समस्त कार्य पूरे हो जाते हैं।[1]

व्यक्तिवाद के सिद्धान्त की उत्पत्ति

एक राजनीतिक सिद्धान्त के रूप में व्यक्तिवाद का जन्म अठारहवीं शताब्दी में योरोप में अति-शासन के दूषणों के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया के रूप में हुआ। फिजियोक्रेटिक (Physiocratic) अर्थशास्त्रियों का यह प्रमुख सिद्धान्त था कि राज्य को उद्योगों के सम्बन्ध में प्रतिबन्ध लगाकर आर्थिक कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए, उसे तो केवल उन नैसर्गिक नियमों की रक्षा करनी चाहिए जिनके अनुसार उत्पादन, यदि वह स्वतन्त्र छोड़ दिया, तो स्वयं सर्वश्रेष्ठ रीति से अपना नियमन कर सकेगा।[2] अत: उन्होंने राज्य की सर्वशक्तिमत्ता के प्रचलित विचारों का विरोध किया और व्यापार तथा उद्योगों के सम्बन्ध में स्वतन्त्रता की माँग पेश की। इस सिद्धान्त को एडम स्मिथ की रचना 'राष्ट्रों की सम्पत्ति' (Wealth of Nations) से जो सन् १७७६ में प्रकाशित हुई, बड़ी शक्ति मिली। इस पुस्तक में, मुख्यत: आर्थिक मामलों में, राज्य द्वारा हस्तक्षेप न किये जाने की नीति का समर्थन किया गया है। स्मिथ ने उस समय श्रमजीवियों के द्वारा उत्पन्न वस्तुओं के स्वतन्त्र विनिमय पर प्रतिबन्ध लगाने वाले तथा श्रमिकों की स्वतन्त्र निर्बाध नियुक्ति में हस्तक्षेप करने वाले नियमों को अनिष्टकारी तथा स्वयं उनके ही (कानूनों के) प्रयोजन के लिए विनाशकारी बतलाया।

इसके बाद आर्थिक क्षेत्र में स्वाभाविक स्वतन्त्रता के सिद्धान्त का अनेक अर्थशास्त्रियों ने समर्थन किया जिनमें इंगलैण्ड के रिकार्डो और माल्थस, फ्रान्स के डी० टॉकविल, दनोये, लोयो से और टेन तथा जर्मनी के काण्ट, फिश्टे और हमबोल्ड आदि सुप्रसिद्ध हैं। पिछले वर्षों में फ्रान्स में लावोलाये तथा माइकेल, इंगलैण्ड में हर्बर्ट स्पेंसर और जॉन स्टुअर्ट मिल, अर्ल वेमिस, ड्यूक ऑफ आर्गिल, ब्रूम स्मिथ, वर्ड्सवर्थ डॉनिस्थोर्प आदि ने व्यक्तिवाद का समर्थन किया है।[3]

इस सम्बन्ध में सरकार के न्यूनतम कार्य का समर्थन करते हुए सबसे पूर्व प्रशा के एक प्रसिद्ध लेखक विलहेल्म हमबोल्ट ने सन् १७९१ में एक पुस्तक लिखी, परन्तु

१. Administrative Nihilism पर अपने एक निबन्ध में हक्सले ने व्यक्तिवादियों की मनोवृत्ति की चर्चा करते हुए लिखा है कि 'उनके विचार के अनुसार राज्य को सार्वजनिक पार्क या क्रीडास्थल के लिए एक रुपया भी खर्च नहीं करना चाहिए। मूर्खों का पेट भरने तथा बीमारों के उपचार में एक अठन्नी भी व्यय नहीं करनी चाहिए। जो इस मत को मानते हैं, वे उसका समर्थन दो तर्कों द्वारा करते हैं। एक तो वे पहले से ही मान लेते हैं कि अपनी प्रजा की बाह्य आक्रमण से रक्षा के अतिरिक्त कोई कार्य करने का राज्य का कोई अधिकार नहीं है। इसके अतिरिक्त वे राज्य को केवल एक पुलिस का कर्मचारी समझते हैं जिसका लूट तथा हत्या को रोकना तथा इकरारों पर अमल करवाने से कम या अधिक कोई कर्त्तव्य नहीं है।

२. तुलना कीजिये, Sidgwick, Political Economy, p 399.

३. इंगलैण्ड में व्यक्तिवाद के सिद्धान्तों से Liberty and Property Defence League ने खूब लाभ उठाया और उनका खूब प्रचार किया। इस सस्था का उद्देश्य आवश्यकता से अधिक कानून-निर्माण का विरोध करना और समाजवाद के विरुद्ध व्यक्तिवाद का समर्थन करना था।

राजनीतिक कारणों से वह सन् १८५२ मे अर्थात् लेखक की मृत्यु के बाद प्रकाशित हुई। इस पुस्तक का सन् १८५४ मे 'राज्य का क्षेत्र एवं कर्त्तव्य' (Sphere and Duties of State) नाम से आंग्ल भाषा मे अनुवाद हुआ। इस लेखक ने यह मत प्रकट किया कि 'राज्य को नागरिकों के जन-कल्याण की चिन्ता से दूर रहना चाहिए और नागरिकों की पारस्परिक सुरक्षा तथा बाहरी शत्रु से रक्षा के लिए जितना कार्य आवश्यक है उससे आगे एक पग भी नहीं बढ़ना चाहिए।' इन्हीं कार्यों के लिए राज्य को व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगाना चाहिए। उसने स्पष्ट शब्दों में कहा कि 'राज्य को जो सबसे बड़ी बात अपनी दृष्टि मे रखना चाहिए, वह है—समस्त व्यक्तियों की अपनी-अपनी शक्तियों का पूर्ण व्यक्तित्व मे विकास ; अत: जिस कार्य को वे स्वयं नहीं कर सकते (अर्थात् सुरक्षा) उसके अतिरिक्त राज्य को कोई काम अपने हाथ में नहीं लेना चाहिए। यही एक ऐसा सत्य और निर्भ्रान्त साधन है जिसके द्वारा प्रकट में परस्पर-विरोधी प्रतीत होने वाली दो वस्तुओं—अर्थात् राज्य के लक्ष्य तथा समस्त नागरिकों के सामूहिक उद्देश्यों के बीच स्थायी एवं दृढ़ सम्बन्ध स्थापित हो सकता है।'[1]

जान स्टुअर्ट मिल द्वारा समर्थन

इंगलैण्ड मे जॉन स्टुअर्ट मिल ने व्यक्तिवादी सिद्धान्त का प्रबल समर्थन किया। अपने सन् १८५९ मे प्रकाशित सुप्रसिद्ध निबन्ध 'स्वतन्त्रता' (Liberty) मे उसने व्यक्तिवादी सिद्धान्त पर इस प्रकार अपने प्रसिद्ध विचार प्रकट किये हैं ; 'वह एकमात्र प्रयोजन, जिसके लिए मानव-समाज का वैयक्तिक अथवा सामूहिक दृष्टि से अपने में से किसी की भी कार्य करने की स्वतन्त्रता मे हस्तक्षेप उचित हो सकता है, आत्मरक्षा ही है। वह एकमात्र प्रयोजन, जिसके लिए सभ्य समाज के किसी सदस्य पर उसकी इच्छा के विरुद्ध सत्ता का प्रयोग हो सकता है, दूसरो को हानि से बचाना ही है। केवल व्यक्ति का ही हित, चाहे वह शारीरिक हो या नैतिक, हस्तक्षेप को उचित नहीं बना सकता ... व्यक्ति अपने आचरण के केवल उस भाग के लिए ही समाज के प्रति उत्तरदायी है जिसका दूसरो से सम्बन्ध है। उसके आचरण का जो भाग स्वयं उसी से सम्बन्धित है, उसके सम्बन्ध मे व्यक्ति की स्वतन्त्रता निरपेक्ष है। व्यक्ति स्वयं अपने शरीर तथा मन का स्वामी है।'[2]

कार्यों की एक ऐसी कोटि है जिसका उसके कर्त्ता पर ही प्रभाव पड़ता है (Self-regarding acts) और दूसरी कोटि के ऐसे कार्य हैं जिनका प्रभाव कर्त्ता तथा समाज पर भी पड़ता है (Social acts)। पूर्व प्रकार के कार्यों के लिए व्यक्ति समाज के प्रति उत्तरदायी नहीं है और उनके लिए उचित दृष्टि से लोकमत द्वारा निंदा के अतिरिक्त कोई दण्ड नहीं दिया जा सकता।[3] यदि व्यक्ति 'अपनी सत्ताओं की पूर्ण परिपक्वता' को प्राप्त है तो समाज यह नहीं कह सकता कि वह अपने जीवन के साथ मनोवांछित आचरण नहीं कर सकता। इस विषय में दूसरा कोई भी सिद्धान्त यह

---

१ Humboldt, Sphere and Duties of The State, p. 185. हमबोल्ट बाद मे प्रशा का शिक्षा-मन्त्री नियुक्त हुआ और उसने बर्लिन यूनीवर्सिटी की स्थापना की, जिसे राज्य से सहायता मिलती थी। वह शिक्षा के लिए राज्य की ओर से सहायता का समर्थन करता था।

२. Mill, Liberty (People's Edition), p 9.

३. वही, पृष्ठ ४६, ५५.

मान लेता है कि मानव समाज का एक-दूसरे की नैतिक, बौद्धिक, यहाँ तक कि शारीरिक पूर्णता तक में स्थापित हित है जिसकी मात्रा का निर्धारण प्रत्येक दावेदार अपने ही मानदण्ड द्वारा कर सकता है।[1]

हर्बर्ट स्पेन्सर द्वारा समर्थन

हर्बर्ट स्पेन्सर ने शासन के व्यक्तिवादी सिद्धान्त का उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में प्रकाशित अपने निबन्ध-संग्रहों, 'Social Statics' तथा 'Man Versus the State' में बड़ा विशदरूप से समर्थन किया है। इन ग्रन्थों ने उन दिनों इस सिद्धान्त को लोकप्रिय बनाने में बड़ा कार्य किया। परन्तु आज उनके पाठक कम मिलते हैं, उनके समर्थकों की संख्या तो और भी कम है। स्पेन्सर ने अपनी विवेचना का प्रारम्भ ही इस कथन के साथ किया कि राज्य का अस्तित्व मानव के नैसर्गिक दुराग्रह एवं अहकार के परिणामस्वरूप है और वास्तव में यह आक्रामक है, रक्षक नहीं। उसने कहा कि यह बात सत्य हो या न हो कि मानव का निर्माण अन्याय में हुआ है और उसका गर्भाधान पाप में हुआ है, परन्तु यह सर्वथा सत्य है कि शासन का जन्म आक्रमण से तथा आक्रमण के द्वारा हुआ है।' चूँकि शासन की स्थापना व्यक्ति की दुष्प्रवृत्तियों को नियन्त्रित करने तथा दूसरों की हिंसा तथा छल-कपट से उसकी रक्षा करने के लिए हुई है, अतः समाज की नैतिकता की दृष्टि से पूर्ण अवस्था में शासन की कोई आवश्यकता ही नहीं रहती। वह प्रश्न करता है, 'क्या हमने यह सिद्ध नहीं किया है कि शासन आवश्यक रूप से दुराचारी है ? . . . क्या इसका अस्तित्व इसलिए नहीं है कि अपराध का अस्तित्व है और जब अपराध न रहें तो क्या शासन का भी अन्त नहीं हो जाना चाहिए, क्योंकि फिर उसके पास काम ही क्या रहेगा ?' स्पेन्सर ने आगे चलकर कहा कि 'यह सोचना भूल है कि शासन सदैव के लिए कायम रहेगा। वह आवश्यक नहीं, आकस्मिक है। जिस प्रकार हमें बुशमेनों (Bushmen) में शासन के पहले राज्य दिखाई देता है, उसी प्रकार ऐसा राज्य भी हो सकता है जिसमें शासन का बिलकुल ही अन्त हो गया हो।' स्पेन्सर के मत में यह सिद्धान्त कि 'राज्य वह सब कुछ करने में समर्थ है जिसे सत्ताधारी अधिकारी उचित समझते हैं अथवा जिससे सबसे अधिक मात्रा में सुख की सृष्टि हो अथवा जिससे जनता का सामान्य हित हो—शासन के स्वेच्छाचार का सिद्धान्त है क्योंकि इसके लिए हमारे पास कोई मानदण्ड नहीं जिससे हम यह जान सकें कि 'उचित' क्या है *या किस बात में सामान्य कल्याण है*; शासक वर्ग जैसा कहें, वैसा ही मान लेना पड़ता है। अपनी पुस्तक Social Statics के प्रथम संस्करण में स्पेन्सर ने यहाँ तक लिखा है कि व्यक्ति को 'राज्य' की उपेक्षा करने, उसके साथ अपना सम्बन्ध त्याग देने उसकी रक्षा प्राप्त करने से इन्कार कर देने और उसके द्वारा लादे गये भार को त्याग कर स्वेच्छापूर्वक न्याय के क्षेत्र के बाहर रहने का अधिकार है।[2]

उसने अत्यधिक अनुशासन तथा सेना के समान संगठनयुक्त 'सामरिक समाज' (Militant Society) का वर्णन किया और उसकी तुलना 'औद्योगिक समाज' से की। स्थिति पर आधारित व्यवस्था (Regime of Status) में व्यक्ति की दशा की इकरार पर आधारित व्यवस्था (Regime of Contract) में उसकी दशा से तुलना की और जोर देकर अपना मत प्रकट किया कि ऐच्छिक सहयोग अनिवार्य सहयोग की अपेक्षा तथा निषेधात्मक नियमन विध्यात्मक नियमन की अपेक्षा अधिक हितप्रद है।

---

१. वहीं, पृष्ठ ५३.
२. Man Versus The State, Ch. 19.

उसने यह भी बतलाया कि अतीत काल का अनुभव यह सिद्ध करता है कि सुख की प्राप्ति राज्यों के कार्यों से नहीं होती, वरन् स्वतन्त्र रहने से होती है। व्यक्ति के सुयोगों को एक ओर से कम करके दूसरी ओर बढ़ा देने से शासन के यन्त्र के घर्षण के कारण सदा हानि ही होती है। शासन का कार्य 'निषेधात्मक रूप में नियामक' (Negatively regulative) होना चाहिए, अर्थात् उसका कार्य दूषणों को दूर करना है, लोगों को ऐसे कामों में सहायता देकर, जिन्हें वे स्वयं उतनी ही अच्छी तरह या उससे भी अच्छी तरह कर सकते हैं, सुखी बनाना नहीं है। 'केवल न्याय-प्रबन्ध की व्यवस्था करना तथा व्यक्तियों के अधिकारों की रक्षा करना ही राज्य के समुचित कार्य हैं और जब वह इनसे अधिक कार्य करता है, तभी वह अपने लक्ष्यों का खण्डन करता है। राज्य का कर्तव्य मनुष्य के पूर्व-प्रतिष्ठित अधिकारों को कानून में स्थान देना है, उनका निर्माण नहीं तथा उन्हें कार्यान्वित करना है, उन पर एक आक्रमण के समान प्रहार करना नहीं। व्यक्ति का केवल एक ही अधिकार है—अन्य समस्त व्यक्तियों के साथ समान स्वतन्त्रता का अधिकार और राज्य का भी केवल एक ही कर्तव्य है और वह है—व्यक्ति के इस अधिकार की छल-कपट तथा हिंसा से रक्षा करना।

राज्य के हस्तक्षेप की स्पेन्सर द्वारा निन्दा

स्पेन्सर ने व्यापार-वाणिज्य के समस्त नियमन, टीका आदि सफाई-सम्बन्धी नियमन, सार्वजनिक शिक्षा, राज्य द्वारा निर्धनों की सहायता, यहाँ तक कि राज्य द्वारा डाकखानों की व्यवस्था और मुद्रा के प्रचलन की भी अत्यन्त निन्दा की है। राज्य द्वारा गरीबों के कष्टों के निवारण के प्रयत्न से उनके कष्टों की वृद्धि ही होती है। जो धन गरीबों की सहायता के लिए बाँटा जाता है, वह श्रमिकों को नये उत्पादक कार्यों के लिए मिलना चाहिए।[१] राज्य द्वारा शिक्षा-व्यवस्था के सम्बन्ध में स्पेन्सर ने लिखा है कि 'किसी व्यक्ति की सम्पत्ति को उसके या दूसरों के बालकों को शिक्षा देने के लिए प्राप्त करना उसके अधिकारों की रक्षा के लिए आवश्यक नहीं है और इसलिए यह गलत है।' राज्य का हस्तक्षेप वहीं उचित है, जहाँ अधिकारों का उल्लंघन हुआ हो किन्तु बालकों को शिक्षा न मिलने से उनके अधिकारों का उल्लंघन नहीं होता।[२] राज्य के सार्वजनिक स्वास्थ्य की रक्षा करने के कर्तव्य का भी उसने विरोध किया, यद्यपि वह यह मानता था कि राज्य बाधाओं का निराकरण कर सकता है।[३] उसके मत में सफाई की व्यवस्था के लिए करों का लगाना निन्दनीय है। उसने यहाँ तक कहा कि 'दुर्वैद्यों तथा उनके संरक्षकों के बीच में राज्य का पड़ना नैतिक नियम का उल्लंघन है' और न बिना अनुमति-पत्र (License)-प्राप्त चिकित्सकों को रोगियों की चिकित्सा करने से रोकना ही उचित है क्योंकि यह व्यक्ति का अविच्छेद्य अधिकार है कि 'वह जो चाहे जिससे औषधि खरीदे, परामर्श करे या अपनी चिकित्सा करावे और इसी प्रकार बिना अनुमति-पत्र-प्राप्त चिकित्सक को भी अधिकार है कि वह चाहे जिस रोगी की चिकित्सा करे। राज्य द्वारा मुद्रा-प्रचार के एकाधिकार के सम्बन्ध में उसका मत था कि यदि राज्य किसी को अन्य वस्तुओं के बदले में कोई मुद्रा या नोट का प्रसार करने से रोके या उसे उनके बदले में किसी मुद्रा या नोट को स्वीकार करने के लिए बाध्य करे तो यह अनुचित है क्योंकि इससे व्यक्तियों के समान स्वाधीनता के

---

१ *Social Statics (1903)*, p. 152.
२. वहीं, पृष्ठ १६६।
३. वहीं, पृष्ठ २००।

नियम तथा विनिमय के नैसर्गिक अधिकार का उल्लंघन होता है।[1] अन्त में, स्पेन्सर ने राज्य द्वारा देश-रक्षा के लिए आवश्यक निर्माण-कार्य को छोड़कर अन्य सार्वजनिक भवनों, सड़कों आदि के निर्माण का भी विरोध किया है और राज्य के डाक-व्यवस्था के एकाधिकार को भी नहीं माना क्योंकि राज्य निजी डाक-व्यवस्था पर प्रतिबन्ध लगाकर व्यक्ति की वाणिज्य की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगाता है और इस प्रकार अपने कर्तव्य का उल्लंघन करता है।[2]

व्यवस्थापकों के पाप

स्पेन्सर ने राज्य पर जो अनेक दोष लगाये हैं, वे अधिकांश में अतीत की भूलों तथा गलतियों पर आधारित हैं। उसकी दृष्टि में कानून 'दुःखद अनुमानों' का कच्चा चिट्ठा है। व्यवस्थापिका-सभा की प्रायः प्रत्येक कार्यवाही उसकी अशक्तता की स्पष्ट स्वीकृति है क्योंकि अधिकांश कानून वर्तमान कानूनों में सुधार एवं संशोधन के हेतु किये जाते हैं।' स्पेन्सर ने अपनी पुस्तक "व्यवस्थापकों के पाप" (The Sins of Legislators) में अतीत काल के मूढ़ कानूनों की समालोचना की है, उनसे जो हानियाँ हुई हैं, उनका दिग्दर्शन कराया है और उससे यह निष्कर्ष निकाला है—क्योंकि उनमें से अधिकांश कानून रद्द हो गये अथवा उनमें संशोधन किये गये, अतः उनको कभी बनाना ही नहीं चाहिए था। उसने 'व्यवस्थापिका की पूजा' की निन्दा की और कहा कि जैसे प्राचीन समय में 'राजाओं का दैवी अधिकार' एक महान् राजनीतिक अन्धविश्वास था, उसी प्रकार वर्तमान समय में 'पार्लमिण्ट का दैवी अधिकार' भी एक महान् राजनीतिक अन्धविश्वास है और पार्लमिण्ट के दैवी अधिकार का अर्थ है—उसके बहुमत का दैवी अधिकार क्योंकि अल्पमत को सम्मान प्राप्त करने का कोई अधिकार नहीं है।[3] कुछ लोग सोचते हैं कि व्यक्तियों को पार्लमिण्ट के कानूनों द्वारा नैतिक या सदाचारी बनाया जा सकता है और जो बात आर्थिक दृष्टि से अनुचित है, वह राज्य की आज्ञा से उचित बन सकती है।

स्पेन्सर के कुछ अनुयायी, जैसे डोनिसथोर्प तथा आबिरॉन हर्बर्ट, राज्य का विरोध करने में और भी आगे बढ़ गये। उन्होंने राज्य द्वारा शिक्षा की व्यवस्था, निर्धनों की सहायता, कारखानों तथा खानों के निरीक्षण, हानिप्रद व्यापारों के नियमन, टीका लगाने के अनिवार्य कानूनों तथा स्वास्थ्य-सम्बन्धी नियमों, राजकीय शपथों की आवश्यकता, रविवार-सम्बन्धी कानूनों, सार्वजनिक मनोरंजन का नियमन करने वाले कानूनों तथा सुरा-विक्रय पर नियन्त्रण आदि का ही विरोध नहीं किया वरन् राज्य द्वारा विवाह-सम्बन्धों के नियमन तथा व्यक्ति को उसके साथियों के आक्रमण से रक्षा करने के लिए आवश्यक बातों को छोड़ कर सामाजिक मामलों में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर किसी भी प्रकार प्रतिबन्ध लगाने का भी विरोध किया।[4]

---

१. वहीं, पृष्ठ २२१-२२६।
२. वहीं, पृष्ठ २३१।
३. वहीं, पृष्ठ ३८६।
४. यह विश्वास करने के लिए कारण है कि अपने जीवन के उत्तरकाल में स्पेन्सर के विचारों में काफी परिवर्तन हो गया था। जॉन फिस्के ने कहा है (Life and Letters, II, 258) कि जब स्पेन्सर सन् १८८२ में संयुक्त राज्य में पहुँचा तो उसने औद्योगिक संसार की अतिशय प्रतियोगिता पर खेद प्रकट किया और राज्य द्वारा नियमन की आवश्यकता को स्वीकार किया। स्पेन्सर के थोड़े से

व्यक्तिवाद का समर्थन—(१) न्याय के आधार पर तर्क

राज्य के कार्यों की व्यक्तिवादी कल्पना के समर्थन में यह कहा जाता है कि सर्वप्रथम न्याय का यह तकाजा है कि राज्य व्यक्ति को अनियन्त्रित रहने दे जिससे वह स्वतन्त्रता के साथ अपने जीवन के लक्ष्यों की पूर्ति कर सके। इस तर्क का समर्थन काण्ट, फिक्टे, हमबोल्ट, मिल आदि ने किया है। उनके अनुसार व्यक्ति की समस्त शक्तियों के सामञ्जस्यपूर्ण विकास के लिए यह आवश्यक है कि राज्य उसके कार्यों में कम से कम हस्तक्षेप करे क्योंकि उसकी कार्य-स्वतन्त्रता पर लगा हुआ प्रत्येक प्रतिबन्ध उसकी प्रवर्तक-शक्ति तथा आत्मनिर्भरता को नष्ट करता है, उसकी दायित्व की भावना को निर्बल करता है, शक्ति को कम करता है तथा चरित्र को कुण्ठित करता है।

हमबोल्ट ने लिखा है कि 'मानव का सच्चा लक्ष्य या वह लक्ष्य जो विवेक उसके लिए स्थिर करता है, अपनी समस्त शक्तियों का उच्चतम एवं अधिक से अधिक सामञ्जस्यपूर्ण विकास है।' उसने यह भी लिखा है कि आवश्यकता से अधिक शासन से केवल स्वतन्त्रता ही कम नहीं होती, उसमें समाज को निष्प्राण बना देने की प्रवृत्ति होती है जिससे एक कृत्रिम राष्ट्रीय एकरूपता तथा कार्य करने की अस्वाभाविक पद्धति भी उत्पन्न होती है। इसी प्रकार का तर्क मिल ने दिया है। उसका कहना है कि अत्यधिक शासन, विशेषकर वह शासन जो बहुत हस्तक्षेप करता है, एक व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार अथवा अपने विवेक के अनुसार कार्य करने से रोक कर उसकी शारीरिक तथा मानसिक शक्तियों के किसी भाग के विकास को रोक देता है।[1] स्वतन्त्र स्पर्धा व्यक्ति में अधिकतम सम्भावनाओं का विकास करती है; नये कार्य को आरम्भ करने की शक्ति को जगाती है और उसकी स्वावलम्बन की भावना को बढ़ाती है, परन्तु अत्यधिक शासन से केवल व्यक्ति के साहस तथा उत्साह का भंग ही नहीं होता तथा व्यापार के स्वाभाविक विकास में बाधा ही नहीं पड़ती, उसमें चरित्र का विकास भी रुक जाता है और व्यक्तियों के पारस्परिक स्वाभाविक संघर्ष में हस्तक्षेप होने के कारण व्यक्ति का व्यक्तित्व एवं उसकी मौलिकता भी नष्ट हो जाती है तथा समाज का स्तर समान्यतया नीचे गिर जाता है।[2] व्यक्तिवाद के समर्थक कहते हैं कि सर्वोच्च सभ्यता का विकास व्यक्तिवाद के अन्तर्गत ही हुआ है, इसके अन्तर्गत पैतृक शासन की अपेक्षा कहीं अधिक शिक्षा सम्बन्धी तथा भौतिक प्रगति हुई है।

अवशिष्ट अनुयायियों में से एक सर रोलेण्ड के० विल्सन हैं जिसने अपनी एक पुस्तक (The Province of State, 1911) में राज्य की व्यक्तिवादी कल्पना का प्रबल समर्थन किया है। राज्य द्वारा शिक्षा-व्यवस्था के सम्बन्ध में उसने कहा है कि राज्य की सभी नीतियों में जिस नीति का समर्थन बिलकुल नहीं किया जा सकता, वह है प्रत्येक को ऐसी पाठशालाओं के लिए खर्च देने के लिए बाध्य करना और सभी बच्चों को ऐसी पाठशालाओं में जबरदस्ती भेजना जिनमें समस्त विवादयोग्य बातों की चर्चा निषिद्ध है। प्राथमिक शिक्षा के लिए राज्य द्वारा व्यवस्था नैतिकता तथा स्वतन्त्रता के लिए बुरी है और माध्यमिक शिक्षा के लिए तो उससे कई गुनी अधिक बुरी है।

१. Political Economy (1864), Vol. II, p. 561; Kant: Principles of Politics, (Translation by Hastie), p. 340.

२. तुलना कीजिये, Bruce Smith, Liberty and Liberalism p. 320. Argyle, Reign of Law, p. 340.

स्पेन्सर ने इस बात पर जोर दिया कि एक अत्यधिक शासित राज्य में 'प्रत्येक व्यक्ति अन्य प्रत्येक व्यक्ति के बराबर होता है।' राज्य द्वारा उद्योग का प्रबन्ध और नियन्त्रण 'आवश्यक रूप से निरंकुश' होता है; कार्य की स्वतन्त्रता को कम करके वह 'अनिवार्य रूप से उसे स्तम्भित करता है', 'क्षोभ दिलाता है', असन्तोष उत्पन्न करता है; अपनी नैपुण्यहीनता तथा अपने नियन्त्रणों के कारण कष्टप्रद होता है; व्यक्तियों को स्वयं अपनी सहायता करने से रोक कर और उनकी सहायता करने का दम भर कर अनादर करता है और उद्धत कर्मचारियों की भीड़ के द्वारा, जो सदा ही व्यक्तियों के कामों में हस्तक्षेप करते रहते हैं, परेशान करता है।[३] अत्यधिक सरकारी कामों तथा समाजवादी हस्तक्षेपों से लोगों का स्वस्थ एवं नैसर्गिक विकास रुकता है। इसके विपरीत स्वतन्त्रता से व्यक्ति का चरित्र उन्नत एवं सबल बनता है और मानव-प्रगति होती है। मिल ने कहा है कि 'जिन लोगों में सामूहिक हित के लिए अपनी ओर से काम करने की आदत नहीं है, जो सामान्य हित के कामों में शासन के आदेश तथा प्रेरणा की अपेक्षा रखते हैं, जो उन कामों को छोड़ कर जिनकी आदत पड़ सकती है, सभी कामों को दूसरों से कराना चाहता है, उनकी शक्तियों का विकास आधा ही होता है और उनकी शिक्षा उसकी अत्यन्त महत्वपूर्ण शाखाओं में से एक में अपूर्ण है।

(२) प्राणि-विज्ञानात्मक तर्क

व्यक्तिवाद के समर्थकों का दावा है कि यह सिद्धान्त स्वस्थ वैज्ञानिक आधार पर भी स्थिर है। वह विकास के सिद्धान्त के अनुकूल है क्योंकि वही एक ऐसी प्रणाली है जिससे आर्थिक संघर्ष में 'योग्यतम की विजय' हो सकेगी। यह सिद्धान्त मानता है कि मानव प्रकृति में आत्म-स्वार्थ एक सार्वभौम सिद्धान्त है। शासन की अपेक्षा प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपने हितों को अधिक अच्छी तरह समझता है और यदि उसे स्वतन्त्र छोड़ दिया जाय तो वह अपने हितों के अनुसार कार्य करेगा। इस सिद्धान्त के अनुसार यह आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति को राज्य की सहायता के बिना अपनी योग्यता के अनुसार स्वावलम्बी होने या नीचे गिरने तथा शासन के पथ-प्रदर्शन एवं संरक्षण के बिना ही अपने भाग्य का निर्माण करने का अवसर दिया जाय। प्रत्येक व्यक्ति को बिना किसी सहायता के अपनी योग्यता के अनुसार कार्य करने देने से जो सबसे योग्यतम तथा शक्तिशाली वर्ग हैं, वे बचे रहेंगे, अयोग्य वर्गों का नाश हो जायगा और इस प्रकार समाज के कल्याण में वृद्धि होगी।

(३) आर्थिक तर्क

यह भी कहा जाता है (और यह व्यक्तिवाद के समर्थकों का महत्वपूर्ण तर्क है) कि हस्तक्षेप न करने की नीति स्वस्थ आर्थिक सिद्धान्तों के आधार पर स्थित है। उद्योगों एवं व्यवसायों का संचालन व्यक्तिगत प्रयत्नों पर छोड़ देने से समाज के लिए अधिक आर्थिक सुपरिणाम निकलते हैं। एडम स्मिथ ने अपनी पुस्तक 'राष्ट्रों की सम्पत्ति' (Wealth of Nations) में बतलाया है कि स्वाभाविक स्वतन्त्रता की प्रणाली में सम्पत्ति का अधिकतम उत्पादन होता है। उपभोक्ता के आत्म-हित से समाज के लिए अधिकतम उपयोगी वस्तुओं की माँग बढ़ेगी और उत्पादनकर्त्ता के आत्म-हित के कारण वे वस्तुएँ कम से कम लागत पर तैयार हो सकेंगी। आर्थिक संघर्ष में व्यक्ति मुख्यतः आत्म-हित के उद्देश्यों से ही प्रेरित होता है। इसलिए यदि उसे अपनी पूँजी का उपभोग अपनी इच्छानुसार करने दिया जाय, उसे अपने श्रम का

---

३. 'Social Statics', p. 135.

अधिकाधिक लाभ के लिये उपयोग करने दिया जाय और वस्तुओं के मूल्यों का माँग तथा पूर्ति के नैसर्गिक नियमों के अनुसार निर्धारण होने दिया जाय तो न केवल व्यक्ति के लिए, वरन् समस्त समाज के लिए अधिक अच्छे परिणाम निकलेंगे। अनियन्त्रित प्रतियोगिता से आर्थिक उत्पादन को उत्तेजना मिलती है ; वेतन एवं मूल्य सामान्य स्तर पर बने रहते हैं और ब्याज की दर अत्यधिक नहीं हो पाती, निपुण सेवा प्राप्त होती है और राज्य द्वारा उद्योग के नियमन अथवा प्रबन्ध से जैसी वस्तुओं का उत्पादन हो सकता है, उससे अधिक अच्छी वस्तुओं का उत्पादन हो सकता है।

(४) अनुभव का तर्क

व्यक्तिवाद के समर्थक यह भी कहते हैं कि अतीत काल के अनुभव से निर्हस्तक्षेप के सिद्धान्त की बुद्धिमत्ता बड़ी अच्छी तरह से सिद्ध होती है। इतिहास में ऐसे उदाहरण भरे पड़े हैं जिनमें राज्य की आज्ञा द्वारा खाद्य, वस्त्र तथा अन्य वस्तुओं के मूल्य निर्धारित करने का प्रयत्न किया गया; श्रमजीवियों के वेतनों के नियमन, कुछ विशेष प्रकार के वस्त्रों के धारण के लिए विधि-निषेध तथा वस्तुओं के निर्यात पर प्रतिबन्ध वस्तु-निर्माण में विशेष प्रकार की मशीनों के प्रयोग पर प्रतिबन्ध, कुछ वस्तुओं के बनाने का अधिकार कुछ विशिष्ट व्यक्तियों तक ही सीमित रखने, कारखानों के लिए स्थानों का निर्णय आदि के नियम, आर्थिक सहायता द्वारा कुछ उद्योगों की सहायता करने तथा कुछ उद्योगों पर अत्यधिक कर लगा कर उन्हें रोकने वाले कानून, श्रमजीवियों के संघ का निषेध करने वाले तथा उनके काम के घण्टे नियत करने तथा कुछ विशिष्ट व्यापार कुछ श्रेणियों (Guilds) तक सीमित रखने वाले कानून, यही नहीं, व्यक्तियों के वस्त्रों की काट-छाँट, दिन में कितनी बार भोजन करना चाहिए, बटन के काज कितने बड़े हों, जूते की लम्बाई कितनी हो, पिनें बनाना तथा कफन किस वस्त्र का बना हो आदि अनेक प्रकार की बातों के नियमन के लिए कानून राज्यों द्वारा बनाये गये हैं। उनमें से अधिकांश बड़े कष्टकर थे और जिन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए वे बनाये गये थे, वे निष्फल हुए। जिन परिणामों की अपेक्षा थी, वे प्रत्येक व्यक्ति को अपना श्रम तथा अपनी वस्तुएँ बेचने के लिए स्वतन्त्र छोड़ देने से अधिक अच्छे प्रकार से प्राप्त हो सकते थे।[1] जिन व्यक्तियों ने ऐसे नियम बनाये, उनके सम्बन्ध में बक्ल ने लिखा है कि 'वे पुरातन मार्ग को ग्रहण कर भूल करते गये ; उन्हें यह विश्वास था कि उनके हस्तक्षेप के बिना कोई व्यापार उन्नति नहीं कर सकता और वे कष्टदायक नियमन द्वारा उस व्यापार में बाधा डालते रहे और यह मानते रहे कि दूसरे देशों के वाणिज्य को हानि पहुँचा कर अपने देश की जनता के व्यापार की समृद्धि करना प्रत्येक शासन का कर्तव्य है।'[2] अन्त में उसने कहा कि शासन-वर्गों ने जिस सीमा तक उद्योग की स्वतन्त्रता में बाधा डाली तथा उसके फलस्वरूप जो क्षति हुई, वह इतनी असामान्य थी कि विचारशील व्यक्ति यह देख कर आश्चर्य करने लगे कि निरन्तर इतनी बाधाओं के होते हुए भी सभ्यता ने कैसे इतनी प्रगति की।

(५) राज्य की असामर्थ्य का तर्क

अन्त में व्यक्तिवादी यह तर्क देते हैं कि राज्य को सर्वज्ञ एवं निर्भ्रान्त मानना

---

१. तुलना कीजिये, Smith, Liberty and Liberalism, p. 247 ऐसे कानूनों की समालोचना के लिए *Hume, History of England*, Vol. II, Ch. 16 तथा Smith, उपर्युक्त, अध्याय ६ देखिये।

२. History of Civilisation, Vol. I, p. 313.

तथा यह मानना कि वह व्यक्ति की आवश्यकताओं को उसकी अपेक्षा अधिक अच्छी तरह समझ सकता है तथा उनकी व्यवस्था कर सकता है, गलत है। साधारणतया यह विश्वास किया जाता है कि शासन हर प्रकार से प्रत्येक कार्य को कर सकते हैं और निजी प्रयत्नों की अपेक्षा अधिक कुशलता के साथ कर सकते हैं; परन्तु अनुभव तथा तर्क इसके सर्वथा विपरीत है। राज्य में अन्वेषण करने या किसी नवीन कार्य को करने की शक्तियाँ व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक नहीं हैं। राज्य निर्माणकारी अंग नहीं है; वह केवल एक ऐसी मशीनरी द्वारा कार्य करने वाला अंग है जिसमें अनेक पहिये हैं जो एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं, राज्य आलोचना का, सामान्य निगमन (Generalization) तथा समन्वय (Co-ordination) का साधन है, जिससे यह निष्कर्ष निकलता है कि राज्य मानव समाज में प्रगति का प्राथमिक कारण नहीं हो सकता, वह तो केवल एक सहायक तथा प्रचार का साधनमात्र ही है।[1] मिल ने कहा है कि प्रत्येक अतिरिक्त कार्य का अर्थ अतिशय भार से लदी हुई संस्था पर नया बोझ डालना है। इसका परिणाम यह होता है कि बहुत से कार्य अनुचित ढंग से किये जाते हैं और बहुत से कार्य इसलिए नहीं हो पाते कि सरकार देर किये बिना उन्हें कर ही नहीं सकती। मिल ने कहा कि अनेकानेक कार्य ऐसे हैं जो उनमें रुचि रखने वाले व्यक्तियों की अपेक्षा शासन द्वारा निकृष्ट रूप से किये जाते हैं, क्योंकि शासन की अपेक्षा वे लोग उन कार्यों को अधिक अच्छी तरह समझते हैं और उन्हें उनकी परवाह भी अधिक होती है। यह ठीक है कि शासन को प्रत्येक प्रकार की सूचना एवं ज्ञान प्राप्त करने तथा पुरस्कार देने के साधन उपलब्ध होते हैं और इस प्रकार वह योग्य से योग्य व्यक्तियों की सेवाएँ प्राप्त कर सकता है, परन्तु ये सब लाभ उस महान् क्षति के सामने कुछ नहीं है जो उन कामों में राज्य की रुचि कम होने के कारण होती है।[2]

---

१. Leroy-Beaulieu, The Modern State, Bk I, Ch. 5.

२. Political Economy, Vol. II, p. 565, Rae ने अपनी पुस्तक Contemporary Socialism में पृष्ठ ४०६ पर लिखा है कि यद्यपि राज्य में कुछ ऐसे विशिष्ट लक्षण हैं जिनके कारण उसे उद्योग-धन्धों का प्रबन्ध करने में सुनिश्चित सुविधा है तो भी उसमें एक स्वाभाविक दोष यह है कि उसके द्वारा संचालित व्यवसाय के उत्पादन में उसका कोई व्यक्तिगत हित नहीं होता, वह अपव्यय पर इतनी तीव्र दृष्टि नहीं रख सकता जितनी निजी व्यवसायी रख सकता है और न उसे प्रयत्न करने के लिए ऐसा कोई प्रभावशाली प्रलोभन ही होता है जो निजी व्यवसाय के स्वामी को रहता है। अकेले इसी स्रोत से सरकारी प्रबन्ध के समस्त दोष उत्पन्न होते हैं, जैसे कार्य करने में अत्यधिक नियमनिष्ठा सार्वजनिक रुचि में होने वाले परिवर्तनों का ज्ञान प्राप्त करने में तथा उत्पादन के उन्नत ढंगों का प्रयोग करने में शिथिलता आदि। सरकारी कर्मचारी निजी व्यवसायों के कर्मचारियों से अधिक योग्य तथा शिक्षणप्राप्त हो सकते हैं, परन्तु एक ओर तो वे मितव्ययिता के प्रति घृणा के लिए तथा दूसरी ओर, व्यवसाय के अप्रगतिशील, अनुत्साही एवं कल्पनाशून्य संचालन के लिए प्रसिद्ध हैं। लेकी ने भी राज्य-कार्यों के विस्तार पर जो आक्षेप किये जाते हैं, उन पर लिखा है (Democracy and Liberty, Vol. I, p 976)।

व्यक्तिवाद की आलोचना--'राज्य एक दूषण है'

राज्यो के कार्यो के व्यक्तिवादी सिद्धान्त की कई आधारो पर आलोचना की गयी है। प्रथम, राज्य-सगठन के अन्तर्गत मानव जाति के अनुभव से यह मान्यता सिद्ध नही हुई है कि राज्य एक आवश्यक दूषण है तथा सब प्रकार के प्रतिबन्ध अनुचित है।[१] वास्तव मे, इतिहास से स्पष्टरूप मे यह बात प्रमाणित होती है कि अतीत काल मे सभ्यता की प्रगति अधिकाश मे राज्य द्वारा बुद्धिमत्तापूर्ण निर्देशित कार्यों मे ही हुई है, सक्षेप मे, राज्य निश्चय ही हितप्रद है। यह सत्य है कि कभी-कभी राज्य के उद्देश्यो का सार्वजनिक हित के विरुद्ध दुरुपयोग किया गया है, परन्तु इससे उसे दूषण बतलाकर उसकी निन्दा करना उतना ही व्यर्थ है जितना रेलो की निन्दा करना क्योकि उनके कारण कभी-कभी दुर्घटना हो जाती है। स्पेन्सर का यह सिद्धान्त कि राज्य का अस्तित्व इसलिए है कि अपराधो का अस्तित्व है और नैतिक दृष्टि से पूर्ण व्यक्तियो के समाज मे राज्य की कोई आवश्यकता नही रहेगी, स्वीकार नही किया जा सकता। आज के जटिल समाज मे राज्य का कार्य केवल दमनकारी या केवल 'निषेधात्मक रूप से नियमनकारी' ही नहीं है, उसका कार्य नियन्त्रण तथा दण्ड से कहीं महान, सामान्य लोक-कल्याण की रक्षा, उसका प्रोत्साहन तथा उसकी अभिवृद्धि है।

जब तक मनुष्य समुदायो मे रहेगे, उनकी सामूहिक आवश्यकताएं भी होगी जिनकी पूर्ति राज्य के सगठन द्वारा ही हो सकती है। अत: यह मानना कि राज्य की आवश्यकता नहीं रहेगी या राज्य इस समय मानव समाज के जीवन मे जो कार्य कर रहा है उसमे कभी न्यूनता हो सकेगी, निराधार है।

राज्य द्वारा नियमन की बढती हुई आवश्यकता

इसके विपरीत आधुनिक सभ्यता की बढती हुई पेचीदगियो के साथ यह स्पष्ट दिखाई पड रहा है कि राज्य के कार्य की आवश्यकता और भी अधिक होती जा रही है और उसका विस्तार भी हो रहा है। वर्तमान समय मे उत्पादन मे अभिवृद्धि बड़े-बड़े नगरो मे जनसख्या की अत्यधिक वृद्धि, कम्पनियो की वृद्धि और परिवर्तित सामाजिक एव आर्थिक अवस्थाओ से उत्पन्न परिस्थितियो के कारण उन्नीसवी सदी की व्यक्तिवादी विचारधारा एव प्रवृतियो के विरुद्ध सवत्र एक प्रबल प्रतिक्रिया प्रारम्भ हो गयी है।[२] इन सब बातो के कारण व्यक्तिवादी सिद्धान्त कुख्यात हो गया है। हक्सले ने कहा है कि 'सभ्यता की अवस्था जितनी उच्च होगी, सामाजिक सस्था के एक सदस्य के कार्यों का प्रभाव समस्त व्यक्तियों पर उतना ही अधिक पूर्णता के साथ होगा और ऐसी स्थिति मे किसी व्यक्ति के लिए अपने साथी-व्यक्तियों की स्वतन्त्रता मे न्यूनाधिक बाधा डाले बिना कोई गलती करना असम्भव होगा। अत:

---

१. यह मिल का तर्क है (Liberty, 56)। यदि मिल इतना ही कहता कि समस्त स्वच्छन्द, अनावश्यक अथवा अनुचित प्रतिबन्ध—समस्त अतिशय-शासन—एक दूषण है तो उसके सिद्धान्त पर कोई आपत्ति नही की जा सकती थी। परन्तु समस्त प्रतिबन्धो को स्वाभाविक रूप मे दूषण बतलाना उपयोगी एव श्रेष्ठ तथा निकृष्ट वस्तुओ के मौलिक भेद से इन्कार करना है।

२. इस विषय पर Hobhouse, Social Evolution and Political Theory, pp. 168 ff तथा Brown, The Underlying Principles of Modern Legislation, pp. 44 ff देखिये।

यदि राज्य के कार्यों के सम्बन्ध में हम संकुचित दृष्टि से भी विचार करें तो भी राज्य को व्यक्तिवादी सिद्धान्त द्वारा स्वीकृत शक्तियां देनी पड़ेंगी।'[1] लावेलेये ने कहा है कि जैसे-जैसे सभ्यता का विकास होता जाता है, वैसे ही वैसे मनुष्य एक-दूसरे पर तथा समस्त समाज पर अधिक निर्भर होते जाते हैं, अतः सामान्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए राज्य के कार्यों में उसी मात्रा में विस्तार होना चाहिए। आधुनिक समाज की स्थितियों में स्पेन्सर का व्यक्तिवाद पूर्णतः अस्वीकार्य है।

व्यक्तिवाद के सिद्धान्त के समर्थकों का यह विचार कि सामान्य हित की दृष्टि से किये जाने वाले राज्य के हस्तक्षेप से व्यक्तिगत स्वतन्त्रता में आवश्यक रूप से कमी हो जाती है, एक ऐसी मान्यता पर आधारित है, जो अत्यन्त मर्यादित सीमा के भीतर ही सत्य है। एक कारखाना-कानून, एक विशुद्ध खाद्यान्न-कानून अथवा संक्रामक रोगियों के लिए प्रतिबन्धकारी कानून को व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर प्रहार समझना वास्तव में बड़ा ही संकुचित विचार है।[2] प्रत्यक्षतः नियन्त्रण या संयम के अभाव में स्वतन्त्रता की कल्पना नहीं हो सकती. एक सबल व्यक्ति को जितनी अधिक स्वतन्त्रता होगी, दुर्बल को उतनी ही कम होगी और कुछ व्यक्तियों की स्वतन्त्रता के लिए दूसरों की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगाना ही होगा। संक्षेप में, स्वतन्त्रता की, सृष्टि की तथा उसकी सुरक्षा की समग्र समस्या अधिकांश में प्रतिबन्धों की व्यवस्था की समस्या ही है।[3] प्रत्येक व्यक्ति के कार्यों पर विवेकपूर्ण प्रतिबन्ध लगाने से ही समस्त व्यक्तियों के अधिकारों की वृद्धि एवं सुरक्षा सम्भव है। इस प्रकार के प्रतिबन्धों का यह आरोप वैसा ही है, जैसे फलों के वृक्षों की काट-छाँट करना; इससे कुछ फल तो नष्ट हो जाते हैं, परन्तु बाद में फसल अच्छी होती है और अन्त में लाभ ही होता है।

शासन और स्वतन्त्रता की कल्पनाओं के विरोध का तर्क

व्यक्तिवाद के समर्थकों के तर्क में सबसे निर्बल मान्यता यह है कि राज्य आवश्यक रूप से स्वतन्त्रता का विरोधी है, शासन तथा स्वतन्त्रता परस्पर-विरोधी कल्पनाएँ

---

१. Critiques and Addresses, p. 11. मिल स्वयं व्यक्तिवादी था, परन्तु उसने भी कहा है कि राज्य के कार्य को बल-प्रयोग तथा छल-कपट से शरीर एवं सम्पत्ति की रक्षा तक ही सीमित करने का नियम व्यवहार में पूरी तरह से नहीं आ सकता क्योंकि इसमें राज्य के कई निर्विवाद तथा स्वीकृत काम छूट जाते हैं। Political Economy, Vol. II, p. 387.

२. फिर भी यह बहुत से व्यक्तिवादियों का विचार है। ब्रूस स्मिथ (Liberty and Liberalism, pp 536-540) ने कहा है कि फैक्टरी-कानून सम्पत्ति में हस्तक्षेप का स्पष्ट उदाहरण है। पार्लमेण्ट के प्रत्येक कानून से जो काम के घण्टे कम करता है या श्रमिकों की संख्या सीमित करता है, उद्योग की स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप होता है और जिस व्यवसाय पर ये प्रतिबन्ध लगाये जाते हैं, उसमें लगी हुई सम्पत्ति का मूल्य घटता है। बेन्थम के अनुयायी भी मानते थे कि प्रत्येक कानून एक दूषण है क्योंकि उससे स्वतन्त्रता कम होती है और स्वतन्त्रता में विक्षेप पड़ने से कष्ट होता है (Bentham, Principles of Morals and Legislation, p. 94)।

३. तुलना कीजिये, Hobhouse, Social Evolution and Political Theory, p. 140 उसकी पुस्तक Liberalism का सातवाँ अध्याय भी देखिये।

है और जिस अनुपात में शासन के कार्यों का विस्तार होता है, उसी अनुपात में व्यक्ति की स्वतन्त्रता का क्षेत्र परिमित हो जाता है; संक्षेप में, अधिकतम शासन का अर्थ आवश्यक रूप से व्यक्ति की स्वतन्त्रता में न्यूनता है। जैसा रीची ने कहा है, यह तो इन दोनों को रोकड़-बही में जमा (Credit) और खर्च (Debit) के खाते मान लेना है। वास्तव में, राज्य के बुद्धिमत्तापूर्वक संगठित तथा उत्तम रीति से निर्देशित कार्यों से व्यक्तियों की केवल नैतिक, शारीरिक एवं बौद्धिक योग्यताओं में ही वृद्धि नहीं होती वरन् उनके मार्ग में सबलों एवं स्वार्थियों द्वारा प्रस्तुत बाधाओं के निवारण के फल-स्वरूप उनकी कार्य-स्वतन्त्रता भी बढ़ती है और इस प्रकार उनका वह सतत् संघर्ष भी समाप्त हो जाता है, जो उन्हें उनकी दुर्बलता से लाभ उठाने वालों के साथ करना पड़ता है। इस प्रकार व्यक्ति की गुप्त योग्यताओं को अपने विकास के लिए मुक्त वातावरण प्राप्त होता है और उसके सुयोगों में भी वृद्धि होती है। सभी प्रकार के बन्धनों को दूषण मानना स्पष्टतः गलत है। वास्तव में, राज्य बन्धन लगाने के साथ ही स्वतन्त्रता देता है और प्रोत्साहन भी करता है। व्यक्तिवाद के समर्थकों ने इस विचार को बड़े अतिशयोक्तिपूर्ण ढंग से व्यक्त किया है कि राजकीय कानून व्यक्ति की प्रवर्तक-शक्ति, स्वावलम्बन तथा आत्म-साहाय्य की भावना को दुर्बल बना कर तथा उसकी शक्तियों के पूर्ण सामंजस्य युक्त विकास में बाधक होकर व्यक्तिगत चरित्र को क्षति पहुँचाते हैं। मिल, स्पेन्सर, हम्बोल्ट जैसे अनेक व्यक्तिवादी लेखकों ने सनक, रहन-सहन की विभिन्नता तथा चरित्र की विलक्षणता को ही, जिसका कुछ भी मूल्य नहीं है, व्यक्तित्व मान लिया है। चरित्र का विकास केवल स्वतन्त्रता से ही नहीं होता वरन् उतना ही अनुशासन तथा संयम से भी होता है।[1] यह सत्य नहीं है कि शासन के कार्यों में विस्तार के साथ, व्यक्ति दुर्बल तथा कम आत्म-निर्भर हो जाता है। ऐसा व्यक्ति जिसका विकास पूर्णतम हो, सामाजिक होता है, प्राकृतिक नहीं; क्योंकि यह बात आज सर्वमान्य है कि मनुष्य अपने चरित्र के लिए अपने समाज का ऋणी है।

राज्य-नियमन के दोषों के विषय में अतिशयोक्ति

व्यक्तिवादियों का मुख्य दोष यह है कि उन्होंने राज्य-नियमन के दोषों का बहुत बढ़ाकर वर्णन किया है और राज्य से प्राप्त लाभों को बहुत कम करके दर्शाया है, उन्होंने स्वतन्त्रता की सच्ची प्रकृति एवं सीमाओं तथा व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों को ठीक रूप में नहीं समझा। संक्षेप में, उन्होंने समुदाय की उपेक्षा कर व्यक्ति के महत्व पर अत्यधिक जोर दिया; उन्होंने व्यक्ति को सर्वोपरि एवं सर्वश्रेष्ठ समझा मानो समाज के चरित्र का निर्माण उसी से होता हो, जबकि वास्तव में सत्य तो यह है कि अधिकांश में समाज ही व्यक्तियों के चरित्र का निर्माता है। उनका सिद्धान्त इस कल्पना पर खड़ा हुआ है कि व्यक्ति समाज या समुदाय से पृथक् है और उसे समाज से

---

१ बरगेस (Political Science and Constitutional Law, Vol. I, p. 89) ने कहा है—'मानव-समाज, स्वतन्त्रता से प्रारम्भ नहीं करता, वह सभ्यता के द्वारा उसे प्राप्त करता है। यह सत्य है कि अपने सर्वोच्च विकास तथा समाज के सर्वोच्च कल्याण के लिए व्यक्ति को एक निश्चित क्षेत्र में कार्य करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए, परन्तु इस क्षेत्र की सीमा का निर्धारण करने वाला राज्य होना चाहिये, व्यक्ति नहीं और अतीत के अनुभव से यह शिक्षा मिलती है कि इन सीमाओं का निर्धारण व्यक्तिवादी सिद्धान्तों के अनुसार नहीं हो सकता।

अलग करके उस पर इस प्रकार विचार कर सकते हैं मानो उसके साथियों के हितों से भिन्न हों। वास्तव मे, व्यक्ति समाज के एक अंशमात्र से कुछ अधिक है। वह समाज का एक संक्षिप्त रूप है; वह 'सम्बन्धों' की एक गठरी है', वह 'समस्त कार्यों एवं गुणों के योग का एक संक्षिप्त सूत्र' है और 'दूसरी वस्तुओं से असम्बद्ध वह वास्तव में कुछ नहीं है।'[1] रीची ने कहा कि 'अपने वातावरण एवं सम्बन्धों से पृथक् रूप में व्यक्ति केवल एक अमूर्त भाव है, एक तार्किक प्रेत, एक लाक्षणिक पिशाच और एक निषेध मात्र है।'[2]

यह सम्भव नहीं कि वह अपने आसपास के वातावरण पर प्रभाव न डाले और स्वयं भी उससे प्रभावित न हो। लॉर्ड पेम्ब्रोक ने कहा है कि ऐसे कोई भी व्यक्तिगत कार्य नहीं है जिनका केवल व्यक्तियों से ही सम्बन्ध हो।[3] प्रो० रिची ने तो इस बात तक मे सन्देह प्रकट किया है कि मनुष्य का कोई विचार भी ऐसा हो सकता है जिसका केवल उसी से सम्बन्ध हो और जिसकी दूसरे उपेक्षा न कर सकें।[4]

जिस व्यक्ति की खूब प्रशंसा होती है, जो स्वार्थी और आत्मसन्तोषी है, वह वास्तव मे, एकान्त, सबल, वन्य पशु से बहुत भिन्न नहीं है। वह केवल राज्य के प्रतिबन्धों के कारण ही वन्य पशु की स्वतन्त्रता से अधिक स्वतन्त्रता का भोग करने मे समर्थ है।[5]

शासन की अतीत भूलों पर आधारित तर्क

किसी अतीत काल के शासन-विशेष की भूलो के कारण शासन मे व्यक्तिवादियों का अविश्वास एक प्रकार से बच्चों की सी मूर्खता ही है। यह विचार सर्वथा गलत है कि चूँकि अतीत काल मे सरकारों ने गलतियाँ की है अथवा उनके अधिकारियों ने सत्ता का दुरुपयोग किया है, इसलिए भविष्य मे भी उन पर विश्वास नहीं किया जा सकता, अथवा चूँकि व्यय-विषयक (Sumptuary) कानून गलत हैं, इसलिए कारखानों तथा सफाई के सम्बन्ध के कानून भी गलत होने चाहिए अथवा चूँकि किसी समय नगरपालिका द्वारा निर्मित नालियो (Sewers) के कारण मोतीभरा पैदा हो गया, इसलिये नगरो मे नालियों की व्यवस्था निजी प्रयत्न पर छोड़ दी जानी चाहिए अथवा चूँकि दरिद्र-नियम (Poor Law) प्रभावकारी न हो सके, इसलिए राज्य को दरिद्रों की सहायता करना ही छोड़ देना चाहिये। व्यक्तिवादी लेखकों ने शासन के अतीत दोषों के वर्णन मे अधिक रूप से अतिशयोक्ति की है। हक्सले ने कहा है—'राज्य एक शीशे के मकान मे रहता है, हम उसके कार्यों को स्पष्ट देखते हैं और उसकी पूर्ण अथवा आंशिक भूलों को बढ़ाकर देखते हैं। परन्तु व्यक्तिगत उद्योग ईंट और चूने से तैयार दीवारो के पीछे सुरक्षित हैं। जनता शायद ही कभी जानती है कि वे क्या-क्या करते हैं; जब उनकी विफलताएँ बहुत बड़ी होती है और संसार को स्पष्ट हो

१. Montague, Limits of Individual Liberty, p. 57.
२. Principles of State Interference, p 11
३. Liberty and Socialism, p. 97.
४. Ritchie, Principles of State Interference, p. 97. बार्कर (Political Thought from Spencer to the Present Day, p. 49) ने कहा है कि मिल ने इस प्रकार कार्यों के जो दो भेद बताये हैं, वह गलत है।
५. Brown, The Underlying Principles of Modern Legislation, p. 55.

जाती हैं तभी जनता उनके विषय मे सुनती है।[१] लॉर्ड पेम्ब्रोक के-साथ हम पूछ सकते हैं कि यदि व्यक्तिगत उद्योग की असफलताओं तथा गलतियों का संग्रह कर इसी प्रकार प्रदर्शन किया जाय तो वह कैसा दिखाई देगा ?[२] एक योग्य लेखक ने लिखा है कि 'शासन कभी-कभी शक्तिहीन और क्षमताहीन भी होता है और व्यक्तिगत हितो के आदेशो का पालन भी करता है परन्तु इसका यह तात्पर्य नही है कि उसे व्यक्तिवाद के तर्कहीन सिद्धान्त पर व्यवहार करके अधिक शक्तिहीन, दूषित और अकार्य-क्षम बना दिया जाय।[३]

व्यक्ति की अपने लिए स्वय निर्णायक होने की उच्चतम योग्यता का तर्क

व्यक्तिवादियों की यह मान्यता कि समाज की अपेक्षा प्रत्येक व्यक्ति अपने हितो को अधिक अच्छी तरह समझता है और इसलिए वह अपने हित के कार्यों के लिए सबसे श्रेष्ठ निर्णायक है तथा यदि उसे स्वतन्त्र रहने दिया जाय तो वह अपने हितो की अभिवृद्धि करेगा, एक सोमित अर्थ मे ही सत्य है और वर्गों के सम्बन्ध मे तो यह और भी कम सत्य है। यह सत्य मिल जैसे व्यक्तिवादी लेखको ने स्वीकार किया है।[४] सिजविक ने, जो असाधारण रूप से निष्पक्ष लेखक है, इस मान्यता पर विचार करते हुए लिखा है कि 'मुझे ऐसा लगता है कि इस कल्पना को स्वीकार किया जाय या नही, यह बात सन्देहास्पद ही है, क्योंकि कुछ महत्वपूर्ण मामलो मे सामाजिक विकास की प्रवृत्तियाँ विरोधी दिशा मे दिखायी देती हैं। चूँकि आविष्कारों की प्रगति के कारण जीवन के उपकरण अधिक गहन एवं पेचीदा बनते जाते हैं, यह अनुमान करना भ्रम-

१. Critiques and Addresses, p. 9
२. Liberty and Socialism, pp. 39-40.
३. H. C. Adams, Relation of the State to Industrial Action.
४. Essay on Liberty. मिल ने स्वीकार किया है कि व्यक्तियो के बड़े वर्गों को इस नियम से बाहर रखना पड़ेगा। यह नियम तो उन्हीं लोगो को लागू हो सकता है जो 'अपनी योग्यताओं की परिपक्व दशा' को पहुँच चुके हैं किन्तु यह शर्त इतनी लचीली है कि इसकी व्याख्या कई प्रकार से की जा सकती है। उसने स्वीकार किया कि इस सम्बन्ध मे हम समाज की उन पिछड़ी हुई अवस्थाओ की उपेक्षा कर सकते हैं जिनमे जाति अभी बाल्यावस्था मे ही है; बर्बर जातियो के शासन के लिए निरकुश शासन उचित है, परन्तु उसका लक्ष्य उनकी उन्नति होना चाहिए, स्वतन्त्रता का उस समय से पहले की किसी स्थिति मे विचार नही किया जा सकता जबकि मानव समाज उस दशा मे पहुँच जाय जिसमें वह स्वतन्त्र और समान विचार-विमर्श के द्वारा उन्नति करने के योग्य हो और किसी भी काम को, मे जो स्वय-स्पष्ट नही है, करने की योग्यता वाला जहाँ एक व्यक्ति होता है, वहाँ ९९ अयोग्य होते हैं (Liberty, pp. 6, 30)।
मिल ने यह भी स्वीकार किया है कि शराबखोरी तथा ऐसे ही अन्य सामाजिक दुर्व्यसनों के लिए समाज को निन्दा तथा सामाजिक असहिष्णुता द्वारा दण्ड देने का अधिकार है, परन्तु उसने कानून द्वारा राज्य का ऐसा करने का अधिकार स्वीकार नही किया। परन्तु, जैसा लॉर्ड पेम्ब्रोक ने कहा है, यदि कानून केवल संगठित, सुनिश्चित तथा सशक्त लोकमत ही है तो उपर्युक्त रीति से समाज द्वारा दिये जाने वाले अनियमित दण्ड के स्थान मे राज्य द्वारा दिये जाने वाले दण्ड को स्वीकार करने में क्या आपत्ति हो सकती है ?

विभाग के सामान्य नियम के अनुकूल ही होगा कि औसत व्यक्ति की साध्य और साधनों की अनुकूलता का निर्णय करने की योग्यता, दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के सम्बन्ध में भी, क्रमशः कम होती जायगी।'[1] बेलजियन लेखक लावेलेये ने लिखा है कि यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने हितों, अधिकारों तथा कर्त्तव्यों को स्पष्टरूप में देख सके, उनका निर्णय करके उनका पालन कर सके और जो कुछ उसे करना चाहिए, वह स्वेच्छा से करे तथा जो उसे नहीं करना चाहिए, वह नहीं करे तो राज्य के हस्तक्षेप की आवश्यकता न रहेगी और हम स्वतन्त्रता का भोग कर सकेंगे। परन्तु वास्तविक बात तो यह है कि अज्ञानी पुरुष उन संकटों से सचेत नहीं रह सकते जिन्हें वे जानते ही नहीं हैं। कोई भी ऐसे मकान में, जिसमें नालियों का अच्छा प्रबन्ध न हो इसलिए नहीं रहता, ऐसे पानी को जो नालियों के पानी से दूषित हो गया हो इसलिये नहीं पीता और मिलावट के खाद्य का सेवन इसलिये नहीं करता कि उसके हित उसे ऐसा करने की प्रेरणा देते हैं, प्रत्युत इसलिये ऐसा करता है कि वह इन वस्तुओं के दोषों से परिचित नहीं है या निरुपाय है।[2] केवल इतनी ही बात नहीं है कि व्यक्ति आर्थिक उपभोक्ता की हैसियत से अपने हितों का स्वयं योग्य निर्णायक नहीं हो सकता, बल्कि अपने व्यक्तिगत व्यवहार के मामलों में भी, विशेषकर स्वास्थ्य, सुरक्षा तथा नैतिक कल्याण के मामलों में भी, उसका विश्वास नहीं किया जा सकता। सत्य तो यही है कि मनुष्य की बौद्धिक, नैतिक अथवा भौतिक आवश्यकताओं का उसकी अपेक्षा समाज ही श्रेष्ठतर निर्णायक हो सकता है, वह जीवन तथा स्वास्थ्य के संकटों से उसकी इच्छा के विपरीत भी उसकी रक्षा कर सकता है और उसे अपने बालकों को शिक्षा दिलाने के लिए तथा उचित जीवन बिताने के लिए बाध्य कर सकता है।

वर्तमान काल का व्यवहार

वर्तमान काल के समस्त राज्यों का व्यवहार वास्तव में इसी विचार के अनुकूल है। आज शायद ही कोई शासन होगा जो अपने नागरिकों को अपने लिए पौष्टिक भोजन के सम्बन्ध में निर्णय करने के लिए या यह निर्णय करने के लिए कि कौन सा वैद्य या डॉक्टर इलाज करने योग्य है या काम की कौन सी अवस्थाएँ खतरनाक या सुरक्षाप्रद हैं छोड़ देता हो। अधिकांश सरकारें ऐसे नियम बनाती हैं जिनके अनुसार संकटपूर्ण धन्धों की व्यवस्था की जाती है और जिन लोगों को उन धन्धों से खतरा है, उनकी अनुमति होते हुए भी उन्हें उन नियमों के प्रभाव से बाहर नहीं करतीं। समस्त सरकारें ऐसे व्यवसायों का भी निषेध करती हैं जो अर्द्ध-सार्वजनिक हैं, उन्हीं व्यक्तियों को ऐसे काम करने की अनुमति मिलती है जो परीक्षा अथवा अन्य किसी ढंग से उन कार्यों के संपादन के लिए आवश्यक योग्यता का प्रमाण दे सकें जिससे जनता अयोग्य सेवाओं से सुरक्षित रह सके। चिकित्सकों, औषधि-विक्रेताओं, इन्जीनियरों, वायुयान-

---

१ Political Economy, p. 419. मिल (Political Economy, Vol. II, p. 537) से भी तुलना कीजिये जिसने अनेक अपवादों के साथ स्वीकार किया है कि उपभोक्ता वस्तुओं का योग्य निर्णायक हो सकता है। उसने कहा है कि वह उन जड़-पदार्थों के विषय में ही, जो उसके प्रयोग में आते हैं, सबसे अच्छी तरह से निर्णय कर सकता है (यद्यपि यह बात भी सदा सत्य नहीं होगी), किन्तु अनेक वस्तुएँ ऐसी होती हैं जो मुख्यकर व्यक्ति के चरित्र को ऊँचा उठाने वाली होती हैं जिनके मूल्य को व्यक्ति नहीं समझ सकता।

२. Jevons, The State in Relation to Labour, p. 43.

चालकों, यहाँ तक कि नाइयों आदि को भी साधारणतया अपनी योग्यताओं का प्रमाण-पत्र देना पड़ता है। राज्य व्यक्तियों को स्वयं उनके ही कार्यों के दूषित परिणामों से भी बचाने के लिए प्रयत्न करता है जबकि वह कारखानों में तथा खानों में काम करने वाले श्रमजीवियों के काम के घण्टे आदि नियत करता है और बालकों तथा स्त्रियों को कुछ खतरनाक उद्योगों में काम करने से रोकता है।

शासन के प्रति व्यक्तिवादी अविश्वास बहुत कुछ तो इस कारण है कि जैसा सर फ्रेडरिक पॉलक ने कहा है—'केन्द्रीकृत शासन तथा स्थानीय स्वशासन में भेद नहीं किया जाता।'[१] व्यक्तिवादियों की आपत्ति का अधिकांश केन्द्रीकृत शासन के सम्बन्ध में बहुत कुछ उचित कहा जा सकता है; परन्तु जब यह आपत्ति स्थानीय शासन के सम्बन्ध में की जाती है जहाँ कार्य स्थानीय संस्थाओं द्वारा जनता की दृष्टि में तथा उसके नियन्त्रण में किये जाते हैं तो वह सदा ही सत्य नहीं होती। उदाहरणार्थ, उद्योगों के राष्ट्रीकरण (Nationalization) तथा उनके नागरीकरण (Municipalization) में बहुत अन्तर है और इसी प्रकार व्यक्ति के आचरण के राष्ट्रीय नियमन तथा स्थानीय निर्वाचित संस्थाओं द्वारा नियमन में भी उतना ही अन्तर है। प्रत्यक्षतः जो आपत्ति संक्रामक रोगियों पर प्रतिबन्ध लगाने वाले राष्ट्रीय कानून के सम्बन्ध में लागू हो सकती है, वह स्थानीय स्वास्थ्य नियमन के विरुद्ध नहीं की जा सकती। शासन की निन्दा करते समय व्यक्तिवादी लोग निर्वाचित प्रजातान्त्रिक शासन तथा नौकरशाही एवं अनुत्तरदायी शासन के अन्तर को नहीं देखते। कई मामलों में यह समझना कठिन है कि उन सार्वजनिक उपयोग की सेवाओं से, जिन पर सरकार का स्वाम्य हो, परन्तु जिन पर स्थानीय जनता का नियन्त्रण हो तो उन सेवाओं की अपेक्षा अधिक भय क्यों *लगता है जो कम्पनियों के प्रबन्ध में होती हैं और जिन पर जनता का या लोकमत का* कोई नियन्त्रण नहीं होता।[२]

व्यक्तिवादी नीति के खतरे

स्पेन्सर के 'निषेधात्मक नियमन' के सिद्धान्त से, जो राज्य के कामों को अपराधों या गलतियों को रोकने की जगह उनकी क्षतिपूर्ति तक ही सीमित रखना है, कई मामलों में राज्य के उद्देश्य ही निष्फल हो जायेंगे। यदि शासन की ओर से स्वास्थ्य के लिए हानिकर नल-व्यवस्था, भोज्य-पदार्थों में मिलावट, अयोग्य चिकित्सकों द्वारा चिकित्सा आदि से रक्षा करने का तात्पर्य नल-व्यवस्था करने वालों से उचित कर्तव्य-पालन के लिए लिखित वचन लेने, वैद्यों और औषधि-विक्रेताओं से परीक्षा *द्वारा या अन्य किसी ढङ्ग से योग्यता का प्रमाण माँगने, दूध की परीक्षा करने आदि* की बजाय व्यक्तियों को उनसे हानि होने पर केवल उनके विरुद्ध न्यायालयों में दावा

---

१. History of the Science of Politics, p 323.

२. इस सम्बन्ध में हॉब्हाउस ने बताया है कि आजकल लोग शासन के नियन्त्रण के विस्तार को स्वीकार करते हैं, वह वर्तमान काल में प्रजातान्त्रिक शासन के विकास के कारण है। बेन्थम के समय में इंगलैण्ड में सरकार कुछ थोड़े से लोगों की और भ्रष्ट थी, उसमें निपुणता नहीं थी, न वह सार्वजनिक प्रश्नों पर बुद्धिमत्तापूर्वक तथा निष्पक्षतापूर्वक विचार ही करती थी। उस स्थिति में बड़े-बड़े उद्योगों का नियन्त्रण उसके हाथ में सौंपने से जनता झिझकती थी (Social Evolution and Political Theory, pp. 182, 191)। यही दशा अन्य देशों में भी थी।

करना ही तो कई मामलों मे इस प्रकार जो रक्षा हो सकेगी, वह अपर्याप्त ही होगी, क्योंकि केवल न्यायालयों मे क्षतिपूर्ति के दावे से जो हानि हो चुकी है, उसकी पूर्ति नहीं हो सकती। सर फ्रेडरिक पॉलक की यह राय ठीक हो है कि यदि यह कहना निषेधात्मक तथा उचित नियमन है कि यदि कोई व्यक्ति नगर मे ऐसा मकान बनाता है जो सड़क में गिर जाता है तो उसे दण्ड दिया जायगा तो उससे यह कहना विध्यात्मक तथा अनुचित नियम नहीं हो सकता कि वह मकान ऐसा बनाये जिसकी विशेषज्ञ को सड़क मे गिर जाने की आशङ्का न दिखाई दे। यदि किसी संक्रामक रोगी की असावधानी से किसी अन्य स्वस्थ व्यक्ति को रोग लग जाने पर असावधान रोगी को दण्ड देना निषेधात्मक तथा उचित नियमन है तो यह ज्ञात होने पर कि खतरा विद्यमान है, कोई रोग द्वारा पीड़ित हो तब तक प्रतीक्षा करने की अपेक्षा उसकी रोक-थाम करना अनुचित नहीं कहा जा सकता।[1] जब व्यक्तिवादी इस प्रकार की बातें करते हैं (उनकी बातों का यही परिणाम होता है) कि व्यक्ति को अपना घर अस्वच्छ रखने का, अपने घर की गन्दी नालियों का पानी अपनी इच्छानुसार जहाँ-तहाँ बहाने का, अपने पड़ोसियों मे रोगों को फैलाने और अशुद्ध खाद्य तथा औषधियाँ बेचने का अधिकार है तो उनकी स्वतन्त्रता की कल्पना विकृत मालूम होती है। यदि राज्य की प्रतिबन्धात्मक कार्यवाही द्वारा व्यक्तियों को छल-कपट तथा हिंसा से बचाने का अधिकार और कर्तव्य है तो उसका उन्हें ऐसे कार्यों के परिणामों से बचाने का भी अधिकार और कर्तव्य है, जिनसे व्यक्तियों को ऐसी हानियाँ होती हों जिनका उपचार नहीं हो सकता। जैसा हक्सले ने कहा है—'एक व्यक्ति के अपने हाथ मे पिस्तौल लेकर अपने पड़ोसियों को भयभीत करते फिरने के दावे और अपने मकान को गन्दा रखने के दावे मे कोई महान् अन्तर नहीं है।'[2] यही बात आधुनिक समय मे कल-कारखानों के मजदूरों को मशीनों से होने वाली क्षति के विषय में राज्य द्वारा कानून बनाने के सम्बन्ध में भी सत्य है ; मजदूरों को खतरनाक मशीनों, दूषित वातावरण, अस्वास्थ्यप्रद दूकानों एवं कारखानों, अग्निकाण्डों तथा मजदूरों के अनुचित ठेकों के खतरों से बचाने का भी राज्य का अधिकार और कर्तव्य है। 'इकरार की स्वतन्त्रता' एक लोकप्रिय उक्ति है ; अनेक लोग औद्योगिक मामलों में राज्य द्वारा हस्तक्षेप के विरुद्ध इसे अकाट्य तर्क के रूप में प्रस्तुत करते हैं। परन्तु जब यह इकरार एक ओर पूँजीपति और दूसरी ओर एक अनभिज्ञ मजदूर के बीच होता है, जो अपने स्वामी की दया पर निर्भर रहता है, तो फिर दोनों पक्षों में समानता कहाँ रही ? ऐसे मामलों मे इकरार के सिद्धान्त मे कोई औचित्य नहीं रह जाता। यहाँ राज्य उन शर्तों को निर्धारित करता है जिनके अनुसार दो पक्षों मे, जिनमे से एक पक्ष वास्तव मे स्वतन्त्र और दूसरे के समान नहीं है, इकरार हो सकते हैं तो इससे इकरार की स्वतन्त्रता मे राज्य की ओर से वास्तव मे कोई अनुचित हस्तक्षेप नहीं होता।

व्यक्तिवादी दर्शन मे सत्य

व्यक्तिवाद के सिद्धान्त के विरुद्ध सब कुछ कहने के पश्चात् यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि कुछ सीमा तक उसे तर्क एवं युक्ति का समर्थन प्राप्त है। यह

---

१. History of the Science of Politics, p. 125.
२. Administrative Nihilism, in his 'Critiques and Addresses', p. 10.

मान्यता कि व्यक्ति ही इस बात का सर्वश्रेष्ठ निर्णायक है, कि उसका सुख किस बात में है और स्वतन्त्रता तथा स्वतन्त्र प्रतियोगिता की प्रणाली के अन्तर्गत उसकी अधिकतम अभिवृद्धि होगी, कई मामलों में सत्य है और व्यवहार में, जैसा कि सिजविक तथा के अन्य का मत है, केवल उन विशिष्ट मामलों में ही उसकी उपेक्षा की जानी चाहिए जिनमें यह विश्वास करने के लिए पर्याप्त प्रयोग-सिद्ध कारण हो कि यह सामान्य मानता सत्य नहीं है। व्यक्तिवादियों के सिद्धान्तों से जहाँ अधिकांश मामलों में हानि हुई है, वहाँ उनके सुपरिणाम भी देखने में आये हैं। एक सुयोग्य अर्थशास्त्री का मत है कि 'व्यक्तिवादियों के सिद्धान्तों ने जनता को राज्य-धर्म को ही सार्वजनिक सदाचार, पुलिस-कार्य को ही सार्वजनिक सुरक्षा तथा राज्य-सम्पत्ति को ही सार्वजनिक सम्पत्ति समझ लेने की भूल से बचना सिखाया है।'[1] उन्होंने व्यक्ति के महत्व को संसार के सामने रखा है, स्वावलम्बन एवं स्वतन्त्रता के महत्व को और सदाचार तथा उद्योग में राज्य के अत्यधिक हस्तक्षेप के हानिकारक प्रभावों को बतलाया है।[2] व्यक्तिवादियों का सबसे प्रमुख दोष तो यह है कि उनमें राज्य-नियमन के दोषों को अतिरंजित रूप में प्रकट करने तथा समाज के सामूहिक हित में शासन के सुचिंतित एवं सुसंचालित हस्तक्षेप के लाभों की उपेक्षा करने की प्रवृत्ति रही है। उन्होंने प्रायः राज्य के उन कार्यों में जिनमें बल प्रयोग होता है तथा जिनमें बल प्रयोग नहीं होता कोई भेद नहीं समझा और दोनों का समान रूप से विरोध किया। जैसा हमने *पूर्व पृष्ठों में बतलाया है, राज्य द्वारा संचालित व्यवसाय या सार्वजनिक उपयोगिता के* कार्य जैसे शासन के अनेक कार्य हैं, जिनमें किसी प्रकार का दबाव नहीं होता और फलतः उनसे व्यक्तियों की स्वतन्त्रता पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगता।[3]

(३) समाजवादी सिद्धान्त

समाजवादी सिद्धान्त की व्याख्या

राज्यों के कार्यों के व्यक्तिवादी सिद्धान्त के ठीक विपरीत एक दूसरा सिद्धान्त है, जिसे किसी अधिक उपयुक्त शब्दावली के अभाव में, हम समाजवादी सिद्धान्त (Socialistic Theory) कह सकते हैं, जो न्यूनतम शासन की अपेक्षा अधिकतम शासन आवश्यक समझता है।[4] इस सिद्धान्त के समर्थक, व्यक्तिवादियों की भाँति राज्य पर अविश्वास करने तथा उसे दूषण मानकर उसके कार्य-क्षेत्र को कम से कम करने के विपरीत राज्य को सर्वोच्च एवं निश्चित रूप से हितप्रद मानते हैं और चाहते हैं कि राज्य का कार्य जनता के सामान्य, आर्थिक, बौद्धिक एवं नैतिक हितों की अभिवृद्धि

---

१. Hadley, Economics, p. 14
२. तुलना कीजिये, Gilchrist, Principles of Political Science, p. 484.
३. इस भेद पर हॉब्हाउस ने (*Social Evolution and Political Theory*, p. 147) जोर दिया है।
४. यहाँ समाजवादी शब्द का प्रयोग सामान्य अर्थ में किया गया है। उससे किसी दल-विशेष से सम्बन्ध नहीं है और न उसके अनेक अर्थों का विचार ही किया गया है। इस शब्द से जो मेरा अभिप्राय है, वह फ्रेन्च शब्द Etatisme से अधिक शुद्ध रूप में प्रकट होता है, परन्तु इस शब्द के लिए अंग्रेजी में कुछ लोग State Socialism (राज्य-समाज) और कुछ Collectivism (समष्टिवाद) का प्रयोग करते हैं जो दुर्भाग्यवश उचित नहीं है।

करना होना चाहिए। प्रो० इली (Ely) ने लिखा है कि 'समाजवादी वह है जो आर्थिक वस्तुओं के अधिक निर्दोष वितरण के लिए तथा मानवता के उत्थान के लिए राज्य के रूप में संगठित समाज की ओर देखता है। व्यक्तिवादी समझता है कि प्रत्येक मानव स्वयं अपना ही रक्षक है, अपने भाई का नहीं और चाहता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी लौकिक तथा आध्यात्मिक उन्नति स्वयं करे।' परन्तु इससे यह न समझ लेना चाहिए कि राज्य-समाजवाद (State Socialism) के समर्थक व्यक्तिवादियों की अपेक्षा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को कम महत्व देते हैं। इसके विपरीत वे इसे सबसे अधिक महत्व-पूर्ण समझते हैं, परन्तु उनका मतभेद यह मानने में है कि व्यक्ति की स्वतन्त्रता की प्राप्ति एवं सुरक्षा व्यक्तिवादी नीति की अपेक्षा, जिसमें प्रतियोगिता हो सकती है, राज्य के कार्य द्वारा अधिक अच्छी तरह से हो सकती है।

विविध समाजवादी विचार

जो लोग राज्य के कार्य के व्यापक विस्तार का समर्थन करते हैं, उनके जिस सीमा तक राज्य के कामों का वे विस्तार चाहते हैं, उसकी दृष्टि से अनेक वर्ग हैं। सर्वप्रथम, उग्र समाजवादी हैं, जो भूमि, पूँजी, उत्पादन तथा यातायात के साधनों सहित समस्त उद्योगों का सामूहिक स्वामित्व एवं नियन्त्रण चाहते हैं।[१] इस प्रणाली के अन्तर्गत राज्य ही देश की सम्पत्ति का मुख्य स्वामी हो जायगा और देश में, व्यक्तियों के वास्तविक उपभोग की कुछ वस्तुओं को छोड कर, कोई व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं रहेगी।[२]

---

१. तुलना कीजिये, J. S. Mill, *Fortnightly Review*, April 1879 ; Ely, Socialism and Social Reform, p. 10 ; Rae, Contemporary Socialism, pp. 379, 399 ; Hadley, Economics, p. 15 ; Flint, Socialism, p. 16, Kirkup (Socialism in Theory and Practice, p. 87) का मत है कि 'एक समाजवादी समाज वह है जो उत्पादन के भौतिक साधनों का सार्वजनिक अथवा सामूहिक स्वाम्य, उद्योगों का प्रजातान्त्रिक प्रशासन तथा सहकारी श्रम की प्रणाली पर आधारित हो। Spargo, Social Democracy Explained, Ch. 1. भी देखिये।

२. किन्तु समाजवादी लोग समाजवाद को साम्यवाद, राज्य-समाजवाद तथा पितृ-शासन (Paternalism) से भिन्न समझते हैं। उनके विचार में साम्यवाद (Communism) समस्त वस्तुओं पर सामान्य स्वामित्व के पक्ष में है ; परन्तु समाजवाद (Socialism) उद्योग, उत्पादन तथा वितरण के सम्बन्ध में समानता चाहता है। इसके अतिरिक्त समाजवाद राज्य के कामों का केवल विस्तार ही नहीं चाहता जैसा पितृ-शासन से उपलक्षित होता है। समाजवादी राज्य-कार्यों में विस्तार केवल इसलिए नहीं चाहते कि शासन की शक्ति बढ़े, वरन् इसलिए कि उसके फलस्वरूप व्यक्ति आजकल से अधिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकेगा। उनके विचार में राज्य एक भाइयों का सहकारी राज्य (*Fraternal Co-operative Commonwealth*) है, पितृ-राज्य नहीं। जर्मनी के समाजवादी लोग बिस्मार्क के राज्य-समाज-वाद के घोर विरोधी थे, क्योंकि उनके मत में उसका लक्ष्य जनता की आर्थिक एवं सामाजिक उन्नति नहीं वरन् नौकरशाही की सत्ता में विस्तार करना था। इंगलैण्ड में जहाँ प्रजातन्त्र ने जर्मनी की अपेक्षा अधिक उन्नति की है, समाजवाद तथा राज्य-समाजवाद में अन्तर इतना तीव्र नहीं है। आग्ल-फेबियन सोसाइटी का समाजवाद वास्तव में एक प्रकार का राज्य-समाजवाद ही है।

एक सुयोग्य लेखक का कथन है कि आधुनिक समय मे समाजवाद औद्योगिक क्षेत्र मे उन उद्योगों से, जिनका राज्य समुचित प्रबन्ध कर सकता है, 'आगे बढकर सभी प्रकार के उद्योगों मे राज्य के हस्तक्षेप का विस्तार करता है और उनमें मनुष्यों की शक्ति का पूर्ण उपयोग सुरक्षित एवं सुनिश्चित करने से आगे बढकर उनके प्रयोग के जो परिणाम होते हैं उनको किसी प्रकार बराबर करने का प्रयत्न करता है। संक्षेप मे, आधुनिक समाजवाद व्यक्तियो की आय मे उत्तरोत्तर समानता लाने के हेतु उद्योगों का प्रगतिशील राष्ट्रीकरण चाहता है।'[१]

कुछ उग्रपन्थी समाजवादी यह चाहते हैं कि राज्य प्रत्येक व्यक्ति को काम दे, बिना ब्याज के धन उधार दे, श्रमिको को काम करने के औजार दे, उन्हें खेत दे, उनके लिए सौदा करे, उनके लिए मनोरंजन की सामग्री प्रदान करे; संक्षेप मे, वह उनकी समस्त आर्थिक, सामाजिक, बौद्धिक तथा अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति करे।[२] संयुक्त राज्य अमेरिका के समाजवादी अपने राष्ट्रीय कार्यक्रम मे यह माँग पेश करते हैं कि उत्पादन के यन्त्र पर जनता का सामान्य स्वामित्व हो; राष्ट्रीय सरकार खानो, रेलो, नहरो, तार, टेलीफोन तथा यातायात के अन्य साधनो पर अपना अधिकार प्राप्त करले और उनकी व्यवस्था सरकारी योजना के आधार पर संघीय सरकार के नियन्त्रण मे की जाय, स्थानीय रेलो, घाटो, जलकलों, गैस-कारखानों, बिजली-घरो और उन समस्त स्थानीय धन्धो एवं उद्योगों पर, जिनको म्यूनिसिपल अधिकारी की आवश्यकता है, नगर-शासन अपना अधिकार जमा कर उनका अपने नियन्त्रण मे सहकारी योजना पर सचालन करे, आविष्कारों का लाभ सब लोगो को निःशुल्क प्राप्त हो, शिक्षा निःशुल्क और अनिवार्य हो, राज्य स्कूलो के निर्धन बालकों को निःशुल्क भोजन, वस्त्र, एवं पुस्तकें दे और राज्य के निर्माण-कार्यों मे सभी बेकारो को काम दिया जाय।[३]

समाजवाद के पक्ष मे तर्क

समाजवादी राज्य के पक्ष मे निम्नलिखित प्रमुख तर्क दिये जाते हैं। वर्तमान आर्थिक संगठन के अन्तर्गत मजदूर अपने श्रम का फल प्राप्त नही करते, उसका अधिकांश पूँजीपति को पुरस्कार मे मिलता है या जो लोग श्रमिकों का निरीक्षण एवं निर्देशन करते हैं, उनके वेतन मे चला जाता है या सट्टाखोरों, दलालों तथा आढतियों को मिलता है और जो वास्तव में वस्तुओं का उत्पादन करते हैं, उन्हें बहुत कम मिलता है।[४] संक्षेप मे, आधुनिक व्यवस्था मे समाज का संगठन धनियों के हित मे है, जिससे सम्पत्ति एवं सुयोगो मे बडी विषमता पैदा होती है। उत्पादन के साधनों पर मुट्ठी भर लोगों का एकाधिकार होता जा रहा है जो जनता का दोहन करते हैं। अतः जिस समस्त भूमि और पूँजी अथवा उत्पादन के जिन साधनो का पूँजीपति इस समय केवल अपने लाभ के लिए उपयोग करते हैं, उन्हें राज्य को अपने अधिकार मे ले लेना चाहिए। व्यक्तिवादी व्यवस्था में औद्योगिक प्रतियोगिता इतनी भयानक हो गयी है कि औद्योगिक दृष्टि से दुर्बल व्यक्तियो के लिए सफलता का कोई अवसर ही नहीं है और वे धनिकों के मुकाबले में ठहर नही सकते। वे दिन पर दिन निर्धन बनते जा रहे हैं

---

१. Rae, Contemporary Socialism, p. 399.
२. तुलना कीजिये, *Adams, Relation of the State to Industrial* Action, p. 475.
३. समाजवादी कार्यक्रमों के लिए देखिये, Kirkup, History of Socialism.
४. Graham, Socialism, p. 185.

और धनिक वर्ग पर उनकी निर्भरता भी बढ़ती जा रही है तथा दूसरी ओर धनिक अधिक धनी तथा स्वाधीन होते जा रहे हैं। यह कहा जाता है कि समाजवादी सिद्धान्त न्याय तथा औचित्य के सिद्धान्तों पर आधारित है। भूमि तथा उसके भीतर जो खनिज सम्पत्ति है, उस पर समान रूप से सबों का अधिकार होना चाहिए, थोड़े से व्यक्तियों का नहीं। ये मानव जाति के लिए प्रकृति की देन है और जिस प्रकार धूप, वायु तथा जल पर किसी का एकाधिकार नहीं है, उसी प्रकार इन पर भी थोड़े से व्यक्तियों का एकाधिकार नहीं होना चाहिए। उत्पादन के साधनों के सम्बन्ध में भी यह बात सत्य है।[१]

वर्तमान प्रणाली के अन्तर्गत प्रतियोगिता से केवल अन्याय और छोटे प्रतियोगियों का विनाश ही नहीं होता, वरन महान् आर्थिक विनाश और सेवाओं के दोहराव से अपव्यय भी होता है। अनियन्त्रित प्रतियोगिता की प्रणाली का परिणाम है—कम वेतन, अतिशय उत्पादन, सस्ता माल तथा मजदूरों में बेकारी। समाजवादी कहते हैं कि इसका एक ही उपचार है और वह है—प्रतियोगिता का विनाश तथा उसके स्थान पर सहकारिता के सिद्धान्त की स्थापना, जिसके द्वारा लोगों को समान सुयोग तथा समान लाभ प्राप्त हो सकेंगे और उत्पादन में बचत भी हो सकेगी। समाजवादी व्यवस्था में उच्चतर कोटि के व्यक्तिगत चरित्र का विकास होगा और व्यक्ति को अधिकतर मात्रा में सच्ची स्वतन्त्रता मिलेगी। आज संसार में जैसी औद्योगिक प्रतियोगिता हम देखते हैं, उससे तो भौतिकवाद, अन्याय, असत्यता तथा बेईमानी पैदा होती है और व्यक्तियों के चरित्र में पतन होता है। मनुष्य स्वाभाविक रूप से ही दुर्बल और दुराचार की ओर प्रवृत्त है और आर्थिक व्यक्तिवाद की वर्तमान प्रणाली उसकी दुर्बलता तथा बेईमानी को और भी बढ़ाती है। अतः उसे राज्य के पथ-प्रदर्शन की तथा स्वयं अपनी दुर्बलताओं से राज्य की रक्षा की आवश्यकता है।

समाजवाद के सिद्धान्त का समर्थन उसे राज्य के सावयव सिद्धान्त के अनुकूल बतलाकर भी किया जाता है, जिसके अनुसार माना जाता है कि समाज सावयव है, व्यक्तियों का एक समूहमात्र नहीं, सबका हित थोड़े लोगों के हित से ऊपर है और अधिक से अधिक व्यक्तियों के कल्याण की प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति का कल्याण बहुमत के कल्याण के अधीन हो।

अन्त में समाजवादियों द्वारा यह तर्क दिया जाता है कि राज्य ने कुछ क्षेत्रों से प्रतियोगिता हटा कर उसके स्थान पर सहकारिता का सिद्धान्त स्थापित कर दिया है और एक औद्योगिक प्रबन्धकर्ता के रूप में राज्य ने समझदार व्यक्तियों की दृष्टि में पर्याप्त सफलता प्राप्त की है। अनेक देशों में डाक-सेवा के सरकारी प्रबन्ध तथा सरकारी मुद्रा के प्रचलन, रेल-पथ, टेलीग्राफ, खानों तथा सार्वजनिक प्रकृति के अन्य उद्योगों के सरकारी स्वाम्य तथा संचालन से व्यक्तिगत प्रबन्ध की अपेक्षा सामूहिक प्रबन्ध अधिक लाभप्रद प्रमाणित हो गया है और इस प्रकार समाजवादी सिद्धान्त का औचित्य सिद्ध हो गया है। तब राज्यों को आगे बढ़ कर समस्त क्षेत्र पर अपना अधिकार क्यों नहीं जमा लेना चाहिए? राज्य को समस्त मजदूरों का संगठन क्यों नहीं करना चाहिए, जैसा आंशिक रूप में उसने कर ही लिया है और उद्योगों के फल का, न्याय

---

१. देखिये, Kirkup, History of Socialism, p. 11; Hillquit, Socialism in Theory and Practice, pp. 30 ff, Spargo, Social Democracy Explained, Ch. 2 जिसमें समाजवाद का समर्थन किया गया है।

के सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को उसका उचित भाग देकर, वितरण क्यों नहीं करना चाहिये ?[1] यह दावा किया जाता है कि सामूहिक स्वाम्य तथा प्रबन्ध पूर्णत: जातन्त्रात्मक है। वस्तुत: समाजवाद 'प्रजातन्त्र का आर्थिक पूरक' है। यह नैतिक तथा परमार्थी सिद्धान्तों पर आधारित है और यही एकमात्र ऐसी प्रणाली है, जिसमें उत्पादन के क्षेत्र में कार्यकुशलता एवं न्याय दोनों प्राप्त हो सकते हैं और व्यक्ति के चरित्र का सामंजस्यपूर्ण विकास हो सकता है।[2]

समाजवाद के विरुद्ध तर्क—(१) आर्थिक तर्क

समाजवादी सिद्धान्त के विरुद्ध मुख्य तर्क यह दिया जाता है कि जिस व्यवस्था का वह समर्थन करता है, उसे कार्यरूप में परिणत करना असम्भव नहीं, तो कठिन अवश्य है। उग्र समाजवादियों के विचार अनेक बातों में बड़े विचित्र हैं और उनके आर्थिक लक्षणों तथा अन्य कई बातों के कारण से जो मनुष्य की प्रकृति में निहित हैं, अव्यावहारिक सिद्ध होंगे।

यह तर्क दिया जाता है कि समाजवादी सिद्धान्त का आधार ही मिथ्या है जिसके अनुसार भूमि तथा उत्पादन के साधनों में निजी सम्पत्ति केवल नैतिक दृष्टि से ही गलत नहीं, आर्थिक दृष्टि से भी गलत है। यदि ऐसा व्यावहारिक भी हो तो भी व्यक्तिगत स्वाम्य के स्थान पर सामूहिक स्वाम्य की प्रतिष्ठा मानव उद्योग की सबसे शक्तिशाली प्रेरक शक्ति और व्यक्तिगत उद्योग तथा प्रयत्न के लिए मूल प्रेरणा का विनाश कर देगी। समाजवाद के विरोधी कहते हैं कि व्यक्तियों के सम्पत्ति प्राप्त करने के अधिकार और उससे प्राप्त वस्तुओं का अपने उपभोग के लिए सचय करने के अधिकार को नष्ट करके आप श्रम की प्रेरणा को नष्ट कर देंगे और इस प्रकार आप समस्त प्रगति का अन्त कर देंगे। सर जेम्स स्टीफन ने कहा है कि सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन करके मनुष्यों में समानता की स्थापना करना वैसा ही है, जैसा ताश के पत्तों को पीस कर बराबर करने का प्रयत्न करना। यही बात आर्थिक मामलों में मनुष्यों में समानता स्थापित करने के सम्बन्ध में भी सत्य है। लावेलेये का मत है कि समाजवाद इस सिद्धान्त पर टिका हुआ है कि उद्योगी, सुयोग्य तथा मितव्ययी व्यक्तियों को अपने गुणों एवं परिश्रम का जो फल मिले, उसमें समान रूप से आलसियों, मूर्खों तथा अपव्ययियों को भी हिस्सा मिलना चाहिए।[3] एक दूसरा आलोचक कहता है कि यह एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें राज्य को ऐसे कार्य करने को कहा जाता है, जिसके वह योग्य नहीं है और जिससे श्रमजीवी वर्गों को वे विशेषाधिकार मिल जायँ, जिनकी प्राप्ति का उन्हें कोई अधिकार नहीं है।[4] प्रत्येक व्यक्ति को उसके श्रम के अनुसार पारिश्रमिक मिलने का सिद्धान्त, यदि उसका अर्थ पूँजी तथा दक्षता का विचार किये बिना केवल हाथों से किया हुआ काम ही हो, न्याय के विवेकपूर्ण सिद्धान्त के आधार पर टिका नहीं सकता।[5] यदि विभिन्न प्रकार के काम करने वालों को उत्पादन-शक्ति

---

१. देखिये, Graham, Socialism, p 11.
२. Kirkup, History of Socialism, pp. 10-12. समाजवाद ने जितना हित अभी तक किया है, उसके संक्षिप्त विवरण के लिए अध्याय ११ देखिये।
३. *Contemporary Review*, April, 1883, p. 551, किन्तु समाजवाद के समर्थक इससे इन्कार करते हैं।
४. Rae, Contemporary Socialism, p, 379.
५. तुलना कीजिये, Graham, Socialism, p 34.

में भेद और इस प्रकार उनकी सेवा के मूल्य का भी विचार किया जाय तो समाजवादी व्यवस्था के अन्तर्गत ऐसे नियम के प्रयोग में बड़ी जबरदस्त कठिनाई होगी। जब एक मजदूर के उत्पादन में यन्त्र और दूसरे दक्ष तथा अदक्षश्रमजीवियों, निरीक्षकों एवं संचालकों का भी हिस्सा है, तब किस सिद्धान्त के आधार पर उत्पादन के फल का विभाजन किया जायगा। समाजवाद का जिस अर्थ में प्रयोग किया जाता है, उसमें वह उस समय तक कभी व्यवहार्य नहीं हो सकता जब तक कि मानव प्रकृति में, जिसके कुछ गहन सिद्धान्तों से समाजवाद का विरोध है, कोई मौलिक परिवर्तन नहीं हो जाता।[1]

(२) राजनीतिक तर्क

समाजवादियों की एक भूल यह है कि वे राज्य की कार्यक्षमता एवं योग्यता को बहुत ज्यादा समझते हैं। वे यह मानते हैं कि प्रत्येक उद्योग, जो एक कम्पनी द्वारा संचालित है, राज्य द्वारा भलीभाँति संचालित किया जा सकता है और इस कारण राज्य को उसे अपने हाथ में ले लेना चाहिए तथा जनता के हित में उसका संचालन करना चाहिए। परन्तु तर्क और अनुभव इस विचार के प्रतिकूल हैं। स्वयं उद्योगों का प्रबन्ध करने की अपेक्षा अधिकांश मामलों में सरकार एकाधिकार के दोषों का निवारण तथा सार्वजनिक हित से सम्बन्धित कार्यों का नियमन करने के अधिक योग्य है।[2] शासन के कार्य जितने अधिक और विविध प्रकार के होंगे, उतनी ही कठिनाइयाँ अधिक होंगी। सम्मिलित पूँजी वाली कम्पनियों का कार्य एक या कुछ धन्धों तक ही सीमित होता है; परन्तु समाजवादी व्यवस्था में राज्य के व्यवसाय असंख्य होंगे। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि कुछ उद्योग ऐसे हैं, जिनकी समुचित व्यवस्था व्यक्तिगत प्रबन्ध में ही हो सकती है और सरकार पर आधुनिक समाज के समस्त जटिल उद्योगों के संचालन का अत्यधिक भार डाल देने से, यदि वह बैठ नहीं जायगी तो भी अकार्यक्षम अवश्य हो जायगी।[3] एक बड़े राज्य की विशाल जनता के लिए समस्त जीवनोपयोगी वस्तुओं की व्यवस्था, श्रम की व्यवस्था, और वस्तुओं का वितरण एक

---

१. लार्ड ब्राइस का कथन है कि एक साम्यवादी अथवा अराजकतावादी को जो अपने ही ढंग से समाज का पुनर्निर्माण करना चाहता है, बड़ा जबरदस्त आशावादी होना चाहिए। वह आशा करता है कि उसके नये संसार में मनुष्य अपनी भावनाओं में बदल जायँगे और स्वयं श्रेष्ठतर बन जायँगे (Modern Democracies, Vol. II, p. 589).

२. कुछ देशों में कुछ उद्योगों पर राज्य का जो एकाधिकार स्थापित किया गया है, वह सफल नहीं हुआ है। उदाहरणार्थ, फ्रान्स में जहाँ दियासलाई व बारूद तथा तम्बाकू के उत्पादन पर राज्य का एकाधिकार है, वहाँ ये वस्तुएँ बड़ी निम्न कोटि की बनती हैं और स्वयं फ्रेन्च लोग ही इसकी बड़ी आलोचना करते हैं। स्व० प्रो० पॉल लीरॉय बोल्यू का North American Review के मार्च १९१३ के अङ्क में पृष्ठ २९५ पर Public Ownership in France शीर्षक लेख देखिये।

३. सरकारी प्रबन्ध के अनैपुण्य की चर्चा करते हुए रे (Rae) ने कहा है कि सरकार की उदासीनता तथा सरकारी विभागों का शिथिल यन्त्र उत्पादन के बाहुल्य के प्रतिकूल है। प्रतियोगिता की बुराइयों को दूर करने के लिए उद्योगों की सामान्य शिथिलता और क्रियाशील प्रवर्तक शक्ति के उन असंख्य स्रोतों का विनाश

ऐसा महान् कार्य है, जिसे कोई भी सरकार सन्तोषप्रद ढंग से नहीं कर सकती।[1] समाजवाद के विरोधी यह भी कहते हैं कि समाजवादी व्यवस्था के अन्तर्गत जो वस्तु अधिकारी-वर्ग चाहेगा, उसे छोड़ कर और कोई वस्तु तैयार नहीं होगी। उस समय राज्य को उन अनेक वस्तुओं को तैयार करने के लिए लोगों को फुसलाना पड़ेगा जो आजकल व्यक्तिगत प्रतियोगिता के कारण तैयार होती हैं। उत्पादन का नियमन माँग एवं पूर्ति के सिद्धान्त के आधार पर नहीं होगा; परन्तु राज्य स्वयं माँग का निर्णय करेगा जो राजनीतिक अर्थशास्त्र के प्रत्येक वर्तमान सिद्धान्त के विरुद्ध है।[2] इसके अतिरिक्त सरकार के अनुमान भी परिस्थितियों के अनुसार प्राय. गलत होते रहेंगे।[3] सब कुछ संचालकों की इच्छा पर निर्भर रहेगा। व्यक्तिगत प्रेरणा के अभाव में उत्पादन के परिमाण तथा गुण पर भी प्रभाव पड़ेगा। सरकारी प्रबन्धक निरुत्साही होंगे और उन्हें उत्पादन के परिमाणों में कोई अभिरुचि नहीं होगी तथा मजदूरों को भी कोई प्रोत्साहन नहीं होगा। इसका प्रतिफल यह होगा कि 'उत्पादन की गति कम हो जायगी, सम्पत्ति का उत्पादन भी गिर जायगा और अन्त में सम्भवतः गरीबी बढ़ जायगी जो स्वयं तो एक दूषण है ही, इसके साथ ही उससे समस्त उच्च मानव हितों की क्षति का भय भी रहेगा।[4]

अन्त में, समाजवाद के विरोधी कहते हैं कि समाजवाद से व्यक्ति की स्वतन्त्रता का विस्तार नहीं होगा, वरन् उसमें न्यूनता आ जायगी और व्यक्तिगत चरित्र का भी ह्रास होगा। इस तर्क का समर्थन मिल, स्पेन्सर तथा दूसरे विद्वानों ने किया है।[5] समाजवादी व्यवस्था में समाज का संगठन एवं नियन्त्रण कुछ सीमा तक सैन्यवत् करना होगा। समस्त आत्महित एवं व्यक्तिगत प्रोत्साहन के अभाव में व्यक्तियों को अनुशासित करना पड़ेगा और उन्हें अपने कर्त्तव्यों का पालन करने के लिए विवश करना पड़ेगा तथा जैसा कुछ लेखक कहते हैं, स्वतन्त्रता के स्थान पर वास्तविक दासता की प्रतिष्ठा होगी।[6] मैक्केक्नी का कथन है कि "यदि समस्त उद्योग एवं वाणिज्य का

जिनके कारण आजकल नये-नये और सफल कार्य हो रहे हैं, एक ऐसी क्षति है जिसे हम सहन नहीं कर सकते। पूँजी के उपयोग में कुछ बचत करने के लिए हम उन शक्तियों का ही क्षय कर देते हैं जिनसे पूँजी का उत्पादन होता है और पैसा बचाने की शक्ति ही खो देते हैं (Contemporary Socialism, p. 400).

१. Mackay, Plea for Liberty, Ch. I में रॉबर्टसन के मत से तुलना कीजिये।

२. Graham, Socialism, p. 162.

३ McKechnie, The State and the Individual, p. 188

४. Graham, Socialism, p. 166.

५. Spencer का लेख The Coming Slavery तथा Mill, Political Economy, Vol. II, Bk. V, Ch. II देखिये।

६. यह समाजवाद के सुप्रसिद्ध अंग्रेज लेखक, Mallock का मत है। उसकी पुस्तक A Critical Examination of Socialism, Chs. 7, 9 देखिये। समाजवादी राज्य के विरुद्ध अनेक सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक आक्षेपों पर Muir ने Liberalism and Industry में पृष्ठ ६६ पर विचार किया है। Bryce, Modern Democracies, Vol. II, p. 589 भी देखिये। उसका मत है कि समाजवादी राज्य की सरकार एक विशाल नौकरशाही होगी। श्रमिकों के विभिन्न

प्रबन्ध एक केन्द्रीय शासन द्वारा किया जाय, जिसे सभी प्रकार का नियमन एवं व्यवस्था करनी पड़े तो इससे समस्त निर्धारित तथा प्रत्याशित क्रिया-पद्धति के, जिस पर ये सब माँगें आधारित होंगी, जितने भी अतिक्रमण होंगे, उन्हें बलपूर्वक रोकना पड़ेगा। मानव जीवन की प्रत्येक बात का जाँच-पड़ताल करने वाली और दुर्निवार अधिकार द्वारा निर्देशन करने वाली एक निरंकुश सरकार के रूप में प्रतिष्ठित व्यावहारिक समाजवाद से अधिक शोचनीय एक स्वस्थ राज्य की कोई दुर्विडम्बना नहीं हो सकती।[1]

समाजवादी संस्थाओं के उदाहरण

समाजवाद के जो विचार व्यक्त किये गये हैं, उनका प्रयोग किसी भी राज्य में सफलतापूर्वक नहीं हुआ है। मायोवा की अमाना तथा आईकेरियन जातियों और पेन-सिलवेनिया के शेकर (Shakers) तथा वहाँ की हारमनी सोसायटी (Harmony Society) एवं अन्य कई संस्थाएँ साम्यवादी सिद्धान्तों के प्रयोग के उदाहरण हैं, परन्तु ये सब असफल रहे और भग्न आशाएँ एवं उच्चाकाक्षाएँ छोड़ गये। रे (Rae) का कथन है कि इनके कारण उद्योगों में शिथिलता आ गयी और सुख के सामान्य स्तर में भी ह्रास हुआ।[2]

हाल में, एक बड़े पैमाने पर रूस में साम्यवादी शासन की स्थापना हुई है; परन्तु यह मानना पड़ेगा कि आरम्भ में ही उसे सफलता नहीं मिली और सन् १९२१ में उसमें परिवर्तन कर व्यापार तथा उद्योगों में एक सीमा तक व्यक्तिगत प्रबन्ध की व्यवस्था की गयी। सोवियत सरकार आंशिक रूप में पूँजीवाद के प्रति शत्रुता पर आधारित थी। परन्तु कुछ समय के अनुभव के बाद उसकी यह शत्रुता कम हो गयी और उसने विदेशी पूँजीपतियों को कुछ रियायतों के साथ औद्योगिक निर्माण का कार्य करने के लिए अपने देश में आमन्त्रित किया। यह परिवर्तित व्यवस्था चिर-

---

वर्गों के बीच समानता तथा न्याय कायम रखना असम्भव होगा और सरकारी कर्मचारियों की शक्तियाँ अपार होंगी।

१. The State and the Individual, pp 177, 192-93. Sir Erskine May (Democracy in Europe, Introduction, p. Lxv) के मूल्यांकन से भी तुलना कीजिये। समाजवादी सिद्धान्तों की चर्चा करते हुए उसने लिखा है कि 'ऐसे सिद्धान्तों का स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि मानव समाज की शक्तियों का दमन होगा। व्यक्तियों के उच्चतर लक्ष्यों एवं उनकी शक्तियों का निषेध करना, उनका स्वीकृत उद्देश्य है। व्यक्ति समस्त समाज के एक यान्त्रिक अंग से अधिक कुछ नहीं रह जाता, उसकी कोई स्वतन्त्र इच्छा नहीं रहती और न उसे विचार एवं कार्य करने की ही स्वतन्त्रता रहती है। उसका प्रत्येक कार्य उसके लिए निर्दिष्ट है। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता राज्य को समर्पित कर दी जाती है। वे समस्त वस्तुएँ जिनका मनुष्यों के जीवन में सर्वोच्च मूल्य है, उनसे छीन ली जाती हैं। उनका धर्म, उनकी शिक्षा, परिवार की व्यवस्था, उनकी सम्पत्ति, उनके उद्योग, उनकी कमाई, सब राज्य के आदेश पर निर्भर है। इस प्रकार की शासन-व्यवस्था से, यदि वह व्यवहार्य हो, ऐसे निरंकुश शासन का निर्माण होगा जैसा आज तक कभी नहीं हुआ।' स्पष्ट है कि इस मूल्यांकन में समाजवाद तथा साम्यवाद में भेद नहीं किया गया है। इसकी बहुत सी बातें साम्यवाद के सम्बन्ध में तो सत्य हो सकती हैं, परन्तु समाजवाद के सम्बन्ध में नहीं।

२. Contemporary Socialism, p. 402.

स्थायी रहेगी अथवा पूर्वकालीन साम्यवादी संस्थाओं के समान असफल हो जायगी, यह अभी देखना है।

समाजवादी कार्य

समाजवाद का उसके उग्र रूप में प्रयोग तो रूस को छोड़ कर किसी भी आधुनिक राज्य ने नहीं किया है, परन्तु समस्त राज्य कम-बढ़ रूप में अनेक समाजवादी कार्यों का सम्पादन करते हैं और वर्तमान समय की एक सबसे महत्वपूर्ण राजनीतिक प्रवृत्ति इस दिशा मे आगे बढ़ने को है।

यह प्रगति योरोप के महाद्वीप मे, विशेषत: साम्राज्य की स्थापना के बाद जर्मनी मे, सबसे प्रबल रही है। वहाँ राज्य ऐसे अनेक उद्योगों की व्यवस्था एवं नियन्त्रण करता है जो अमेरिका में व्यक्तिगत प्रबन्ध मे छोड़ दिये गए हैं और वह व्यक्तिगत आचार की भी अनेक बातों का नियमन करता है, जो दूसरे राज्यों मे राज्य द्वारा सर्वथा अनियन्त्रित हैं। योरोप के अनेक देशों मे राज्य रेल-पथ, टेलीग्राफ, बैंकों तथा शराब के कारखानों का स्वामी है, शराब, तम्बाकू, दियासलाई और बारूद जैसी कुछ वस्तुओं के निर्माण का उसे एकाधिकार प्राप्त है, वह नाट्यशालाओं और नृत्यशालाओं की व्यवस्था करता या उनकी सहायता करता है; साहित्य, कला, विज्ञान आदि को सहायता एवं प्रोत्साहन देता है; रोगों, आकस्मिक दुर्घटनाओं और वृद्धावस्था का बीमा करता है और स्थानीय स्वशासन के द्वारा अनेक सार्वजनिक उपयोगी वस्तुओं एवं सेवाओं की व्यवस्था करता है, जैसे जल-व्यवस्था, विद्युत-व्यवस्था, ट्राम आदि।[1]

---

१. देखिये, Orth, Social Democracy in Europe, Ch. 10; Hunter, Socialists at Work, Chs. 6-9. ऐमिल डेवीज (Emil Davies) ने अपनी पुस्तक (State in Business) मे आधुनिक राज्य द्वारा व्यक्ति के जीवन के नियमन का वर्णन किया है। वह लिखता है कि 'स्थान-स्थान पर जाने मे जो समय लगता है, उसकी बचत करके आज यह सम्भव है कि किसी भी सभ्य आधुनिक राज्य मे राज्य के चिकित्सक या धात्री द्वारा व्यक्ति को जन्म दिया जा सकता है, उसे राज्य की शिशुशाला मे रखा जाता है, उसे राज्य के स्कूल में शिक्षा दी जाती है, वस्त्र दिये जाते हैं और उसकी चिकित्सा भी की जाती है और यदि आवश्यक हो तो उसे पाठशाला खुलने के दिनों मे राज्य की ओर से भोजन भी मिलता है (लन्दन में छुट्टियों के दिन तो भोजन मिलता है)। वह किसी भी देश म सरकारी नौकरी कर सकता है। अधिकांश बड़े नगरों में वह म्युनिसिपैलिटी के मकानों में रह सकता है। न्यूज़ीलैण्ड में सरकार उसे अपना मकान बनाने के लिए धन देती है और वह बिना किसी फीस के उसे मकान के नक्शे भी बना कर देती है। यदि वह रोगी हो तो राज्य-चिकित्सक द्वारा या राज्य के अस्पताल में उसका उपचार होता है। वह अन्धा होने तक राज्य के या म्युनिसिपैलिटी के वाचनालय में पढ़ सकता है और अन्धा होने पर राज्य उसे अन्धों के आश्रमस्थान में शरण देता है; यदि वह पागल हो जाता है तो पागलखानों में उसका उपचार किया जाता है, यदि वह बेकार हो तो राज्य उसे काम देता है। इटली के अनेक नगरों में तथा बुडापेस्ट में वह म्युनिसिपल तन्दूर से रोटियाँ खरीद सकता है। अनेक नगरों में वह म्युनिसिपैलिटी द्वारा वध किये गये पशुओं का माँस म्युनिसिपल दूकान से प्राप्त कर सकता है और सरकार द्वारा नियन्त्रित

ग्रेट ब्रिटेन मे राज्य समाजवाद

इंगलैण्ड मे अभी तक राज्य-समाजवाद (State Socialism) ने कोई प्रगति नही की, परन्तु अभी कुछ वर्षों से 'आंग्ल राजनीति की भावना मे बड़ा परिवर्तन हो गया है' और राज्य तीव्र गति से समाजवाद की ओर बढ रहा है। इंगलैण्ड व्यक्तिवाद और स्वतन्त्रता मे अपने पुरातन विश्वास से राज्य-नियमन के नवीन विश्वास की ओर तथा फ्रेन्च निर्हस्तक्षेप सिद्धान्त से जर्मन राज्य-समाजवाद के सिद्धान्त की ओर अग्रसर हो रहा है।[1] हॉब्हाउस का कथन है कि इंगलैण्ड मे पूर्व स्थिति के इस त्याग का महत्व कम करने की प्रवृत्ति है, परन्तु वास्तव मे इससे अतीत और वर्तमान के बीच ऐसी खाई बन गयी है जिसका पाटना सम्भव नहीं।[2] गत कुछ वर्षों से ब्रिटिश पार्लमेण्ट ने बहुत बड़ी संख्या मे फेक्टरी एक्ट, स्वास्थ्य-कानून, गरीबो के लिए निवास-गृह, मजदूरो के प्रति स्वामी का दायित्व, मजदूरो की क्षतिपूर्ति,

---

खानों से निकले कोयले पर उसे पका कर सरकार के नमक से उसका स्वाद बढा सकता है। वह म्युनिसिपल उपहार-गृह में अपना भोजन कर सकता है, वहाँ सरकारी शराबखानो में बनी हुई शराब पी सकता है। उसके बाद सरकार द्वारा बनाई हुई सिगरेट, सरकार द्वारा बनाई हुई दियासलाई से जलाता है और म्युनिसिपैलिटी द्वारा प्रकाशित दैनिक समाचार-पत्र पढता है। इस समय तक पर्याप्त स्फूर्ति पाने के बाद वह राज्य के या म्युनिसिपल सेविंग्ज बैंक से अपने हिसाब में से रुपये निकाल सकता है और म्युनिसिपैलिटी की घुड़दौड़ में, जहाँ वह राज्य या म्युनिसिपैलिटी से जुआ खेलता है, अपना दिन बिताकर सायंकाल को राज्य की किसी नाट्यशाला में अपना मनोरंजन कर सकता है। वह चाहे तो म्युनिसिपैलिटी की नर्तकी को अपने साथ सायंकाल के भोजन के लिए ले जा सकता है जिसके बाद यदि वह अपने पापो की स्वीकृति (Confession) करना चाहे तो राज्य की ओर से नियुक्त पादरी के समक्ष कर सकता है। यदि उसके पास धन है तो वह फ्रान्स, जर्मनी अथवा न्यूजीलैण्ड में राज्य के स्वास्थ्यप्रद स्थानो में स्वास्थ्य-लाभ के लिए अपने जीवन मकान तथा सामान आदि का बीमा राज्य की बीमा कम्पनी में करके जा सकता है। इस समय तक, यदि वह शक्तिशाली व्यक्तिवादी है और व्यक्ति के कार्य-क्षेत्र तथा जीवन की प्रत्येक बात में राज्य या म्युनिसिपैलिटी के नियन्त्रण मे निराश हो गया हो तो राज्य की दूकान से राज्य द्वारा बनाया हुआ बारुद खरीद कर आत्मघात कर सकता है या यदि उसकी ऐसी इच्छा हो तो किसी और की हत्या कर सकता है। राज्य, जो उसे इस दुनिया में लाया है और जिसने उसे ऐसा बना दिया है, उसके जीवन का अन्त कर अपने कार्य की भी इतिश्री कर लेता है। स्विटजरलैण्ड, पेरिस तथा दूसरे नगरो में म्युनिसिपैलिटी उसकी अन्त्येष्टि-क्रिया भी कर देती है। उसकी मृत्यु के बाद भी कई देशो में सरकारी निक्षेपाधिकारी (Trustee) शायद उसके मामलो को, जैसी वह अपने जीवनकाल में कर सका है, उससे अच्छी प्रकार व्यवस्था करेगा। डेवीज की पुस्तक, The Collectivist State तथा Burns, Government and Industry, Ch. 8 भी देखिये।

१. तुलना कीजिये, Rae, Contemporary Socialism, p. 347.
२. Social Evolution and Political Theory, p. 174.

वृद्धावस्था की पेंशन, स्कूल के बालकों को भोजन देने, बेकारों की सहायता आदि की व्यवस्था के लिए अनेक सामाजिक कानून बनाये हैं और स्थानीय सरकारों ने जल तथा प्रकाश की व्यवस्था, स्थानीय यातायात की व्यवस्था, जैसे लोक-सेवाओं से सम्बद्ध उद्योगों (Public Services Industries) को म्यूनिसिपल नियन्त्रण में लाने के लिए दूसरे देशों की अपेक्षा अधिक कार्य किया है। इंगलैण्ड भर में आज प्रत्येक नगरपालिकाओं द्वारा जल, प्रकाश तथा यातायात का प्रबन्ध होता है, कई स्थानों में सड़कों की रेलों, सार्वजनिक शौचालयों, वाचनालयों तथा संगीत-शालाओं की व्यवस्था भी नगरपालिकाएं करती हैं। राज्य केवल डाक को ही व्यवस्था नहीं करता, तार तथा बहुत बड़ी सीमा तक टेलीफोन का भी प्रबन्ध करता है, पार्सलों को डाक से भेजने का प्रबन्ध करता है, पोस्टल सेविंग्ज बैंक का भी संचालन करता है और अनेक ऐसे कार्यों को भी करता है, जो पहले व्यक्तिगत प्रयत्न पर छोड़ दिये गये थे। परन्तु इंगलैण्ड में इन क्षेत्रों में राज्य का हस्तक्षेप सामाजिक तथा नैतिक अवस्थाओं में सुधार करने के लिए है, आर्थिक मामलों में सुधार के लिए नहीं। ये सुधार नैतिक दृष्टि से हुए हैं, आर्थिक दृष्टि से नहीं।

कुछ ब्रिटिश उपनिवेशों में, विशेषत: ऑस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्ड में, जहां व्यक्तिगत पूंजी की कमी है, राज्य के कार्य-क्षेत्र में इतना अधिक विस्तार हुआ है जितना अन्य किसी देश में नहीं हुआ। इन देशों में कृषि के योग्य भूमि का एक बड़ा भाग राज्य के स्वाम्य में है और राज्य उसे लगान पर उठाता है। कोयले की खानों तथा जंगलों पर और इसी प्रकार रेल पथ, टेलिफोन तथा टेलिग्राफ पर भी राज्य का नियन्त्रण है। सरकारी पासल पोस्ट-व्यवस्था तथा सेविंग्ज बैंक भी हैं। राज्य किसानों को कम ब्याज की दर पर ऋण देता है और वह मजदूरों के लिए अच्छे मकान भी बनाता है। राज्य की ओर से केवल मृत्यु और वृद्धावस्था के लिए ही नहीं, अग्नि से होने वाली क्षति के लिए भी बीमे की व्यवस्था है। सरकार श्रमिक सूचना-केन्द्र खोलती है और मजदूरों के विवादों में अनिवार्य पंच-निर्णय की व्यवस्था करती है, कई धन्धों में मजदूरों के लिए काम के घण्टे नियत करती है और कुछ मामलों में वह मजदूरों के वेतन भी तय करती है, सरकार ठेका देने की जगह मजदूरों को सीधे काम पर लगाकर सार्वजनिक निर्माण-कार्य करवाती है और सार्वजनिक सेवा सम्बन्धी उद्योगों का नगर-शासनों द्वारा संचालन करती है। संक्षेप में, अन्य देशों की अपेक्षा ऑस्ट्रेलिया तथा न्यूजीलैण्ड में राज्य समाजवादी आदर्श के अधिक निकट है। वह एक बड़ा भारी जमींदार और उद्योगपति है, वह बैंक, कृषि, बीमा, खानों की खुदाई तथा अन्य दूसरे प्रकार के उद्योग करता है। इस व्यवस्था से लाभ अधिक है या हानियाँ, इस सम्बन्ध में बड़ा मतभेद है।[1]

संयुक्त राज्य अमेरिका में राज्य-समाजवाद

संयुक्त राज्य अमेरिका में, जहाँ अधिक काल से शासन के व्यक्तिवादी सिद्धान्त का प्राधान्य रहा है, कुछ वर्षों से राष्ट्रीय तथा राज्यों की सरकारें राज्य-नियमन एवं राज्य-सहायता का विस्तार करने की ओर प्रवृत्त हैं।[2] ये कानून अधिकांश में बैंकिंग, बीमा, यातायात, कारखानों में मजदूरों के नियमन राज्य द्वारा बीमा-प्रणाली की

---

१. देखिए, Reeves, State Experiments in Australia, Vol. II, Seigfried, Democracy in New Zealand, Part III.
२. देखिए, Merriam, American Political Ideas, Ch. 11.

स्थापना, वेतन, मजदूरो के विवादो के निपटारे, शिक्षा तथा अनुसंधान के लिए विस्तीर्ण सहायता, सार्वजनिक स्वास्थ्य की रक्षा, गरीबों की सहायता, सडकों के निर्माण आदि के नियमन के लिए बनाये गये है।[1] दूसरे देशों की भाँति इस देश में भी व्यक्तिवाद के सिद्धान्त का सिद्धान्ततः एवं व्यवहारतः दोनों ही प्रकार से परित्याग कर दिया गया है। प्रथम विश्वयुद्ध के समय मे सभी विग्रही देशो मे राज्य से उन विविध उद्योगों पर अपना नियन्त्रण स्थापित किया जो युद्ध में सफलता की प्राप्ति के लिए आवश्यक थे, कुछ उद्योगो का स्वय संचालन किया, मजदूरो के वेतन की दर और वस्तुओं के मूल्य निर्धारित किये तथा इसी प्रकार के अन्य कई काम किये और इस प्रकार वहाँ राज्य-समाजवाद ने बडी प्रगति की।[2] समाजवादी यह दावा करते हैं (यद्यपि उनके विरोधी इसे स्वीकार नही करते) कि इस दिशा मे जो सफलता मिली है, उसमे समाजवाद की व्यावहारिकता प्रत्यक्ष सिद्ध है और जब लोग जो कुछ हुआ है, उसे समझेंगे और यह जान लेंगे कि अपने हित मे अपनी सामूहिक शक्ति का प्रयोग करने की उनमे सामर्थ्य है तो जो कार्य राज्य को आवश्यकतावश करना पडा था, वह फिर होने लगेगा और पूर्ण सफलता को प्राप्त हो सकेगा[3]

(४) समीक्षा एवं निष्कर्ष

उचित तथा अनुचित कार्यों के बीच विभाजन-रेखा

राज्य के कार्यों के सम्बन्ध मे व्यक्तिवाद तथा समाजवाद के सिद्धान्तो पर विचार करने के बाद हम एक ही निष्कर्ष पर पहुँचते हैं और वह यह है कि आज इन दोनो मे से कोई भी राज्य के क्षेत्र के विषय मे सार्वमान्य मत का या वास्तविक व्यवहार का प्रतिनिधित्व नही करता। हक्सले ने उचित ही कहा है कि जहाँ तक उनके दावो से सम्बन्ध है, व्यक्तिवाद और समाजवाद दोनो ही मान्य नहीं हैं। राज्य न तो केवल पुलिस का सिपाही ही है और न लोकरंजन-विधायक ही है; वह न तो शान्ति स्थापित करने के कार्य के लिए पुलिस-व्यवस्थामात्र ही है और न वह 'सामान्य सौख्य का निर्माण करने का कोई यन्त्र ही है।' हक्सले ने कहा है कि राज्य के क्या कर्तव्य है, इस प्रश्न का उत्तर हमे इस प्रश्न के उत्तर से मिल जाता है कि "हमे सामूहिक रूप मे केवल उस स्वतन्त्र व्यक्तित्व के मार्ग मे बाधा डालने के लिए ही नही, जो समाज के अस्तित्व के प्रतिकूल है, वरन् सामाजिक सगठन के विकास के लिए आवश्यक स्वतन्त्र व्यक्तित्व को प्रोत्साहन देने के लिए भी क्या करना चाहिए ?"[4] यह स्पष्ट है

---

१. देखिए, Young, The New American Government, Chs. 10-15 तथा 26-29, रूजवेल्ट के राष्ट्रपतित्व (१९३३) के समय से संयुक्त राज्य राज्य-समाजवाद की दिशा मे बहुत आगे बढ गया है।

२. इस नियन्त्रण के कुछ पहलुओ के लिए देखिये, Lloyd, The Machinery of State Controls और Salter, Allied Shipping Control.

इटली मे मुसोलिनी के शासन मे राज्य-समाजवाद का बहुत कुछ त्याग कर दिया गया है। वहाँ राज्य ने बड़े-बड़े उद्योग, जैसे रेल, तार, टेलीफोन, बीमा आदि पर अपना स्वाम्य स्थापित कर लिया था, परन्तु उनमे सफलता नहीं मिली और राज्य को उनके कारण प्रति वर्ष बड़ा घाटा रहता था।

३. तुलना कीजिये, Hyndman, The Future of Democracy, p. 203.

४. Administrative Nihilism in 'Critiques and Addresses', p. 23.

कि हम राज्य के उचित एवं अनुचित कार्यों के बीच कोई विभाजन-रेखा उसी तरह नहीं खींच सकते, जैसे नकशे पर खींच सकते हैं क्योंकि वह रेखा समाज की बदलती हुई परिस्थितियों एवं आवश्यकताओं के अनुसार बदल जाती है।[1] इस सम्बन्ध में कोई निश्चित नियम नहीं बनाया जा सकता और न इस समस्या का पहले से कोई समाधान ढूंढना ही सम्भव है। आज के अति गहन और पेचीदा समाज में किसी विशिष्ट स्थिति में शासन के कार्यों के विस्तार की कोई सीमा निर्धारित करना कठिन है। राज्य के किन कार्यों में हस्तक्षेप करना उचित है और किनमें नहीं, इसका निर्णय प्रत्येक राज्य के लिए अलग अलग ही हो सकता है।[2] स्वमताभिमानी लोगों ने प्राय: स्वतन्त्रता की प्रकृति के सैद्धान्तिक विवेचन के आधार पर यह बतलाने का कि राज्य को कौन से कार्य करने चाहिए और कौन से नहीं, अर्थात् राज्य के कार्य-क्षेत्र को तथा व्यक्ति की स्वतन्त्रता की सीमा को निर्धारित करने का प्रयत्न किया है। परन्तु ये सब प्रयास वैसे ही व्यर्थ हैं, जैसे प्रकाश की प्रकृति के ज्ञान के लिए हम अन्धकार की प्रकृति पर विचार करें। यदि इस सम्बन्ध में कोई सामान्य नियम बनाया जा सकता है तो वह इस प्रश्न के उत्तर के आधार पर बनाया जाना चाहिए कि क्या किसी मामले में हस्तक्षेप करने में राज्य का अभिप्राय सामान्य जनता का हित है; क्या प्रस्तावित कार्य प्रभावकारी होगा और क्या ऐसा कार्य लाभ की अपेक्षा हानि अधिक पहुँचाये बिना किया जा सकता है? यदि हस्तक्षेप का कोई प्रस्तावित कार्य इन शर्तों को पूरा करता है तो उस पर इस आधार पर कोई उचित आक्षेप नहीं किया जा सकता कि उसमें व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के किसी अमूर्त सिद्धान्त का या प्राकृतिक अधिकारों के किसी सिद्धान्त का उल्लंघन होता है।

जैसा प्रोफेसर हॉब्हाउस ने लिखा है, राज्य के कार्यों के सम्बन्ध में हमें इस प्रश्न पर विचार करके ही निश्चय करना है कि राज्य के हस्तक्षेप द्वारा सामाजिक सहयोग के उद्देश्यों की कहाँ तक पूर्ति होती है और दूसरी ओर, प्रयोग में आने वाले उपायों तथा वाञ्छनीय उद्देश्यों में कहाँ तक संघर्ष होगा?[3] किस प्रकार का दबाव अनिवार्यत: आवश्यक है, किस सीमा तक सफलता के साथ दबाव का प्रयोग किया जा सकता है और समाज के सामान्य जीवन पर उसके प्रयोग के क्या स्वयंप्रवृत्त परिणाम होंगे आदि बातें समाज की रचना और राज्य तथा नागरिकों के सम्बन्धों पर निर्भर होंगी। किसी दशा में समाज की बाह्य तथा आन्तरिक खतरों से रक्षा करने तथा सामान्य कल्याण की वृद्धि के लिए राज्य के हस्तक्षेप अथवा दबाव की मात्रा प्रत्येक समाज की परिस्थितियों एवं दशाओं के अनुसार भिन्न होगी। मिल ने सत्य ही कहा है कि शासन के कार्य स्थायी नहीं हैं; समाज की विभिन्न दशाओं में वे विभिन्न होते हैं। सामान्यत: राज्य का यह लक्ष्य होना चाहिए कि वह सामान्य जीवन के लिए सर्वश्रेष्ठ स्थितियों, या ऐसी स्थितियों को, जो सार्वजनिक साधनों तथा शासन-यन्त्र द्वारा उपलब्ध हो सकती हैं, सुनिश्चित करने का प्रयत्न करे,

१. तुलना कीजिये, Leon Say, Municipal and State Socialism, p. 15
२. Cunningham, (Politics and Economics, p. 136) ने कहा है कि इन दोनों प्रकार के कार्यों में भेद नहीं किया जा सकता। हमारे समस्त सम्बन्धों में राज्य का प्रभाव व्याप्त है।
३ Social Evolution and Political Theory, pp. 188, 189-201.

जहाँ तक ये स्थितियाँ दबाव के प्रयोग से प्राप्त हो सकती हैं।[1]

जैसा मिल ने कहा है, ऐसे बहुत से मामले हैं जिनमे सरकार सामान्य स्वीकृति से ऐसो सत्ताम्रो का प्रयोग करती है भ्रौर ऐसे कार्य करती है जिनका इसके सिवा भ्रौर कोई कारण नही कि उनसे सार्वजनिक सुविधा प्राप्त होती है। मिल इसमे इतना भ्रौर बढा सकता था कि इसके लिए भ्रन्य कोई कारण भ्रपेक्षित नही होना चाहिए। उसने बतलाया कि शासन के स्वीकृत कार्य उनसे कही भ्रधिक हैं जिन्हे हम किसी संकुचित परिभाषा की सीमा के भ्रन्दर रख सकें भ्रौर उन सबके समर्थन के लिए उनके सामान्य भ्रौचित्य के भ्रतिरिक्त भ्रौर कोई दूसरा भ्राधार ढूँढना कठिन है।[2]

व्यक्तिवादी सिद्धान्त की भ्रनेक बातों से हमारा मतभेद होते हुए भी, मिल के इस कथन से सभी सहमत होंगे कि 'सामाजिक एकता की स्थापना के सम्बन्ध में हम चाहे जिस सिद्धान्त को ग्रहण करें भ्रौर हम चाहे जैसी राजनीतिक संस्था के भ्रधीन रहें किन्तु प्रत्येक मानव के चारों भ्रोर एक ऐसा वृत्त है, जिसके भीतर किसी भी सरकार को चाहे वह एकतन्त्र हो, कुलीनतन्त्र हो या प्रजातन्त्र, पदार्पण नही करने देना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का, जिसने प्रौढता प्राप्त कर ली है, एक ऐसा भ्रंश है जिसमें उसके व्यक्तित्व पर किसी भ्रन्य व्यक्ति या समाज का नियन्त्रण बिलकुल नही होना चाहिए।[3] वास्तव म, जहाँ तक राज्य के विशुद्ध दमनकारी भ्रंश से सम्बन्ध है, वहाँ तक मिल का यह सिद्धान्त निस्सन्देह सत्य है कि इस वृत्त मे वह समस्त भाग भ्रा जाना चाहिए जिसका व्यक्ति के निजी जीवन मे सम्बन्ध है भ्रौर जिसका दूसरो के हितों पर कोई प्रभाव नही पडता भ्रथवा जिसका दूसरो पर एक नैतिक उदाहरण के रूप मे ही प्रभाव पडता है; परन्तु इसमे उस वृहत्तर स्वतन्त्रता का विचार नही किया गया है जो सामाजिक निपुणता की दृष्टि से बुद्धिमत्तापूर्वक सचालित राज्य की सहायता तथा पथ-प्रदर्शन से प्राप्त होती है।

राज्यों के कार्यों के सम्बन्ध मे सर्वसम्मत विचार

एक बात मे सब लोग सहमत हैं भ्रौर वह यह है कि राज्य का कार्य व्यक्तियों मे शान्ति, व्यवस्था एवं सुरक्षा स्थापन करने के पुलिस-कार्य से कही महान् है; उसे मनुष्यो को एक-दूसरे से रक्षा करने के कार्य से भ्रागे बढकर भ्रपने नागरिको के लिए कुछ भ्रौर भी करना चाहिए। हक्सले ने कहा है कि 'इस दुराग्रही कथन से कम समर्थनीय भ्रौर कोई बात नही हो सकती कि भ्रान्तरिक एवं बाह्य भ्राक्रमण की रक्षा

---

१. तुलना कीजिए, Stephen, Liberty, Equality and Fraternity, pp. 137; Ritchie, Studies in Political and Social Ethics, p. 63. स्टीफेन ने कहा है कि राज्य का दबाव उस समय बुरा है जब उसका प्रयोजन बुरा हो, किन्तु यदि प्रयोजन भ्रच्छा भी हो परन्तु दबाव से वह सिद्ध नही होता हो, या सिद्ध भी होता हो परन्तु खर्च भ्रत्यधिक हो, तो भी वह बुरा है। दबाव उसी समय भ्राक्षेपयोग्य नहीं होता जब प्रयोजन भ्रच्छा हो; दबाव प्रभावकारी हो भ्रौर उससे उत्पन्न हित उसकी सुविधाम्रो से भ्रधिक हो (वही, पृष्ठ ५०)।

२. Political Economy, Vol II, pp. 391-392.

३. वही, पृष्ठ १६८।

से परे राज्य का हस्तक्षेप प्रत्येक स्थिति में हानिप्रद है।[1] राज्य उस समय तक अपने पूरे कर्तव्य का पालन नहीं करता जब तक वह व्यक्ति को दूसरे की हिंसा एवं छल-कपट से ही बचाता है और उसे उन विनाशकारी अवस्थाओं से अकेला ही जूझने के लिए छोड़ देता है, जिसका निवारण राज्य ही कर सकता है। मानव-समाज के प्रारम्भ में, जैसा एक विद्वान् लेखक ने कहा है, राज्य का प्रमुख कार्य है—बाहरी आक्रमण से देश की रक्षा और आन्तरिक व्यवस्था की सुरक्षा, परन्तु जैसे-जैसे समाज प्रगति करता है और जनसंख्या तथा जटिलता में बढ़ता जाता है, जैसे वह वन्य स्थिति से बर्बर और बर्बर अवस्था से सभ्य अवस्था में पहुँचता है, वैसे ही वैसे राज्य का केवल पुलिसमैन के कर्तव्य से अधिक विस्तृत कर्तव्य होता जाता है, अर्थात् राष्ट्रीय जीवन की पूर्णता। राष्ट्र की सम्पत्ति और उसके कल्याण की अभिवृद्धि तथा उसका बौद्धिक एवं नैतिक विकास उसका कर्तव्य हो जाता है।[2]

राज्य का कर्त्तव्य

राज्य के लिए यह उचित हस्तक्षेप होगा कि वह जिस सीमा तक न्याय प्रबन्ध में प्रवेश करता है, उसी सीमा तक सामाजिक सुधार में भी करे, अर्थात् राज्य को यथासम्भव प्रभावपूर्ण ढंग से प्रत्येक व्यक्ति के लिए यथायोग्य जीवन के लिए अत्यन्त आवश्यक उन स्थितियों और सुयोगों को सुलभ करना चाहिए, जिनका प्रत्येक व्यक्ति को अधिकार है क्योंकि उनके अभाव में व्यक्ति पंगु, विकृत और सामान्य जीवनयापन के अयोग्य हो जायगा। एक प्रसिद्ध लेखक ने कहा है कि जिस कारण राज्य के लिए पहले व्यक्ति तथा उसकी सम्पत्ति की हिंसा से रक्षा करना उचित था, उसी से बाद में दासता का विनाश करना भी उचित था, आज उसी कारण राज्य के अज्ञान को मिटाने के प्रयत्न उचित हैं और भविष्य में वही कारण जीवन की दूसरी पतनकारी अवस्थाओं को दूर करने के लिए राज्य के कामों का उचित ठहरायगा।[3]

हमारा विश्वास है कि राज्य का यह भी समान रूप से उचित कर्त्तव्य है कि वह विज्ञान, साहित्य एवं कला जैसे जीवन के उच्चतर कार्यों को भी, जिससे राष्ट्र की सभ्यता का विकास होता है, प्रोत्साहन दे, यदि उनका सम्पादन राज्य की सहायता अथवा प्रोत्साहन के बिना न हो सके। जैसा लेकी ने कहा है, जो राष्ट्र इस प्रकार की बातों को प्रोत्साहन नहीं देता और उनकी परवाह नहीं करता, उसकी सभ्यता अपूर्ण और निम्न ही रहेगी।[4] कला का समर्थन तथा प्रोत्साहन राष्ट्र के गौरव तथा जनता की शिक्षा में वृद्धि करता है और वास्तव में अधिकांश राज्य चित्रशाला, अद्भुतालय, कला-विद्यालय आदि के लिए बजटों में आर्थिक सहायता स्वीकार करते हैं। एडमण्ड बर्क ने यह उचित ही कहा है कि 'राज्य अस्थायी एवं क्षणिक पाशविक जीवन की

---

१. Administrative Nihilism, in his 'Critiques and Addresses', p. 10. ग्रीन ने कहा है कि राज्य का काम केवल पुलिस का काम, अपराधियों को पकड़ना और इकरार पर निर्दयतापूर्वक अमल करवाना ही नहीं है, उसका काम यथाशक्ति व्यक्तियों के लिए उनकी बौद्धिक तथा नैतिक प्रवृत्तियों में जो कुछ सर्वोत्तम है, उसे प्राप्त करने के समान सुयोग सुलभ करना है।

२. Leroy-Beaulieu, The Modern State, Ch. 5.

३ तुलना कीजिये, Rae, Contemporary Socialism, pp. 396-397.

४. Democracy and Liberty, Vol I, p. 275. तुलना भी कीजिये, Pollock, History of the Science of Politics, p. 125

सहायक वस्तुओं मे ही साझेदारी नही है ; प्रत्युत वह समस्त विज्ञानो, समस्त कलाओं और प्रत्येक सद्गुण और पूर्णता मे साझेदारी है।' *न्याय-प्रबन्ध तथा व्यक्तियों के* जीवन एवं उनकी सम्पत्ति की रक्षा के अतिरिक्त राज्य का यह स्पष्ट कर्त्तव्य है कि वह ऐसी सामाजिक एवं आर्थिक अवस्थाएं पैदा करे जिनमे व्यक्ति अपनी क्षमताओं का विकास कर सकें और अपनी प्राकृतिक सामर्थ्य का अधिक से अधिक उपयोग कर सकें और इस प्रकार अपने जीवन के लक्ष्यों को पूर्णतया प्राप्त कर सकें।

राज्य का यह कर्त्तव्य है कि वह समझौतों को अमल में लावे ; परन्तु उसका यह भी कर्त्तव्य हो सकता है कि वह उन शर्तों को भी निर्धारित करे जिनमें वे समझौते उचित हो सकते हैं और राज्य की रक्षा के अधिकारी हो सकते हैं, विशेषकर उस दशा मे जबकि समझौता करने वालो मे से एक पक्ष वास्तव मे स्वतन्त्र नही हो। राज्य को ऐसे उद्योगों का नियमन अथवा निरीक्षण करना चाहिए जो प्राकृतिक दृष्टि से एकाधिकार युक्त (Natural Monopolies) हैं। परन्तु यह भी राज्य का कर्त्तव्य हो सकता है कि व्यक्तिगत उद्योगों को उनके स्वामियों से लेकर अयोग्य सेवाओं तथा नानाकारी मूल्यों से समाज की रक्षा करने के लिए स्वयं उनका संचालन करे। राज्य *को समाज के लिए औद्योगिक प्रतियोगिता के प्रकट लाभों को बनाये रखना चाहिए ;* परन्तु यदि व्यक्तिवादी नीति के कारण स्वतन्त्र प्रतियोगिता असम्भव हो जाय तो राज्य को हस्तक्षेप करना चाहिए और व्यक्तिगत एकाधिकार की बुराइयों से उसे समाज की रक्षा करनी चाहिए। अनुभव ने यह प्रमाणित कर दिया है कि व्यक्तिवादी नीति से औद्योगिक स्वतन्त्रता की रक्षा नही होगी और न आज के अत्यन्त जटिल समाज मे आर्थिक सुयोगों की समानता ही स्थापित हो सकेगी।

आधुनिक अवस्था मे स्वतन्त्र प्रतियोगिता सदैव हितप्रद सामाजिक अथवा आर्थिक सिद्धान्त नही है। जब इससे व्यापार उसमे भाग लेने वाले निकृष्टतम व्यक्तियों के स्तर तक नीचे गिर जाता है, जब यह सुयोगों की समानता के स्थान पर असमानता स्थापित करती है, जब इससे एकाधिकार की ओर प्रवृत्ति बढ़ती है और स्वस्थ प्रतियोगिता का विनाश होता है और जब इससे आर्थिक सेवा भी असन्तोषजनक हो जाती है, तब यह हितप्रद न रह कर एक दूषण बन जाती है। राज्य की यह असन्दिग्ध सत्ता है और उसका यह कर्त्तव्य भी है कि वह प्रतियोगिता की प्रकृति निर्धारित करे जिससे यह सम्भव हो सके कि *श्रेष्ठ व्यक्ति शैली स्थापित करें, निकृष्ट व्यक्ति नहीं* और समाज अपने उत्पादन की प्रक्रियाओं को सगठन के सर्वोत्तम रूप के अनुकूल कर सके।

स्वतन्त्रता का सिद्धान्त

तथापि सामान्यतया लोक-रुचि हस्तक्षेप के विरुद्ध ही है, चाहे वह निषेध के रूप मे हो या नियम अथवा शासन के कार्य के रूप में। इस बात मे मतैक्य है कि स्वतन्त्रता एक नियम होना चाहिए और हस्तक्षेप एक अपवादमात्र और जो राज्य के हस्तक्षेप का समर्थन करते हैं, उन्हें चाहिए कि वे प्रस्तावित नवीन योजना की आवश्यकता प्रमाणित करें। हक्सले की उक्ति है कि हस्तक्षेप के अतिशय अभाव से उतना खतरा नही है जितना अतिशय हस्तक्षेप से है। अनुसरण करने के लिए सम्भ*वत: यही सिद्धान्त निरापद है।* समस्त लेखकों ने यह बात स्वीकार की है कि सामान्यतया राज्य को समाज के लिए उन कार्यों को नहीं करना चाहिए जिन्हें व्यक्ति ठीक तरह से या अधिक अच्छे ढंग से कर सकते हैं अथवा जो व्यक्तियों द्वारा किये जाने पर सबके लिए अधिक सुफलदायक हो सकते हैं। आर्थिक मामलों में व्यक्तियों को उस

समय तक प्रतिबन्ध से मुक्त रहने देने के, जब तक इसके दूसरो के अधिकारो एवं हितो पर आघात न हो, नाम स्पष्ट हैं। काण्ट ने कहा है कि बुद्धि-परक राज्य के विधान में राज्य के प्रत्येक सदस्य की मनुष्य की हैसियत से स्वतन्त्रता प्रथम सिद्धान्त है। राज्य के हस्तक्षेप के अनेक कार्यों से किसी न किसी वर्ग की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध आवश्यक रूप से लगता है और वे कार्य उसी समय उचित हो सकते हैं जब उनसे बहुसंख्यक वर्ग के अधिकारो की सुरक्षा होती हो। यदि उनसे केवल एक वर्ग की हानि हो और लाभ किसी को न पहुँचे तो वे निश्चय ही अनुचित हैं।

व्यक्तिवाद की असम्भवता

विश्व के आर्थिक एवं सामाजिक विकास की वर्तमान् अवस्था मे व्यक्तिवादी नीति एडम स्मिथ तथा बेन्थम के समय से भी अधिक असम्भव है। आज से ७४ वर्ष पहले के व्यक्तिवाद के विरुद्ध बड़े-बड़े आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक परिवर्तनों के कारण एक प्रबल प्रतिक्रिया पैदा हो गयी है।

उन्नीसवीं सदी व मध्य से सभ्य राज्यो मे यह प्रवृत्ति दिखाई दे रही है कि वे उन क्षेत्रो मे भी घुसते जा रहे हैं जिनमे अभी तक व्यक्तिगत स्वतन्त्रता थी। गत शताब्दियो के राज्य के हस्तक्षेप और वर्तमान काल के हस्तक्षेप मे बडा अन्तर है। गत शताब्दियो का हस्तक्षेप प्रशासनीय था परन्तु आजकल यह व्यवस्थापन सम्बन्धी है। प्रो० सीले ने कहा है कि उन्नीसवी सदी का राज्य व्यवस्थापक राज्य (Legislative State) कहा जा सकता है।[1] जैसा ऊपर बतला चुके हैं, वर्तमान काल के राज्य के हस्तक्षेप तथा अठारहवी शताब्दी के हस्तक्षेप मे एक अन्तर यह भी है कि यह हस्तक्षेप प्रजातान्त्रिक रीति से सगठित एव नियन्त्रित शासनो द्वारा होता है।

गत शताब्दी मे शासन की कार्यपालिका (Executive Government) कार्य-क्षेत्र, जिसके साथ हमारा परम्परागत विरोध अभी तक चला आ रहा है, बहुत कुछ संकुचित हो गया है, परन्तु आधुनिक राज्यो मे प्रति वर्ष कानूनों की संख्या मे वृद्धि हो रही है। हर्बर्ट स्पेन्सर के दावे के अनुसार भविष्य मे जीवन भार हो जायगा और व्यक्ति दास बन जायगा या नहीं, इसका विचार करने की हमे आवश्यकता नहीं है। हम जेवन्स से इस बात मे सहमत हैं कि उन कानूनो के बावजूद भी जो एक बडी सख्या मे विद्यमान् हैं और जिनके अधीन आधुनिक व्यक्तियो को रहना पडता है, वह (व्यक्ति) उस वन्य मनुष्य की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्र और श्रेष्ठ है, जिसक ऊपर प्रकृति के नियन्त्रण के अतिरिक्त अन्य कोई नियन्त्रण नहीं होते, परन्तु फिर भी जो आवश्यकता के भौतिक दबाव से सदा पीडित रहता है।[2] स्वतन्त्रता अन्य वस्तुओं की भाँति ही उसके प्रयोग के अनुसार श्रेष्ठ या निकृष्ट होती है। जैसा जेम्स फिट्ज़जेम्स स्टीफन्स ने कहा है, स्वतन्त्रता अच्छी वस्तु है या बुरी, यह पूछना वैसा ही असगत है, जैसा यह पूछना है कि अग्नि अच्छी वस्तु है या बुरी। वह समय, स्थान तथा स्थिति के अनुसार अच्छी और बुरी दोनों ही है, किन स्थितियों मे वह श्रेष्ठ है और किन स्थितियो मे निकृष्ट, इसक पूरे उत्तर के साथ समस्त मानव-जाति के इतिहास तथा उस इतिहास से समस्याओं का जो पूर्ण समाधान मिलेगा, दोनो का सम्बन्ध है।[3] जैसा बेंजामिन कॉन्स्टेण्ट ने कहा है, 'यह समस्त मानव-समुदायो का साध्य नहीं है, यह तो

१. Introduction to Political Science, p. 146.
२. The State in Relation to Labour, p. 14.
३ Liberty, Equality and Fraternity, p 48.

केवल व्यक्ति के जीवन की पूर्णता की सिद्धि का साधनमात्र है। उसे साध्य मानना समस्त समस्या को ही गलत समझना है। अतः वह केवल उसी सीमा तक हितप्रद है, जिस सीमा तक वह मनुष्य को उस दूसरी स्वतन्त्रता की प्राप्ति में सहायक होती है, जो स्वयं साध्य है और समस्त सामाजिक संगठनों का ध्येय है। अतीत में मानव-जाति को स्वतन्त्रता की अधिकता की अपेक्षा शासन की अधिकता से अधिक हानि हुई है, यह कहना संदिग्ध है।[1]

मुख्य पाठ्य-ग्रन्थ

Barker,	"Political Thought from Spencer to the Present Day" (1915), Chs. 4-5.
Bluntschli,	"Theory of State" (English translation, 1896), Bk. V, Ch. 4
Brown,	"The Underlying Principles of Modern Legislation" (1915), pp 1-33 ; 41-68.
Bryce,	"Modern Democracies" (1921), Vol. II, Ch. 79
Burns,	"Government and Industry" (1921), Chs. 4-9.
Cunningham,	"Economics and Politics" (1885), Bk. I, Ch. 4.
Donisthorpe,	"Individualism, a System of Politics" (1889), Chs. 3, 9, 10.
Douglas,	"Proletarian Political Theory" in Merriam, Barnes, and others, "Political Theories, Recent Times" (1924), Ch. 5.
Garner,	"Government and Liberty," *Yale Review*, 1908, pp. 348-368.
Gilchrist,	"Principles of Political Science" (1921), Chs. 19-20.
Graham,	"Socialism, New and Old" (1890), Chs. 5-9.
Hadley,	"Economics" (1906), Ch. 1.
Hillquit,	"Socialism in Theory and Practice" (1913), Chs. 2, 5.
Hobhouse,	"Liberalism" (1911), Chs. 4, 7 ; and "Social Evolution and Political Theory" (1911), Ch. 9.
Howe,	"Socialized Germany" (1915), Chs. 6 14.
Huxley,	"Administrative Nihilism" in his "Critiques and Addresses," Ch. 1.
Hyndman,	"The Future of Democracy" (1915), concluding chapter.
Kirkup,	"History of Socialism" (1909), Introduction and Chs. 9-11.
Laboulaye,	"The Modern State" (1868), Ch. 1.
Laveleye,	"Le Guovernement dans la democratie" (1896), Vol. I, Chs. 7, 8, 10-12.
Leroy-Beaulieu,	"Letat moderne et ses limites" (1891), Chs. 1, 2, 5.

---

१. स्वतन्त्रता के विषय पर, James Mckinnon, A History of Modern Liberty, 3 Vols. (1906) में बड़ा साहित्य एकत्र है।

Lilly,	"First Principles of Politics" (1899), Chs. 3-4.
Mackay,	"A Plea for Liberty" (1891), Chs. 1-2, 4.
Mallock,	"A Critical Examination of Socialism" (1907), Chs. 7-9.
McKechnie,	'The State and the Individual" (1896), Chs 3-4, 8, 12, 13.
Merriam,	"American Political Ideas" (1920), Chs. 11-12.
Mill,	'Political Economy" (1880), Vol. II, Bk. V; also his "Essay on Liberty" (1859).
Montague,	"Limits of Individual Liberty" (1885), Ch. 6.
Muir,	"Liberalism and Industry" (1921), Ch. 7
Pollock,	'History of the Science of Politics" (1897), Ch. 4
Rae,	"Contemporary Socialism" (1814), Ch. 11.
Ritchie,	"Principles of State Interference" (1902), Chs 2-3.
Roberts,	"Monarchical Socialism in Germany" (1913), Chs. 1-5
Russel,	"Proposed Roads to Freedom" (1919), Chs. 2, 5.
Siegfried,	"Democracy in New Zealand" (1914), Pt. III.
Spargo,	"Social Democracy Explained" (1918), Chs 3, 10.
Spencer,	'Social Statics and Man versus the State" (1866).
Stephen,	"Liberty, Equality, and Fraternity" (1873), Ch 1.
Wilson,	"Province of the State" (1911), various Chapters.

(१) विधान की प्रकृति, आवश्यकता एवं उत्पत्ति

'विधान' शब्द का प्रयोग

जब विधान शब्द का प्रयोग राज्य के सम्बन्ध में किया जाता है तब उससे भौतिक एवं कानूनी दोनों कल्पनाओं का बोध हो सकता है। पहली कल्पना में विधान का अभिप्राय विधायक तत्वों के उस योग से होता है, जिससे राज्य के भौतिक शरीर की रचना होती है, जैसे प्रदेश लोक-संस्थाएं, शासन-यंत्र इत्यादि। इस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग कुछ-कुछ वैसा ही होता है, जैसा प्राकृतिक विज्ञानों में, जब हम पशु शरीर की रचना की बात करते हैं। दूसरे अर्थ में, उसका अभिप्राय एक कानूनी लेख-पत्र (Instrument) से होता है। यह एक प्रकार का 'साक्ष्य-पत्र' (Instrument of Evidence) होता है—एक आधारभूत कानून या चार्टर, एक लेखपत्र या लेखपत्रों का सग्रह जिसमें राज्य के मूल रचना सम्बन्धी सार्वजनिक कानून के अधिक सारभूत भागों का समावेश होता है। जेम्सन ने कहा है कि विधान राज्य द्वारा अपने नागरिकों को संबोधित कुछ सूत्रों की पारिभाषिक भाषा में अभिव्यक्ति है।"[1]

विविध लेखकों ने राज्य-विज्ञान के अन्य शब्दों की भाँति विधान की भी व्याख्या उसके सम्बन्ध में अपनी-अपनी कल्पना के अनुसार विविध ढंग से की है। अतीत के तथा वर्तमान समय के विधानों की विविधता को देखते हुए कोई ऐसी परिभाषा की रचना करना सरल नहीं, जिसमें समस्त प्रकार के विधानों के लक्षणों का पूरा-पूरा समावेश हो सके। किन्तु विधान-वेत्ताओं में विधान के आवश्यक तत्वों के सम्बन्ध में काफी मतैक्य है, यद्यपि वास्तविक व्यवहार तथा विधान-वेत्ताओं की कल्पनाओं में सदा सामंजस्य नहीं दिखाई देता।

विधान की परिभाषाएँ

अधिकारी विद्वानों ने विधान की जो परिभाषाएं की हैं, उनमें से कुछ महत्वपूर्ण परिभाषाएं यहाँ प्रस्तुत की जाती हैं जिनमें उन्होंने विधान के लक्षण तथा कार्यों का सामान्य भाषा में वर्णन करने का प्रयत्न किया है। सर जेम्स मैकिन्टॉश के अनुसार 'राज्य के विधान से प्रयोजन उन लिखित तथा अलिखित मौलिक कानूनों के सग्रह से है, जिसके अनुसार राज्य के प्रधान शासक-वर्ग के अधिकारों तथा नागरिकों के प्रति आवश्यक विशेषाधिकारों का नियमन होता है।[2] जॉर्ज कार्नवाल लेविस ने

१. The Constitutional Convention, p 66.
२. Law of Nature and of Nations, p. 65.

कहा है कि 'विधान शब्द से समाज में प्रभुत्व सत्ता की व्यवस्था तथा उसका वितरण या शासन के रूप का बोध होता है।'[1] अमेरिका के प्रसिद्ध विधान-वेत्ता न्यायाधीश कूली ने विधान की परिभाषा करते हुए कहा है कि 'विधान राज्य का आधारभूत कानून है, जिसमें ऐसे सिद्धान्तों का समावेश होता है जिन पर शासन आधारित है; जिनके द्वारा प्रभुत्व-सत्ता का वितरण होता है और कौन व्यक्ति किस प्रकार इन सत्ताओं का प्रयोग करेंगे, इसका भी निर्देश होता है।' उसने यह भी कहा कि 'शायद उतनी ही उपयुक्त और पूर्ण परिभाषा यह होगी कि विधान ऐसे नियमों का संग्रह है, जिसके अनुसार प्रभुत्व-सत्ता का नित्य प्रयोग किया जाता है।'[2] स्विस लेखक चार्ल्स बोरगोद ने कहा है कि 'विधान राज्य का वह आधारभूत कानून है, जिसके अनुसार राज्य के शासन का संगठन किया जाता है और जिसके अनुसार व्यक्तियों अथवा नैतिक व्यक्तियों तथा समाज के पारस्परिक सम्बन्धों का निर्धारण होता है। यह लिखित लेखपत्र हो सकता है, जिसका निर्माण सर्वोच्च सत्ता द्वारा सुनिश्चित कानून के रूप में किसी समय किया गया हो अथवा समय-समय पर व्यवस्थापिका द्वारा बनाये गये कानूनों, अध्यादेशों (Ordinances), न्यायालयों के निर्णयों, पूर्व उदाहरणों तथा विविध प्रकार के स्रोतों से प्राप्त एवं असमान महत्वों के रीति-रिवाजों का न्यूनाधिक निश्चित परिणाम हो सकता है।'[3]

राज्य-विज्ञान के सुप्रसिद्ध जर्मन लेखक जॉर्ज जेलिनेक ने विधान की परिभाषा इस प्रकार की है—'विधान उन कानूनी नियमों का संग्रह है, जिनके द्वारा राज्य के सर्वोच्च अङ्गों का निर्धारण होता है तथा उनकी रचना की विधि, उनके पारस्परिक सम्बन्धों, उनके कार्य-क्षेत्रों तथा राज्य के सम्बन्ध में उनमें से प्रत्येक के मौलिक स्थान का निश्चय होता है।'[4]

संयुक्त राज्य अमेरिका की सुप्रीम कोर्ट के न्यायाधीश मिलर ने कहा है कि 'अमेरिकन भाव में विधान एक लिखित लेख-पत्र है, जिसके अनुसार शासन की मौलिक सत्ताओं की स्थापना होती है, उनकी मर्यादाओं तथा अधिकार-सीमाओं का निर्धारण होता है और उन सत्ताओं का समाज के हित के लिए अधिक निरापद एवं उपयोगी प्रयोग के लिए राज्य के विविध भागों में विभाजन होता है।'

वास्तविक (Real) तथा औपचारिक (Formal) विधानों में कभी-कभी भेद किया जाता है। वास्तविक विधान वास्तविक ऐतिहासिक विधान होता है जिसका विविध राजनीतिक एवं सामाजिक शक्तियों की क्रियाओं के फलस्वरूप विकास हुआ है। यह वह सजीव व्यावहारिक विधान है, जिसे जनता मानती है। औपचारिक विधान केवल सैद्धान्तिक विधान, वकीलों का विधान, राष्ट्रपति विल्सन के शब्दों में "साहित्यिक" (Literary) विधान है, वह वास्तविक कानूनी लेखपत्र है जिसमें से समस्त रीति-रिवाज तथा इतिहास की प्रक्रिया में जुड़ी हुई समस्त बातें निकाल दी गयी हैं। वास्तविक विधान वैधिक विधान का ही परिवर्तित विस्तृत रूप होता है जो

---

१. Use and Abuse of Political Terms, p. 20.

२. Constitutional Limitations, p. 4.

३. The Origin of Written Constitutions, Political Science Quarterly, *Vol. II*, p. 615

४. Recht des Modernen Staates, Vol. II, 170.

रीति-रिवाज तथा गैर-कानूनी आचारों द्वारा नवीन परिस्थितियों के अनुकूल बना लिया जाता है।[1]

कभी-कभी विधान सार्वजनिक सदाचार तथा न्याय के सर्वोच्च सिद्धान्तों से युक्त एक आदर्श के रूप में भी माना जाता है, जैसे उस समय जब हम विधान की भावना की चर्चा करते हैं जिसका आशय उस कल्पित नियम या सिद्धान्त से होता है जिसके साथ हमारे विचार में वैधानिक विधान की अनुकूलता होनी चाहिए।[2]

विधान की आवश्यकता

क्या ऐसी कल्पना सम्भव है कि एक राज्य पूर्णरूपेण सगठित हो और अपने कार्य यथोचित रीति से करता हो, परन्तु उसका कोई विधान न हो ? इस प्रश्न का उत्तर विधान के सम्बन्ध में हमारी जो कल्पना है, उस पर निर्भर है। जैलिनेक का मत था कि राज्य के लिए विधान परम आवश्यक है और प्रत्येक राज्य का अपना विधान होना चाहिए और होता भी है, यहाँ तक कि स्वेच्छाचारी राज्यों में भी विधान अनिवार्य है। विधान के बिना राज्य राज्य नहीं वरन् एक अराजक समाज होगा।

इसका अर्थ यह नहीं है कि कोई भी राज्य बिना औपचारिक लिखित विधान के एक लम्बी अवधि तक ठहर नहीं सकता अथवा अपने कार्यों का सम्पादन नहीं कर सकता। उदाहरणार्थ, आधुनिक अर्थ में एक विधान अर्थात् राज्य के सुनिश्चित मौलिक कानून से युक्त औपचारिक लिखित विधान के निर्माण के पहले फ्रान्स का राज्य १००० वर्ष तक विद्यमान था। कुछ लेखकों का तो यह मत है कि आधुनिक फ्रान्स में आधुनिक अर्थ में अब भी कोई विधान नहीं है। इसी प्रकार यह कहा जा सकता है कि इंगलैण्ड भी एक लम्बे अर्से तक बिना विधान के कायम रहा। लेकी का मत था कि इंगलैण्ड में पुनः स्थापना (*Restoration*) के समय (सन् १६६०) तक आंग्ल विधान बन नहीं सका था। परन्तु यदि हम विस्तृत भाव में विधान का अर्थ ऐसे आधारभूत नियमों, सिद्धान्तों एवं परम्पराओं का प्रतिष्ठित संग्रह मानें, चाहे वे एक औपचारिक लेखपत्र के रूप में न आ पाये हों, जिनके अनुसार राज्य का संगठन हुआ है और उसकी सत्ताओं का प्रयोग होता है तो हमें मानना पड़ेगा कि सत्रहवीं शताब्दी में इंगलैण्ड तथा फ्रान्स दोनों देशों में प्राथमिक रूप में विधान विद्यमान थे।

क्रान्ति से पूर्व फ्रेन्च विधान

फ्रान्स में चौदहवीं शताब्दी के आरम्भ में विधानवेत्ता और विशेषरूप से प्राकृतिक कानून के समर्थक राज्य के आधारभूत कानूनों (Fundamental Laws of the Kingdom) तथा राजा के कानून (Laws of the King) में भेद मानने लगे थे। आधारभूत कानून के अन्तर्गत कुछ सिद्धान्त, परम्पराएँ और कानून सम्मिलित थे जो शताब्दियों में धीरे-धीरे बन रहे थे और जिनके विषय में राजा भी मानते थे कि उन्हें उनको स्टेट्स-जनरल (States General) की अनुमति के बिना रद्द करने या उनमें परिवर्तन करने का अधिकार नहीं था। वे राजाओं पर कानून बनाने की

---

१. तुलना कीजिये, Mulford, The Nation, p. 144; Brownson, The American Republic, p. 218 ; Hurd, Law of Freedom and Bondage, Vol. I, p. 296.

२. Mill (*Representative Government, 1897, p. 92*) ने भी कहा है कि वैधानिक एकतन्त्र के सिद्धान्तों का महत्व विधान के सिद्धान्तों के महत्व से किसी तरह कम नहीं है।

सर्वोच्च सत्ता के सम्बन्ध मे उतने ही बन्धनकारी थे जितना एक लिखित विधान आधुनिक व्यवस्थापिकाओं पर बन्धनकारी होता है। इन आधारभूत सिद्धान्तो मे निम्नलिखित सम्मिलित थे—राजा स्टेट्स-जनरल की अनुमति के बिना कोई नया कर नही लगा सकता था; वह राज्यारोहरण सम्बन्धी सेलिक (Salic) नियम मे कोई परिवर्तन नही कर सकता; वह राज्य के प्रदेश को हस्तान्तरित नहीं कर सकता था, और राजा की व्यवस्थापिका सत्ता प्राकृतिक नियम, ईश्वरीय नियम और राज्य के आधारभूत कानूनो द्वारा मर्यादित थी, यदि वह इन कानूनो का उल्लघन करता था तो उसकी प्रजा उसकी आज्ञा का पालन करने के लिए बाध्य नही थी, कोई भी कानून उस समय तक वैध नही माना जाता था, जब तक पार्लामेण्ट (Parliament) द्वारा, जो एक न्याय-संस्था थी और व्यवस्थापिका नही, उसको रजिस्ट्री नही हो जाती थी; प्रत्येक नागरिक को अपने सम पदस्थो द्वारा न्याय कराने का अधिकार था, कोई भी व्यक्ति न्यायाधीश की आज्ञा के बिना बन्दी नही बनाया जा सकता था और राष्ट्र को राज्य की आवश्यकताओं पर विचार करने के लिए एक राष्ट्रीय परिषद (National Assembly) के रूप मे एकत्र होने का अधिकार था।

इस प्रकार फ्रान्स मे कानूनो का एक ऐसा सग्रह बन गया था जो ईश्वर की ओर से अथवा प्रकृति की ओर से प्रतिष्ठित अथवा रिवाजो के फलस्वरूप प्रतिष्ठित समझा जाता था और जिसे राजा भी स्वीकार करते थे। विधान-वेत्ताओ ने देश के साधारण कानूनो तथा इन कानूनो मे, जिन्हे वे आधारभूत कानून, स्थायी, अक्षय कानून आदि अनेक नामो से पुकारते थे, भेद माना। यही अपने समष्टिरूप मे प्राथमिक अलिखित विधान थे। इतिहासवेत्ताओ तथा कानूनविदो ने उन पर टीकाएं और व्याख्याएं की। किन्तु राजा इनको सदा स्वीकार नही करते थे और सत्रहवी शताब्दी में तो जैसे-जैसे राजा अधिकाधिक निरकुश होते गये, वैसे ही वैसे उनका प्रयोग बन्द होता गया। जब सन् १७८९ मे स्टेट्स-जनरल की बैठक हुई तब जितनी शिकायतें की गयी, उनमे विधान के अभाव की शिकायत सर्वप्रथम थी। एक प्रतिनिधि सेयीज (Sieyes) ने, जिसने लिखित विधान के लिए आन्दोलन का नेतृत्व किया था, कहा कि विधान की रचना राष्ट्र को करनी चाहिए, यह विधान केवल ऐसी राष्ट्रीय परिषद द्वारा ही बनाया जा सकता है जिसे जनता से इस कार्य के लिए विशिष्ट आदेश मिला हो और व्यवस्थापिका सत्ता विधायक सत्ता (Constituent Power) द्वारा मर्यादित है। इस प्रकार उसने आधुनिक सिद्धान्त की घोषणा की। कुछ-कुछ इसी प्रकार इगलैण्ड क पूर्वकालीन विधान का भी विकास हुआ। फ्रान्स तथा इगलैण्ड के विधानो के विकास मे जो सादृश्य था, वह फ्रेन्च राज्य-क्रान्ति के प्रारम्भ के साथ समाप्त हो गया जबकि फ्रान्स के लोगो ने अपना लिखित विधान बना लिया, परन्तु इगलैण्ड के लोग रीति-रिवाज, व्यवस्थापन तथा न्यायालय के निर्णयो द्वारा ही अपने विधान का विकास करते रहे।

लिखित विधानो की उत्पत्ति

अठारहवी शताब्दी से पूर्व ससार के किसी भी देश मे लिखित विधान नहीं था; परन्तु वास्तव मे प्राचीन लोग विधानो से अपरिचित नहीं थे। यूनान की राजधानी एन्थेस मे ईसा पूर्व ६२४ से ईसा पूर्व ४०४ तक ११ विधान प्रचलित हो चुके थे। अरस्तू को अनेक विधानो का सग्रह करने तथा उनकी विवेचना करने का श्रेय दिया जाता है। उसने अपनी पुस्तक 'पॉलिटिक्स' मे "वैधानिक शासन" तथा "सर्वश्रेष्ठ विधान" पर विचार किया है और स्वय इस प्रकार विधान की परिभाषा की

है—विधान राज्य के पदो का संगठन है और वह शासक वर्ग को तथा समाज के लक्ष्य को निर्धारित करता है।[१] इसी प्रकार रोमन लोग वैधानिक तथा सामान्य कानून मे तथा विधायक सत्ता और व्यवस्थापिका सत्ता मे भी भेद रखते थे।

प्राचीन लोगो के मस्तिष्को मे विधान की कल्पना चाहे जितनी स्पष्ट क्यों न रही हो, उन्होने अपने वैधानिक सिद्धान्तो को अन्य कानूनो से श्रेष्ठ सत्ता वाले एक आधारभूत कानून का रूप देने का कभी प्रयास नही किया। मध्य-युग मे कभी-कभी नगरो, निगमो, गिर्जों तथा सामन्तो के अधिकारो की व्याख्याएं लिखित चार्टर मे की गयी थी जो एक प्रकार के इकरारनामे थे। राजाओ की ओर से प्रजा को ऐसी रियायतें मिलना, जिनके द्वारा कुछ अधिकार स्वीकृत किये गये, जिनकी व्याख्या लेख-पत्रो मे की गयी और जो एक बार निर्मित हो जाने पर राजा तथा उसकी प्रजा के बीच इकरार समझे जाने लगे, इस स्थिति मे एक छोटा सा कदम आगे बढना ही था। इस प्रकार के चार्टर एक प्रकार से लिखित विधानो के पूर्व रूप माने जा सकते है।

आधुनिक लिखित विधानो के मूल रूप

सोलहवी शताब्दी मे 'आधारभूत कानून' की पुस्तको मे विशेषकर मॉनर्कोमिक (Monarchomachs) लेखको की पुस्तको मे चर्चा होने लगी, अर्थात् ऐसे कानून की जिसकी सत्ता और जिसका गौरव सामान्य कानूनो को अपेक्षा श्रेष्ठ था। जैसा हम देख चुके हैं, इस विचार ने फ्रान्स मे जड पकडी और इगलैण्ड तथा दूसरे देशो मे भी इसने अपना प्रभाव जमाया। इस प्रकार इंगलैण्ड के शासक जेम्स प्रथम ने अपने एक भाषण मे 'आधारभूत कानूनो' को दैवी बतलाया और स्वय अपने को उनका रक्षक घोषित किया।[२] उसके पुत्र चार्ल्स प्रथम के शासनकाल मे इस विचार का पार्लामेण्टरी संघर्षों मे काफी प्रभाव रहा और काउण्ट स्ट्रैफर्ड को मौलिक तथा प्राचीन कानूनो का उल्लघन करने के प्रयत्न के अपराध मे प्राणदण्ड दिया गया;[३]। विधान' शब्द का प्रयोग कुछ महत्वपूर्ण कानूनो के लिए भी कभी-कभी होता था।

इस प्रकार राजा तथा पादरियो के सम्बन्धो का नियम करने वाले द्वितीय हेनरी के कानून 'क्लेरेण्डन के विधान' (Constitutions of Clarendon) कहलाते थे।[४] वर्जीनिया कम्पनी को सत्रहवी शताब्दी के आरम्भ मे दिये गये द्वितीय तथा तृतीय चार्टरो मे,[५] सन् १६८२ मे विलियम पेन की Frame of Government for Pennsylvania नामक पुस्तक मे; चार्ल्स द्वितीय के शासनकाल मे लिखित सिडनी के ग्रन्थो मे; जेम्स हेरिंग्टन के राजनीतिक ग्रन्थो मे तथा अन्य कई स्थानो पर इस शब्द का प्रयोग किया था। अमेरिका मे अंग्रेजो के उपनिवेशो को दिये गये चार्टरो, सन् १६४७ मे क्रॉमवेल के सैनिको द्वारा लिखित सुप्रसिद्ध 'जनता

---

१. Jowett's Translation (Oxford Edition, 1938), pp. 147, 163, 167.
२. Prothero, Select Statutes and other Constitutional Documents (1894), p. 400.
३. Gardiner, The Constitutional Documents of the Puritan Revolution, p. 85.
४. Stubbs, Select Charters, pp. 137-140.
५. Preston, Documents Illustrative of American History, p. 83.

के समझौते' (Agreement of the People), सन् १६५३ में क्रॉमवेल द्वारा प्रचारित प्रोटेक्टरेट के 'शासन पत्र' (Instrument of Government), कनेक्टिकट के उपनिवेश के 'आधारभूत आदेशों' (सन् १६३६) तथा क्रान्ति से पूर्व अमेरिकन उपनिवेशों में जो विविध घोषणाएँ एवं निश्चय किये, उनमें हमें आधुनिक लिखित विधानों के अधिक निकटवर्ती पूर्व रूप मिलते हैं।[1] सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में विधान शब्द का प्रयोग शनैः शनैः अधिक मौलिक कानूनों और विशेषतः शासन-संगठन से सम्बन्धित कानूनों के लिए होने लगा।[2] जब अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अमेरिकन उपनिवेशों ने ब्रिटेन से सम्बन्ध-विच्छेद करके अपने शासन के नये लेखपत्रों को यह नाम दिया, तब आधुनिक अर्थ में इस शब्द का प्रयोग अन्तिम रूप से प्रतिष्ठित हो गया। उसी समय से इस शब्द का प्रयोग एक निश्चित अर्थ में अर्थात् लिखित या अलिखित मौलिक कानूनों के उस संग्रह के अर्थ में किया जाता है जिसमें राज्य के संगठन का निर्धारण होता है।

प्रथम लिखित विधान

जिस युग में प्रथम अमेरिकन विधानों की रचना (सन् १७७६-१७८६) की गयी तथा उन्हें स्वीकार किया गया उसे मोले ने 'आधुनिक संसार का वैधानिक युग' कहा है।[3] इन प्रथम अमेरिकन विधानों के सम्बन्ध में लॉर्ड ब्राइस ने कहा है कि 'ये विधान एक व्यावहारिक कला के रूप में राजनीति को प्राप्त होने वाली सबसे महान् देनों में से हैं और वे लोकतन्त्र के आधारभूत सिद्धान्तों की सबसे पूर्ण और सुनिश्चित अभिव्यक्तियाँ भी हैं।'[4] अमेरिका के आदर्श का फ्रान्स ने शीघ्र ही अनुसरण किया और सितम्बर सन् १७९१ में उसने अपना प्रथम विधान स्वीकार किया। जर्मनी के राज्यों ने भी उसका अनुसरण किया और सन् १८१४ तथा १८२६ के मध्य अनेक जर्मन राज्यों ने भी लिखित विधान स्वीकार कर लिये,[5] यद्यपि प्रशा तथा कुछ अन्य राज्यों ने उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक लिखित विधान स्वीकार नहीं किये। दूसरे अनेक योरपीय राज्यों ने भी इसी प्रकार और कई ने तो उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से पूर्व ही लिखित विधान स्वीकार कर लिये, स्पेन ने १८१२ में, नॉर्वे ने सन् १८१४

---

१. तुलना कीजिये, Borgeaud, Adoption and Amendment of Constitutions, Ch. I Bryce, American Commonwealth, Ch. 35 भी देखिये। Agreement of the People का मूल लेख Gardiner, Constitutional Documents के पृष्ठ २०७ पर दिया हुआ है। जेलिनेक का कथन है कि 'इस लेखपत्र में हमें हम इंग्लैण्ड को लिखित विधान देने का प्रथम प्रयत्न मिलता है और इसमें अमेरिकन विधान के एक मौलिक लक्षण, अर्थात् व्यवस्थापिका-सभा तथा जनता के अधिकारों के भेद की स्वीकृति शामिल है (Recht des Modernen Staates, Vol II, p. 177). Instrument of Government एक आधुनिक विधान के अधिक अनुरूप है। यह इंग्लैण्ड का एकमात्र लिखित विधान है। इसमें ४२ धाराएँ हैं जिनमें से एक में स्पष्ट उल्लेख है कि जो कोई कानून इसके विपरीत होंगे, वे शून्य तथा अवैध होंगे।

२. तुलना कीजिये, Macy, The English Constitution, p. 452.

३. Introduction to Political Science, p. 209.

४. Modern Democracies, Vol II, p. 10.

५. इनकी सूची Blunshchli, Theory of the State के पृष्ठ ४१७ पर देखिये।

मे, डेनमार्क तथा नीदरलैण्ड ने सन् १८१५ में, पुर्तगाल ने सन् १८२२ मे, बेल्जियम ने सन् १८३२ मे, इटली तथा स्विट्जरलैण्ड ने सन् १८४८ मे, ऑस्ट्रिया ने सन् १८६१ मे तथा स्वीडन ने सन् १८६६ मे। उन्नीसवी शताब्दी के अन्त तक योरोप मे ब्रिटेन, हंगरी और वर्टेम्बर्ग को छोड़ सभी योरोपीय देशो मे किसी न किसी प्रकार के लिखित विधान प्रतिष्ठित हो चुके थे।[1]

(२) विधानों के भेद

विधानों का वर्गीकरण

किसी राज्य के शासन मे जनता का जितनी मात्रा मे भाग होता है, उसके आधार पर अनेक विद्वानो ने विधानो को 'स्वतन्त्र', 'प्रजातन्त्रात्मक' और 'कुलीनतन्त्रात्मक' कहकर उनका वर्गीकरण किया है। साक्ष्य-पत्र (Instruments of Evidence) की दृष्टि से वे (१) संकलित अथवा विकसित (Cumulative or Evolved) और (२) रूढिबद्ध (Conventional) अथवा अधिनियमित (Enacted) माने जाते हैं।[2] पहले वर्ग के अन्तर्गत ऐसे विधान सम्मिलित हैं, जिनकी रचना रीति-रिवाजो पर आधारित है और जिनमे अधिकतर संकलित रीतियाँ, सामान्य नियम के सिद्धान्त, न्यायालयो के निर्णय आदि सम्मिलित होते हैं। ये ऐतिहासिक विकास के परिणाम हैं, अधिनियमित नही। उनका कोई विचारपूर्वक आरम्भ नही होता, उनका किसी नियत तिथि पर निर्माण नही होता, समय-समय पर उनमे परिवर्तन भी धीरे-धीरे नई बातें सम्मिलित होने से होता रहता है, किसी विधिवत् कानूनी प्रक्रिया द्वारा नही। दूसरे वर्ग मे ऐसे विधान आते हैं जिनकी रचना विधान-परिषद द्वारा होती है या जो राजा के आदेश से प्रचारित होते हैं।[3]

लिखित और अलिखित विधान

विकसित एवं अधिनियमित विधानो मे जो अन्तर है, वह बहुत कुछ वही है जो अलिखित एवं लिखित विधानो मे है। अलिखित विधान वह है जिसकी अधिकांश बातें (सब नही) कभी किसी लेख-पत्र या लेख-पत्रो के संग्रह मे लिखी हुई नही होती। उसके अधिकांश मे रीति-रिवाज तथा न्यायालयो के निर्णय सम्मिलित होते हैं और अल्पांश मे आधारभूत ढंग के कानूनो का भी समावेश होता है जो भिन्न-भिन्न समय पर स्वीकार किये गये होते हैं। इस प्रकार के विधानो का निर्माण एक ही समय विधान-परिषद अथवा अन्य किसी संस्था द्वारा नही किया जाता। ऐसे विधान सर जेम्स मैकइन्टॉश की इस उक्ति के अच्छे उदाहरण हैं कि विधान की रचना नही, विकास होता है।

---

१. कहा जाता है कि योरोप मे सन् १८०० से लेकर १८८० तक कोई १०० से अधिक विधान बने।

२. Jameson, The Constitutional Convention, Section 72; Lieber, Civil Liberty and Self-Government, p. 166; Lowell, Government of England, Vol. 1, p. 4.

३. यह वर्गीकरण मोटे रूप मे बोरगोद (Borgeaud) के वर्गीकरण—(१) समझौते या राजा के आदेश (चार्टर) तथा (२) लौकिक (Popular) विधान से मिलता है।

्भी सदैव नहीं मिलते। ऐसे लिखित विधानों के भी कुछ उदाहरण हैं जिनकी रचना विधान-परिषदों में नहीं, वरन् साधारण व्यवस्थापिका-सभाओं द्वारा हुई है और जो साधारण कानूनों से किसी कानूनी रूप में भिन्न न होकर केवल इस बात में भिन्न हैं कि उनके विषय का महत्व अधिक होता है।[1] ऑस्ट्रिया के वर्तमान विधान के पूर्व के वैधानिक कानून पार्लमिण्ट द्वारा साधारण कानून की भाँति बनाये गये थे।[2] इसी प्रकार इटली का विधान, यद्यपि वह पार्लमिण्ट का कानून नहीं है (उसे राजा ने प्रदान किया था) कानूनी दृष्टि से सामान्य कानून के बराबर है और साधारण कानून की भाँति ही सामान्य रीति से उसमें संशोधन हो सकता है। इसी प्रकार स्पेन की विधान-सभा द्वारा निर्मित विधान में संशोधन की कोई विधि नहीं बतलाई गयी है और इसलिए शायद उसका सामान्य कानून की भाँति संशोधन किया जा सकता है, यद्यपि इसमें कुछ संदेह है। वास्तव में, उसमें कभी विधिवत् परिवर्तन नहीं किया गया। ऐसे राज्यों में विधायक कार्य तथा व्यवस्थापन कार्य अलग नहीं है और परिणामतः वैधानिक कानून का एक साधारण कानून से कोई उच्च कानूनी महत्ता नहीं है।

राजाज्ञा द्वारा प्रचारित (Octroyed) विधान

कुछ लिखित विधान राजाओं द्वारा विद्रोह के भय को दूर करने तथा प्रजा में शान्ति रखने के उद्देश्य से आज्ञा-पत्र जारी करके भी प्रचारित किये गये हैं। ऐसे विधान या चार्टर एक प्रकार से राजाओं द्वारा की गयी प्रतिज्ञाएँ अथवा समझौते माने जाते हैं, जिनमें उल्लिखित सिद्धान्तों के अनुरूप वे कार्य करने के लिए प्रतिज्ञा-बद्ध समझे जाते हैं। यदि राजा उसमें लिखी हुई बातों का उल्लंघन करना चाहे तो कानूनी दायित्व की दृष्टि से नहीं तो कम से कम नैतिक दायित्व की दृष्टि से उसे विधान में परिवर्तन करना होगा ताकि उसके कार्य विधान के अनुकूल हो सकें। यह विचार कानूनी तर्क के अनुकूल है, इसमें सन्देह है क्योंकि ऐसा विधान उसी का बनाया हुआ है और वह एक पक्षीय है, द्विपक्षीय नहीं।[3]

कभी-कभी इस प्रकार के विधान में यह शर्त भी रखी जाती थी कि जनता

---

१. ब्रिटिश स्वशासी डोमिनियनों के विधान कानूनी सिद्धान्त तथा अपने रूप की दृष्टि से ब्रिटिश पार्लमिण्ट के कानून है। कनाडा का विधान तो कानून (Act) कहलाता ही है और वह पूर्णरूप से पार्लमिण्ट द्वारा प्राप्त हुआ है। सन् १९२२ के आयरिश विधान की कानूनी स्थिति विचित्र है। उसका मसविदा ग्रेट ब्रिटेन तथा आयरिश गणतन्त्र के प्रतिनिधियों के बीच की हुई सन्धि के उपरान्त आयरिश नेताओं की एक कमिटी ने बनाया था। उस मसविदे को ब्रिटिश तथा आयरिश दोनों पार्लमिण्टों ने स्वीकार किया था और उस पर ५ दिसम्बर सन् १९२२ को बादशाह की स्वीकृति प्राप्त हुई थी। सन्धि के साथ उसका सम्बन्ध देखते हुए वह सर्वोच्च तथा अधीन दोनों ही है। इस विषय में देखिये, Saunders, The Irish Constitution, 18, Amer, Pol. Sci. Rev. (1924), p 341.

२. किन्तु ऑस्ट्रिया के मौलिक कानूनों में साधारण कानूनों के समान परिवर्तन नहीं हो सकता था (Dodd, Modern Constitutions, Vol. I, p. 18, Sec. 15)।

३. तुलना कीजिये, Willoughby, The Fundamental Concepts of Public Law, pp. 93-94.

की अनुमति के बिना उसमें परिवर्तन या संशोधन नहीं किया जायगा और कभी-कभी राजा उसमें संशोधन करने के अधिकार को अपने लिए सुरक्षित रखता था।

इस प्रकार के विधानों अथवा चार्टरों के उदाहरण हमें जर्मनी में सन् १८१५ के पश्चात् अनेक उदार शासकों द्वारा प्रजा को दिये गये आज्ञा-पत्रों में मिलते हैं जिनका आरम्भ नासो (Nassau) में हुआ और अन्त सन् १८४६ में प्रशा में। प्रशा का आज्ञा पत्र तो सन् १६२० तक प्रचलित रहा। अठाहरवें लुई ने भी सन् १८१४ में फ्रेन्च जनता को वैधानिक चार्टर दिया जिसे पार्लमेण्ट द्वारा संशोधित रूप में सन् १८३० में लुई फिलिप ने पुनः प्रचारित किया।[1] इसी प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्व भाग में पुर्तगाल के राजा ने भी अपनी प्रजा को वैधानिक चार्टर प्रदान किया था। नेपोलियन के अधीन जो राज्य हो गये थे, उन्हें उसने कई वैधानिक चार्टर दिये। इटली का वर्तमान विधान (द्वितीय युद्ध से पूर्व प्रचलित विधान से तात्पर्य है) चार्ल्स एल्बर्ट ने सन् १८४८ में अपनी सार्डीनियन प्रजा को दिया था और जब इटली का राज्य स्थापित हुआ तब वही उसका आधारभूत विधान बन गया। इसके बाद जापान, रूस, टर्की तथा फारस[2] के विधान तथा सन् १६०८ में चीन के सम्राट् द्वारा प्रचारित चीन का विधान भी इसी प्रकार के हैं। इनके अतिरिक्त संसार के प्रायः समस्त लिखित विधान, विधान-परिषदों अथवा विधायक सत्ता का दावा करने वाली व्यवस्थापिका-सभाओं द्वारा बनाये गये हैं। इस प्रकार रचना-स्रोत के आधार पर हम विधानों का वर्गीकरण इस प्रकार कर सकते हैं—राजाओं द्वारा प्रजा को दिये गये चार्टर, (२) साधारण व्यवस्थापिका-सभाओं द्वारा निर्मित विधान और (३) विधान-परिषदा द्वारा निर्मित विधान।

पुरातन वर्गीकरण की समालोचना

लिखित तथा अलिखित विधानों के रूप में विधानों का वर्गीकरण इस कारण समुचित नहीं माना जाता कि उनमें केवल मात्रा का भेद है, प्रकार का नहीं और इस

---

१. वैधानिक चार्टर की घोषणा करते समय अठारहवें लुई ने इस भाषा का प्रयोग किया था, 'हमने अपनी इच्छा से और अपनी राजकीय सत्ता के स्वतन्त्र प्रयोग द्वारा, अपनी तथा अपने उत्तराधिकारियों की ओर से सदा के लिए अपनी जनता को निम्नलिखित चार्टर दिया है।' आगे चलकर उसने कहा कि 'इस सभा के सामने जो हमें सुन रही है, हम वचन देते हैं कि हम इस चार्टर का पालन करेंगे।' बर्गेस का विचार है कि उसमें संशोधन करना, या उसे रद्द कर देना उसकी सत्ता में था। परन्तु फ्रेन्च राष्ट्र उसे अपने तथा राजा के बीच किया हुआ समझौता समझता था और उसके अनुबन्धों को उन शर्तों के रूप में समझता था जिन पर उसने उसको तथा राजा के शासन को स्वीकार किया था। Reconciliation of Government and Liberty, p. 251.

२. स्व० न्यायाधीश कूली ऐसे लेख-पत्रों को सच्चे रूप में विधान स्वीकार नहीं करता था। उसके विचार में ऐसे नियमों के संग्रह से कम कोई नियम-संग्रह विधान नहीं समझा जा सकता जो स्थायी हो, जिन्हें कोई शासक रद्द न कर सके और जिनका स्रोत जनता हो। जब तक कि राजा के हाथ में अपनी इच्छा से उसे रद्द करने का अधिकार है तब तक राजा द्वारा अपनी प्रजा को दिये हुए किसी विधान से शासन वैधानिक नहीं हो सकता। Constitutional Limitations, 7th Ed. 5, note 2.

प्रकार उससे भ्रत्यन्त विभिन्न विधानों मे भी भेद प्रकट नहीं हो सकता। सर्वप्रथम तो जितने भी लिखित विधान संसार के देशों मे अधिक काल से प्रचलित हैं, उनमे प्रायः अलिखित तत्व—रीति-रिवाजो तथा न्यायालयो के निर्णय—शामिल हो गये हैं। ब्राइस ने कहा है कि लिखित कहे जाने वाले विधान व्याख्याओं द्वारा विकसित हो जाते हैं, निर्णयों द्वारा मर्यादित हो जाते हैं और रिवाजों द्वारा बढ जाते हैं ताकि कुछ समय के उपरान्त उनकी शब्दावली से उनका पूर्ण आशय नहीं निकलता।'[1] विधान मे इस तत्व का प्रभाव उसकी आयु तथा राष्ट्रीय परम्परा की शक्ति पर निर्भर है। ऐसे लिखित विधानो के उदाहरण जो अलिखित तत्वो के कारण न्यूनाधिक परिवर्तित हो गये हैं, हमे सयुक्त राज्य अमेरिका, हंगरी तथा इटली के विधानो मे मिलते हैं। सयुक्त राज्य अमेरिका के विधान के अधिकाश मे, विशेषकर उसके उस भाग मे जिसका निर्वाचन, उत्तराधिकार, कार्य-अवधि, राष्ट्रपति के अधिकारो, कांग्रेस की रीति एवं प्रणालियो तथा सघीय न्यायालय के अधिकारो से सम्बन्ध है, पूर्व प्रमाणो तथा न्यायालय के निर्णयो एव व्याख्याओ के फलस्वरूप महत्वपूर्ण बातो मे परिवर्तन हो गये हैं। हम अमेरिका के एक सुप्रसिद्ध लेखक के इस विचार से सहमत नही हैं कि 'संयुक्त राज्य अमेरिका का विधान इस दृष्टि से विचित्र है कि वह पूर्णतः लिखित है ; उसमे परम्परा एव रीत-रिवाजो का समावेश नही है। वह जनता के नाम पर बनाया हुआ एक विशद कानून है लिखित रूप मे व्यवस्थापिका इच्छा (Legislative will) की अभिव्यक्ति है।'[2] इसके साथ ही हम एक दूसरे लेखक के इस विचार से भी सहमत नहीं है कि सयुक्त राज्य अमेरिका के विधान मे रीति-रिवाजों का उतना ही प्राधान्य है जितना ब्रिटिश विधान मे है।[3] यह सत्य है कि इस विधान का अधिकतर भाग लिखित है और जो कुछ भी लिखित है, वह एक ही लेख-पत्र मे है। परन्तु ऐसा मानना कि हमारे विधान के लिखित भाग मे रीति-रिवाज का कोई अंश मिश्रित नहीं है, अपने वैधानिक विकास के ऐतिहासिक तथ्यों की ओर से आँख मूँद लेना होगा।[4] हंगरी तथा इटली के विधानो के सम्बन्ध मे तथा दूसरे देशों के विधानो के सम्बन्ध में भी, जो काफी पुराने हो गये हैं, यही बात सत्य है। हंगरी के विधान मे तो रीति-रिवाजो के तत्व की इतनी बहुलता हो गयी है कि कुछ विद्वान् उसे ब्रिटिश विधान की कोटि मे रखने मे नही झिझकते।

अनुभव ने एक ही लिखित विधान मे वैधानिक कानून के समस्त सिद्धान्तो के समावेश की असम्भवता दिखला दी है। यदि आरम्भ मे यह बात सम्भव भी हो तो विधान मे विकास एवं रीति-रिवाजो के कारण शीघ्र ही परिवर्तन या संशोधन हो

१. Constitution, p. 7.
२. McClain, Constitutional Law of the United States, p. 11.
३. Wilson, Congressional Government, p. 7.
४. इस विषय मे Brownson (The American Public, p. 218) के मत से तुलना कीजिये जिसका कथन है कि संयुक्त राज्य का विधान लिखित तथा अलिखित दोनों प्रकार का है—शासन का विधान तथा जनता का विधान। प्रथम तो जनता द्वारा अधिकृत कानून है जिससे शासन की व्यवस्था तथा उसका संगठन किया जाता है ; द्वितीय, राज्य अथवा प्रभुत्व-सम्पन्न समाज के रूप में जनता का वास्तविक विधान है। 'अलिखित विधान का निर्माण नही होता, वह तो राष्ट्र के साथ जन्म लेता है।'

जायगा।[1] अतः विधान में रीति-रिवाजों के तत्व का अस्तित्व अनिवार्य है और निश्चय ही यह कोई बुरी बात नहीं है। एक फ्रेंच लेखक डी मेस्टर (De Maistre) ने कहा है कि जो तत्व सर्वाधिक वैधानिक एवं आधारभूत है, वह राज्य को संकट में डाले बिना कदापि लिखा नहीं जा सकता। जो विधान जितने अंश में लिखित होगा, उसमें दुर्बलता तथा भंगुरता भी उसी अनुपात में होगी।[2]

दूसरी ओर अन्य तथाकथित अलिखित विधानों में काफी अधिक मात्रा में लिखित अंश रहता है। पहले जो केवल रीति-रिवाज थे, वे लेखबद्ध कर दिये गये हैं और यह प्रवृत्ति बढ़ रही है। जैसा सर हेनरी मेन ने बतलाया है, ब्रिटिश विधान का अधिकांश लिखित है, विशेषरूप से उसके वे भाग जिनका सम्बन्ध ताज तथा लार्ड-सभा की सत्ताओं, न्यायसत्ता, कॉमन्स-सभा तथा निर्वाचक-मण्डल के साथ उसके सम्बन्ध से है।[3] यह सत्य है कि जो कुछ लेखबद्ध किया गया है, उससे केवल रीति-रिवाज के बल पर आधारित कानून की घोषणा ही होती है। फ्रीमैन ने कहा है कि बिल ऑफ राइट्स जैसे पार्लमेण्ट के महान् कानून कोई नवीन कानून नहीं थे; वे तो केवल उन कानूनों के, जो उस समय तक अलिखित थे, लिखित रूप थे।[4] यह भी सत्य है कि ब्रिटिश विधान में लिखित तत्व अलिखित तत्व की अपेक्षा कम है और उसका लिखित भाग कई लेख-पत्रों में है जिन पर विभिन्न दिनांक हैं, परन्तु फिर भी लिखित भाग भी काफी विशद और महत्वपूर्ण है। इसलिए ब्रिटिश विधान लिखित विधानों से केवल इस बात में भिन्न नहीं है कि उसमें कई रीति-रिवाज हैं वरन् इस बात में भिन्न हैं कि उसके रीति-रिवाज बहुत हैं और लिखित अंश में कहीं अधिक सर्वव्यापक हैं।[5]

अतः विधानों का लिखित एवं अलिखित वर्गों में वर्गीकरण केवल भ्रान्ति-मूलक एवं अवैज्ञानिक ही नहीं है वरन् इस दृष्टि से भी दोषयुक्त है कि इसके द्वारा लिखित विधानों की श्रेणी में कुछ ऐसे विधानों को भी रख दिया जाता है जिनमें परम्परा एवं रीति रिवाजों के पर्याप्त अंश हैं और अलिखित विधानों की कोटि में कुछ ऐसे विधान भी रख दिये जाते हैं जो एक बड़ी सीमा तक लेखबद्ध किये जा चुके हैं। इस प्रकार इटली तथा हंगरी के विधान लिखित श्रेणी में माने जाते हैं, परन्तु वास्तव में उनमें रीति-रिवाजों की इतनी बहुलता है और उनमें इतना लचीलापन है कि उनका सादृश्य अमेरिकन विधान की अपेक्षा ब्रिटिश विधान से अधिक है।

प्रस्तावित वर्गीकरण

यह सुझाव पेश किया जाता है कि विधानों को लचीले (Flexible) तथा दृढ़ या कठोर (Rigid) विधानों की कोटि में रखना अधिक वैज्ञानिक एवं उपयोगी वर्गीकरण होगा, जिसकी कसौटी विधान के साधारण कानून से सम्बन्ध की होगी, न कि उसके स्रोत या निर्माण की विधि की। जिन विधानों की साधारण कानूनों की अपेक्षा कोई उच्च कानूनी सत्ता नहीं होती और जो साधारण कानूनों की भाँति ही संशोधित या परिवर्तित किये जा सकते हैं, चाहे वे एक ही कागज में लेखबद्ध हों या उनका

१. तुलना कीजिये, Lowell, Government of England, Introduction.
२. Mulford द्वारा The Nation, p. 144 में उद्धृत।
३. Popular Government, p. 125.
४. Growth of the English Constitution, pp. 56-57.
५. तुलना कीजिये, Lowell, Government of England, Vol. I, p. 9.

अधिकांश रीति-रिवाजों के रूप मे हो, उन्हें गतिमान् या लचीले विधान मानना चाहिये और जो विधान किसी भिन्न सत्ता द्वारा बनाये जाते हैं, जो साधारण कानूनों की अपेक्षा कानूनी दृष्टि से उच्च होते हैं और जिनका संशोधन भी विभिन्न रीतियों से ही हो सकता है, उन्हें स्थिर या दृढ़ विधान मानना चाहिए। पहले प्रकार के विधानों में, चाहे वे लिखित हों लचीलापन होता है और वे साधारण कानूनों की भाँति ही सरलता से परिवर्तित किये जा सकते हैं, दूसरे प्रकार के विधानों में इस प्रकार सरलता से परिवर्तन नहीं किये जा सकते क्योंकि वे स्थिर तथा कठोर होते हैं। प्रथम श्रेणी में ग्रेट ब्रिटेन, हंगरी, इटली तथा स्पेन के विधान हैं, यद्यपि पिछले तीन विधान लिखित माने जाते हैं; दूसरी श्रेणी में संसार के अन्य समस्त तथाकथित लिखित विधान सम्मिलित हैं।[1]

सर हेनरी मेन ने विधानों का वर्गीकरण इस प्रकार किया है—प्रथम, ऐतिहासिक (Historical) अथवा विकासात्मक (Evolutionary), अर्थात् वे विधान जो संचित अनुभवों के आधार पर बने हैं और दूसरे वे जो अनुभवों से दूर कल्पनात्मक मान्यताओं के आधार पर बने हैं।[2] पहले प्रकार के विधानों का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है ग्रेट ब्रिटेन का विधान और दूसरे प्रकार के विधानों के उदाहरण फ्रान्स के अठारहवीं शताब्दी के विधान हैं। पिछले प्रकार के विधानों से कुछ कुछ मिलते-जुलते वे विधान हैं जिन्हें जेम्सन ने 'आदर्श' (Ideal) विधान माना है, अर्थात् वे विधान जिनका निर्माण कल्पित राज्यों के लिए नैतिक पूर्णता के प्रमुख विचारों के अनुसार किया गया है।[3] प्लेटो, सर टॉमस मोर, जॉन लॉक, लार्ड बेकन तथा टॉमस हेरिंगटन द्वारा प्रस्तावित विधान इसी कोटि के थे।

(३) ब्रिटिश तथा फ्रेन्च विधानों मे भेद

ब्रिटिश विधान

तथाकथित अलिखित विधान का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण ब्रिटिश विधान है। एक फ्रेन्च विद्वान् ने कहा है—'यह विधान समस्त स्वतन्त्र विधानों में प्राचीनता, महत्ता एवं मौलिकता की दृष्टि से प्रथम है; यह अपनी समस्त महत्वपूर्ण विलक्षणताओं के साथ संसार के किसी अन्य देश के विधान से चार सौ वर्ष पूर्व से प्रचलित रहा है और संसार के समस्त वर्तमान विधानों के लिए एक आदर्श रहा है।'[4] ब्रिटिश विधान के सम्बन्ध में ब्राइस ने कहा है कि 'यह मानस-मानस में विद्यमान् अथवा लेखबद्ध पूर्व दृष्टान्तों एवं उदाहरणों (Precedents), वकीलों अथवा राजनीतिज्ञों की उक्तियों,

---

१. ब्राइस ने लिखित तथा अलिखित रूप में विधानों के पुराने वर्गीकरण के स्थान पर यह वर्गीकरण सुझाया है। उनका निबन्ध Flexible and Rigid Constitution, p. 11 देखिये। यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि लिखित तथा अलिखित विधानों के भेद के समान लचीले तथा कठोर विधानों का भेद भी स्पष्ट नहीं है। उदाहरणार्थ, फ्रान्स का विधान प्रायः उतना ही लचीला है जितना ग्रेट ब्रिटेन का परन्तु उसके संशोधन की विधि साधारण कानूनों की विधि से भिन्न होने के कारण यह कठोर माना जाता है।

२. Popular Government, p. 172.

३. The Constitutional Convention, p. 67.

४. Boutmy, Studies in Constitutional Law, p. 3.

रीति-रिवाजों, विश्वासों एवं समझौतों और रिवाजों के साथ निश्चित कानूनों तथा राजनीतिक अभ्यासों एवं न्यायालय के निर्णयों का संकलन है।[1] डायसी ने उसकी तुलना मूल-भुलैया से की है, जिसमें अधिक प्रवाहतविकता, पुरातनता एवं वैधानिकता के कारण भ्रम में पड़ जाता है।[2] वह मानव-कला का कोई विलक्षण आविष्कार नहीं है और न विचारपूर्वक उद्योग का ही कोई परिणाम है। इसका उस अर्थ में निर्माण कभी नहीं हुआ जिसमें अन्य विधानों का हुआ है, वरन् वह अधिकतर चुपचाप तथा बिना किसी स्वीकृत सत्ता के थोड़ा-थोड़ा करके बढ़ा है। फ्रीमैन ने कहा है कि ऐसा कोई समय नहीं था जब अंग्रेजों ने अपनी राजनीतिक प्रणाली की रचना एक विधिवत् लेख-पत्र के रूप में की हो।[3] यदि उसमें से समस्त लोकाचारों एवं रिवाजों को निकाल दिया जाय और उसे संसार के सम्मुख कानूनी नग्नता के रूप में रखा जाय तो उसे साधारणतया कोई पहचान नहीं सकेगा और न वह व्यवहार में ही लाया जा सकेगा। उसके अलिखित भाग में संगठन, विशेषाधिकार, पारस्परिक सम्बन्धों तथा महान् सार्वजनिक सत्ताओं अर्थात् ताज, मन्त्रि-परिषद् तथा पार्लामेण्ट के पारस्परिक सम्बन्धों का विवेचन है। बोटमी (Boutmy) ने लिखा है कि 'इंगलैण्ड में वे समस्त महत्वपूर्ण मामले, जो वैधानिक कानून की आत्मा हैं, साधारण रिवाजों द्वारा नियमित होते हैं।' केबिनेट के नाम तक का लिखित कानून में कोई उल्लेख नहीं है। पार्लामेण्ट के वार्षिक अधिवेशन, दो सभा-गृहों में उसका विभाजन, कॉमन्स सभा द्वारा आर्थिक प्रस्ताव प्रस्तुत करने का एकाधिकार और अन्य आधारभूत मामलों का नियमन पूर्णतया रिवाजों द्वारा होता है। 'वास्तव में, राजनीतिक संगठन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण भाग लिखित कानून की सीमा से परे है और उसे रिवाजों की संरक्षता में रख दिया गया है।' बोटमी का यह भी कथन है कि 'अंग्रेजों ने अपने विधान के विभिन्न अंगों को वहीं छोड़ दिया है, जहाँ इतिहास की तरंगों ने उन्हें छोड़ दिया था। उन्होंने उन अंगों को एकत्र वर्गीकृत अथवा पूर्ण करने या एक संगतिपूर्ण विधान बनाने का कभी प्रयत्न नहीं किया।[3] अनेक रिवाज, जिनका विधान में महत्व है, लिपिबद्ध अवश्य हो चुके हैं और उनमें से कुछ को कानूनी रूप भी मिल चुका है; परन्तु उनका एक कानून के रूप में संकलन कभी नहीं किया गया।

विधान के उन अंगों का उद्गम, जो लिपिबद्ध हो चुके हैं, उसी स्रोत से होता

१. The Law of the Constitution, p. 7.

२. Growth of the English Constitution, p. 22. डायसी के अनुसार इंगलैण्ड का विधान चार प्रकार की वस्तुओं से बना है—(१) सन्धियाँ, (२) सामान्य कानून (Common Law), (३) बिल ऑफ राइट जैसे गम्भीर समझौते तथा (४) कानून (Statutes), Law of the Constitution, p. 40. उसने कहा है कि इंगलैण्ड के विधान के दो भाग हैं—एक में लिखित नियम हैं और दूसरे में अलिखित नियम जिनका न्यायालय कोई विचार नहीं करते। प्रथम प्रकार के नियमों को उसने सामूहिक रूप से विधान का 'कानून' और दूसरे प्रकार के नियमों को उसने 'रिवाज' (Conventions) कहा है (Law of the Constitution, p. 24)। डायसी ने यह भी कहा है कि इंगलैण्ड का विधान न्यायाधीश द्वारा निर्मित विधान है और इस प्रकार कानून के अच्छे, बुरे सभी लक्षण उसमें स्पष्ट दिखाई देते हैं (वहीं, पृष्ठ १११)।

३. वही, पृष्ठ ६।

है, उनका निर्माण भी उसी प्रकार होता है, उनका कानूनी प्रभाव भी उतना ही होता है और उनकी रचना एवं उनका संशोधन भी वैसे ही होता है जैसे साधारण कानूनों का। संक्षेप में, इंगलैण्ड में विधायक सत्ता (Constituent Power) तथा व्यवस्थापक सत्ता (Legislative Power) में कोई भेद नहीं है। ये दोनों सत्ताएं पार्लमिण्ट में निहित हैं जो एक साथ व्यवस्थापिका-सभा तथा विधान-सभा दोनों ही है। देश में ऐसा मौलिक या अन्य कोई भी कानून नहीं है, जिसमें पार्लमिण्ट परिवर्तन न कर सके।[१] यद्यपि विधान-निर्माण एवं कानून-निर्माण—ये दोनों कार्य एक ही सत्ता के हाथ में हैं, तथापि देश में ऐसी भावना बढ़ती जा रही है कि मौलिक एवं महत्वपूर्ण परिवर्तन उस सामान्य निर्वाचन के फलस्वरूप ही होना चाहिए जिसमें उन परिवर्तनों पर पूर्ण रीति से विचार कर लिया गया हो। साराश में, पार्लमिण्ट को विधान में परिवर्तन निर्वाचकों से आदेश प्राप्त करके ही करना चाहिए।[२]

जहाँ विधायक एवं व्यवस्थापक सत्ताएं एक ही अधिकारी के हाथ में हों, वहाँ वैधानिक एवं साधारण कानून में भेद करना सरल नहीं है। इसकी कोई ऐसी कानूनी कसौटी नहीं है जैसा अमेरिका में है, जहाँ वैधानिक कानून और साधारण कानून विभिन्न स्रोतों से प्राप्त होते हैं और जिनमें परिवर्तन एवं संशोधन विभिन्न रीतियों से होते हैं। ब्रिटिश पार्लमिण्ट का कोई भी स्वीकृत कानून वैधानिक कानून है या साधारण कानून, इसका निर्णय कानून-निर्माण के स्रोत अथवा उसकी रीति पर नहीं वरन् स्वयं कानून के लक्षण पर निर्भर है। यदि वह कानून मौलिक है, अर्थात् राज्य में सर्वोच्च सत्ता के विभाजन से सम्बन्धित है, उदाहरणार्थ, सन् १९११ का पार्लमिण्ट एक्ट तो वह वैधानिक माना जा सकता है अन्यथा वह साधारण कानून माना जाता है। प्रायशः यहाँ वैधानिक तथा सामान्य कानून में भेद करना कठिन है। टॉकविल ने जब यह कहा था कि ब्रिटिश विधान का वास्तव में कोई अस्तित्व नहीं है तो इस विशिष्ट अर्थ में उसने सच ही कहा था। उसके कथन का तात्पर्य यही था कि इंगलैण्ड में ऐसे कोई कानून नहीं हैं जिन्हें, दूसरे कानूनों से उनका भेद करके, निश्चय रूप से वैधानिक कहा जा सके, अर्थात् वैधानिक तथा साधारण कानून में भेद करने के लिए कोई कानूनी कसौटी नहीं है।[३]

ब्रिटेन तथा संयुक्त राज्य में 'वैधानिक' और 'अवैधानिक' शब्दों के प्रयोग

इस सम्बन्ध में यह भी विचार करने योग्य है कि 'वैधानिक' (Constitutional) और 'अवैधानिक' (Unconstitutional) शब्दों का प्रयोग ब्रिटेन तथा अमेरिका में विभिन्न अर्थों में होता है। ब्रिटेन में कोई कानून वैधानिक इस कारण

---

१. Dicey, Law of the Constitution, Lecture II. विधान में परिवर्तन करने की पार्लमिण्ट की सत्ता का एक नया उदाहरण सन १९१९ के Re-election of Ministers Act में मिलता है, जिसके अनुसार पार्लमिण्ट के सदस्य के लिए मन्त्रि-परिषद् का सदस्य बन जाने पर अपना पुनर्निर्वाचन कराने की आवश्यकता नहीं रही, जैसी पहले थी।

२. तुलना कीजिये, Lowell, Government of England, Vol. I, p. 4.

३. ब्राइस ने कहा है कि इसी कारण ब्रिटिश विधान को एक कानून का रूप नहीं दिया गया। चूँकि उसके किसी अंश में पार्लमिण्ट बड़ी सरलता से परिवर्तन कर सकती है, इसलिए उसे कानून का रूप दे देने से कोई लाभ भी नहीं दिखाई देता।

होता है कि उसका प्रभाव राज्य की आधारभूत संस्थाओं पर पड़ता है, इसलिए नहीं कि उसका निर्माण किसी भिन्न सत्ता द्वारा हुआ है, उसकी कानूनी सत्ता उच्चतम है अथवा अन्य कानूनों की अपेक्षा उसमें परिवर्तन करना कठिन है। पार्लमेण्ट का कानून कभी-कभी 'अवैधानिक' भी कहा जाता है, इसलिए नहीं कि वह किसी उच्चतर कानून के विपरीत है क्योंकि पार्लमेण्ट के कानून से उच्चतर कानून और कोई नहीं है। वह अवैधानिक इसलिए कहा जाता है कि वह सुप्रतिष्ठित प्रथाओं या रिवाजों, नैतिक सिद्धान्तों, अन्तर्राष्ट्रीय कानून या प्रकृति के नियमों के विपरीत समझा जाता है। यह 'कानूनी' (Legal) तथा गैर-कानूनी (Illegal) कानून के बीच भेद नहीं है, है जैसा अमेरिका में होता है क्योंकि ब्रिटिश पार्लमेण्ट का कोई भी कानून गैर-कानूनी रूप में 'अवैधानिक' नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ, किसी को अपने ही मामले में न्यायाधीश बनाने वाला पार्लमेण्ट का कानून, उपनिवेशों पर कर लगाने वाला कानून बिना समुचित कानूनी प्रक्रिया के मनुष्य को उसकी सम्पत्ति से रहित करने वाला कानून इस अर्थ में अवैधानिक होगा कि उससे प्राचीन तथा सुप्रतिष्ठित प्रथा का उल्लंघन होता है, इसलिए नहीं कि वह किसी उच्चतर लिखित कानून से असंगत है। कोई न्यायालय ऐसे किसी कानून को लागू करने से इन्कार नहीं करेगा, चाहे वह कितना ही अनैतिक या अन्यायपूर्ण दिखाई दे। संयुक्त राज्य अमेरिका में कोई कानून 'अवैधानिक' कहा जा सकता है, इस कारण नहीं कि उसका राज्य के संगठन पर मौलिक रूप से प्रभाव नहीं पड़ता परन्तु इसलिए कि वह किसी उच्चतर लिखित कानून से असंगत है। ऐसी संगति के प्रभाव में, कानून अवैधानिक कहा जाता है जिसका अर्थ अमेरिका में 'गैर-कानूनी (Illegal) होता है; अमेरिका में न्यायालयों को किसी कानून की विधान के साथ संगति के विषय में अपना मत प्रकट करने और उस उच्चतर कानून के विपरीत होने पर उस निम्न कानून को लागू करने से इन्कार करने का अधिकार है।

फ्रेन्च विधान

इस ब्रिटिश विधान का फ्रान्स के कुछ पूर्व विधानों से, जो इस विपरीत सिद्धान्त के सर्वोत्तम प्रतिनिधि हैं कि विधान बनाये जाते हैं, विकसित नहीं होते, भेद कर सकते हैं। फ्रेन्च विचार के अनुसार विधान लिखित तथा एक ही समय चिन्तित एवं निर्मित होना चाहिए और ऐसा होना चाहिए जो राष्ट्र के लिए उसी प्रकार उपयुक्त हो सके जैसे एक पोशाक एक व्यक्ति के लिए। फ्रेन्च लोग वैधानिक दृष्टि से परम्परा में कभी विश्वास नहीं रखते और न वे अतीत से अपना सम्बन्ध जोड़ रखना ही चाहते हैं। वे सदैव इस मिथ्या विचार को मानते रहे हैं कि एक राष्ट्र पूर्णरूपेण अपने अतीत से सम्बन्ध-विच्छेद कर सकता है और विकास के परिणाम-स्वरूप किसी भी वैधानिक ढाँचे की अपेक्षा जनता की आवश्यकताओं के अनुकूल एक नवीन वैधानिक ढाँचा बनाया जा सकता है। बर्क ने अपनी पुस्तक 'फ्रान्स की क्रान्ति पर विचार' (Reflections on the French Revolution) में फ्रान्स के इस विचार की बड़ी आलोचना की है। बोटमी ने लिखा है कि 'फ्रान्स में पूर्व विधानों के रचयिता नगर के सार्वजनिक चौक (Public Square) के मध्य में एक स्मारक खड़ा करने वाले भवन-निर्माण-कला विशेषज्ञ की स्थिति में थे; उनके पास स्वच्छ और साफ-सुथरा काफी स्थान होना चाहिए।'[१] उसने बतलाया कि फ्रान्स में यह सिद्धान्त

१. Studies in Constitutional Law, p. 167.

सभी शासनों में प्रचलित रहा है कि समस्त अधिकार लिपिबद्ध हो ; कोई भी अधिकार उसको प्रमाणित करने वाले किसी लेख-पत्र के बिना नहीं हो सकता और न वह स्पष्ट रीति से रद्द किये बिना नष्ट हो सकता है। ऐसा शायद ही कोई देश हो, जहाँ रिवाज के आधार पर बने कानूनों के प्रति लोक-भावना इतनी कुण्ठित हो या वस्तुओं को इस दृष्टि से वैसे ही छोड़ देने के गुण का इतना कम आदर करते हो कि बिना लिपिबद्ध किये हुए भी लोग उन्हें समझने लगेंगे और न संसार में ऐसा कोई देश होगा जिसमें विवेक (Equity) की भावना के प्रति, जो लिखित कानून का रूप जैसे का तैसा बनाये रखते हुए भी उसके सार में परिवर्तन कर देती है, इतनी अधिक अरुचि हो।

(४) अमेरिकन आदर्श

अमेरिकन विधानों की विशिष्टताएँ

अमेरिकन विधानों में, विशेष रूप से संघीय विधानों में, और एक बड़ी सीमा तक लेटिन अमेरिका के विधानों में, जो संयुक्त राज्य अमेरिका के नमूने पर बने हैं, कुछ ऐसी विशिष्टताएँ हैं, जिनके कारण उनमें और योरोप तथा एशिया के विधानों में बड़ा अन्तर है। सर्वप्रथम अमेरिकन विधान अधिकारयुक्त दान पत्र (Instruments of Grants) तथा प्रतिबन्ध-पत्र हैं, वे केवल शासन सगठन के निमित्त मौलिक कानून नहीं है। उनमें राज्य की कार्यपालिका (Executive) सत्ता, व्यवस्थापिका सत्ता तथा न्याय-सत्ता की विस्तृत व्याख्याएँ रहती हैं और सार्वजनिक अधिकारियों की सत्ताओं पर, विशेषत. व्यवस्थापिका पर, जो प्रतिबन्ध लगाये गये हैं उनका भी विशद उल्लेख किया गया है। इस प्रकार की मर्यादाएँ एवं प्रतिबन्ध केवल मूल विधान में ही नहीं, वरन् 'बिल ऑफ राइट्स' में भी उल्लिखित होती हैं जो विधान के मूल भाग के पहले दिया रहता है (संघीय विधान में यह प्रथम दस संशोधनों में हैं)। इसका प्रभाव यह है कि राज्य में दो क्षेत्रों का निर्माण हो गया है—एक स्वतन्त्रता का क्षेत्र है, जिसमें व्यक्ति को कार्य करने की स्वतन्त्रता प्राप्त है, दूसरा क्षेत्र सत्ता का है, जिसमें शासन को कुछ मर्यादाओं के साथ कार्य करने की स्वतन्त्रता है। इस प्रकार, जैसा बर्गेस ने कहा है, 'अमेरिकन विधान शासन के लेख-पत्र ही नहीं, वरन् स्वतन्त्रता के भी लेख-पत्र है। उनका एक विशिष्ट गुण यह है कि ये विधान बहुमत के सम्भावित अत्याचार से अल्पमत की रक्षा करते हैं। ब्राइस ने कहा है कि 'भावावेग-जन्य क्षणिक प्रवृत्ति से कुछ नियमों को परे रखना इस सत्य को स्वीकार करना है कि बहुमत सदैव सत्य या सही नहीं होते और आवेश के समय उन्हें अपने ही द्वारा शान्त चित्त में बनाये हुए सिद्धान्तों का अनुसरण करने के लिए बाध्य होकर अपने से ही रक्षा पाने की आवश्यकता है।'[१]

हाल में योरोप में जो नये विधान रचे गये हैं, उनमें से कुछ में अधिकारों के विशद बिलों को स्थान दिया गया है और इस प्रकार वे अमेरिकन विधानों से मिलते-जुलते हैं, परन्तु उनमें और अमेरिकन विधानों में एक बड़ा अन्तर है। संयुक्त राज्य अमरिका में, व्यक्ति की स्वतन्त्रता का जो क्षेत्र विधान द्वारा निमित एवं सीमित है, उसकी शासन के सम्भावित आक्रमण से रक्षा उसे न्याय-विभाग के संरक्षण में रख कर की गयी है, परन्तु कुछ अपवादों के साथ योरोप में ऐसा नहीं है। जैसा प्रसिद्ध

१. Modern Democracies, Vol. II, p.11.

है, संयुक्त राज्य अमेरिका में यदि धारा-सभा या शासनाधिकारी अथवा स्थानीय अधिकारी अपनी सत्ता पर विधान द्वारा निर्धारित किसी प्रतिबन्ध या मर्यादा का उल्लंघन करता है और उसके परिणामस्वरूप व्यक्तियों को हानि पहुँचती है तो वे न्यायालय में अपील करके उस अवैधानिक कार्य को शून्य (Null and Void) घोषित करा सकते हैं। इस प्रकार वैधानिक प्रतिबन्धों को न्यायालय की प्रक्रिया द्वारा अमल में लाया जा सकता है, शासन-विधान द्वारा निर्धारित अपने ही क्षेत्र में मर्यादित रहता है; धारा-सभा अपनी सत्ताओं की निर्णायक नहीं है, विधान राज्य का सर्वोच्च कानून है; उसकी सत्ता सर्वोच्च है और वह अन्य समस्त कानूनों से श्रेष्ठतर है।[1] जिन देशों में विधान की रक्षा का भार न्यायालयों पर नहीं है, उनमें वह स्पष्टत: सर्वोच्च कानून नहीं हो सकता, अर्थात् ऐसे देशों में वह, अन्तिम विश्लेषण में, देश के साधारण कानून के समान ही होता है और उसमें केवल उतनी ही बन्धनकारी शक्ति होती है जितनी व्यवस्थापिका स्वेच्छा से स्वीकार करती है। अमेरिकन लोग स्वाभाविक रूप से यह विश्वास करते हैं कि उनका उपाय ही ऐसा उपाय है जिसके द्वारा साधारण कानून पर विधान की सर्वोच्चता प्रतिष्ठित हो सकती है और विधान द्वारा नागरिकों की जिस स्वतन्त्रता की व्याख्या की गयी है और गारण्टी दी गयी है, उसकी रक्षा हो सकती है।

स्वतन्त्रता के संरक्षक के रूप में विधान

इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि जिन देशों में विधानों में अधिकारों की घोषणा अथवा व्यवस्थापिका सत्ता पर प्रतिबन्धों की व्यवस्था नहीं है और जिन विधानों में ऐसी घोषणा है तो सही परन्तु न्यायालयों को उन पर अमल कराने की क्षमता नहीं है, वहाँ स्वतन्त्रता नहीं हो सकती और न है। प्रोफेसर बर्गेस ने अपनी 'स्वाधीनता के साथ शासन का सामंजस्य' (Reconciliation of Government with Liberty) में लिखा है कि इस कारण संयुक्त राज्य के बाहर के अधिकांश विधान दोषयुक्त हैं। योरोप के विधानों में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए जो व्यवस्था की गयी है, उसका अध्ययन करते हुए वह कहता है—'अत: मुझे योरोप के देशों के वर्तमान विधानों में शासन के साथ स्वतन्त्रता के सामंजस्य की महान् समस्या का सन्तोषप्रद समाधान नहीं मिलता। उन सबमें स्वतन्त्रता का शासन की वेदी पर बलिदान किया गया है।[2]

फ्रान्स के वर्तमान विधान में नागरिक अधिकारों की घोषणा के अभाव तथा सन् १७८९ की मानव अधिकारों की फ्रेन्च घोषणा की सोलहवीं धारा का उल्लेख करते हुए, जिसमें लिखा है कि 'उस समाज का जिसमें अधिकारों की रक्षा के लिए गारण्टी नहीं है, कोई विधान नहीं है'। वह लिखता है कि 'स्पष्ट भाषा में इसका अभिप्राय यह है कि प्रभुत्वसम्पन्न राष्ट्र द्वारा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए शासन की सत्ताओं पर वैधानिक प्रतिबन्ध लगाये बिना वैधानिक शासन की कल्पना नहीं की जा सकती। इस सिद्धान्त के अनुसार फ्रान्स का विधान विधान नहीं, किन्तु शासन का एक चार्टरमात्र है।[3]

बर्गेस ने ऐसे विधानों की आलोचना करते हुए जो कुछ कहा है, उसमें कुछ

१. इस विषय पर अन्तिम अध्याय में विस्तृत विवेचन किया गया है।
२. पृष्ठ २८६ तथा २५४ भी देखिये।
३. वहीं, पृष्ठ २६०

सत्यांश है। परन्तु साथ ही यह भी सत्य है कि किसी देश की जनता जिस मात्रा मे नागरिक स्वतन्त्रता का उपभोग करती है, उसका ठीक-ठीक माप विधान में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के सम्बन्ध मे उल्लिखित वैधानिक शब्दावलियों की संख्या से नही किया जा सकता। लेटिन अमेरिका के देशो के विधान सैद्धान्तिक या दार्शनिक दृष्टिकोण से बहुत अच्छे हैं और नागरिक स्वतन्त्रता के सम्बन्ध मे उनमे वैसी ही विशद घोषणाएँ हैं जैसी उत्तरी अमेरिका के विधानो मे हैं, परन्तु बर्गेस के अनुसार उन राज्यो का इतिहास नागरिक स्वतन्त्रता के साथ शासन के सामजस्य की दिशा मे सुदृढ प्रगति की अपेक्षा एक ओर अराजकता तथा दूसरी ओर स्वेच्छाचारी शासन के बीच निरन्तर परिवर्तनो का इतिहास रहा है।"[1]

दूसरी ओर, ब्रिटेन तथा फ्रान्स के विधान, जो व्यवस्थापक सत्ता अर्थात् पार्लामेण्ट की सत्ता पर कोई प्रतिबन्ध नही लगाते, बर्गेस की कल्पना के अनुसार अत्यन्त दोषपूर्ण हैं, परन्तु इन दोनो ही देशो मे जनता नागरिक स्वतन्त्रता का उतना ही उपभोग करती है जितना सयुक्त राज्य अमेरिका की जनता करती है, बल्कि इंगलैण्ड मे तो जनता को शायद और भी अधिक स्वतन्त्रता प्राप्त है।

(५) विविध प्रकार के विधानो के गुण-दोष

लिखित विधानों के गुण

लिखित तथा अलिखित दोनो प्रकार के विधानो मे गुण-दोष हैं। लिखित विधान स्पष्ट एव सुनिश्चित होते हैं। लिखित विधानों की धाराएँ एक लेख-पत्र मे स्पष्टरूप से उल्लिखित होती हैं जो बडी सावधानी के साथ तैयार किया जाता है; अत: उनके अर्थों के सम्बन्ध मे केवल रिवाजो के आधार पर स्थित नियमो की अपेक्षा अनिश्चितता स्पष्टत: कम होती है। इस प्रकार के विधानो को न व्यवस्थापिका-सभा और न न्यायालय तोड-मोड कर समय की आवश्यकतानुसार व्याख्या कर सकता है। अत: इसके द्वारा जो सरक्षण प्राप्त होता है और जिन अधिकारो की गारण्टी दी जाती है, वे अधिक सुरक्षित होते हैं। ऐसे विधानो मे परिवर्तन को प्रक्रिया साधारण कानून मे परिवर्तन करने की प्रक्रिया की अपेक्षा अधिक दुरूह होने के कारण वे अधिक स्थायी और क्षणिक लोक-उत्तेजना के खतरो से मुक्त होते हैं। परन्तु उनका यह अन्तिम गुण उनका दोष भी हो जाता है। अनुभव से यह प्रमाणित है कि दृढ विधानो मे परिवर्तन या संशोधन की कठिनाइयो के कारण समयानुकूल परिवर्तन नही हो सकते और फलत: राज्य की स्वस्थ प्रगति मे बाधा पडती है। मैकॉले का कथन था कि 'क्रान्तियो का महान् कारण यह है : राष्ट्र प्रगति करता रहता है, परन्तु विधान अचल बने रहते हैं।' जब कोई विधान वर्तमान परिस्थितियो के अनुकूल नही रहता, तब उसका उल्लघन करने का लोभ सवरण नही किया जा सकता। यदि, इसके विपरीत, विधान मे संशोधन करने के लिए अत्यधिक सुविधाएँ प्रदान की जाँय तो इसमे एक खतरा यह है कि वैधानिक परिवर्तनो पर राजनीतिक दलो मे अपने स्वार्थों के लिए झगडे होगे और राष्ट्र की प्रगति (Constitution of the Nation) मे समा जाने के पहले ही वे परिवर्तन लिखित विधान मे जबरदस्ती कर दिये जायँगे।[2]

१. वही, पृष्ठ ३५५।
२. तुलना कीजिये, Jameson, Constitutional Conventions, Sec. 78. लिखित विधानो के लाभो के लिए Leiber, Political Ethics, Vol. I, pp. 338-339 देखिये।

अलिखित विधान के गुण

अलिखित विधानों के गुण उनका लचीलापन तथा उनकी सयोजनीयता (Adaptability) है। ऐसे विधानों में साधारण कानून की भाँति ही संशोधन हो सकने के कारण उनमें समाज की बदलती हुई अवस्थाओं के अनुसार परिवर्तन एवं संशोधन हो सकते हैं। इस सुविधा के कारण विधान की उपेक्षा करने का लोभ नहीं होता और लोक-भावना को सन्तुष्ट करने का तथा क्रान्तियों के कारण दूर करके उनकी सम्भावना दूर करने या काम करने का कानूनी उपाय मिल जाता है। प्रत्येक राष्ट्र के जीवन में ऐसे सकट की स्थितियाँ आती हैं, जबकि कठोरता (Inelasticity) एक खतरा बन जाता है—जबकि विधान में परिवर्तन होना ही चाहिए, अन्यथा उसका उल्लघन होगा। लचीला विधान इस प्रकार की राष्ट्रीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भुकाया जा सकता है, परन्तु कठोर विधान ऐसी अवस्थाओं में टूट जायगा। ब्राइस ने कहा है कि 'ऐसे विधान बिना उनके ढाँचे का विनाश किये इच्छानुसार भुकाये या खींचे जा सकते हैं और जब संकट टल जाता है तब वे उसी प्रकार अपनी पूर्वावस्था को प्राप्त कर लेते हैं, जिस प्रकार वट-वृक्ष, जिनके नीचे से ट्रक को ले जाने की सुविधा के लिए उसकी लटकती हुई डालियों को खींच कर अलग कर दिया गया हो।'[1] इस प्रकार ये विधान बिना हानि उठाये हुए एक भारी धक्के को भी सहन कर लेते हैं, परन्तु लिखित विधान तो एक भारी धक्के से चकनाचूर हो जाते हैं। न्यायाधीश कूली ने कहा है कि 'जनता के शासन के लिए ससार में जितने भी विधान रचे जा सकते हैं, उनमें सर्वश्रेष्ठ वही है जो राष्ट्रीय जीवन के स्वाभाविक विकास का परिणाम है और जो राष्ट्र के प्रौढ़ होने के साथ स्वय भी विकसित एव विस्तृत होकर किसी भी समय शासन तथा नागरिक एव राजनीतिक स्वतन्त्रता के प्रचलित सिद्धान्तों की अभिव्यक्ति कर सकता है।' उसके अनुसार सबसे कम मूल्यवान् विधान वह है जो राष्ट्रीय अनुभव की उपेक्षा करता है तथा राष्ट्रीय भविष्य का अतीत से सम्बन्ध-विच्छेद करके राज्य का आदर्श ढाँचा खड़ा करता है।

लिखित विधान का एक दोष यह है कि वह राजनीतिक जीवन एव राष्ट्र की अभिवृद्धि के सिद्धान्तों को अनिश्चित काल के लिए एक लेख-पत्र में दबाकर भरने का प्रयत्न करता है। यह ऐसा ही प्रयत्न है, जैसा एक व्यक्ति के लिए उसकी भावी शारीरिक वृद्धि तथा आकार का विचार किये बिना एक कोट बनाना। अतीत काल में कुछ विधान राष्ट्र के विस्तार तथा विकास का विचार किये बिना ही बनाये गये थे।

ग्लैडस्टन ने एक बार कहा था कि किसी राष्ट्र पर इससे महान् कोई सकट नहीं आ सकता कि अतीत से उसका सम्बन्ध पूर्णत. नष्ट कर दिया जाय। बर्क ने अपनी पुस्तक 'फ्रान्स की राज्य-क्रान्ति पर विचार' में फ्रेन्च क्रान्तिकारियों की ऐसा करने के लिए तीव्र आलोचना की है। कुछ इसी कारण ही अठारहवीं शताब्दी के फ्रेन्च विधान अल्पकालिक रहे। उनका इस प्रकार निर्माण किया गया मानो वे राष्ट्र के जीवन में एक आगे का कदम नहीं, वरन् आरम्भ करने के बिन्दु थे और मानो वे राष्ट्र के उपयुक्त उसी प्रकार बनाये जा सकते थे जैसे एक तग जाकट (Strait Jacket) एक व्यक्ति के बदन पर बैठाई जा सकती है। मेन ने कहा है कि किसी भी ऐतिहासिक विधान की यह हास्यास्पद दशा नहीं हुई। ऐसे विधान वाला देश उस ब्रिटिश यात्री के समान है जिसे एक चीनी गृहपति के घर तीलियों से भोजन करना पड़े।

---

१. Essay on Flexible and Rigid Constitutions, p. 22.

अलिखित विधानो के दोष

कठोर विधानो की भाँति अलिखित विधानो मे भी दोष है। उनके सम्बन्ध मे यह आलोचना की गयी है कि वे अस्थिर तथा दृढता एव स्थायित्व से विहीन होते हैं। ब्राइस ने कहा है कि वे 'हीराक्लिटस की सरिता के समान, जिसमे कोई व्यक्ति दूसरी बार प्रवेश नही कर सकता' सतत प्रवाह की अवस्था मे हैं। साधारण कानून की भाँति क्षणिक लोक-भावनाओ के प्रभाव मे उनमे सशोधन किये जा सकते हैं क्योकि साधारण कानून की अपेक्षा उनका कोई विशेष कानूनी महत्व नही होता और उनमे परिवर्तन करने की कोई भिन्न विधि नही होती। उनकी आलोचना इसलिए भी की गयी है कि 'वे न्यायालयों के खिलौने' है क्योकि उस विशाल साहित्य मे से, जिसमे से विधान को ढूँढना पड़ता है, कोई बात अपनी इच्छानुसार ढूँढना या न ढूँढना सरल है।[1] यह भी कहा गया है कि वे लोकतन्त्र के लिए उपयुक्त नही है और कुलीनतन्त्रात्मक समाजों के लिए अधिक उपयुक्त है। लोकतन्त्र म जनता उन वैधानिक निर्देशो के प्रति सदिग्ध रहती है जिनको कानून का रूप प्राप्त नही है और जो रिवाजो एव परम्पराओ पर ही मुख्यतया आधारित रहते है। इस प्रकार का लोक-विश्वास प्रचलित है कि अलिखित विधान म लिखित विधान की अपेक्षा शासनाधिकारियों को कार्य करने की अधिक व्यापक स्वतन्त्रता मिलती है। ब्राइस ने कहा है कि 'जनता सीधी सादी बातो को पसन्द करती है और राजकीय रहस्यों (Arcana Imperii) की ओर से बडी सदिग्ध रहती है जिससे अलिखित विधान परिपूर्ण रहते है।'[2]

विधान-सम्बन्धी बातो पर सर्वोच्च अधिकारी लेखक जेम्सन ने दोनों प्रकार के विधानो के गुण-दोषों का इस प्रकार विवेचन किया है—'दोनों प्रकार के विधानो के गुण तथा दोषों पर विचार करने के पश्चात उनके हानि-लाभो का ठीक-ठीक लेखा-जोखा करना सरल नही है। मेरी अनुमति मे जिस राष्ट्र ने उच्च मात्रा मे राजनीतिक शिक्षण मे पूर्णता प्राप्त कर ली है, उसके लिए अलिखित विधान ही अधिक अच्छा होगा। उस शिक्षण मे इस प्रणाली की सुरक्षा के लिए दो तत्व बडे महत्व के होंगे—प्रथम, राष्ट्र के समस्त नागरिको मे अपने राजनीतिक अधिकारो एवं कर्त्तव्यो का सम्यक् ज्ञान, द्वितीय, उनमे विधान के उल्लघनो की खोज के लिए सतत् जागरूकता और ऐसे उल्लघनो का विरोध करने तथा उन्हे तुरन्त ही दण्डित करने की

---

१. Jameson, Constitutional Conventions, Sec. 77. लार्ड बर्कनहेड ने विधानों के कठोर तथा लचीले विधानो के रूप मे वर्गीकरण की आलोचना की है और उनके स्थान पर 'नियन्त्रित' (Controlled) तथा अनियन्त्रित (Uncontrolled) विधानो के रूप मे वर्गीकरण सुझाया है। इसके अनुसार इगलैण्ड का विधान अनियन्त्रित है।

२ Constitutions, p 31. ब्राइस ने कहा है कि लचीले विधानो को ठीक तरह से व्यवहार मे लाने के लिए तीन शर्तें आवश्यक है—प्रथम, सर्वोच्च सत्ता राजनीतिक शिक्षणप्राप्त तथा राजनीतिक दृष्टि से ईमानदार अल्पमत के हाथ मे होना चाहिए, द्वितीय जनता को राजनीति मे निरन्तर अभिरुचि रखना चाहिए तथा तृतीय, जनता यद्यपि कानूनी दृष्टि से सर्वोच्च है और उसे सामान्य सिद्धान्तो का निर्देश करना चाहिए, परन्तु इसके बाद उसे शासन का प्रबन्ध एक शिक्षणप्राप्त अल्पमत के हाथों मे सौपकर सन्तुष्ट रहना चाहिए (वही, पृष्ठ ३६)।

तत्परता। इन तत्वों के प्रभाव में शासनाधिकारी वर्ग के अनधिकृत कार्यों से शासन-प्रणाली का विनाश बहुत शीघ्र हो जायगा। परन्तु ऐसे समाज के लिए, जिसका राजनीतिक शिक्षण अपूर्ण है या जो कभी राजनीतिक उदासीनता से प्रभावित रहता है और कभी सुधार के लिए अत्यधिक उत्साही हो जाता है, लिखित विधान ही श्रेष्ठतर होगा। ऐसे विधान पर राष्ट्रीय इच्छा का दबाव तो कम पड़ता है और इसी कारण उसके नियम भी अप्रचलित एवं दमनकारी हो जाते हैं, परन्तु इससे शासन के कर्मचारियों के लिए अनधिकृत कार्य करने के मार्ग में एक भयंकर बाधा उपस्थित हो जाती है। लिखित विधान के नियम इतने स्पष्ट होते हैं कि उनका उल्लंघन जानबूम-कर ही हो सकता है और तथ्य भी इतने स्पष्ट होते हैं कि अधिकांश मामलों में कोई अनधिकृत चेष्टा करने का साहस नहीं कर सकता क्योंकि उससे भयकर प्रतिरोध के उभड़ने का भय रहता है। ऐसी अवस्थाओं में इस प्रकार के विधान की श्रेष्ठता इस तथ्य के कारण है कि अपने समस्त दोषों के साथ निश्चलता अविचारपूर्ण अथवा अवैधानिक गतिशीलता की अपेक्षा कम सकटपूर्ण होती है।"[1]

लिखित तथा अलिखित विधानों के चाहे जो गुण-दोष हों, यह स्पष्ट है कि लोक-रुचि लिखित विधान के पक्ष में है। अलिखित विधान का उदाहरण केवल ब्रिटिश विधान ही रह गया है। योरोप में प्रायः सभी राज्यों ने संयुक्त राज्य अमेरिका का अनुकरण कर लिखित विधानों को स्वीकार कर लिया है। जापान, चीन, आस्ट्रेलिया, ईरान, लिबेरिया तथा दक्षिणी अफ्रीका आदि योरोप तथा अमेरिका के बाहर के देशों ने भी लिखित विधानों को स्वीकार कर लिया है। जिस किसी भी राज्य ने एक बार लिखित विधान का परीक्षण कर लिया है, उसने फिर अलिखित विधान की ओर कभी लक्ष्य नहीं किया।

(६) लिखित विधान के आवश्यक तत्व

लाक्षणिक (Typical) विधान का सारांश

एक लाक्षणिक लिखित विधान में तीन प्रकार की बातें होती हैं—प्रथम, नागरिकों के मौलिक नागरिक एवं राजनीतिक अधिकारों की घोषणा तथा शासनसत्ता पर कुछ प्रतिबन्ध अथवा मर्यादाओं का आरोप करने वाले नियम जिससे उन अधिकारों का उपभोग किया जा सके, द्वितीय, ऐसे नियमों का उल्लेख जिनके द्वारा शासन के संगठन की रूपरेखा, उसकी सत्ताओं तथा शासन-प्रबन्ध एवं निर्वाचकों की व्याख्या आदि का निर्धारण किया जाता है, तृतीय, विधान में विधिवत् संशोधन या परिवर्तन करने की पद्धति का उल्लेख।[2] एक लेखक ने प्रथम श्रेणी में उल्लिखित नियमों को स्वतन्त्रता का विधान (Constitution of Liberty) कहा है, दूसरे प्रकार के नियमों को शासन का विधान (Constitution of Government) तथा तीसरे प्रकार के नियमों को प्रभुत्व का विधान (Constitution of Sovereignty) कहा है।[3] गणतन्त्र राज्यों में प्रथम प्रकार के नियमों को साधारणतया 'अधिकारों की घोषणा' (Declaration of Rights) अथवा 'अधिकारों का विधेयक' (Bill of Rights) कहा जाता है।

---

१. The Constitutional Conventions, Sec. 78.
२. तुलना कीजिये, Moore, Commonwealth of Australia, p. 75.
३ Burgess, Political Science and Constitutional Law, Vol. I, p. 137.

संयुक्त राज्य अमेरिका की जनता ने इस प्रकार के अधिकारों की घोषणा को सदा ही बड़ा महत्व दिया है और उन्होंने उन्हें अपने विधान का एक महत्वपूर्ण अंग माना है।[1] सन् १७८० से संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रत्येक विधान में, चार अपवादों को छोड़,[2] इस प्रकार की घोषणाओं को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। ब्राइस ने लिखा है कि ऐतिहासिक दृष्टि से अमेरिकन अधिकार-घोषणाएँ विधानों का सबसे रोचक भाग रही हैं क्योंकि वे इंगलैण्ड के मेगना कार्टा और बिल ऑफ राइट्स के प्रतिनिधि एवं औरस सन्तति हैं।[3] इसी प्रकार फ्रान्स में भी क्रान्ति के कुछ समय के पश्चात् तक इस प्रकार के अधिकारों की घोषणा को शासन के लेख-पत्रों का आवश्यक भाग माना जाता था। फ्रान्स के सन् १७९१, सन् १७९३, सन् १७९५ तथा कुछ मात्रा में सन् १८४८ के विधानों में भी न केवल व्यक्ति के अधिकारों की विशद घोषणाओं का समावेश किया गया वरन् अनेक प्रचलित राजनीतिक सिद्धान्तों की दार्शनिक व्याख्याओं का भी उल्लेख किया गया।[4] यह वास्तव में विलक्षण बात है कि फ्रान्स के सन् १८७५ के वैधानिक कानूनों में अधिकारों की घोषणा का अभाव है। किन्तु कुछ फ्रेन्च विधान-विशेषज्ञ मानते हैं कि सन् १७८९ की घोषणा के मौलिक सिद्धान्त आज भी फ्रान्स के सार्वजनिक कानून (Public Law) का प्रतिष्ठित अंग है और इसी कारण पार्लमेण्ट पर बन्धनकारी है। ड्यूगी का मत है कि ये केवल "सैद्धान्तिक नियम" ही नहीं हैं, वरन् यथार्थ वैधानिक कानून हैं जिनसे धारासभा बाध्य है और जिनके विपरीत कोई भी पार्लमेण्ट का कानून अवैधानिक माना जायगा। वह तथा दूसरे फ्रेन्च कानूनविज्ञ मानते हैं कि सन्१८७१-७५ की राष्ट्रीय सभा (National Assembly) ने सन् १७८९ के सिद्धान्तों की इस कारण स्पष्टरूप से पुनः पुष्टि नहीं की और न उन्हें विधान में नियमपूर्वक स्थान ही दिया गया कि वे इतनी दृढ़ता के साथ स्थिर हो चुके थे कि ऐसा करने की कोई आवश्यकता ही नहीं समझी गयी। कानूनविज्ञों का मत धारा-सभा पर उनके बन्धनकारी प्रभाव के सम्बन्ध में चाहे जो हो, फ्रेन्च न्यायालय पार्लमेण्ट के उन कानूनों को, जो उन सिद्धान्तों के विपरीत है, व्यर्थ एवं शून्य घोषित करने से

---

१. राष्ट्रीय विधान में इस प्रकार के नियमों का अभाव उन मुख्य कारणों में से एक था जिसके कारण विभिन्न राज्यों के नागरिकों ने उसे स्वीकार करने में आपत्ति की थी; सन् १७९१ में जो प्रथम दस संशोधन स्वीकृत हुए, उनमें इस आपत्ति का निराकरण कर दिया गया।

२. ये चार अपवाद लुईसाना के सन् १८१२, सन् १८४५, सन् १८५२ तथा सन् १८६४ में स्वीकृत विधान थे, यद्यपि प्रत्येक में व्यक्ति के अधिकारों की घोषणा से मिलती-जुलती कुछ बातें अवश्य थी। इस प्रकार की घोषणाएँ शासन के अतिक्रमणों के डर से की गयी थीं जिनका अब उतना डर नहीं है, परन्तु अब व्यवस्थापिका के हस्तक्षेप का डर बहुत बढ़ गया है जिससे सुरक्षा सुनिश्चित करना ही अब इन घोषणाओं का मुख्य प्रयोजन रह गया है।

३. The American Commonwealth, Ch. 36. Sherger, The Evolution of Modern Liberty, Pts. III-IV तथा Jellinek, Declaration of the Rights of Man and the Citizen भी देखिये।

४. सन् १७९९, सन् १८०४, सन् १८१४, सन् १८३० तथा सन् १८५२ के फ्रेन्च विधानों में मनुष्य के अधिकारों के पक्ष में कोई घोषणाएँ नहीं हैं।

इन्कार कर देते हैं। इस कारण फ्रेन्च पार्लामेण्ट में समय समय पर अधिकारों की घोषणा को विधान में सम्मिलित करने के लिए तथा सुप्रीम कोर्ट की स्थापना के लिए प्रस्ताव रखे गये हैं, जिसको विधान के प्रतिकूल कानूनों को अवैधानिक घोषित करने की सत्ता हो।[१] इस बात में फ्रान्स का विधान योरोप के अन्य देशों के नवीन विधानों से भिन्न है, जिनमें अधिकारों की विशद घोषणाओं को स्थान प्राप्त है। सन् १८७१ के जर्मन विधान तथा सन् १८५० के प्रशियन विधान में, जिसे राजा ने प्रदान किया था, इस प्रकार के व्यक्ति की स्वतन्त्रता के नियम नहीं थे, परन्तु उनके स्थान पर बने हुए नये विधानों में फ्रेन्च तथा अमेरिकन विधानों की व्यक्ति की स्वतन्त्रता सम्बन्धी घोषणाओं से भी अधिक विशद घोषणाएँ हैं।

शासन-संगठन के सम्बन्ध में नियम

विधान के दूसरे प्रकार के नियमों का सम्बन्ध व्यापक अर्थ में शासन के संगठन से है जिसमें शासन के विविध विभागों के बीच सत्ता का वितरण, राज्य की विविध एजेंसियों का संगठन जिनके द्वारा सत्ता की अभिव्यक्ति होती है, उनकी सत्ता की सीमा एवं अवधि, शासनाधिकारियों की नियुक्ति या निर्वाचन की विधि तथा निर्वाचकों का संगठन सम्मिलित हैं। कुछ विधानों में इस प्रकार के नियम कम और सामान्य होते हैं। उदाहरण के लिए, फ्रान्स के "वैधानिक" कानूनों में प्रतिनिधि-सभा (Chamber of Deputies) के संगठन, निर्वाचन अवधि आदि के सम्बन्ध में कुछ भी उल्लेख नहीं है, उसमें केवल यह उल्लेख है कि प्रतिनिधि सभा का निर्वाचन प्रौढ़ मताधिकार के आधार पर होगा। उसमें न्याय व्यवस्था के सम्बन्ध में भी कोई उल्लेख नहीं है और सन् १८८४ के संशोधन के पश्चात्, जिसके फलस्वरूप सीनेट से सम्बन्धित सभी धाराएँ विधान से निकाल दी गयीं, उनमें पार्लामेण्ट के द्वितीय सभागृह सीनेट के सम्बन्ध तक में कोई उल्लेख नहीं रहा। फ्रान्स के विधान के सम्बन्ध में यह कहा जा है कि उसमें विशिष्टता जो कुछ भी है, उसका कारण नहीं वरन् जिन बातों का उसमें अभाव है, उसके कारण है। इन कारणों से कुछ फ्रेन्च लेखकों ने कहा है कि फ्रान्स का कोई विधान ही नहीं है।

संयुक्त राज्य अमेरिका का विधान

संयुक्त राज्य अमेरिका का विधान लिखित विधानों में अपनी विषद-वस्तु तथा अपने लक्षण की दृष्टि से आदर्श है। शासन-संगठन के सम्बन्ध में उसके नियम सामान्य हैं, परन्तु उनमें सभी महत्त्वपूर्ण एवं आधारभूत बातें आ जाती हैं। उसमें कार्यपालिका, व्यवस्थापिका एवं न्यायपालिका के बीच शासन-सत्ता के विभाजन एवं वितरण की व्यवस्था तथा प्रत्येक विभाग के संगठन की सामान्य रीति से व्यवस्था की गयी है, उनकी अधिकार-सीमाओं एवं सत्ताओं का संक्षिप्त तथा तार्किक विवरण है और राष्ट्रीय तथा राज्यों की सरकारों पर जो प्रतिबन्ध हैं, उनकी एक सूची भी दी गयी है। उसमें प्रकीर्ण नियम तो नहीं के बराबर हैं। उसमें व्यापार उद्योग, बैंक, रेल, स्कूलों, थल-सेना तथा नौसेना के सम्बन्ध में उल्लेख बहुत ही कम है। वह वास्तव में संक्षिप्त तथा तार्किक एवं वैज्ञानिक रचना का एक सुन्दर नमूना है। यह बात भी उल्लेखनीय है कि जिस भाषा में उसकी रचना की गयी है वह अनावश्यक एवं अस्पष्ट शब्दावली से बिलकुल मुक्त है। अमेरिकन विधान के सम्बन्ध में ब्राइस ने अपना मत इस प्रकार प्रकट किया है—'अपनी योजना की स्वाभाविक श्रेष्ठता, अपनी जनता की परि-

१. इस प्रकार का प्रस्ताव M. Benoist ने सन् १९०३ में किया था।

स्थितियों के साथ अनुकूलता, सादगी, संक्षिप्त, भाषा की शुद्धता और विस्तार की बातों में लचीलेपन के साथ सिद्धान्त में निश्चितता के समुचित सम्मिश्रण के कारण यह विधान अन्य समस्त लिखित विधानों से श्रेष्ठतम है।"[1]

किन्तु इस सम्बन्ध मे योरोप के अनेक देशो के विधानों ने अमेरिकन नमूने का अनुसरण नहीं किया है। विस्तार में वे अमेरिकन विधान की अपेक्षा अधिक बड़े हैं और उनमें साधारण कानून की भी कई बातें होती हैं।[2] यह तो मानना पड़ेगा कि देश के राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक जीवन मे पेचीदगियों की वृद्धि के साथ-साथ विधान के द्वारा नियमित होने वाले तथा साधारण कानूनो द्वारा नियमित होने योग्य समझे जाने वाले विषयों के बीच की विभाजन रेखा आवश्यक रूप से बदलती रहेगी। सन् १७८९ में, जो विषय साधारण कानून द्वारा निरापद रूप मे नियन्त्रित किये जा सकते थे, उन्हें आज की परिस्थिति में विधान द्वारा नियमित करना पड़ता है। यह कहने की आवश्यकता नही है कि आधुनिक समय मे जो विकास हुआ है, उसके कारण ऐसी अनेक नवीन समस्याएँ खड़ी हो गयी हैं, जिन्हें वैधानिक कानून में स्थान मिलना चाहिए और जो संयुक्त राज्य के विधान के निर्माण के समय विद्यमान नहीं थी। इन स्थितियों एव विधान के कार्यों के सम्बन्ध में बदलती हुई लोक-रुचि के कारण विधानों मे विस्तार करने की प्रवृत्ति बढ़ रही है और उनमे ऐसी बातो का सविस्तार उल्लेख किया जाने लगा है जिनका पूर्वकालीन स्थितियों में विधानों में उल्लेख नही होता था।

(७) विधानों का विकास और विस्तार

विकास की प्रक्रियाएँ

सर जेम्स मेकइन्टॉश तथा सर हेनरी मेन की पुरानी उक्ति है कि विधान विकसित होते हैं, बनाये नहीं जाते। इस उक्ति मे चाहे जिस मात्रा में सत्यांश हो, परन्तु यह तो असंदिग्ध सत्य है कि कोई भी प्रचलित शासन-विधान अपनी ऐसी अन्तिम अवस्था को नही पहुच चुका है जहां से आगे उसका विकास ही सम्भव न हो। राष्ट्रपति वाशिंगटन ने अपने विदाई के भाषण में कहा था कि अन्य मानव-संस्थाओं के समान शासनों के वास्तविक रूप का निर्धारण करने मे समय और अभ्यास का बड़ा महत्व है। लॉर्ड ब्राउधम ने कहा कि "यदि उनका कोई मूल्य है तो विधानों का विकास एवं वृद्धि होनी चाहिए, उनकी जड़ें हैं, वे परिपक्व होते हैं और वे टिकते भी हैं। जिन विधानों का निर्माण किया जाता है, वे भूमि में गड़ी हुई रंगीन छड़ी के समान होते हैं जैसे मैंने कई जगह स्वतन्त्रता के वृक्ष लगे हुए देखे हैं। उनको न

---

१. The American Commonwealth, Vol II, p. 28.

२. यही बात नये लेटिन अमेरिकन विधानों, विशेषकर १२ सितम्बर १९२५ ई० के चिली के विधान, के सम्बन्ध में कही जा सकती है। अमेरिकन विधानों का आकार धीरे-धीरे बहुत बढ़ गया है। वर्जीनिया का विधान कुछ पृष्ठों से बढ़ते-बढ़ते ७५ पृष्ठ का हो गया है। अलबामा के वर्तमान विधान में ३,३०० शब्द हैं, लुइसाना के विधान में ४५,००० और ओकलाहामा के विधान मे ५०,००० शब्द है। Pol Sci. Quar., Vol. XXX (1915), pp. 201 पर Dodd के The Function of a State Constitution शीर्षक वाले लेख को देखिये।

कोई जड होती है, न वे फलवान् होते हैं ; वे शीघ्र ही निर्बल हो जाते हैं और नष्ट हो जाते हैं।"[1]

लोक-प्रथा एवं व्यवहार

लिखित विधान तीन प्रकार से वृद्धि प्राप्त करते हैं—(१) व्यवहार (Usage) से, (२) कानूनी व्याख्या से तथा (३) विधिवत् संशोधन (Formal amendment) से। विधान के विषय में लोक-प्रथा तथा व्यवहार का प्रभाव विविध प्रकार की परिस्थितियों पर निर्भर है। नवीन की अपेक्षा प्राचीन विधानों में इसका बड़ा महत्व है। प्रथा तथा व्यवहार का उन प्राचीन समाजों में भी विशेष प्रभाव होता है, जिनके लोगों में नवीन समाजों की अपेक्षा अतीत के लिए विशेष श्रद्धा होती है।[2]

अमेरिका के नवीन राज्यों में, जहाँ एक पीढ़ी में कम से कम एक बार विधानों में संशोधन या बिलकुल ही परिवर्तन होता रहता है, विधानों का लोक-प्रथा एवं व्यवहार द्वारा विकास नगण्य-सा होता है। इसी प्रकार फ्रान्स में जहाँ देश की वैधानिक प्रगति में विकास की अपेक्षा क्रान्ति का स्थान अधिक रहा है और जहाँ सन् १७८६ से आगे ११ विधान बने और नष्ट हुए, विधान का लोक-प्रथा तथा व्यवहार द्वारा विकास अपेक्षाकृत कम ही हुआ है।[3] परन्तु संयुक्त राज्य अमेरिका का विधान जो मेसेचुसेट्स के विधानों में सबसे पुराना है, अनेक दिशाओं में लोक-प्रथा तथा व्यवहार (Custom and Usage) द्वारा अधिक विकसित एवं विस्तृत हुआ है।[4] समस्त राज्यों में नये नियमों के निर्माण तथा नवीन पद्धतियों के प्रयोग से रीति-रिवाज पर आधारित नियमों का निर्माण होता रहता है, जिससे एक सीमा तक लिखित विधान की धाराओं की पूर्ति होती रहती है और उनके प्रयोग में परिवर्तन हो जाते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका के जैसे विधान की, जिसमें इतनी सूक्ष्मता और विस्तार की बातों का इतना अभाव है, आवश्यक रूप से व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित कानूनों, न्यायालयों की व्याख्याओं और लोक-प्रथा द्वारा पूर्ति होनी चाहिए। बिना समझौतों अथवा रिवाजों के उसका अमल में लाना असम्भव है।

न्यायालयों की व्याख्या द्वारा विकास

न्यायालयों की व्याख्याओं द्वारा लिखित विधान का विकास आवश्यक रूप से उसकी भाषा की संदिग्धता तथा अभिव्यक्ति की न्यूनताओं के कारण, जो अत्यन्त सावधानी से बनाये हुए विधानों में भी बहुलता से होती है, नवीन परिस्थितियों के उत्पन्न हो जाने तथा उसके नियमों के अर्थ के सम्बन्ध में अनिवार्य मतभेद होने के कारण होता है। ऐसी परिस्थितियों में, न्याय विभाग का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह केवल विधान के नियमों की सच्ची व्याख्या ही न करे वरन् विधान के रचयिताओं

---

१. The British Constitution, 'Works,' Vol. XI, p. XXI.
२. तुलना कीजिये, Bryce, The American Commonwealth, Ch 32.
३ परन्तु वर्तमान (द्वितीय विश्व-युद्ध के पहले के) विधान में जो ५० वर्ष से प्रचलित है, बहुत से रिवाज सम्मिलित हो गये हैं, जैसे प्रेसिडेण्ट दूसरी बार अपने पद पर कार्य कर नहीं सकता, पार्लामेण्ट उसे पद-त्याग के लिए विवश कर सकती है, आदि।
४. इस प्रकार के रीति-रिवाज के लिए Ogg and Ray, *Introduction to* American Government, p. 220 तथा Beard, American Government and Politics, Ch. 4 देखिये।

के वास्तविक मन्तव्य को भी स्पष्ट करे और यह भी बतलावे कि उसका प्रयोग उन विषयो में कहाँ तक व किस सीमा तक हो सकेगा जिनका विधान में उल्लेख नही है, परन्तु जिनके सम्बन्ध में यदि विधान के रचयिताओ में दूरदर्शिता होती तो वे अवश्य ही व्यवस्था करते।[1] न्यायालय की व्याख्याओ द्वारा विधान में विस्तार संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे देशो में प्रधानतः होता है, *जहाँ न्यायालय को विधान के नियमो की व्याख्या ही करने का अधिकार नही वरन् विधान के प्रतिकूल कानूनों को अवैधानिक घोषित करने का भी अधिकार है*। यह वास्तव में सत्य है कि संयुक्त राज्य अमेरिका के विधान का एक बडा भाग न्यायालयो की व्याख्या से बना है। विधान की प्रायः प्रत्येक धारा की व्याख्या की जा चुकी है और यदि हम न्यायालयों द्वारा की गयी व्याख्याएँ उसमें से निकाल दें तो हम उसे पहचान भी न सकेंगे।

विधिवत् संशोधन द्वारा विकास

विधान के विस्तार का सुनिश्चित साधन, विशेषकर गणतन्त्रो में, उसमें उल्लिखित विधि के अनुसार संशोधन है। जैसा कहा जा चुका है, विधान में *संशोधन करने का नियम प्रत्येक लिखित विधान का आवश्यक अंग माना जाने लगा है।* अमेरिकन राज्यो के कुछ प्रारम्भिक विधानो में (अठारहवी शताब्दी के आठ राज्यो के विधानो मे) विधान मे संशोधन के लिए ऐसे कोई नियम नहीं थे। इस सम्बन्ध मे विद्वानो मे मतभेद है कि यह भूल विधान में संशोधन की स्पष्ट विधि के उल्लेख के लाभो का न समझने के कारण थी या इस प्रकार के प्रचलित लोकमत के कारण जिसका उल्लेख कई बार 'अधिकारो के विधेयको' मे किया गया था कि जनता का यह जन्मसिद्ध अधिकार है कि वह हर समय अपने विधान में संशोधन कर सकती है और इस कारण इस प्रकार की धारा विधान मे जोड कर इस अधिकार पर स्वयं ही प्रतिबन्ध लगाकर उसे सीमित करना आवश्यक नही था। इसका कारण चाहे जो हो, परन्तु विधान मे संशोधन करने की कानूनी विधि की व्यवस्था करने की वाछनीयता (आवश्यकता नही) मालूम होने लगी और उन्नीसवी शताब्दी के प्रारम्भ से बनने वाले समस्त अमेरिकन राज्यो के विधानो मे, तीन विधानो को छोडकर,[2] संशोधन के नियम दिये गये हैं। कोई भी लिखित विधान संशोधन की व्यवस्था के अभाव मे पूर्ण नही है और वर्तमान समय मे संसार के देशो मे जो लिखित विधान प्रचलित हैं, उनमे केवल स्पेन तथा इटली के विधान ही ऐसे हैं जो इस सम्बन्ध मे मौन है। कुछ बातो मे विधान के संशोधक नियम सबसे अधिक महत्वपूर्ण हैं क्योकि लिखित विधान के राज्य की स्वाभाविक एव वास्तविक स्थितियो के साथ सामजस्य पर ही यह बात निर्भर है कि उसका विकास लगातार शान्तिपूर्वक होता रहेगा या उसे बारी-बारी से गतिहीनता, प्रतिगमन अथवा क्रान्ति का सामना करना पडेगा।[3] राष्ट्रपति विल्सन ने ठीक ही कहा था कि विधान को आवश्यक रूप से 'जीवन-रथ' होना चाहिये, 'उसका सारतत्व राष्ट्र के विचार एव अभ्यास हैं।' अतः राष्ट्रजीवन मे परिवर्तन के साथ उसकी (विधान की) भी वृद्धि एव विकास होना चाहिए। 'जीवित राजनीतिक विधान

---

१. देखिये, Cooley, Constitutional Limitations, Ch. 4; Lieber, Practical and Legal Hermeneutics, Ch. 3 देखिये।
२. वर्जीनिया के सन् १८३०, १८५१ तथा सन् १८६४ के विधान।
३. तुलना कीजिये, Burgess, Political Science and Constitutional Law, Vol I, p. 137.

अपनी रचना तथा अपने व्यवहार मे विकासवादी होना चाहिए।'[1] जॉन स्टुअर्ट मिल ने कहा है कोई भी विधान उस समय तक स्थायी होने की आशा नही कर सकता, जब तक वह प्रगति और व्यवस्था को गारण्टी नही देता।[2] समय के साथ मानव समाजो की अभिवृद्धि होती है और उनका विकास होता है और जब तक ऐसे वैधानिक परिवर्तनो की व्यवस्था नही होती, जो समाज के आन्तरिक विकास के लिए परम आवश्यक हैं, वे अवश्य गतिहीन अथवा प्रतिगामी हो जायेंगे।

असशोधनीय विधान

ऐसे कतिपय उदाहरण हैं जिनमे विधानो ने स्वय अपने कुछ नियमो के सशोधन का बिलकुल निषेध कर दिया है। सन् १८८४ मे फ्रेन्च विधान मे इस आशय का सशोधन किया गया कि नेशनल एसेम्बली गणतन्त्र शासन के अन्त की माँग करने वाले प्रस्ताव पर कदापि विचार नही करेगी। क्या एक नेशनल असेम्बली सदैव के लिए दूसरी असेम्बली पर इस प्रकार का बन्धन लगा सकती है यह बात सन्देहास्पद है। एसमोन का विचार है कि एसेम्बली ऐसा बन्धन लगा सकती है किन्तु ड्यूग्वी का विचार इसके विपरीत है और वह सही भी प्रतीत होता है। सयुक्त राज्य अमेरिका के विधान मे भी कुछ ऐसी धाराएँ हैं जिनमे सशोधन नही किया जा सकता, उदाहरणार्थ, सन् १८०८ से पूर्व अमेरिका के विधान की धारा १ (६) (दासो को देश मे लाने के निषेध के सम्बन्ध में) के प्रथम अथवा चतुर्थ उपखण्डो मे कोई सशोधन नही किया जायगा, और किसी भी राज्य को उसकी अनुमति के बिना सिनेट मे उसके समान मताधिकार से वचित नही किया जायगा। इन निर्देशो द्वारा जनता की अपने विधान म सशोधन करने की प्रभुत्व सत्ता पर प्रतिबन्ध लगाने का प्रयत्न किया गया है। इस प्रकार के नियम सार्वजनिक नीति की दृष्टि से आपत्तियुक्त हैं और उनका औचित्य भी सदेहपूर्ण है। य इस कल्पना पर आधारित हैं कि विधान के रचयिता सर्वथा निर्भ्रान्त थे और उन्हें यह कहने का अधिकार भी था कि उन्होने जो कुछ लिखा है, वही अन्तिम है और भावी सन्तति को उसे मानना चाहिए। मलफोर्ड ने लिखा है कि असशोधनीय विधान 'समय का सबसे महान अत्याचार' है। उसका कथन है कि असशोधनीय विधान स्वतन्त्र जनता को मृत पुरुषो के अधिकार मे सौंप देता है और जनता का काम केवल यह रह जाता है कि वह अपनी समाधियो के प्रस्तर-खण्डो से सिंहासन बनाय।[3] जेफरसन ने कहा है कि 'प्रत्यक पीढी को उस कानून क निर्माण का अधिकार है जिसके अन्तर्गत वह रहती है। यह भूतल पर जीवित मनुष्यो का भोगाधिकार है, उस पर मृतको की न कोई सत्ता है और न कोई अधिकार ही।'[4]

सशोधन का लचीलापन

विधान म सशोधन करने के नियम न तो इतने कठिन होने चाहिए कि उनके कारण आवश्यक सशोधन करना व्यावहारिक रूप मे असम्भव हो जाय और न इतने लचीले ही होने चाहिए कि बार बार तथा अनावश्यक सशोधन करने के लिए प्रोत्साहन मिले जिससे विधान की सत्ता ही कम हो जाय। न्यायाधीश जेम्सन ने कहा है कि सशोधन

१. Constitutional Government in the United States (1912), pp. 22, 57
२. Representative Government, p. 8.
३. The Nation, p. 155.
४. Quoted by Merriam, American Political Theories, p. 151.

का यन्त्र एक क्षेम-द्वार (Safety Valve) की भाँति होना चाहिए जो इस प्रकार बना हो जिससे न तो मशीन अपना काम अत्यधिक सुविधापूर्वक कर सके और न उसे चलाने के लिए इतनी शक्ति का संचय करना पड़े कि वह फूट ही जाय। उसकी व्यवस्था करते समय एक ओर तो विकास की आवश्यकताओं तथा दूसरी ओर स्थिति-पालकता (Conservatism) की आवश्यकताओं का ध्यान रखना चाहिए। 'विधान की शब्दावली की एक पवित्र लेख-पत्र की भाँति उस मिथ्या स्थितिपालिकता की भावना से पूजा नहीं करनी चाहिए जो अपने जीर्ण वस्त्रों में उस समय तक चिपटी रहती है, जब तक शरीर स्वयं शीत के कारण नष्ट न होने लग जाय और न उसे राजनेताओं के हाथों में खिलौना बन जाने देना चाहिए ताकि वे उसके साथ मनमाना खिलवाड़ करके उसे गिरा कर साधारण कानून की कोटि में रख दें।'[1]

संशोधन की कुछ वर्तमान विधियाँ

यहाँ विविध देशों मेंप्रचलित वैधानिक संशोधन की रीतियों पर विचार करना सम्भव नहीं है। निस्सन्देह ब्रिटेन का विधान सबसे लचीला है, वहाँ उसमें संशोधन साधारण कानून की भाँति ही किया जाता है। इटली के विधान में संशोधन की किसी भी व्यवस्था के न होने के कारण इटली की पार्लामेण्ट ने भी उसमें अपनी इच्छानुसार संशोधन करने का विशेषाधिकार ग्रहण कर लिया है। जहाँ तक संशोधन की विधि से सम्बन्ध है, फ्रान्स का विधान भी लचीला है। वहाँ पार्लामेण्ट के दोनों भवन पहले पेरिस में संशोधन के पक्ष में पृथक्-पृथक् प्रस्ताव स्वीकार कर लेते हैं और उसके बाद वारसाई में दोनों भवनों के सम्मिलित सम्मेलन में उसे स्वीकार कर लिया जाता है।

अधिकांश विधान इस अर्थ में कठोर हैं कि उनमें संशोधन साधारण कानूनों से भिन्न रीति से होता है, अर्थात् ऐसे विधान विधायक तथा व्यवस्थापिका सत्ताओं में भेद मानते हैं और प्रत्येक सत्ता का प्रयोग भिन्न संस्थाओं द्वारा भिन्न विधि से किया जाता है। विधि साधारणतया अधिक कठिन भी होती है।

इस प्रकार संयुक्त राज्य अमेरिका के विधान के अनुसार अमेरिकन कांग्रेस (व्यवस्थापक मण्डल) के किसी भी एक सभागृह (Chamber) में एक-तिहाई से एक अधिक सदस्यों के विरोध से संशोधन रोका जा सकता है और जब संशोधन का प्रस्ताव दोनों सभागृहों में किया गया हो, तब एक-चौथाई से एक अधिक राज्यों के विरोध के कारण संशोधन नहीं हो सकता। वास्तव में, विविध राज्यों में जनसंख्या की असमानता होने के कारण यह सम्भव है कि अमेरिका की जनसंख्या का चालीसवाँ भाग, जो कई राज्यों में बिखरा हुआ है, शेष उन्तालीस भागों की जनसंख्या द्वारा प्रस्तुत संशोधन को रोक दे।[2]

संशोधन की इस पेचीदा प्रक्रिया के कारण संशोधन की विधि को ऐसी लचीली और अधिक प्रजातन्त्रीय बनाने का सुझाव रखा गया है जिससे यह सम्भव हो सके कि कांग्रेस के दोनों सभागृहों में सामान्य बहुमत द्वारा संशोधन का प्रस्ताव प्रस्तुत किया जा सके और आधे से अधिक राज्यों में बहुमत द्वारा स्वीकार किया जा सके,

---

१. Constitutional Conventions, p. 549.
२. Kimball, National Government of The United States, p. 44; *Ogg and Ray, op. cit.*, p. 215.

यदि यह बहुमत सारे देश के समस्त मतो का बहुमत हो।[1] कुछ अमेरिकन राज्यों के विधानों की सशोधन-विधि तो और भी कठिन है और कई राज्यो में (उदाहरणार्थ, इलिनोय तथा इण्डियाना में) उनमें परिवर्तन करने के प्रयत्न प्राय. विफल रहे हैं।

विधान की पवित्रता के सम्बन्ध मे विरोधी दृष्टिकोण

इस विषय में राजनीतिक लेखको में मतभेद है कि विधान के प्रति जनता की मनोवृत्ति कैसी होनी चाहिए, क्या उसे पवित्र मानना चाहिए और उसे स्वाभाविक प्रक्रियाओ द्वारा विकसित होने के लिए छोड देना चाहिए अथवा उसे अन्य मानव संस्थाओं की भांति ही समझा जाय और नवीन तथा बदलती हुई परिस्थितियों के साथ उसका सामजस्य स्थापित करने के लिए समय-समय पर उसमें संशोधन किये जाँय। एडमड बर्क का सिद्धान्त एव विचार के पक्ष में था। उसने अपनी 'फ्रेन्च क्रान्ति पर विचार' नामक पुस्तक में माना है कि विधान एक 'विशिष्ट क्रमागत उत्तराधिकार' (Entailed Inheritance) है, एक धरोहर है, जिसका प्रबन्ध उन्हीं लोगो को करना चाहिए जो उसके उत्तराधिकारी हैं। अत: उसमें बलपूर्वक परिवर्तन करना, जैसा फ्रान्स में 'विनाश के निर्माताओं' ने अपने विधान के सम्बन्ध में किया था, मानो उसकी पवित्रता को भ्रष्ट करना है। मनुष्य तथा राष्ट्रो दोनो के लिए सुख-पथ व्यापक नूतनता की दशा में नहीं वरन् अतीत की पूजा तथा उसके साथ न्याय करने में है।[2] इस प्रकार विधान को पवित्र मानने वाले बहुत कम हैं, परन्तु आज भी संयुक्त राज्य अमेरिका में ऐसे लोग हैं जो विधान को अनादर की भावना से देखने की आधुनिक प्रवृत्ति की निन्दा करते हैं।[3] किन्तु काल-चक्र की गति के साथ अमेरिका की जनता, बल्कि साधारणतया समस्त ससार की प्रजातन्त्रीय जनता, जेफरसन के राजनीतिक विचारो को मानने लगी है। जेफरसन ने कहा था कि विधान को देव-मन्दिर की प्रतिमा की भाँति ऐसा पवित्र नहीं मानना चाहिए कि उसका स्पर्श ही न किया जा सके। प्राचीन विधानों मे परिवर्तन कर उन्हें नवीन अवस्थाओ के अनुकूल बनाने के लिए प्राय: किये जाने वाले प्रयत्नो मे यही सिद्ध होता है कि एडमड बर्क की अपेक्षा जेफरसन की विचारधारा की ही विजय हुई।[4]

---

१ ऐसा प्रस्ताव स्वर्गीय सीनेटर लाफॉलेट ने सन् १९१२ में प्रस्तुत किया था।

२. उसके विचारो के दिग्दर्शन के लिए MacCunn, The Political Philosophy of Edmund Burke (1913), Ch. 5, Vaughan, Studies in the History of Political Philosophy (1925), Vol II, Ch. 1 तथा Graham, English Political Philosophy (1911), Chs. 1-4 देखिये।

३. उदाहरणार्थ, देखिये, Butler, Why Should We Change Our Form of Government (1912), Ch. 1 तथा उसकी True and False Democracy (1907), Ch. 1. कुछ वर्ष पहले एलिङ्कट ने आशा प्रकट की थी कि अमेरिकन लोग संशोधन की आदत कभी नहीं डालेंगे।

४ अमेरिकन लोगों की मनोवृत्ति राज्यो के विधानों की अपेक्षा संघीय विधान के प्रति भिन्न है। ब्राइस ने सन् १९१० में कहा था कि अमेरिकन लोगों का अपने विधान के लिए इतना आदर बढ़ गया है कि उसमें मौलिक परिवर्तन के प्रयत्न सफल नहीं हो सकते। परन्तु उसके बाद जो संशोधन हुए हैं, उन्हें देखते हुए प्रकट होता है कि यह आदर-भावना क्षीण होती जा रही है।

मुख्य पाठ्य-ग्रन्थ

Amos,	"Science of Politics" (1883), Ch. 1.
Borgeaud,	"Adoption and Amendment of Constitution" (1895), Chs. 1, 6.
Boutmy,	"Studies in Constitutional Law" (English translation by Dicey, 1891), Parts I & III.
Brunet,	"The New German Constitution" (English translation by Gollomb, 1922), Ch. 1, Sec. 2.
Bryce,	"Constitutions," in his "Studies in History and "Jurisprudence" (1901), Vol. I, also his "American "Commonwealth" (1910), Vol I, Chs. 31-35, 37-38
Burgess,	"Political Science and Consitutional Law" (1865), Vol I, Pt. II, Bk. I, Ch. 1.
Cooley,	"Constitutional Limitations" (7th ed., 1903), Chs. 1, 4, also "Comparative Merits of Written and Unwritten Constitutions," *Harv. Law Rev.*, Vol. II.
Dodd,	"The Revision and Amendment of State Constitutions" (1919), Ch. 4; and "The Function of a State Constitution" *Pol. Sci. Quar.*, Vol. XXX (1955).
Finer,	"The Theory and Practice of Modern Government" (1931), Vol. I, Ch. 7.
Goodnow,	"Principles of Constitutional Government" (1916), Ch. 1.
Headlam-Morley,	"The New Democratic Constitutions of Europe" (1928).
Jameson,	"The Constitutional Convention" (1867), Chs. 3-5, 8.
Jellinek,	"Recht des Modernen Staates" (1905), Bk. II, Ch. 15
Lowell,	"The Government of England" (1908), Vol. I, Ch. 1.
Maine,	"Popular Government" (1886), Essay No. IV.
Oppenheimer,	"The Constitution of The German Republic" (1923). Chs. 1, 11.
Saleilles,	"The Development of the Present Constitution of France," *Ann. Amer. Acad. of Pol. and Soc. Sci.*, Vol. VI, (1895), pp. 1-78.
Stimson,	"The Law of the Federal and State Constitutions of the United States" (1908), Ch. 1.
Tiedman,	"The Unwritten Constitution" (1809), Ch. 12.
Wilson,	"Congressional Government in the United States" (1890), Ch. 1; also his "Constitutionl Government in the United States" (1908), Ch. 1.

निर्वाचक-मण्डल

(१) निर्वाचन-कार्य की प्रकृति

निर्वाचन की महत्ता

प्रतिनिधि शासन-प्रणाली के अन्तर्गत निर्वाचन-मण्डल की रचना तथा निर्वाचन-प्रक्रियाओं के संगठन का, जिनके द्वारा उसका कार्य होता है, अत्यन्त महत्त्व है क्योंकि यह उस प्रणाली का आधार एवं सार है। जैसा आगामी अध्याय में बतलाया जायगा निर्वाचक-मण्डल (Electorate) नागरिकों की केवल एक संस्था ही नहीं है, जो अधिकांश प्रजातन्त्रात्मक देशों में अन्तिम रूप से राज्य-शासन के रूप का निश्चय करती और राज्य-अधिकारियों का चुनाव करती है, प्रत्युत वह अधिकांश लेखकों के मत में, आधुनिक प्रजातन्त्रात्मक राज्यों में स्वयं शासन का एक अंग ही बन गया है।

निर्वाचक मण्डल अपने कार्य का मतदान की प्रक्रिया द्वारा सम्पादन करता है। जो यह कार्य करने हैं या उसे करने के योग्य होते हैं, वे निर्वाचक या मतदाता (Elector or Voter) कहलाते हैं, जिस माध्यम द्वारा इस अधिकार का प्रयोग किया जाता है, उसे मतपत्र (Ballot) कहते हैं (फ्रेन्च भाषा में इसे Bulletin कहते हैं) और जिस सम्मेलन में यह किया जाता है, उसे निर्वाचन कहते हैं।

मताधिकार की प्रकृति के सिद्धान्त

मताधिकार की प्रकृति के सम्बन्ध में दो सामान्य सिद्धान्त माने गये हैं। प्रथम, यह प्रत्येक नागरिक, कम से कम प्रत्येक वयस्क पुरुष नागरिक का जो अपने निम्न चरित्र अथवा अक्षमता के कारण अयोग्य न ठहरा दिया गया हो, प्राकृतिक एवं नैसर्गिक अधिकार माना गया है। यह अधिकार उसे राज्य की सदस्यता के नाते प्राप्त माना जाता है। द्वितीय, उसे एक प्रकार का सार्वजनिक कार्य माना गया है जो सामाजिक उपयोगिता की दृष्टि से नागरिक को सौंप दिया गया है और चूंकि अधिकांश में समाज का कल्याण इस कार्य के सुचारुरूप से सम्पादन पर ही निर्भर है, इसलिए यह अधिकार ऐसे लोगों को ही दिया जाता है जो सुयोग्य हों और जिनमें इस कार्य के सम्पादन की क्षमता हो।[1]

1. प्रोफेसर सेवाइ ने इनके अतिरिक्त सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है जो इस प्रकार है—प्रथम, 'आदिम जन-विषयक सिद्धान्त' (Primitive Tribal Theory) जो प्राचीन काल के नगर-राज्यों में प्रचलित था और जिसके अनुसार मताधिकार राज्य की सदस्यता का आवश्यक गुण माना जाता था; द्वितीय, 'सामन्ती सिद्धान्त(Feudal Theory) जिसके अनुसार मताधिकार एक विशेष सामाजिक

क्या मताधिकार प्राकृतिक अधिकार है ?

इस विचार का कि मताधिकार नागरिकों का प्राकृतिक अधिकार (Natural Right) है, राजनीतिक दर्शन पर, विशेषकर अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में संयुक्त राज्य अमेरिका तथा फ्रान्स मे, बड़ा प्रभाव रहा। इस विचार का मूल मध्य-युग के प्राकृतिक कानून के सिद्धान्त में और विशेषत: सोलहवी शताब्दी मे मॉनर्कोमिक लेखकों की (जिनमे मारसिल्यो, ओकम आदि प्रसिद्ध हैं) शिक्षाओं मे माना जा सकता है। सामाजिक समझौते के सिद्धान्त तथा लोक-प्रभुत्व के सिद्धान्त के विकास के साथ-साथ राज्य-शासन मे व्यक्ति के भाग लेने के अधिकार की कल्पना इस विचारधारा का एक तार्किक सिद्धान्त बन गयी। अमेरिका मे, इसे क्रान्तिकारी आन्दोलन के नेताओं मे समर्थक प्राप्त हुए जिनमे ओटिस और पेन प्रसिद्ध हैं और इस सिद्धान्त का निगमन मैसेचुसेट्स तथा न्यूहैम्पशायर जैसे कुछ राज्यों के प्रथम विधानो मे दी हुई नागरिक के नैसर्गिक अधिकारों तथा राज्य को एक समझौते द्वारा निर्मित संस्था समझने वाले विचार से सम्बन्धित अधिकार-घोषणाओं मे किया जा सकता है। फ्रान्स मे मॉण्टेस्क्यू ने इस विचार का समर्थन किया और कहा कि 'समस्त निवासियों को प्रतिनिधियों के निर्वाचन मे मतदान का अधिकार होना चाहिए। हाँ, ऐसे लोगों को इस अधिकार से वंचित किया जा सकता है जो इतनी दुरवस्था मे हों कि उनकी कोई अपनी इच्छा ही न हो।'[1]

रूसो के इस सिद्धान्त से कि प्रभुत्व जनता मे निहित है और फलत: प्रत्येक नागरिक का यह जन्मसिद्ध अधिकार है कि वह उस प्रभुत्व के उपयोग मे भाग ले, मतदान के नैसर्गिक अधिकार का एक तार्किक आवश्यकता के रूप मे उद्गम हुआ।[2] इस सिद्धान्त की व्याख्या फ्रान्स के अनेक क्रान्तिकारी नेताओं ने की जिनमे रोबसपियर, पेशियों और कोन्दोरसे मुख्य हैं। रोबसपियर ने कहा है कि प्रभुत्व समस्त

स्थिति का द्योतक था। यह एक विशेषाधिकार माना जाता था, जिसका भूमि के स्वाम्य से सम्बन्ध था, तृतीय, 'नैतिक सिद्धान्त' (Ethical Theory)। इस सिद्धान्त के समर्थक बड़ी संख्या मे हैं। इसके अनुसार मताधिकार व्यक्ति के चरित्र के विकास का अत्यन्त आवश्यक साधन माना जाता है। The Theory of the Nature of the Suffrage, Proc. Amer. Pol. Sci. Assoc. Supp to Amer. Pol. Sci. Rev., Vol. VII (1913), p. 108.

इस तृतीय सिद्धान्त का उस सिद्धान्त से कोई अनिवार्य विरोध नही है जो उसे *एक स्वाभाविक अधिकार या कार्य मानता है। इस प्रकार दिये जाने पर* वह व्यक्ति के चरित्र के विकास का साधन हो सकता है।

प्रो० शेपर्ड का विचार है कि इस नैतिक सिद्धान्त के कारण ही संयुक्त राज्य अमेरिका मे नीग्रो जाति को मताधिकार मिलने मे सहायता मिली और ऐसा करने मे संयुक्त राज्य ने राजनीतिक आदर्शवाद को, पहले से बहुत ऊँचा उठा दिया।

[1] Esprit des Lois, Bk. XI, Ch. 6.

[2] Contrait Social, Bk IV, Ch 1 and Bk. III, Ch. 1. तुलना कीजिये, Duguit, Droit, Const. II, p. 442. उसने कहा है कि रूसो के सिद्धान्त से केवल सार्वलौकिक मताधिकार ही नही, मताधिकार की समानता भी प्राप्त होती है।

प्रजाजन मे निहित है और प्रत्येक नागरिक को प्रतिनिधित्व मे तथा उस कानून की रचना मे, जिसके पालन करने के लिए वह बाध्य है, भाग मिलना चाहिए।

फ्रेंच क्रान्तिवादी विधानों के सिद्धान्त

फ्रान्स की राष्ट्रीय परिषद् (National Asembly) ने सन् १७८९ मे रूसो के लोक-प्रभुत्व के सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए भी, उसकी अपेक्षा अधिक तार्किक होने के कारण, लोक-प्रभुत्व के सिद्धान्त का अभिप्राय यह नही समझा कि प्रभुत्व के उपभोग मे समस्त नागरिकों को सक्रिय भाग (Active participation) लेना आवश्यक है और उसने जो विधान बनाया तथा, जो सन् १७९१ मे जारी किया गया, उसमे सक्रिय नागरिको (Active Citizens) तथा निष्क्रिय नागरिकों (Passive Citizens) मे भेद माना गया और निष्क्रिय नागरिको को प्रतिनिधियों के निर्वाचन मे भाग लेने का अधिकार नहीं दिया गया। प्रत्येक फ्रेन्च पुरुष निष्क्रिय नागरिक था, यह एक अधिकार था, जो कुछ शर्ते पूरी करते थे, वे सक्रिय नागरिक, निर्वाचक थे; यह एक कार्य (Office) था। ड्यूग्वी ने कहा है कि जो विचार उस समय एसेम्बली मे प्रभावशाली था, वह यह था कि मतदान एक अधिकार नहीं प्रत्युत एक पद या कार्य है। समाज मे रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति का एक व्यक्तिगत अधिकार स्वीकृत था जो समस्त कानूनो से सर्वोच्च था और जो व्यवस्थापिका के लिए भी मान्य था; वह नागरिक का अधिकार था। परन्तु वह मतदान का अधिकार नही था; वह तो राष्ट्र का केवल एक विधायक अंग माने जाने का अधिकार था, राष्ट्र ही लोक-सत्ता का एकमात्र अधिकारी था, व्यवस्थापिका से यह अधिकार प्राप्त करने पर ही नागरिक मत दे सकता था।[1] इस प्रकार नागरिकों में जो भेद-भाव माना गया जिसके द्वारा कुछ नागरिक उस अधिकार से वंचित कर दिये गये जो सबका नैसर्गिक अधिकार था, उसका उग्र क्रान्तिकारियों ने तीव्र विरोध किया और सन् १७९२ के कन्वेंशन (Convention) मे उग्र क्रान्तिकारियो ने, जिनका उसमे प्राधान्य था, मताधिकार को नागरिकों का नैसर्गिक अधिकार मान कर काम किया।

अधिकारो की घोषणा की धारा २७ को सन् १७९२ की फ्रेन्च कन्वेंशन ने स्वीकार किया और इस सिद्धान्त की पुन: पुष्टि की कि प्रभुत्व समस्त जनता मे निहित है और उसके प्रयोग मे प्रत्येक नागरिक को समान अधिकार है। यह सिद्धान्त सन् १७९३ के विधान मे (जो जनमत-संग्रह द्वारा स्वीकृत हो चुका था परन्तु व्यवहार मे नही आया) स्पष्टरूप से शामिल किया गया, उसने २१ वर्षीय प्रत्येक पुरुष को, जिसका जन्म फ्रान्स मे हुआ हो, फ्रान्स का नागरिक तथा मतदाता स्वीकार किया। इस सिद्धान्त के अनुसार तो यह अधिकार स्त्रियो को भी मिलना चाहिए था और कोन्दोरसे ने विशेषरूप से महिलाओं के मताधिकार के लिए प्रयत्न भी किया।

---

१. ड्यूग्वी का कथन है कि नागरिको का सक्रिय एवं निष्क्रिय वर्गों मे विभाजन मताधिकार के नैसर्गिक अधिकार के प्रतिकूल नहीं था। उसके मत से एसेम्बली का विचार यह था, 'सामान्य इच्छा व्यक्तिभूत राष्ट्र की सामूहिक इच्छा है। इस इच्छा के निर्माण मे सभी नागरिक भाग लेते हैं, परन्तु इस इच्छा की अभिव्यक्ति केवल वही नागरिक करते है जो निर्वाचक या एजेण्ट हैं, अर्थात् वे लोग जिन्हें कानून द्वारा सबकी इच्छा को अभिव्यक्त करने का अधिकार प्राप्त हो (वहीं, पृष्ठ ४४५)।

फ्रान्सवासियों द्वारा प्राकृतिक अधिकार सिद्धान्त की अस्वीकृति

प्रत्येक नागरिक के बिना किसी भेद-भाव के मताधिकार के प्राकृतिक एवं नैसर्गिक अधिकार के सिद्धान्त को इसके बाद किसी भी फ्रेन्च विधान में स्थान नहीं मिला। सन् १७६५ के विधान में सन् १७६१ का सिद्धान्त ही रखा गया। प्रत्येक फ्रेन्च पुरुष को फ्रान्स का नागरिक घोषित किया गया, परन्तु मतदान को एक कार्य माना गया और वह कार्य ऐसे लोगों को ही सौंपा गया जो कुछ आवश्यक शर्तें पूरी करते थे जिनमें से एक शर्त कर देने की भी थी। किन्तु टॉमस पेन और दूसरे क्रान्तिकारी नेताओं ने बड़े आग्रह के साथ इस सिद्धान्त का समर्थन किया कि मतदान प्रत्येक नागरिक का प्राकृतिक अधिकार है।

सन् १८४८ में, जब प्रथम बार प्रौढ मताधिकार का वास्तव में प्रयोग किया गया, उसके पक्ष में ठीक वैसे ही तर्क दिये गये जैसे सन् १७८९-१७९१ में दिये गये थे, परन्तु विधान में इस सिद्धान्त की घोषणा नहीं की गई कि मतदान समस्त नागरिकों का प्राकृतिक अधिकार है। इसके विपरीत, उसकी २८वीं धारा, जिसके अनुसार यह निश्चय किया गया कि व्यवस्थापिका-सभा द्वारा जो निर्वाचन कानून स्वीकार *किया जाय, वह उन बातों को निर्धारित करे जिनके कारण फ्रेन्च लोग* मतदान से वंचित किये जा सकते हैं, फ्रेन्च नागरिकों के मताधिकार के स्वाभाविक तथा नैसर्गिक अधिकार के प्रतिकूल थी।[1]

मताधिकार एक कार्य या पद के रूप में

मताधिकार के सम्बन्ध में जो विचार आजकल प्राय: समस्त राजनीतिक लेखक मानते हैं, वह यह है कि मतदान एक पद (Office) या कार्य है जो राज्य द्वारा ऐसे व्यक्तियों को प्रदान किया गया है जो सार्वजनिक हित या कल्याण के लिए उसका प्रयोग करने के योग्य समझे जाते हैं, न कि एक प्राकृतिक अधिकार जो बिना किसी भेदभाव के समस्त नागरिकों को प्राप्त है।[2] मताधिकार एक विशेषाधिकार

---

१. प्रो० ड्युग्वी (वही, पृष्ठ ४७७ का निष्कर्ष है कि मतदाता एक ही साथ एक अधिकार और एक पद (अथवा कार्य) दोनों का अधिकारी है और मतदान एक साथ ही एक अधिकार तथा एक पद (अथवा कार्य) दोनों ही हैं। अधिकार नागरिक समझे जाने का अधिकार है जिसके साथ-साथ मत देने की 'सत्ता' भी है, परन्तु उसी दशा में जब उसे मतदान के लिए आवश्यक कानून द्वारा निर्धारित अन्य योग्यताएं भी प्राप्त हों। कार्य शब्द से उस सार्वजनिक कार्य को करने की क्षमता उपलक्षित है जिसके अनुसार उसे मत देना पड़ता है और जो नागरिक के गुण से युक्त व्यक्ति को प्रदान की जाती है। यही मत मालबर्ग तथा एस्मीन का भी है।

२. तुलना कीजिये, Story, Commentaries, Vol. I, Sec. 580) तथा Esmein Droit Const., p. 306. एस्मीन का कथन है कि मतदान एक 'सामाजिक कार्य' है जिसको करते समय यह समझा जाता है कि मतदाता को सामान्य हित में उसका *प्रयोग करने की क्षमता है।* देखिए, Ritchie, Natural Rights, p. 255 तथा Jameson, Constitutional Conventions, Sec 337. जेम्सन का कथन है कि 'मतदान अधिकार बिल्कुल नहीं है; वह तो एक कर्तव्य है, एक निक्षेप है, जो कुछ नागरिकों को सौंपा जाता है, सबको नहीं।'

(Privilege) है। यह एक नैतिक कर्तव्य है या नहीं अथवा यह एक कानूनी दायित्व है या नहीं, इस सम्बन्ध में मतभेद है।

व्यवहार में, प्रत्यन्त प्रजातन्त्रात्मक देशों में भी सभी निर्वाचन-पद्धतियाँ इसी सिद्धान्त के आधार पर कायम हैं। किन्तु जनता का, जो इस प्रकार का सूक्ष्म भेद-भाव नहीं करती, अभी यही विचार है कि प्रत्येक मनुष्य को मतदान का स्वभाविक अधिकार है जिससे वह तथाकथित अयोग्यता के आधार पर वंचित नहीं की जा सकती।[१] महिलाओं के लिए मताधिकार की माँग प्राधिक रूप से इसी आधार पर पेश की गयी थी।

क्या मतदान एक कर्तव्य है?

यदि निर्वाचन-कार्य एक पद या निक्षेप (Trust) है जो सार्वजनिक कल्याण के लिए व्यक्ति को सौंपा गया है तो तार्किक दृष्टि से वह एक कर्तव्य भी मालूम होता है जिसका उसे पालन करना चाहिए। क्या कानून द्वारा उसे मतदान के लिए बाध्य किया जाना चाहिए, अर्थात् क्या जो सामान्यतया एक नैतिक या नागरिक कर्तव्य माना गया है, उसे कानूनी दायित्व का रूप दे देना चाहिए जिसको पूरा न करने पर व्यक्ति को उसी प्रकार दण्ड मिलना चाहिए जैसे जूरी की सेवा न करने पर या किसी पद पर नियुक्त या निर्वाचित होने के बाद उसके कर्तव्य का पालन न करने पर मिलता है। ऐसे लेखकों एवं राजनीतिज्ञों की कमी नहीं है जो मतदान को कानूनी दायित्व मानते हैं। जिन देशों में प्रतिनिध्यात्मक प्रजातन्त्र-प्रणाली स्थापित है, वहीं यह बात विशेषकर महत्वपूर्ण बतलाई जाती है कि उन सब व्यक्तियों को जिन्हें यह अधिकार सौंपा गया मताधिकार का प्रयोग करना चाहिए और सार्वजनिक कर्मचारियों के निर्वाचन में तथा जो सार्वजनिक प्रश्न जनता के निर्णय के लिए सौंपे जाँय, उन पर उन्हें अपना मत देना चाहिए, अन्यथा निर्वाचन का परिणाम निर्वाचक-मण्डल की वास्तविक इच्छा को प्रकट नहीं करेगा।

अनिवार्य मतदान (Compulsory Voting)

किन्तु व्यवहार में किसी राज्य ने अनिवार्य मतदान को बहुत कम अपनाया है। इस समय यह बेल्जियम, स्पानिया, अर्जेण्टाइना, नीदरलैंड, चेकोस्लोवाकिया तथा कुछ स्विस प्रान्तों में प्रचलित मालूम होता है। सन् १८९३ में अनिवार्य मतदान को बेलजियम के विधान (धारा ४८) में स्थान दिया गया था, क्योंकि निर्वाचनों में एक बड़ी संख्या में मतदाताओं ने मतदान में भाग नहीं लिया था (सन् १८८४ के चुनाव में ३० प्रतिशत तथा सन् १८९२ के महत्वपूर्ण चुनाव में केवल १६ प्रतिशत मतदाताओं ने मत दिये थे)। इसका कारण यह था कि मतदाताओं को मत देने के लिये अपने जिले के मुख्य नगर को जाना पड़ता था।[२] मतदान न करने के लिए दण्ड भी साधारण था। प्रथम अपराध के लिए केवल निर्भत्सना या १ से ३ फ्रांक तक अर्थ-दण्ड दिया जाता था और चतुर्थ अपराध के लिए मतदाता मताधिकार से वंचित कर दिये जाते थे तथा किसी भी पद को ग्रहण करने के लिए अयोग्य ठहरा दिये जाते थे। इस प्रकार की दण्ड-व्यवस्था का परिणाम अच्छा रहा, अनुपस्थित मतदाता केवल ६ प्रतिशत रह गये। सन् १९२१ में भी अनिवार्य मतदान की व्यवस्था कायम रखी गई,

---

१ तुलना कीजिये, Bryce, Hindrances to Good Citizenship, p. 55.
२ Reed, Government and Politics of Belgium, p. 56.

जबकि अनेक मतदान (Plural Voting) की प्रथा बन्द कर दी गयी। इस व्यवस्था को उठा देने के लिए जनता की ओर से कोई माँग नहीं है।

स्पेन मे अनिवार्य मतदान की सन् १६०७ मे कानून द्वारा व्यवस्था की गयी। इस नियम के अनुसार २५ वर्षीय समस्त पुरुषो के लिए, जो जिले मे मौजूद हो तथा रोगी न हो, मतदान अनिवार्य ठहराया गया। न्यायाधीशो, लेख-पत्रो को प्रमाणित करने वाले कानूनी कर्मचारियो, पादरियो तथा ७० वर्ष से अधिक आयु के पुरुषो के लिए यह नियम लागू नही था। जो व्यक्ति इस कानून के उल्लघन के दोषी होते थे, उन्हे निम्न प्रकार दण्डित किया जाता था—(१) ऐसे व्यक्ति का नाम निन्दा की दृष्टि से प्रकाशित कर दिया जाता था, (२) उसके करो मे दो प्रतिशत की वृद्धि कर दी जाती थी, (३) यदि वह सरकारी पद पर होता तो उसके वेतन मे एक प्रतिशत की कमी कर दी जाती थी ; (४) यदि इस प्रकार का अपराध कई बार किया जाता था तो दोषी को भविष्य मे सार्वजनिक पद को ग्रहण करने के अधिकार से वंचित कर दिया जाता था। परन्तु इस कानून का व्यवहार मे पालन नही हुआ क्योकि अनेक जिलो मे ८० प्रतिशत मतदाताओ ने अपने मत नही दिये।

अर्जेण्टाइना मे सन् १६१२ मे अनिवार्य मतदान की व्यवस्था की गयी और कहा जाता है कि वहाँ इसे सफलता प्राप्त हुई। सन् १६१७ मे नीदरलैण्ड मे भी विधान मे सशोधन करके अनिवार्य मतदान की व्यवस्था उसी कारण से की गयी जिससे सन् १८६३ मे बेल्जियम मे की गयी थी। नीदरलैण्ड मे मतदान न करने पर प्रथम अपराध के लिए ३ फ्लोरिन और इसके बाद प्रत्येक अपराध के लिए १० फ्लोरिन अर्थदण्ड दिया जाता है। किन्तु इस कानून का व्यापक विरोध होने के कारण इसको व्यवहार मे लाना कठिन हो रहा है। ऐसा कहा जाता है कि एमस्टरडम तथा हेग मे, विशेषतः हाल के एक चुनाव मे, बडी सख्या मे मतदाताओ ने बडे-बडे गुट्ट बना लिये और अयोग्य उम्मीदवारो को मत देकर इस प्रणाली को उपहासपूर्ण बना दिया।[1] सन् १६२५ मे एक सशोधन द्वारा विधान मे से अनिवार्य मतदान की धारा निकल दी गयी और अब एक साधारण कानून द्वारा उसका नियमन होता है, परन्तु उसे रद्द कर देने के लिए भी बडी माँग है। २८ फरवरी सन् १६२० को निर्वाचन-कानून द्वारा चेकोस्लोवाकिया मे भी अनिवार्य मतदान की व्यवस्था की गयी। यह नियम ७० वर्ष से अधिक आयु के पुरुषो तथा रोगियो पर लागू नही है। इसमे जो दण्ड की व्यवस्था की गयी है, वह कठोर है ; मतदान न करने के लिए अधिक से अधिक ५००० क्राउन तक अर्थदण्ड अथवा २४ घण्टे से लेकर एक साल तक कारावास का दण्ड दिया जाता है। रूमानिया के सन् १६२३ के विधान मे भी (धारा ६४, ६८) दोनो सभा-गृहो के निर्वाचन के लिए अनिवार्य मतदान की व्यवस्था की गयी है। प्रथम विश्व युद्ध से पूर्व कुछ जर्मन राज्यो मे भी अनिवार्य मतदान की व्यवस्था थी।

फ्रान्स मे, जहाँ सन् १८७५ से सीनेट के निर्वाचको के लिए अनिवार्य मतदान का नियम है, सब प्रकार के निर्वाचनो के लिए अनिवार्य मतदान की व्यवस्था के लिए भी आन्दोलन जारी है। सन् १६२१ मे प्रोफेसर जोजेफ बार्थेलेमी ने चेम्बर ऑफ

---

१. इसी चुनाव मे एमस्टरडम मे १४,०६० मतदाओ ने नगर-सभा (City Council) मे एक बदनाम आवारा आदमी को चुनकर भेजा था (Current History, June, 125)।

डिपुटीज मे एक बिल इसी आशय का प्रस्तुत किया था और जिस कमीशन को वह सौंपा गया, उसने उसके पक्ष में ही रिपोर्ट भी दी, परन्तु उस पर चेम्बर मे विचार करने का अवसर ही नहीं आया। मेसेचुसेट्स राज्य के विधान में भी हाल ही में संशोधन करने के समय अनिवार्य मतदान के सम्बन्ध म विचार किया गया और इंगलैण्ड मे भी इस विचार के पक्ष मे कुछ प्रवृत्ति है, जहाँ सन् १६२२ के पार्लामेण्टरी निर्वाचन मे १४,०००,००० में से ४,६५७,००० मतदाताओं ने मत नही दिये।

अनिवार्य मतदान का सिद्धान्त के विरुद्ध आपत्ति

अनिवार्य मतदान के सिद्धान्त की समस्त राजनीतिक लेखकों ने इस आधार पर निन्दा की है कि न तो राज्य विज्ञान के आधार पर और न सार्वजनिक नीति के आधार पर ही इसका समर्थन किया जा सकता है। यह सिद्धान्त मतदान को एक नैतिक कर्तव्य या दायित्व के स्थान पर एक सार्वजनिक कानूनी कर्तव्य मानता है। जो नागरिक अपने नागरिक दायित्वों तथा समाज के एक सदस्य के रूप मे अपने सार्वजनिक कर्तव्यों की अवहेलना करता है उसका ऐसा करना चाहे कितना भी निन्दनीय क्यों न हो, इस प्रकार कर्तव्य की अवहेलना के लिए उसे कानूनी दण्ड देना राज्य का काम नही है।[1] वयस्क मताधिकार का मूल्य इसी मे है कि वह विशेषाधिकार के साथ-साथ नैतिक कर्तव्य भी माना जाय। यदि मताधिकार के प्रयोग को कानून द्वारा आवश्यक माना जाय तो इस विशेषाधिकार का प्रयोग सार्वजनिक कल्याण का ध्यान न रखते हुए केवल नाममात्र के लिए ही किया जायगा, ठीक उसी प्रकार जैसे पेरिस के सेन्सक्यूलोट्स (Sans-Cullotes) करते थे जिन्हे फ्रेन्च क्रान्ति के समय निर्वाचनों में भाग लेने के लिये द्रव्य मिला करता था। इससे इस विशेषाधिकार का महत्व बहुत कम हो जायगा। इसके अतिरिक्त अनिवार्य मत बड़ी सरलता के साथ खरीदा भी जा सकेगा और इसमें यह भी खतरा है कि उसका मूल्य बाजार की दर पर लगाया जायगा।

---

१. तुलना कीजिये, Lieber, Political Ethics, Vol. II, p, 230.

२ तुलना कीजिये, Bradford, Lessons of Popular Government, Vol. II, p. 187.

प्रोफेसर बार्थेलेमी ने बेल्जियम में अनिवार्य मतदान का विशेषरूप से अध्ययन किया है। उनका यह कथन है कि बेल्जियम में भावना एक स्वर से इस मत के पक्ष में है कि यह प्रणाली राजनीतिक शिक्षण के लिए प्रभावकारी साधन के रूप म सिद्ध हुई है।

रॉगमन का निष्कर्ष है कि मतदाताओं को मत देने के लिए बाध्य करने में यह नही देखना चाहिए कि यह सिद्धान्त की दृष्टि से ठीक है या नहीं, वरन् यह देखना चाहिए कि इसके व्यावहारिक लाभ हानि से अधिक हैं या नहीं। यदि मत न देने के लिए जो दण्ड दिया जाता है, वह लोगों को क्रुद्ध नहीं करता और उसके कारण लोग अनिवार्य मतदान को छोटा-मोटा अत्याचार नहीं समझते, यदि लोग उस नियम के पालन में साधारणतया तत्पर हों और उसके परिणाम उतने ही हितप्रद हों जितने बेल्जियम मे बताये जाते हैं तो इस प्रणाली को अपनाना चाहिए, कम से कम इंगलैण्ड मे तो अपनाना ही चाहिए, जहाँ बहुत से लोग मत नहीं देते।

अनेक (Plural) तथा गुरुतापूर्ण (Weighted) मत-दान

आधुनिक प्रजातान्त्रिक सिद्धान्त यह है कि यदि प्रत्येक प्रौढ़ा स्त्री को नही, तो कम से कम प्रत्येक प्रौढ़ पुरुष को जो अपने चरित्र या अक्षमता के कारण अयोग्य नही है, एक मत देने का अधिकार होना चाहिए। क्या यह भी आवश्यक है कि परिणाम का निश्चय करते समय यह मत प्रत्येक अन्य मत के बराबर माना जाय, अर्थात् किसी भी मतदाता को एक से अधिक मत देने का अधिकार न हो ? आधुनिक सिद्धान्त एवं व्यवहार तो एक व्यक्ति और एक मत के पक्ष मे है। परन्तु अनेक मतदान (Plural or Weighted Voting) की, जिसे विशेषक मतदान (Differential Voting) भी कहते हैं, प्रणालियाँ भी प्रचलित हैं। सन् १८९३ मे बेल्जियम के विधान मे संशोधन करके इस अनेक-मत की प्रणाली का प्रचार किया गया था। प्रत्येक पुरुष नागरिक को, जिसकी आयु २५ वर्ष थी और जो निर्वाचन-क्षेत्र मे एक वर्ष से अधिक समय से रहता था, एक मत देने का अधिकार दिया गया। प्रत्येक पुरुष को, जिसकी आयु ३५ वर्ष की थी, जिसके औरस सन्तान थी तथा जो राज्य को ५ फ्रांक का कर देता था, एक अतिरिक्त मत देने का भी अधिकार था। इसी प्रकार ऐसी भूमि के प्रत्येक स्वामी को जिसका मूल्य २,००० फ्रांक था और जिसकी आयु २५ वर्ष थी, एक नागरिक मत देने का अधिकार था। दो अतिरिक्त मत देने का उस नागरिक को भी अधिकार था जिसकी आयु २५ वर्ष थी, जिसके पास उच्च शिक्षा की किसी संस्था का प्रमाण-पत्र अथवा माध्यमिक शिक्षा की समाप्ति का प्रमाण-पत्र था, या जो किसी सरकारी पद पर कार्य कर चुका हो या करता हो या जो कोई ऐसा व्यवसाय कर चुका हो या करता हो जिसके लिए माध्यमिक शिक्षा (Secondary Education) आवश्यक हो। किन्तु किसी भी नागरिक को कुल मिलाकर ३ से अधिक मत देने का अधिकार नही था (विधान, धारा ४७)।

व्यवहार मे इस प्रणाली ने विशेषरूप से किसानों, पादरियों, सरकारी अफसरों, वकीलों, डॉक्टरों तथा अन्य व्यवसाय करने वालों को लाभ पहुँचाया और इस प्रकार कैथोलिक पार्टी के नियन्त्रण को मजबूत बना दिया तथा समाजवादी दल की शक्ति कम कर दी, क्योंकि उसके सदस्यों को केवल एक मत देने का अधिकार था।[1] प्रथम विश्वयुद्ध से कुछ पूर्व से ही बेल्जियम में इस अप्रजातान्त्रिक एवं अन्यायपूर्ण मतदान-प्रणाली के विरुद्ध एक व्यापक आन्दोलन प्रारम्भ हो गया क्योंकि इस प्रणाली ने अल्पसंख्यक लोगों को बहुमत दे दिया। समाजवादी दल ने स्थान-स्थान पर इसके विरुद्ध प्रदर्शन किये, राष्ट्रव्यापी हड़तालों का आयोजन किया और 'एक व्यक्ति, एक मत' का नारा प्रत्येक चुनाव का एक विशिष्ट लक्षण बन गया। अन्त मे, जब सन् १९२१ मे विधान का संशोधन किया गया तो जितने प्रजातन्त्रीय सुधार हुए, उनमें से एक इस अनेक-मतदान की प्रणाली को रद्द कर देना भी था।

अनेक-मतदान-प्रणाली के गुण

बेल्जियम की प्रणाली में सार्वलौकिक मताधिकार के साथ-साथ मतदान की उस प्रणाली के, जिसे सिजविक ने 'गुरुतापूर्ण मतदान' (Weighted Voting) कहा है, लाभों को भी प्राप्त करने का प्रयत्न किया गया था। इसका उद्देश्य अल्पसंख्यक

---

१. परन्तु श्रमजीवी वर्ग के अधिकांश पुरुषों को दो मत और कई लोगों को जो परिवारों के प्रमुख थे, तीन मत देने का अधिकार था।

एव शिक्षित जनता पर अज्ञान एव अशिक्षित विशाल जनता के प्राधान्य को रोक कर सार्वलौकिक मतदान की प्रणाली के स्वाभाविक दोषो को कम करना था। यह प्रणाली इस मान्यता के आधार पर स्थिर है कि राज्य मे कुछ विशिष्ट व्यक्ति ऐसे होते है, जिनके मत को सार्वजनिक अधिकारियो के चुनाव म अन्य लोगो के मत से अधिक गुरुता होनी चाहिए और यद्यपि प्रत्येक को एक मत देने का अधिकार होना चाहिए तथापि कुछ व्यक्तियो को एक से अधिक मत देने का अधिकार होना चाहिए। संक्षेप मे, इस प्रणाली द्वारा यह स्वीकार किया गया कि राज्य मे कुछ व्यक्ति अधिक श्रेष्ठ एव सुयोग्य होते है और इसलिये जनता की सामान्य आकाक्षा का निर्धारण करने मे उनके मत का अधिक मूल्य होना चाहिए। यह हेन के इस सिद्धान्त का प्रयोग था कि आवाजो की 'गिनती' नही होनी चाहिए, उनका 'वजन' किया जाना चाहिए। बेल्जियम की प्रणाली ने शासन मे एक व्यक्ति की आवाज के महत्व को स्थिर करने में सम्पत्ति, शिक्षा, पारिवारिक सम्बन्ध, पेशा, व्यवसाय आदि तत्वो का विचार रखा था।[1]

अनेक-मतदान के विरुद्ध आपत्तियाँ

इस प्रणाली के विरुद्ध सबसे बडी आपत्ति यह है कि हमारे पास ऐसी कोई कसौटी नही है जिससे विभिन्न मतो के मूल्य की जाँच की जा सके। भूमि के स्वामियो, शिक्षित पुरुषो, परिवारो के प्रमुखो और व्यवसायी व्यक्तियो के मतो के मूल्य-निर्धारण की कोई भी योजना ऐच्छिक ही होगी। प्राय. सम्पत्ति का स्वाम्य योग्यता अथवा मितव्ययिता की अपेक्षा सयोगवश ही प्राप्त होता है और यदि यह भी मान लिया जाय कि सम्पत्ति पर अधिकार योग्यता तथा मितव्ययिता से ही प्राप्त होता है, तो भी आजकल लोकमत सम्पत्ति के आधार पर राजनीतिक अधिकारो का निर्णय करने के इतना विरुद्ध है कि प्रजातन्त्र मे इस योजना का समर्थन कठिन हो जायगा। यह भी कहा जाता है कि राज्य मे सम्पत्तिहीन व्यक्तियो की अपेक्षा धनिक-वर्ग के हित अधिक हैं जिनकी रक्षा आवश्यक है, अत. उसे शासन-प्रबन्ध करने वाले प्रतिनिधियो के चुनाव मे आनुपातिक दृष्टि से अधिक भाग मिलना चाहिए।[2] परन्तु इसके उत्तर मे यह कहा जा सकता है कि धनिक-वर्ग मे स्वावलम्बन की क्षमता अधिक होती है; अत. निर्धनो की अपेक्षा धनिको को राज्य की रक्षा की उतनी अधिक आवश्यकता नहीं होती। अनेक-मतदान की प्रणाली से वर्ग-शासन, बल्कि धनिको के शासन की स्थापना की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है जो शासन के समस्त रूपो मे सबसे अधिक बुरा है।

कुछ विद्वानो ने व्यवसाय या कारोबार की प्रकृति के आधार पर व्यक्ति के मत

---

१. Esmien (Droit Constitutional, p 240.) ने अनेक-मत प्रणाली की उसे तार्किक असगति कह कर आलोचना की है। उनका कथन है कि यदि यह प्रणाली कुछ लोगो की अयोग्यता व दोषो के निराकरण के लिए रखी जाती है, तो क्या यह बात तर्कसगत नही होगी कि उन अयोग्य लोगो को मताधिकार से बिलकुल ही वचित रखा जाय। उन्हे मताधिकार देकर कानून यदि उनकी योग्यता को स्वीकार करता है, तो फिर दूसरो को उनसे अधिक सत्ता क्यो दी जानी चाहिए? मीटरलिक (Maeterlinck) का मत है कि यह प्रणाली सार्वलौकिक मताधिकार से असगत है और इससे उसका तार्किक विनाश होता है।

२. तुलना कीजिये, Sidgwick, Elements of Politics, p. 390.

का वजन निश्चय करने को एक काफी उचित कसौटी माना है। यह कहा जाता है कि एक उद्योगपति के अपने कर्मचारी की अपेक्षा ; एक बैंकर, एक व्यापारी या उद्योग-निर्माता के एक साधारण कारीगर की अपेक्षा तथा ऐसे धन्धे करने वाले व्यक्ति के, जिनमें विद्वत्ता की आवश्यकता होती है, उन व्यवसायों को करने वाले व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक योग्य होने की सम्भावना है जिनमें किसी विशेष दक्षता की आवश्यकता नहीं होती।

जॉन स्टुअर्ट मिल के विचार

जॉन स्टुअर्ट मिल ने, जो अनेक मतदान का समर्थक था, कहा है कि एक व्यक्ति को जो 'इन उच्च कार्यों में से कोई भी कार्य करता हो' दो या अधिक मत देने का अधिकार दिया जा सकता है। उसने कहा कि एक शिक्षित व्यक्ति को अधिक मत देने का अधिकार देने से अशिक्षितों के मतों के वजन के साथ उसका ठीक प्रकार समतोलन हो सकेगा। इससे 'पूर्ण सार्वलौकिक मताधिकार' के 'जो बराबर से अधिक दोष' उत्पन्न होते हैं, उनका परिहार हो सकेगा। उसने यह भी कहा कि जिस प्रणाली के अन्तर्गत व्यापक मताधिकार प्रतिष्ठित है, उसमें यह उचित होगा कि 'विश्वविद्यालयों के समस्त स्नातकों, विशेष योग्यता के साथ उच्च शिक्षालयों की परीक्षा में उत्तीर्ण समस्त छात्रों, उदार व्यवसायों (Liberal professions) के समस्त सदस्यों और इसी कोटि के अन्य सभी व्यक्तियों को उस निर्वाचन-क्षेत्र में इस हैसियत से मत देने का अधिकार दिया जाय जिसमें वे मतदाताओं के रजिस्टर में अपना नाम लिखावें, और उसके साथ ही जिन स्थानों में वे रहते हैं उनमें वे सामान्य नागरिक की भाँति भी मत देने के अधिकारी माने जाँय। इन प्रस्तावों पर विस्तार की बातों में विवाद हो सकता है, परन्तु यह मेरा दृढ मत है कि प्रतिनिधि-शासन का सच्चा आदर्श इसी दिशा में है और सर्वश्रेष्ठ व्यावहारिक युक्तियों द्वारा इस दिशा में कार्य करने से ही वास्तविक राजनीतिक प्रगति हो सकती है।'

अन्य देशों में अनेक-मतदान-प्रणाली

इंगलैण्ड में पूर्व समय में चर्चों में तथा 'दरिद्र-नियम के संरक्षकों' (Poor Law Guardians) के निर्वाचनों में अनेक-मतदान प्रणाली प्रचलित थी। आजकल भी कुछ विशेष अवस्थाओं में एक व्यक्ति दो मत दे सकता है। यदि किसी व्यक्ति के पास अपने निवास-स्थान के निर्वाचन-क्षेत्र से भिन्न निर्वाचन-क्षेत्र में व्यवसाय के लिए कोई ऐसी इमारत है जिसका भाड़ा १० पौंड सालाना है, तो वह दोनों निर्वाचन-क्षेत्रों में मत दे सकता है। इसी प्रकार किसी भी विश्वविद्यालय के पदधारी को, जहाँ वह रहता है, उस निर्वाचन-क्षेत्र में मत देने के अतिरिक्त विश्वविद्यालयों के निर्वाचन-क्षेत्र में भी मत देने का अधिकार है।

कई वर्षों तक इंगलैण्ड में अनेक मतदान की प्रणाली को उठा देने का प्रश्न वहाँ के उदार दल (Liberal Party) के कार्यक्रम का एक प्रमुख अंग रहा और जब सन् १९०६ उदार दल को मन्त्रि-परिषद् निर्माण करने का अवसर मिला, तब मन्त्रि-परिषद् ने 'एक व्यक्ति, एक मत' के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा के लिए एक कानून का मसौदा प्रस्तुत किया। कॉमन्स-सभा में तो वह स्वीकार हो गया ; परन्तु लॉर्ड-सभा ने उसे अस्वीकार कर दिया।[1] सन् १९१८ में मताधिकार कानून (Suffrage Act) पर विचार करते समय इस प्रश्न पर भी विचार किया गया; परन्तु अनुदार-दल ने

१. Lowell, Government of England, Vol I, p. 215.

निर्वाचक-मण्डल के अधिक शिक्षित तथा धनी अंग की रक्षा के लिए उसे कायम रखने पर जोर दिया। अन्त में उदार दल ने कुछ शर्तों के साथ, जिनका उल्लेख किया जा चुका है, इस प्रणाली को कायम रखना स्वीकार कर लिया।[1]

प्रथम विश्वयुद्ध से पूर्व कुछ जर्मन राज्यों में असमान मताधिकार की प्रणाली प्रचलित थी। प्रशा के लेण्डटाग (Landtag) अर्थात् धारा सभा के निम्न सभा-गृह का संगठन त्रिवर्ग आधार पर किया गया था जिसके अनुसार प्रत्येक जिले के निर्वाचक-मण्डल (College of Electors) द्वारा सदस्यों का निर्वाचन होता था और ये निर्वाचक-मण्डल भी कर की मात्रा के आधार पर तीन वर्गों में विभाजित मतदाताओं द्वारा चुने जाते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि धारा-सभा में धनी वर्गों के प्रतिनिधियों का ही प्राधान्य होता था, जो इस प्रणाली का आशय था। आधुनिक प्रजातन्त्र के आदर्शों के अनुसार यह सबसे दूषित और अनुचित निर्वाचन-प्रणाली थी।[2] यद्यपि समाजवादी प्रजातन्त्रीय दल (Social Democratic Party) संख्या की दृष्टि से प्रशा में बहुमत में था, तथापि उसे लेण्डटाग के लिए कभी-कभी ही एकाध प्रतिनिधि चुनकर भेजने में सफलता प्राप्त हो सकती थी।

प्रशा की म्यूनिसिपल समितियों के चुनावों में भी यही निर्वाचन-प्रणाली प्रचलित थी।[3] जर्मनी के कई अन्य राज्यों की धारा-सभाओं के निर्वाचन के लिए भी ऐसी ही प्रणाली प्रचलित थी, विशेषकर सन् १९०६ तक सेक्सनी में, जहाँ प्रत्येक मतदाता को अपने पद, सम्पत्ति अथवा शिक्षा के आधार पर एक से चार तक मत देने का अधिकार था।

जर्मनी में इस प्रणाली का समर्थन इस आधार पर किया गया कि मतदान की विषमता सच्चे प्रजातन्त्र के प्रतिकूल नहीं है, मताधिकार की व्यवस्था करने में सम्पत्ति तथा संख्या दोनों के हितों का विचार रखना चाहिए और प्रौढ़, समान सार्वलौकिक मताधिकार (Universal Equal Suffrage) से शासन-सूत्र ऐसे व्यक्तियों के हाथों में चला जायगा जिनके बहुत कम हित खतरे में होते हैं और जो धनिक वर्गों का शोषण करेंगे। जहाँ तक नगरों के शासन से सम्बन्ध था, जर्मन सिद्धान्त यह था कि म्युनिसिपल कॉरपोरेशन एक व्यक्तिगत सम्मिलित पूंजी से निर्मित कम्पनी, जैसा है, जिसके कामों की व्यवस्था करने में स्टाक-होल्डरों अर्थात् टैक्स देने वाले लोगों को ही भाग लेना चाहिए और जिन लोगों को मतदान का अधिकार है, उनकी मतदान की शक्ति का निर्धारण उनके हितों के अनुकूल होना चाहिए।

अनेक-मतदान का लोप

जर्मनी के सन् १९१९ के विधान में यह व्यवस्था है कि समस्त राज्यों (Lander) की, जो जर्मन-संघ में सम्मिलित हैं, व्यवस्थापिका-सभाओं का निर्वाचन

---

१ Ogg Government of Europe, p. 130.

२ इस प्रणाली के अनुसार सन् १९०३ में ऐसा हुआ कि २२१५ निर्वाचन-क्षेत्रों में केवल एक व्यक्ति समस्त करों का एक-तिहाई देता था। सन् १८९३ में प्रशा के नौ मन्त्रियों में से (जिनमें ब्यूलो भी शामिल था) छह ने तृतीय श्रेणी में और तीन ने द्वितीय श्रेणी में मत दिया था। देखिये, Ogg, Governments of Europe, pp. 691 ff.

३. Munro, Government of European Cities, pp. 128. ff.

समान मताधिकार के आधार पर होगा। यदि कोई राज्य चाहे भी तो उसे असमान गुरुतापूर्ण मताधिकार की पुनः प्रतिष्ठा करने का अधिकार नहीं है।

ऑस्ट्रिया में सन् १६०७ तक पंचवर्ग-प्रणाली प्रचलित थी जिसके अन्तर्गत धनी और करदाता वर्ग का अत्यधिक प्राधान्य था। सन् १८६६ तक केवल करदाता ही मत दे सकते थे, परन्तु उसी वर्ष सार्वलौकिक मताधिकार के आधार पर मतदाताओं का एक नवीन वर्ग भी खड़ा किया गया जो व्यवस्थापिका-सभा के षष्ठमांश सदस्यों का चुनाव करता था। सन् १६०७ में शासन-विधान में संशोधन करके पंचवर्ग-प्रणाली का अन्त कर दिया गया और लोक-सभा के निर्वाचन के लिए वास्तविक व्यापक प्रौढ़ पुरुष-मताधिकार (Manhood Suffrage) की प्रणाली की प्रतिष्ठा की गयी।[1] प्रथम विश्वयुद्ध के बाद जो महत्वपूर्ण वैधानिक परिवर्तन हुए, उनसे अब यूरोप में इंगलैण्ड को छोड़कर समस्त देशों से अनेक मतदान की प्रणाली का लोप हो गया है और इंगलैण्ड में भी इसका अत्यन्त मर्यादित रूप ही रह गया है। जहाँ तक इस प्रणाली के अनुसार एक व्यक्ति को अपने निवास के जिले में तथा उस जिले में, जहाँ उसकी वास्तविक जायदाद है, दोनों जगह मत देने का अधिकार है, उसका समर्थन इस सिद्धान्त के आधार पर किया जाता है कि करदान तथा प्रतिनिधित्व परस्पर एक-दूसरे पर निर्भर हैं।

फ्रान्स में प्रस्तावित पारिवारिक मतदान

फ्रान्स में प्रथम विश्वयुद्ध के समय पारिवारिक मतदान-प्रणाली (System of Family Voting) की प्रतिष्ठा के लिए एक प्रबल आन्दोलन हुआ था जिसके अनुसार परिवार के प्रमुख को अपने मत के अतिरिक्त अपनी स्त्री तथा प्रत्येक बालक के लिए भी एक एक मत देने का अधिकार मिलने की माँग की गयी थी। इस प्रणाली के पक्ष में सबसे प्रमुख तर्क यह था कि इससे परिवारों की वृद्धि में प्रोत्साहन मिलेगा और इस प्रकार उत्तरोत्तर कम होती हुई जनसंख्या (Population) की वृद्धि में भी सहायता मिलेगी। इसके अतिरिक्त यह भी कहा गया था कि इस प्रकार निर्वाचित पार्लमिण्ट सच्चे आधार पर राष्ट्र की प्रतिनिधि होगी क्योंकि प्रतिनिधित्व का सच्चा आधार व्यक्ति नहीं, परिवार है। इस प्रकार की व्यवस्था के लिए चेम्बर ऑफ डिपुटीज में कई बार बिल पेश किये गये, ऐसा एक बिल सन् १६२० में २०० प्रतिनिधियों के हस्ताक्षरों के साथ पेश किया गया था।

जापान में

सन् १६२५ में जापानी निर्वाचन कानून पर विचार करते समय इस बात पर जोर दिया गया कि पार्लमिण्टरी मताधिकार केवल परिवारों के प्रमुखों के लिए ही, चाहे वे पुरुष हों या स्त्री, रखा जाना चाहिए।

(२) निर्वाचक-मण्डल की रचना

पूर्व प्रतिबन्ध

निर्वाचक-मण्डल की रचना के सम्बन्ध में, अर्थात् किन व्यक्तियों को मताधिकार हो और किन लोगों को इस अधिकार से वंचित रखा जाय, सिद्धान्त एवं प्रयोग दोनों में विविध युगों में विविध देशों में विभिन्न मत रहे हैं। गत शताब्दी में प्रजातन्त्र के इतिहास की सबसे महत्वपूर्ण घटना सीमित, असमान और अप्रत्यक्ष मताधिकार से

---

१. Dodd, Modern Constitutions, Vol. I, p. 77, Note 5.

पूर्ण, व्यापक, प्रत्यक्ष तथा समान मताधिकार के विकास की ओर प्रगति रही है। प्रजातन्त्र की बाढ़ के सामने मताधिकार के सम्बन्ध में जितनी भी मर्यादाएँ, धार्मिक, आर्थिक, जातीय तथा लिंग-सम्बन्धी थी, वे सब बह गयीं और आज कोई प्रतिबन्ध अवशेष नहीं रहा है।

उन्नीसवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में अमेरिका तथा फ्रान्स जैसे देशों में भी महत्त्वपूर्ण प्रतिबन्ध थे।

फ्रान्स में प्रतिबन्ध

फ्रान्स म सन् १८१४ में राजतन्त्र के पुन:स्थापन के बाद मताधिकार के प्रयोग के लिए ३०० फ्रांक टैक्स देना तथा ३० वर्ष की आयु प्राप्त कर लेना, ये दो शर्तें मतदाता के लिए आवश्यक थी।[१] सन् १८३० की क्रान्ति के फलस्वरूप मतदाता के लिए टैक्स ३०० से २०० फ्रांक कर दिया गया और निम्न सभा-गृह के सदस्यों के लिए आयु २५ वर्ष निर्धारित कर दी गयी। राजतन्त्र के पुन:स्थापन तथा जुलाई एकतन्त्र (July Monarchy) दोनों के समय में जनता की संख्या के अनुपात में मतदाताओं की संख्या बहुत कम थी और यह बात व्यापक असन्तोष का कारण बन गयी। सन् १८४० में प्रत्यक्ष सार्वलौकिक मताधिकार के लिए आन्दोलन आरम्भ हो गया और जब सन् १८४८ में फ्रान्स में द्वितीय गणतन्त्र की स्थापना हुई तब इस आन्दोलन को सफलता मिली। उस वर्ष जो विधान निर्मित किया गया, उसमें यह स्पष्टरूप से घोषित किया गया कि प्रत्येक फ्रेन्च पुरुष को, जिसकी आयु २१ वर्ष की होगी और जो नागरिक अधिकारों का भोग करता होगा, बिना सम्पत्ति के विचार के मताधिकार होगा। तभी से यह नियम आज तक प्रचलित है।

इंगलैण्ड तथा संयुक्त राज्य अमेरिका में

इंगलैण्ड में सन् १८३२ तक पार्लमेण्टरी मताधिकार ग्रामों में ऐसे भूमिपतियों तक ही सीमित था जिनकी भूमि का वार्षिक मूल्य ४० शिलिंग थी; अठारहवीं शताब्दी में ४० शिलिंग का मूल्य आज के मूल्य से कई गुना था।[२] अमेरिका के अँग्रेजी उपनिवेशों में मतदान के लिए माफी-आराजी की योग्यता सत्रहवीं तथा अठारहवीं शताब्दियों में प्रचलित थी और उनमें से कुछ म तो धार्मिक योग्यताएँ भी आवश्यक थी। उदाहरणार्थ, मैसेचुसेट्स के सन् १६६१ के चार्टर में मताधिकार केवल ४० शिलिंग वार्षिक लगान वाले माफी-आराजी के स्वामियों के लिए तथा ४० पौण्ड के मूल्य की दूसरे प्रकार की भूमि के स्वामियों तक सीमित था।[3] इसी प्रकार पूर्वकालीन राज्यों के विधानों ने मतदान का अधिकार सम्पत्तिजीवी वर्गों तक ही सीमित रखा था। न्यू हैम्पशायर, डीलावेयर, जार्जिया और पेन्सिलवेनिया जैसे कुछ राज्यों में केवल टैक्स देने मात्र से ही मताधिकार प्राप्त हो जाता था, परन्तु दूसरे राज्यों में मताधिकार के लिए ऐसी भूमि पर स्वामित्व आवश्यक था जिसका वार्षिक मूल्य मैसेचुसेट्स में ३ पौण्ड से लेकर न्यूजर्सी में ५० पौण्ड तक था।

प्रजातन्त्रात्मक विचारों के विकास तथा विस्तार के कारण सन् १८७० के

१ Charter of 1814, Art. 35, Duguit, Droit, Const. Vol II, p. 175, Esmein, Droit Const., p. 312.

२. Rogers, Economic Interpretation of History, p. 32.

३. Bishop, History of Elections, Ch 2, Labor, Encyclopedia of Political Science, Art 'Suffrage.,

पश्चात् मताधिकार पर प्रतिबन्ध हटने लगे और शताब्दी के मध्य से पहले ही प्राय: प्रौढ़ श्वेत अमेरिकन पुरुषों को मताधिकार प्राप्त हो गया, यद्यपि कहीं-कहीं कुछ साम्पत्तिक योग्यता आवश्यक बनी रही। एक या दो पुराने राज्यों में ही मताधिकार के लिए साक्षरता की आवश्यकता बनी रही।

जर्मनी तथा दूसरे देशों में

सन् १८७१ के शासन-विधान के अन्तर्गत जर्मनी में राइकूस्टेग के निर्वाचन के लिए सार्वलौकिक पुरुष-मताधिकार की स्थापना की गयी, यद्यपि मतदाता की आयु २५ वर्ष रखी गई। परन्तु प्रशा, सेक्सनी और दूसरे राज्यों में राज्य-निर्वाचनों के लिए मताधिकार सीमित, असमान और अप्रत्यक्ष रहा। आस्ट्रिया में सन् १९०७ तक निम्न सभागृह का एक छोटा-सा भाग ही सार्वलौकिक मताधिकार के आधार पर चुना जाता था। हंगरी में मताधिकार की रचना सम्पत्ति, टैक्स अथवा शिक्षा-सम्बन्धी योग्यताओं के आधार पर इस प्रकार की गयी थी जिससे मगयार जाति का पार्लमेण्ट में प्राधान्य रहे। नॉर्वे में १८९८ तक सार्वलौकिक पुरुष मताधिकार की स्थापना नहीं हुई थी। बेल्जियम में सन् १८९३ तक टैक्स देने की योग्यता आवश्यक थी जिसका परिणाम यह निकला कि ४,०००,००० की जनसंख्या में से केवल ७६,००० पुरुषों को ही मताधिकार प्राप्त था। उस वर्ष प्रतिबन्ध कम कर दिये गये, परन्तु इसके साथ ही अनेक-मतदान की व्यवस्था हो जाने के कारण निर्धन वर्गों को मतशक्ति उससे भी कम हो गई जो समान मताधिकार की व्यवस्था में उन्हें प्राप्त होती। इटली में सन् १९१२ तक टैक्स तथा शिक्षा-सम्बन्धी योग्यताएँ आवश्यक थीं जिसके परिणामस्वरूप ३४,०००,००० की जनसंख्या में से केवल ३,०००,००० पुरुषों को ही मताधिकार प्राप्त था। सन् १९१२ में इन प्रतिबन्धों के हट जाने पर मतदाताओं की संख्या ८,०००,००० तक बढ़ गयी।[1] जापान में सन् १९२५ तक टैक्स के आधार पर मताधिकार था जिसके फलस्वरूप प्रौढ़ पुरुषों का अधिकांश मताधिकार से वंचित था।

सार्वलौकिक मताधिकार के विरुद्ध पूर्वकालीन आपत्तियाँ

सार्वलौकिक पुरुष मताधिकार के लिए एक लम्बी अवधि तक आन्दोलन होता रहा और अन्त में उसकी विजय हुई। इसके विरोधी इसे बुद्धिहीन तथा खतरनाक बतलाते थे। इतिहासकार मेकॉले ने सन् १८२० में कहा था कि उपयोगितावादी सिद्धान्तों के अनुसार सार्वलौकिक मताधिकार एक 'विशाल अपहरण' (Vast Spoliation) होगा और यदि इंगलैण्ड में इसका प्रयोग किया गया तो कुछ अर्द्ध-नग्न मछुए उल्लुओं तथा लोमड़ियों के साथ योरोप के महान् नगरों के खण्डहरों का आपस में बँटवारा कर लेंगे।[2]

लेकी ने अपनी पुस्तक 'प्रजातन्त्र तथा स्वतन्त्रता' (Democracy and Liberty) में, जैसा ऊपर बतलाया जा चुका है, अज्ञान जनता द्वारा शासन के खतरों पर विचार किया है और मानिक रूप से शिक्षा एवं सम्पत्ति के आधार पर मताधिकार की व्यवस्था की आवश्यकता पर जोर दिया है। उसने कहा है कि व्यवस्थापिका-सभा आवश्यक रूप से कर लगाने का एक यन्त्र है और इसका निर्वाचन ऐसे निर्वाचकों

१. Ogg, op. cit., p. 532. किन्तु मुसालिनी ने नये प्रतिबन्ध लगा दिये हैं।
२. Quoted by Fisher, The Republican Tradition in Europe, p. 325.

द्वारा ही होना चाहिए जो कर देते हो।'[1] उसने यह भी बतलाया कि 'हमारे युग की राजनीति का एक सबसे महान् प्रश्न यह है कि संसार का शासन अन्त में उसकी बुद्धि द्वारा होगा या उसके अज्ञान द्वारा' और यह विचार कि 'सत्ता का अन्तिम स्रोत सबसे निर्धन, सबसे अज्ञान और सबसे अयोग्य (और जो आवश्यक रूप से सबसे अधिक संख्या में होते हैं) व्यक्तियों के हाथ में हो, एक ऐसा सिद्धान्त है जो समस्त प्राचीन मानव अनुभवों को उलट देता है।'[2] उसने आगे चलकर बतलाया है कि निर्वाचनों के परिणामों से वास्तविक लोकमत का ज्ञान नहीं होता, क्योंकि सार्वलौकिक मताधिकार प्रणाली के अन्तर्गत असंख्य मनुष्य ऐसे होते हैं जो लोकमत के निर्माण में कुछ भी योग नहीं देते और उम्मीदवारों तथा विचारणीय समस्याओं का ज्ञान न होने के कारण अपने मत दूसरे व्यक्तियों एवं दलों के निर्देशानुसार या बिना समझे-बूझे देते हैं। एक मतदाता सिद्धान्तों का विचार किये बिना 'पीले या नीले रंग को मत देगा क्योंकि उसके पिता ने भी ऐसा ही किया है। कई लोग ईर्ष्या तथा विरोध के वशीभूत होकर अपने मत देते हैं। 'किसी दैवी संकट से, जिस पर सरकार का कोई प्रभाव नहीं होता असन्तोष उत्पन्न होगा जिसका प्रभाव सदिग्ध मतों पर पड़ेगा और जिससे 'एक' सन्तुलित निर्वाचन में पाँसा पलट सकता है।' लेकी ने यह भविष्यवाणी की कि एक दिन ऐसा आयगा जब यह बात मानव मूर्खता के इतिहास में एक बड़ी विलक्षण घटना मानी जायगी कि यह सिद्धान्त कि विश्व की उन्नति तथा राष्ट्रीय प्रगति के लिए शासन को कम से कम निश्चित एवं ज्ञानवान् वर्गों के हाथों में सौंपना ही सर्वोत्तम उपाय है, कभी उदार तथा प्रगतिशील समझा जाता था।'

वैज्ञानिक प्रगति के प्रति अज्ञान जनता के दृष्टिकोण पर विचार करते हुए सर हेनरी मेन ने, जो लोक-शासन का सबसे प्रबल आलोचक था, कहा है कि 'सार्वलौकिक मताधिकार ने, जिसने आज संयुक्त राज्य में स्वतन्त्र व्यापार को वर्जित कर दिया है, सूत कातने के यन्त्र (Spinning Jenny) तथा शक्ति से चलने वाले करघे (Power Loom) को भी निषिद्ध ठहरा दिया होता। उसने फटकने की मशीन (Threshing Machine) को तो अवश्य निषिद्ध ठहरा दिया होता। उसने जॉर्जी केलेण्डर (Georgian Calendar) को अपनाना निषिद्ध ठहरा दिया दिया होता और स्टुअर्ट वंश को पुनः राजसिंहासन पर आरूढ़ कर दिया होता। उसने देश से उस भीड़ के साथ, जिसने सन् १७८० में लार्ड मेन्सफील्ड के घर तथा पुस्तकालय को जला दिया था रोमन केथोलिकों का भी बहिष्कार कर दिया होता और उस जनसमूह के साथ जिसने सन् १७९१ में डॉक्टर प्रीस्टली का घर तथा पुस्तकालय जलाया था, डिमेन्टरों

१. उसने सन् १८६७ के पहले इंगलैण्ड में जो मर्यादित मताधिकार प्रचलित था, उसका समर्थन किया है। उसका कथन है कि जो विधान इंगलैण्ड में सन् १८३२ से सन् १८६७ तक था, उससे बढ़कर विधान संसार ने कभी देखा हो, यह संदिग्ध है। उसने कहा है कि 'शायद ही कोई ऐसी संसद सरकारें हुई हों जिनमें उससे बढ़कर बुद्धि रही हो, या जिन्होंने एक बड़े राष्ट्र के विभिन्न हितों या मतों का उससे बढ़कर सच्चा प्रतिनिधित्व किया हो या जिन्होंने अनेक संकटों के समय राजनीतिक पवित्रता तथा देशभक्ति का उससे ऊँचा स्तर कायम रखा हो, (Democracy and Liberty, Vol. I, p. 18).

२. Ibid, Vol. I, p. 21.

को भी दण्डित कर दिया होता।'[1] सर जेम्स स्टीफन ने 'प्रत्येक व्यक्ति को एक मत का अधिकार हो' इस सिद्धान्त को आपत्तिजनक माना। उसने कहा कि 'बुद्धिमत्ता तथा मूर्खता का जो स्वाभाविक और सच्चा सम्बन्ध मुझे समझ में आता है, वह सार्वलौकिक मताधिकार के सिद्धान्त और व्यवहार से उलट जाता है।'[2]

बेल्जियन लेखक लावेलेये ने, जो सार्वलौकिक मताधिकार का दूसरा आलोचक है, यह तो स्वीकार किया है कि इससे व्यक्ति का गौरव बढ़ता है और जन-शिक्षा का एक साधन भी प्राप्त होता है, तथापि उसको विश्वास है कि पार्लामेण्टरी शासन-प्रणाली से स्वतन्त्रता, व्यवस्था एवं सभ्यता की क्षति होगी।

सार्वलौकिक मताधिकार की विजय

परन्तु प्रजातन्त्र की बाढ़ के सामने, जो इंगलैण्ड में भी उस समय (सन् १८७३) निर्बाध गति से प्रवाहित हो रही थी, जैसा स्टीफन ने स्वीकार किया है, मर्यादित अधिकार के लिए इस प्रकार के तर्क अरण्य-रोदन के सदृश थे। इस प्रकार के कोई प्रमाण नहीं हैं कि इंगलैण्ड तथा अमेरिका जैसे देशों में जनता को मताधिकार देने की व्यवस्था से कोई ऐसे भयंकर परिणाम निकले हैं, जिनकी लेकी, मेन तथा स्टीफन ने भविष्यवाणी की थी। फिर भी उन्होंने सार्वलौकिक मताधिकार के सम्बन्ध में जो चेतावनी दी है, उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। उन्होंने स्वशासन के लिए अज्ञान जनसाधारण की योग्यता के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है, उसका अधिकांश विवेक तथा अतीत के अनुभव से काफी सिद्ध हो गया है। यदि समस्त जनता द्वारा शासन को सफलता प्राप्त करनी है, तो उन्हें स्वशासन के योग्य बनाना चाहिए। ब्लुण्ट्श्ली के शब्दों में, अज्ञान तथा मूर्ख व्यक्तियों के हाथों में उन व्यक्तियों का चुनाव रखना, जो राज्य-शासन का संचालन करेंगे, राज्य को आत्महत्या ही होगी। लावेलेये ने कहा है कि आज अज्ञान पुरुषों को मताधिकार दे दिया जाय तो वे आज ही अराजकता स्थापित कर देंगे और कल स्वेच्छाचारपूर्ण शासन स्थापित हो जायगा। इन दोनों बातों में सत्य चाहे जितना हो, हमें जॉन स्टुअर्ट मिल के इस कथन पर सदैव ध्यान देना चाहिए कि *सार्वलौकिक मताधिकार से पूर्व सम्पूर्ण जनता को शिक्षण मिलना चाहिए।*

(३) महिला-मताधिकार

महिलाओं के लिए राजनीतिक मताधिकार के विरुद्ध तर्क

प्रजातन्त्र के विस्तार तथा पुरुषों के लिए वयस्क मताधिकार के विस्तार के लिए आन्दोलन के साथ-साथ महिलाओं के लिए मताधिकार प्राप्त करने के लिए भी आन्दोलन जारी रहा है। फ्रेन्च क्रान्ति के समय, जब सार्वलौकिक मताधिकार का सिद्धान्त अपनी लोकप्रियता के उच्च शिखर पर था, फ्रान्स की नेशनल एसेम्बली के सामने एक आवेदन पत्र प्रस्तुत किया गया था जिसमें स्त्रियों के लिए मताधिकार की माँग की गयी थी और जिसका समर्थन कोन्दोरसे जैसे विद्वानों ने भी किया था। यह कहा जाता था कि यदि मतदान प्राकृतिक अधिकार है तो महिलाओं को इससे वंचित नहीं रखना चाहिए। किन्तु वयस्क पुरुषों को मताधिकार प्राप्त हो जाने के पश्चात् भी एक लम्बी अवधि तक सभी देशों में, अत्यन्त प्रजातन्त्रात्मक देशों में भी,

१. Popular Government, p. 36.
२. Liberty Equality, Fraternity, pp 239-243.

महिलाएं मताधिकार से पूर्णतया वंचित रहीं। मतदान के अधिकार को केवल पुरुषों तक सीमित रखना प्रजातन्त्रात्मक शासन के सिद्धान्त के प्रतिकूल बिलकुल नहीं माना गया और न शासितों की अनुमति पर आधारित शासन के सिद्धान्त के प्रतिकूल ही।

महिलाओं को राजनीतिक मताधिकार देने के विरुद्ध जो तर्क दिये जाते हैं, उनसे इस ग्रन्थ के पाठक भलीभाँति परिचित हैं, अत. उन पर विचार करना आवश्यक नहीं है। संक्षेप में, सबसे प्रमुख तर्क यह था कि महिलाओं के राजनीतिक जीवन में सक्रिय भाग लेने से उनका नारीत्व नष्ट हो जायेगा तथा वे सब गुण भी नष्ट हो जायेंगे जो स्त्रियोचित हैं और जो उन्हें पुरुषों से भिन्न बनाते हैं।

जो इस विचार के समर्थक थे व यह मानते थे कि मातृत्व नारी का एक विलक्षण दायित्व है और राजनीतिक क्षेत्र की अपेक्षा गृह ही उसका वास्तविक कार्य-क्षेत्र है। *उसकी प्रकृति ऐसी है जिसके कारण वह राजनीतिक कार्यों में भाग लेने योग्य नहीं है।* यदि वह अपना समय राजनीतिक आन्दोलन में लगावे, तो जिस गृह की वह स्वामिनी है उसकी वह यथोचित देखभाल न कर सकेगी और न वह अपने बालकों का पालन-पोषण ही कर सकेगी जो उसका सर्वोच्च कर्त्तव्य है। संक्षेप में, राजनीतिक जीवन के कार्यों का बालकों के पालन-पोषण तथा परिवार की सम्हाल के कर्त्तव्यों से सामंजस्य नहीं है। ब्लुण्ट्शली ने कहा है कि महिला-मताधिकार गृह की पूर्णता को नष्ट कर पारिवारिक जीवन के स्तर को निम्नतर करता है क्योंकि पति की अपेक्षा पत्नी पर परिवार का कल्याण अधिक निर्भर है। उसने कहा कि पुरुष के लिए यह असम्भव है कि वह 'राजनीतिक महिला' का सम्मान और उसकी पूजा करे। उसने अरस्तू के मत का समर्थन करते हुए कहा कि केवल पुरुष ही राजनीतिक जीवन के लिए नियुक्त है। इसके अतिरिक्त यह आशा नहीं की जा सकती कि एक परिवार के सब सदस्य एक होकर किसी उम्मीदवार को अपने मत देंगे। इससे परिवार में विवाद और संघर्ष उत्पन्न हो जायेंगे। यदि स्त्री ने अपने पति के निर्देशानुसार मतदान किया, तो इससे पति को ही दो मत प्राप्त हो जायेंगे और स्त्री का मताधिकार व्यर्थ होगा। इसमें श्रेष्ठतम व्यवस्था तो यह होगी कि पति को ही दो मत दे दिये जाँय और स्त्री का स्वयं निर्वाचन में भाग लेने के कर्त्तव्य की अपेक्षा केवल अपना प्रबल प्रभाव डालने का अधिकार ही रहे। ब्लुण्ट्शली तथा लावेलेये दोनों का मत था कि कैथोलिक देशों में महिला-मताधिकार के फलस्वरूप जेसुइट वर्ग के शासन का मार्ग साफ हो जायगा क्योंकि उनके मतों पर कैथोलिक चर्च के पादरियों का प्रभावकारी नियन्त्रण होगा। जर्मनी में राज्य तथा चर्च के बीच जो कुल्तुरकाम्फ (Kulturkamph) नामक संघर्ष खड़ा हो गया था, उससे यह स्पष्ट सिद्ध हो गया है कि महिलाओं के मत का कैथोलिक पादरी बड़ी सरलता से नियन्त्रण करते थे और यदि पुरुषों के समान ही उन्हें भी मताधिकार होता तो वह संघर्ष चर्च के पक्ष में ही समाप्त हुआ होता।[1] यही सब इटली तथा फ्रान्स में आज तक महिलाओं को मताधिकार से वंचित रखने का एक कारण बना हुआ है।

---

१. Bluntschli, Politik, Bk. X, Ch. 2. Treitschke (Politics, Vol. I, pp 252) से भी तुलना कीजिये। वह महिला-मताधिकार का उपहास करता था। कनाडा के मर्यादित महिला-मताधिकार को उसने 'ओछी चपलता' कहा है। एस्मीन भी इसका विरोधी था। उसने कहा है कि प्रारम्भ से ही स्त्रियों एवं पुरुषों में स्वाभाविक श्रम-विभाजन तथा कार्य-विभाजन रहा है; पुरुष के

महिला मताधिकार के कुछ विरोधियों द्वारा यह कहा जाता है कि चूंकि महिलाएं पुरुषों के समान नागरिकता के समस्त दायित्वों एवं कर्त्तव्यों का पालन करने में शारीरिक दृष्टि से अक्षम हैं, इस कारण उन्हें इस विशेषाधिकार की मांग करने का कोई अधिकार नहीं है। वे नारीत्व की पवित्रता के नियमों एवं आदर्शों का उल्लघन किये बिना सेना, नागरिक सेना तथा अनेक अन्य विभागों में सेवा नहीं कर सकतीं। किन्तु ब्लुण्ट्श्ली का कथन है कि सेना सम्बन्धी तर्क के औचित्य को स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि सैनिक सेवा मुख्यतया ऐच्छिक है और जो लोग सैनिक-शिक्षा-प्राप्त नहीं हैं, उनसे सैनिक सेवा नहीं ली जाती।[1]

महिला-मताधिकार का समर्थन

इन तर्कों का उत्तर इस प्रकार दिया जाता था कि किसी नागरिक को, जो अन्य दृष्टियों से मताधिकार के योग्य है, मताधिकार देने या उससे वंचित करने के लिए लिंग-भेद को आधार मानना किसी प्रकार भी युक्ति-संगत नहीं है, संक्षेप में, मतदान के अधिकार की कसौटी शारीरिक नहीं, वरन् नैतिक एवं बौद्धिक है। सिजविक ने लिखा है कि 'किसी स्वावलम्बी प्रौढ़ नागरिक को, जो अन्यथा मताधिकार के योग्य हो, केवल लिंग-भेद के आधार पर मताधिकार से वंचित करने के लिए मुझे कोई पर्याप्त कारण नहीं दिखाई देता। इस प्रकार महिलाओं को मताधिकार देने में इन्कार करने में उस समय तक घोर अन्याय होगा जब तक इस महान् औद्योगिक प्रतिस्पर्धा में विधवाओं तथा अविवाहित स्त्रियों को जीविकोपार्जन के हेतु राज्य की ओर से रक्षा अथवा विशेषाधिकार की कोई व्यवस्था नहीं की जाती।'[2] संक्षेप में, एक योग्य नागरिक को शासकों को चुनने का उतना ही अधिकार है जितना दूसरों को और मताधिकार के निर्धारण में लिंग-भेद का कोई प्रभाव नहीं होना चाहिए।[3]

जॉन स्टुअर्ट मिल ने, जो महिला मताधिकार का सबसे प्रबल तथा सर्वप्रथम समर्थक था, कहा है कि 'मैं राजनीतिक अधिकारों के सम्बन्ध में लिंग भेद को उसी प्रकार सर्वथा अनुचित मानता हूँ जिस प्रकार बालों के रंग को यदि दोनों में कोई भेदभाव हो, तो महिलाओं को पुरुषों की अपेक्षा अधिक अधिकारों की आवश्यकता है; क्योंकि वे शारीरिक दृष्टि से अबला हैं और अपनी रक्षा के लिए कानून तथा समाज पर अधिक आश्रित हैं।

लिए सार्वजनिक जीवन के कर्त्तव्य हैं और स्त्रियों के लिए गार्हस्थ्य जीवन की साल-सम्हाल। शिक्षा तथा परम्परागत प्रभावों में प्रत्येक की तदनुवर्ती प्रवृत्तियाँ विकसित एवं स्थिर हो गयी हैं। उसने कहा कि सच्ची प्रगति स्त्रियों को सार्वजनिक जीवन अथवा पुरुषों के लिए सुरक्षित धन्धों में लाने में नहीं है, वरन् विवाह को अधिक सरल एवं निरापद बनाने तथा स्त्रियों को हाथों से किये जाने वाले श्रम की गुलामी से मुक्त करने में है।' Droit Constitutionnel, p. 303. प्रो० ए० वी० डायसी ने भी Letters to a Friend on Votes for Women नामक पुस्तक में महिला-मताधिकार के विरुद्ध प्रबल तर्क दिये हैं। Merriam, American Political Ideas (p. 91) में इस विषय के साहित्य की पाठ्य-ग्रन्थावली दी हुई है।

१. Elements of Politics, p. 385.
२. Op. Cit., p. 384.
३. Op Cit, p. 384.

आत्म-रक्षण का तर्क

दूसरे, यह भी तर्क दिया जाता है कि स्त्रियों को आत्म-रक्षा के लिए मताधिकार दिया जाना चाहिए, आवश्यक रूप से इसलिए नहीं कि वे शासन कर सकें, परन्तु इसलिए कि वे अनुचित वर्गीय कानूनों से अपनी रक्षा कर सकें, जिनमें प्रायः उन्हें कष्ट होता है। लावेलेये ने कहा है कि स्त्रियों के अधिकारों के सम्बन्ध में कानून केवल पुरुषों द्वारा ही नहीं बनाये जाने चाहिए। संक्षेप में, न्याय का तकाजा है कि स्त्रियां तथा पुरुषों दोनों का शासन केवल पुरुषों द्वारा ही नहीं होना चाहिए। इस तर्क में और भी अधिक शक्ति आ जाती है जब हम आधुनिक सामाजिक तथा औद्योगिक परिस्थितियों को देखते हैं जिनमें स्त्रियों को काम करना पड़ता है। वे आज प्राय प्रत्येक प्रकार के उद्योग-धन्धों तथा कई विद्वत्तापेक्षी व्यवसायों में पुरुषों के साथ प्रतियोगिता कर रही हैं। इसलिए यह तर्क कि श्रमजीवी को अपने स्वामी से रक्षा पाने के लिए मताधिकार मिलना चाहिए महिला-मताधिकार के लिए यदि अधिक नहीं तो उतना ही सत्य एवं प्रभावकारी है।

तर्क के आधार पर समर्थन

तीसरे, यह भी तर्क दिया जाता था कि महिलाओं के लिए नागरिक अधिकार स्वीकार कर लिये जाने पर स्वाभाविक एवं तार्किक दृष्टि से राजनीतिक अधिकार भी स्वीकार होने चाहिए। प्राय प्रत्येक स्थान में स्त्रियों की पुरातन नागरिक तथा कानूनी अयोग्यताएं दूर हो चुकी हैं, वे अब सम्पत्ति की स्वामिनी बनने के योग्य हैं, वे इकरारनामे कर सकती हैं और पुरुषों के समान ही लाभकारी व्यवसायों एवं धन्धों को कर सकती हैं। जिन तर्कों के आधार पर उन्हें नागरिक अधिकारों से वंचित रखा गया था, व उसी प्रकार के थे जो राजनीतिक अधिकारों तथा विशेषाधिकारों से उन्हें वंचित करने के लिए दिये जाते हैं। यदि महिलाएँ इस योग्य हैं कि वे चतुरता के साथ अपने व्यवसायों का सचालन कर सकें, इकरारनामे कर सकें, व्यवसायों तथा उद्योगों में पुरुषों का मुकाबला कर सकें और उन्हें स्कूलों एवं कालिजों म शिक्षा दे सकें, तो वे राजनीतिक अधिकारों तथा विशेषाधिकारों के प्रयोग में भी पुरुषों के साथ भाग लेने के योग्य हैं। वास्तव में, उस सिद्धान्त का समर्थन करना कठिन है जो निरुपाय, अविवेकी तथा कर न देने वाले पुरुष को कानून बनाने में भाग लेने का अधिकार देता है, विशेषकर जब उसका प्रभाव कर देने वाली जनता पर भार डालना होता है, परन्तु स्वावलम्बी अविवाहिता नारी को जो सम्पत्ति की स्वामिनी है और राज्य को आर्थिक सहायता देती है, इस अधिकार से वंचित कर देना है।

शुद्धता का तर्क

चौथा तर्क यह दिया जाता था कि राजनीतिक क्षेत्र म महिलाओं के प्रवेश म सामान्य हित-साधन होगा, सार्वजनिक जीवन विशुद्ध, श्रेष्ठ और उत्कृष्ट बन जायगा; सार्वजनिक जीवन ऊँचा उठेगा और समाज की राजनीतिक स्थिति अधिक अच्छी एवं स्वस्थ हो सकेगी और इस प्रकार सामान्य हित-साधन हो सकेगा, इतना ही नहीं, उससे श्रेष्ठतर शासन भी सुनिश्चित हो जायगा। दूसरे शब्दों में, महिला मताधिकार से समाज का हित होगा। महिला मताधिकार के समर्थकों ने अनेक उदाहरण देकर यह सिद्ध किया है कि जिन देशों में उन्हें मताधिकार दिया गया है, उनमें सामाजिक सुधार के कानूनों के निर्माण में महिलाओं ने निर्णायक प्रभाव डाला है और विशेष रूप से ऐसे मामलों में, जैसे बाल श्रमजीवी, कारखानों में महिला श्रमजीवियों से काम

लेना, सार्वजनिक स्वास्थ्य, श्रमजीवियो के लिए मकान, शराब की बिक्री, सार्वजनिक वाचनालय, श्रेष्ठतर शिक्षा-सम्बन्धी सुविधाएँ, विशुद्ध भोजन-विषयक कानून तथा इसी प्रकार के अन्य विषय। मिल ने कहा—'कोई भी यह सोचने का बहाना नहीं करता कि स्त्रियाँ मताधिकार का दुरुपयोग करेंगी।' उसने कहा कि 'इस सम्बन्ध मे अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि वे अपने पुरुष-सम्बन्धियों के आदेशानुसार अपने मत देंगी। यदि वे ऐसा करती हैं तो उन्हें ऐसा करने दिया जाय। यदि वे स्वय विचार करें, तो इससे बड़ा लाभ होगा और यदि वे ऐसा न करें तो कोई हानि नहीं। यह मनुष्यों के लिए हितप्रद होगा कि उनके बन्धनो को तोड़ दिया जाय, चाहे वे घूमने-फिरने की इच्छा न करें। स्त्रियाँ कानून द्वारा मतदान के अयोग्य तथा मानव-समाज के अत्यन्त महत्वपूर्ण मामलो मे भाग लेने से वचित न रहे तो इसमे उनकी नैतिक अवस्था मे भारी सुधार होगा। व्यक्तिगत रूप से भी महिलाओ को इससे लाभ पहुँचेगा क्योंकि उनके पास देने को कुछ होगा जिसे उनके पुरुष-सम्बन्धी दलाल प्राप्त नही कर सकते परन्तु जिसके इच्छुक रहते है। यह भी कुछ कम महत्व की बात नही होगी कि पति आवश्यक रूप से पत्नी के साथ विचार-विमर्श करेगा और मत केवल उसका (पति का) व्यक्तिगत मामला नही, प्रत्युत दोनो का सयुक्त कार्य होगा।'

एसमीन के इस तर्क के सम्बन्ध मे कि मतदान से स्त्रियो को वचित रखना स्त्री-पुरुषो के बीच श्रम-विभाजन के प्राकृतिक नियम पर आधारित है, प्रोफेसर ब्रुग्वी का कथन है कि जिस नियम का आश्रय लिया गया है, उसका तो यही निष्कर्ष है कि न तो स्त्रियो को और न पुरुषो को ऐसे कार्य सौंपे जा सकते हैं जिनका सम्पादन करने मे उनकी लिंगमूलक प्रकृति बाधा डालती है। अतः यह सिद्ध करना आवश्यक होगा कि स्त्रियाँ शारीरिक तथा बौद्धिक दृष्टि से राजनीतिक कार्यों को करने मे अशक्त एवं अयोग्य हैं। यह बात आज तक किसी ने सिद्ध नही की है।[1]

महिलाओ के मताधिकार का प्रारम्भिक विस्तार

सन् १८६१ मे मिल ने यह भविष्यवाणी की थी कि 'आगामी पीढ़ी की समाप्ति से पूर्व ही चर्म-भेद के समान लिंग-भेद भी किसी को एक नागरिक के समान रक्षा तथा समुचित अधिकारो से वंचित करने के लिए पर्याप्त उचित आधार समझा जाना बन्द हो जायगा।' यह भविष्यवाणी आंशिक रूप मे सत्य सिद्ध हुई और उसकी पीढ़ी के समाप्त होने से पहले ही संयुक्त राज्य अमेरिका में स्त्रियों को सीमित मताधिकार देने के प्रयोग किये जाने लगे। एक बार आरम्भ हो जाने पर उसका तेजी से विस्तार होने लगा। अमेरिका तथा योरोप मे महिलाओ के राजनीतिक मताधिकार के लिए संगठित आन्दोलन होने लगे जिनमे से कुछ तो अन्तर्राष्ट्रीय थे और (प्रथम) विश्वयुद्ध से पूर्व कई देशो मे उनको काफी सफलता प्राप्त हो चुकी थी। सयुक्त राज्य अमेरिका के कई पश्चिमी राज्यो मे स्त्रियो ने पुरुषो के समान मतदान का अधिकार प्राप्त कर लिया तथा दूसरे राज्यो मे स्त्रियो को स्कूलो तथा म्युनिसिपल चुनावो मे मत देने का अधिकार मिला। ग्रेट ब्रिटेन मे पार्लमेण्ट के चुनावो को छोड़ अन्य सभी चुनावों मे महिलाओ को मताधिकार प्राप्त हो गया और वे अधिकाश स्थानीय पदो के योग्य भी मान ली गयी। उदार तथा अनुदार दोनो दलो ने समय-समय पर स्त्रियो को पार्लमेण्ट के चुनावो मे भी मताधिकार देने का समर्थन किया और

१. Op. cit. (2d. ed), Vol. II, p. 455.

प्रगतिशील मजदूर पार्टी ने तो पार्लमिण्टरी चुनावों मे महिला मताधिकार को अपने कार्यक्रम का एक मुख्य अंग बना लिया।

ऑस्ट्रेलिया मे कॉमनवेल्थ के चुनावों म स्त्रियो को पुरुषों के साथ मत देने का समान अधिकार मिल गया, यही नही, उन्हे पार्लमिण्ट की सदस्यता का भी अधिकार प्राप्त हो गया। न्यूजीलैण्ड मे तथा टस्मानिया सहित आस्ट्रेलिया के कई राज्यो मे उन्हे पुरुषो के समान ही राज्य-निर्वाचनों में मतदान का अधिकार प्राप्त हो गया। कनाडा के समस्त प्रान्तो मे भी अविवाहित तथा विधवा स्त्रियो को स्कूलों तथा म्यूनिसिपल चुनावो मे मताधिकार मिल गया और कुछ उत्तर-पश्चिमी प्रान्तों मे तो विवाहिता तथा अविवाहिता स्त्रियों मे कोई भेद ही नही रखा गया। फिनलैण्ड मे सन् १६०७ मे समस्त महिलाओ को, जिनकी आयु २५ वर्ष की थी तथा जो थोडा सा कर देती थी, मतदान का अधिकार मिल गया जिसके परिणाम-स्वरूप ३००,००० महिलाएं मतदाता बन गयी। डेनमार्क म सन् १६०८ म म्युनिसिपल चुनावों मे स्त्रियो को मतदान का अधिकार मिला और सन् १६१५ मे उन्हे समस्त चुनावो म मताधिकार प्राप्त हो गया।

विश्वयुद्ध (प्रथम) के पश्चात् महिला मताधिकार का विस्तार

विश्वयुद्ध (प्रथम) की घटनाओ ने हर जगह, यहाँ तक कि उन देशो मे भी, जहाँ इसकी बहुत थोड़ी प्रगति हुई थी, स्त्रियों को राजनीतिक अधिकार प्रदान करने के आन्दोलन को प्रोत्साहन दिया। युद्ध-काल मे अनेक विग्रही राष्ट्रों की स्त्रियों ने युद्ध-उद्योगों मे महत्वपूर्ण भाग लिया। उन्होंने अनेक ऐसे पदों पर कार्य किया जिन्हे सैनिक सेवा स्वीकार करने के हेतु पुरुष कर्मचारियों ने छोड दिया था, उन्होंने सरकारी विभागों मे तथा अस्त्र-शस्त्र बनाने वाले कारखानों मे भी काम किया और अनेक प्रकार से उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए कार्य किया जिसके लिए राष्ट्र लड रहे थे। अनेक लोग महिलाओ के लिए पुरुषों के समान ही पूर्ण राजनीतिक अधिकार को इसका समुचित पुरस्कार मानने लगे। इसके फलस्वरूप यूरोप तथा अमेरिका मे महिला-मताधिकार मे व्यापक रूप म विस्तार हुआ। ग्रेट ब्रिटेन मे सन् १६१८ के लोक-प्रतिनिधित्व कानून (Representation of Peoples Act of 1918) के द्वारा पार्लामेण्टरी मताधिकार[1] उन समस्त स्त्रियों को दे दिया गया जिनकी आयु ३० वर्ष थी और जो स्वयं अथवा जिनके पति स्थानीय सरकार के चुनावों मे मतदाता होने योग्य थे। इसका परिणाम यह हुआ कि इंगलैण्ड म ६,००० ००० नवीन मतदाता और बढ गये। दस वर्ष के पश्चात् सन् १६२८ मे महिला मतदाताओं के लिए कम से कम आयु पुरुषों के समान ही २१ वर्ष कर दी गयी। सन् १६१८ म सोवियत रूस के विधान (धारा ६४) ने १८ वर्षीय महिलाओ को समान मताधिकार प्रदान कर दिया। सन् १६१६ संयुक्त राज्य अमेरिका के शासन-विधान म संशोधन किया गया और महिलाओं को राष्ट्रीय राज्य की तथा स्थानीय सरकारों के चुनावों मे पुरुषों के समान अधिकार दे दिया गया। जर्मनी मे, जहाँ प्रथम विश्वयुद्ध म पूर्व महिला-मताधिकार के समर्थक बहुत थोड़े थे, सन् १६१६ के विधान (धारा २२) द्वारा २० वर्ष से अधिक आयु की महिलाओं को पार्लमिण्ट के चुनाव मे पुरुषों के साथ समान तथा पूर्ण मताधिकार मिल गया। सन् १६२० मे प्रशा के विधान (धारा ४) द्वारा भी राज्य के

---

१ जैसा पहिले लिखा जा चुका है, इंगलैण्ड की स्त्रियो को स्थानीय मताधिकार पहले से ही था।

चुनावों में स्त्रियों को मत देने को समान अधिकार प्राप्त हुआ। आॅस्ट्रिया (धारा २६) पोलैण्ड (धारा १२) और चेकोस्लोवाकिया (धारा ६) के नये विधानों द्वारा भी ऐसा ही हुआ। यूगोस्लाविया के विधान (धारा ७०) ने यह काम धारा-सभा को सौंप दिया और उसे महिला-मताधिकार के सम्बन्ध में व्यवस्था करने का आदेश दिया। सन् १६२१ बेल्जियम के संशोधित विधान (धारा ४७) ने युद्ध में मारे गये सैनिकों की अविवाहित विधवाओं को, उन नागरिकों की विधवाओं को जो शत्रु द्वारा मारे गये थे तथा उन महिलाओं को जिन्हें शत्रु ने उनके राजनीतिक विचारों के कारण बन्दी बना लिया था, मताधिकार प्रदान किया। एक संशोधन द्वारा व्यवस्थापिका-सभा को दो-तिहाई के बहुमत से पुरुषों के लिए आवश्यक शर्तों पर महिलाओं को भी मताधिकार प्रदान करने की व्यवस्था करने का अधिकार मिला। लक्जेम्बर्ग के शासन-विधान (सन् १६२०) ने स्त्री पुरुष दोनों के लिए समान मताधिकार की घोषणा की। सन् १६२२ में आयरिश राज्य के विधान ने २१ वर्ष की आयु के स्त्री पुरुषों को समान मताधिकार दे दिया। सन् १६२३ में रूमानिया तथा सन् १६३१ में स्पेन के विधान में स्त्री-पुरुष दोनों में कोई भेद नहीं रखा गया। हंगरी के ५ जुलाई सन् १६२५ के निर्वाचन-कानून के अनुसार ३० वर्ष की स्त्रियों को जिन्होंने ६ वर्ष तक (तीन बच्चों की माताओं के लिए केवल ४ वर्ष) स्कूल में अध्ययन किया है और जो स्वयं अपना जीविकोपार्जन करती हैं, मताधिकार मिल गया है। महिलाओं को समान मताधिकार मिलने के फलस्वरूप उन्हें प्राय समस्त देशों में, जहाँ उन्हें मतदान का अधिकार है, सार्वजनिक पदों पर चुने जाने का भी अवसर मिल गया है।[1]

वे देश जिनमें स्त्रियों को मताधिकार नहीं है

योरोप में ऐसे भी देश अभी हैं जिनमें स्त्रियों को मताधिकार, कम से कम पुरुषों के समान अधिकार, प्राप्त नहीं हो सका है। वे देश हैं—नीदरलैंड, बलगेरिया, यूगोस्लाविया, पुर्तगाल, इटली[2] और फ्रान्स। लेटिन अमेरिका के तथा एशिया के किसी भी देश[3] में महिलाओं को सीमित मताधिकार भी नहीं मिला है, यद्यपि जापान में सन् १६२५ में परिवार की अध्यक्षता महिलाओं को मताधिकार प्रदान करने की माँग की गयी थी। फ्रान्स में श्रमिकों को नियुक्त करने वाली महिलाओं को प्रूदहोम्स (Prud Hommes) की कौंसिलों के चुनावों में तथा जो स्त्रियाँ व्यवसायों में संलग्न थीं, उन्हें व्यापारिक न्यायालयों के न्यायाधीशों के चुनावों में भाग लेने का अधिकार है। हाल में जो कानून बना है, उसके अनुसार उन्हें वकालत करने तथा परामर्शदात्री मजदूर-परिषदों में कार्य करने का तथा फ्रान्स के जिलों में औद्योगिक शिक्षण के लिए जो परिषदें हैं उनके चुनावों में भाग लेने का अधिकार प्राप्त है।[4]

हाल ही में फ्रान्स में महिला-आन्दोलन ने बड़ी प्रगति की है और महिलाओं

---

१. देखिये, Shepard, Women Members of European Parliaments, *Amer. Pol. Sci. Rev*, Vol. XX (1926), p. 379.
२. *मुसोलिनी के शासनकाल में स्त्रियों को* म्युनिसिपल चुनावों में मताधिकार मिल गया था, परन्तु बाद में म्युनिसिपल चुनावों के उठ जाने से इटालियन महिलाएं बिना किसी राजनीतिक अधिकार के रह गयीं।
३. यह कथन भारतवर्ष के सम्बन्ध में ठीक नहीं है। यहाँ सन् १६३३ में महिलाओं को मताधिकार प्राप्त हो गया था।
४. Duguit, Op. Cit., Vol. II, p. 469.

के लिए पार्लमिण्टरी चुनावों तथा स्थानीय चुनावों में समान मताधिकार की देश-व्यापी माँग की जा रही है। २० मई सन् १६१६ को फ्रान्स के चेम्बर ऑफ डिपुटीज ने विशाल बहुमत से बिना किसी लिंग-भेद के समस्त फ्रेंच नागरिकों को निर्वाचन-सम्बन्धी समानता की घोषणा करने वाला एक प्रस्ताव स्वीकार किया और सन् १६३२ में भी महिलाओं का मताधिकार प्रदान करने का प्रस्ताव चेम्बर ऑफ डिपुटीज में स्वीकृत हुआ, परन्तु दोनों बार सीनेट ने उसे अस्वीकार कर दिया। प्रोफेसर ग्रुवी ने, जो महिला मताधिकार का बड़ा समर्थक है, फ्रान्स की महिलाओं ने युद्ध-काल में फ्रान्स के आर्थिक तथा सार्वजनिक जीवन में जो कार्य किया है, उसकी चर्चा करते हुए कहा है कि 'महिलाएँ अभी जो मताधिकार से वंचित हैं, यह स्थिति क्षणिक ही है और आधुनिक समाज महिलाओं को मताधिकार देने की ओर जो प्रयास कर रहा है, वह दुर्निवार है।'[1] आजकल फ्रान्स में महिला मताधिकार के लिए बड़ा प्रबल संगठित आन्दोलन चल रहा है।

(४) मताधिकार की वर्तमान आवश्यकताएँ

सार्वलौकिक मताधिकार के सिद्धान्त के अपवाद

सार्वलौकिक मताधिकार का सिद्धान्त, कम से कम पुरुष नागरिकों के लिए और अधिकांश राज्यों में स्त्रियों के लिए भी, अब एक सामान्य नियम बन गया है, उस पर भी यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि यह सिद्धान्त निरपेक्ष नहीं है। जैसा न्यायाधीश स्टोरी ने कहा है, सार्वलौकिक मताधिकार के बड़े से बड़े उत्साही समर्थकों तक ने यह दावा नहीं किया है कि यह अधिकार निरपेक्ष रूप से सार्वलौकिक हो और आज तक कोई भी इतना काल्पनिक नहीं हुआ, जिसने यह माना हो कि प्रत्येक अवस्था के तथा हर प्रकार के चरित्र वाले व्यक्तियों को समस्त सार्वजनिक पदों के समस्त चुनावों में मत देने का अधिकार होना चाहिए।[2] वास्तव में, समस्त राज्यों में, यहाँ तक कि सर्वाधिक प्रजातन्त्रात्मक राज्यों में भी, मताधिकार उन्हीं व्यक्तियों को प्रदान किया जाता है, जो अपनी आयु की परिपक्वता, नैतिक चरित्र और बुद्धिमत्ता की मात्रा के कारण इस अधिकार के प्रयोग करने के योग्य समझे जाते हैं। वास्तव में जैसा बार्थेलेमी ने कहा है, निर्वाचक-मण्डल किसी भी देश की जनता का शिष्ट भाग होता है। अधिकांश राज्य अल्प-वयस्कों (Minors)[3], विक्षिप्त व्यक्तियों तथा मूढ़

---

१. Op Cit, Vol II, p 455

२. Commentaries, Vol I, p 412 तुलना कीजिये, Bluntschli, Politik, p. 422

३ आयु की योग्यता भिन्न भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न है। जर्मन साम्राज्य के तथा प्रशा के निर्वाचनों के लिए पहले आयु २५ वर्ष थी, परन्तु नये विधानों में, जैसे आस्ट्रिया में २० वर्ष ही रखी गयी है। अधिकांश देशों में न्यूनतम आयु २१ वर्ष है, परन्तु कम से कम १८ वर्ष ही है। फिनलैण्ड तथा स्वीडन में २४ और डेनमार्क में ३० वर्ष है। हंगरी में स्त्रियों के लिए तथा इटली में निरक्षर पुरुषों के लिए आयु ३० वर्ष रखी गयी है। कुछ देशों में व्यवस्थापिका के दोनों सदनों के निर्वाचकों के लिए आयु भिन्न-भिन्न रखी जाती है। चेकोस्लोवाकिया में निम्न सदन के निर्वाचकों के लिए २१ और उच्च सदन के लिए २६ है, यही आयु रूमानिया में २१ और ४० रखी गयी है। इन भेदों के लिए कोई उचित कारण

व्यक्तियों को मताधिकार नही देते ; जैसा ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, कुछ राज्यो ने स्त्रियो को पूर्णत या आंशिक रूप मे मताधिकार से वंचित रखा है ; प्राय: कार्यो देशो मे मतदाता के लिए यह आवश्यक है कि उसे पूर्ण नागरिक अधिकार प्राप्त हो और कभी-कभी जो व्यक्ति किसी सरक्षक के अधीन होते हैं, उन्हे भी मताधिकार से वचित रखा जाता है । ब्राजील मे साधुओ को इस अधिकार से वचित रखा गया है (विधान, धारा ७०) । प्राय: समस्त राज्य उन व्यक्तियो को मताधिकार से वंचित रखते हैं, जो गम्भीर अपराधों के, जिनमे चुनावो के समय मे भ्रष्टाचार (Corrupt Practices) भी सम्मिलित है, दोषी प्रमाणित हो चुके हैं ।[1] अनेक राज्यो मे ऐसे व्यक्तियों को भी मताधिकार से वंचित रखा गया है, जो राज्याश्रित हैं , कुछ राज्यो मे दिवालियो को भी मताधिकार नही है, कुछ राज्यो मे भिक्षकों और निर्वाचन-क्षेत्र मे स्थायी निवास-स्थान से हीन अयोग्य और सम्मानित व्यक्तियों को भी मताधिकार से वचित रखा जाता है; कुछ राज्यो मे ऐसे व्यक्ति को भी मताधिकार से वंचित रखा जाता है जो कुछ निश्चित पदो पर काम करते हैं, विशेषकर उन पर, जिनका सम्बन्ध निर्वाचन-व्यवस्था से होता है , योरोप के बहुत से देशो मे सेना के (रक्षित सेना को छोड कर) सदस्यो को मताधिकार नही दिया जाता, प्राय: प्रत्येक राज्य मे जिन मतदाताओं के नाम यथोचित रूप से मतदाताओ की नामावली मे लिखित नहीं होते अथवा जिनका निवास निर्वाचन-क्षेत्र या राज्य के किसी भाग मे निश्चित अवधि के लिए नही होता, उन्हे भी मताधिकार से वचित रखा जाता है । कुछ राज्य ऐसे व्यक्तियों को भी मताधिकार से वचित रखते हैं, जिनको कोई सम्पत्ति नही है अथवा जो राज्य को प्रत्यक्ष कर नही देते । सामान्यतया प्रत्येक राज्य मे विदेशियो (Aliens) को भी मताधिकार नहीं होता ।[2]

सोवियत रूस मे, जैसा सुप्रसिद्ध है, निर्वाचन का अधिकार श्रमजीवी वर्गों, जैसे किसान, मजदूर तथा सैनिको तक ही मर्यादित रखा गया है और स्पष्टरूप से मजदूरो से लाभ के लिए काम लेने वाले व्यक्तियों तथा ऐसे व्यक्तियों को जो स्वयं अपने परिश्रम से जीविकोपार्जन नहीं करते, व्यापारियो, दलालो, पादरियो, साधुओं आदि को मताधिकार से वंचित कर दिया गया है ।[3]

नहीं दिखाई देते । बार्थेलेमी ने कहा है कि २१ वर्ष की आयु मे मत दे सकने के नियम से फ्रान्स मे बडी गम्भीर असमता उत्पन्न हो गयी है क्योंकि युवको को २१ वर्ष की आयु से २ वर्ष के लिए सेना मे नौकरी करनी पडती है और इस अवधि मे वे मत नही दे सकते, जबकि जो लोग सैनिक सेवा से बच जाते हैं, वे मताधिकार से वंचित नहीं रहते ।

१. चिली में (धारा ८) जिन लोगों के ऊपर ऐसा अभियोग चल रहा हो, जिसके लिए शारीरिक दण्ड मिलता है, वे भी मताधिकार के अयोग्य हैं ।

२. परन्तु सन् १९१४ मे जिन विदेशियों ने विधिवत् रूप से संयुक्त राज्य अमेरिका के नागरिक हो जाने की घोषणा कर दी थी, वे नौ राज्यो मे योग्य मतदाता हो गये थे । प्रथम युद्ध मे और उसके बाद यह संख्या केवल चार ही रह गयी ।

३. Constitution of Russian Socialist Federated Soviet Republic, 1918, Article 64. विद्वान् लेखक ने सोवियत रूस के मताधिकारों की इन मर्यादाओं का उल्लेख सन् १९१८ के सोवियत विधान के आधार पर किया है ।

शैक्षणिक, साम्पत्तिक तथा कर-सम्बन्धी कसौटियाँ

कई लेखकों ने मताधिकार के लिए शिक्षा तथा सम्पत्ति की योग्यता की आवश्यकता का समर्थन किया है और आज भी इस विचार के समर्थक कम नहीं मिलेंगे। इनमें से सर्वाधिक प्रसिद्ध जॉन स्टुअर्ट मिल था, जिसने अपनी 'प्रतिनिधि-शासन पर विचार' (Considerations on Representative Government) नामक पुस्तक में लिखा है— 'मुझे यह बात सर्वथा अमान्य है कि मताधिकार का कोई ऐसा व्यक्ति प्रयोग करे जो लिख पढ़ नहीं सकता, बल्कि मैं तो यह भी कहूँगा कि जिसे गणित का साधारण ज्ञान भी नहीं होता। कोरे सिद्धान्त ने जिन व्यक्तियों की सामान्य विवेक-बुद्धि को कुण्ठित कर दिया है, उन्हें छोड़ कोई यह नहीं कहेगा कि ऐसे व्यक्तियों को समाज या अन्य व्यक्तियों पर सत्ता दे दी जाय जिन्होंने स्वयं अपनी साल-सम्हाल के लिए अत्यन्त आवश्यक एवं अत्यन्त साधारण गुणों का भी प्राप्त नहीं किया है। यह अतीव वाञ्छनीय होगा कि लिखने-पढ़ने तथा साधारण गणित के अतिरिक्त कुछ अन्य बातें भी मताधिकार के लिए आवश्यक मानी जाँय। पृथ्वी की रचना, उसके प्राकृतिक एवं राजनीतिक विभाग, विश्व के इतिहास का सामान्य ज्ञान तथा अपने देश के इतिहास एवं संस्थाओं आदि का साधारण ज्ञान प्रत्येक मतदाता या निर्वाचक को होना चाहिए।' मिल ने यह बात सर्वथा उचित ही कही है कि जहाँ मताधिकार साक्षरता पर आधारित है, वहाँ राज्य को न्याय की दृष्टि से ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए कि निर्धन से निर्धन व्यक्ति भी बिना किसी व्यय के साक्षरता प्राप्त कर सके, अन्यथा यह साक्षरता का नियम सर्वसाधारण के लिए कष्टदायी बन जायगा। मिल ने प्रजातान्त्रिक राज्य में भी कर देने की योग्यता के औचित्य का समर्थन किया है। उसने कहा है कि 'यह महत्त्वपूर्ण है कि जो परिषद् कर स्वीकार करती है, चाहे वे राष्ट्रीय हों या स्थानीय, उनका निर्वाचन ऐसे मतदाताओं द्वारा ही होना चाहिए जो किसी न किसी रूप में कर देते हों। जो लोग स्वयं कुछ भी कर नहीं देते और केवल अपने मत से दूसरे के धन के व्यय की स्वीकृति देते हैं, वे फिजूलखर्च होते हैं और उन्हें बचत करने की कोई इच्छा नहीं होती। जो कर नहीं देते, उनके द्वारा करों की स्वीकृति स्वतन्त्र शासन के आधारभूत सिद्धान्त का उल्लंघन है, प्रतिनिधित्व और कर-निर्धारण साथ-साथ रहना चाहिए।'

लेकी, सर हेनरी मेन, सिजविक, लावेलय, ब्लुंट्श्ली, ट्रीट्श्के तथा अन्य सुप्रसिद्ध लेखकों के भी विचार इसी प्रकार के हैं। व्यवहार में इस प्रकार की आवश्यकताएँ पहले अप्रचलित नहीं थीं। इटली में सन् १९१७ तक जो व्यक्ति लिख-पढ़ नहीं सकते थे और जो थोड़ा सा कर भी नहीं देते थे, वे मताधिकार से वंचित थे

सन् १९३६ में सोवियत रूस में प्रजातान्त्रिक आधार पर नवीन विधान की रचना की गई और उसकी धारा १३५ के अनुसार 'समस्त प्रतिनिधियों (Deputies) का निर्वाचन होता है और सोवियत रूस के समस्त नागरिक, जो अठारह वर्ष की आयु के या इससे अधिक हैं, जाति, जातीयता, धर्म, शिक्षा-सम्बन्धी योग्यता, निवास-सम्बन्धी योग्यता, सामाजिक उत्पत्ति, साम्पत्तिक स्थिति, अतीत के कार्यों आदि का विचार किये बिना प्रतिनिधियों के चुनावों में भाग लेने के अधिकारी हैं और वे स्वयं भी निर्वाचित हो सकते हैं। जो व्यक्ति न्यायालय द्वारा निर्वाचन के अधिकार से वंचित हैं तथा जो पागल हैं, वे मताधिकारी नहीं हैं।

—अनुवादक।

और इस आधार पर वहाँ की जनसंख्या का ६० प्रतिशत भाग उससे वंचित था। उस वर्ष यह प्रतिबन्ध हटा दिया गया, परन्तु निरक्षरों के लिए आयु बढ़ाकर ३० वर्ष कर दी गयी जबकि साक्षरों के लिए वह २१ वर्ष ही रही। जापान में सन् १९२५ तक मताधिकार के लिए कर देने की योग्यता आवश्यक थी जिसमें जापानी जनता का एक बड़ा भाग मताधिकार से वंचित था। ब्राजील (धारा ७०) तथा चिली देश (धारा ७) के वर्तमान विधान निरक्षर व्यक्तियों को मताधिकार नहीं देते। इस नियम के कारण ब्राजील में सन् १९२२ के राष्ट्रपति के निर्वाचन में ३०,०००,००० की जनता में से केवल १,३०५,००० व्यक्ति ही मतदाता थे।[1] सन् १९२५ के हंगरी के निर्वाचन-कानून के अनुसार पुरुष मतदाताओं के लिए आवश्यक है कि वे कम से कम तीन वर्ष और स्त्री मतदाता ६ वर्ष प्रायमिक स्कूल में पढ़े हों। संयुक्त राज्य अमेरिका के अन्तर्गत कनेक्टीकट, मेसेचुसेटस, न्यूहेम्पशायर, मेन, डेलावेयर, नार्थ डेकोटा, वाशिंगटन, केलीफोर्निया तथा वाशिंगटन में बहुत वर्षों तक मताधिकार साक्षरता के आधार पर रहा और कुछ वर्षों तक न्यूयार्क, अरीजोना तथा आरेगॉन राज्यों में भी यही नियम रहा। इस श्रेणी में अमेरिका के कुछ दक्षिणी राज्य भी आ जाते हैं।

पोर्टोरिको में साक्षरता की आवश्यकता है और फिलीपाइन्स द्वीपों में मतदाता के लिए ५०० पेसो (Pesos) के मूल्य की सम्पत्ति का स्वामी होना या ३० पेसो वार्षिक कर देना अथवा स्पेनिश, अंग्रेजी या किसी देशी भाषा को पढ़ सकने की योग्यता आवश्यक है।

नीग्रो मताधिकार

गृह-युद्ध से पूर्व संयुक्त राज्य अमेरिका में दक्षिणी राज्यों में केवल गोरे लोग ही मत दे सकते थे और कुछ उत्तरी राज्यों में भी ऐसा ही नियम था; परन्तु पुनर्निर्माण कानूनों (Reconstruction Acts) से दक्षिणी नीग्रो लोगों को मताधिकार प्राप्त हो गया और सन् १८७० में संयुक्त राज्य अमेरिका के विधान के १५ वें संशोधन द्वारा नीग्रो जाति की मताधिकार सम्बन्धी अयोग्यता दूर कर दी गयी। बहुत सी दक्षिणी रियासतों में नीग्रो इतनी बड़ी संख्या में थे कि ह्वेत-पार्टी ने अधिकांश नीग्रो लोगों को मतदान के अधिकार से वंचित करने के लिए मताधिकार के साक्षरता तथा अन्य मर्यादाओं का समर्थन किया। सन् १८९० में मिसीसिपी राज्य (संयुक्त राज्य अमेरिका) ने एक नया विधान बनाया जिसमें यह नियम रखा गया कि मतदाता को इतना पढ़ना-लिखना आना चाहिए कि वह मूल विधान (Text of the Constitution) को पढ़ सके या निर्वाचन-अधिकारी द्वारा पढ़ कर सुनाये जाने पर उसे समझ सके। सन् १८९५ में साउथ केरोलिना ने भी मिसीसिपी विधान का अनुकरण किया, परन्तु उसमें इतना परिवर्तन कर दिया कि यदि निरक्षर व्यक्ति ३०० डालर या अधिक मूल्य की सम्पत्ति का स्वामी हो, तो उसे मताधिकार से वंचित रखा जाय। लूसियाना, अलबामा, नॉर्थ केरोलिना, वरजीनिया, ओक्लाहोमा, जॉर्जिया आदि राज्यों ने भी ऐसी ही मर्यादाएँ रखीं; इनमें से कई राज्यों ने साक्षरता का नियम उन व्यक्तियों के लिए लागू नहीं किया गया जो सन् १८६७ में (जब नीग्रो जाति को मताधिकार प्राप्त नहीं हुआ था) मतदाता थे या [पितामह-धारा (Grandfather Clause) के अनुसार] उनकी सन्तान थे अथवा जिन्होंने गृह-युद्ध में थलसेना या नौसेना में सैनिक बनकर सेवा की थी।

---

१. James, The Constitutional System of Brazil, p. 36.

इनमे से कई राज्यो मे प्रति व्यक्ति कर (Poll Tax) देना आवश्यक है, (जैसा अरकनसास तथा टैनेसी में भी है);[1] अन्य राज्यों मे यह कर साक्षरता की आवश्यकता के एवज मे है। यह आक्षेप किया गया था कि ये सब नियम संयुक्त राज्य अमेरिका के विधान के १५ वें संशोधन के प्रतिकूल है; परन्तु साक्षरता तथा कर देने के नियमो को अमेरिकन सुप्रीम कोर्ट ने भी वैधानिक माना, यद्यपि तथाकथित 'पितामह धारा' को उसने अवैधानिक घोषित कर दिया।

कुछ 'ब्रिटिश प्रदेशो मे साक्षरता तथा साम्पत्तिक योग्यता उन्ही कारणो से मताधिकार के लिए आवश्यक रखी गयी हैं जिन कारणो से वे अमेरिकन यूनियन के दक्षिणी राज्यो में रखी गयी थीं। इस प्रकार नेटाल, ट्रान्सवाल तथा ऑरेंज रिवर कालोनी (दक्षिणी अफ्रीका) मे कृष्ण वर्ग की जातियो को मताधिकार से पूर्ण रूप से वंचित रखा गया है। केप कॉलोनी मे भी इसी प्रकार के प्रतिबन्ध हैं जिनके कारण बहुत से लोग मताधिकार से वंचित हैं और उन्हे बिलकुल वंचित कर देने की भी माँग की जा रही है। बेरबेडास मे ऊँची साम्पत्तिक योग्यता की आवश्यकता के कारण काले रंग के लोग अधिकांश मे मताधिकार से वंचित हैं।

साक्षरता की कसौटी के गुण

उन राज्यो के विषय मे विचार न कर, जिनमे कृष्ण वर्ण की जातियो का श्वेत जातियो की अपेक्षा आधिक्य है और जिनमे साक्षरता के नियम को कृष्ण जातियो के शासन से श्वेत जातियो की रक्षा का साधन माना गया है, जो कुछ लेखको के अनुसार आत्मरक्षा का एक समुचित साधन है, हम उन राज्यो के सम्बन्ध में साक्षरता तथा साम्पत्तिक नियमों की जाँच करना चाहते हैं, जिनमें उनका इस आधार पर समर्थन नहीं किया जा सकता। सरल शब्दो मे, प्रश्न यह है कि क्या एक सामान्य प्रौढ़ नागरिक को, जो सदाचारी है और अन्यथा किसी भी प्रकार अयोग्य नहीं है, केवल इसलिए अपने शासन में भाग लेने से वंचित रखा जाय कि वह साक्षर नहीं है, किसी सम्पत्ति का स्वामी नहीं है और उस राज्य को कायम रखने मे सहायता देने के लिए, जो उसकी सहायता एवं रक्षा करता है, कोई कर नहीं देता? इस सम्बन्ध मे कोई मतभेद नहीं होना चाहिए कि मतदाता इतना 'शिक्षित' हो कि वह अपने निर्वाचन-कार्य का बुद्धिपूर्वक सम्पादन कर सके। इस प्रकार की सरल बात कह देने पर भी हम एक ऐसा निश्चित सिद्धान्त स्थापित नहीं कर सके जिस पर व्यवहार किया जा सके। निर्वाचक के कार्य की जटिलता भी न्यूनाधिक होती है। एक साधारण स्थानीय कर्मचारी के निर्वाचन की अपेक्षा एक ही मत-पत्र पर स्थानीय, राज्य के तथा राष्ट्रीय कर्मचारियो का निर्वाचन कहीं अधिक जटिल होता है, एक स्कूल के भवन-निर्माण के लिए बॉण्ड का प्रचार करने (Bond Issue) के प्रश्न पर मतदान की अपेक्षा ३० या ४० कानूनों के मसौदों पर, जिनमे से कुछ को तो कानून-विशेषज्ञ तथा वकील ही भलीभाँति समझ सकते हैं, मतदान बहुत अधिक जटिल होता है। इस बात पर जोर देना कि मतदाता इतना 'शिक्षित' हो जिससे वह ऐसे मत-संग्रह सम्बन्धी निर्वाचनो (Referendum Elections) मे अपना विवेकपूर्ण मत दे सके जो संयुक्त राज्य अमेरिका मे हुए हैं, अमेरिका की ६० प्रतिशत प्रौढ़ जनता को मताधिकार से वंचित कर देना होगा। जॉन स्टुअर्ट मिल के विचार हम ऊपर दे चुके हैं। वह साधारण

---

१. पेनसिलवेनिया राज्य मे अब भी काउण्टी का कर देने का नियम है। यही एक ऐसा उत्तरी राज्य है जिसमें कर देने की योग्यता अब भी विद्यमान है।

लिखने-पढ़ने के अतिरिक्त सरल गणित के ज्ञान को भी आवश्यक मानता था और अधिकांश शैक्षणिक कसौटियाँ इस मान्यता के आधार पर रखी गयी हैं कि लिखने-पढ़ने की योग्यता विवेकपूर्वक मतदान की क्षमता की द्योतक है और राजनीतिक जीवन में भाग ले सकने की योग्यता की सच्ची कसौटी है और जो ऐसी योग्यता है जो निरक्षर व्यक्ति में नहीं होती। परन्तु, जैसा लॉर्ड ब्राइस ने कहा है, इस मान्यता का औचित्य संदिग्ध है। उसने कहा है कि 'प्रत्येक व्यक्ति बुद्धिमान् श्रमजीवियों, कृषकों आदि को जानता है जिन्होंने किसी कारण कभी लिखना-पढ़ना नहीं सीखा (दक्षिणी राज्यों में गृह-युद्ध के बाद के समय में इस प्रकार के श्वेत अमेरिकन पर्याप्त संख्या में थे और इंगलैण्ड में भी ऐसे व्यक्तियों का अभाव नहीं था) परन्तु जिनमें पर्याप्त मात्रा में विवेक-बुद्धि थी और जो अपने विवेक एवं दृढ़ निर्णय-शक्ति के कारण उस प्रकार बुद्धिमत्तापूर्वक मतदान के योग्य थे जिस प्रकार आज उनके वे पौत्र-पौत्री उसके योग्य हैं जो समाचार-पत्रों को पढ़ते हैं तथा सिनेमा-गृहों में मनोरंजन करते हैं।'[1] इसके अतिरिक्त, जैसा लॉर्ड ब्राइस ने ठीक ही कहा है, उस मुद्रित पृष्ठ में, जिसको पढ़ने की योग्यता मतदान के लिए आवश्यक मानी जाती है, उतना ही असत्य हो सकता है जितना कि सत्य, मुख्यकर यदि वह किसी राजनीतिक दल का मुखपत्र हुआ, जो कुछ बातों को गलत रूप में प्रकट करता है तथा कुछ पर आवरण डाल देता है और जो व्यक्ति राजनीतिक प्रश्नों के सम्बन्ध में उससे प्रकाश प्राप्त करता है, वह अपने उस पितामह की अपेक्षा अधिक योग्य एवं चतुर नहीं माना जा सकता जो आज से ८० वर्ष पहले अपने स्वामी या जमींदार के आदेशानुसार मतदान देता था। अन्त में, विज्ञान तथा ज्ञान के अन्य क्षेत्रों में उच्चकोटि का पाण्डित्य सार्वजनिक मामलों में अज्ञान के विरुद्ध कोई गारण्टी नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति ऐसे मतदाताओं को जानता है, जिन्होंने कॉलिजों में शिक्षा प्राप्त की है, परन्तु जिन्हें सार्वजनिक मामलों में अपने अशिक्षित मजदूर तथा कारीगर पड़ोसियों से भी कम ज्ञान था।

मतदान के लिए आवश्यक योग्यता के रूप में साक्षरता की कसौटी के विरुद्ध जो कुछ भी कहा जाय, उसके बावजूद भी इससे यह प्रकट नहीं होता कि मताधिकार के लिए शिक्षा-सम्बन्धी योग्यता सिद्धान्त की दृष्टि से अनुचित है। इस आलोचना से तो केवल इतना ही प्रकट होता है कि कोरे अक्षर-ज्ञान से व्यक्ति को आवश्यक रूप से वह ज्ञान प्राप्त नहीं होता जो सार्वजनिक प्रश्नों के सम्बन्ध में विवेकपूर्वक निर्णय करने के लिए आवश्यक है। शिक्षा-सम्बन्धी कसौटी गुरुत्वपूर्ण मतदान के समान सैद्धान्तिक रूप से सर्वथा उचित है, कठिनाई केवल उसके प्रयोग की व्यावहारिक कसौटी के अभाव की है।

सम्पत्ति के स्वाम्य तथा करदान की कसौटियाँ

सम्पत्ति के स्वाम्य तथा कर-दान की आवश्यकताओं पर भी अनेक व्यक्ति वही आपत्ति करते हैं। एक ओर, राज्य एक प्रकार की कम्पनी माना जा सकता है, जिसमें वे ही हिस्सेदार हो सकते हैं जिनके पास सम्पत्ति है; अथवा एक प्रकार की एजेन्सी माना जा सकता है जो उन कर देने वालों की रक्षा करती है, जो उसे कायम रखने के लिए धन देते हैं। परन्तु इस सिद्धान्त को स्वीकार कर हम वैसी ही भूल करेंगे जैसी हमने साक्षरता के सम्बन्ध में की है। सम्पत्ति का जो स्वाम्य उद्योग, परिश्रम और मितव्ययिता द्वारा प्राप्त किया गया है, वह स्वामी को शासन में भाग ले

१. Modern Democracies, Vol. I, pp. 73-74.

सकने की योग्यता का प्रमाण उस शासन मे माना जा सकता है जो उन अवस्थाओ का निर्धारण करता है जिनमे सम्पत्ति पैदा की जा सकती है, उसका उपभोग किया जा सकता है और उसका क्रय-विक्रय किया जा सकता है और जो उस सम्पत्ति के मूल्य के आधार पर उसमे कर लेता है परन्तु क्या ऐसा व्यक्ति भी, जिसने सम्पत्ति उपर्युक्त ढंग से प्राप्त नहीं की है, वैसे ही अधिकार का दावा कर सकता है ? क्या यह उचित और न्यायमुक्त होगा कि किसी नागरिक को, जो सब प्रकार से योग्य है, मताधिकार से तथा किसी राजकीय पद को प्राप्त करने से केवल इसलिए वंचित कर दिया जाय कि दुर्भाग्य से उसके पास सम्पत्ति नहीं है ? इसमे गम्भीर सन्देह है। कर देने की योग्यता अधिक समर्थनीय है मताधिकार के लिए सम्पत्ति-सम्बन्धी योग्यता आवश्यक रखने से कुछ विशिष्ट अवस्थाओ मे कठिनाई अवश्य उपस्थित होगी, परन्तु राज्य से जो संरक्षण व्यक्ति प्राप्त करता है, उसके आर्थिक बदले के रूप मे कुछ थोड़े से करदान की आवश्यकता से वैसा नही होगा। संक्षेप मे, सम्पत्ति का स्वामित्व तथा राज्य को कायम रखने के लिए करदान दोनो भिन्न बातें है और परस्पर आश्रित नही हैं।

(५) निर्वाचन-अधिकार के मूल्य का निर्धारण करने वाली बातें

प्रथम, निर्वाचित अधिकारियो की संख्या

प्रत्यक्षत मताधिकार का मूल्य तथा उसकी शक्ति, जिसका मताधिकारी या निर्वाचक प्रयोग कर सकता है, अनेक अवस्थाओ पर निर्भर है। प्रथम वह आवश्यक रूप से निर्वाचित अधिकारियो की संख्या तथा जिस सीमा तक कानूनो एवं सार्वजनिक नीतियो के सम्बन्ध मे मतसंग्रह का सिद्धान्त राज्य मे प्रयोग मे आता है, उनके अनुपात के अनुसार भिन्न होता है। स्पष्टत, उस राज्य मे सार्वलौकिक मताधिकार का कोई अर्थ नही होता जहाँ न कोई अधिकारी निर्वाचित होता है और न किसी भी रूप मे कानूनो के मसौदा पर जनमत संग्रह किया जाता है। योरोप के महाद्वीप मे सामान्यता कोई कार्यपालक (Executive) प्रशासनीय अथवा न्यायिक पदो की पूर्ति निर्वाचन द्वारा नही होती। फ्रान्स मे, जहाँ सार्वलौकिक पुरुष-मताधिकार प्रचलित है गणतन्त्र के राष्ट्रपति से लेकर ग्राम प्रमुख तक शासन का कोई भी अधिकारी और (प्रुदहोम्स की कौसिलो तथा वाणिज्य-न्यायालयो के सदस्यो को छोड़ कर) कोई भी न्यायाधीश निर्वाचित नहीं किया जाता। वहाँ पार्लमेण्ट के सदस्य तथा डिपार्टमेंट के तथा स्थानीय कौंसिलो के सदस्य ही लोक-निर्वाचन द्वारा निर्वाचित किये जाते हैं और जिस प्रकार अमेरिका मे जनमत संग्रह होता है, वैसा फ्रान्स मे नही होता। स्पष्टतः ऐसी अवस्था मे सार्वलौकिक मताधिकार का कार्य अत्यन्त सीमित है। दूसरी ओर, अमेरिकन यूनियन के राज्यो मे जहाँ बड़ी संख्या मे शासन तथा प्रशासन के अधिकारियो का निर्वाचन होता है, जहाँ कई राज्यो मे न्यायाधीशो का भी निर्वाचन होता है, जहाँ जनता द्वारा उम्मीदवार भी मनोनीत किये जाते हैं और जहाँ एक बड़े व्यापक रूप मे सामान्य कानून-निर्माण, नवीन विधानो और वैधानिक संशोधन की स्वीकृति तथा अनेक सार्वजनिक प्रश्नो के निर्णय के लिए जनमत संग्रह किया जाता है, जहाँ शासनाधिकारियो का कार्यकाल थोड़ा होता है और फलत. निर्वाचन बार-बार होते रहते है, निर्वाचक का कार्य योरोप के निर्वाचक के कार्य की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है और जैसा ऊपर बतला चुके है, उसका भार एवं दायित्व भी अधिक होता है, इतना अधिक कि विवेकपूर्ण मतदान अत्यधिक कठिन हो गया है।

द्वितीय, प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष निर्वाचन

दूसरे, निर्वाचक का कार्य एवं प्रभाव निर्वाचन की प्रत्यक्षता और अप्रत्यक्षता के अनुसार भी भिन्न-भिन्न होता है। योरोप के विविध देशों में जब मताधिकार में विस्तार किया गया, तब अप्रत्यक्ष तथा दोहरे निर्वाचन की प्रणाली की स्थापना की गयी जिससे प्रजातान्त्रिक मताधिकार के सम्भावित दोषों का परिहार किया जा सके। प्रशा में पहले निम्न सभागृह के लिए चुनाव अप्रत्यक्ष प्रणाली द्वारा होते थे। कई दूसरे जर्मन राज्यों में भी, उदाहरणार्थ सन् १९०२ तक बेवेरिया में, कुछ वर्ष पहले तक अप्रत्यक्ष निर्वाचन-प्रणाली स्थापित थी। फ्रान्स में सीनेट के सदस्य अभी तक अप्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा चुने जाते हैं। नार्वे में सन् १९०५ से पूर्व स्टॉर्थिङ्ग (Storthing) के सदस्यों का निर्वाचन अप्रत्यक्ष प्रणाली द्वारा होता था और स्वीडन में उच्च सभागृह के चुनावों में आज तक अप्रत्यक्ष प्रणाली ही प्रचलित है डेनमार्क में लेण्ड्सथिंग (Landsthing) के ६६ सदस्यों में से ५४ सदस्य अप्रत्यक्ष प्रणाली द्वारा चुने जाते हैं। जैसा सर्वविदित है सोवियत रूस का शासन अप्रत्यक्ष निर्वाचन-प्रणाली पर आधारित है किसान तथा कारीगर मतदाता ग्राम-सोवियतों को चुनते हैं, वे वोलोस्ट (Bolost) सोवियत के लिए अपने प्रतिनिधि चुनती हैं जो सारे रूसी कांग्रेस के लिए अपने प्रतिनिधि चुनती है और यह कांग्रेस कार्य-समिति का निर्वाचन करती है जो देश का शासन करने वाली प्रमुख संस्था है। प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् जितने विधान रचे गये हैं, उनमें निम्न सभागृह (और लोक-निर्वाचित उच्च सभागृह) के सदस्यों का निर्वाचन प्रत्यक्ष प्रणाली द्वारा रखा गया है।[1]

अप्रत्यक्ष निर्वाचन के पक्ष में तर्क

अप्रत्यक्ष निर्वाचन-प्रणाली के पक्ष में प्रमुख तर्क यह है कि इससे सार्वलौकिक मताधिकार के कारण जो सम्भावित खतरे हैं, वे किसी सीमा तक कम हो जाते हैं क्योंकि अन्तिम निर्वाचन का दायित्व ऐसे निर्वाचकों पर होता है, जो औसत दर्जे से अधिक योग्य, बुद्धिमान एवं दायित्वपूर्ण होते हैं। इस प्रणाली के कारण दलगत भावनाओं के दोषों में भी कमी हो जाती है, क्योंकि इसमें सामान्य निर्वाचकों का कार्य केवल उन लोगों का निर्वाचन करना रह जाता है जिन पर अन्तिम निर्वाचन का दायित्व होता है और वास्तविक निर्वाचन के कार्य को वह दूसरा छोटा निर्वाचित निर्वाचक-मण्डल करता है। जॉन स्टुअर्ट मिल ने कहा है कि 'यह योजना शायद लोक-भावना के पूर्ण प्रवाह को कुछ कम करने के लिए प्रचारित की गयी थी। इसके अनुसार मताधिकार और उसके साथ पूर्ण अन्तिम सत्ता जनता को दे दी गयी; परन्तु उन्हें इसके लिए बाध्य किया गया कि वे कुछ चुने हुए अल्प व्यक्तियों द्वारा इसका प्रयोग करें, जो लोक-उत्तेजना के प्रवाह में जनता की अपेक्षा कम प्रभावित होंगे और चूँकि निर्वाचक विशिष्ट चुने हुए व्यक्ति होंगे तथा बुद्धि और विवेक में जनसाधारण की अपेक्षा अधिक योग्य एवं अधिक चरित्रवान् होंगे, इस कारण यह आशा की गयी थी कि वे अधिक परवाह और बुद्धिमानी से चुनाव करेंगे तथा किसी भी दशा में उनके

---

१. सोवियत रूस के सन् १९३६ के विधान के अनुसार सोवियत रूस की सुप्रीम कौंसिल के दोनों सभागृहों के सदस्यों का निर्वाचन नागरिकों द्वारा होता है। एक का नाम है कौंसिल ऑफ यूनियन। इसमें ३००,००० जनता की ओर से एक प्रतिनिधि चुना जाता है। —अनुवादक

द्वारा निर्वाचन जनता की अपेक्षा अधिक दायित्वपूर्ण भावना से होगा।[1] परन्तु अनुभव से यह सिद्ध हो चुका है कि अप्रत्यक्ष निर्वाचन-प्रणाली व्यवहार में सन्तोषप्रद ढग से कार्यान्वित नही हो सकी। फ्रान्स में अप्रत्यक्ष प्रणाली से जो आशाएँ की गयी थीं, वे सफल नही हुईं, और इस प्रणाली को त्यागना पड़ा; केवल सीनेट के सदस्य ही इस प्रणाली से चुने जाते हैं। अन्य देशों का भी यही अनुभव है।

अप्रत्यक्ष निर्वाचन के विरुद्ध आपत्तियाँ

जिन देशों में राजनीतिक-दल-प्रणाली का पर्याप्त विकास है, उनमें अप्रत्यक्ष निर्वाचन-प्रणाली के एक प्रकार की कोरी परिपाटी हो सिद्ध होने की सम्भावना है क्योंकि जिन मध्यवर्ती निर्वाचकों (Intermediate Electors) का निर्वाचन मतदाताओं द्वारा किया जायगा, वे विशिष्ट उम्मीदवारों को चुनने के लिए वचनबद्ध होकर चुने जायँगे। संयुक्त राज्य अमेरिका में राष्ट्रपति तथा उपराष्ट्रपति के अप्रत्यक्ष निर्वाचन का यही इतिहास रहा है, जहाँ राष्ट्रपति के निर्वाचक राजनीतिक दलों के कठपुतले मात्र हो गये हैं, अपने इस महान् कार्य में न तो वे स्वतन्त्र बुद्धि से कोई निर्णय करते हैं और न उन्हे ऐसा करने की दलों द्वारा स्वतन्त्रता ही दी जाती है।[2] जैसा लार्ड ब्राउथम ने कहा है, जहाँ इस प्रकार मध्यवर्ती निर्वाचक दलों के कठपुतले होते हैं, वहाँ वे अवश्य ही कम वजन के होते हैं, उनमें उत्तरदायित्व की भावना भी कम हो जाती है क्योंकि उनका कार्य अस्थायी और कभी कभी होता है।[3] फ्रान्सिस लाइबर ने कहा है कि एकलौकन लोग सरल निर्वाचनों के पक्ष में हैं।' 'मध्यवर्ती निर्वाचकों द्वारा निर्वाचन से 'प्रतिनिधित्व में उत्तरदायित्व की प्रत्यक्षता नहीं रह जाती; प्राथमिक निर्वाचकों को कोई दिलचस्पी नही रहती क्योंकि उन्हें इसका कोई ज्ञान नही होता कि उनके मतदान का अन्तिम परिणाम क्या होगा, कोई भी स्पष्ट उम्मीदवार उनके सामने नही होता और न वे उसके लिए प्रयत्न कर सकते हैं और मध्यवर्ती निर्वाचकों की संख्या कम होने के कारण छल-कपट का प्रयोग सरल हो जाता है।[4] अप्रत्यक्ष निर्वाचन के चाहे जो लाभ हों जो मताधिकार मतदाताओं को केवल निर्वाचक चुनने की सत्ता प्रदान करता है, अपने प्रतिनिधियों को नही, उससे प्रातिनिधिक शासन की प्रकृति के विषय में संसार की जो वर्तमान धारणा है, उसे देखते हुए जनता

---

१ Representative Government, Ch. 9, p 180. सिजविक का कथन है कि दो बार (अप्रत्यक्ष निर्वाचन के अनुसार) निर्वाचन करने में व्यवस्थापिका में योग्य पुरुषों के पहुँचने की सम्भावना बढ़ती है परन्तु ऐसा तभी हो सकता है जब अप्रत्यक्ष निर्वाचन कोरी परिपाटी हो न हो और दोनों निर्वाचन ईमानदारी तथा स्वतन्त्रता के साथ हों क्योंकि निर्वाचित निर्वाचकों की योग्यता साधारणतया उनको निर्वाचित करने वाले नागरिकों से अधिक होने की आशा है और यह भी आशा है कि उनकी दायित्व-भावना भी दृढ़तर होगी (Elements of Politics, p. 130)। लावेलेये का भी मत है कि इस प्रणाली से श्रेष्ठतर चरित्र एवं योग्यता वाले प्रतिनिधि चुने जायँगे, क्योंकि चुनाव निर्वाचकों के पारस्परिक विचार विमर्श के परिणामस्वरूप होगा।

२ Civil Liberty and Self-Government, p. 174 ; Story, Commentaries, Vol I, Sec 576 भी देखिये।

३. The British Constitution, p. 170.

४. Dougherty, The Electoral System of the United States, Ch. 10

को सन्तोष नहीं मिल सकता। अप्रत्यक्ष निर्वाचन की कल्पना आधुनिक प्रजातन्त्र की भावना के प्रतिकूल है। लोक-शासन का एक सबसे प्रमुख गुण यह है कि उससे सार्वजनिक मामलों में जनता की अभिरुचि बढ़ती है और जनसाधारण की राजनीतिक बुद्धि का भी विकास होता है। यदि मतदाता और उम्मीदवार के मध्य में एक दूसरा व्यक्ति खड़ा हो जाय, तो स्वभावत उसकी दिलचस्पी कम हो जायगी और राजनीतिक शिक्षण के लिए उसके सुयोग भी कम हो जायेंगे। लॉर्ड ब्राउघम का कथन है कि यदि एक व्यक्ति निर्वाचक को चुनने के योग्य है, तो वह एक प्रतिनिधि को भी चुन सकता है। यह हो सकता है कि सार्वजनिक नीति के प्रश्नों एवं कानूनों के मसौदों पर अपना मत विवेकपूर्वक देने में अयोग्य हो, परन्तु वह अपनी ओर से यह कार्य करने के लिए प्रतिनिधि चुनने के योग्य हो सकता है। अन्त में अप्रत्यक्ष प्रणाली से रिश्वतखोरी को वृद्धि होती है, क्योंकि अन्तिम निर्वाचक-मण्डल अल्पसंख्यक होता है और समस्त निर्वाचकों की अपेक्षा वह सरलता के साथ हर प्रकार के प्रलोभन देकर भ्रष्ट किया जा सकता है।

गुप्त बनाम प्रकट मतदान

निर्वाचन-अधिकार का मूल्य एवं प्रभाव इस बात पर भी निर्भर है कि मतदान किस प्रणाली के अनुसार होता है। यह मत और यह व्यवहार सार्वभौम तथा सर्वमान्य है कि यदि मताधिकार का प्रयोग स्वतन्त्र रूप से और समुचित ढंग से होना चाहिए तो इसके लिए ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि मतदाता अपना मत गुप्त रूप से दे सके। प्राचीन काल में मौखिक तथा प्रकट मत देने की प्रथा थी और इसके समर्थक भी अनेक थे। मॉन्टेस्क्यू ने इस मौखिक प्रणाली का समर्थन इस आधार पर किया था कि इसके द्वारा जनसाधारण को अधिक विज्ञ और बुद्धिमान व्यक्तियों की सहायता एवं पथप्रदर्शन की प्राप्ति हो सकती है। जॉन स्टुअर्ट मिल ने भी इसका समर्थन इस आधार पर किया था कि 'मतदान के कर्तव्य का पालन भी अन्य सार्वजनिक कर्त्तव्यों की भाँति, जनता की आलोचना तथा देख-रेख में होना चाहिए।' यह एक ऐसा कार्य है जिसके समुचित सम्पादन में प्रत्येक का हित है और इसके साथ ही यदि कर्तव्य का पालन इस रीति से न हो तो इसे अपने साथ अन्याय समझने का अधिकार भी है।[१] प्रोफेसर ट्रीट्स्के ने गुप्त मतपत्र (Secret Ballot) को 'सबसे कुत्सित चाल कहा है जिसका उदारवाद के नाम पर प्रचार किया गया है।' उसके मत में गुप्त मतदान 'विवेकशून्य और अनैतिक है, मतदान सार्वजनिक दायित्व है और उसका प्रयोग भी सार्वजनिक रूप में होना चाहिए; यदि चुपके से मत-पत्र-बक्स तक जाने और उसमें मत पत्र डालने में कोई व्यक्ति अपना अपमान नहीं समझता, तो उसमें राजनीतिक सम्मान की सच्ची भावना नहीं हो सकती।'[२]

किन्तु प्रारम्भ से ही हेरिंगटन[3] जैसे विद्वान् हुए हैं जिन्होंने स्वतन्त्र मताधिकार के लिए गुप्त मतदान को आवश्यक माना है। परन्तु सन् १६२० तक प्रशा में, सन् १६०६ तक सेक्सनी में, सन् १८८८ तक बेवेरिया में और सन् १६०१ तक डेनमार्क में, प्रकट मतदान की प्रथा थी। स्पष्टतः हंगरी (बुडापेस्ट तथा उन नगरों को छोड़ कर जिनमें नगर-स्वशासन है) तथा सोवियत रूस ही ऐसे देश हैं जिनमें प्रकट मौखिक

---

१. Representative Government, Ch. 10.
२. Politics, Vol II, p. 193.
३. Oceana, p. 104.

मतदान (Public Oral Voting) प्रचलित है।[1] विशेषकर प्रशा में इसके परिणाम बहुत ही शोचनीय रहे हैं। सरकार ने इससे अनुचित लाभ उठाकर सरकारी उम्मीदवारों के पक्ष में दबाव डालकर मत प्राप्त किये और व्यवसायियों तथा उद्योगपतियों ने भी उन लोगों पर प्रभाव डाल कर, जो उनके नियन्त्रण में थे, मत प्राप्त किये। इसका परिणाम यह हुआ कि एक बड़ी संख्या में मतदाताओं ने मतदान का प्रयोग का इस भय से नहीं किया कि उन पर अनुचित दबाव डाला जायगा या उनके मत जनता को प्रकट हो जाने से उन्हें अपनी स्थिति अथवा पद आदि से हाथ धोना पड़ेगा। सन् १९०३ में प्रशा में राइक्स्टाग (Reichstag) के चुनाव में, जिसमें मत लिफाफों में बन्द करके अर्थात् गुप्त रीति से दिये गये थे, ७५ प्रतिशत निर्वाचकों ने भाग लिया, किन्तु प्रशा की लेण्डटाग (Landtag) के सदस्यों के चुनाव में, जिसमें मत प्रकट रूप से दिये गये थे, केवल २५ प्रतिशत निर्वाचकों ने ही मत दिये। इस पर भी इस प्रणाली का बेथमेन-हॉलवेग ने अपने १० फरवरी सन् १९१० को लेण्डटाग के सम्मुख भाषण देते हुए यह कह कर समर्थन किया कि हम गुप्त मतदान के विरुद्ध हैं; क्योंकि इससे निर्वाचक में उत्तरदायित्व की भावना विकसित होने के स्थान में कम होती है। दूसरी ओर, इससे समाजवादियों को पूंजीपति मतदाताओं के विरुद्ध आतङ्कवाद के प्रयोग के लिए प्रोत्साहन मिलता है।

सन् १९१४ से पूर्व फ्रान्स में मतदान की रीति

फ्रान्स में सन् १९१४ से पूर्व गुप्त मतदान प्रचलित नहीं था। उम्मीदवार स्वयं राज्य नहीं, मतपत्रों की व्यवस्था करते थे। ये मतपत्र निर्वाचन से पूर्व निर्वाचकों को वितरित कर दिये जाते थे। कानून के अनुसार मतपत्रों (Ballots) को श्वेत कागज पर मुद्रित कराना आवश्यक था और उन पर कोई चिह्न आदि न बनाने का नियम भी था जिससे वे पहचाने न जा सकें, परन्तु उनके आकार तथा रूप के सम्बन्ध में कोई नियम नहीं था। स्वभावतः उम्मीदवार मतपत्र के आकार तथा रूप के सम्बन्ध में किसी नियम के न होने से अनुचित लाभ उठाते थे और मतपत्र के आकारों द्वारा अपने पक्ष में दिये गये मतपत्र को जान लेते थे। मतदान-संग्रह के लिए नियुक्त कमरा खुला हुआ रहता था और उसमें सब लोग आ-जा सकते थे। संयुक्त राज्य अमेरिका के समान मतदान के स्थानों के लिए कोई परदा आदि नहीं था और न बेल्जियम के समान मतपत्र को लिफाफे में बन्द करने की प्रथा ही थी। ऐसी परिस्थितियों में उम्मीदवारों या उनके प्रतिनिधियों, मालिकों या सरकारी एजण्टों के लिए यह जानना बहुत ही सरल था कि मत किसके लिए दिये जा रहे हैं क्योंकि मतपत्र निर्वाचनाधिकारी को दिये जाते थे और वे सब जनता के सामने खुल्लम-खुल्ला उन्हें मतपत्र-पात्र में डालते थे। चेम्बर तथा सीनेट में मतदान प्रणाली के सुधार के सम्बन्ध में बड़े वादविवाद के पश्चात् सन् १९१४ में एक कानून स्वीकार किया गया, जिसके द्वारा लिफाफे द्वारा मत देने तथा राज्य की ओर से मतपत्र देने की व्यवस्था की गयी। मतपत्र मतदाता को तभी मिलता है जब वह मतदान-स्थान पर पहुँचता है और उसे मतदाता गुप्त स्थान पर जाकर लिफाफे में बन्द करता है। यह कानून बड़े विरोध के बाद स्वीकृत हुआ

[1] विद्वान् लेखक ने सोवियत रूस के सम्बन्ध में इस प्रणाली का जो उल्लेख किया है, वह सन् १९३६ के सोवियत विधान द्वारा उठा दी गयी है और उसके स्थान पर प्रत्यक्ष, गुप्त मतपत्र द्वारा मतदान की व्यवस्था स्वीकार कर ली गयी है।

—अनुवादक

था। आपत्ति विशेषकर मतदान स्थान के सम्बन्ध में थी कि इस प्रकार मतसंग्रह-स्थानों की व्यवस्था से बड़ा व्यय होगा। सीनेट ने उस नियम को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया जिसके अनुसार उम्मीदवार मतसंग्रह-स्थानों पर अपने पर्यवेक्षक रख सकते थे, जिससे वे अयोग्य मतदाताओं के मत देने के अधिकार पर आपत्ति कर सकें।

मतदान के लिए सुविधाएँ

अन्त में, मताधिकार का मूल्य एक सीमा तक मतदाताओं, विशेषतः श्रमजीवी वर्ग के मतदाताओं को मतदान की सुविधाएँ प्रदान करने पर निर्भर है। प्रथम युद्ध से पूर्व जर्मनी में समाजवादी प्रजातन्त्रवादियों (Social Democrats) की यह शिकायत थी कि निर्वाचन रविवार को नहीं रखे जाते जिस दिन श्रमजीवी वर्गों के मतदाताओं तथा सरकारी कर्मचारियों को उनमें भाग लेने का अवकाश होता है। जर्मनी में संयुक्त राज्य अमेरिका की भांति ऐसा कानून नहीं था जिसके अनुसार निर्वाचन के दिन मतदाता अपने कार्य को छोड़ कर मत दे सकें और इसके लिए उनकी मजदूरी या वेतन काटा नहीं जाता। इस प्रकार एक बड़ी संख्या में मतदाता अपने उस अधिकार के प्रयोग से वास्तव में वंचित थे जो कानून में उन्हें प्राप्त था। जर्मन शासन-सूत्र ऐसे व्यक्तियों के हाथों में था जो समाजवादी मतों को कम करना चाहते थे और इसलिये वे रविवारों को निर्वाचन नहीं रखते थे। जर्मनी के नये शासन-विधान में स्पष्ट रूप से यह व्यवस्था की गयी है कि निर्वाचन रविवार को होंगे और समस्त योरोप में यही नियम व्यापक रूप से प्रचलित है।

यह स्वाभाविक है कि निर्वाचन-क्षेत्र जितने ही छोटे होंगे और निर्वाचन-केन्द्र (Polling Booths) जितने ही निकट होंगे, सुविधा के विचार से रुकने वाले मतदाताओं की संख्या भी उतनी ही कम होगी। बेल्जियम में सन् १८९३ से पूर्व निर्वाचनों में मतदाताओं की एक बड़ी संख्या निर्वाचनों में भाग नहीं लेती थी; उसका कारण यही था कि उन्हें एक लम्बी यात्रा पूरी करके जिले के मुख्य नगर को मत देने जाना पड़ता था।

इस सम्बन्ध में एक और भी सुधार यह हुआ है जो संयुक्त राज्य अमेरिका में साधारणतया प्रचलित है कि जो मतदाता निर्वाचन के दिन अपने निवास-स्थान पर उपस्थित नहीं हों और इस कारण निर्वाचन केन्द्र पर उपस्थित नहीं हो सके, वह डाक द्वारा अपना मतपत्र अपने निर्वाचन-केन्द्र पर भेज सकता है और उस मत का मूल्य उतना ही होता है जितना स्वयं वहाँ उपस्थित होकर देने में होता। इसी प्रकार की व्यवस्था ब्रिटिश लोक-प्रतिनिधित्व कानून (British Representation of Peoples Act of 1918) में की गयी है, परन्तु यह नियम योरोप महाद्वीप के देशों में प्रचलित नहीं हुआ है।[1] डाक द्वारा मतपत्र भेजने की व्यवस्था से एक बड़ी संख्या में वे मतदाता-जो निर्वाचन के दिन अपने निर्वाचन-क्षेत्र से कार्यवश बाहर गये होते हैं, मताधिकार से वंचित रहने से बच जाते हैं।

---

१. सन् १९२३ में ओण्टेरियो की व्यवस्थापिका ने एक कानून के द्वारा ऐसी व्यवस्था की है कि जो रेलवे-कर्मचारी अथवा व्यापारिक यात्री म्यूनिसिपल चुनाव के दिन घर से बाहर होने की आशा करते हों, वे चुनाव के पहले के तीन दिनों में से किसी भी दिन एक विशिष्ट निर्वाचन में अपना मत दे सकते हैं।

मुख्य पाठ्य-ग्रन्थ

Barthelemy,	"Les institutions politiques de l' Allemagne contemporaine" (1915), pp. 70-80 ; "L'organisation du suffrage et l'experience Belge" (1912)
Beard,	"The Ballot's Burden," *Political Science Quarterly*, Vol. XXIV, pp. 589 ff.
Bluntschli,	"Politik" (1876), Bk. X, Chs. 1-2.
Bryce,	"Modern Democracies" (1922), Vol. I, Ch 8.
Finer,	"The Theory and Practice of Modern Government" (1932), Vol. I, Ch. 11
Gaffney,	"Suffrage Limitations of the South," *Political Science Quarterly*, Vol. XX (1905), pp. 53 ff.
Gooch,	"Family Voting in France" *American Political Science Review*, Vol XX (1926), pp. 299 ff.
Haynes,	"Educational Qualifications for the Suffrage in the United States," *Political Science Quarterly*, Vol. XIII (1898), pp 495 ff.
Maine,	"Popular Government" (1888), Ch. 1
Merriam,	"American Political Ideas" (1920), Ch. 3
Mill,	"Representative Government" (1861) Chs. 8-10.
Phillips,	"Educational Qualifications for Voters," *Univ. of Colo, Bulletin*, Vol VIII (1906)
Porter,	"Suffrage Provisions in State Constitutions," *American Political Science Review*, Vol. XIII (1919), pp 519 ff
Porter,	"History of Suffrage in the United States" (1908).
Ray,	"Absent Voting Laws," *American Political Science Review*. Vol XVIII (1924), pp. 321-325.
Robson,	"Compulsory Voting," *Political Science Quarterly*, Vol XXXVIII (1923), pp. 569 ff.
Seymour and Fray,	"How the World Votes"
Shepard,	"The Theory of the Nature of the Suffrage," *American Political Science Review*, Supp., Vol. VII (1913), pp 106 ff
Sidgwick,	"Elements of Politics" (1897), pp. 378-400
Smith,	"Negro Suffrage in the South," in Garner and others, "Studies in Southern History and Politics" (1914), pp 231-258.

व्यवस्थापक अंग

(१)

(१) शासन की सत्ताओं का वितरण

द्विसत्ताक (Two-Power) सिद्धान्त

शासन की सत्ताओं का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है ; प्रथम, राज्य की इच्छा के निर्माण एवं उसकी अभिव्यक्ति से सम्बन्धित सत्ताएँ तथा द्वितीय, इस प्रकार अभिव्यक्त इच्छा को कार्यरूप में परिणत करने वाली सत्ताएँ। प्रथम प्रकार की सत्ता को सामान्यतया व्यवस्थापन (Legislation) कह सकते हैं जिसमे विधान निर्माण करने वाली तथा कानून बनाने वाली दोनों प्रकार की सभाओं के कार्य सम्मिलित हैं। इस वर्गीकरण के अनुसार न्याय-व्यवस्था, जिसे न्यायिक सत्ता (Judicial Power) कहते हैं कार्यपालिका सत्ता (Executive Power) का ही एक अंश अथवा रूपमात्र है।

द्विसत्ताक सिद्धान्त के समर्थक राज्य की इच्छा को कार्यान्वित करने से सम्बन्ध रखने वाले कामों को तीन वर्गों में विभाजित करते हैं—(१) जो व्यापक अर्थ में कार्यपालिका (Executive) के कार्य हैं अथवा जो कार्यपालिका सम्बन्धी कामों के सामान्य निरीक्षण तथा निर्देशन तक सीमित हैं ; (२) जो प्रशासन सम्बन्धी हैं अथवा जिनका सम्बन्ध वास्तव में शासन के कार्यपालिका सम्बन्धी कार्यों के सम्पादन के लिए किये जाने वाले विभिन्न प्रकार के कामों से है और (३) जो न्यायिक हैं अर्थात् जिनका सम्बन्ध देश के कानूनों की व्याख्या तथा विशिष्ट मामलों में उन्हें लागू करने से है। अन्त में, यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि फ्रेन्च लेखक यद्यपि न्यायसत्ता को कार्यपालिका सत्ता का ही एक अंग मानते हैं ; परन्तु वे प्रशासन तथा न्याय-व्यवस्था को पृथक मानते हैं और न्यायविभाग को प्रशासनीय अधिकारियों पर किसी प्रकार की नियन्त्रण सत्ता नहीं देते। दूसरे शब्दों में, जैसा डायसी ने कहा है, फ्रान्स में सत्ता पृथक्करण (Separation of Powers) का अर्थ उस अर्थ से कहीं भिन्न है जो इंगलैण्ड तथा संयुक्त राज्य अमेरिका में प्रचलित है। फ्रान्स में इसका अर्थ केवल यही नहीं है कि न्यायाधीश कार्यपालिका सत्ता के प्रभाव से मुक्त हों, जैसा अमेरिका में है, वरन् इसके अनुसार सरकार तथा उसके अधिकारी-वर्ग को भी साधारण न्यायालयों की अधिकार-सीमा से स्वतन्त्र होना चाहिए।

त्रिसत्ताक सिद्धान्त (Trinity Theory)

द्विसत्ताक सिद्धान्त को फ्रान्स के अधिकांश लेखकों ने तो स्वीकार किया है,

परन्तु कुछ ऐसे भी बड़े उच्च कोटि के विद्वान् हैं जो इसे उचित नहीं मानते। उदाहरणार्थ, एसमीन कहता है कि न्यायाधीश का कानून को लागू करने का कार्य कार्यपालिका के कार्य का अंग नहीं है और इस कारण वह कार्यपालिका सत्ता के अधीन नहीं है। उसने यह तो माना है कि न्यायपालिका का कार्य कार्यपालिका के काम से प्राथमिक है, अर्थात् न्यायाधीश प्रथम यह निर्णय करते हैं कि कानून किसी विशेष मामले में प्रयोज्य है या नहीं परन्तु इस कारण वह कार्यपालिका का कार्य नहीं बन जाता। यदि न्यायिक सत्ता केवल कार्यपालिका सत्ता का प्रसंग (Incident) मात्र है, तब तो न्यायाधीश कार्यपालिका सत्ता के एजेन्टमात्र हुए जो उसके नाम पर न्याय करते हैं। इसके अतिरिक्त चूंकि न्यायिक सत्ता के प्रयोग का अनेक मामलों में कानून के अमल से कोई सम्बन्ध नहीं होता, ऐसे मामलों में वह कार्यपालिका सत्ता का अंग कैसे हो सकता है ?[1]

विशुद्ध कानूनी तर्क तो द्विसत्ताक सिद्धान्त के पक्ष में है, तथापि लेखकों का विशाल बहुमत इस परम्परागत सिद्धान्त को ही मानता है, जो शासन-सत्ता को तीन वर्गों में विभाजित करता है—व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका।[2]

अन्य वर्गीकरण

कुछ नवीन लेखकों ने इस वर्गीकरण को इस आधार पर दोषपूर्ण माना है कि यह शासन की कुछ ऐसी सत्ताओं पर विचार नहीं करता, जो इन तीनों वर्गों में शामिल हैं परन्तु जो इनसे भिन्न अपने ही वर्ग में स्थान पाने योग्य हैं। एक लेखक पाँच वर्ग मानता है, (१) विचारात्मक (Deliberative), (२) कार्यपालिका (Executive), (३) व्यवस्थापिका (Legislative), (४) प्रशासन सम्बन्धी (Administrative) और (५) न्यायिक (Judicial)। एक दूसरा लेखक[3] व्यवस्थापिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका के साथ निर्वाचक-मण्डल और प्रशासन-सम्बन्धी सत्ताओं को भी शामिल करता है। उसका कथन है कि संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे देशों में, जहाँ लोकशासन ने सबसे अधिक प्रगति की है और राज्य की नीतियों के निर्माण में 'आरम्भक' तथा 'जनमत-संग्रह' का बड़ा स्थान है, उनमें निर्वाचक-मण्डल 'शासन का एक विशिष्ट विभाग' बन गया है और उसे 'शासन-यन्त्र का एक प्रमुख भाग या यथार्थ रूप में शासन से बाहर स्थित' माना जा सकता है।[4] उसके अनुसार प्रशासन सत्ता अपनी प्रकृति में कार्यपालिका सत्ता से भिन्न है और इसलिए किसी भी व्यावहारिक वर्गीकरण में उसे एक भिन्न वर्ग में स्थान मिलना उचित है। प्रशासन सत्ता की भिन्नता इस बात में है कि प्रशासन सत्ता में सम्बन्धित अधिकारी वर्ग केवल आदेशानुसार कार्य करते हैं परन्तु कार्यपालिका सत्ता निर्णय करती है, कभी-कभी नीतियों का निर्धारण करती है और उसमें निर्देशन, निरीक्षण एवं नियन्त्रण के कार्य सम्मिलित हैं।[5] यह भेद तो

Droit Constitutionnel, pp. 337-331.

मालबर्ग ने राज्य के कामों को इन्हीं तीनों विभागों में बाँटा है। उसका कथन है कि न्याय करने का कार्य प्रशासनीय कार्य से बहुत भिन्न नहीं है, परन्तु उसका निष्कर्ष यही है कि इससे यह सिद्ध नहीं होता कि न्यायपालिका राज्य की तीसरी शक्ति नहीं है। उसे तीसरी शक्ति मानना ही चाहिए।

Dealey, The Development of the State (1900), p 144.

Willoughby, The Government of Modern States, p. 229

इस पुस्तक में सत्ता-पृथक्करण के सिद्धान्तों की चर्चा नहीं की गयी है। उसका

उपयुक्त है ; परन्तु चूँकि प्रशासन तथा कार्यपालिका-सत्ताएं शासन के एक ही अंग अथवा विभाग को सौंप दी जाती हैं, इसलिए अधिकांश लेखक शायद उन्हें एक और अविभाज्य ही मानते रहेंगे।

व्यवस्थापन सत्ता की सर्वोच्चता

राज्य की इच्छा जिन अवयवों द्वारा अभिव्यक्त होती है, उनमें व्यवस्थापक-मण्डल का स्थान निस्सन्देह सर्वोच्च है। जिन राज्यों में एकात्मक शासन-प्रणाली प्रचलित है, उनमें व्यवस्थापक-मण्डल ही यह निर्णय करता है कि शासन सत्ता का प्रादेशिक दृष्टि से किस प्रकार वितरण होगा; अर्थात् शासन किस सीमा तक विकेन्द्रित होगा।[1] फ्रान्स जैसे राज्यों में, जिनके विधानों में, शासन-सगठन के सम्बन्ध की विस्तार की बातें अधिक नहीं होतीं, व्यवस्थापक-मण्डल ही शासन-सगठन सत्ता-विभाजन तथा शासन के विभिन्न अंगों के पारस्परिक सम्बन्धों का निर्णय करता है। समस्त राज्यों में व्यवस्थापक-मण्डल आय के साधनों पर अपनी सत्ता और राजकीय पदों के निर्माण तथा नवीन राजकीय संस्थाओं की स्थापना के अधिकार द्वारा शासन के दूसरे अवयवों की रचना एवं उनके कार्यों पर बहुत कुछ प्रभाव डालता है इस प्रकार व्यवस्थापक मण्डल एक अर्थ में प्रशासन का नियामक है।[2] कानून-निर्मात्री सत्ता की इच्छा आवश्यक रूप में कार्यपालिका तथा न्यायपालिका-सत्ताओं से किसी मात्रा में ऊपर होना चाहिए, क्योंकि, प्रथम, उस इच्छा की व्याख्या करने तथा उसके अनुसार कार्य करने से पूर्व उसकी अभिव्यक्ति होना आवश्यक है। दूसरे, यह व्यवस्थापक मण्डल का ही कार्य है कि वह ऐसी उन सब एजेन्सियों एवं अधिकारियों की व्यवस्था करे जिनके द्वारा उसकी व्याख्या की जाती है और कार्य रूप में परिणत की जाती है। जैसा गत अध्याय में स्पष्ट किया जा चुका है, फ्रान्स में व्यवस्थापक-मण्डल ने कार्यपालिका के विरुद्ध जो अपना महत्व एवं गौरव स्थापित कर लिया है, उससे वह सन्तुलन नष्ट हो गया है, जो मन्त्रि-परिषद्-शासन-प्रणाली की सफलता की कुन्जी है और फलस्वरूप फ्रान्स में मन्त्रि-परिषद्-शासन-प्रणाली निर्बल हो गयी है।

कुछ देशों में, जिनमें इंगलैण्ड सबसे प्रमुख है, जहाँ विधायक (Constituent) तथा व्यवस्थापक सत्ताओं का एकीकरण है, व्यवस्थापक-मण्डल दोहरा कार्य करता है। वह विधान की रचना एवं उसमें संशोधन करता है और साधारण कानून को भी

वर्णन मेरी पहली पुस्तक, Introduction of Political Science के तेरहवें अध्याय में किया गया है, इस सिद्धान्त का कि स्वतन्त्रता की रक्षा के निमित्त व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका की सत्ताओं का पूर्ण पृथक्करण होना चाहिए, आजकल कोई मूल्य नहीं रह गया है और आजकल के अनेक शासनों का सगठन उस सिद्धान्त के अनुरूप नहीं है। इस विषय पर बड़ा विस्तृत साहित्य है। अधिक प्रख्यात लेखकों के मतों का John A. Fairlie ने *Mich. Law Review*, Vol. XXI (1923) में The Separation of Powers शीर्षक वाले लेख में संग्रह किया है।

[1] तुलना कीजिये, Willoughby, The Government of Modern States, p. 219.

[2] तुलना कीजिये, Goodnow, Comparative Administrative Law, Vol. I, p. 31.

रचना करता है।[1] एकात्मक राज्यों में वह राष्ट्रीय तथा स्थानीय दोनों प्रकार की कानून निर्माण करने वाली सभा का काम भी करता है।

व्यवस्थापक-मण्डल के कानून-निर्माण से भिन्न कार्य

अधिकांश देशों में व्यवस्थापक-मण्डल कानून की रचना के अतिरिक्त अन्य अनेक कार्य करता है—जैसे, निर्वाचन-सम्बन्धी, न्यायिक, निर्देशात्मक और कार्यपालिका सम्बन्धी। अनेक देशों में व्यवस्थापक-मण्डल शासन-विधान में संशोधन के लिए प्रस्ताव पेश करने की अपनी सत्ता द्वारा और अमेरिकन राज्यों में काँग्रेस द्वारा प्रस्तावित संशोधन को स्वीकार करने की सत्ता द्वारा विधान की संशोधन-प्रक्रिया में भाग लेता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में काँग्रेस राष्ट्रपति तथा उपराष्ट्रपति के निर्वाचनों के औचित्य के सम्बन्ध में निर्णय करती है और अनेक राज्यों के व्यवस्थापक-मण्डलों को गवर्नर के निर्वाचन के सम्बन्ध में वैसे ही अधिकार हैं। कुछ परिस्थितियों में अमेरिकन काँग्रेस का निम्न सदन राष्ट्रपति का और सीनेट उपराष्ट्रपति का निर्वाचन करते हैं। फ्रान्स में तथा योरोप के अनेक नवीन गणतन्त्र-राज्यों में व्यवस्थापक-मण्डल ही राष्ट्रपति का निर्वाचन करते हैं। स्विट्जरलैंड में व्यवस्थापक-मण्डल कार्यपालिका-समिति, न्यायाधीशों, चान्सलर तथा सेनानायक के निर्वाचन के लिए निर्वाचक-मण्डल का कार्य करता है। प्रशा, बेवेरिया और बादेन में व्यवस्थापक-मण्डल मन्त्रि-परिषद् या कम से कम प्रधान मन्त्री का निर्वाचन करता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में सीनेट राष्ट्रपति द्वारा की गयी नियुक्तियों को स्वीकृति तथा सन्धि करने की सत्ता के प्रयोग के सम्बन्ध में उसे परामर्श देने और (निषेधात्मक रूप से) उस पर नियन्त्रण रखने के लिए एक प्रकार की कार्यपालिका-समिति की भाँति कार्य करती है। पुरानी जर्मन व्यवस्थापक-मण्डल (Bundesrath) को अध्यादेश बनाने और अन्य प्रशासन सम्बन्धी तथा न्यायिक कार्यों का सम्पादन करने का विशेष अधिकार था। जिन देशों में सार्वजनिक अधिकारियों को महाभियोग (Impeachment) द्वारा पदच्युत करने की व्यवस्था है, उनमें एक सदन ऐसे मामलों की सुनवाई के लिए न्यायालय का कार्य करता है, और कुछ योरोपियन देशों में, जिनमें फ्रान्स प्रमुख है, उच्च सदन राज्य प्रमुख तथा मन्त्रियों आदि के अपराधों की सुनवाई के लिए ही नहीं वरन् सामान्यतया राज्य की सुरक्षा के विरुद्ध किए गये अपराधों की जाँच के लिए भी उच्च न्यायालय का कार्य करता है। अनेक योरोपियन राज्यों में राज-बन्दियों के क्षमादान या मुक्ति देने की न्यायिकप्राय (Quasi-Judicial) सत्ता भी व्यावस्थापक-मण्डल को प्राप्त है।

अमेरिकन काँग्रेस की तुलना एक कॉरपोरेशन की संचालक-समिति से की जाती है, क्योंकि वह यह निश्चय करती है कि सरकार, विशेष रूप से उसकी प्रशासनीय शाखा का किस प्रकार संगठन होगा, वह क्या क्या कार्य करेगी और कैसे करेगी

---

१. ब्रिटिश पार्लामिण्ट चार हैसियत में काम करती है—(१) इंगलैण्ड तथा स्कॉटलैण्ड (और कुछ वर्ष पहले तक आयरलैण्ड) के लिए स्थानीय व्यवस्थापक मण्डल की तरह, (२) दोनों देशों के लिए सामान्य व्यवस्थापक मण्डल की तरह; (३) अधीन प्रदेशों (Dependencies) के लिए अन्तिम व्यवस्थापक मण्डल की तरह और (४) समस्त साम्राज्य के लिए सर्वोच्च व्यवस्थापक मण्डल की तरह। देखिये, Macdonald, The Federal Solution, *Contemporary Review*, Vol. CXIV (1918), p. 134.

तथा उसके सचालन मे कितना व्यय होगा।[1] अन्त मे, व्यवस्थापक-मण्डल लोकमत की अभिव्यक्ति का एक साधन है। उसके सदस्यों को महत्वपूर्ण राजनीतिक प्रश्नो पर उनके निर्वाचन-क्षेत्रो से आदेश प्राप्त होते हैं, आवेदन-पत्र तथा स्मरण-पत्र उसी को सम्बोधित किये जाते हैं और व्यवस्थापन से जिन विशिष्ट हितों पर प्रभाव पड़ता है, *उनके प्रतिनिधि उसको विविध समितियों के समक्ष उपस्थित होकर अपना मत प्रकट करते हैं। इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि आधुनिक व्यवस्थापक-मण्डल केवल* कानून रचने वाले अवयव से बहुत कुछ अधिक हैं, यद्यपि उनका प्राथमिक अथवा सामान्य कार्य फिर भी व्यवस्थापन का ही है।

(२) व्यवस्थापक-मण्डल की उत्पत्ति एवं विकास

प्राचीन व्यवस्थापक-मण्डल

जिस प्रकार की प्रातिनिधिक व्यवस्थापक-सभाएं आजकल हैं, वे सापेक्ष दृष्टि से नवीन हैं। मॉंतेस्क्यू ने कहा है कि 'प्राचीन लोगो मे प्रतिनिधियो द्वारा निर्मित व्यवस्थापिका-सभाओ का ज्ञान नही था।'[2] प्राचीन समय मे व्यवस्थापन-सत्ता का *प्रयोग प्रतिनिधियो की एक चुनी हुई छोटी सभा द्वारा नही वरन् राजा द्वारा किया* जाता था या प्राथमिक जन-सभाओ मे जनता ही कानून-निर्माण करती थी। इतिहास-वेत्ता फ्रीमैन ने प्राचीन यूनान के शासनो के सम्बन्ध मे लिखा है कि 'पुरातन विश्व-सीमा का अतिक्रमण किये बिना ही प्रतिनिधि-शासन के किनारे तक पहुँच गया।' जो सभा प्रस्तावित कानूनो पर अमल करती थी और उन्हे अपनी स्वीकृति प्रदान करती थी, उसमे स्वतन्त्र व्यक्ति अपनी वैयक्तिक हैसियत से एकत्रित होते थे, उस युग मे कानून-निर्माण के सम्बन्ध मे प्रतिनिधित्व के विषय मे किसी को ज्ञान नही था।[3]

प्रतिनिधित्व-प्रणाली की उत्पत्ति, इंगलैण्ड

आधुनिक प्रातिनिधिक प्रणाली का आरम्भ जर्मनी मे प्राचीन ट्यूटनो की जन-मण्डलियो (Folkmoots) मे मिलता है।[4] वे जन (Tribe) के प्राकृतिक नेताओं (प्रमुखो) की सभाएं होती थी,[5] जो अपने जन के सामान्य हितो के अधिक महत्व-पूर्ण प्रश्नो पर विचार एवं निर्णय करती थी। प्राचीन इंगलैंड की विटेनगेमोट (Witenagemot) मे से ही इतिहास की प्रथम व्यवस्थापिका-सभा—'पार्लमिण्टो की जननी' का विकास हुआ। यह अपने प्रारम्भिक रूप मे प्रतिनिधि-सभा नही थी, कम से कम आधुनिक अर्थ मे तो वह नहीं थी, परन्तु कालान्तर मे, जब उसका नाम बदल गया, उसमें कुछ सदस्य ऐसे होने लगे जो वास्तविक रूप मे प्रतिनिधि कहे जा सकते थे। पहले शायद वे काउण्टियो के शेरिफो द्वारा चुने जाते थे, बाद मे माफी की भूमि

---

१. Willoughby, op cit., p 301.
२. Esprit des Lois, Bk. XI, Ch. 8.
३. History of Federal Government, Ch. 2.
४. रूसो (Contrat Social, Bk. III, Ch. 15) ने कहा है कि प्रतिनिधित्व की कल्पना आधुनिक है। वह हमें सामन्ती शासनो से प्राप्त हुई है। प्राचीन गण-तन्त्रो और एकतन्त्रो मे भी जनता के प्रतिनिधि नहीं होते थे। लोग इस शब्द को भी नही जानते थे।
५. यह परम्परागत मत है, परन्तु इसके विरोधी भी है।

के स्वामियों द्वारा उनका निर्वाचन होने लगा। तेरहवीं शताब्दी में सायमन डी मॉण्ट-फोर्ट के समय में नगरों (Boroughs) के प्रतिनिधि भी लिये जाने लगे और उस शताब्दी के अन्त तक वह उन समस्त तत्वों से पूर्ण हो गयी जो आज की ब्रिटिश पार्लमेण्ट के सगठन में विद्यमान हैं। पादरियों के भी प्रतिनिधि उसमें थे और इस प्रकार पार्लमेण्ट वास्तव में राज्य के तीन प्रमुख वर्गों अथवा समुदायों (Estates)—कुलीन वर्ग, साधारण जनता तथा पादरी वर्ग—की प्रतिनिधि-सभा थी। चौदहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में सभा के दो भाग हो गये और विकास की प्रक्रिया पूर्ण हो गयी।[1]

महाद्वीप में

यारोपीय महाद्वीप में प्रतिनिधि-संस्थाओं का विकास देर से, बड़ी धीमी गति से, रुक-रुक कर और कुछ-कुछ भिन्न रीतियों से हुआ। योरोप के कुछ मध्ययुगीन राज्यों के शासनों में प्रतिनिधि सिद्धान्त आंशिक रूप में विद्यमान था, परन्तु वह बहुत ही अपरिपक्व एवं अपूर्ण था। वह कुलीन-वर्ग, व्यवसायी-वर्ग तथा अन्य प्रकार की संस्थाओं का प्रतिनिधित्व था—जनता का नहीं। बारहवीं शताब्दी में कास्टिल और एरागॉन की कॉर्टेज (Cortes) में हम ऐसी व्यवस्थापिका परिषद् का रूप पाते हैं जिसमें अन्य प्रतिनिधियों के साथ-साथ नगरों के भी प्रतिनिधि होते थे। वास्तव में, मध्ययुग में नगरों की वृद्धि में ही राष्ट्रीय परिषदों में अपने प्रतिनिधित्व के लिए की जाने वाली उनकी माँग के द्वारा प्रतिनिधि-सिद्धान्त के विकास को स्फूर्ति मिली। फ्रान्स में सबसे प्रथम बार सन् १३०२ में कुलीन वर्ग, पादरियों तथा नगरवासियों के प्रतिनिधियों की एक सभा हुई और यहीं से वहाँ प्रतिनिधि-शासन-प्रणाली का प्रारम्भ हुआ। प्रथम बार राजा ने परामर्श तथा सूचना देने के लिए इस परिषद् को आमन्त्रित किया, परन्तु इस परिषद् (स्टेट्स-जनरल) ने शीघ्र ही यह सिद्धान्त स्थिर कर दिया कि उसकी अनुमति के बिना कोई कर नहीं लगाया जा सकता। उसकी बैठक कई सौ वर्षों तक कभी-कभी होती रही, परन्तु बाद में क्रान्ति के पहले तक उसकी बैठकें होना बिलकुल बन्द हो गया था। क्रान्ति ने वर्ग प्रतिनिधित्व-प्रणाली का अन्त करके उसके स्थान पर राष्ट्रीय प्रतिनिधित्व की स्थापना की। जर्मनी में भी तेरहवीं तथा चौदहवीं शताब्दी में फ्रान्स की भाँति ही वर्ग-प्रतिनिधि-प्रणाली का विकास हुआ।

प्राचीन प्रतिनिधि-प्रणालियों की विशिष्टताएँ

मध्ययुग में प्रतिनिधि-प्रणाली की एक प्रमुख विशिष्टता यह थी कि उसमें समस्त जनता का प्रतिनिधित्व नहीं था, वरन् पादरियों, कुलीन वर्गों और नगरवासियों, जैसे विशिष्ट वर्गों अथवा हितों का ही प्रतिनिधित्व था। मध्ययुग में समाज विशिष्ट वर्गों तथा सामाजिक समुदायों के आधार पर सगठित था और उनमें से प्रत्येक वर्ग को प्रतिनिधित्व देना उस समय की राजनीति का एक अंग था। आज भी बहुत से एकतन्त्रीय देशों में व्यवस्थापक-मण्डल के एक सदन में विशेषाधिकारयुक्त अथवा स्थितिपालक तत्वों के प्रतिनिधित्व के रूप में यह धारणा विद्यमान है। मध्ययुग में कुलीन-वर्गों, नगरों तथा ग्रामों के साथ साथ चर्च का भी प्रतिनिधित्व होता था। अब प्रायः सभी देशों में चर्च का प्रतिनिधित्व नहीं रहा यद्यपि अनेक योरोपीय राज्यों के विधानों में ऐसी व्यवस्था है जिसके कारण चर्च के कुछ ऊँचे अधिकारियों को राष्ट्रीय व्यवस्थापक मण्डल में स्थान दिये जाते हैं।

---

१. परन्तु स्कॉच पार्लमेण्ट में भिन्न-भिन्न वर्गों के प्रतिनिधि एक ही सदन में बैठते थे।

मध्ययुगीन प्रतिनिधि

एक लम्बे समय तक प्रत्येक समुदाय के प्रतिनिधि पृथक्-पृथक् आमन्त्रित किये जाते थे और प्रायः विभिन्न सदनों में बैठते थे तथा पृथक् रूप से मत देते थे। इस प्रकार उस युग में एक या दो सदन ही नहीं बल्कि तीन तथा चार तक सदन वाली सभाएँ हुआ करती थीं। स्वीडन की राष्ट्रीय पार्लामेण्ट के सन् १८६६ तक चार सदन थे जो कुलीन-वर्ग (Nobility), पादरी-वर्ग मध्यम-वर्ग (Bourgeoisie) तथा किसान-वर्ग का प्रतिनिधित्व करते थे। मध्यकालीन प्रणाली में प्रतिनिधि को अपने निर्वाचन-क्षेत्र से एक कमीशन (आदेश) मिलता था। उसे प्रायः निर्देश दिया जाता था कि मत किस प्रकार देना चाहिए और उसका यह कर्तव्य था कि वह उस आदेशानुसार कार्य करे तथा अपने कार्य की ठीक-ठीक रिपोर्ट अपने निर्वाचन-क्षेत्र को दे। यह आदेश आधुनिक प्रतिनिधि को दिये जाने वाले आदेश से भिन्न और अलघनीय होता था। उसे कुछ विशेष शिकायतों के निवारण का ही अधिकार था और कानून-रचना का सामान्य अधिकार कभी-कभी ही होता था।[1] इंगलैण्ड के अतिरिक्त[2] किसी भी देश में इन विविध वर्गों द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि सम्पूर्ण देश के प्रतिनिधि बन कर साधारण कानून-रचना का कार्य नहीं कर सकते थे।[3]

जैसा कि लॉर्ड ब्राउधम का मत है, प्राचीन तथा मध्ययुगीन प्रतिनिधि एक डेलीगेट जैसा था जो समाज की आकांक्षा को घोषित करने के लिए दूसरे डेलीगेटों से मिलने के लिए नियुक्त किया जाता था, परन्तु समस्त समाज के कल्याण के लिए परामर्श करने के निमित्त नहीं। वह एक प्रकार का राजदूत होता था जो अन्य राज्यों के राजदूतों से बातचीत करने के लिए भेजा जाता है। वह समाज के एक अंग का

१. तुलना कीजिये, Jellinek, Recht des mod. Staates, pp. 556, 553, Stubbs, Constitutional History of England, Vol. II, p. 424; Sidgwick, Development of European Polity, Ch. 21. Edward Jenks ने The State and the Nation (pp. 185, 193) में कहा है कि सबसे पूर्व के राजनीतिक प्रतिनिधि अपने निर्वाचकों के दावों को पेश करने वाले एजेण्ट या प्रतिपुरुष (Deputy) नहीं थे बल्कि बन्धक के रूप में थे जिन्हें राजा अनिच्छुक जनता से छीन लेता था और अपने दावों की पूर्ति के लिए रख छोड़ता था।

२. सत्रहवीं शताब्दी में इंगलैण्ड में यह विचार सामान्यतया प्रचलित था कि एक प्रतिपुरुष (Deputy) जनता का प्रतिनिधि था, केवल आदेश-पालन करने वाला एजेण्ट नहीं (Gardiner, Const. Docs p. 279)। एलिजाबेथ के राज्य-काल में सर टॉमस स्मिथ ने कहा था कि प्रत्येक अंग्रेज का प्रतिनिधि पार्लामेण्ट में मौजूद था और फलतः वह अपने प्रतिनिधि द्वारा स्वयं वहाँ उपस्थित था।

हैलम ने सन् १५७१ में ब्रिटिश पार्लामेण्ट में भाषण देते समय कहा था कि हाउस ऑफ कॉमन्स का प्रत्येक सदस्य अपने निर्वाचकों की ही नहीं, समस्त राज्य की सेवा के लिए है। यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वैधानिक सिद्धान्त है, जिससे आधुनिक ब्रिटिश पार्लामेण्ट तथा महाद्वीप के विभिन्न राज्यों की वर्गीय प्रतिनिधियों की सभाओं के बीच भेद स्थापित होता है (Constitutional History, Vol. I, p. 362)।

३. Lieber, Civil Liberty and Self Government, p. 164.

प्रतिनिधि बन कर दूसरे अंगों के प्रतिनिधियों से मिलकर एवं परामर्श करके समूचे समाज के हित के लिए कुछ कर सकने के योग्य नहीं था। इसके विपरीत, वह तो अपने स्वामी (अपने समुदाय) के पृथक्, स्वतन्त्र और सम्भवतः परस्पर विरोधी हितों की देख-भाल करने वाला एजेण्टमात्र ही था। किसी भी दूसरे अर्थ में वह सच्चा प्रतिनिधि नहीं था।[1]

अठारहवीं शताब्दी में योरोपीय महाद्वीप में इस प्रकार के वर्गीय प्रतिनिधि भेजने की प्रणाली का अन्त हुआ और उसके स्थान पर प्रतिनिधित्व की राष्ट्रीय प्रणाली की प्रतिष्ठा हुई। कुछ राज्यों में तो उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक यह प्रणाली जारी रही।[2] इंगलैण्ड में सोलहवीं शताब्दी के मध्य तक परिवर्तन प्रायः पूरा हो चुका था, परन्तु फ्रान्स में क्रान्ति तक यह परिवर्तन नहीं हो सका जबकि स्टेट्स-जनरल ने अपने आपको राष्ट्र की प्रतिनिधि-सभा घोषित किया।

प्राचीन व्यवस्थापक-मण्डलों के कार्य

दीर्घकाल तक व्यवस्थापक-मण्डल को कानून-रचना की पूर्ण सत्ता नहीं थी। इंगलैण्ड में भी कुछ वर्ष पहले तक व्यवस्थापक-मण्डल (Parliament) आवेदन-पत्र प्राप्त करने, शिकायतों पर विचार करने और राजा को अपनी आकांक्षाओं की सूचना देने के अतिरिक्त कुछ नहीं कर सकता था, कानून बनाने की सत्ता का कानूनी अधिकारी तो राजा ही था। वह अपने विचारों को राजा को सम्बोधित आवेदन-पत्रों के रूप में प्रकट करता था और यदि वे राजा को स्वीकृत होते तो वह उन्हें कानून के रूप में जारी कर देता था। बाद में पार्लमिण्ट स्वयं कानून बनाने लगी और उसे राजा की स्वीकृति के लिए प्रार्थना-पत्र के रूप में नहीं, बल्कि कानून के रूप में भेजने लगी। पुनर्स्थापना (Restoration) के समय तक सपरिषद् राजा (King-in-Council) ऑर्डीनेन्स के रूप में कानून-रचना या व्यवस्थापन की विशद् सत्ताओं का पार्लमिण्ट से स्वतन्त्र रह कर प्रयोग करता था। सन् १६८८ की क्रान्ति के पश्चात् ही पार्लमिण्ट को पूर्ण व्यवस्थापन-सत्ता प्राप्त हुई। इसी प्रकार योरोपीय महाद्वीप के देशों में भी व्यवस्थापक-मण्डल की सत्ता का विकास हुआ। सन् १९१८ के पहले तक प्रशा में कानूनी सिद्धान्त यह था कि राजा ही व्यवस्थापन-सत्ता का भण्डार था और व्यवस्थापक-मण्डल का कार्य निषेधात्मक (Negative) था, अर्थात् राजा जो कुछ कानून के रूप में अपनी इच्छा प्रकट करता था, उसे स्वीकार करना। आज भी जापान में यदि वास्तविक व्यवहार में ऐसा नहीं है तो भी कानूनी सिद्धान्त यही मालूम होता है।[3]

(३) व्यवस्थापक-मण्डल की रचना

एकसदनी सिद्धान्त

दीर्घ काल तक राज्य-विज्ञान का यह एक स्वयंसिद्ध सिद्धान्त माना जाता रहा है कि व्यवस्थापक-मण्डल में, विशेषतः राष्ट्रीय व्यवस्थापक-मण्डल में, दो सदन होने

---

१. 'The British Constitution', 'Works', Vol. XI, p. 30.
२. उदाहरणार्थ वुर्टेम्बुर्ग के जर्मन राज्य में इसके चन्द सन् १९०७ तक विद्यमान थे।
३ तुलना कीजिए, Willoughby, *Fundamental Concepts*, p. 103. विधान की ५ वीं धारा के अनुसार सम्राट् शाही व्यवस्थापक-मण्डल (Diet) की स्वीकृति से व्यवस्थापन-सत्ता का प्रयोग करता है।

चाहिए और वास्तविक व्यवहार मे अधिकांश मे व्यवस्थापक-मण्डलों का संगठन आज-कल इसी प्रकार का है। लॉर्ड ब्राइस ने कहा है कि अमेरिकन वैधानिक सिद्धान्त की यह एक प्रमुख सर्वव्यापी धारणा है।[1] सर हेनरी मेन का यह विचार था कि न होने से किसी भी प्रकार का भी द्वितीय सदन श्रेष्ठ है। द्वितीय सदन से 'प्रतियोगी निर्भ्रान्ति' (Rival in fallibility) की नही, प्रत्युत अतिरिक्त सुरक्षा की आशा करनी चाहिए। बेजहॉट का विचार है कि एक ऐसे आदर्श निम्न सदन के होते हुए जो पूर्णरूप मे राष्ट्र का प्रतिनिधि हो, सदैव संयमी हो, कभी उत्तेजित या भावनापूर्ण नही होता हो, ऐसे सदस्यो से परिपूर्ण हो जिन्हे पर्याप्त अवकाश प्राप्त हो और जो विचार-विमर्श के लिए आवश्यक मन्थर गति तथा दृढ रीतियो को कभी न छोडे, उच्चसदन आवश्यक नही होगा, परन्तु वह सशोधक तथा अवकाशयुक्त व्यवस्थापक-मण्डल के रूप मे 'बहुत ही उपयोगी' होगा।

अठारहवीं शताब्दी मे और उन्नीसवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे एकसदनी व्यवस्थापक परिषदो को अधिक लोकप्रियता प्राप्त थी। अमेरिका मे बेन्जमिन फ्रेंकलिन इस प्रणाली का प्रभावशाली समर्थक था जिसने द्विसदनी व्यवस्थापक-मण्डल को एक ऐसी गाडी से तुलना की थी जिसके दोनो ओर दो घोडे जोत दिये जाँय, जिनमे से प्रत्येक गाडी को अपनी ओर खीचे। उसके प्रभाव के कारण ही पेनसिलवेनिया मे उसके प्रथम विधान के अन्तर्गत व्यवस्थापक-मण्डल का सगठन एकसदनी आधार पर ही किया गया था। जॉन एडम्स का कथन है कि राज्यो के प्रथम विधानो के निर्माण के समय यह प्रश्न अत्यन्त महत्वपूर्ण था कि अमेरिकन व्यवस्थापक-मण्डल एक-सदन वाले हो या दो-सदन वाले।[2] उसी समय इंगलैण्ड मे भी बेंथम ने एक-सदन के सिद्धान्त का समर्थन किया।

फ्रान्स मे क्रान्ति के समय एक-सदन के सिद्धान्त के बहुत से समर्थक थे और सन् १७९१ के फ्रेन्च विधान मे यह सिद्धान्त राष्ट्रीय एसेम्बली मे प्राय एकमत से स्वीकार किया गया था। इस सिद्धान्त का प्रयोग सन् १७९३ के फ्रेन्च विधान मे भी किया गया था। परन्तु सन् १७९५ मे जो विधान स्वीकार किया गया उसमे दो सदनो की रचना की गयी और इस प्रणाली के अनुसार सन् १८४८ तक कार्य होता रहा जिसके पश्चात् एक-सदन-प्रणाली पर कार्य होने लगा, यद्यपि यह बहुत थोडे समय तक ही रही। एक-सदन-सिद्धान्त के शक्तिशाली समर्थकों मे सन् १८४८ मे लामार्तीन उसी प्रकार सबसे योग्य था जिस प्रकार क्रान्ति के समय तुर्गो (Turgot) था। एक-सदन के सम्बन्ध मे फ्रान्स का अनुभव सन्तोषप्रद सिद्ध नही हुआ और उसकी कार्यवाही मे 'हिंसा, अस्थिरता तथा निकृष्ट कोटि का मर्यादोल्लंघन' दिखाई देता था। कुछ थोडे अपवादो को छोड जिन-जिन राज्यो ने एक-सदन का प्रयोग किया है, उन्होंने शीघ्र ही उसका त्याग कर द्विसदनी प्रणाली को अंगीकार कर लिया है। इंगलैण्ड मे, कॉमनवेल्थ के समय उसका अल्पकाल के लिए प्रयोग किया गया; परन्तु वह असन्तोषप्रद रहा और जो लॉर्ड-सभा तोड दी गयी थी, उसकी पुनः स्थापना की गयी। संयुक्त राज्य अमेरिका में राष्ट्रीय कांग्रेस मे द्वितीय सदन का अभाव राज्य-मण्डल के विधान (Articles of Confederation) के प्रति असन्तोष का एक कारण

१. The American Commonwealth (1910), Vol. 1, p. 485.
२. उसका A Defense of the American Constitutions शीर्षक वाला निबन्ध देखिये।

था और बेंजमिन फ्रेंकलिन को छोड अन्य किसी ने एक-सदन को कायम रखने का समर्थन नहीं किया।[1] पेनसिलवेनिया मे तथा कुछ समय तक अन्य राज्यो मे भी, जहाँ एक-सदन सन् १७६० तक कायम रहा, उसमे स्थिरता नहीं थी और बडे आवेशपूर्ण एवं अस्थिर कानून बने।[2] स्पेन, पुर्तगाल, नेपल्स, मेक्सिको, बोलिविया, इक्वेडर और पेरू आदि अन्य राज्यो ने प्रयोग करने के बाद उसका परित्याग कर द्विसदनी प्रणाली स्थापित कर ली। परन्तु सन् १६३१ मे स्पेन मे जो नवीन विधान स्वीकार किया गया, उसमें एक-सदन की ही व्यवस्था है।

एक-सदन-प्रणाली के पक्ष मे तर्क

सन् १७८९ तथा सन् १८४८ मे फ्रान्स के राजनीतिज्ञो तथा लेखकों ने जो मुख्य तर्क एक-सदन-प्रणाली के पक्ष मे दिया था वह यह था कि इससे शासन के व्यवस्थापक विभाग मे द्वैधभाव के स्थान पर एकता स्थापित होती है। उनका यह तर्क था कि दो या तीन सदनो का अर्थ है दो या तीन प्रभुत्व। एबी सेयीज ने लिखा है कि—'कानून जनता की इच्छा है। जनता की एक ही समय मे एक ही विषय में दो विभिन्न इच्छाएं नहीं हो सकती। अतः जो परिषद् जनता की प्रतिनिधि है, वह आवश्यक रूप से एक ही होनी चाहिए। जहाँ दो सदन होंगे, वहाँ विरोध और विभाजन अनिवार्य होगा और निष्क्रियता के कारण लोकेच्छा निष्क्रिय हो जायगी। यदि दूसरे सदन का पहले से मतभेद है, तो यह अनिष्टकारी है और यदि वह उससे सहमत है, तो व्यर्थ है।' यह, ब्राइस के शब्दो में, ऐसी द्विविधा है जिससे हमे खलीफा उमर की उस समय की द्विविधा का स्मरण हो आता है जबकि उसने एलैक्जेंड्रिया मे एक पुस्तकालय के विनाश के लिए आज्ञा देते हुए कहा था—'यदि ये पुस्तकें कुरान के अनुसार हैं, तो उनकी हमे आवश्यकता नहीं और यदि वे उससे भिन्न हैं तो उनका विनाश ही उचित है।'[3] यही विचार लामार्टीन ने भी व्यक्त किया था, जिसकी राय

---

१. तुलना कीजिये, The Federalist, Nos. 62 and 63 मे Hamilton, The Federalist No. 22, के Ford के संस्करण के सम्पादक की टिप्पणी भी देखिये जिसमें उसने लिखा है कि महाद्वीपीय कांग्रेस मे एक-सदन वाले व्यवस्थापक मण्डल के दोष प्रकट होते हैं। कई बार उसने ऐसे प्रस्ताव स्वीकार कर लिए जिन्हे उसने दूसरे ही दिन रद्द कर दिया और कई बार एक सप्ताह के अन्दर ही एक ही प्रस्ताव को उसने अस्वीकार किया, फिर उस पर विचार करके उसे स्वीकार किया और फिर अस्वीकार कर दिया। यह परिवर्तन सदस्यों के आने जाने के तथा रुकावट के अभाव के कारण होता था। Kent, Commentaries, Vol. 1, p. 222 भी देखिये।

२. The Federalist, Ford's Ed., p. 142, Note 1. आरम्भ के तेरह उपनिवेशो मे से आधे उपनिवेशो ने एकसदनी व्यवस्थापक-मण्डलो मे आरम्भ किया था, परन्तु अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक सब द्विसदनी हो गये थे। नये राज्यो मे से केवल वारमॉण्ट ने एक-सदन-प्रणाली को अपनाया जो सन् १८३६ तक प्रचलित रही।

३. Modern Democracies, Vol. II, p. 399 ब्राइस का कथन है कि वे द्विविधाएँ अन्य सम्भावनाओ के लोप के कारण होती हैं। द्वितीय सदन प्रथम सदन से सहमत या असहमत होने के अतिरिक्त अन्य काम भी कर सकता है। यदि वह उद्देश्यो मे सहमत भी हो तो उनकी प्राप्ति के लिए दूसरे और अधिक

थी कि दो सदन राज्य की प्रभुता को विभक्त करके एकता के सिद्धान्त को नष्ट कर देते हैं।[1] क्रान्ति के समय फ्रान्स में कोन्दोरसे, रोब्सपीयर आदि नेताओं के भी ऐसे ही विचार थे। अमेरिका में भी फ्रैंकलिन तथा अन्य लोगों ने इसी प्रकार के विचार द्वि-सदन-सिद्धान्त के विरुद्ध प्रकट किये थे। व्यवस्थापन सर्वसाधारण की इच्छा की अभिव्यक्ति होने के कारण, उसका सम्पादन एक दूसरे के कार्यों का विरोध करने वाले दो पृथक् सदनों द्वारा किये जाने की आवश्यकता उनके सामने प्रत्यक्ष नहीं थी। न्यायाधीश स्टोरी ने कहा है कि—'भौतिक प्रकृति की क्रियाओं तथा राजनीतिक संस्थाओं के कार्यों के तुलनात्मक अध्ययन से जो तर्क प्राप्त होते हैं, राजनीतिक मितव्ययिता की समस्त प्रेरणाएँ तथा ब्रिटिश पार्लामिण्ट के द्वितीय सदन के उदाहरण से जो भावनाएँ एक समकक्ष द्वितीय सदन के विरुद्ध उद्दीप्त होती हैं, वे सब व्यवस्थापक-सत्ता के विभाजन के विपरीत हैं।[2] संक्षेप में, जिस व्यवस्थापक-सभा में दो सदन हों, वह स्वयं अपने ही विपरीत विभाजित है।

द्वि-सदन-प्रणाली के विरुद्ध आक्षेपों के होते हुए भी वह समस्त देशों में लोकप्रिय हो गयी है। फ्रान्सिस लाइबर ने कहा है कि 'यह प्रणाली आंग्ल प्रजाति के साथ-साथ सामान्य कानून (Common Law) के समान चलती है और प्रत्येक स्थान पर उसे सफलता मिलती है।[3] लेकी ने कहा है कि 'शासन के समस्त रूपों में जिनका आविर्भाव मानव-समाज में सम्भव है, मैं एकाकी सर्वशक्तिशाली प्रजातन्त्रात्मक सदन के शासन से निकृष्ट किसी शासन को नहीं जानता।' जिस प्रकार एक स्वेच्छाचारी शासन अनियन्त्रित सत्ता के स्वामित्व के कारण अनेक प्रलोभनों के वशीभूत रहता है उसी प्रकार एक-सदन में भी वही दोष सम्भाव्य हैं और इस बात की सम्भावना है कि वह बहुत कम दायित्व की भावना तथा बहुत कम वास्तविक विचार से कार्य करेगा।[4]

अच्छे साधन बता सकता है। खलीफा की उक्ति उसी समय ठीक हो सकती है जबकि कुरान में उन सब बातों का संग्रह हो जो एक मुसलमान को जाननी चाहिए। शायद उसका यही विचार था।

१. Lieber, Civil Liberty and Self-Government, p. 199. एक-सदन-सिद्धान्त का एक स्पष्ट लाभ तो यह है कि मन्त्रि-परिषद्-प्रणाली वाले देशों में इसके द्वारा मन्त्रियों का दायित्व सरलता से पूरा कराया जा सकता है। ऐसी प्रणाली में दो सदनों का अस्तित्व भ्रमोत्पादक होता है और उनमें से एक आवश्यक रूप से आधीनता की अवस्था में कार्य करता है क्योंकि अनुभव से यह प्रकट होता है कि दो सदनों के प्रति दायित्व पूरी तरह से निभाया नहीं जा सकता। फ्रान्स, बेल्जियम आदि देशों में दोनों सदनों के प्रति मन्त्रि-परिषद् के दायित्व के प्रश्न पर काफी वाद-विवाद होता रहा है।

२. 'Commentaries,' Vol. I, Sec. 548. ड्यूग्वी (Duguit) इस बात को नहीं मानता कि दो सदनों में आवश्यक रूप से संघर्ष होता है और व्यवस्थापन-सत्ता निर्बल होती है या राजनीतिक सुधारों में उनके कारण बाधा पड़ती है। उसने बतलाया है कि इससे विपरीत मत को तथ्यों का समर्थन प्राप्त नहीं है।

३. Civil Liberty and Self-Government, p. 197.

४. Democracy and Liberty, Vol. I, p. 299.

द्वि-सदन-प्रणाली से लाभ

व्यवस्थापक-सभा के अन्तर्गत द्वितीय सदन के होने से जो लाभ हैं, वे संक्षेप में निम्न प्रकार हैं—प्रथम, द्वितीय सदन के होने से जल्दबाजी में पूर्ण विचार किये बिना अविवेकपूर्ण कानून नहीं बन सकते। व्यवस्थापिका परिषदें प्रायः आवेशयुक्त एवं उत्तेजनापूर्ण होती हैं और कभी-कभी वे अधीर, जल्दबाज और प्रमादयुक्त होती हैं। द्वितीय सदन का कार्य इस प्रकार की प्रवृत्तियों को रोकना और व्यवस्थापन-सम्बन्धी प्रश्नों पर गम्भीरता के साथ विचार-विमर्श करवाना है। उसकी उपस्थिति से किसी भी मसौदे को व्यवस्थापिका-सभा में प्रस्तुत करने तथा उसे अन्तिम रूप में स्वीकार करने के बीच में पर्याप्त लम्बी देर लग जाती है और इस प्रकार विचार तथा मनन के लिए समय मिल जाता है। चान्सलर केण्ट का कथन है कि 'व्यवस्थापक-सभा को दो पृथक् कार्य करने वाले और समकक्ष सदनों में विभाजित कर देने का एक महान् उद्देश्य भावोद्वेग, क्षणिक उत्तेजना, पक्षपातपूर्ण विचार, व्यक्तिगत प्रभाव तथा राजनीतिक दलगत प्रपंच आदि से उत्पन्न उत्तेजना तथा निर्विवेक कार्यों के अवांछनीय प्रभावों को नष्ट कर देना है जिनका प्रभाव अनुभव में एक सदन वाली व्यवस्थापिका परिषदों में बड़ा गहरा और भयंकर सिद्ध हो चुका है।' ब्लुण्ट्श्ली ने द्वि-सदन-प्रणाली के लाभों पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि चार नयन दो नयनों की अपेक्षा अधिक स्पष्टता से देखते हैं, विशेषरूप से उस समय जबकि दृश्य पदार्थ को विभिन्न दृष्टिकोणों से देखना आवश्यक हो।

द्वितीय, द्वितीय सदन केवल शीघ्रता में होने वाली भावुकता जन्य भूलों से व्यवस्थापिका सभा की ही रक्षा नहीं करता, वह एक-सदन के स्वेच्छाचार से व्यक्ति को भी रक्षा करता है। इस प्रकार वह स्वतन्त्रता की गारण्टी के साथ-साथ अत्याचार से रक्षा पाने का कवच भी है। व्यवस्थापिका सभाओं की यह एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वे अपने हाथों में अधिकाधिक सत्ताओं को एकत्रित कर लेना चाहती हैं और कार्यपालिका तथा न्यायपालिका की सत्ताओं को भी हस्तगत कर लेना चाहती हैं, अर्थात् सारांश में वे राज्य की सम्पूर्ण सत्ता पर स्वयं ही अधिकार जमा लेना चाहती हैं। न्यायाधीश स्टोरी ने कहा है कि उनमें सतत् रूप से भावुकता, महत्त्वाकांक्षा, असावधानी, दलगत संघर्षों तथा व्यक्तिगत स्वार्थों के कारण अपनी समुचित अधिकार-सीमा का उल्लंघन करने की सदा प्रवृत्ति रहती है। इस स्थिति में अत्याचार के निवारण का, चाहे वह आकस्मिक हो या साकल्पिक एकमात्र प्रभावकारी उपाय यह है कि उसके कार्यों को पृथक् कर दिया जाय और हितों, उच्चाकांक्षाओं तथा एक-सदन के संयोगों (Combinations) एवं आधिपत्य की भावना तथा दूसरे सदन के संयोगों एवं ऐसी ही भावनाओं के बीच सन्तुलन स्थापित कर दिया जाय।[1] स्टोरी ने आगे चल कर कहा है कि द्वितीय सदन की उपस्थिति से जनता की सुरक्षा द्विगुणित हो जाती है क्योंकि इस प्रकार किसी भी कपट-योजना के लिए एक ही सस्था की उच्चाकांक्षा की जगह दो पृथक् सदनों की स्वीकृति आवश्यक हो जाती है। लॉर्ड ब्राइस

---

१. Commentaries, Vol. I Sec. 558 Jefferson ने Madison को १५ मार्च सन् १७८९ को लिखे हुए अपने पत्र में लिखा था कि हमारे शासन की कार्यपालिका शक्ति का ही मुझे एकमात्र या मुख्य डर नहीं है। जो बात सबसे अधिक डरने योग्य है, वह है व्यवस्थापक-मण्डल का अत्याचार। वर्षों तक यह डर बना रहेगा।

के शब्दों में, 'द्वितीय सदन की आवश्यकता इसलिए है कि किसी भी परिषद् की यह एक नैसर्गिक प्रवृत्ति है कि वह घृणापूर्ण, अत्याचारपूर्ण एवं दूषित हो जाती है, अतः इन प्रवृत्तियों पर रुकावट लगाने के लिए समान सत्ता वाली एक दूसरी परिषद् की आवश्यकता होती है।'[1]

द्वितीय सदन से तीसरा लाभ पहले यह भी माना जाता था कि इसके द्वारा राज्य के विशिष्ट वर्गों एवं हितों, विशेषकर समाज के शिष्ट (Aristocratic) वर्ग, के प्रतिनिधित्व के लिए एक सुगम साधन मिल जाता है जिससे सदनों में से एक में उपस्थित लोक-प्रतिनिधियों की अनुचित बहुलता के विरुद्ध एक समतोलन कायम हो जाय और व्यवस्थापक-मण्डल में लोक-सदन (Popular Chamber) की उग्रता को दबाये रखने के लिए एक स्थितिपालक तत्त्व का प्रवेश हो जाय। ब्लुण्ट्श्ली ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि हम राज्य के अन्तर्गत कुलीन तथा प्रजातन्त्रात्मक तत्त्वों के भेद की उपेक्षा करके एक के साथ अन्याय किये बिना केवल दूसरे को व्यवस्थापक-मण्डल में प्रतिनिधित्व नहीं दे सकते।

इस प्रणाली के द्वारा राज्य में पूंजीपतियों तथा मजदूरों के कुछ-कुछ असमान हितों के पृथक् प्रतिनिधित्व की भी समुचित व्यवस्था हो जाती है। एक लेखक के मतानुसार इस सिद्धान्त के वास्तविक मूल्य का उदाहरण हमें ऑस्ट्रेलिया के विक्टोरिया राज्य में मिलता है, जहाँ उच्च सदन में मुख्यतः पूंजीपतियों के प्रतिनिधि और निम्न सदन में मुख्यतः मजदूर-वर्ग के प्रतिनिधि ही होते हैं यह व्यवस्था इस कारण है कि वहाँ उच्च सदन के लिए मताधिकार सीमित हैं, सदस्यता के लिए उच्च साम्पत्तिक योग्यताएँ रखी गयी हैं और उसके सदस्यों को वेतन-वृत्ति आदि कुछ भी नहीं मिलता। परन्तु ऐसी ही परिस्थितियों के कारण सन् १९२२ में क्वीन्सलैण्ड में द्वितीय सदन उठा दिया गया।

अन्त में, जिन देशों में संघ-शासन प्रणाली स्थापित है, उनमें द्वितीय सदन द्वारा उसमें सम्मिलित समस्त राज्यों को प्रतिनिधित्व मिल सकता है। संघ तथा उसमें सम्मिलित समस्त राज्यों में समतोलन कायम रखने के लिए विधायक राज्यों को व्यवस्थापक-मण्डल के एक सदन में जनसंख्या का विचार किये बिना, अर्थात् पृथक्

---

१. सिजविक का मत था कि आवेशों एवं मनोभावों का प्रभाव दो सदनों की अपेक्षा एक सदन पर अधिक हो सकता है। दो सदनों की उपस्थिति से कार्यपालिका के कामों को व्यवस्थापक-मण्डल द्वारा हड़प लिये जाने का डर निस्सदेह कम हो जाता है। जॉन स्टुअर्ट मिल द्वितीय सदन के इस मूल्य को कुछ नहीं समझता था कि उसके द्वारा कानून जल्दबाजी में नहीं बन पाते या उसके कारण कानूनों पर अधिक विचार होता है। उसकी राय में इस विषय पर उसके महत्व से अधिक ध्यान दिया गया है। फिर भी वह उसे व्यवस्थापक मण्डल के स्वेच्छाचार के विरुद्ध रुकावट लगाने का अच्छा साधन समझता था। उसने कहा है कि 'यदि एकमात्र सदन के बहुमत पर उसकी इच्छा के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु की रुकावट न हो और उसे यह विचार करने की आवश्यकता न हो कि उसके कामों में किसी दूसरी सत्ता की स्वीकृति की भी आवश्यकता होगी तो वह सरलता से स्वेच्छाचारी और उद्धत हो जायगा।' Representative Government, Ch. 13.

समकक्ष राज्य की हैसियत से प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए। आजकल अधिकांश-संघ-राज्यों में इसी सिद्धान्त के आधार पर व्यवस्थापक-मण्डलों का निर्माण होता है।

द्वि-सदन-प्रणाली के विरुद्ध प्रतिक्रिया

द्वि-सदन प्रणाली का प्रसार होने पर भी वर्तमान समय में यह मानने की अधिकाधिक प्रवृत्ति देखी जाती है कि इसके लाभ वास्तविक नहीं हैं, बल्कि इसके विपरीत आधुनिक स्थिति में, एक-सदन-परिषद् से हानियों की अपेक्षा लाभ अधिक हैं। इसलिए द्वि-सदन-सिद्धान्त, सत्ता-पृथक्करण के सिद्धान्त की भाँति, अपनी उस पवित्रता को खो चुका है जो कभी जनता के मन में बसी हुई थी और आजकल राजनीतिक लेखक उसका अधिकाधिक खण्डन करने लगे हैं। कई अमेरिकन राज्यों में मुख्यतः केलीफोर्निया (सन् १९१३), ओरेगन (सन् १९१६) और नेब्रास्का (सन् १९१४) में द्विसदनी व्यवस्थापक-मण्डल के विरुद्ध महत्वपूर्ण आन्दोलन हुए हैं। दूसरे देशों में भी इसी प्रकार के आन्दोलन हुए हैं और कुछ राज्यों में तो इसमें सफलता भी मिली है। सन् १९२२ में क्वीन्सलैण्ड (ऑस्ट्रेलिया) में उच्च सदन तोड़ दिया गया।[1] जब सन् १९०६ में दक्षिणी अमेरिकन यूनियन की स्थापना हुई तब स्थानीय व्यवस्थापक-मण्डलों के उच्च सदनों को तोड़ दिया गया। उस समय संघ के लिए भी एक ही सदन स्थापित करने के पक्ष में प्रबल भावना थी, परन्तु परम्परा की शक्ति इतनी प्रबल थी, कि ऐसा नहीं हो सका।[2] बलगेरिया, कोस्टारिका, होण्डुरास, सेलवेडोर, पनामा, कनाडा के समस्त प्रान्त (क्यूबेक तथा नोवास्कोशिया को छोड़), स्विट्जरलैण्ड के जर्मन तथा आस्ट्रियन केण्टन, मध्य और लेटिन अमेरिका के मध्य के अनेक राज्यों में एक-सदन वाले व्यवस्थापक-मण्डल हैं। नॉर्वे में भी एक अर्थ में एक ही सदन है क्योंकि वहाँ उच्च सदन का निम्न सदन द्वारा चुनाव होता है। प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् जो अनेक राज्य स्थापित हुए, जैसे फिनलैण्ड, लेटविया और इस्थोनिया, उनमें एक ही सदन की प्रतिष्ठा की गयी। सन् १९३१ में स्पेन ने सीनेट (उच्च सदन) को तोड़ दिया। यहाँ यह बात भी उल्लेखनीय है कि प्रत्येक देश में विधान-परिषद्, जो विधान की रचना एवं संशोधन के लिए सगठित की जाती है, एक-सदन परिषद् ही होती है।

---

१ उच्च सदन की नियुक्ति ताज द्वारा जीवन भर के लिए होती थी, वास्तविक व्यवहार में यह नियुक्ति मन्त्रि-परिषद् द्वारा की जाती थी। जब सन् १९१५ में निम्न सदन में मजदूर दल का बहुमत हुआ और मजदूर-मन्त्रि-परिषद् बनी तो उसकी नीतियों का प्रतिक्रियावादी और अनुत्तरदायी उच्च सदन विरोध करने लगा और उन्हें निष्फल करने लगा। इस कारण उच्च सदन का अन्त कर देने के लिए आन्दोलन खड़ा किया गया जो सात वर्ष बाद सफल हुआ।

२ परन्तु दो सदनों के लिए केवल अस्थायी व्यवस्था थी और पार्लामिण्ट को यह स्वतन्त्रता दी गयी थी कि वह यदि उचित समझे तो सन् १९२० के पश्चात् उच्च सदन को तोड़ दे।

सन् १९११ में Dr. F. G. Goodnow ने, जो चीन के राष्ट्रपति का वैधानिक परामर्शदाता था, चीनी गणतन्त्र के लिए एक-सदन वाली पार्लामिण्ट की संस्थापना की सिफारिश की थी। उसने बतलाया कि चीन में कोई कुलीन-वर्ग (Aristocracy) नहीं था और न वह अनेक राज्यों का संघ ही था जिनको पृथक् प्रतिनिधित्व देने की आवश्यकता हो। अतः चीन में द्वितीय सदन की व्यवस्था करने के लिए कोई कारण नजर नहीं आता।

आज तक किसी ने भी यह प्रस्ताव नहीं किया कि विधान-परिषद् में भी दो सदन हो।

उच्च सदनों की सत्ताओं में आधुनिक काट-छाँट

अन्त में यह बात भी उल्लेखनीय है कि वर्तमान समय में, जिन देशों में दो सदन हैं, उनमें उच्च सदन की सत्ताओं में काट-छाँट करने की ओर उनका काम केवल पुनरीक्षण तथा देर लगाने का रख देने की प्रवृत्ति स्पष्ट दिखाई पड़ती है। यह आन्दोलन सन् १९११ के ब्रिटिश पार्लमेण्ट एक्ट के साथ शुरू हुआ जिसने लॉर्ड-सभा को कॉमन्स-सभा द्वारा स्वीकृत बिलों को रद्द करने के अधिकार से वंचित कर दिया। इस कानून के कारण लॉर्ड-सभा कॉमन्स-सभा द्वारा प्रस्तावित बिल का विरोध-मात्र कर सकती है और उसके कानून बनने में विलम्ब भी कर सकती है, परन्तु कॉमन्स सभा लॉर्ड-सभा की अवहेलना करके अन्त में स्वेच्छानुसार कार्य कर सकती है। अतः एक बड़ी सीमा तक यह कथन सत्य है कि कॉमन्स-सभा ही ब्रिटिश पार्लामेण्ट है। इसी प्रकार प्रथम विश्व-युद्ध के उपरान्त योरोप के कई देशों में जो नये विधान बने, उनमें इस प्रकार की व्यवस्था की गयी है कि निम्न सदन असाधारण बहुमत से उच्च सदन का अतिक्रमण कर सकते हैं और अपना मनचाहा कानून बना सकते हैं। इस प्रकार के उपबन्ध जर्मनी, ऑस्ट्रिया, पोलैण्ड तथा चेकोस्लोवाकिया के विधानों में किसी न किसी रूप में हैं। इन तथ्यों से यह स्पष्ट है कि समान व्यवस्थापिका सत्ता वाले दो सदनों की आवश्यकता के सम्बन्ध में जो धारणा पहले थी, उसका प्रभाव अब मिटता जा रहा है।

अनुभव के परिणाम—उपयोगिता की कसौटी के रूप में

एक-सदन-प्रणाली का मूल्यांकन कार्य-कारण के विचारों अथवा परम्परागत सिद्धान्तों के आधार पर नहीं करना चाहिए, वरन् अनुभव के परिणामस्वरूप उपयोगिता सम्बन्धी जो निष्कर्ष स्थापित हों, उन्हीं के प्रकाश में करना चाहिए। जहाँ *द्वितीय सदनों की प्रणाली का गम्भीरता के साथ अध्ययन किया गया है*, वहाँ जो परिणाम निकले हैं उनसे द्वितीय सदन की उपयोगिता के सम्बन्ध में जो दावे किये जाते हैं उनका समर्थन नहीं होता। सन् १९१० में न्यूयार्क के व्यवस्थापक-मण्डल के कार्य के अध्ययन से यह प्रकट हुआ कि निम्न सदन ने उच्च सदन द्वारा स्वीकृत बिलों में से केवल ६ प्रतिशत बिल अस्वीकार किये और उच्च सदन ने निम्न सदन द्वारा स्वीकृत बिलों के केवल १४ प्रतिशत बिल अस्वीकार किये। यह प्रकट हुआ कि द्वि-सदन-प्रणाली की नियन्त्रण-व्यवस्था की अपेक्षा कार्यपालिका के निषेधाधिकार के द्वारा बिल अधिक संख्या में रद्द हुए। इस पर एक लेखक ने यह मत स्थिर किया कि 'इस कारण यह दावा नहीं किया जा सकता कि द्वि-सदन-प्रणाली से प्रमादयुक्त, विचारहीन तथा जल्दी में स्वीकार किये हुए कानूनों पर प्रभावकारी नियन्त्रण लगता है।'[1]

सन् १९१४ में नेब्रास्का के व्यवस्थापक-मण्डल की एक संयुक्त समिति ने इस आशय के वैधानिक संशोधन के पक्ष में एक रिपोर्ट प्रस्तुत की कि एक ही सदन वाले

---

१. Colvin, The Bicameral System in the New York Legislature, p. 180. Lynn Haines १९११ में मिनेसोटा के व्यवस्थापक-मण्डल के अध्ययन के बाद और Franklin Hichborn भी अपनी Story of the California Legislature of 1913 नामक पुस्तक में इसी निष्कर्ष पर पहुँचे थे। W. R. Sharp का भी मत था कि अमेरिका तथा ऑस्ट्रेलिया के अनुभव से द्वितीय सदनों की आवश्यकता सिद्ध नहीं होती।

व्यवस्थापक-मण्डल की व्यवस्था की जाय। द्वि-सदन-प्रणाली के सफल न होने के कारणों में एक कारण समिति ने यह भी बतलाया कि 'व्यवहार में ऐसा देखा गया है कि दो सदनों के बीच तथाकथित 'रोक' (Check) का परिणाम अवरोध के रूप में प्रकट होता है और जनता के प्रतिनिधियों में जो दायित्व की भावना होनी चाहिए वह नहीं रहती।'

इस समिति ने लिखा कि 'यह भी सामान्य बात है कि एक सदन बिल को स्वीकार कर लेता है और फिर उसे स्वीकार करने वाले सदस्य दूसरे सदन से उसे अस्वीकार कर देने का अनुरोध करते हैं। एक सदन के कुछ सदस्यों का एक छोटा सा गुट उसको दूसरे सदन के लिए उस समय तक रोके भी रखता है जब तक कि वह उससे अपनी माँग पूरी नहीं करवा लेता।' आगे चल कर उसने यह भी लिखा कि 'दो-सदन वाले व्यवस्थापक-मण्डलों के कार्यों में विचारशीलता एवं मनन की छाप कहीं भी नहीं देख पड़ती। वे अधिकांश कानून अधिवेशन के अन्तिम दस दिनों में स्वीकार कर लेते हैं। आज की प्रणाली की अपेक्षा एक छोटी सभा, जिसमें उसके छोटी होने के कारण प्रत्येक सदस्य अपना सीधा दायित्व महसूस करेगा, अधिक विचार और मनन कर सकेगी।'

द्वि-सदन-प्रणाली के पक्ष में जो एक सामान्य तर्क दिया जाता है, वह यह है कि इसके कारण रिश्वत या भ्रष्टाचार द्वारा व्यवस्थापक-मण्डल से कानून स्वीकृत कराने में या ऐसे कानूनों की रचना कराने में कठिनाई बढ़ती है, जो स्वयं आपत्तिजनक हैं और जिनके लिए वास्तव में कोई आवश्यकता या माँग नहीं है, परन्तु जो लोग इस तर्क का आधार मान कर चलते हैं, वे इस बात को भूल जाते हैं कि इस प्रणाली का कार्य दोनों दिशाओं में होता है। वह श्रेष्ठ तथा निकृष्ट दोनों प्रकार के कानूनों के निर्माण में विलम्ब लगा सकती है या रुकावट डाल सकती है। ओरेगॉन राज्य के पीपुल्स पॉवर लीग (People's Power League) की एक समिति ने सन् १९१४ में सीनेट को तोड़ देने के पक्ष में वैधानिक संशोधन के हेतु एक रिपोर्ट तैयार की थी जिसमें उसने लिखा था कि 'सीनेट ने निकृष्ट कानूनों की रचना में बाधा डालने की अपेक्षा ऐसे कानूनों के निर्माण में बाधा डाली है जिन्हें जनता चाहती थी।' यह कथन कहाँ तक सत्य है, इसमें सन्देह हो सकता है, परन्तु इतना तो कहा जा सकता है कि जहाँ दो सदन हैं, वहाँ इस प्रकार की सम्भावना होती है। जो लोग यह कहते हैं कि एक-सदन वाले छोटे व्यवस्थापक-मण्डल की अपेक्षा दो-सदन वाला एक बड़ा व्यवस्थापक-मण्डल अनुत्तरदायित्व, भ्रष्टता तथा शीघ्रता के विरुद्ध अधिक सुरक्षा प्रदान करता है, उनका विचार सन्देहपूर्ण है। इसके विपरीत जहाँ एक-सदन वाला छोटा व्यवस्थापक-मण्डल होता है वहाँ प्रत्येक सदस्य का दायित्व अधिक स्पष्टता से स्थिर किया जा सकता है और एक सदन दूसरे सदन पर अपना दायित्व नहीं लाद सकता। द्वि-सदन-प्रणाली के अनुभव से यह सिद्ध होता है कि व्यवस्थापक-यन्त्र के सचालन में दो सदनों के पारस्परिक संघर्ष के कारण बाधा पड़ती है और दोनों सदनों के बीच एक प्रकार का व्यावसायिक लेन-देन होता रहता है।' दोनों के बीच

---

१. बार्थेलमी ने अपनी एक पुस्तक में बतलाया है कि फ्रान्स में द्वि-सदन-प्रणाली का प्रयोग किस प्रकार व्यवस्थापन के कार्य में बाधा डालने में किया जाता है। वहाँ प्राय. निम्न सदन किसी अत्यधिक प्रजातन्त्रीय बिल को यह कह कर स्वीकार

गतिरोध (Deadlock) की सम्भावना अनेक राज्यो (उदाहरणार्थ, ऑस्ट्रेलिया तथा दक्षिणी अफ्रीकन यूनियन) के विधानो ने स्पष्टरूप से अनुभव की है और उसके निवारण के लिए व्यवस्था भी की गयी है।

द्वि-सदन-प्रणाली की आलोचना इस दृष्टि से भी की जाती है कि इससे सदस्यो के वेतन, वृत्ति तथा अतिरिक्त लेखको एवं कर्मचारियो के वेतन आदि मे धन का अपव्यय होता है।[1]

द्वि-सदन-प्रणाली के गुणो पर विचार करते समय एक बात यह भी कही जा सकती है कि प्रारम्भ मे जब इस प्रणाली की स्थापना हुई तब उपयोगिता, कार्य-कुशलता अथवा एक-सदन के अत्याचार एवं स्वेच्छाचार से रक्षा प्राप्त करने की दृष्टि से उसकी स्थापना नही की गयी थी। यह तो ऐतिहासिक परिस्थिति का परिणाम था। इंगलैण्ड तथा योरोप मे द्वितीय सदन इसलिए स्थापित हो गये कि उन देशो मे कुलीन वर्ग थे जिन्हें एक पृथक् सदन मे प्रतिनिधित्व देना आवश्यक था। अत: उनके लिए एक पृथक् सदन का निर्माण किया गया। यदि यह आवश्यकता न होती तो शायद द्वितीय सदन की स्थापना नही होती। अमेरिकन ब्रिटिश उपनिवेशों, आस्ट्रेलिया तथा अन्य देशो मे, जिन ऐतिहासिक कारणों से इंगलैण्ड आदि मे द्वितीय सदनों की स्थापना हुई, वे विद्यमान नही थे। अमेरिकन उपनिवेशो तथा आस्ट्रेलिया आदि मे द्वितीय सदन क्यो स्थापित किये गये? क्या उन्होंने अपने पितृ-देशो का अनुकरणमात्र कर ऐसा किया या उन्होने उसकी उपयोगिता को ठीक प्रकार से समझ कर ऐसा किया, इस पर निश्चित मत प्रकट नही किया जा सकता। जहाँ तक संयुक्त राज्य अमेरिका की सीनेट (और किसी सीमा तक सामान्यतया अन्य संघो के द्वितीय सदनो) से सम्बन्ध है, उसकी स्थापना उतनी ही राजनीतिक आवश्यकता के परिणाम-स्वरूप हुई (उस समय यह आवश्यक समझा गया कि संघ के राज्यो के प्रतिनिधित्व के लिए एक पृथक् सदन हो) जितनी कि द्वि-सदन-प्रणाली के गुणो मे विश्वास के कारण।[2]

कर लेता है कि सीनेट उसे रद्द कर देगी। प्राय: वह बिना विचार किये हुए यह कह कर किसी बिल को स्वीकार लेता है कि सीनेट उसे ठीक कर लेगी।

१. इस सम्बन्ध मे कहा जाता है कि सन् १९०७ मे ओरेगॉन के दो-सदन वाले व्यवस्थापक-मण्डल ने अपने क्लर्कों पर उससे दस गुना अधिक खर्च किया जितना सन् १९०८ मे ब्रिटिश कोलम्बिया के एक-सदन वाले व्यवस्थापक-मण्डल ने उसी मद पर खर्च किया था।

२. इस सम्बन्ध मे तुलना कीजिये, Marriott, Second Chambers, p. 242. J M Robertson ने Second Chambers in Practice मे लिखा है कि संयुक्त राज्य अमेरिका तथा स्विट्जरलैण्ड के संघो के विशिष्ट मामलो को छोड़ द्वितीय सदनो के समर्थन मे कोई उपयुक्त सैद्धान्तिक तर्क नही है। इसके विपरीत जो सैद्धान्तिक तर्क उसके विरुद्ध दिये जाते हैं उनका अभी तक किसी ने उत्तर नही दिया। संयुक्त राज्य के द्वितीय सदन का प्राधान्य अतार्किक, असमर्थनीय और हानिकारक है। अनुभव का तर्क भी अनुपयुक्त सिद्ध हो चुका है। जहाँ द्वितीय सदन केवल देर लगाने वाले साधनमात्र नही है वहाँ उनके कारण सदा संघर्ष होता रहता है। देर लगाने का कार्य अन्य किसी साधन से भी लिया जा सकता है। सीनेट (उच्च सदन) के जितने भी रूप हैं वे या तो प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त को निष्फल कर देते हैं या व्यर्थ हैं। लास्की (Grammar of Politics, pp 330)

परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि चूँकि संघ-शासन के निर्माण मे द्वितीय सदन की आवश्यकता है या ऐसे राज्यो मे उसकी उपयोगिता है, इसलिए एकात्मक राज्य मे भी यह समान रूप से आवश्यक एवं वाछनीय है।

(४) उच्च सदन

उच्च सदनों की रचना

यह सम्भव नहीं है कि यहाँ उच्च सदनो की रचना एवं सगठन पर विस्तार-पूर्वक विचार किया जा सके अधिक महत्वपूर्ण राज्य के सम्बन्ध मे भी ऐसा करना सम्भव नही है। इनके सम्बन्ध मे समुचित जाँच करने के उपरान्त उन्हे निम्नलिखित वर्गों मे विभाजित कर सकते हैं—

(१) पूर्णत: या प्रधानत: परम्परागत या वशानुगत सिद्धान्त पर निर्मित द्वितीय सदन—इनमे ब्रिटिश लॉर्ड-सभा, सन् १९२६ के पहले के हगरी का उच्च सदन (Table of Magnates) तथा ऑस्ट्रिया का पूर्व उच्च सदन शामिल है। कुछ वर्ष पहले जर्मनी के बहुत से राज्यो मे, उच्च सदनो मे एक बडी सख्या में वशानुगत तत्व था, परन्तु उसका प्राधान्य नही था।[1]

(२) द्वितीय श्रेणी में ऐसे उच्च सदन सम्मिलित हैं जिनमे पूर्णरूप से या अधिकाश में ऐसे सदस्य होते हैं जिनकी नियुक्ति आजीवन या एक लम्बी अवधि के लिए कार्यपालिका द्वारा की जाती है जिसका अर्थ मन्त्रि-परिषद्-प्रणाली वाले देशों मे मन्त्रि-मण्डल द्वारा नियुक्ति है। इस श्रेणी में इटालियन सीनेट, जापानी हाउस ऑफ पीयर्स, कनाडियन सीनेट, क्यूबेक और नोवास्कोशिया के, कुछ आस्ट्रेलियन राज्यो के और कुछ समय पूर्व तक न्यूजीलैण्ड के उच्च सदन आते हैं।

(३) तीसरी श्रेणी मे ऐसे उच्च सदन सम्मिलित हैं जिनका प्रत्यक्ष रीति से निम्न सदन के समान मताधिकार के आधार पर ही चुनाव होता है। इसके उदाहरण, हैं—सयुक्त राज्य अमेरिका की सीनेट (सन् १९१३ से), ब्राजील, आस्ट्रेलिया, न्यूजी-लैण्ड, स्वीडन, चिली, पोलैण्ड, चैकोस्लोवाकिया तथा दूसरी लैटिन अमेरिकन स्टेट्स की सीनेटें।

(४) चौथी श्रेणी के अन्तर्गत ऐसे उच्च सदन आते है, जो पूर्णरूप से या प्रधानत: प्रौढमताधिकार के आधार पर अप्रत्यक्ष रीति से निर्वाचित सदस्यों से बनते हैं। इस श्रेणी में फ्रान्स तथा डेनमार्क के उच्च सदन सम्मिलित है।

(५) ऐसे भी उच्च सदन हैं जिनका निर्वाचन स्थानीय व्यवस्थापक मण्डलो द्वारा होता है। इसके उदाहरण हैं—नीदरलैण्ड, प्रशा, चीन, पुर्तगाल तथा दक्षिणी अफ्रीकन यूनियन के उच्च सदन और सयुक्त राज्य की पहली सीनेट।

ऐसे भी अनेक उच्च सदन हैं जिनके निर्माण में दो या अधिक रीतियों का प्रयोग किया जाता है। ब्रिटिश लॉर्ड-सभा में वशानुगत सदस्या के अतिरिक्त नियुक्त सदस्य भी होते हैं। प्रथम विश्वयुद्ध से पूर्व योरोप के अधिकाश उच्च सदन भी इसी

का भी मत था कि एक आधुनिक राज्य की समस्त आवश्यकताएँ एक-सदन से पूरी हो सकती है।

[1] जापान के हाउस ऑफ पीयर्स में कई वशानुगत सदस्य है, कई कार्यपालिका द्वारा नियुक्त सदस्य हैं और कई सदस्य निर्वाचित हैं, हालांकि उनका निर्वाचन जनता द्वारा नही होता।

प्रकार के थे। जापानी उच्च सदन में भी वंशानुगत, नियुक्त तथा निर्वाचित तीनों प्रकार के सदस्य हैं। डेनमार्क के उच्च सदन दो प्रकार के सदस्यों द्वारा निर्मित हैं—ताज द्वारा नियुक्त तथा अप्रत्यक्ष रीति से निर्वाचित सदस्य। इसी प्रकार दक्षिणी अफ्रीकन यूनियन का उच्च सदन भी सपरिषद् गवर्नर-जनरल द्वारा नियुक्त ८ सदस्यों तथा प्रान्तों की प्रान्तीय व्यवस्थापिकाओं द्वारा निर्वाचित ८-८ सदस्यों से निर्मित है।[1] स्पेन के उच्च सदन में सन् १९३१ से पूर्व तीन प्रकार के सदस्य थे—अप्रत्यक्ष रीति के अनुसार निर्वाचित, वंशानुगत तथा नियुक्त सदस्य। बेल्जियन सीनेट में भी सन् १९२१ से तीन प्रकार के सदस्य रहे हैं—लोक-निर्वाचित, प्रान्तीय परिषदों द्वारा निर्वाचित और स्वयं सीनेट द्वारा निर्वाचित सदस्य। रूमानिया की सीनेट में दो प्रकार के सदस्य हैं—निर्वाचित तथा अपने पद के कारण सदस्य। नार्वे के उच्च सदन के समस्त सदस्य निम्न सदन द्वारा चुने जाते हैं और इस दृष्टि से यह अद्वितीय है, स्विस उच्च सदन भी विलक्षण है। वहाँ अधिकांश केण्टनों में उच्च सदन के सदस्यों का चुनाव प्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा होता है, उन केण्टनों में जहाँ जन सभाएँ हैं वहाँ उनका निर्वाचन उन सभाओं द्वारा होता है, जिसका आशय लोक-निर्वाचन ही है और सात केण्टनों में निर्वाचन उनके व्यवस्थापक-मण्डल करते हैं।

विविध प्रणालियों के गुण

इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि उच्च सदनों की रचना तथा संगठन में अनेक भेद हैं। यह कहना वास्तव में कठिन होगा कि इनमें से किसको सबसे अच्छा कहा जाय। इंगलैण्ड का लार्ड-सभा जैसे उच्च सदनों के विषय में, जो पूर्णत: वंशानुगत सदस्यों के हैं, स्वयं इंगलैण्ड में भी जनमत-विरोधी है। वास्तव में, योरोप में इंगलैण्ड को छोड़कर कहीं भी इस सिद्धान्त के आधार पर निर्मित सदन नहीं रहे हैं और वहाँ भी इसकी सत्ताओं में बहुत कमी हो चुकी है। इस प्रकार उसे वास्तविक सत्ता प्राप्त नहीं है। इटली, कनाडा तथा आस्ट्रेलिया के कुछ राज्यों में जैसे नियुक्त सदन हैं वे भी कई कारणों से आपत्तिजनक हैं। सदस्यों की नियुक्तियाँ मन्त्रि-परिषदों द्वारा होती हैं। ये नियुक्तियाँ दल की सेवाओं के लिए पुरस्कारस्वरूप होती हैं, अथवा मन्त्रि-परिषद् विरोधी दल पर विजय पाने के लिए अपने पक्ष का बहुमत करने के लिए सदस्यों की नियुक्त कर देती है। इस प्रकार का सदन जनता के प्रति उत्तरदायित्वहीन होता है; उस पर लोकमत का प्रभाव नहीं होता। इस प्रकार वह निर्बल होता है और जनता का उसमें विश्वास नहीं होता। इस प्रकार की व्यवस्थापिका परिषद् स्वभावत: अप्रजातन्त्रात्मक होती है, विशेषकर उस दशा में जबकि उसके सदस्य आजीवन सदस्य हों। इन्हीं कारणों से प्रोफेसर गोल्डविन स्मिथ ने कहा था कि कैनाडियन सीनेट उस सीमा तक शून्य है जिस सीमा तक कोई कानूनी रूप से महान् सत्ताधारी परिषद् हो सकती है।[2] कनाडा में इसके सुधार के लिए प्रबल आन्दोलन हो रहा है। इसके पक्ष में

---

१. यह व्यवस्था एक्ट के कार्यान्वित होने की तिथि (मई ३१, सन् १९१०) से दस वर्ष तक रहनी थी। दक्षिणी अफ्रीकन पार्लामिण्ट को यह अधिकार दिया गया था कि दस वर्ष बाद वह सीनेट के निर्माण के सम्बन्ध में स्वयं निर्णय करे। ब्रिटिश डोमीनियनों के द्वितीय सदनों के निर्माण के विषय में Keith, Responsible Government in the Dominions, Vol. I. Ch. 7 देखिये।

२. Canada and the Canadian Question, p. 163 तुलना भी कीजिये, Porritt, Evolution of the Dominion of Canada, p. 303. और

केवल एक ही बात कही जा सकती है और वह यह कि इसके द्वारा वे सुप्रसिद्ध राजनीतिज्ञ तथा विद्वान् विचारक सदस्य नियुक्त किये जा सकते हैं जिनका चुनाव सामान्य रीति से नहीं हो सकता।[1] यदि ऐसे विद्वान् पुरुषों का व्यवस्थापक-मण्डल में उपस्थित होना वास्तव में लाभ है, तो उनके लिए द्वार खोलने के लिए यह नियुक्ति की प्रणाली अपनाई जा सकती है। चूँकि नियुक्त सदस्य आजीवन सदस्य होते हैं अथवा एक लम्बी अवधि के लिए नियुक्त होते हैं, यह कहा जा सकता है कि ऐसे सदस्यों का एक-सदन रखने से लाभ भी है जो दलबन्दी की राजनीति के क्षणिक परिवर्तनों से प्रभावित नहीं होते और जो अपने लम्बे कार्यकाल से प्राप्त मूल्यवान् अनुभवों से कानून-रचना के कठिन कार्य में योगदान दे सकते हैं।[2]

उच्च सदनों का लोक-निर्वाचन

आधुनिक प्रवृत्ति यही है कि उच्च सदनों के सदस्यों का उसी मताधिकार के आधार पर, जिस पर निम्न सदन का चुनाव होता है और उन्हीं मतदाताओं द्वारा निर्वाचन हो जिनके द्वारा निम्न सदन का निर्वाचन होता है। इस विधि के पक्ष में मुख्य तर्क यह है कि यह प्रणाली लोक-दायित्व तथा लोकतन्त्र के वर्तमान विचारों के अनुकूल है। वास्तव में आज जो उच्च सदन निम्न सदन के समान सत्ताओं के अधिकारी हैं और जिनका उतना ही प्रभाव है, वे वही हैं जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रीति से जनता द्वारा निर्वाचित हैं। समस्त प्रजातन्त्र देशों में, जो उच्च सदन सर्वथा वंशानुगत हैं या नियुक्त सदस्यों द्वारा निर्मित, उनका कार्य स्पष्टतः गौण है, वे केवल निम्न सदन द्वारा स्वीकृत बिल में विलम्ब कर सकते हैं और उनका पुनर्निरीक्षण कर सकते हैं।

दूसरी ओर यह भी तर्क किया जा सकता है कि इस प्रकार की नियुक्ति से सीनेट का गौरव नष्ट हो जायगा। इस प्रकार सुलझे विचार व उच्चकोटि के राजनीतिज्ञ के स्थान पर, जिन्हें मत कम मिला करते हैं, सामान्य नेताओं एवं खलजन-नायकों (Demagogues) का ही चुनाव होगा और इसमें वे अनुभवी योग्य व्यक्ति भी हट जाँयगे जो ऐसी प्रणाली से अपना निर्वाचन कराना नहीं चाहेंगे जिसमें उन्हें लम्बे और खर्चीले चुनावों में भाग लेना पड़े। संयुक्त राज्य के विधान में सीनटरों के लोक-निर्वाचन-सम्बन्धी प्रस्तावित संशोधन पर होने वाले विवाद में यह तर्क भी दिया गया था। इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि कम से कम कुछ सीमा तक इस परिवर्तन का ऐसा ही प्रभाव हुआ है। इस प्रणाली के विरुद्ध, विशेषकर उस समय जबकि अवधि तथा सदस्यता के लिए निर्धारित योग्यताओं में दोनों सदनों के लिए कोई विशेष अन्तर नहीं हो एक दूसरा आक्षेप यह भी है कि ऐसी दशा में द्विसदनी प्रणाली का मूल्य बहुत कुछ कम हो जाता है।

Mackay, The Unreformed Senate of Canada (1927).

१. इटली के सीनेट में अनेक इटालियन विद्वान्, वैज्ञानिक, साहित्यिक तथा पत्रकार लोग इसी रीति से पहुँच सके हैं। इस विषय पर देखिये, Sidgwick, op. cit., p. 476.

२. फ्रान्स में सन् १८७५ के कानून ने ७१ आजीवन सीनेटरों के नियुक्ति की व्यवस्था की थी परन्तु १८८४ के वैधानिक संशोधन से यह व्यवस्था रद्द हो गयी। फ्रान्स के लोगों को इसी कारण इस पर खेद रहा। उसके बाद शायद ही कभी वहाँ उतनी योग्य कोई सीनेट बनी हो जितनी सन् १८७६-१८८५ की सीनेट थी। तुलना कीजिये, Bracq, France Under the Republic, p. 8.

यदि दोनों सदन अपनी रचना में समान हों, तो दूसरा पहले की ही एक नक़ल होगा। उस दशा में दो प्रतियोगी सभाएँ होंगी जो नेतृत्व के लिए संघर्ष करेंगी। तब दो क्यों हों ? क्या एक सदन द्वारा जनता की इच्छा प्रभावकारी रूप में अभिव्यक्त नहीं हो सकती ? लाइबर ने लिखा है—'यदि दो सदन एक ही निर्वाचक-मण्डल द्वारा एक ही अवधि के लिए चुने जाँय, तो व्यवहार में वे एक ही व्यवस्थापक-परिषद् की दो समितियाँ सी होंगे। हम वास्तव में दो विभिन्न सदन चाहते हैं जो प्रवृत्ति तथा अविच्छिन्नता, प्रगति तथा स्थिति-पालकता, अग्रगामी उत्साह तथा धारणा-शक्ति, नवीनता एवं अनुगामिता का प्रतिनिधित्व करें जो सदैव मानव-सभ्यता के अविच्छिन्न अंग रहेंगे। अतः एक सदन विशाल हो और दूसरा अपेक्षाकृत छोटा हो और अधिक समय के लिए निर्वाचित या नियुक्त हो।'[1] कुछ लेखकों का मत है कि यदि दोनों सदन अपनी रचना में समान हों, तो द्वि-सदन-प्रणाली से कोई लाभ नहीं। ब्लुण्ट्स्ली के अनुसार यह तो एक ही कार्य को करने के लिए दोहरे साधनों के प्रयोग के समान होगा। ब्लुण्ट्स्ली ने कहा है कि उच्च सदन का आधार निम्न सदन के आधार से भिन्न होना चाहिए ; उसे कम से कम कुछ सीमा तक विशेष वर्गों एवं हितों अथवा राजनीतिक इकाइयों की जनसंख्या का विचार किये बिना प्रतिनिधित्व करना चाहिए ; निम्न सदन को जनसाधारण के विचारों एवं हितों का प्रतिनिधित्व करना चाहिए और इस उद्देश्य से समस्त नागरिकों द्वारा उसका निर्वाचन होना चाहिए।[2] न्यायाधीश स्टोरी का भी यही मत था। व्यवस्थापक-मण्डल का दो भागों में विभाजन किसी मूल्य का नहीं होगा, यदि प्रत्येक सदन का संगठन इस प्रकार न किया जाय जिससे प्रत्येक सदन अनुचित एवं अविवेकपूर्ण कानून की रचना में एक-दूसरे पर रुकावट का काम कर सके।[3]

उच्च सदनों का परोक्ष निर्वाचन

उपर्युक्त आपत्तियों के निवारण के लिए कुछ राज्यों में परोक्ष निर्वाचन को स्वीकार किया है। इसका महत्वपूर्ण उदाहरण फ्रान्स है, जहाँ प्रत्येक डिपार्टमेण्ट्स क्षेत्र में सीनेटरों का चुनाव ऐसे निर्वाचकों द्वारा होता है, जिनका चुनाव (म्यूनिसिपल प्रतिनिधियों को छोड़ कर) प्रत्यक्ष लोक-निर्वाचन द्वारा किया जाता है। फ्रान्स में सीनेट के लिए प्रत्यक्ष लोक-निर्वाचन के लिए ऐसी कोई माँग नहीं है, जैसी संयुक्त राज्य में थी जिसके कारण परिवर्तन करना पड़ा। परन्तु यह आलोचना तो की जाती है कि कुछ निर्वाचक जनता के मत से नहीं चुने जाते वरन् म्यूनिसिपल कौंसिल द्वारा चुन जाते हैं। यह आलोचना उसी आधार पर की जाती है जिस पर संयुक्त राज्य में राज्यों के व्यवस्थापक-मण्डलों द्वारा सीनेटरों के चुनाव की की जाती थी, अर्थात् इस

१. Civil Liberty and Government, p. 198.

२. ब्राइस ने कहा है कि जो लोग यह तर्क देते हैं, उनका मुँह प्रजातान्त्रिक सिद्धान्त बन्द कर देता है। यदि द्वितीय सदन नियुक्त हो, *परोक्ष विधि से या सीमित मता*-धिकार द्वारा निर्वाचित हो या विशिष्ट हितों का प्रतिनिधित्व करे तो इससे आधुनिक प्रजातन्त्र के सिद्धान्त की अवहेलना होती है। इसीलिए यदि दूसरा सदन रखना ही है तो उसका निर्वाचन भी निम्न सदन के समान लोक मताधिकार पर होना चाहिए। Modern Democracies, Vol. II, p. 405.

३. Commentaries, Vol. I, Sec. 699.

प्रणाली से म्यूनिसिपल कौंसिलों पर दलीय प्रकृति के कुछ अतिरिक्त काम लाद दिये जाते हैं और इसके साथ ही म्यूनिसिपल चुनावों में वे प्रश्न भी घुस जाते हैं जो वास्तव में सीनेट के चुनाव के सम्बन्ध में उठने चाहिए।[1]

स्थानीय व्यवस्थापक-मण्डलों द्वारा निर्वाचन

स्थानीय व्यवस्थापक मण्डलों द्वारा निर्वाचन की प्रणाली लोकप्रिय है और जिन देशों में संघ-शासन-प्रणाली स्थापित है, उनमें यह कुछ उपयुक्त भी है। इसी प्रणाली से १२० वर्षों तक के अमेरिका के संयुक्त राज्य में सीनेट के सदस्यों का चुनाव होता रहा है, परन्तु सन् १९१३ में कुछ तो इसके सहज दोषों के कारण और कुछ इसकी कठिनाइयों के कारण इसका परित्याग कर दिया गया। जब तक सीनेट के सदस्य-राज्यों के व्यवस्थापक-मण्डलों द्वारा चुने जाते रहे तब तक अनेक बार दोनों सदनों के बीच प्रायः अवरोध हुए, रिश्वतखोरी के मामले भी काफी रहे, व्यवस्थापक-मण्डल अपने निजी कार्य को त्याग सीनेट के चुनावों में अपनी शक्ति का अपव्यय करते रहे और प्रायः व्यवस्थापक-मण्डलों के सदस्यों का निर्वाचन प्रतिनिधि की हैसियत से उनकी स्वाभाविक योग्यता एवं कार्य-कुशलता के आधार पर न होकर सीनेट के लिए किसी विशेष सदस्य के लिए उनके विशेष अनुराग के आधार पर होता था।[2]

उच्च सदनों के संगठनों के लिए प्रस्ताव

उच्च सदनों की रचना एवं संगठन की सबसे उत्तम रीति कौन सी है, यह राज्य-विज्ञान की सबसे कठिन पहेलियों में से एक रही है और इस पर राजनीतिक लेखकों तथा विधान-निर्माताओं ने काफी ध्यान भी दिया है। प्रोफेसर गोल्डविन स्मिथ ने कहा है कि ऐसे प्रभावकारी उच्च सदन का संगठन, जो सामान्यतया सन्तोषप्रद हो, मनुष्य की बुद्धि से परे है। आज भी इस सम्बन्ध में कोई सामान्य मतैक्य नहीं है और न व्यवहार में ही कोई एकरूपता है, यद्यपि प्रवृत्ति यह है कि जहाँ तक निर्वाचन के स्रोत और ढंग से सम्बन्ध है, उच्च सदन को निम्न सदन की एक प्रतिलिपि बना दिया जाय।

जॉन स्टुअर्ट मिल ने जन्म अथवा सम्पत्ति का विचार किये बिना राजनीतिक अनुभव एवं शिक्षण के आधार पर, उच्च सदन की रचना का समर्थन किया था। उसने कहा कि यदि एक सदन लोक-भावना का प्रतीक है, तो दूसरे सदन में व्यावहारिक अनुभव से पोषित तथा सार्वजनिक सेवा द्वारा परीक्षित व्यक्तिगत योग्यता को स्थान मिलना चाहिए। यदि एक जनता की परिषद् हो तो दूसरी राजनीतिज्ञों की परिषद् होना चाहिए, ऐसी परिषद् जिसमें वे समस्त अनुभवी व्यक्ति हों जिन्होंने महत्वपूर्ण राजनीतिक पदों पर कार्य किया है। मिल के विचार में ऐसा सदन केवल एक प्रकार की रोक लगाने वाली सत्ता ही नहीं होगा,—वरन् एक प्रेरक-शक्ति भी होगा। वह देश के स्वाभाविक नेताओं की एक परिषद् होगी ; जो प्रगति के पथ पर

---

१. देखिये, Duguit, Droit Cons. Vol. II, p, 246. सीनेट के लोक-निर्वाचन के लिए भी प्रस्ताव किये गये हैं। Sharp, op. cit., 97. संयुक्त राज्य के समान फ्रान्स में भी सीनेट की यह आलोचना की जाती है कि वह उन बिलों का विरोध करती है जिनके लिए जनता की माँग है और उन्हें निम्न सदन का समर्थन प्राप्त है।

२. इन आक्षेपों तथा वास्तविक अनुभव के लिए देखिये, Haines, The Election of Senators, Chs. 7-8.

जनता का पथ-प्रदर्शन करेगा।[1] मिल के मतानुसार सर्वश्रेष्ठ द्वितीय सदन वह है जिसमें ऐसे व्यक्ति अधिक से अधिक हो जो वर्गगत हितो तथा बहुमत के पक्षपातपूर्ण विचारो से मुक्त हो, परन्तु जिनमे लोकतन्त्रात्मक भावना के विरुद्ध कोई बात न हो।

ब्राइस कॉन्फरेन्स के प्रस्ताव

सन् १९१८ में एक सम्मेलन लॉर्ड ब्राइस के सभापतित्व मे ब्रिटिश लॉर्ड-सभा मे सुधार करने के प्रश्न पर विचार करने तथा रिपोर्ट तैयार करने के लिए हुआ था। उसकी रिपोर्ट मे वर्तमान द्वितीय सदनो को रचना और उनके निर्माण के सम्बन्ध मे विशद रूप से विचार किया गया था और यह सिफारिश की गयी थी कि लॉर्ड-सभा के अधिकाश सदस्यो का चुनाव लोक-सभा (House of Commons) द्वारा हो, यद्यपि उसमे लोक-सभा के सदस्य नही चुने जा सकेंगे। इस कार्य के लिए लोक-सभा कई भौगोलिक क्षेत्रो मे विभाजित की जायगी। शेष सदस्यो का चुनाव दोनों सदनो की एक सयुक्त समिति द्वारा उन महान् हितो के आधार पर होगा जिनके कारण लॉर्ड-सभा का जन्म हुआ था। इस रिपोर्ट का स्वागत नही हुआ न उस पर कोई कार्यवाही ही की जा सकी है और आज भी लॉर्ड-सभा अपने उसी रूप मे विद्यमान है।[2]

अनुभव की शिक्षा

अनुभव और तर्क द्वारा तो यही मालूम होता है कि यदि व्यवस्थापक-मण्डलो को द्वि-सदन-प्रणाली के आधार पर कायम रखना है तो दोनो की रचना विभिन्न

---

१. John Stuart Mill, Representative Government, Ch. 13. मिल ने यह सुझाव रखा था कि इस सदन मे वे समस्त व्यक्ति हो, जिन्हे व्यवस्थापन का विशिष्ट अनुभव हो, जिन्होने न्यायालयों मे उच्च पदो पर कार्य किया हो, जो कम से कम दो वर्षों तक मन्त्रि-परिषद मे कार्य कर चुके हो, जिन्होने थलसेना तथा नौसेना मे सर्वोच्च पदो पर कार्य किया हो, जो प्रथम श्रेणी के राजदूत रहे हो और जो कुछ समय तक उपनिवेशो के गवर्नर रहे हो। सक्षेप मे, इस सदन मे वे व्यक्ति ही होने चाहिए जिन्होने राजनीति, सेना तथा कानून के क्षेत्रों में प्रसिद्धि प्राप्त की हो।

२. McBain and Rodgers, The New Constitutions of Europe, p 573, जिसमे रिपोर्ट का स्पष्टीकरण करते हुए लॉर्ड ब्राइस ने जो पत्र प्रधान मन्त्री को लिखा था, वह दिया हुआ है। ब्राइस के प्रस्ताव की आलोचना Lees-Smith ने Second Chambers in Theory and Practice, p 216 मे की है। उसने निम्न सदन के सदस्यो मे से उच्च सदन के लिए सदस्यो को चुनने की नॉर्वे की प्रणाली का समर्थन किया है।

सिडनी वेब तथा उसकी पत्नी ने अपनी पुस्तक, Constitution for the Socialist Commonwealth of Great Britain Pt. II, Ch 1 मे वर्तमान द्वि-सदनी-प्रणाली की आलोचना की है परन्तु आधुनिक व्यवस्थापक-मण्डलो के अत्यधिक भार से प्रभावित होकर उन्होने उसके कार्यों को दो भागो मे विभक्त करने का प्रस्ताव किया है जिनमे से एक भाग तो 'राजनीतिक' पार्लामेण्ट के हाथो मे हो और दूसरा 'सामाजिक' पार्लामेण्ट के हाथों मे। लास्की (op. cit., p. 337) ने इस योजना को 'आकर्षक' किन्तु 'अव्यवहार्य' बतलाया है।

आधारो एवं सिद्धान्तो पर होनी चाहिए।[1] एक सदन के सदस्यों की अवधि अधिक लम्बी होनी चाहिए; उन्हें अपेक्षाकृत बड़े निर्वाचन-क्षेत्रो का प्रतिनिधित्व करना चाहिए, उनसे अपेक्षित सदस्यता की योग्यताएँ भी उच्च होनी चाहिए और उनका चुनाव भिन्न प्रणाली से भिन्न निर्वाचक-मण्डलो द्वारा होना चाहिए।[2] किन्तु जैसा हम बतला चुके हैं, आधुनिक प्रजातन्त्रात्मक धारणा इस प्रकार के सदनो के पक्ष मे नही है। जहाँ ऐसी आवश्यकताएँ विद्यमान हैं, वहाँ सदा एक सदन ऐसा होगा जो दूसरे की अपेक्षा छोटा होगा, जिसके सदस्यो का अनुभव और शायद योग्यता भी अपेक्षाकृत ऊँची होगी, जिसमे अधिक स्थितिपालकता होगी और जो राज्य के उच्चतर साम्पत्तिक तथा बौद्धिक हितो का भी प्रतिनिधित्व करेंगे। फ्रान्स, बेल्जियम, पोलैण्ड तथा इटली मे उच्च सदन के सदस्यो के लिए ४० वर्ष तथा चेकोस्लोवाकिया मे ४५ वर्ष की आयु का नियम है। उच्च आयु के इस नियम के कारण इन देशो के व्यवस्थापक-मण्डल मे अधिक अनुभवी राजनीतिज्ञ एव विद्वान् पर्याप्त संख्या मे हैं। कार्य-काल की लम्बी अवधि तथा निर्वाचन क्षेत्र की विशालता का भी इसी प्रकार का प्रभाव पड़ा है।

उच्च सदन मे स्थानो का वितरण

उच्च सदन मे प्रतिनिधित्व के आधार के सम्बन्ध मे दो नियमो का पालन किया जाता है। प्रथम, अधिकांश संघ-राज्यो मे सदस्यो का वितरण जनसंख्या के आधार पर विविध प्रान्तों एवं राज्यो के बीच होता है। यह प्रणाली फ्रान्स, बेल्जियम, कनाडा तथा दूसरे देशो मे प्रचलित है। संयुक्त राज्य, ब्राजील और ऑस्ट्रेलिया के कॉमनवेल्थ मे राज्यों के बीच समान प्रतिनिधित्व का सिद्धान्त प्रचलित है। संयुक्त राज्य मे प्रत्येक राज्य की ओर से सीनेट मे दो, ब्राजील मे तीन और ऑस्ट्रेलिया मे

---

१. Sharp (Probleme de la seconde chambre, pp 75, 89, 129 के निष्कर्षों से तुलना कीजिये। उसने कहा है कि ऑस्ट्रेलिया तथा अमेरिका के अनुभव से यह प्रकट होता है कि यदि द्वितीय सदन प्रथम सदन की प्रतिलिपिमात्र हो तो द्वि-सदन-प्रणाली व्यर्थ है। उसका कथन है कि प्रजातान्त्रिक तर्क का तकाजा तो यह है कि द्वितीय सदन का निर्वाचन उतने ही विस्तृत मताधिकार के आधार पर हो जितना प्रथम सदन के लिए हो और दोनो सदनो की सत्ताएँ समान हों। किन्तु यदि उसका इस प्रकार निर्वाचन हो और उसे इतनी सत्ताएँ हो तो उसका रुकावट लगाने वाली सत्ता की हैसियत मे मूल्य बहुत कुछ चला जायगा।

२. ब्राइस रिपोर्ट ने सिफारिश की थी कि ब्रिटिश उच्च सदन के सदस्यो की अवधि १२ वर्ष की होनी चाहिए और उसके सभी सदस्य एक साथ नहीं बदले जाने चाहिए, किन्तु निर्धारित अवधि के बाद कुछ सदस्य हट जाँय और उनके स्थान पर नए सदस्य ले लिये जाँय। आयरलैण्ड के नये विधान ने सीनेटर की अवधि १२ वर्ष की रखी है। इससे भी अधिक रोचक उसकी २९ वी धारा है जिसने यह व्यवस्था की है कि सीनेट मे ऐसे नागरिक हो जिन्होंने सार्वजनिक सेवा द्वारा राष्ट्र को सम्मानित किया हो या जो अपनी विशिष्ट योग्यता के कारण राष्ट्र के जीवन के महत्वपूर्ण पक्षों का प्रतिनिधित्व करते हो। परन्तु वहाँ सीनेटरों का निर्वाचन तो जनता द्वारा होता है। ऐसी दशा मे यह समझ मे नहीं आता कि सदस्यता के लिए निर्धारित शर्तें किस प्रकार पूरी हो सकती है।

छह सदस्य होते हैं। विविध राज्यों में जनसंख्या में बड़ी असमानता होने के कारण प्रजातन्त्र के सिद्धान्त के आधार पर समान प्रतिनिधित्व का समर्थन नहीं किया जा सकता। संयुक्त राज्य में न्यूयॉर्क राज्य की जनसंख्या १ करोड़ २५ लाख है और सीनेट में उसके दो सदस्य हैं। नेवाडा की जनसंख्या केवल ९१,००० है, परन्तु उसके भी सीनेट में दो सदस्य हैं। यह स्थिति सर्वथा हास्यास्पद तथा असमर्थनीय है। आनुपातिक आधार पर न्यूयॉर्क के २७५ सिनेटर होंगे। न्यूयॉर्क, पेनसिलवेनिया, इलिनॉय, ओहियो और टैक्सास इन पाँच राज्यों की जनसंख्या ४ करोड़ २० लाख, अर्थात् कुल संयुक्त राज्य की आबादी का ३४ प्रतिशत है, परन्तु सीनेट में ९६ सदस्यों में से उनके केवल दस सदस्य हैं, अर्थात् केवल १० प्रतिशत।[1]

उच्च सदनों की सत्ताएँ

दीर्घ काल से समस्त देशों में यह परिपाटी प्रचलित है कि उच्च सदन को कुछ विशिष्ट अधिकार होते हैं जो निम्न सदन को नहीं होते। लॉर्ड-सभा ब्रिटेन के लिए अपील की सुप्रीम कोर्ट है, परन्तु वास्तव में इस सत्ता का प्रयोग लॉर्ड चान्सलर तथा ६ अन्य कानून-लॉर्ड (Law Lords) ही करते हैं। जैसा उल्लेख किया जा चुका है, विभिन्न योरोपीय देशों में उच्च सदन राज्य-प्रमुख, राज्य-मन्त्रियों तथा अन्य उच्च अधिकारियों पर देश की सुरक्षा के विरुद्ध आरोपित अपराधों की जाँच भी कर सकते हैं। संयुक्त राज्य में तथा कुछ अन्य राज्यों में वह राज्य के उच्च अधिकारियों पर आरोपित महाभियोगों के निर्णय के लिए न्यायालय का काम करता है। चिली में उच्च सदन एक ओर प्रशासनाधिकारियों तथा राजनीतिक अधिकारियों और दूसरी ओर उच्च न्यायालयों के मध्य में जो क्षमता सम्बन्धी विवाद होते हैं, उनका निर्णय करता है। पुराने विधान में जर्मनी के उच्च सदन को अनेक न्यायिक तथा प्रशासनीय सत्ताएँ थीं। फ्रान्स तथा पोलैण्ड में निम्न सदन के भंग के लिए उसकी अनुमति आवश्यक है। संयुक्त राज्य में राष्ट्रपति द्वारा जो नियुक्तियाँ एवं संधियाँ की जाती हैं, उन पर सीनेट की स्वीकृति आवश्यक होती है। चिली में वह राष्ट्रपति को किसी प्रश्न पर, जिस पर वह परामर्श माँगे, परामर्श भी देती है। वहाँ क्षमा-सम्बन्धी बिल केवल सीनेट में ही प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

परन्तु सामान्यतया राजस्व-सम्बन्धी मामलों में उच्च सदन को निम्न सदन के समान अधिकार नहीं होते। संयुक्त राज्य, फ्रान्स, ग्रेट ब्रिटेन तथा अन्य देशों में राजस्व-विधेयक (Financial Bill) उच्च सदनों में प्रस्तुत नहीं किये जा सकते। फ्रान्स में सीनेट को निम्न सदन द्वारा स्वीकृत बजट का संशोधन करने या उसे अस्वीकार करने का अधिकार है या नहीं, इस सम्बन्ध में मतभेद है। अधिकतर मत इसी पक्ष में है कि सीनेट को नये खर्च अथवा नये टैक्स लगाने के सम्बन्ध में कोई प्रस्ताव करने का अधिकार तो नहीं है; परन्तु उसे निम्न सदन द्वारा स्वीकृत धनराशि में कमी करने का अधिकार है और वह चाहे तो बजट में उस राशि को फिर से स्वीकार कर सकती है जिसके लिए मन्त्रि-परिषद् ने प्रस्ताव किया हो, परन्तु जिसे निम्न सदन ने अस्वीकृत कर दिया हो।[2]

---

१. Ogg and Ray, Introduction to American Government, p. 346.

२. इस विषय में देखिये, Duguit, Droit Const. (1911), Vol. II, p. 337 तथा Esmein, Droit Const. (5th ed.), p. 909.

मुख्य पाठ्य-ग्रन्थ

Barnett, "The Bicameral System in State Legislation," *Amer. Pol. Sci. Rev.*, Vol. IX (1915), pp. 449 ff.
Bryce, "Modern Democracies" (1922), Vol II, Ch. 64.
Burgess, "Political Science and Constitutional Law" (1896), Vol. II, Ch. 5.
Carre De Malberg, "Theorie generale de l'etat" (1922), Vol. II, Chs. 1-2.
Duguit, "Traite de droit constitutionnel" (2nd ed., 1923), Vol II, secs. 43 44 ; also his "Election des Senateurs," *Rev Pol. et parlementaire*, August, 1895
Esmein, "Elements de droit constitutionnel" (5th ed , 1909), Ch. 3.
Finer, "The Theory and Practice of Modern Government" (1932), Vol. I, Chs 16, 17 and Vol. II, Ch. 21.
Ford, "Representative Government" (1924), Chs. 4-9.
Harley and others, "Second Chambers in Practice" (1911).
Jellinek, "Recht des modernen Staates" (1905), Ch. 17.
Keith "Responsible Government in the Dominions" (1912), Vol I, Pt. III, Ch 7.
Laski, "A Grammar of Politics" (1925), pp 328-340.
Marriott, 'Second Chambers" (1910), Intro. and Chs. 3, 12 , also "The Mechanism of the Modern State" (1927), Vol. I, Chs. 14, 15
McBain and Rogers, "The New Constitutions of Europe" (1922), Ch. 3 and appendix V (Report of Lord Bryce for the Conference on the Reform of the Second Chamber)
Mill, "Representative Government" (1861), Ch. 13.
Mamic, "A Treatise on the State" (1933), pp 186 ff.
Sharp, "Le problome de la seconde chambre et la democratie moderne" (1922), *Conclusions generales*.
Spender, "One Chamber or Two," *Contemporary Review*, May, 1910.
Story, "Commentaries on the Constitution of the United States" (1833), Bk III, Ch 8.
Temperley, "Senates and Upper Chambers" (1910), Ch. 1.
Wilson, "Constitutional Government" (1908), Ch. 5.

व्यवस्थापक अंग (क्रमशः)

(५) निम्न सदनों की रचना

सामान्य सिद्धान्त

निम्न सदन की रचना तथा उसके सदस्यो के निर्वाचन के सम्बन्ध मे विद्वानो मे काफी मतैक्य और व्यवहार मे भी सर्वत्र काफी समानता दिखाई देती है। सब मानते हैं कि कि वह लोक-आधार पर स्थिर होना चाहिए, उसके सदस्य प्रत्यक्ष, समान, गुप्त एवं सार्वभौम मताधिकार से चुने जाने चाहिए और उनका कार्य-काल अपेक्षाकृत अल्प होना चाहिए। किन्तु योरोप मे वर्तमान वैधानिक परिवर्तनो से पूर्व यह विचार तथा अभ्यास सार्वदेशिक नही था। कुछ जर्मन-राज्यो मे, विशेषतः प्रशा मे, निम्न सदन ऐसे निर्वाचकों द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से चुने जाते थे जो स्वयं कर की मात्रा के आधार पर निर्मित त्रिवर्ग-प्रणाली के अनुसार चुने जाते थे। इसका परिणाम यह होता था कि व्यवसायी तथा श्रमजीवी वर्ग एक बडी सीमा तक मताधिकार से वंचित थे और व्यवस्थापन सत्ता सम्पत्तिशाली वर्गों, विशेषतः जमीदारो के हाथो मे केन्द्रित हो गयी थी। सन् १६०७ तक ऑस्ट्रिया मे भी इतनी ही अप्रजातान्त्रिक प्रणाली प्रचलित थी। बेल्जियम मे, सन् १६२१ से पूर्व, अनेक-मतदान की प्रणाली प्रचलित थी, कैथोलिक पार्टी निम्न सदन के अधिकांश सदस्यो का चुनाव कर सकती थी और उदार तथा समाजवादी दलो की शक्ति कम हो गयी थी।[1] आज एशिया या योरोप मे ऐसा कोई भी निम्न सदन नही है जिसका निर्वाचन अप्रत्यक्ष चुनाव या असमान मताधिकार के आधार पर होता हो।

प्रतिनिधित्व का आधार

इस सम्बन्ध मे जो सिद्धान्त आज प्रायः सर्वमान्य है, वह यह है कि निम्न

१. इस प्रणाली के कारण सोशल डिमॉक्रेटिक पार्टी, जिसके सदस्य छोटी दूकान वाले और श्रमजीवी थे, शाही राजकस्टाग मे तो, जिसका निर्वाचन वयस्क-पुरुष-मताधिकार पर होता था, १०० सदस्य तक चुन सकती थी, परन्तु त्रिवर्ग-प्रणाली के आधार पर निर्वाचित प्रशा के निम्न सदन के लिए शायद ही कभी कोई सदस्य चुन पाती थी। सन् १६०३ मे दोनो कञ्जरवेटिव दलो ने, जिन्हे ३,७२,१३२ वोट मिले २०२ सदस्य चुने, परन्तु सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी को, जिसे ३,१४,१४६ मत मिले थे, एक भी सदस्य नही मिला। सन् १६०८ के चुनाव मे कंजरवेटिव दलो को २१२ सदस्य मिले, पर सोशल डेमोक्रेटो को एक भी सदस्य नही मिला।

सदन मे (और कुछ राज्यो मे उच्च सदन मे भी) प्रतिनिधित्व का आधार देश की समूची जनसख्या हो, जिसमे नागरिक तथा अनागरिक स्त्री-पुरुष, प्रौढ तथा अल्पवयस्क सभी हो, केवल मतदाता ही नहीं। अमेरिका के कई राज्यो मे इस सिद्धान्त की उपेक्षा की जाती है। अलबामा और इडाहो राज्यो मे निम्न सदन मे कितने सदस्य हो, इसके निर्णय के लिए गत निर्वाचन मे जो कुल मत दिये गये, उनकी सख्या आधार मानी जाती है। अर्कन्सास तथा इण्डियाना मे २१ वर्ष या इससे अधिक आयु वाले पुरुषो की सख्या के आधार पर और मैसेचुसेट्स मे वैध मतदाताओ की सख्या के आधार पर यह निर्णय होता है। नॉर्थ केरोलिना मे प्रतिनिधित्व के निर्णय के लिए विदेशियों की गणना नही की जाती। फ्रान्स मे इस बात के पक्ष मे भारी लोकमत है कि निम्न सदन के प्रतिनिधित्व का निर्णय केवल फ्रेन्च जनता के आधार पर ही हो, उसमें विदेशियो की गणना न की जाय। ऐसा इसलिए है कि कुछ प्रदेशो में विदेशी बहुत बडी सख्या में हैं तथा कुछ में नाम मात्र को हैं और इससे प्रतिनिधित्व में कृत्रिम एव अनुचित असमानता आ जाती है।

प्रतिनिधित्व की समानता के सिद्धान्त की अवहेलना

यद्यपि यह सिद्धान्त सर्वमान्य है कि प्रतिनिधित्व जनता के आधार पर हो और समान जनसख्या के निर्वाचन-क्षेत्र का प्रतिनिधित्व भी समान हो, तथापि व्यवहार में इस सिद्धान्त का प्रायः उल्लघन होता है। विधानो में (उदाहरणार्थ, अमेरिकन तथा फ्रेन्च विधानों में) इस प्रकार की सामान्य व्यवस्था होती है कि प्रत्येक राज्य, नगर, कस्बा या जिला, चाहे वह कितना ही छोटा क्यो न हो, कम से कम एक प्रतिनिधि चुनकर भेज सकेगा। इस व्यवस्था के परिणामस्वरूप चार अमेरिकन राज्यो (डेलावेअर, निवाडा, वायोमिंग और अरीजोना) में से प्रत्येक एक-एक प्रतिनिधि चुनता है, यद्यपि उनकी आबादी कांग्रेस द्वारा निर्धारित सख्या से भी कम है, निवाडा की तो बहुत ही कम है। इसी प्रकार फ्रान्स में कुछ जिले ऐसे हैं या अभी तक थे जिनकी जनसख्या १४,००० से भी कम थी, जिनसे एक-एक प्रतिनिधि चुना जाता था और कुछ ऐसे भी थे जिनकी आबादी १९२,००० से भी अधिक थी किन्तु वे भी एक ही सदस्य का चुनाव करते थे। कुछ अमेरिकन राज्यो में इस वैधानिक व्यवस्था से प्रत्येक काउंटी को, चाहे उसकी आबादी कितनी ही हो, केवल एक ही सदस्य भेजने का अधिकार होगा, प्रतिनिधित्व की समानता के सिद्धान्त की हत्या होती है। न्यू जरसी में इस नियम के अनुसार केप मे (Cape May) काउंटी, जिसकी आबादी २०,००० है, एक सदस्य चुनती है, परन्तु इसेक्स (Essex) काउंटी भी, जिसकी आबादी ५००,००० है, एक ही सदस्य चुनती है। कुछ कुछ इसी प्रकार की असमानताएं मेरीलेण्ड, साउथ केरोलिना तथा दूसरे राज्यों में भी मिलती हैं। न्यू इगलैण्ड में तो जहाँ व्यवस्थापक-मण्डल के लिए नगर-प्रणाली प्रचलित है, ये असमानताएँ और भी अन्यायपूर्ण हैं। कनेक्टीकट में ४०० से ५०० तक की आबादी के छोटे-छोटे कस्बो को भी एक सदस्य भेजने का अधिकार है जबकि न्यू हेवन भी, जिसकी आबादी १५०,००० है, एक सदस्य ही भेज सकता है।[1] इस राज्य के चार प्रधान नगरो में कुल राज्य की $\frac{1}{3}$ जनता है, परन्तु वे राज्य के निम्न सदन के लिए

---

१. तुलना कीजिये, Dealy, Our State Constitutions, p. 72 ; Ford, Rural Domination of Cities in Connecticut, Mun. Affairs, Vol VI (1902), pp. 220 ff.

१/१० से भी कम सदस्यो का चुनाव करते हैं। कुछ राज्यों में बडे-बड़े नगरोंवाली काउंटियो के प्रतिनिधियों की संख्या निर्धारित कर दी गयी है (जैसे न्यूयॉर्क और रोड आइलेण्ड)। इससे भी प्रतिनिधित्व में बडी विषमता हो जाती है।

पुनर्वितरण की आवश्यकताएँ

किसी जिले (संघ राज्यों में राज्य या प्रान्त) के प्रतिनिधित्व तथा उसकी जनसंख्या की वृद्धि के बीच अनुरूपता रखने के हेतु, कुछ विधानों में यह व्यवस्था होती है कि एक नियत अवधि के बाद जनगणना होगी और उसके परिणामों के आधार पर प्रतिनिधित्व का पुन: वितरण होगा। परन्तु व्यवस्थापक-मण्डलों को, जिन्हें इस प्रकार का आदेश दिया गया है, इस प्रकार का पुनर्वितरण करने के लिए बाध्य करने का कोई तरीका नहीं है।[1] वर्षों तक जर्मनी में *समाजवादी प्रजातन्त्री दल* (Social Democratic Party) की यह शिकायत रही कि प्रशा के व्यवस्थापक-मण्डल में सन् १८६० और सन् १८७१ के बाद से राइक्स्टैग (जर्मनी के निम्न सदन) में स्थानों का जनसंख्या के आधार पर पुनर्वितरण नहीं किया गया। इसके परिणामस्वरूप नगरों की अभिवृद्धि एवं विकास के कारण ग्राम्य जिलों की अपेक्षा *उनका प्रतिनिधित्व कम रह गया और ग्राम्य जिलों का प्रतिनिधित्व अत्यधिक* हो गया।[2] यह संसार में सबसे असमान प्रतिनिधित्व-प्रणाली थी। समाजवादी प्रजातन्त्री दल की मूल शक्ति बड़े औद्योगिक नगरों में ही केन्द्रित थी और अनुदार दलों की शक्ति प्रधानतः ग्रामों में थी। इसका परिणाम यह निकला कि समाजवादी दल की शक्ति जर्मन-पार्लमिण्ट में बहुत कमी थी। यही कारण था कि शासन वर्ग इसमें पुनर्वितरण नहीं करना चाहता था।

निर्वाचन-क्षेत्र

प्रतिनिधियों के निर्वाचन में सुविधा तथा प्रतिनिधि और उसके निर्वाचकों में घनिष्ठ सम्बन्ध बनाये रखने के लिए समस्त देशों में देश को प्रादेशिक निर्वाचन-क्षेत्रों (Constituencies) में विभाजित करने की प्रथा है और प्रत्येक निर्वाचन-क्षेत्र में से सामान्यतया एक सदस्य चुना जाता है। समस्त सदन का निर्वाचन एक सामान्य टिकिट के आधार पर सारे देश को ही एक निर्वाचन-क्षेत्र मान कर किया जा सकता है *जिसमें एक निर्वाचक समस्त सदस्यों के लिए एक मत दे सकता है*; परन्तु जो राज्य काफी विशाल हैं, जहाँ कई सौ की संख्या में सदस्यों का चुनाव करना पड़ता है, इस प्रकार की प्रणाली स्पष्टतः व्यावहारिक नहीं होगी। इस प्रणाली के द्वारा समय एवं शक्ति का अपव्यय होगा। इससे भी अधिक महत्त्व की बात तो यह है कि निर्वाचक दूर-दूर के उम्मीदवारों को जान न सकेंगे और ऐसी दशा में चुनाव अनुमानमात्र रह जायगा।

---

१. इलिनॉय के विधान में ऐसा उपबन्ध है कि हर दसवें वर्ष प्रतिनिधित्व का पुनर्वितरण किया जायगा, परन्तु सन् १६१० और सन् १६२० की जनगणना के पश्चात् इस उपबन्ध की अवहेलना की गयी। इसी प्रकार अमेरिकन कांग्रेस ने भी सन् १६२० की जनगणना के बाद संघीय प्रतिनिधित्व का कोई पुनर्वितरण नहीं किया।

२. विस्तार की बातों के लिए देखिये, Ogg, *Governments in Europe*, pp 644, 661. हम यह बतला चुके हैं त्रिवर्ग-प्रणाली के कारण प्रशा में सोशल डिमोक्रेटिक पार्टी को व्यवस्थापक-मण्डल में कोई स्थान नहीं मिल पाता था।

एक-सदस्य-निर्वाचनक्षेत्र बनाम बहुसदस्य-निर्वाचन-क्षेत्र (General Ticket)

निर्वाचन-क्षेत्रों का निर्माण दो प्रकार से किया जाता है—या तो व्यवस्थापक-मण्डल के लिए जितने सदस्य चुनने होते हैं, उतने ही निर्वाचन-क्षेत्र भी बना दिये जाते हैं और प्रत्येक निर्वाचन-क्षेत्र से एक सदस्य चुना जाता है; या थोड़े से बड़े-बड़े निर्वाचन-क्षेत्र बना लिये जाते हैं और प्रत्येक क्षेत्र से कई सदस्य चुने जाते हैं। पहले को एक सदस्य निर्वाचन-क्षेत्र (Single Member District) प्रणाली तथा दूसरे को बहुसदस्य निर्वाचन-क्षेत्र-प्रणाली या जनरल टिकिट प्रणाली (General Ticket method) कहते हैं। प्रत्येक राज्य ने भिन्न भिन्न समय पर इन दोनों रीतियों का प्रयोग किया है, परन्तु अन्त में सबने एक-सदस्य-निर्वाचन क्षेत्र को ही अपना लिया, यद्यपि वर्तमान समय में आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के विस्तार के कारण जिन देशों ने इसे अपनाया है, वहाँ यह आवश्यक हो गया है कि बहुसदस्य-निर्वाचन-क्षेत्रों की ही स्थापना की जाय। केवल जहाँ आनुपातिक प्रतिनिधित्व की एक-सक्रमणीय मत की प्रणाली प्रचलित है, वहीं ऐसा नहीं होता। संयुक्त राज्य में दीर्घ काल तक कांग्रेस के लिए सदस्य सारे राज्य को ही एक निर्वाचन-क्षेत्र मान कर चुने जाते रहे और प्रत्येक मतदाता सारे 'टिकिट' अर्थात् आवश्यक संख्या में चुने जाने वाले समस्त उम्मीदवारों के लिए अपना मत दे सकता था, परन्तु इस प्रणाली के विरुद्ध इतनी आपत्तियाँ की गयीं कि सन् १८४२ में कांग्रेस ने कानून बना कर यथासम्भव समान जनसंख्या वाले निर्वाचन-क्षेत्रों के चुनाव की व्यवस्था की। यह प्रणाली अब तक चल रहा है।

ग्रेट ब्रिटेन में एक सदस्य-निर्वाचन क्षेत्र-प्रणाली ही काफी समय से प्रचलित है, यद्यपि सन् १८६७ और १८८५ के बीच कुछ अधिक जनसंख्या वाले नगरों को जनरल टिकिट-प्रणाली से सदस्य चुनने का अधिकार था। ये १३ तथाकथित 'त्रिकोण' निर्वाचन-क्षेत्र थे जिनमें ऐसे अल्पमत को, जो ⅓ से कम नहीं था, एक सदस्य चुनने का अधिकार था।[1]

फ्रेन्च प्रथा

तृतीय फ्रान्स गणतन्त्र में चेम्बर आफ डिपुटीज के चुनाव के लिए एक-सदस्य-निर्वाचन-क्षेत्र-प्रणाली का ही प्रयोग किया गया। परन्तु सन् १८८५ में जनरल टिकट-प्रणाली स्वीकार की गयी जिसके अनुसार प्रत्येक प्रान्त (Department) के सदस्य जनरल टिकट पर चुने जाने लगे सीन डिपार्टमेण्ट में ३८ प्रतिनिधियों का चुनाव केवल एक मत पत्र द्वारा होता था और प्रत्येक मतदाता को ३८ मत देने का अधिकार था। परन्तु सन् १८८९ में जब जनरल बोलन्जर ने सेना से अपनी पदच्युति के विषय में जनमत-संग्रह की धमकी दी और कई चुनावों में उसे काफी सफलता मिली, जिसका कारण यहा बहु सदस्य निर्वाचन-क्षेत्र प्रणाली थी, तो पार्लामेण्ट ने इस प्रथा को बदल कर उसके स्थान पर फिर एक सदस्य-निर्वाचन-क्षेत्र-प्रणाली की स्थापना कर दी।

कुछ समय बाद एक-सदस्य-निर्वाचन-क्षेत्र प्रणाली का फिर से व्यापक विरोध होने लगा और बहु-सदस्य-निर्वाचन-क्षेत्र-प्रणाली की पुनः माँग की जाने लगी। इस एक सदस्य-निर्वाचन क्षेत्र-प्रणाली के विरुद्ध मुख्य आपत्तियाँ ये की गयीं कि छोटे-छोटे निर्वाचन क्षेत्रों से प्रतिनिधियों का चुनाव होने से व्यवस्थापक-मण्डल का चरित्र गिर

1. ग्रेट ब्रिटेन और उत्तरी आयरलैण्ड में ५७६ क्षेत्र एक-एक सदस्य चुनते हैं, १८ क्षेत्र दो-दो और स्कॉटलैण्ड के समस्त विश्वविद्यालय मिल कर तीन सदस्य चुनते हैं।

जाना था क्योंकि सदन अपने निर्वाचन-क्षेत्र का आदेशपालक एजेण्टमात्र रह जाता है, जिसे अपने निर्वाचन-क्षेत्र के लिए सार्वजनिक निर्माण कार्य (Public Works) तथा रेल-पथ-निर्माण के लिए धनराशि, सरकारी पदों पर नियुक्तियाँ तथा प्रसिद्ध व्यक्तियों के लिए उपाधियाँ आदि प्राप्त करने के लिए आदेश दिया जाता था। इस प्रणाली की यह कह कर निन्दा की जाती थी कि यह पार्लामेण्ट-प्रणाली (Pralimentarism) के स्थान पर डिपुटी-प्रणाली (Deputantism) है। इसके अतिरिक्त छोटे-छोटे क्षेत्रों से चुनाव होने के कारण मतदाताओं को नियन्त्रण में रखने को सरकारी सत्ता में भी विस्तार हो गया था, जैसा द्वितीय साम्राज्य तथा मैकमेहॉन के राष्ट्रपतित्व के समय में स्पष्ट प्रमाणित हो गया था। निर्वाचन-क्षेत्रों की जनसंख्या में घोर असमानता होने के कारण उनके प्रतिनिधित्व में भी असमानता हो गयी।[1] इस कारण सन् १९१९ में एक कानून स्वीकार किया गया जिसके अनुसार जनरल टिकट-प्रणाली फिर से स्थापित की गयी, परन्तु नई प्रणाली सन् १८८५ की प्रणाली से *इस बात में भिन्न थी कि उसके साथ आनुपातिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली सम्मिलित* कर दी गयी और यह नियम रखा गया कि एक निर्वाचन-क्षेत्र से ६ से अधिक प्रतिनिधि एक ही मतपत्र पर नहीं चुने जा सकेंगे, अर्थात् एक डिपार्टमेण्ट एक निर्वाचन-क्षेत्र तभी होगा, यदि उसके सदस्य ६ से अधिक न हों। यदि यह परिवर्तन न होता तो सीन के डिपार्टमेण्ट के ५० सदस्य एक ही टिकट पर चुने जाते और प्रत्येक मतदाता को ५० मत देने का अधिकार होता। ऐसी प्रणाली स्पष्टतः अव्यवहार्य होती। फिर भी सन् १९१९ के कानून पर अमल सन्तोषजनक नहीं हुआ और सन् १९२७ में इस *प्रणाली के स्थान पर फिर से एक सदस्य-निर्वाचन-क्षेत्र-प्रणाली स्थापित की गयी।*

अन्य देशों की प्रथाएँ

इटली में भी फ्रान्स के समान कभी एक और कभी दूसरी प्रणाली काम में आती रही है। सन् १८९१ से सन् १९१९ तक एक-सदस्य-निर्वाचन-क्षेत्र कायम रहे परन्तु सन् १९१९ में इटली ने भी फ्रान्स का अनुकरण करके बहुसदस्य-प्रणाली को उसके साथ आनुपातिक प्रतिनिधित्व को जोड़कर स्वीकार कर लिया। मुसोलिनी के शासन काल में इसमें कुछ परिवर्तन किये गये। अन्य राज्यों में, जिनमें आनुपातिक प्रतिनिधित्व-प्रणाली की स्थापना हो गयी है, एक-सदस्य-निर्वाचन-क्षेत्रों के स्थान पर बहु-सदस्य-निर्वाचन क्षेत्र स्थापित करने पड़े हैं।

अमेरिकन संघ के राज्यों में एक-सदस्य-निर्वाचन-क्षेत्र-प्रणाली का ही नियम है; परन्तु कुछ राज्यों में ऐसी व्यवस्था नहीं है। इसी प्रकार म्यूनिसिपल कौंसिलों या नगर-सभाओं के सदस्यों का चुनाव, विशेषतः जहाँ एक-सदनवाली सभाएँ हैं, वार्डों द्वारा होता है। यद्यपि यहाँ भी कुछ अपवाद हैं, विशेषकर उन नगरों में, जहाँ शासन की कमिशन-प्रणाली (Commission Form of Government) स्थापित की गयी है। कुछ नगर-सभाओं में मिश्रित प्रणाली से चुनाव होते हैं। कुछ सदस्यों का चुनाव तो वार्डों में से होता है और कुछ सदस्यों का चुनाव सम्पूर्ण नगर के मतदाताओं द्वारा *एक मतपत्र के आधार पर होता है।*

एक-सदस्य-निर्वाचन-क्षेत्र-प्रणाली के लाभ

एक-सदस्य-निर्वाचन-क्षेत्र-प्रणाली का एक लाभ तो यह है कि यह सरल एवं

---

१. इस विषय पर Amer. Pol. Sci. Review, Vol. VII. (1913), p. 610 में मेरा Electoral Reform in France शीर्षक वाला लेख देखिये।

सुविधाजनक है। जहाँ जितने सदस्य किसी व्यवस्थापक-मण्डल में हैं, उतने ही निर्वाचन-क्षेत्र भी हों तो इससे मतदाता का कार्य सरल हो जाता है, उसे केवल एक सदस्य के लिए एक मत देना होता है। निर्वाचन क्षेत्र के छोटे होने से उम्मीदवार को मतदाता प्रायः भलीभाँति जानते हैं, जैसा जनरल टिकट-प्रणाली में नहीं हो सकता[1] और उम्मीदवार से यह आशा की जाती है कि वह अपने क्षेत्र की आवश्यकताओं से अच्छी तरह से परिचित होगा। इससे प्रतिनिधि तथा निर्वाचक के बीच गहरा सम्बन्ध स्थापित करने का साधन मिल जाता है। इससे मतदाता का निर्वाचन-सम्बन्धी दायित्व बढ़ता है और उम्मीदवार की अपने निर्वाचन-क्षेत्र में दिलचस्पी और उसके हित के प्रति दायित्व की भावना बढ़ती है। १३ अप्रैल सन् १८९४ को लोक-सभा में भाषण देते हुए बालफोर ने कहा था कि 'मैं सदैव इस विचार का समर्थक रहा हूँ कि इस सदन में प्रतिनिधित्व का सम्पूर्ण आधार स्थानिक आधार है और विविध क्षेत्रों को, जब वे अपने प्रतिनिधि चुन कर भेजते हैं, राजकीय दायित्वों का पूरा आदर करते हुए स्थानिक हितों का भी ध्यान रखते हुए अपने मत देना चाहिए।'[2] अनुभव से यह सिद्ध है कि बड़े निर्वाचन क्षेत्रों से एक सामान्य मतपत्र (General Ballot) के आधार पर चुने हुए प्रतिनिधि भी अपने आपको अपने निर्वाचन-क्षेत्र के विशेष भाग के प्रतिनिधि मानने से इन्कार नहीं कर सकते। वे परस्पर समझौता करके अपने बड़े निर्वाचन-क्षेत्र को कई छोटे क्षेत्रों में विभाजित कर सकते हैं और प्रत्येक प्रतिनिधि अपने भाग के विशेष हितों की रक्षा का दायित्व अपने ऊपर ले सकता है। वास्तव में, पुंकारे (Poincare) तथा दूसरे विद्वानों के विचार के अनुसार फ्रान्स में सन् १८८५ में सामान्य-मतपत्र-प्रणाली को स्वीकार करने के बाद यही बात हुई थी। पहले प्रत्येक निर्वाचन-क्षेत्र ने अपने प्रतिनिधि पर अपने विशेष हितों की रक्षा के लिए प्रयत्न करने का जोर दिया और पारस्परिक समझौते द्वारा इस प्रकार की व्यवस्था की गयी। फ्रान्स तथा अन्य योरोपीय देशों के विधानों में यह स्पष्ट उल्लेख है कि प्रतिनिधि समस्त राष्ट्र के प्रतिनिधि होंगे, किसी विशेष स्थान के नहीं किन्तु, जैसा मालबर्ग ने कहा है, इस वैधानिक उपबन्ध का, कम से कम जहाँ तक फ्रान्स से सम्बन्ध है, एक पवित्र घोषणा से अधिक कोई मूल्य नहीं है।

---

१. एक-सदस्य निर्वाचन-क्षेत्र के समर्थकों में Montesquieu (Espirt des Lois, English ed by Richard, Vol I, p. 166) Sidgwick (Elements of *Politics, p. 396), Bluntschli (Politik, p 444), Esmein* (Droit Const p. 205), Brougham (The British Constitution, Works, Vol XI, p 73) और Bradford (Lesson of Popular Government, Vol II, p 168) उल्लेखनीय हैं। ब्रेडफोर्ड ने कहा है कि जहाँ एक ही क्षेत्र से कई उम्मीदवार चुने जाते हैं, वहाँ मतदाता को दलीय पथ-प्रदर्शन की सहायता के बिना ही आपेक्षिक गुणों के आधार पर निर्णय करना पड़ता है। यह कार्य ऐसा है जिसके लिए वह सर्वथा अयोग्य है और यदि उसे अपना कोई मतलब नहीं है तो इस कार्य को वह अरुचिकर होने के कारण नहीं करेगा।' लास्की ने (op cit., p 318) इस प्रणाली का समर्थन किया है, परन्तु इस बात पर कि किसी भी क्षेत्र के लिए यह आवश्यक नहीं होना चाहिए कि वह उसी क्षेत्र के निवासी को चुने।

२. Parliamentary Debates, 4th Series, Vol. XIIV, p. 386.

एक-सदन-निर्वाचन-क्षेत्र का दूसरा लाभ यह है कि इस प्रणाली द्वारा राज्य, नगर या प्रान्त में अल्पमत को प्रतिनिधित्व प्राप्त हो सकता है। स्पष्टतः यदि समस्त प्रतिनिधियों का निर्वाचन एक सामान्य मतपत्र के द्वारा ही हो तो जिस दल का साधारण भी बहुमत होगा, वह सब प्रतिनिधि अपने ही चुन लेगा और अल्पमत के कोई भी प्रतिनिधि नहीं चुने जा सकेंगे। संयुक्त राज्य में, जब तक काँग्रेस के प्रतिनिधियों का चुनाव समस्त राज्य का एक क्षेत्र मान कर होता रहा, तब तक प्रत्येक राज्य में जो दल बहुमत में रहा, वह काँग्रेस के लिए उस राज्य के भेजे जाने वाले समस्त प्रतिनिधि अपने ही चुनता रहा। यदि इन राज्यों में एक-सदस्य-निर्वाचन-क्षेत्रों की व्यवस्था होती, तो राज्यों में कम से कम कुछ क्षेत्रों में, जो पूर्णरूपेण किसी एक दल के आधिपत्य में नहीं थे, अल्पमत भी अपने प्रतिनिधियों को चुन कर भेजने में सफल हुए होते। इस प्रणाली की अन्याय्यता के कारण ही सन् १८४२ में काँग्रेस ने एक-सदस्य निर्वाचन-क्षेत्र-प्रणाली कानून द्वारा स्थापित की। यही बात सन् १८८५ में फ्रान्स में स्थापित सामान्य मतपत्र-प्रणाली के कारण हुई कि डिपार्टमेण्ट में बहुमत-दल उस डिपार्टमेण्ट से भेजे जाने वाले सब प्रतिनिधियों का अपने ही दल से चुनाव करने में सफल हुआ (सीन के डिपार्टमेण्ट के ३८ प्रतिनिधि थे), परन्तु अल्पमत अपना एक भी सदस्य नहीं चुन सका। यदि सन् १९१९ में ऐसी व्यवस्था हो जाती और उसके साथ आनुपातिक प्रतिनिधित्व की व्यवस्था न होती, तो सीन प्रान्त में रेडिकल और रेडिकल सोशलिस्ट दल, जिनके २१६,००० मत थे, उस प्रान्त के ५० प्रतिनिधियों में से समस्त अपने चुन कर भेजने में सफल होते और अन्य दलों के १,६७,००० मतों का कोई मूल्य नहीं रह जाता।

एक-सदस्य-निर्वाचन-क्षेत्र के विरुद्ध आपत्तियाँ

एक-सदस्य-निर्वाचन-क्षेत्र-प्रणाली के विरुद्ध निम्नलिखित आपत्तियाँ की जाती हैं—प्रथम, इसमें चुनाव का क्षेत्र बहुत संकुचित हो जाता है और इससे प्रायः निम्न-कोटि के व्यक्तियों का निर्वाचन होता है। यह बात उन सभी बड़े-बड़े नगरों में देखी जाती है, जहाँ नगर-सभा के सदस्यों (Aldermen) का निर्वाचन वार्डों में से होता है। अनुभव से यह सिद्ध है कि जिन नगरों में इस प्रकार निर्वाचन की व्यवस्था प्रचलित है, वहाँ केवल निम्न कोटि के व्यक्ति ही चुने नहीं जाते वरन् प्रायः भ्रष्ट प्रतिनिधि भी चुने जाते हैं। द्वितीय, एक-सदस्य-निर्वाचन-क्षेत्र-प्रणाली द्वारा जो व्यक्ति चुने जाते हैं, वे अपने को समूचे देश का प्रतिनिधि न मान कर अपने क्षेत्र के स्थानिक हितों का प्रतिनिधि मानते हैं। यह सम्भावना है कि इस प्रकार निर्वाचित प्रतिनिधि देश के सार्वजनिक प्रश्नों को व्यापक राष्ट्रीय दृष्टि से न देख संकुचित स्थानिक हितों की दृष्टि से देखेंगे। फ्रान्स आदि देशों के अनुभव से यह कथन सत्य सिद्ध होता है।[1]

एक-सदस्य-निर्वाचन-क्षेत्र से इस विचार को प्रोत्साहन मिलता है कि प्रतिनिधि अपने को अपने निर्वाचन-क्षेत्र का ही आदेशपालक मानता है, देश का नहीं। संक्षेप में उस पर समस्त राज्य के प्रतिनिधित्व का नहीं, प्रत्युत एक विशेष क्षेत्र के प्रतिनिधित्व का भार होता है। जैसा ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, इससे शासन को निर्वाचनों पर नियन्त्रण रखने की सत्ता प्राप्त हो जाती है क्योंकि निर्वाचन-क्षेत्र जितना ही छोटा होता है, सरकारी उम्मीदवार को सफलतापूर्वक चुनने के लिए काफी मतदाताओं

---

१. Electoral Reform in France नामक शीर्षक वाला मेरा लेख देखिये, जिसका ऊपर उल्लेख हो चुका है।

पर प्रभाव डालना उतना ही अधिक सरल होता है। यह दोष योरोप के राज्यों में मुख्यतः रहा है और इसी कारण फ्रान्स में सन् १६१६ में इस प्रणाली को कुछ समय के लिए बदल दिया गया। इसके अतिरिक्त जिस प्रथा के अनुसार व्यवस्थापक (Legislator) एक विशेष स्थान का प्रतिनिधि माना जाता है, उसके कारण ऐसे व्यक्तियों का चुनाव हो जाता है जो अपनी शक्ति का स्थानिक छोटे-छोटे विवादों में अपव्यय करते रहते हैं और इस प्रकार राज्य अपने ऐसे सुयोग्य राजनीतिज्ञों की सेवाओं से वंचित रहता है जो ऐसे प्रभावों से मुक्त होने पर व्यवस्थापक-मण्डल में सेवा करने को प्रस्तुत होंगे।

तृतीय, इस प्रणाली से व्यवस्थापक-मण्डल के बहुमत-दल को निर्वाचन-क्षेत्रों का निर्माण इस प्रकार से करने का बड़ा भारी प्रलोभन होता है। जिससे उस दल को उसकी संख्या के अनुपात से भी अधिक स्थान मिल सकें। यह प्रथा गेरीमेण्डरिंग (Gerrymandering) कही जाती है।[1]

व्यवस्थापक-मण्डल के सदस्यों की योग्यता

समस्त राज्यों के विधानों में व्यवस्थापक-मण्डल के सदस्यों के लिए कुछ निर्धारित योग्यताएँ होती हैं और कुछ विधानों में तो कई अयोग्यताओं का स्पष्ट उल्लेख भी होता है। योग्यताएँ अधिकांश में नागरिकता, आयु तथा निवास के सम्बन्ध में ही होती हैं। अयोग्यताएँ मुख्यतः व्यवस्थापन कार्य तथा सार्वजनिक पद के कार्य को पारस्परिक असंगति से सम्बन्धित होती हैं। विदेशियों को राज्य के व्यवस्थापक-मण्डल की सदस्यता से वंचित करने का औचित्य सभी स्वीकार करते हैं क्योंकि उनको राज्य के प्रति स्थायी भक्ति नहीं होती और उन्हें उसके कल्याण तथा उसकी प्रगति में क्षणिक दिलचस्पी से अधिक नहीं होती। इस कारण उनसे यह आशा नहीं की जा सकती कि उनमें शासन में भाग लेने की आवश्यक योग्यताएँ होंगी। इसके अतिरिक्त राज्य के व्यवस्थापक-मण्डल में उनकी उपस्थिति से विदेशी शक्तियों को शासन पर अनिष्टकारी प्रभाव डालने का सुयोग मिल सकता है।[2]

प्रायः समस्त विधानों में सदस्यता के लिए एक आयु निर्धारित होती है क्योंकि अल्प-वयस्कों में व्यवस्थापन-कार्य का समुचित रीति से सम्पादन करने के लिए पर्याप्त अनुभव तथा ज्ञान के होने की सम्भावना नहीं होती। कुछ राज्य, जिनमें ब्रिटेन और ब्रिटिश डोमीनियन प्रमुख हैं, सदस्यता के लिए केवल प्रौढ़ता, अर्थात् २१ वर्ष की आयु की आवश्यकता मानते हैं।[3] परन्तु अनेक राज्यों में अधिक आयु रखी जाती है, निम्न सदन के लिए २५ वर्ष और अन्य सदन के लिए ३० वर्ष। कुछ राज्यों में

---

[1] इस प्रणाली के लिए देखिये, Commons, Proportional Representation, Ch. 3 तथा Reinsch, American Legislatures, pp. 200-209.

[2] तुलना कीजिये, Story, Commentaries, Vol. I, Sec. 618 तथा The Federalist No. 62.

[3] स्टोरी (Commentaries, Sec. 617) ने कहा है कि न्यायपूर्वक विचार करने से इस बात की पुष्टि नहीं होती कि केवल २१ वर्ष की आयु प्राप्त कर लेने से ही व्यवस्थापक-मण्डल का सदस्य बनने की योग्यता प्राप्त हो जाती है। इसके विपरीत ब्लुण्ट्श्ली ने बतलाया है कि इंगलैण्ड के अनेक राजनीतिज्ञ जैसे पिट, बर्क, फॉक्स, ग्रे, कैनिंग, लॉर्ड जॉन रसेल आदि २० वर्ष की अवस्था में ही पार्लमिण्ट में पहुँच गये थे। Allgemeines Staatsrecht, Bk. II., Ch. 5.

इससे भी अधिक आयु का नियम है। बेल्जियम, फ्रान्स, पोलैण्ड और इटली में निम्न सदन की सदस्यता के लिए २५ वर्ष और उच्च सदन की सदस्यता के लिए ४० वर्ष की आयु का नियम है। चेकोस्लोवाकिया में निम्न सदन की सदस्यता के लिए ३० वर्ष और उच्च सदन की सदस्यता के लिए ४५ वर्ष की आयु का नियम है। चिली में निम्न सदन के लिए २१ वर्ष तथा उच्च सदन के लिए ३५ वर्ष की आयु रखी गयी है। डेनमार्क के समान कुछ देशों में दोनों सदनों के लिए आयु में कोई भेद नहीं है।

निवास की योग्यता : योरोप की प्रथा

कई राज्यों में ऐसा नियम प्रचलित है कि जो सदस्य जिस निर्वाचन-क्षेत्र का प्रतिनिधित्व करता है, उसको उसमें निवास भी होना चाहिए। संयुक्त राज्य में विधान के अनुसार काँग्रेस के प्रतिनिधि के लिए यह आवश्यक है कि वह राज्य का निवासी हो, परन्तु न तो विधान और न किसी कानून द्वारा ऐसी व्यवस्था की गयी है कि वह अपने निर्वाचन-क्षेत्र का भी निवासी हो। इसके बावजूद भी अमेरिका में यह प्रथा व्यापकरूप में प्रचलित है कि वह अपने निर्वाचन-क्षेत्र का निवासी होगा और व्यवहार में इस प्रथा का उल्लंघन शायद ही कभी हुआ हो।[1] लोक-विचार तो यही है कि जो प्रतिनिधि अपने निर्वाचन-क्षेत्र का निवासी होता है, उसे अनिवासी प्रतिनिधि की अपेक्षा अपने क्षेत्र की आवश्यकताओं एवं समस्याओं का अच्छा ज्ञान होता है और उनमें रुचि भी अधिक होती है। इंगलैण्ड में पहले निर्वाचन-क्षेत्र में निवास का नियम प्रचलित था, परन्तु इस नियम की उपेक्षा की जाती रही और सन् १७७४ में वह कानून भी रद्द कर दिया गया। न्यायाधीश स्टोरी ने लिखा है कि 'यह देखा गया है कि नगरों एवं क्षेत्रों का ऐसे उच्च कोटि और देशभक्त व्यक्तियों ने, जो इन क्षेत्रों से अपरिचित थे, उन लोगों से अच्छा प्रतिनिधित्व किया है जो वहीं के निवासी थे।' इंगलैण्ड में निर्वाचन-क्षेत्र के बाहर रहने वाले सदस्य काफी संख्या में चुने जाते हैं और यह नियम-सा ही बन गया है। बहुत वर्षों से ऐसी कोई पार्लमेण्ट इंगलैण्ड में नहीं चुनी गयी, जिसमें एक बड़ी संख्या ऐसे सदस्यों की न हो, जो अपने निर्वाचन-क्षेत्रों के निवासी नहीं होते। इस आँग्ल परम्परा या प्रथा का प्रभाव केवल यही नहीं हुआ है कि पार्लमेण्ट में ऐसे सदस्य चुने जाते हैं जो तुच्छ स्थानिक हितों के अत्याचारों से अधिक मुक्त होते हैं और जो सार्वजनिक प्रश्नों पर व्यापक एवं विशद दृष्टि से विचार कर सकते हैं। इस प्रणाली के कारण देश को सुयोग्य विद्वानों एवं कुशल राजनीतिज्ञों का, जिन्हें अन्यथा पार्लमेण्ट में स्थान मिलना कठिन हो जायगा, सहयोग प्राप्त करने और बनाये रखने का साधन भी मिल जाता है। ऐसे अनेक अवसर आये हैं जब, यदि निवास नियम का सतर्कता के साथ पालन किया जाता तो अंग्रेजी सार्वजनिक जीवन में से अनेक सुप्रसिद्ध नेताओं ने व्यवस्थापन-कार्य से संन्यास ले लिया होता।[2]

---

१. बड़े नगरों में जहाँ क्षेत्र छोटे हैं, 'नगर के नीचे' के क्षेत्रों ने 'नगर के ऊपर' के क्षेत्रों के निवासियों को निर्वाचित किया है।

२. इस अंग्रेजी नियम के दो उदाहरण उल्लेखनीय हैं। सन् १६०५ में भूतपूर्व प्रधानमन्त्री बालफोर अपने मैनचेस्टर के निर्वाचन-क्षेत्र से, जहाँ उनका निवास-स्थान था, निर्वाचन में पराजित हो जाने के पश्चात् लन्दन के निर्वाचन-क्षेत्र से चुना गया। इसी प्रकार सन् १६०८ में, चर्चिल अपने निर्वाचन-क्षेत्र में, जहाँ उसका निवास था, पराजित होने के उपरान्त एक दूसरे निर्वाचन-क्षेत्र से चुना गया।

आंग्ल परम्परा के अनुसार, महान् राजनीतिज्ञों तथा नेताओं का सार्वजनिक जीवन में अपना स्थान बनाये रखना किसी निर्वाचन-क्षेत्र-विशेष की कृपा पर निर्भर नहीं है, जो व्यक्तिगत अथवा स्थानीय कारणों से, जिनका उसकी योग्यता से कोई सम्बन्ध नहीं होता, उसे अपना प्रतिनिधि बनाकर भेजने से इन्कार कर सकता है।

योरोप के अन्य देशों में न तो ऐसा कोई वैधानिक नियम है और न ऐसी प्रथा ही है कि प्रतिनिधि का निर्वाचन-क्षेत्र में निवास होना चाहिए। प्रनिवासी प्राय चुन लिये जाते हैं। फ्रान्स में अधिकांश प्रतिनिधि ऐसे क्षेत्रों से चुने जाते है, जिनमें उनका निवास नहीं होता। ऐसे भी उदाहरण हैं जब अनेक पैरिसवासी उन फ्रेन्च उपनिवेशों के प्रतिनिधि चुने गये हैं, जिन्हें उन्होंने अपनी उम्मीदवारी घोषित करने से पूर्व कभी देखा तक नहीं था।

अमेरिका में इसके परिणाम

अमेरिका में विपरीत प्रथा प्रचलित है। वहाँ प्रतिनिधि का अपने निर्वाचन-क्षेत्र में निवास होना आवश्यक है। इस कारण कभी-कभी देश अपने सुयोग्य राजनेताओं की सेवाओं से वंचित हो जाता है।[1] लार्ड ब्राइस ने निवास की योग्यता के सम्बन्ध में लिखा है—'इसमें दो प्रकार की हानियाँ हैं। प्रायः निम्न कोटि के सदस्य चुने जाते हैं क्योंकि देश के ऐसे अनेक भाग हैं जिनमें राजनीतिज्ञ जन्म नहीं लेते और जहाँ किसी व्यक्ति में, जो कांग्रेस में प्रवेश पाने का इच्छुक है, साधारण राजनीतिक योग्यता से अधिक नहीं होती है और सुयोग्य एवं उत्साही विद्वान् उसमें प्रवेश नहीं पा सकते। ऐसे व्यक्ति पुराने राज्यों के महान् नगरों में ही तैयार होते हैं। उन नगरों में उन सबके लिए काफी स्थान नहीं है, परन्तु उनके लिए कांग्रेस का कोई अन्य द्वार नहीं खुला है। बॉस्टन, न्यूयार्क, फिलाडेल्फिया और बाल्टीमोर से जितने प्रतिनिधि कांग्रेस में चुने जाते हैं, वे उनके ८ गुने अधिक चुन कर भेजने योग्य हैं। क्योंकि ये लोग अपने निवास-स्थान से नहीं चुने जा सकते, वे कांग्रेस में प्रवेश कभी नहीं कर पाते और इस प्रकार राष्ट्र उनकी सेवाओं से वंचित रह जाता है। इसके अतिरिक्त राजनीतिक जीवन बीच में ही टूट सकता है। निर्वाचन-क्षेत्र में लोकमत के किसी कारण विरोधी हो जाने अथवा उसके स्वतन्त्र विचारों के कारण स्थानीय कार्यकर्ताओं के रुष्ट हो जाने के कारण एक होनहार राजनीतिज्ञ की निर्वाचन में पराजय भी हो सकती है। चूँकि वह किसी अन्य क्षेत्र से चुना नहीं जा सकता, उसका राजनीतिक जीवन समाप्त हो जाता है और दूसरे, नवयुवक नेता, जो स्वतन्त्र विचार के होते हैं, उसके भाग्य से सबक लेते हैं।[2]

---

१. इस प्रकार सन् १८८० ई० में डेमोक्रेट दल अपने नेता विलियम आर० मॉरिसन की सेवा से और रिपब्लिकन दल अपने नेता विलियम मेक्किनले की सेवा से वंचित रह गया। तुलना कीजिये, Commons, Proportional Representation, pp. 41-42.

२. American Commonwealth, Vol. I, p. 195, Ford (Representative Government, pp. 165 ff. Laski (op. cit., p. 318) ने कहा है कि अमेरिकन प्रथा इस गलत मान्यता पर आधारित है कि राज्य में जितने योग्य पुरुष हैं, वे सभी निर्वाचन-क्षेत्रों में बराबर बँटे हुए हैं।

साम्पत्तिक योग्यता

पूर्व समय में व्यवस्थापक-मण्डलों की सदस्यता के लिए साम्पत्तिक योग्यता का सार्वभौम नियम था और कुछ देशों में आज भी ऐसा नियम प्रचलित है। उदाहरणार्थ, ग्रेट ब्रिटेन में सन् १८५८ तक काउण्टी के सदस्यों की आय ६०० पौंड तथा नगरों के सदस्यों की आय ३०० पौंड होना आवश्यक था। सन् १८१४ के फ्रेन्च चार्टर के अनुसार समस्त प्रतिनिधियों के लिए १,००० फ्राक प्रत्यक्ष कर देना अनिवार्य था और यह नियम सन् १८४८ तक रहा। पूर्व समय में संयुक्त राज्य के अनेक राज्यों में व्यवस्थापक-मण्डल की सदस्यता बड़े-बड़े जमींदारों, कर-दाताओं तथा एक निर्धारित मूल्य की सम्पत्ति के अधिकारियों तक ही मर्यादित थी। परन्तु प्रजातन्त्रात्मक आन्दोलन की प्रगति के साथ साथ प्राय. सर्वत्र यह साम्पत्तिक नियम रद्द हो चुका है। हाँ, कहीं-कहीं उच्च सदनों के लिए कभी ऐसे साम्पत्तिक नियम विद्यमान है। कनाडा में सीनेट की सदस्यता के लिए ४,००० डॉलर के मूल्य की सम्पत्ति का स्वामी होना आवश्यक है। दक्षिणी अफ्रीकन यूनियन के निर्वाचित सीनेटर को ५०० पौंड के मूल्य की अचल सम्पत्ति का स्वामी होना चाहिए। बेल्जियम में सीनेट की सदस्यता के लिए २,४०० डॉलर के मूल्य की सम्पत्ति के स्वाम्य अथवा २४ डॉलर टैक्स देने का नियम था; परन्तु सन् १९२१ में यह नियम रद्द कर दिया गया। स्वीडन में ८०,००० रिक्स डॉलर (Rix-dollar) मूल्य की अचल सम्पत्ति का स्वाम्य अथवा ४,००० रिक्स-डालर की आय आवश्यक है। नीदरलैंण्ड में वे ही, जो सबसे अधिक मात्रा में कर देते हैं, सदस्यता के योग्य समझे जाते हैं। स्पेन में सन् १९३१ से पूर्व वे रईस लोग सीनेट के सदस्य हो सकते थे, जिनको अपनी अचल सम्पत्ति से ६०,००० पेसेटा (Pesetas) की आमदनी होती थी। आजकल कोई ऐसे निम्न सदन नहीं मालूम होते जिनकी सदस्यता के लिए साम्पत्तिक योग्यता का नियम हो।

साम्पत्तिक योग्यता के पक्ष में सबसे प्रबल तर्क यह दिया जाता है कि सम्पत्ति का स्वाम्य इस बात का प्रमाण है कि उस व्यक्ति में कुछ ऐसे गुण हैं जिनमें व्यवस्थापन की योग्यता प्रकट होती है, जैसे मितव्ययिता, बुद्धि एवं व्यावसायिक योग्यता। इसके अतिरिक्त सम्पत्तिशाली व्यक्ति के लिए यह सम्भव है कि वह उस व्यक्ति की अपेक्षा, जिसको अपनी शक्ति का अधिक भाग अपनी जीविकोपार्जन में लगाना पड़ता है, अध्ययन एवं लोक-सेवा में अधिक समय तथा शक्ति लगा सके। वास्तव में जिन देशों में व्यवस्थापक-मण्डल के सदस्यों को इतना वेतन नहीं मिलता, जिसमें उनका खर्च निकल आवे, उनके लिए यह आवश्यक हो जाता है कि उनकी निजी आय के निश्चित साधन हों, इस प्रकार सम्पत्ति का स्वाम्य एक प्रकार से आवश्यक हो ही जाता है।

अयोग्यताएं

प्रतिनिधित्व का यह सिद्धान्त अब सुप्रतिष्ठित हो चुका है कि व्यवस्थापन आदेश (*Legislative Mandate*) तथा प्रशासन-सम्बन्धी पद (*Administrative office*) परस्पर असंगत है और एक ही के हाथों में दोनों को नहीं सौंपना चाहिए। तदनुसार अनेक देशों के विधानों में ऐसे नियम होते हैं जिनके अनुसार शासन के कुछ पदों पर काम करने वाले कर्मचारी व्यवस्थापक-मण्डल के सदस्य बनने के अयोग्य ठहरा दिये जाते हैं। संयुक्त राज्य में यह अयोग्यता निरपेक्ष है और केवल थोड़े से छोटे पदों के सम्बन्ध में ही अपवाद हैं जिनके कार्यों में व्यवस्थापन-कार्य से कोई असं-

गति नही होती। चिली मे भी ऐसा ही नियम है। वहाँ डिपुटी या सीनेटर का कार्य राज्य अथवा नगरपालिका के सवेतन पद से तथा राजधानी की शिक्षा-सेवा को छोड़ अन्य इस प्रकार की प्रत्येक सेवा से असंगत माना जाता है।[1]

जिन राज्यो मे मन्त्रि-परिषद्-प्रणाली प्रचलित है, उनमे सत्ताग्रो के पृथक्करण के सिद्धान्त का उस सीमा तक पालन नही होता जितना संयुक्त राज्य मे होता है और शासन के विभागो के अध्यक्ष सामान्यतया केवल व्यवस्थापक-मण्डल के सदस्य ही नही होते, वे उसके नेता भी होते हैं। ग्रेट ब्रिटेन मे सन् १६१६ तक यह नियम प्रचलित था कि पार्लामेण्ट का जो सदस्य मन्त्रि-परिषद् का सदस्य बना लिया जाता था, उसे पार्लामेण्ट से त्यागपत्र देना पड़ता था और पुनः निर्वाचित करवाना पड़ता था जिससे उसके निर्वाचन-क्षेत्र को उसके मन्त्रित्व पद-ग्रहण के सम्बन्ध मे अपनी स्वीकृति या अस्वीकृति प्रकट करने का अवसर मिल सके। कुछ योरोपीय राज्यो मे यह नियम अब भी प्रचलित है।

पूर्व काल मे योरोप तथा अमेरिका, दोनों मे धार्मिक योग्यताएँ सामान्यतया रखी जाती थी परन्तु धार्मिक स्वतन्त्रता के विकास तथा राज्य और धर्म के पृथक्करण के साथ अब इस प्रकार की योग्यताएँ नही रहीं। कुछ राज्यों मे चर्च से सम्बन्ध रखने वाले कुछ व्यक्ति व्यवस्थापक-मण्डल मे बैठने के अधिकार से वंचित हैं। ब्रिटेन मे रोमन केथोलिक तथा इंगलैण्ड के स्थापित चर्च के पादरियों को लोक-सभा की सदस्यता का अधिकार नही है। योरोप के कुछ देशो मे भी इसी प्रकार की अयोग्यताएँ हैं। स्विट्जरलैण्ड मे रोमन केथोलिक पादरी व्यावहारिक रूप मे सदस्यता के अधिकारी नही हैं। कुछ थोड़े से अमेरिकन राज्यो मे पादरी सार्वजनिक पदों के अयोग्य ठहराये गये है जिनमे व्यवस्थापक-मण्डल की सदस्यता भी शामिल है।

सदस्यता की अवधि

आधुनिक प्रतिनिधि-शासन का सिद्धान्त यह है कि प्रतिनिधि का कार्य-काल

---

१. सन् १६२० के प्रशा के विधान मे सरकारी पदों पर कार्य करने तथा व्यवस्थापन कार्य मे कोई असंगति नहीं मानी गयी है। विधान द्वारा यह विघोषित किया गया है कि समस्त सरकारी अफसरों, सार्वजनिक कर्मचारियों और कार्यकर्त्ताओं को व्यवस्थापक-मण्डल मे भाग लेने के लिए छुट्टी माँगना आवश्यक नहीं है, उन्हे निर्वाचन के सम्बन्ध मे व्यवस्था एवं प्रचार के लिए छुट्टी भी दी जायगी और इस काल मे उन्हे वेतन आदि मिलेगा। जर्मन संघ-राज्य के विधान मे भी ऐसे ही नियम हैं। चेकोस्लोवाकिया के विधान के अनुसार भी सरकारी कर्मचारियों को व्यवस्थापक-मण्डल की सदस्य की अवधि मे छुट्टी और वेतन मिलता है। जब वे व्यवस्थापक-परिषद् की बैठकों मे भाग लेते है, तो उन्हे छुट्टियाँ मिल जाती हैं और उन्हे अपना वेतन भी मिलता है। युगोस्लाविया के विधान मे यह नियम है कि जैसे ही सरकारी कर्मचारी व्यवस्थापक-मण्डल के सदस्य चुन जाते हैं, उन्हे अपने पदों से त्यागपत्र देना पड़ता है, यद्यपि मन्त्री तथा विश्वविद्यालय के शिक्षक, व्यवस्थापक-मण्डलों के सदस्य होते हुए भी अपने पदों पर बने रह सकते हैं। पोलैण्ड मे अनुपस्थिति की छुट्टी माँगनी पड़ती है, किन्तु यह नियम मन्त्रियों एवं प्रोफेसरों पर लागू नही होता। परन्तु इनको छोड़ कर यदि कोई डिपुटी किसी सवेतन पद पर नियुक्त हो जाता है तो उसे व्यवस्थापक मण्डल की सदस्यता छोड़नी पड़ती है।

परिमित होना चाहिए। यदि वह जीवन भर के लिए या दीर्घ काल के लिए निर्वाचित हो तो अपने निर्वाचकों के प्रति प्रतिनिधि के उत्तरदायित्व का निर्वाह नहीं हो सकेगा। ऐसी स्थिति में प्रतिनिधि-शासन केवल नाममात्र का ही होगा क्योंकि प्रतिनिधि-प्रणाली में स्थायी आदेश सर्वथा असंगत है। यदि निर्वाचकों की इच्छा को अभिव्यक्त करके उसे प्रतिनिधि को बतलाना है और उसके अनुसार व्यवस्थापन होना है तो प्रतिनिधियों के समय-समय पर निर्वाचन की व्यवस्था होनी चाहिए। प्रातिनिधिक प्रणाली के लिए समय-समय पर चुनावों की आवश्यकता के विषय में कोई मतभेद नहीं है; परन्तु उत्तरदायित्व के उचित निर्वाह के निमित्त कार्य-काल कितना हो, इस सम्बन्ध में कोई सर्वसम्मत नियम नहीं है और वस्तुतः विभिन्न राज्यों में इस सम्बन्ध में व्यवहार में बड़ा भेद है। अमेरिका के दो राज्यों में निम्न सदन के कार्य-काल का समय एक वर्ष है जबकि ब्रिटेन में पाँच वर्ष है (पहले सात था)। परन्तु ब्रिटेन में पार्लमिण्ट के के भंग हो सकने के नियम के कारण अवधि की समाप्ति के पहले भी निर्वाचन होते रहते हैं और आधुनिक पार्लमिण्टों की औसत अवधि चार वर्ष से कुछ कम की ही रही है। अधिकांश योरोपियन राज्यों में चार वर्ष का समय है, किन्तु पोलैण्ड में पाँच वर्ष और चेकोस्लोवाकिया में ६ वर्ष की अवधि है। ब्रिटिश डोमीनियनों में यह समय ३ वर्ष का है, परन्तु कनाडा में ५ वर्ष है और क्यूबेक तथा ओण्टेरियो के प्रान्तों और दक्षिणी अफ्रीकन संघ में भी यही नियम है।

अमेरिका के कुछ भागों में संघ-विधान के निर्माण के समय यह विचार प्रचलित था कि 'जहाँ वार्षिक निर्वाचन समाप्त हुआ, वहाँ अत्याचार आरम्भ हुआ' और विधान में राष्ट्रीय प्रतिनिधियों के कार्य-काल का समय दो वर्ष रखे जाने के विरोध में बहुत कुछ यही विचार काम कर रहा था।[१] किन्तु यह विचार सार्वदेशिक नहीं था और आज केवल दो राज्यों के विधानों में ही प्रतिनिधियों के प्रति वर्ष चुनाव का नियम है,[२] किसी भी योरोपीय राज्य में वार्षिक निर्वाचन का नियम जारी नहीं किया गया; उनमें कार्य-काल साधारणतया ४ या ५ वर्ष का है।

यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या वार्षिक निर्वाचनों में जो असुविधाएँ एवं कठिनाइयाँ होती हैं, वे लाभों की अपेक्षा कहीं अधिक नहीं हैं। न्यायाधीश स्टोरी ने कहा है कि निर्वाचन जल्दी-जल्दी होने में लोक-मानस में उत्तेजना एवं मतभेद जन्म लेते हैं; अनेक दल खड़े हो जाते हैं और अशान्ति की वृद्धि होती है, सार्वजनिक नीति तथा देशीय व्यवस्थापन में अविवेकपूर्ण नई-नई बातें होने लगती हैं और क्षणिक आवेश के आधार पर प्रशासनीय तथा सार्वजनिक क्षेत्रों में सहसा प्रचण्ड परिवर्तन करने की प्रवृत्ति बढ़ती है।[३] वार्षिक चुनावों के कारण उम्मीदवारों तथा जनता के धन का अपव्यय होता है और इससे व्यवस्थापक-मण्डल के सदस्य इतनी शीघ्रता से बदलते रहते हैं कि उसमें सदैव अधिकतर एक बड़ी संख्या में नवीन तथा अनुभवहीन सदस्यों की ही भरमार रहती है।[४] प्रतिनिधि सिद्धान्त की रक्षा के लिए आवश्यक चुनावों की अवधि के सम्बन्ध में यही उचित है कि न तो कार्य-काल इतना दीर्घ हो कि प्रतिनिधि पर लोक-नियन्त्रण न रहे और न इतना अल्प कि उसका प्रयोजन ही

१. The Federalist, No. 53.
२. न्यूयार्क तथा न्यू जरसी (केवल निम्न सदन के सदस्यों के लिए)
३. Commentaries, Vol I, Sec. 593.
४. इस विषय पर देखिए, Jones, Statute Law Making, pp. 12-13.

नष्ट हो जाय। यह लोक-विश्वास प्रचलित है कि जहाँ अन्य किसी परिस्थिति का प्रभाव नहीं है, वहाँ सत्ता जितनी अधिक होती है, उसकी अवधि उतनी ही अल्प होनी चाहिए। फिशर एम्ज का मत है कि कार्य-काल इतना लम्बा होना चाहिए, जिसमें वह (प्रतिनिधि) जनता के हितों को समझ सके, परन्तु वह इतना परिमित भी होना चाहिए कि जनता की स्वीकृति पर निर्भर रहने के कारण उसकी विश्वसनीयता बनी रहे। जॉन स्टुअर्ट मिल ने इस विषय में सामान्य सिद्धान्त इस प्रकार स्थिर किया है—"एक ओर व्यवस्थापक-मण्डल में सदस्य को इतने अधिक समय तक नहीं रहना चाहिए कि वह अपने दायित्वों को भूल जाय, अपने कर्तव्यों का ध्यान न रखे, अपने स्वार्थों से प्रेरित होकर उनका पालन करने लगे और अपने निर्वाचकों के साथ पूर्ण एवं सार्वजनिक रूप से परामर्श एवं विचार विनिमय करने की ओर ध्यान न दे जो (चाहे वह उनके साथ सहमत हो या असहमत) प्रतिनिधि-शासन का एक सबसे बड़ा लाभ है। दूसरी ओर, उसकी अवधि इतनी होनी चाहिए कि उसकी योग्यता की परीक्षा उसके एक कार्य से नहीं वरन् कार्यों की प्रगति से की जा सके।"[1]

इसमें सन्देह है कि पाँच या छह वर्ष के कार्य-काल से, जो पोलैण्ड तथा चेकोस्लोवाकिया में प्रचलित है और इससे भी अधिक ८, १० या १२ वर्ष की अवधि से जो चिली फ्रान्स तथा आयरलैण्ड के सीनेटरों की है, जनता प्रतिनिधियों पर प्रभावकारी नियन्त्रण रख सकती है, विशेषकर उन देशों में जहाँ सीनेट भंग नहीं होता, यद्यपि लम्बी अवधि के कारण सदस्य की शक्ति के बार-बार चुनाव में होने वाले अपव्यय की बचत होती है तथा उसके दीर्घकालीन अनुभव से लाभ होता है। प्रजातन्त्रात्मक तर्क का यह तकाजा है कि जहाँ व्यवस्थापक-मण्डलों का कार्य काल दीर्घ है, वहाँ सदस्यों को वापस बुलाने (Recall) की कोई परिपाटी होनी चाहिए जिससे वे निर्वाचकों के प्रति उत्तरदायी बने रहें।[2]

सदस्यों की वृत्ति : अमेरिकन प्रथा

व्यवस्थापक मण्डल के सदस्यों को राज्यकोष से वेतन दिया जाना चाहिए अथवा नहीं, इस विषय को लेकर काफी विवाद रहा है और अभी कुछ समय पूर्व तक इस सम्बन्ध में विभिन्न राज्यों में विभिन्न नियम थे। संयुक्त राज्य में राज्य व तथा राष्ट्रीय व्यवस्थापक-मण्डलों के सदस्य और अनेक नगरों में नगर-सभाओं के सदस्य आरम्भ से किसी न किसी रूप में नियत वेतन या दैनिक वृत्ति प्राप्त करते रहे हैं और इसके अतिरिक्त उन्हें अपने निवास-स्थान से व्यवस्थापक-मण्डल के भवन तक के आने-जाने का मार्ग-व्यय भी मिलता है। अमेरिकन संघीय विधान तथा उसके अनेक राज्यों के विधानों ने अपनी व्यवस्थापक-मण्डलों को वेतन या वृत्ति निर्धारित करने की स्वतन्त्रता दे रखी है, परन्तु पिछले वर्षों से राज्यों में व्यवस्थापक-मण्डल जो धन-राशि स्वयं स्वीकार कर सकते हैं, विशेषकर दैनिक वृत्ति के रूप में, उसकी वैधानिक उपबन्ध द्वारा सीमा निर्धारित करने की प्रवृत्ति देखी जा रही है। यह भी सामान्य रूप से सभी मानते हैं कि व्यवस्थापक-मण्डल सदस्यों के वेतन या वृत्ति में जो वृद्धि स्वीकार करता है, वह उसके सदस्यों पर लागू नहीं हो सकती।

योरोप की प्रथा

दीर्घ समय तक योरोप में इसके विपरीत प्रथा प्रचलित थी क्योंकि उस समय

---

१. John Stuart Mill : Representative Government, Ch. II.

२. तुलना कीजिये, Laski, op. cit, p 320.

यह विचार प्रचलित था कि व्यवस्थापक-मण्डलों के सदस्यों की सेवा अवैतनिक होनी चाहिए। परन्तु समाजवादी तथा श्रमजीवी दलों के उदय के साथ और व्यवस्थापिकाओं में श्रमजीवी दलों के सदस्यों के निर्वाचन के कारण जो दैनिक वेतन एवं मजदूरी से ही अपना जीविकोपार्जन करते थे, जो आय के साधन सदस्य चुने जाने के कारण पूर्णतः या अंशतः प्राप्य न रहे यह माँग की जाने लगी कि इन सदस्यों को अपनी सेवाओं के लिए राज्य से वेतनादि मिलना चाहिए।[1] जब जर्मनी में समाजवादी प्रजातन्त्रीय दल को धारासभा में स्थान मिलने लगे तब राज्य-कोष से सदस्यों को वेतन देने का कोई नियम न होने के कारण दल ने सदस्यों के खर्चे के लिए आपस में चन्दा करके धन-संग्रह किया। परन्तु बिस्मार्क ने इस पद्धति को विधान के विरुद्ध मान कर समाजवादी प्रजातन्त्रीय दल के विरुद्ध एक मुकद्दमा चलवाया और न्यायालय ने इस प्रथा को अनुचित ठहरा कर इस प्रकार का चन्दा लेना बन्द कर दिया। सन् १९०६ में जाकर जर्मन पार्लमिण्ट ने इस प्रथा को छोड़ कर यह व्यवस्था की कि उसके प्रत्येक सदस्य को ३,००० मार्क (७५० डॉलर) प्रति वर्ष राज्य-कोष से वृत्ति के रूप में मिलेंगे। सन् १९१९ के जर्मन विधान में यह नियम (धारा ४०) था कि सदस्यों को राष्ट्रीय कानून द्वारा स्वीकृत वेतन पाने *तथा जर्मनी की समस्त रेलों में निःशुल्क यात्रा करने का अधिकार होगा। प्रशा के* विधान में भी ऐसी ही व्यवस्था (धारा २८) है। चेकोस्लोवाकिया के विधान (धारा २७) में भी दोनों सदनों के सदस्यों को कानून द्वारा स्वीकृत वेतन पाने का अधिकार दिया गया है। बेल्जियम के विधान (धारा ५२) के सन् १९२१ के संशोधन के अनुसार निम्न सदन के सदस्य को १२,००० फ्राँक प्रति वर्ष वृत्ति के रूप में निर्धारित किया गया है, और इसके साथ ही रेल द्वारा मुफ्त यात्रा का अधिकार भी दिया गया है परन्तु विधान में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि सीनेट के सदस्यों को केवल खर्च की पूर्ति के लिए प्रति वर्ष ४००० फ्राँक के अतिरिक्त कोई वेतन नहीं मिलेगा। कुछ नये योरोपियन विधान इस विषय में मौन हैं और वहाँ इस प्रश्न का निर्णय व्यवस्थापक-मण्डल पर छोड़ दिया गया है। फ्रान्स में यही स्थिति है और डिपुटी तथा सीनेटर दोनों २५००० फ्राँक प्रति वर्ष खर्च की पूर्ति के रूप में पाते हैं। इटली में सन् १९१२ में सबसे प्रथम बार सदस्यों को राज्यकोष से वेतन देना स्वीकार किया गया। ग्रेट-ब्रिटेन में लॉर्ड-सभा के सदस्यों को उनकी सेवाओं के लिये कभी पुरस्कार नहीं दिया गया और सन् १९११ तक लोक-सभा (हाउस ऑफ कामन्स) के सदस्यों को भी वेतन नहीं मिलता था। परन्तु उसी वर्ष ब्रिटिश मजदूर दल ने वेतन के लिए माँग की। वे भी उसी समय तक चन्दा करके अपने सदस्यों का खर्च चलाते थे। अन्त पार्लमिण्ट ने मन्त्रियों, राजपरिवार के कर्मचारियों तथा अन्य वैतनिक अधिकारियों को छोड़ कर सब सदस्यों के लिये ४०० पौंड सालाना वेतन नियत कर दिया। ब्रिटिश डॉमीनियनों *में राष्ट्रीय तथा स्थानीय व्यवस्थापक-मण्डलों के निम्न सदनों के सदस्य वेतन पाते हैं* और इसी प्रकार कुछ डॉमीनियनों को छोड़ सर्वत्र उच्च सदन के सदस्य भी वेतन पाते हैं। अधिकांश में सदस्यों को राज्य की रेलों पर मुफ्त यात्रा करने का भी अधिकार

---

१. तुलना कीजिये, Horwill, The Payment of Labour Representatives in Parliament, *Pol. Sci. Quar* June 1910.

है और जहाँ राज्य की रेलें नहीं हैं, वहाँ उन्हें प्रति मील के हिसाब से मार्ग-व्यय भी मिलता है।[1]

सदस्यों को वेतन देने की प्रथा के गुण-दोष

वर्तमान काल में जो वैधानिक या साधारण कानून बने हैं, उनका परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक देश में (कुछ उच्च सदनों को छोड़) व्यवस्थापक-मण्डलों के सदस्यों को राज्य-कोष से वेतन मिलने लगा है और अब यह प्रश्न सैद्धान्तिक विवाद के क्षेत्र से हट गया है। आज की परिस्थितियों में जबकि बहुत से देशों के व्यवस्थापक-मण्डलों में मजदूर तथा समाजवादी दल के सदस्य होते हैं, जिनके पास जीविकोपार्जन के लिए इतने पर्याप्त साधन नहीं होते कि वे मुफ्त सेवा कर सकें और जब चुनाव की प्रक्रिया के प्रजातन्त्रीकरण के कारण चुनावों में उम्मीदवारों को बड़ा व्यय करना पड़ता है, तो यदि अपर्याप्त साधन वाले व्यक्तियों से व्यवस्थापक-मण्डलों में सेवा लेना है, सदस्यों को वेतन देना आवश्यक हो गया है। दूसरी ओर, मिल ने लिखा है कि जहाँ सदस्यों को वेतन अथवा वृत्ति देने की व्यवस्था है, वहाँ राजनीति को एक लाभप्रद व्यवसाय मान लेने की, राजनीति में भाग लेने वालों में व्यवस्थापक-मण्डलों की सदस्यता को ही अभीष्ट वस्तु बना लेने और उनमें अयोग्य व्यक्तियों को आकर्षित करने की स्पष्ट प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है, न कि उन सुयोग्य व्यक्तियों तथा कुशल एवं अनुभवी राजनीतिज्ञों को जो व्यवस्थापक-मण्डल में सेवा करना अपना सार्वजनिक कर्त्तव्य समझते हैं जिसका कुशलतापूर्वक सम्पादन ही वे अपने लिए काफी पुरस्कार मानते हैं। जहाँ तक अमेरिका की नगर-सभाओं के सदस्यों को वेतन देने का प्रश्न है, मिल ने जो आपत्तियाँ प्रकट की हैं, उनसे कोई भी इन्कार नहीं कर सकता।[2] संयुक्त राज्य अमेरिका से बाहर वेतन की दर अपेक्षाकृत कम है। कुछ देशों में तो वह इतनी कम है कि अधिवेशन-काल में उससे सदस्यों का निर्वाह तक नहीं हो सकता। योरोप के कुछ देशों में, जहाँ व्यवस्थापक-मण्डलों के सदस्यों की संख्या बहुत बड़ी है (ब्रिटेन में लोक-सभा के सदस्यों की संख्या ६१५ तथा फ्रान्स में दोनों सदनों के सदस्यों की संख्या ६७६ है), यदि सदस्यों को उनकी सेवाओं के लिए समय और परिश्रम की दृष्टि से उचित

---

१. विस्तार की बातों के लिए देखिये, Keith, Responsible Government in the Dominions, Vol. I, pp. 503-504.

भारतवर्ष में भी केन्द्रीय व्यवस्थापक-मण्डल (Central Legislature) तथा प्रान्तीय व्यवस्थापक-मण्डलों (Provincial Legislatures) के सदस्यों को प्रारम्भ से ही वेतन तथा मार्ग-व्यय मिलता रहा है। सन् १६३५ के विधान में पूर्व संयुक्त प्रान्त में व्यवस्थापक-मण्डल के सदस्य को २० रु० प्रतिदिन तथा प्रथम श्रेणी का आने-जाने का रेल-व्यय मिलता था। यह वृत्ति उसके अधिवेशन के समय ही मिलती थी। केन्द्रीय व्यवस्थापक-मण्डल के सदस्य को ३० रु० प्रतिदिन तथा राज्य-परिषद् के सदस्य को ४० रु० प्रतिदिन वृत्ति अधिवेशन-काल में मिलती थी। सन् १६३७ में जब कांग्रेस ने प्रान्तों में मन्त्रि-मण्डल निर्माण किए, तब सदस्यों के लिए ७५ रु० मासिक वेतन तथा मध्यम श्रेणी का रेल-मार्ग व्यय निर्धारित किया गया। दिसम्बर सन् १६४६ में भारत की विधान-परिषद् ने सदस्यों का वेतन ४५ रु० प्रतिदिन नियत किया। इसके अतिरिक्त सदस्यों का प्रथम श्रेणी का रेल-मार्ग-व्यय भी मिलता है। —अनुवादक।

२ तुलना कीजिये, Ford, Representative Government, p. 107.

पुरस्कार दिया जाय तो इससे उनके लिए इतना धन व्यय करना पड़ेगा, जिसे लोकमत कभी सहन नहीं करेगा। योरोप की तुलना में अमेरिका में सदस्यों को जो वेतन मिलता है, वह अधिक है; परन्तु निर्वाचनों में उनका जो भारी व्यय होता है, उसको ध्यान में रखते हुए, वह इतना नहीं जिससे उनका खर्च पूरा हो सके।

(५) अल्पमत-दलों का प्रतिनिधित्व

पूर्वकालीन समर्थक

व्यवस्थापक-मण्डल में अल्पमत-दलों, विशेषत. महत्त्वपूर्ण अल्पमत-दलों को विधान द्वारा आनुपातिक या अन्य प्रकार के प्रतिनिधित्व की गारण्टी देनी चाहिए, इस मत का समर्थन उस युग से ही होता आ रहा है जबकि व्यवहार में अल्पमत के प्रतिनिधित्व का सिद्धान्त प्रचलित नहीं था। जॉन स्टुअर्ट मिल ने अपनी पुस्तक 'प्रतिनिधि-शासन' (Representative Government) में, जो सन् १८६१ में प्रकाशित हुई थी, लिखा था कि 'यह लोकतन्त्र का सारभूत तत्व है कि अल्पमतों (Minorities) का पर्याप्त प्रतिनिधित्व हो।' 'इसके अभाव में सच्चा लोकमत सम्भव नहीं, वरन वह लोकतन्त्र का मिथ्या प्रदर्शन मात्र ही होगा।' उसने कहा कि कोई भी बात इससे अधिक निश्चित नहीं कि वास्तव में अल्पमतों का विनाश स्वाधीनता का न स्वाभाविक परिणाम है और न आवश्यक परिणाम ही; वरन् ऐसा करना तो लोकतन्त्र के प्राथमिक सिद्धान्त, अर्थात् संख्या के अनुपात में प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त के विरुद्ध है।[१] मिल ने इस बात पर खेद प्रकट किया कि वर्तमान लोकतन्त्र 'समस्त जनता के समानता के आधार पर चुने हुए प्रतिनिधियों द्वारा जनता द्वारा शासन नहीं है, वरन् समस्त जनता का असमान रूप से प्रतिनिधित्व करने वाली जनता के केवल बहुमत द्वारा शासन है।' मिल ने यह स्वीकार किया कि 'प्रतिनिधि-प्रणाली में बहुमत (Majority) को शासन करना चाहिए और अल्पमत को उसकी इच्छा के सामने झुकना चाहिए, परन्तु इसका यह आशय कदापि नहीं है कि अल्पमत का प्रतिनिधित्व हो न हो।' 'किसी भी सच्चे समान प्रजातन्त्र में प्रत्येक समुदाय का आनुपातिक प्रतिनिधित्व होना चाहिए। निर्वाचकों के बहुमत को सदा अधिक प्रतिनिधि मिलेंगे, परन्तु निर्वाचकों के अल्पमत के प्रतिनिधि भी सदा अल्पमत में होंगे। अल्पमतों का भी उतना ही पूर्ण प्रतिनिधित्व होगा जितना बहुमत का और जब तक ऐसा नहीं होगा, वह समान शासन नहीं वरन् असमान तथा विशेषाधिकारभोगी समुदाय का शासन होगा, जो बात न्यायपूर्ण

---

१ तुलना कीजिये, Lecky, Democracy and Liberty, Vol. I. p. 220; Lieber, Civil Liberty and Self-Government, p. 175. लॉर्ड एक्टन ने कहा है कि प्रजातन्त्र के सबसे बड़े दोषों में से एक (बहुमत का अत्याचार) का उपाय है आनुपातिक प्रतिनिधित्व। उसके मत में आनुपातिक प्रतिनिधित्व पूर्णतया प्रजातान्त्रिक है क्योंकि उससे उन सहस्रों व्यक्तियों का प्रभाव बढ़ता है जिनका अन्यथा शासन में कोई हाथ ही नहीं होगा। इसमें कोई मत नष्ट नहीं होता और प्रत्येक मतदाता अपनी राय के किसी सदस्य को व्यवस्थापक-मण्डल में पहुँचा सकता है। इस प्रकार यह प्रणाली मनुष्यों में समानता अधिक स्थापित करती है।' J. F. Williams, The Reform of Political Representation, p. II में उद्धृत।

शासन के सिद्धान्त के विरुद्ध है और इससे भी अधिक लोकतन्त्र के सिद्धान्त के प्रतिकूल है, जिसका आधार ही समानता का तथ्य है।[1]

बहुमत-प्रतिनिधित्व-प्रणाली की समालोचना

बहुमत-प्रतिनिधित्व-प्रणाली की विद्वानों ने आलोचना की है और उसे अनुचित तथा अप्रजातान्त्रिक भी कहा है क्योंकि इससे एक बड़ी संख्या में मतदाता स्थायीरूप से मताधिकार से वंचित हो जाते हैं और उन्हें कोई प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं होता क्योंकि राजनीतिक दृष्टि से वे अपने निर्वाचन-क्षेत्र में अल्पमत में होते हैं। वास्तव में ऐसा हो सकता है और प्रायः होता भी है कि व्यवस्थापक-मण्डल के प्रतिनिधियों का बहुमत मतदाताओं के अल्पमत द्वारा चुना जाता है। इसके विरुद्ध यह तर्क दिया जाता है कि यद्यपि किसी निर्वाचन-क्षेत्र में अल्पमत दल का कोई प्रतिनिधि नहीं चुना जाता तो भी वही दल किसी दूसरे निर्वाचन-क्षेत्र में प्रायः बहुमत में होता है। इस प्रकार उन निर्वाचन-क्षेत्रों में उस दल द्वारा जो प्रतिनिधि चुने जायेंगे, जिनमें वह बहुमत में है, वे उस दल का प्रतिनिधित्व उन निर्वाचन-क्षेत्रों में भी करेंगे जिनमें वे अल्पमत में हैं। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि अमेरिकन यूनियन में दक्षिणी राज्यों के गणतन्त्रीय दल (Republican Party) का प्रतिनिधित्व अमेरिकन कांग्रेस में उत्तरी राज्यों के गणतन्त्र दल द्वारा होता है और न्यू इंगलैण्ड के प्रजातन्त्रवादी प्रतिनिधियों (Democrats) का प्रतिनिधित्व दक्षिणी राज्यों द्वारा चुने गये, उस दल के प्रतिनिधियों द्वारा होगा। परन्तु इसका यह उत्तर दिया जा सकता है कि प्रतिनिधित्व का इस प्रकार का सिद्धान्त समुचित नहीं है क्योंकि अमेरिका जैसे विशाल देश में एक भाग के निर्वाचन-क्षेत्र द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि अपने दल के उन सदस्यों का प्रतिनिधित्व पर्याप्त रूप से नहीं कर सकता जो देश के सुदूर भाग में रहते हैं।

संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रीय एवं राज्य के व्यवस्थापक-मण्डलों के तथा नगर-सभाओं के निर्वाचनों में प्रायः ऐसा होता है कि बहुमत दल अपनी संख्या के अनुपात से कहीं अधिक संख्या में प्रतिनिधियों का निर्वाचन कर लेता है। सन् १६०४ में राष्ट्रपति के निर्वाचन में गणतन्त्रीय दल कुल मतों के ५४ प्रतिशत मत प्राप्त कर कांग्रेस के लिए ६५ प्रतिशत सदस्यों का निर्वाचन करने में सफल हुआ। सन् १६०६ में प्रजातन्त्रवादी दल पेंसिलवेनिया में ५००,००० मत देकर भी कांग्रेस में एक भी प्रतिनिधि भेजने में सफलता नहीं पा सका। इण्डियाना में गणतन्त्रवादी दल ने कुल मतों के ५० प्रतिशत से भी कम मत देकर सब प्रतिनिधि अपने चुन लिये। इस प्रकार के बहुत से उदाहरण दिये जा सकते हैं और न ऐसे उदाहरणों का योरोप के देशों में ही

---

१ Duguit (Droit Const Vol I, p. 369) ने कहा है कि 'यह कहना साक्षी के विरुद्ध है कि पार्लामेण्ट का विशुद्ध बहुमत-प्रणाली पर निर्वाचन करने से राष्ट्र की इच्छा का उस दशा में अधिक पूर्ण प्रतिनिधित्व होता है जबकि राज्य के [illegible] राजनीतिक दल पार्लामेण्ट में अपने-अपने प्रतिनिधि भेजते हैं। यदि [illegible] अपनी इच्छा को सीधे रूप में प्रकट करता है तो यह राष्ट्र अपने विभि[illegible] दलों से युक्त राष्ट्र होना चाहिए। संक्षेप में, यह आवश्यक है कि पार्लामेण्ट में वे सब तत्त्व विद्यमान् होने चाहिए जो राष्ट्र में विद्यमान हैं। केवल यही प्रणाली पर्याप्त है।

अभाव है।[1] इस प्रणाली के अन्तर्गत निर्वाचन-क्षेत्र में अल्पमत दल प्रायः किसी प्रकार का प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं कर सकता और यदि समस्त निर्वाचन-क्षेत्रों के चुनावों का परिणाम देखा जाय तो कोई न कोई दल अपनी संख्या के अनुपात से कम या अधिक प्रतिनिधि चुनता है।

आनुपातिक प्रतिनिधित्व के लिए आन्दोलन

समय बीतने के साथ जनता में ऐसी प्रतिनिधित्व प्रणाली के लिए माँग बढ़ रही है जिससे इस प्रकार के दोष दूर या कम हो सकें, जो काफी लोगों को प्रतिनिधि-शासन के सिद्धान्तों के बिलकुल विपरीत प्रतीत होते हैं। आनुपातिक प्रतिनिधित्व (Proportional Representation) के सम्बन्ध में विशद साहित्य तैयार हुआ और अनेक संस्थाओं ने जनता में उसका प्रचार किया।

प्रथम विश्वयुद्ध से पूर्व आनुपातिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली का किसी न किसी रूप में अनेक राज्यों, जैसे डेनमार्क, नॉर्वे, स्वीडन, स्विट्जरलैण्ड, बेल्जियम, वुर्टेमबर्ग, आयरलैण्ड, बलगेरिया, फिनलैण्ड, सर्बिया, पुर्तगाल, टस्मानिया और क्यूबा में राष्ट्रीय, स्थानीय तथा नगर-सभाओं के चुनावों में प्रयोग होने लगा था। युद्ध के दिनों में डेनमार्क में इसका विस्तार हुआ और नीदरलैण्ड ने भी उसे स्वीकार किया। प्रथम विश्व-युद्ध के पश्चात् तो इस दिशा में आश्चर्यजनक प्रगति हुई है। उसके उपरान्त जो नवीन विधान बनाये गये, प्रायः उन सभी में राष्ट्रीय और कुछ स्थानीय निर्वाचनों में आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली को स्थान दिया गया। उसका प्रयोग इटली तथा फ्रांस में भी किया जा चुका है और जिन देशों में उसका प्रचार पहले से ही था, वहाँ उसका विस्तार हुआ है।[2] ब्रिटेन में प्रथम विश्वयुद्ध से पूर्व इस प्रणाली को कोई स्थान प्राप्त

---

१. आनुपातिक प्रतिनिधित्व पर अधिकारी फ्रेन्च लेखक तथा चेम्बर ऑफ डिपुटीज के सदस्य चार्ल्स बेनोइस्ट ने सन् १९०५ में सार्वभौम मताधिकार समिति की रिपोर्ट में लिखा है कि सन् १८८८ से सन् १९०२ तक फ्रेन्च चेम्बर में औसतन ५३% मतदाताओं का प्रतिनिधित्व रहा। सन् १९०२ में ५,५५६,००० मतदाताओं का चेम्बर में प्रतिनिधित्व था और ५,८१८,००० मतदाताओं का कोई प्रतिनिधित्व नहीं था। सन् १९०५ का प्रसिद्ध पृथक्ता का क़ानून (Separation Law) ३४१ प्रतिनिधियों के मत से स्वीकार किया गया, जो १०,९६७,००० मतदाताओं में से केवल २,६४६,३१५ मतदाताओं के ही प्रतिनिधि थे। उसने लिखा है कि इस प्रकार यह दावा नहीं किया जा सकता कि फ्रेन्च गणतन्त्र के कानून फ्रान्स के बहुमत की इच्छा का प्रतिनिधित्व करते हैं। इंगलैण्ड में सन् १९१८ के चुनाव में भी इसी प्रकार के परिणाम देखे गये। उनके विषय में देखिये, Willoughby and Rogers, *op. cit*, p. 267 इंगलैण्ड की लेबर पार्टी ने सन् १९२९ में कंजरवेटिव दल के सदस्यों से ३२ सदस्य अधिक चुने, यद्यपि उसे २,७४,००० मत कम मिले थे। देखिये, Pamphlet No. 66 (July 1929) of the *Prop. Rep. Society of Great Britain.*

२. फ्रान्स में भी सन् १९१९ से सन् १९२० तक यह सीमित रूप में प्रचलित थी। यहाँ स्थानाभाव से इस प्रणाली के विविध रूपों एवं उनके प्रयोगों पर विस्तार से लिखना सम्भव नहीं है। इस विषय के विस्तृत विवरण के लिए देखिये, Humphreys, Proportional Representation ; Sir John Fischer Williams, The Reform of Political Representation ; Willough-

नहीं था। परन्तु सन् १९१८ में लोक-प्रतिनिधित्व-कानून (Representation of People Act) में इस आनुपातिक प्रणाली का १०० निर्वाचन-क्षेत्रों में परीक्षण करने की व्यवस्था की गयी थी। परन्तु वास्तव में, आज तक उसका कोई परीक्षण नहीं हुआ। चार विश्वविद्यालय निर्वाचन-क्षेत्रों में प्रतिनिधियों का निर्वाचन आनुपातिक प्रतिनिधित्व के आधार पर किया जाता है, 'जिसे एक संक्रमणीय मत' (Single Transferable Vote) कहते हैं।

संयुक्त राज्य अमेरिका में अल्पमत दलों के प्रतिनिधित्व की योजनाओं को बहुत कम सफलता मिली है। इलीनॉय के सन् १८७० के विधान में तीन प्रतिनिधि प्रत्येक निर्वाचन-क्षेत्र से चुने जाने की व्यवस्था की गयी। इसके अनुसार प्रत्येक मतदाता को तीन मत देने का अधिकार है। वह चाहे तो तीन मत एक ही उम्मीदवार को दे सकता है अथवा तीनों को एक एक मत दे सकता है। व्यवहार में, इस प्रणाली के अनुसार राज्य के प्रत्येक निर्वाचन-क्षेत्र में (तीन क्षेत्रों को छोड़ कर) अल्पमत का कम से कम एक प्रतिनिधि चुना जा सका है। तीसरे दल (समाजवादी, प्रगतिवादी तथा मादक द्रव्य निषेधवादी) भी केवल (तीन क्षेत्रों को छोड़ कर) अपने मतों को कुछ प्रतिनिधियों को सामूहिक रूप में देकर कुछ सदस्यों को प्रत्येक व्यवस्थापक-मण्डल में १ से ५ तक, चुनने में सफल हुए हैं। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि दल के दोषयुक्त अनुशासन या अपनी शक्ति के सम्बन्ध में गलत अनुमान के कारण बहुमत दल तीन में से एक ही प्रतिनिधि चुन सका जबकि अल्पमत की ओर से दो सदस्य चुने गये।[१] परन्तु इलिनॉय राज्य के अतिरिक्त और किसी भी राज्य में यह प्रणाली स्वीकार नहीं की गयी और इस राज्य में भी जब नवीन विधान बनाया जायगा, तब यह प्रणाली सम्भवतः रद्द हो जायगी। हाँ, संयुक्त राज्य के कुछ नगरों में नगर-सभाओं के चुनावों के लिए आनुपातिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली अवश्य जारी की गयी है।[२]

आनुपातिक प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त की आलोचना

योरोप में हाल के कुछ वर्षों में अल्पमत के प्रतिनिधित्व का काफी विस्तार होने पर भी अनेक देशों में यह अभी परीक्षण की दशा में है और उसके गुणों के सम्बन्ध में कोई निश्चयात्मक निर्णय नहीं दिया जा सकता। बेल्जियम, डेनमार्क तथा स्विट्जरलैण्ड जैसे छोटे देशों में उससे साधारणतया जनता में सन्तोष दिखाई देता है: परन्तु अभी यह देखना है फ्रान्स तथा जर्मनी जैसे देशों में उससे जनता को सन्तोष होता है या नहीं। बहुत से सुयोग्य विद्वान् राजनीतिक लेखकों ने सैद्धान्तिक दृष्टि से तथा व्यावहारिक कठिनाइयों की दृष्टि से उसकी निन्दा की है। सिजविक ने उसके विरुद्ध दो गम्भीर आपत्तियाँ की हैं। प्रथम, स्थानीय मतभेदों की उपस्थिति से स्थानीय

---

by and Rogers, Introduction to the Problems of Government, Ch. 15 तथा Rogers and McBain, New Constitutions of Europe, Ch 5.

१. इस प्रणाली के अनुसार व्यवहार के लिए देखिये, Moore, The History of Cumulative Voting and Minority Representation, Illinois, 1870 to 1908.

२. McBain, Proportional Representation in American Cities, Pol. Sci Quar., Vol 37 (1922), pp 281

जनता के अधिक शिक्षित भाग को कम शिक्षित जनता पर अनुनय द्वारा प्रभाव डालने का जो स्वाभाविक प्रलोभन होता है, उसे हटा कर छोटे समुदायों को प्रतिनिधित्व देने वाली यह प्रणाली उस बहुमूल्य रक्षा को नष्ट कर देती है जो उससे खल-जन-नेताओं के विरुद्ध प्राप्त होती है। दूसरे, इससे वर्गीय कानून के निर्माण को प्रोत्साहन मिलेगा। दूसरे विद्वानों का मत है कि इससे व्यवस्थापक-मण्डल की कार्यक्षमता में न्यूनता आ जायगी क्योंकि उसमे ऐसे व्यक्तियों का चुनाव होगा जो केवल कुछ हितों का ही प्रतिनिधित्व करेंगे, सबका नहीं। सिजविक ने कहा है कि हम ऐसे व्यवस्थापक-मण्डल चाहते हैं जिनका दृष्टिकोण विशद हो, जिनमे विचार-वैचित्र्य हो, जिन्हे दावों एवं निर्णयों को तुलना करने का अभ्यास हो और जो ऐसे उपाय ढूंढ सकें जिनके द्वारा उनमे यथाशक्य सामजस्य स्थापित हो सके। यह बात हमें उस प्रणाली से प्राप्त नहीं हो सकती जिसमे समाज मे निर्वाचन के प्रयोजन के लिए स्थानीय मतभेद नहीं होते।[1] फ्रान्स का प्रसिद्ध कानूनविज्ञ एसमीन भी इस प्रणाली के विरुद्ध था। उसने कहा कि 'आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली की स्थापना करना मानो द्विसदन प्रणाली द्वारा प्रस्तुत औषधि को विष मे परिवर्तन कर देना है। इसका अर्थ है अव्यवस्था का सगठन तथा व्यवस्थापक-मण्डल को नपुसक बना देना, इसका अर्थ है मन्त्रि-परिषदों के स्थायित्व एव सारूप्य को नष्ट कर देना तथा सासद् शासन-प्रणाली को असम्भव बना देना।' तर्क तथा संगति का यह तकाजा है कि यदि इसका प्रयोग सासद् चुनावों मे किया जाता है, तो प्रशासी तथा कार्यपालिका के अधिकारियों के निर्वाचन के लिए भी इसका प्रयोग किया जाय और ऐसा करने का अर्थ होगा अराजकता को निमन्त्रण देना। उसने बतलाया कि बहुमत का नियम उन सरल विचारों मे से है, जो सभी को सरलता से ग्राह्य हो सकता है, वह किसी का पक्ष नहीं लेता और समस्त मतदाताओं को एक स्तर पर रख देता है।[2] इसके विरुद्ध दूसरी जो आपत्तियाँ की जाती हैं, वे ये हैं कि इससे व्यवस्थापक-मण्डल मे अनेक दलीय समुदाय खड़े हो जायेंगे और इस प्रकार शासन की परिषद् प्रणाली के अनुसार कार्य अधिक कठिन हो जायगा। इस प्रणाली के कारण व्यवस्थापक-मण्डल मे ऐसा कोई दल नहीं होगा जिसका उसमे बहुमत हो और इस प्रकार व्यवस्थापन-कार्य स्थगित हो जायगा। इससे छोटे अल्पमतों को प्रायः उचित से अधिक प्रतिनिधित्व मिलेगा। यह प्रणाली इतनी पेचीदा है कि इस पर व्यवहार करना कठिन होगा। उप-निर्वाचनों (By-elections) मे इसका प्रयोग सम्भव नहीं हो सकता। इससे दलीय यन्त्र का प्रभाव बढ जायगा और दलीय नेताओं (Bosses) की शक्ति भी बढ जायगी। इससे उम्मीदवारों का व्यय भी, क्षेत्रों के बड़े होने के कारण, बढ जायगा और इससे एक ही टिकिट पर एक ही दल की ओर से खड़े होने वाले उम्मीदवारों मे द्वेष एव प्रतिस्पर्धा भी बढ़ेगी।[3] व्यवहार मे जिन राज्यों मे आनुपातिक प्रतिनिधित्व-प्रणाली का प्रयोग कुछ समय के लिए किया गया

---

१. Elements of Politics, p 396.
२. Droit Const. (5th ed.), pp. 256-272.
३. इनमे से कुछ आपत्तियाँ जे० एम० रॉबर्ट्स ने सन् १९१७ के *Edinburgh Review* के जुलाई के अंक मे Proportional Representation शीर्षक वाले लेख मे प्रस्तुत की है। लॉस्की (op cit., 316) तथा फाइनर (The Case Against Proportional Representation, Fabian Society Tract) की आलोचना भी देखिये।

है, उन सभी में इनमें से कुछ न कुछ दोष वास्तव में पाये गये हैं।[1] यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि इनमें से कुछ आपत्तियाँ आनुपातिक प्रतिनिधित्व के कुछ रूपों के विरुद्ध दूसरों की अपेक्षा अधिक लागू होती हैं।

(७) व्यावसायिक अथवा वृत्ति-सम्बन्धी (Professional or Occupational) प्रतिनिधित्व

आनुपातिक दलीय प्रतिनिधित्व की आलोचना

आनुपातिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली के समर्थकों ने इस प्रणाली को बहुमत-प्रतिनिधित्व से कहीं श्रेष्ठ माना है, परन्तु अनेक विद्वान् इसे दोषपूर्ण मानते हैं क्योंकि इसमें केवल राजनीतिक रूप में सगठित अल्पमतों को ही प्रतिनिधित्व मिलता है। वे इस प्रकार तर्क देते हैं आनुपातिक दलीय प्रतिनिधित्व राज्य में विद्यमान् दूसरे आर्थिक सामाजिक एवं व्यावसायिक समुदायों के अस्तित्व का विचार नहीं करता, जिनके अपने विशेष हित हैं और जिनका इसलिए व्यवस्थापक-मण्डल में प्रतिनिधित्व होना आवश्यक है। न तो राजनीतिक बहुमतों और न अल्पमतों का ही प्रतिनिधित्व आधुनिक स्थितियों तथा प्रतिनिधित्व के सच्चे सिद्धान्त के अनुकूल है। दोनों ही दोषपूर्ण हैं क्योंकि वे विशुद्ध रूप में भौगोलिक तथा राजनीतिक आधारों पर स्थिर हैं। इस कारण इनके स्थान पर व्यावसायिक, वर्गीय तथा वृत्ति के आधार पर प्रतिनिधित्व होना चाहिए जिसमें भौगोलिक तथा राजनीतिक आधारों का विचार बिलकुल नहीं होना चाहिए क्योंकि ये अधिकतर कृत्रिम हैं और इनसे उन सीमाओं का ठीक-ठीक रूप में निश्चय नहीं होता जो आधुनिक समाज के विभिन्न वर्गों के हितों में समुचित भेद प्रकट करती हैं।

वर्गीय प्रतिनिधित्व के पूर्वकालीन रूप

प्रस्तावित प्रणाली से एक सीमा तक वह पूर्वकालीन परिपाटी पुनर्जीवित होगी, जिसके अनुसार समाज के प्रमुख वर्गों—कुलीन, पादरी तथा साधारण जनता, (और स्वीडन में सन् १८६६ तक नगरनिवासी तथा कृषक) को व्यवस्थापक-मण्डल में अलग-अलग प्रतिनिधित्व प्राप्त था।

सन् १६०७ तक ऑस्ट्रिया में मतदाताओं की पाँच श्रेणियाँ थीं—बड़े जमी-

२ इलिनॉय में सन् १८७० के बाद कम से कम २४ सीटों पर अल्पमत दल ने अपने क्षेत्र के तीन सदस्यों में से दो का निर्वाचन किया है और इस प्रकार उसे बहुमत मिल गया है। इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता कि इससे व्यवस्थापक-मण्डल की योग्यता का स्तर ऊँचा उठा है। इससे पार्टी के यन्त्र का प्रभाव अवश्य बढ़ा है और इनमें सी बुरी बात यह हुई है कि इसमें ऐसे व्यवस्थापक-मण्डल का चुनाव हुआ है जिसमें किसी भी दल का कामचलाऊ बहुमत भी नहीं हो पाया। ऐसी स्थिति सन् १६१३-१४ तथा सन् १६१४-१५ में थी। चूँकि व्यवस्थापक-मण्डल में किसी दल का बहुमत नहीं था, उसमें उत्तरदायित्व का अभाव था और सभा की कार्यवाही में मतभेद, संघर्ष तथा निष्क्रियता दिखाई देती थी। इस प्रणाली का एक परिणाम तो यह हुआ कि प्रायः जिस दल का प्रेसिडेण्ट चुना जाता था, उसको व्यवस्थापक-मण्डल में बहुमत नहीं मिल पाता था। ऐसी अवस्था में व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका के बीच गत्यवरोध होता था और इसके फलस्वरूप रचनात्मक व्यवस्थापन नहीं हो पाता था।

दार, नगर वाणिज्य-मण्डल, ग्राम और सर्वसाधारण। प्रत्येक निर्वाचन-क्षेत्र केवल एक ही श्रेणी के मतदाताओं का होता था, उसमें कई प्रकार की श्रेणियों का मिश्रण नहीं होता था। व्यवस्थापक-मण्डल के सदस्यों का विविध वर्गों में विभाजन निम्न प्रकार था: बड़े जमीदार ८५ सदस्य चुनते थे, नगर ११८, वाणिज्य-मण्डल २१; ग्राम १२९, और सर्वसाधारण ७२। परन्तु निम्न सदनों में से (कुछ अपवादों को छोड़) यह वर्गीय प्रतिनिधि-प्रणाली प्रजातन्त्र की प्रगति के साथ अन्त में खतम हो गयी और अब वह योरोप के कुछ देशों के उच्च सदनों के लिए ही काम में आती है।[1]

वर्गीय प्रतिनिधित्व के समर्थक

इसके बावजूद भी वर्ग, व्यवसाय, वृत्ति, धन्धे आदि के आधार पर प्रतिनिधित्व-प्रणाली के भी बहुत से समर्थक सदा रहे हैं। उनका यह दावा है कि यह प्रणाली प्रादेशिक तथा राजनीतिक समुदायों के आधार पर स्थित प्रणाली की अपेक्षा प्रतिनिधित्व की सच्ची भावना तथा लोकतन्त्र के आदर्शों के सबसे अधिक अनुकूल है। मिराबो ने फ्रेन्च क्रान्ति के समय कहा था कि व्यवस्थापक-मण्डल एक प्रकार से समाज का छोटा सा दर्पण होना चाहिए जिसमें उसके विविध हितों एवं वर्गों को स्थान मिलना चाहिए, ठीक वैसे ही, जैसे एक मानचित्र में भूमि का सारा आकार दिखाई देता है। इसी प्रकार सेयीज ने भी यह मत प्रकट किया है कि समाज के महान् उद्योगों का व्यवस्थापक-मण्डल में विशेषरूप से प्रतिनिधित्व होना चाहिए।[2] सन् १८१५ के

---

१ ऑस्ट्रिया के लॉर्ड-सदन में कुछ सदस्य-साम्राज्य के भूमिपतियों के और कुछ चर्च के प्रतिनिधि होते थे और कुछ सदस्य कला एवं विज्ञान के पत्रों में ख्याति-प्राप्त व्यक्ति होते थे। हंगरी के उच्च सदन का भी यही हाल था। वर्तमान (द्वितीय विश्वयुद्ध के पूर्व) व्यवस्था के पूर्व इटली की सीनेट में भी सेना तथा नौ-सेना, अधिकतम कर देने वाले व्यक्तियों, अर्थात् राज्य के धनी वर्ग तथा रॉयल ऐकाडेमी ऑफ साइन्स के प्रतिनिधि होते थे। सन् १९३१ के पूर्व स्पेन की सीनेट में १८० सदस्य होते थे, जिनमें से नौ आर्चबिशप के क्षेत्रों से एक-एक, ६ रॉयल एकाडेमियों में से प्रत्येक का एक, दस विश्वविद्यालयों में से प्रत्येक का एक तथा *फ्रेंडस् ऑफ दी कन्ट्री की आर्थिक समितियों के पाँच निर्वाचित सदस्य होते थे।* शेष १५० प्रान्तीय प्रतिनिधियों, म्यूनिसिपल कौंसिलरों के प्रतिनिधियों तथा नगरों के अधिकतम कर देने वाले व्यक्तियों के प्रतिनिधियों से निर्मित विभिन्न निर्वाचक-मण्डलों द्वारा चुने जाते थे। यह सदन देश की जनसंख्या अथवा उसके राजनीतिक विभागों की अपेक्षा विभिन्न हितों का अधिक प्रतिनिधित्व करता था। रूमानिया की सीनेट में वाणिज्य, उद्योग तथा श्रम और कृषि के चेम्बरों द्वारा निर्वाचित कुछ सदस्य होते हैं। इंगलैण्ड की लोक-सभा में भी विश्वविद्यालयों के १५ प्रतिनिधियों के रूप में इस प्रणाली के चिह्न पाये जाते हैं। *सन् १९१८ के एक्ट के अनुसार इन सदस्यों का निर्वाचन करने वाले निर्वाचक-*मण्डल में विश्वविद्यालय की डिग्री-प्राप्त सभी व्यक्ति होते हैं। आयरलैंड की सीनेट के लिए प्रत्येक विश्वविद्यालय दो सदस्य चुनता है और रूमानिया में प्रत्येक विश्वविद्यालय के शिक्षक एक सीनेटर चुनते हैं। सन् १९२६ में संशोधित लॉर्ड-सभा में २४० सदस्य होते हैं जो ६ भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं, कुछ नियुक्त और कुछ निर्वाचित।

२. Esmein, op. cit, p. 257 में उद्धृत।

फ्रान्स के अतिरिक्त कानून (Acte Additionnel) की धारा ३३ मे यह उल्लेख करके इस प्रणाली को स्वीकार किया गया है कि सामान्य निर्वाचक-मण्डलो द्वारा प्रतिनिधियों के चुनाव के साथ-साथ, उद्योग एवं वाणिज्य को विशिष्ट प्रतिनिधित्व प्राप्त होना चाहिए। लॉर्ड ब्राउघम ने ब्रिटिश विधान पर लिखित अपनी पुस्तक में लिखा है कि प्रतिनिधित्व के वितरण मे जिस सिद्धान्त को काम करना चाहिए, वह यह है कि समाज मे प्रत्येक वर्ग एवं समुदाय का प्रतिनिधित्व हो। उसने कहा है कि 'कल्पना कीजिये कि एक महत्वपूर्ण व्यापार केवल एक ही निर्वाचन-क्षेत्र मे होता है; परन्तु उसकी जनसख्या इतनी नहीं है कि जनसख्या की दृष्टि से वहाँ से उसका भी अपना एक प्रतिनिधि चुना जा सके, परन्तु फिर भी उसके व्यापार की दृष्टि से उसका प्रतिनिधि चुना ही जाना चाहिए। इसी प्रकार महत्वपूर्ण व्यवसायो एव सम्पत्ति के महत्वपूर्ण वर्गों का प्रतिनिधित्व होना चाहिए।' उसने आगे लिखा है कि 'आंग्ल-प्रणाली इस सिद्धान्त के विरुद्ध एक भयानक पाप करती है क्योंकि वह केवल एक ही कसौटी को मानती है, अर्थात् मनुष्यों का कस्बो मे पुरातन वितरण।'[1] कुछ वर्षों से व्यावसायिक, वर्गीय अथवा हितो के प्रतिनिधित्व के काफी समर्थक हो गये हैं। इनमे डुग्वी, प्रिन्स (Prins), डी ग्रीफ (De Greef), चार्ल्स बेनॉइस्ट, ला ग्रासीरी, (La Grasserie) तथा ग्रास्ट्रियन पत्रकार शेफ्ल (Schaffle) सबसे प्रमुख हैं। आनुपातिक प्रतिनिधित्व का विशद विवेचन करने वाला ग्रीक विद्वान् सेरिपॉलॉस (Saripolos) भी उल्लेखनीय है। डुग्वी का कथन है कि जनता की सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व विविध समुदायो के प्रतिनिधित्व द्वारा ही प्रभावकारी ढंग से हो सकता है क्योंकि उसका निर्माण उन्ही के मतो से होता है। अत: कोई व्यवस्थापक-मण्डल उस समय तक समाज या राष्ट्र का सच्चा प्रतिनिधि नहीं कहा जा सकता जब तक वह राज्य के दो प्रमुख विधायक-तत्वों, अर्थात् व्यक्तियो तथा व्यक्ति-समुदायो का प्रतिनिधित्व न करे। आगे चलकर उसने लिखा है कि 'राष्ट्रीय जीवन की समस्त महान् शक्तियों—सम्पत्ति, उद्योग, व्यापार, व्यवसाय, विज्ञान तथा धर्म का प्रतिनिधित्व होना चाहिए।'[2] राजनीतिक दलो के लिए आनुपातिक प्रतिनिधित्व की भाँति ही व्यावसायिक प्रतिनिधित्व का भी समर्थन उसी आधार पर किया जा सकता है। एक मे राजनीतिक रूप मे सगठित समुदायो को प्रतिनिधित्व मिलता है और दूसरे मे सामाजिक अथवा आर्थिक प्रयोजन के लिए सगठित समुदायो को।[3] अनेक

---

१. Works. Vol. XI, pp. 74, 95.

२. Droit. Const., pp 368-371.

३ वही, पृष्ठ ३५८। इस विषय पर देखिये, Benoist, op. cit., p. 250 इस पुस्तक म फ्रान्स के लिए व्यावसायिक तथा आनुपातिक प्रतिनिधित्व का मिश्रण करके एक विचित्र प्रणाली का वर्णन किया गया है। Commons (Proportional Representation) ने हितों के प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त का समर्थन किया है। उदाहरणार्थ, उसका कथन है कि यदि देश के समस्त श्रम-सघ शामिल हो जाँय और कॉंग्रेस के लिए सामूहिक रूप मे अपना प्रतिनिधि ठीक उसी प्रकार चुनें, जैसे अपनी संस्थाओ के लिए कर्मचारी, तो राष्ट्रीय व्यवस्थापकों की अपेक्षा व अपने हितों का संरक्षण अधिक अच्छी तरह से कर सकेंगे। परन्तु वर्तमान व्यवस्था मे उन्हे जबरदस्ती कृत्रिम प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्रों मे रख कर ऐसे प्रतिनिधियो

ग्रयो का फ्रेन्च लेखक सी रॉय भी इस प्रणाली का समर्थक है। आधुनिक समय में जो अंग्रेज लेखक किसी न किसी रूप मे इस प्रणाली का समर्थन करते हैं, उनमे जी० डी० एच० कोल तथा दूसरे गिल्ड-समाजवादियो का उल्लेख किया जा सकता है।[1] संयुक्त राज्य अमेरिका मे भी इसके समर्थकों का अभाव नही है।[2]

हितों के प्रतिनिधित्व के उदाहरण

पिछले वर्षों मे अनेक योरोपीय राज्यो मे व्यावसायिक या वर्गीय प्रतिनिधित्व प्रणाली के समर्थक आन्दोलन ने कुछ आंशिक सफलता प्राप्त कर ली है। जैसा पहले उल्लेख किया जा चुका है, सोवियत रूस मे प्रतिनिधित्व की भौगोलिक या प्रादेशिक प्रणाली के स्थान पर अखिल रूसी कांग्रेस के लिए व्यावसायिक सिद्धान्त (Vocational principle) पर आधारित प्रणाली स्थापित कर दी गयी है, अर्थात् वहाँ खानो, कारखानो आदि मे काम करने वाले मजदूर, किसान, व्यवसायी पुरुष तथा दूसरे वर्गों के व्यक्ति बिना प्रादेशिक आधार के अपने प्रतिनिधियों को चुनते हैं। सोवियत रूस का अनुकरण मुसोलिनी के नेतृत्व मे इटली ने भी किया जहाँ मुसोलिनी के प्रस्ताव के अनुसार सीनेट का पुनः संगठन किया गया है। पूर्व काल मे इटली की सीनेट के सदस्यो की नियुक्ति राजा (अर्थात् मन्त्रियो) द्वारा होती थी; परन्तु नियुक्तियाँ कुछ विशेष कोटि के व्यक्तियो मे से ही होती थी, जिनमे अधिकतम कर देने वाले भी थे। परन्तु मुसोलिनी ने इसमे सुधार करके यह व्यवस्था कर दी कि इसमे फॅसिस्ट सरकार द्वारा स्वीकृत विविध व्यापारो, व्यवसायों, कर्मचारियो तथा मजदूर सघों के प्रतिनिधि ही सदस्य होगे। जो नियुक्त सीनेटर अभी हैं, उनके स्थान पर दूसरे नियुक्त

के अधीन रख दिया जाता है जिनका प्रभाव अधिक अज्ञान, विचारहीन और सरलता से प्रभाव मे आ जाने वाली जनता पर ही अधिक पडता है।

१. देखिये, विशेषकर Cole, Social Theory (1920, Ch. 8 तथा Guild-Socialism Restated (1921). Wallas, The Great Society भी देखिये।

२. तुलना कीजिये, William MacDonald, A New Constitution for a Nem America, p. 133. उसका कथन है कि यदि सयुक्त राज्य की कांग्रेस को सच्चा राष्ट्रीय व्यवस्थापक-मण्डल बनाना है तो प्रतिनिधित्व की वर्तमान प्रणाली को इस प्रकार बदलना होगा कि उसमे जनसख्या के साथ माने हुए व्यवसायो एव धन्धो का भी प्रतिनिधित्व हो सके। Professor H. A. Overstreet (The Government of Tomorrow, *Forum,* July 1915, p. 7) ने प्रादेशिक आधार को कृत्रिम तथा व्यर्थ माना है क्योंकि हितो की समानता आजकल व्यवसाय द्वारा ही निर्धारित होती है। एक वैद्य का पडोस मे रहने वाले दलाल की अपेक्षा दूर रहने वाले वैद्य के साथ हित-साम्य अधिक होता है। यदि आधुनिक संसार मे कोई स्वाभाविक समुदाय ढूँढना चाहता है तो वे उसे अध्यापको, व्यापारियो, वैद्यों, कारीगरो आदि के समुदायों में ही मिलेंगे। इन लोगो के समुदाय अभी अपरिपक्व दशा मे हैं, परन्तु आधुनिक राज्य की सच्ची राजनीतिक इकाइयाँ के ये अग्रगामी हैं; और भी देखिये, Barnes, Sociology and Political Theory, p. 107; Beard, the Economic Basis of Politics, p 46 तथा W. S. Carpenter, Democracy and Representation जिसन संयुक्त राज्य के सीनेट को तोड कर उसके स्थान पर सामाजिक एवं आर्थिक हितो के आधार पर निर्मित सदन स्थापित करने का सुझाव रखा है।

नहीं किये जायेंगे। अन्त में, सीनेट में वे ही निर्वाचित सदस्य होंगे जिनको प्रतिनिधित्व प्राप्त समुदायों के निगम (Corporation) चुनेंगे। संशोधित इटालियन चेम्बर ऑफ डिपुटीज में भी विविध सांस्कृतिक, सामाजिक और औद्योगिक संगठनों एवं निगमों का प्रतिनिधित्व होता है। सन् १६१६ के नवीन जर्मन विधान की धारा १६५ के अन्तर्गत एक राष्ट्रीय आर्थिक परिषद् (National Economic Council) की स्थापना की व्यवस्था करके एक नयी बात की गयी है। परिषद् मजदूरों, पूँजीपतियों और उपभोक्ताओं के विशेष हितों का प्रतिनिधित्व करती है और इस प्रकार उसमें तृतीय व्यवस्थापक-सदन के तत्व विद्यमान हैं। सन् १६२० के कानून के अनुसार इसका जो संगठन किया गया, उसके अन्तर्गत इसमें ३२६ सदस्य हैं जिनमें से ६८ कृषि तथा वन्य हितों के प्रतिनिधि, ६८ सामान्यतया औद्योगिक हितों के, ४४ व्यापार, बैंक तथा बीमा के और ३० उपभोक्ताओं आदि के प्रतिनिधि हैं। उसमें कुल मिलाकर उद्योग, व्यवसाय, वाणिज्य आदि के ६ समुदायों के प्रतिनिधि हैं, जिनमें शासन तथा सरकारी कर्मचारी भी शामिल हैं जिनके उसमें २४ प्रतिनिधि हैं।[1] इस राष्ट्रीय आर्थिक परिषद् को स्वयं कानून-रचना की सत्ता प्राप्त नहीं है, परन्तु इस विधान के अनुसार राज्य के मन्त्रि-परिषद् को आर्थिक तथा सामाजिक विषयक कानूनों के मसौदे पार्लमेण्ट में पेश करने से पूर्व इस परिषद् की अनुमति के लिए भेजने होंगे। यह परिषद् पार्लमेण्ट में अपने सदस्यों द्वारा सीधे भी उसके विचारार्थ बिल प्रस्तुत कर सकती है। इस प्रकार यह केवल एक प्रवर्तक (Initiating) और मन्त्रि-परिषद् तथा राष्ट्रमण्डल को परामर्श देने वाली संस्था ही है। इस प्रकार की संस्था जिसमें देश के सभी महत्वपूर्ण वर्गों एवं हितों के सुयोग्य एवं विद्वान् प्रतिनिधि हैं, अनुकूल अवस्थाओं में व्यवस्थापक-मण्डल को सामाजिक तथा आर्थिक मामलों में अधिकारपूर्ण परामर्श दे सकती है और उसे देश के विविध स्वार्थों एवं हितों को, जिनका वह प्रतिनिधित्व करती है, व्यवस्थापन सम्बन्धी आवश्यकताओं से परिचित भी करा सकती है। यह संस्था अभी परीक्षण की दशा में है और इसके गुणों के सम्बन्ध में अभी कोई निश्चयात्मक मत नहीं दिया जा सकता।[2] इस परिषद् का कार्य-संचालन अब तक जैसा रहा है, उसमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि जर्मन पार्लमेण्ट उसकी सिफारिशों के प्रति उदासीन है और इसके सदस्यों में भी मतैक्य नहीं है। स्वयं जर्मनी में इस परिषद् की आलोचना यह कह कर की जाती है कि यह इतनी विशाल है कि यह अपना कार्य प्रभावकारी ढंग से नहीं कर सकती और इसकी संख्या घटा कर २०० कर देने का भी सुझाव रखा गया है।[3]

---

१. McBain and Rogers, New Constitutions of Europe तथा Von Siemens, Germany's Business Parliament. *Current History*, Sept. 1924 में परिषद् का अच्छा संक्षिप्त विवरण मिलता है।

२. हिटलर के सत्तारूढ़ होने के पश्चात् सन् १६३३ में यह संस्था तोड़ दी गयी।

३. Finer, Representative Government and a Parliament of Industry, A study of the German Labor and Economic Council (1923) में इस परिषद् की उत्पत्ति, प्रकृति तथा कार्य का विशद विवरण मिलता है। फाइनर का निष्कर्ष यह है कि परिषद् ने अपनी योग्यता और बने रहने का अधिकार प्रमाणित कर दिया है (पृष्ठ १८१)। Bonn (The Crisis of European Democracy, p. 75) ने लिखा है कि इस परिषद् ने

अन्य राज्यो मे भी विधानो द्वारा परामर्शदात्री आर्थिक परिषदों की व्यवस्था की गयी है। यूगोस्लाविया, पोलैण्ड तथा डैन्जिग के नये राज्यो के विधानो मे सामाजिक तथा आर्थिक मामलो के सम्बन्ध मे व्यवस्थापन की योजनाएं तैयार करने मे व्यवस्थापक-मण्डलो से सहयोग करने के लिए ऐसी परिषदों की स्थापना की व्यवस्था की गयी है[1] और इटली, स्पेन तथा पुर्तगाल मे भी इसी प्रकार की परिषदें स्थापित की गयी हैं। फ्रान्स मे भी जहाँ प्रशासनीय मामलो म परामर्श देने के लिए कौंसिलें पहले से विद्यमान थी, सन् १९२५ मे श्रम-संघ (General Confederation of Labor) के आन्दोलन के फलस्वरूप जर्मनी के कुछ कुछ समान ही एक परिषद स्थापित की गयी। परन्तु जर्मन परिषद की अपेक्षा फ्रेन्च-परिषद छोटी है। इसमे ४७ सदस्य हैं जो उपभोक्ताओं, मजदूरो, शिक्षको, पूँजीपतियो, कारीगरो, जमीदारो तथा बैंको आदि के प्रतिनिधि हैं। इसमे सरकार क पाँच सचिवालयो (Ministries) में से प्रत्येक के दो-दो प्रतिनिधि भी हैं। जर्मन परिषद् की भाँति यह भी परामर्शदात्री ही है। व्यवस्थापन तथा प्रशासन-सम्बन्धी प्रश्नो के सम्बन्ध में इस परिषद् को व्यवस्थापक-मण्डल की समितियों तथा मन्त्रि-परिषद् को परामर्श देने का अधिकार है। मन्त्रि-परिषद् को भी अपने समस्त आर्थिक बिल व्यवस्थापक-परिषद् में प्रस्तुत करने से पूर्व इस परिषद् को सूचना के लिए भेजना पडता है। यह परिषद इन मामलो में अपनी सिफारिशें सरकार के पास भेज सकती है और प्रधानमन्त्री को एक मास के भीतर परिषद् को बतलाना पडता है कि सिफारिशों पर क्या कार्यवाही की गयी।[2]

हितों के प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त की आलोचना

अनेक लेखको ने हितो के प्रतिनिधित्व क सिद्धान्त की आलोचना की है। प्रोफेसर एसमोन ने इसे 'एक भ्रान्तिपूर्ण एव मिथ्या सिद्धान्त' बतलाया है, जिससे संघर्ष, भ्रान्ति एव अराजकता पैदा होगी। उसने कहा है कि सर्वप्रथम, यह राष्ट्रीय प्रभुत्व के सिद्धान्त के प्रतिकूल है, जिसके अनुसार व्यवस्थापक-मण्डल के सदस्य समूचे राष्ट्र के हितो के प्रतिनिधि होते हैं, विशेष वर्गों क विशेष हितों के प्रतिनिधि नहीं।[3]

लम्बी-लम्बी बहसें तो खूब की हैं, परन्तु आर्थिक एवं सामाजिक समस्याओं को हल करने की योजनाएँ बनाने में यह कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं कर सकी।

१. Const. of Yugoslavia, Art 44; Const of Poland, Art. 64; Const of Danzig, Arts, 45, 114.

२. इस परिषद् के इतिहास तथा सगठन का Miss Bramhall ने The National Economic Council of France, *Amer. Pol. Sci Rev*, Vol. XX (1926), pp 623 ff. मे विस्तार से विवेचन किया है। इंगलैण्ड मे सरकार के कुछ कार्यालयो अथवा विभागो को, पार्लमिण्ट को नहीं, परामर्श देने क लिए हाल में कई परामर्शदात्री परिषदें स्थापित की गयी हैं। देखिये, Fanhe *Amer. Pol. Sci. Rev.* Nov., 1926, pp. 812 ff

३. Duguit (Droit Const, Vol I, p. 379) का मत इसके विपरीत है। Benoist यह मानने के लिए तैयार है कि हितो के प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त से राष्ट्रीय प्रभुत्व के सिद्धान्त का हनन होता है, परन्तु वह इस बलिदान के लिए तैयार है (Organisation du Suffrage Universal, pp. 30 31)।

स्वतन्त्र प्रतिनिधि-शासन का समर्थन इसी मान्यता के आधार पर किया जा सकता है कि नागरिकों के मत तथा उनके प्रतिनिधि सामान्य हितों का निर्धारण कर उन्हें कानून का रूप देंगे। परन्तु यह कार्य समुचित रीति से सम्पादित हो सके, इसके लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि वे अपने विशेष हितों की अवहेलना करके न्याय एवं विवेक के अनुसार कार्य करें। व्यावसायिक प्रतिनिधित्व-प्रणाली नागरिकों को सामान्य हितों को भुला देने का निमन्त्रण देकर उनका ध्यान विशेष हितों की ओर आकर्षित करेगी। इससे विविध हितों एवं शक्तियों में संघर्ष होगा, उनमें शत्रुता की भावना की वृद्धि होगी और इससे उस सुप्रतिष्ठित सिद्धान्त की हानि होगी जिसके अनुसार व्यक्ति को समस्त समाज के कल्याण को प्रमुख तथा अपने समुदाय, व्यवसाय या वर्ग के हितों को गौण समझना चाहिए।[1] एसमीन यह तो स्वीकार करता है कि महान् आर्थिक हितों तथा व्यावसायिक समुदायों को अपनी संस्थाएँ बनाकर अपने विचार सरकार के समक्ष व्यक्त करने चाहिए, परन्तु ये संस्थाएँ परामर्शदात्री होनी चाहिए, उन्हें व्यवस्थापन का अधिकार नहीं होना चाहिए।

अनेक व्यक्तियों की दृष्टि में वर्गीय प्रतिनिधित्व का विचार सैद्धान्तिक रूप से लचर है क्योंकि यह इस सन्देहपूर्ण मान्यता के आधार पर स्थिर है कि कोई भी प्रतिनिधि अपने उस निर्वाचन-क्षेत्र का प्रतिनिधित्व पूर्णतया नहीं कर सकता जिसमें पूर्णतः उसी के वर्ग के मतदाता न हों। उदाहरणार्थ, एक वकील सच्चे रूप में किसानों, खानों के मजदूरों अथवा व्यापारियों का प्रतिनिधि नहीं हो सकता। व्यवस्थापक-मण्डल को सच्चे रूप में प्रतिनिधि-मण्डल बनने के लिए आर्थिक, व्यावसायिक आदि विविध समुदायों के, जिनसे आधुनिक समाज का निर्माण होता है, प्रतिनिधियों की संस्था होना चाहिए। हमें भय है कि इस प्रकार की प्रणाली से प्रतिनिधियों का क्षितिज सीमित हो जायगा और व्यवस्थापक-मण्डल के गुण भी कम होंगे क्योंकि प्रतिनिधि अपने आपको समूचे राज्य के सामान्य हितों का प्रतिनिधि न मान कर उसे चुनने वाले समुदाय या हित-विशेष का प्रतिनिधि मानेगा।[2] प्रोफेसर बार्थेलेमी ने भी कहा है कि यह समझना भूल है कि व्यावसायिक प्रतिनिधित्व-प्रणाली के अन्तर्गत मतदाता एक समुदाय के रूप में मत देंगे। इसके विपरीत उनमें से बहुतेरे व्यावसायिक भेद को त्याग उस राजनीतिक दल के आदेशानुसार मत देंगे जिससे उनका सम्बन्ध होगा। अन्त में, इसमें एक व्यावहारिक कठिनाई यह भी है कि विविध वर्गों एवं समुदायों के बीच न्यायपूर्वक प्रतिनिधित्व किस प्रकार वितरित किया जाय। सिडनी वेब के अनुसार इंगलैण्ड में ७,५०,०० वस्त्र मिलों में काम करने वाले मजदूर हैं; ४०,००० चिकित्सक और ६ ००० शिल्पी।[3] व्यवस्थापक-मण्डल के लिए इन तीनों वर्गों के सिवा संख्या के और किस आधार पर प्रतिनिधित्व का आनुपातिक निर्धारण हो सकता है।[4]

---

१. Droit Const (5th ed), pp. 256-259.

२. तुलना कीजिये, Sidgwick Elements of Politics, p. 395 ; Bluntschli, Politik, pp. 447-56 तथा Munro, The Governments of Europe, p. 737. Laski (op. cit., pp 60) हितों के प्रतिनिधित्व का प्रबल समर्थक है, यद्यपि गिल्ड समाजवादियों द्वारा बतलाये हुए उसके रूप तथा जर्मनी में जारी किये हुए उसके रूप की उसने आलोचना की है।

३. History of Trade Unionism.

४. तुलना कीजिये, Sharp, op. cit., p 121.

इतने विभिन्न वर्गों के प्रतिनिधियों से निर्मित व्यवस्थापक-मण्डल केवल वाद-विवाद-समिति ही बन जायगा, कानून-निर्माण करने वाली सभा नहीं रहेगा और उसकी कार्यक्षमता भी जितने और जितने प्रकार के हितों का उसमें प्रतिनिधित्व होगा, उसी अनुपात में कम हो जायगी। आंग्ल-सेक्सन देशों में सरकारों की शक्ति का एक कारण यह रहा है कि उनके व्यवस्थापक-मण्डल पारस्परिक मतभेद तथा विरोधी हितों से युक्त अस्थायी तथा संघर्षशील छोटे-छोटे समुदायों से मुक्त हैं।[1] अन्त में, वर्गीय भेदों के आधार पर, निर्वाचक-मण्डल का संगठन, चाहे वे आर्थिक हों, सामाजिक हों या व्यावसायिक, आवश्यक रूप से कृत्रिम भेदभावों को बढ़ायेगा तथा जनसंख्या का और भी अधिक समुदायों में विभाजन करेगा; वे परस्पर एक-दूसरे के विरुद्ध लड़ेंगे और इस प्रकार उनमें सामान्य तथा वर्ग-विरोध की भावना प्रबल होगी।[2]

(८) व्यवस्थापन सम्बन्धी आदेश (Legislative Mandate) की प्रकृति, प्रतिनिधि का कार्य

अभिमतों का वर्गीकरण

जिस प्रतिनिधि को निर्वाचक-मण्डल न व्यवस्थापन-सम्बन्धी मामलों में अपनी ओर से काम करने के लिए निर्वाचित किया है, उसका क्या काम है, इस सम्बन्ध में विविध प्रकार के विचार प्रचलित हैं। हम उन्हें तीन श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं। प्रथम, प्रतिनिधि उसका निर्वाचन करने वाले निर्वाचन-क्षेत्र का प्रतिपुरुष (Deputy), दूत (Delegate) अथवा एजेण्ट माना जाता है, उसे मुख्यतः निर्वाचन-क्षेत्र के स्थानिक हितों की अभिवृद्धि के लिए कानून-निर्माण कराने, सरकारी कोष से स्थानीय निर्माण-कार्य आदि के सम्बन्ध में आर्थिक सहायता प्राप्त करने तथा जनता के लिए अन्य सुख-सुविधाएं प्राप्त करने का काम सौंपा जाता है जो साधारणतया व्यवस्थापक-मण्डल या शासन से मिल सकती है।

द्वितीय, वह समूचे राज्य का प्रतिनिधि माना जा सकता है, जिसका निर्वाचन इसलिए किया गया है कि वह अन्य प्रतिनिधियों के साथ मिलकर सामान्य हितों की

---

१. Bradford (Lessons of Popular Government, Vol. II, p. 170). का कथन है कि ऐसे व्यवस्थापक-मण्डल की कल्पना कीजिये जिसमें गणतन्त्रवादी, प्रजातन्त्रवादी, महिला-मताधिकारवादी, श्रमिक, मद्य-निषेधवादी, धार्मिक अन्धभक्त आदि के पृथक् समुदाय हों जो सब इस बात पर अड़े हुए हों कि जब तक कि उनके विशेष हितों की व्यवस्था न हो जाय तब तक कुछ भी नहीं होना चाहिए। क्या उस समय मत अथवा समर्थन प्राप्त करने के लिए लेन-देन का सौदा आजकल से कम होगा या क्या उस समय प्रपंची लोग समुदाय की शक्ति का आजकल से कम उपयोग करेंगे ?" Sidgwick (Elements of Politics, p. 396) के मत से भी तुलना कीजिय।

२. हितों के प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त के समर्थक इन बातों की सचाई स्वीकार नहीं करते। उनका कहना है कि स्वार्थ और वर्ग-विरोध तो काफी मात्रा में अब भी है और व्यवस्थापक-मण्डल में उन्हें प्रतिनिधित्व दे देने से विरोध बढ़ेगा नहीं, बल्कि उसके कम होने की सम्भावना है। Burns, op. cit., p. 107 तथा Overstreet के ऊपर निर्देशित लेख से भी तुलना कीजिये।

अभिवृद्धि के लिए कार्य कर सके और इसके साथ-साथ वह गौण रूप में अपने निर्वाचन-क्षेत्र के विशिष्ट हितों की भी रक्षा करे।

तृतीय, वह उस राजनीतिक दल का अधिवक्ता माना जा सकता है, जिसका उसके निर्वाचन-क्षेत्र में बहुमत है और इस प्रकार वह अपने दल के आदेश का पालन करने के लिए बाध्य है चाहे किसी व्यवस्थापन सम्बन्धी नीति के औचित्य के विषय में उसके निजी विचार कैसे भी हों। जब प्रस्तावों अथवा आदेशों द्वारा इच्छा की अभिव्यक्ति हो चुकी है, तब नैतिक दृष्टि से उसके अनुसार कार्य करने तथा मत देने के लिए वह बाध्य है। यह 'अलंघनीय आदेश' (Mandate Imperatif) का सिद्धान्त है, जिसके अनुसार प्रतिनिधि एक प्रकार से टेलीफोन का तार बन जाता है, जिसके द्वारा आदेश एवं विचार व्यवस्थापक-मण्डल तक पहुँचाये जाते हैं। प्रतिनिधि के लिए यह सर्वथा सम्भव है कि वह प्रथम और तृतीय सिद्धान्त के अनुसार कार्य कर सके, अर्थात् वह अपने निर्वाचन क्षेत्र का प्रतिनिधित्व करते हुए भी राष्ट्रीय तथा स्थानिक नीति के प्रश्नों पर अपने दल के आदेशों का पालन करे। परन्तु वह उसके साथ ही द्वितीय सिद्धान्त के अनुसार कार्य नहीं कर सकता, अर्थात् ऐसी अवस्था में जब सामान्य हितों और उसके क्षेत्र के हितों में संघर्ष हो, वह मुख्यतः सामान्य हितों के प्रतिनिधि की तरह कार्य नहीं कर सकता क्योंकि कोई भी प्रतिपुरुष अपने दो स्वामियों के विरोधी आदेशों का पालन नहीं कर सकता।

पूर्वकाल न विचार

जैसा पूर्व अध्याय में बतलाया जा चुका है, प्रतिनिधि व्यवस्था के विकास की पूर्वावस्था में प्रतिनिधि अपने विशेष वर्ग (कुलीन वर्ग, पादरी-वर्ग, सर्वसाधारण-वर्ग कृषक, नगर निवासी आदि) का, जिसने उसे चुना था, विशेष प्रतिपुरुष या प्रतिनिधि माना जाता था। उसे अपने वर्ग के आदेशों के अनुसार कार्य करना पड़ता था। वह उसके प्रति उत्तरदायी था तथा किसी भी समय अपने पद से वापस बुलाया भी जा सकता था। सारांश में, उसका कार्य आधुनिक समय के प्रतिनिधि की अपेक्षा राजदूत जैसा था। आधुनिक विचार के अनुसार प्रतिनिधि को कानून-निर्माण का पूरा अधिकार है, विचार प्रकाशन एवं मतदान की पूर्ण स्वतन्त्रता है, उसे कोई आदेश नहीं दिया जा सकता और न वह वापस ही बुलाया जा सकता है।

आधुनिक विचार

प्रतिनिधि के कार्य के सम्बन्ध में उपर्युक्त पुरातन विचार कि वह अपने निर्वाचन क्षेत्र का एजेण्टमात्र है, समस्त राष्ट्र का प्रतिनिधि नहीं, इंगलैण्ड में सत्रहवीं शताब्दी से पूर्व ही विलीन हो चुका था, यद्यपि फ्रान्स में उसका लोप फ्रेन्च क्रान्ति से पहले तक नहीं हुआ, जबकि सन् १७८८ में स्टेट्स-जनरल ने अपनी राष्ट्रीय परिषद् में अपने को राष्ट्र का प्रतिनिधि घोषित किया।

आधुनिक विचार को सर्वप्रथम वैधानिक कानून में उस समय स्थान दिया गया जब सन् १७९१ के फ्रेन्च-विधान में स्पष्ट शब्दों में यह घोषित किया गया कि किसी भी प्रतिनिधि को किसी विशेष निर्वाचन-क्षेत्र का प्रतिनिधि न होकर समस्त राज्य या राज्य का प्रतिनिधि होना चाहिए और उसे किसी प्रकार का आदेश नहीं दिया जाना चाहिए। यही सिद्धान्त सन् १८७१ के जर्मन-विधान (धारा २९), ३० नवम्बर सन् १८७५ के फ्रेन्च आर्गेनिक लॉ (Organic Law), ऑस्ट्रियन निर्वाचन-कानून तथा सन् १८७४ के स्विस-विधान (धारा ९१) में भी अभिव्यक्त हुआ था। इसमें यह स्पष्ट उल्लेख था कि व्यवस्थापक मण्डल के सदस्यों को बिना किसी आदेश

के अपना मत स्वतन्त्र रीति से देना चाहिए। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद नवीन राज्यो में जो विधान स्वीकार किये गये, प्राय: उन सबमे भी इसी सिद्धान्त को स्वीकार किया गया। यह बात महत्वपूर्ण है कि अमेरिकन विधानो मे से किसी मे इस सिद्धान्त का विशिष्ट उल्लेख नही है।

राजनीतिज्ञो तथा राजनैतिक लेखको के विचार

व्यवस्थापन-सम्बन्धी आदेश को प्रकृति के सम्बन्ध मे ऊपर जिन तीन सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है, उनके सम्बन्ध में मतभेद है, परन्तु राजनीतिज्ञो तथा राजनीतिक लेखको के विचारो मे तनिक भी भेदभाव नही है। वह विचार कि प्रतिनिधि सर्वप्रथम अपने निर्वाचन-क्षेत्र का, जिसने उनका चुनाव किया है, प्रतिपुरुष है अथवा विशेषतया उस दल का अभिवक्ता है जिसने उसे अपने टिकट पर चुन कर भेजा है, प्राय: समस्त लेखको द्वारा दूषित माना गया है। इस विचार के कारण केवल राष्ट्रीय एव सार्वजनिक हितो का स्थानिक हितो की वेदी पर बलिदान ही नही होता वरन् इससे प्रतिनिधि का क्षितिज भी सकुचित हो जाता है और इस प्रकार व्यवस्थापक-मण्डल का चरित्र भी निम्न हो जाता है, अधिक योग्य पुरुषो को उसमे अपनी सेवाएँ अर्पित करने का उत्साह नही रहता और राजनीतिक दल का प्रतिनिधि पर नियन्त्रण भी कठोर हो जाता है।

लॉर्ड ब्राउघम ने लिखा है कि पार्लमेण्ट का सदस्य 'समस्त समाज की जनता का प्रतिनिधित्व करता है, समस्त बातो मे स्वतन्त्र निर्णय करता है; अपने निर्वाचन-क्षेत्र मे निस्संकोच होकर सन्देश प्राप्त करता है, परन्तु वह उसके आदेशो म बाध्य नही है। हाँ, यदि प्रतिनिधि और निर्वाचक मण्डल के मध्य तीव्र मतभेद है, तो निर्वाचन-क्षेत्र पुनर्निर्वाचन मे उसे अपना प्रतिनिधि न चुनकर उसे हटा सकता है। चूँकि लोक-सत्ता एक सीमित काल के लिए प्रतिनिधि सस्था अर्थात् व्यवस्थापक-मण्डल को हस्तान्तरित हो जाती है, जनता इस बात के लिए बाध्य है कि वह अपने प्रभाव का ऐसा प्रयोग न करे जिससे व्यवस्थापक-मण्डल के समक्ष प्रस्तुत होने वाले प्रश्नों के सम्बन्ध मे उसके प्रतिनिधियों के कामों पर नियन्त्रण लग जाय।'[1] प्रतिनिधि के कार्य के सम्बन्ध में ऐसा ही विचार ब्लुण्ट्श्ली ने भी प्रकट किया है। उसने कहा है कि आधुनिक प्रतिनिधि राज्य का प्रतिनिधि है, किसी व्यक्ति, निगम या समुदाय का नहीं और उसका कर्त्तव्य राज्य के प्रति है। वह अपने निर्वाचन-क्षेत्र के आदेशों को पालन करने के लिए बाध्य नही है और न वह अपने आचरण के लिए उनके समक्ष उत्तरदायी ही बनाया जा सकता है। वह उनके आदेशो को व्यक्त करने वाला एजेण्ट ही नही है जो ऐसा करने से इन्कार करने पर हटा दिया जा सके। इसके प्रतिकूल, उसे विचार एवं कार्य की पूर्ण स्वतन्त्रता है और अपनी बुद्धि तथा अन्तरात्मा पर बिना किसी प्रकार के प्रतिबन्ध के उसे सार्वजनिक आवश्यकताओं एवं इच्छाओं को अपनी ही बुद्धि के अनुसार समझने का पूरा अधिकार है।

एसमीन ने प्रतिनिधि की परिभाषा करते हुए कहा है कि प्रतिनिधि वह है, जो अपनी वैधानिक सत्ताओं की सीमा के भीतर जनता के नाम पर स्वतन्त्रत्प से कार्य करने के लिए निर्वाचित किया गया है। उसे अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए विचार एवं कार्य की पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिए, क्योंकि यदि कानूनी नियमों अथवा अलघनीय आदेशों के द्वारा पहले से ही उसके कार्यों का निर्णय कर दिया जायगा, तो

---

१. Lord Brougham: The British Constitution, Works, Vol. XI, p. 94

वह प्रतिनिधि नहीं, वरन् निर्वाचकों का दूत या एजेण्ट मात्र होगा। निर्वाचन-क्षेत्र को यह अधिकार नहीं है कि वह अपने प्रतिनिधि को वापस बुलाले और न उसे आदेश दे कर उसके अधिकारों को सीमित करने का या उसके कामों को रद्द करने का भय *दिखला कर उसे निर्दिष्ट प्रकार से काम करने के लिए विवश करने का ही अधिकार* है। 'अलंघनीय आदेश', प्रतिनिधि शासन के सिद्धान्त के विरुद्ध ही नहीं, वरन् राष्ट्रीय प्रभुत्व के सिद्धान्त के भी उतना ही विरुद्ध है।[1] एक दूसरे फ्रेन्च लेखक मालबर्ग ने भी इस सिद्धान्त की तीव्र आलोचना की है। वह सिद्धान्त इस विचार पर आधारित है कि प्रतिनिधि और निर्वाचकों के बीच वैसा ही सम्बन्ध है, जैसा इकरार कानून के अन्तर्गत एक इकरारनामे से दो पक्षों के बीच स्थापित हो जाता है, अर्थात् प्रतिनिधि निर्वाचकों द्वारा दिये हुए आदेश के अनुसार ही अपनी सत्ताओं का प्रयोग कर सकता है। इस विचार का प्रतिपादक प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ एवं विचारक रूसो था परन्तु इसमें स्पष्ट असंगति है। उसके विचार में यह सिद्धान्त असम्भव है। यदि प्रतिनिधि केवल एजेण्टमात्र है तो वह आवश्यक रूप से उस निर्वाचक-मण्डल का ही प्रतिनिधि है जिसने उसे चुना है, समस्त राष्ट्र का नहीं, क्योंकि जिन लोगों के मतों से वह चुना नहीं गया है, उनके तथा उसके बीच इकरारनामा सम्बन्धी सम्बन्ध नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त इस *'अलंघनीय आदेश' से यह भी प्रकट है कि प्रतिनिधि को केवल वे* ही अधिकार प्राप्त हैं जो निर्वाचकों के आदेश द्वारा उसे प्रदान किये गये हैं। फलत, निर्वाचकों का यह अधिकार स्वीकार किया जाना चाहिए कि वे चुनाव के समय उसके अधिकारों पर प्रतिबन्ध लगाने के अधिकारी हैं, अर्थात् वे उसके लिए एक कार्यक्रम नियत कर सकते हैं, उसके आचरण की रूपरेखा भी निश्चित कर सकते हैं; उस पर दायित्व लाद सकते हैं तथा उसे आदेश भी दे सकते हैं।[2] एडमण्ड बर्क ने

---

१. Droit Const. (5th ed), pp. 263, 386 Lieber (Political Ethics, Vol. II, pp 325-330) से भी तुलना कीजिये, उसने कहा है कि सच्चे प्रतिनिधि-शासन में प्रतिनिधि को बन्धनकारी आदेश देने की गुंजायश नहीं है। परन्तु रूसो प्रतिनिधि को एजेण्ट मात्र मानता था (*Social Contract*, Bk III, Ch. 15) सन् १७९३ में फ्रेन्च कन्वेन्शन में रोब्सपीयर ने भी इसी सिद्धान्त का समर्थन किया था।

२. Op. Cit, Vol. II, pp. 209 ff. St. Girous (La separation des pouvoirs, pp. 160-165) ने कहा है कि निर्वाचक अपने मत के द्वारा अपनी समस्त सत्ताएँ प्रतिनिधि को सौंप देता है और इस कारण वह व्यवस्थापन की सत्ता में अपने प्रतिनिधि के साथ हिस्सा नहीं बँटा सकता। अत: यदि कोई आदेश प्रतिनिधि को दिया जाता है तो व्यवस्थापक-मण्डल या न्यायपालिका को उसे शून्य घोषित कर देना चाहिए और जो प्रतिनिधि निर्वाचकों के आदेशों का अपने निर्णय के प्रतिकूल पालन करने का वचन देता है, उसे पराजित कर देना चाहिए। किन्तु ड्यूगी अलंघनीय आदेश का समर्थक है। उसके मत में यह अब भी फ्रेन्च कानून का सिद्धान्त है। परन्तु उसका कथन है कि प्रतिनिधि को आदेश उसके निर्वाचक-मण्डल से प्राप्त नहीं होता, वरन् समस्त राष्ट्र की ओर से प्राप्त होता है जिसका वह प्रतिनिधि है। इस कारण वह अपने निर्वाचन-क्षेत्र से आदेश लेने के लिए बाध्य नहीं है और न उस निर्वाचन-क्षेत्र का उसे कोई आदेश देने का कोई अधिकार ही है। पूरा राष्ट्र ही सामान्य संसद चुनावों में

प्रतिनिधि के कार्य के सम्बन्ध में अपना निश्चयात्मक विचार प्रकट किया है जिसका समर्थन आज भी अधिकांश लेखक करते हैं, यद्यपि यह आधुनिक प्रजातन्त्रात्मक विचार का द्योतक नहीं है। उसने घोषित किया कि प्रतिनिधि का अपने उद्योग एवं निर्णय-बुद्धि का प्रयोग अपने निर्वाचन-क्षेत्र के लिए करना आवश्यक है और जब वह निर्वाचक के मत के लिए उनका बलिदान कर देता है, तो इससे वह उनकी सेवा करने के स्थान में उनके साथ विश्वासघात करता है। उसने कहा कि प्रतिनिधि को राज्य का एक स्तम्भ होना चाहिए—भवन पर स्थापित वायु-दिशा-दर्शक-यन्त्र के समान नहीं होना चाहिए जिससे केवल वायु के प्रत्येक झकोरे का ही ज्ञान हो सके।''

क्या प्रतिनिधि पर आदेशों का बन्धन हो ?

क्या प्रतिनिधि को अपने निर्वाचन-क्षेत्र के आदेशानुसार ही कार्य करना चाहिए, अर्थात् क्या उसका कार्य केवल एक एजेण्ट या दूत की भाँति उनकी आज्ञाओं को मानना और व्यक्त करना ही होना चाहिए या उसे अपनी विवेक-बुद्धि से, स्वतन्त्र रीति से सोच विचार कर अपने निर्वाचकों की ओर से अपने कर्त्तव्य का निर्णय कर उसके अनुसार कार्य करना चाहिए—ये ऐसे प्रश्न हैं जिनके सम्बन्ध में प्रतिनिधि-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा के बाद से ही मतभेद चला आता है। यद्यपि जैसा जॉन स्टुअर्ट मिल ने कहा है इन प्रश्नों का विचार राजनीतिक नीतिशास्त्र (Political Ethics) में होना चाहिए, राज्य-विज्ञान अथवा वैधानिक कानून में नहीं, तथापि उनका हमारे प्रतिपाद्य विषय से सीधा सम्बन्ध है, अतः उन पर यहाँ विचार करना युक्तिसंगत होगा। इन प्रश्नों का उत्तर देते समय फ्रांसिस लाइबर के इन सुझावों[2] पर भी ध्यान देना आवश्यक होगा कि हमें जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि तथा ऐसे

समस्त व्यवस्थापक-मण्डल को आदेश देता है और प्रतिनिधि इस आदेश से बाध्य है, किसी निर्वाचन-क्षेत्र के आदेश से नहीं। कई बार फ्रेंच पार्लमेण्ट के लिए ऐसे सदस्य चुने गये हैं जिनको दल की समितियों ने आदेश दिये हैं और जिनके हस्ताक्षर किये हुए खाली त्याग-पत्र उन समितियों के पास रहते थे ताकि समिति की माँग पर वे काम में लाये जा सकें। इन सब मामलों में चेम्बर ऑफ डिपुटीज ने उन त्यागपत्रों को रद्द माना। किन्तु समय-समय पर फ्रेंच संसद में ऐसे आदेशों को कानूनी मान्यता देने के लिए प्रस्ताव रखे गये हैं।

१. सन् १७८० में उसने ब्रिस्टल के निर्वाचकों को जो भाषण दिया था, उसे पढ़िये। उसमें उसने उनके आदेशों के पालन न करने के कार्य को उचित बतलाया। उसने कहा कि 'पार्लमेण्ट विविध और विरोधी हितों के राजदूतों की परिषद् नहीं है जिसमें प्रत्येक सदस्य एक एजेण्ट की भाँति अपने हितों का दूसरों के विरुद्ध समर्थन करे, वरन् पार्लमेण्ट एक राष्ट्र की परिषद् है जिसका एक ही हित है, अर्थात् समूचे राष्ट्र का और जहाँ मार्ग-दर्शन स्थानिक उद्देश्यों एवं विचारों द्वारा नहीं प्रत्युत सबकी सामान्य बुद्धि द्वारा निर्णीत सार्वजनिक कल्याण द्वारा होना चाहिए। आप सदस्य को चुनते अवश्य हैं परन्तु जब आपने उसे चुन लिया तब वह ब्रिस्टल का सदस्य नहीं रहता, वह पार्लमेण्ट का सदस्य हो जाता है।'

२. Political Ethics, Vol. II, p. 307. सन् १८७१ के विधान के अनुसार जर्मनी में बण्डसराथ (Bundesrath) के सदस्य अपनी-अपनी सरकार के आदेशों के अधीन थे जो उन्हें बहुत कुछ राजदूतों के समान नियुक्त करती थी।

प्रतिनिधि (जैसे कुछ मघ-राज्यों म सीनेटर) मे भेद मानना होगा जो किमी व्यवस्थापक-मण्डल या दूसरी राजनीतिक सस्थाम्रो द्वारा चुना जाता है, जिनका समस्त नागरिकों के निर्वाचक-मण्डल से भिन्न कानूनी अस्तित्व होता है और जो इस कारण अपनी इच्छा को अभिव्यक्त कर सकती हैं और आदेश भी दे सकती है। सयुक्त राज्य अमेरिका म सीनेट के सदस्य दीर्घ काल तक राज्यो के व्यवस्थापक-मण्डलो द्वारा चुने जाते रहे और उन्हें उस समय राष्ट्रीय सरकार के समक्ष भेजे हुए राज्यो के राजदूत जैसा समझने की प्रवृत्ति रही और आज भी है। ऐसी स्थिति मे राज्यो के व्यवस्थापक-मण्डलो को उन्हे मत देने के ढग के विषय मे आदेश देने के अधिकार के समर्थन में तर्क दिया जा सकता है।[1]

स्वीकारात्मक विचार

उस प्रतिनिधि के कर्त्तव्य के सम्बन्ध मे, जिसका जनता ने प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचन किया है, आज यह व्यापक रूप म कहा जाता है, जैसा इस शब्द म प्रतिलक्षित होता है, वह उन लोगो का अधिवक्ता (Mouth-piece) मात्र है जिनकी ओर से वह बोलता है, उसे अपनी इच्छा की अपेक्षा अपने निर्वाचकों की इच्छा को ही, जब वह उसे स्पष्ट रूप से मालूम हो जाय, व्यक्त करना चाहिए अथवा उसे त्याग-पत्र देकर किमी दूसरे ऐसे व्यक्ति के लिए स्थान खाली कर देना चाहिए जो अधिक सच्चाई के साथ उनके भावों एव विचारो का प्रतिनिधित्व कर सके, अन्यथा वह जनता का प्रतिनिधि कैसे कहला सकता है और वह उनकी ओर से उसी तरह कैसे बोल सकता है, जैसे यदि वे उसके स्थान पर होते तो स्वय बोलते?

निषेधात्मक विचार

परन्तु जो इस विचार को स्वीकार करते हैं, वे उसकी सिद्धि के मार्ग मे, जो व्यावहारिक कठिनाइयाँ हैं, उन पर ध्यान नही देते। निर्वाचकों की इच्छा सदैव जानी नही जा सकती और न वह प्रतिनिधि पर प्रकट ही की जा सकती है, क्योकि ऐसे कोई साधन नहीं जिनसे उन अनेक कानूनो तथा योजनाओ के सम्बन्ध मे, जो व्यवस्थापक-मण्डल के सामने आते हैं, उनकी भावनाओ का सकलन किया जा सके। यह बात नही मानी जा सकती कि उसके निर्वाचन-क्षेत्र के स्थानिक दल की समिति (यही एक ऐसी सगठित सस्था है जो आदेश देने के योग्य है) का मत निर्वाचको का मत भी है। वास्तव म, लोकमत का ज्ञान प्रतिनिधि-प्रणाली की परीक्षात्मक प्रक्रिया द्वारा ही सम्भव है। कभी-कभी, जिसे लोकमत मान लिया जाता है वह, वास्तव मे,

---

१ सन् १६१३ के पहले जब सयुक्त राज्य के सीनेटर राज्य के व्यवस्थापक-मण्डलों द्वारा निर्वाचित होते थे, कभी-कभी राज्य के व्यवस्थापक-मण्डल आदेश देने के अधिकार का दावा करते थे और प्रयोग भी करते थे। इन आदेशों का कभी-कभी पालन होता था और कभी उनकी अवहेलना भी होती थी। (Burgess (Op Cit, Vol. II p. 50) आदेश देने के अधिकार को नहीं मानता। उसका कथन है कि प्रत्येक सीनेटर और प्रतिनिधि अपनी बुद्धि के [illegible] समस्त सयुक्त राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करता है और सयुक्त राज्य मे ऐसा [illegible] निर्वाचन क्षेत्र नही है जो किसी भी सदन मे अपने सदस्य पर नियन्त्रण की माँग [illegible] सकता है या उससे त्याग-पत्र माँग सकता है। Lieber (Political Et[illegible] Vol. II, p 361) ने भी इस सिद्धान्त को असंगत, असमर्थनीय तथा अवैधानिक [illegible] बताया है।

उत्तेजित जन-साधारण का क्षणिक भावावेश ही होता है, जनता का सुनिश्चित निर्णय नहीं।

परन्तु जहाँ प्रतिनिधि ने अपने निर्वाचन से पूर्व किसी कार्य को करने की प्रतिज्ञा की हो, वहाँ आदेश का पालन करने के कर्तव्य का प्रश्न कुछ सरल हो जाता है क्योंकि उस दशा में आदेश का पालन न करना विश्वासघात होगा जो कोई भी प्रतिनिधि नहीं कर सकता। किन्तु यह सार्वजनिक नीति का एक गम्भीर प्रश्न है कि क्या निर्वाचन-क्षेत्र को चुनाव में यह शर्त रखनी चाहिए कि उम्मीदवार उनके द्वारा व्यक्त किये हुए विचारों का पालन करेगा।[1]

क्या प्रजातान्त्रिक सिद्धान्त वास्तव में इस बात की आवश्यकता समझता है कि प्रतिनिधि को ऐसा कोई वचन देना चाहिए जिसे वह स्वयं उचित नहीं समझता—इस सम्बन्ध में लॉर्ड ब्राइस ने यह मत प्रकट किया है कि जो परिस्थितियाँ उसके निर्वाचन के समय थी, वे उसकी सदस्यता की अवधि की समाप्ति के पूर्व बदल सकती हैं और जो वचन उसने अपने चुनाव से पूर्व दिये, वह उन्हें कदापि न देता यदि उसे परिस्थितियों के परिवर्तन का पूर्व-ज्ञान होता।[2] इसके अतिरिक्त क्या उसे यह अधिकार नहीं है कि वह व्यवस्थापक-परिषद् के वाद-विवादों तथा अन्य साधनों से, जो वचन देते समय उपलब्ध नहीं थे, जो कुछ सीखे, उससे लाभ उठावे?

यह विचार ठीक हो सकता है कि प्रतिनिधि को अपने विचार और कार्य में पूर्ण स्वतन्त्रता हो, उस पर किसी प्रकार के आदेशों का बन्धन न हो; परन्तु उसे यह कदापि न समझना चाहिए कि निर्वाचकों के मत पर गम्भीरता के साथ विचार किये बिना उसकी अवहेलना की जा सकती है अथवा वह उन प्रतिज्ञाओं से बाध्य नहीं जो उसने चुनाव के समय की थी। स्पष्ट हो, जैसा हैरॉल्ड लास्की ने

---

१. जॉन स्टुअर्ट मिल की राय चुनाव से पूर्व दिये हुए वचनों के विरुद्ध है। उसका कथन है कि प्रतिनिधि से वचन कभी नहीं लेना चाहिए जब तक किसी कारण ऐसी स्थिति पैदा न हो जाय जिसमें उन्हें कोई अपना उम्मीदवार न मिले और किसी ऐसे व्यक्ति को चुनना पड़े जो विरोधी हितों के प्रभाव में मालूम होता हो। Representative Government, pp. 227-228. इसी विषय पर Lieber, Political Ethics, Vol. II, Bk. VI Ch. 3 भी देखिये। लॉर्ड ब्राउघम ने बतलाया है कि इंगलैण्ड में पहले प्रायः प्रतिनिधियों से वचन लिये जाते थे परन्तु कभी-कभी प्रतिनिधि वचन देने से इन्कार भी कर देते थे। सन् १८३२ में मेकॉले ने एक राजनीतिक समिति के सामने कहा था कि मैं किसी भी अवस्था में वचन नहीं दे सकता।

२. Modern Democracies, Vol. II, p. 352. प्रतिनिधि को किस समय त्याग-पत्र दे देना चाहिए, इस विषय में ब्राइस (वही, पृष्ठ ३५३) ने लिखा है: 'एक बात स्पष्ट है। जब प्रतिनिधि अपने दल की नीति को इतना नापसन्द करता हो कि उसकी इच्छा दूसरे दल में सम्मिलित हो जाने की होती हो तो उसका कर्तव्य है कि वह अपना पद तुरन्त त्याग दे। आजकल इंगलैण्ड में यही नियम है। इसी प्रकार यदि किसी महत्वपूर्ण विषय में, जिसका समर्थन करने के लिये वह चुना गया था, उसका मत इतना बदल जाय कि वह उसका समर्थन न कर सके, तो उसे त्यागपत्र दे देना चाहिए।

कहा है, वह स्वतन्त्र व्यापार के प्रश्न पर अपना निर्वाचन करा कर व्यवस्थापक-मण्डल मे सरक्षणात्मक आयात-निर्यात कर (Protective Tariff) के लिए मत नही दे सकता। जो प्रतिनिधि सच्चाई के साथ अपने निर्वाचन-क्षेत्र की इच्छा के प्रतिनिधित्व के लिए प्रयत्नशील है, वह उसकी भावनाओ की उपेक्षा नहीं करेगा; परन्तु जहाँ तक उसके सर्वश्रेष्ठ निर्णय तथा राष्ट्र के प्रति कर्तव्य-भावना के अनुकूल होगा, वह उन भावनाओ का आदर करेगा और उनके अनुसार कार्य करेगा। एडमण्ड बर्क ने भी यह स्वीकार किया कि 'प्रतिनिधि के लिए यह गौरव और आनन्द की बात है कि वह निर्वाचको के साथ घनिष्ठ सम्पर्क मे रहे, निस्संकोच पत्र-व्यवहार करे और 'उनकी इच्छाओ का उसकी दृष्टि मे यथेष्ठ मूल्य हो और उनके विचारो का महान् आदर।'

बर्गेस ने सत्य ही कहा है कि राज्य की चेतना के निर्माण में निर्वाचन-क्षेत्र के विचारो का अवश्य ही ध्यान रखना चाहिए, परन्तु व्यवस्थापन प्रतिनिधित्व की आधुनिक प्रणाली मे निर्वाचन प्रणाली मे निर्वाचन क्षेत्र की इच्छा का कोई स्थान नहीं है।[1] प्रतिनिधित्व का सार इसमे है कि जनता एक नियत अवधि के लिए अपनी सत्ता को त्याग कर अपने एक निर्वाचित प्रतिनिधि को सौंप दे और उसे शासन मे वह काम करना चाहिए कि यदि उसे इस प्रकार सत्ता नही दी जाती तो जनता स्वय ही करती। परन्तु यदि निर्वाचक प्रतिनिधि पर इतना नियन्त्रण रखें कि उसके द्वारा वे स्वय ही कार्य करने लगें तो यह प्रतिनिधित्व नही रहता। निर्वाचक अपने प्रतिनिधि के साथ पत्र व्यवहार कर सकते हैं, उसे अपने मत विचार और अपनी आवश्यकताएँ बतला सकते हैं, उसके सार्वजनिक आचरण के सम्बन्ध म अपना निर्णय दे सकते हैं; उस अपने आदेशो का पालन करने को कह सकते है और यह चेतावनी भी दे सकते हैं कि यदि उनकी अवज्ञा की गयी, तो वे उस पर विश्वास नही करेंगे और आगामी निर्वाचन म उसे अपना प्रतिनिधि नहीं चुनेंगे। परन्तु कार्य तो उसे करना है, उनको नही।[2]

---

१. Political Science and Constitutional Law, Vol. II, p. 116. कोलम्बिया विश्वविद्यालय के कुलपति बलटर के इस कथन से भी तुलना कीजिये। जनता का सच्चा प्रतिनिधि बिना विचारे अपने निर्वाचको की बात कहने वाला या चाटुकार नौकर नही होता जो प्रत्येक मत-परिवर्तन या आवेश के साथ अपना मार्ग बदलता रहे। वह उनकी अन्तरात्मा, उनकी अन्तर्दृष्टि तथा उनके निर्णय का, जिन्हे वह अपने दृढ निश्चय से मालूम कर सकता है, अधिवक्ता है।' True and False Democracy, p 17 उसने यह भी कहा है कि सयुक्त राज्य म प्रतिनिधि शासन के मौलिक सिद्धान्तो का नाश तभी आरम्भ हो गया जब 'दलीय काड की मार ने प्रतिनिधि का केवल एजेण्ट बना दिया, जब हमने प्रतिनिधि का आदेश देना शुरू कर दिया और जब हमने चुनाव के पहले मे प्रतिनिधि स कुछ काम करने और कुछ कामो का विरोध करने का वचन [illegible] आरम्भ कर दिया।' Why Should We Change Our Form of [illegible] p 18 तुलना भी कीजिये, Taft (Popular Govern-[illegible] सकता है जिसने बर्क के सिद्धान्त का समर्थन किया है। Laski (op. [illegible] II, बर्क का समर्थन किया है।

[illegible] या है [illegible]ution, Works, Vol. XI, pp. 35-37.

प्रतिनिधि के लिए निर्णय की स्वतन्त्रता

सामान्य स्थितियों में प्रतिनिधि उसके औसत निर्वाचकों की अपेक्षा अधिक बुद्धिमान होगा, उसे राजनीति तथा शासन का अनुभव भी होगा और उसका ज्ञान तथा योग्यता भी उच्चतम होगी, अत: उसके निर्णय का निर्वाचकों को सम्मान करना चाहिए।[1] प्रतिनिधि-प्रणाली इस कल्पना के आधार पर स्थिर है कि ऐसे प्रतिनिधि चुने जायेंगे, जिनको सार्वजनिक मामलों का औसत निर्वाचक की अपेक्षा अच्छा ज्ञान होगा और वह उनकी व्यवस्था करने में भी अधिक कार्यक्षम होगा। जैसा सिजविक ने कहा है, ऐसी परिस्थितियों में मतदाताओं का कार्य है, उनका चुनाव करना, उन्हें शासन-कार्य के सम्बन्ध में शिक्षा देना नहीं।[2] उसे उनके मतानुसार कार्य करने को विवश नहीं करना चाहिए जबकि विचार-विमर्श तथा तर्क से समर्थित उसका निर्णय उसके विपरीत हो। एक विद्वान् का मत है कि जन-साधारण कानून-निर्माण के सम्बन्ध में बुद्धिपूर्वक निर्णय करने के अयोग्य हैं। वे सार्वजनिक नीति-सम्बन्धी मोटे प्रश्नों के सम्बन्ध में बुद्धिमत्तापूर्वक अपने विचारों को प्रकट कर सकते हैं, परन्तु विस्तार की बातों में ऐसा नहीं कर सकते। इसका निष्कर्ष यही है कि यदि निर्वाचक अपने मतानुसार कार्य करने पर जोर देते हैं, तो यह बुद्धिमानी नहीं है।[3]

परन्तु, जैसा मिल का कथन है, लोकतन्त्र भक्ति-भावना के अनुकूल नहीं है। आधुनिक प्रजातन्त्रात्मक राज्यों में जनता में यह भावना परिव्याप्त है कि वे सार्वजनिक आवश्यकताओं के सम्बन्ध में विचार करने तथा निर्णय करने में उतनी ही योग्य हैं जितना उसके द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि। संक्षेप में, प्रत्येक देश में आज

---

१ मेकॉले ने सन् १८३२ में भाषण देते हुए कहा था—'प्रतिनिधि-प्रणाली की बड़ी खूबी यह है कि उसमें लोक-नियन्त्रण तथा श्रम-विभाजन दोनों के लाभ प्राप्त होते हैं। जिस प्रकार एक वैद्य एक साधारण आदमी की अपेक्षा औषधियों को अधिक समझता है और एक चमार साधारण मनुष्य की अपेक्षा जूते अधिक अच्छे बनाता है, उसी प्रकार वह व्यक्ति, जिसका जीवन राज्य के कार्य करते बीता है, एक साधारण व्यक्ति की अपेक्षा अधिक अच्छा राजनीतिज्ञ होता है। मेरा मत यह है कि निर्वाचकों को सावधानी के साथ निर्वाचन करना चाहिए और उसके बाद प्रतिनिधि पर पूरा विश्वास करना चाहिए तथा जब उसकी अवधि समाप्त हो जाती है तो उसके कार्य पर न्यायपूर्वक विचार करके निर्णय देना चाहिए।'

२. Elements of Politics, p. 558. तुलना भी कीजिये, Taft, Popular Government, p. 29.

३. तुलना कीजिये, Mill, Representative Government, Ch. 12. उसने लिखा है कि 'जब निर्वाचकों तथा प्रतिनिधि के निर्णयों में कोई मौलिक भेद न तो निर्वाचक को यह सोचना चाहिए कि जब एक योग्य व्यक्ति उनसे सहमत नहीं है तो सम्भव है वह (निर्वाचक) भूल कर रहा हो। यदि ऐसा न भी हो तो भी यह बात उसके लिए विचारणीय है कि जब एक योग्य व्यक्ति उन अनेकानेक मामलों में, जिनके विषय में वह कोई निर्णय नहीं कर सकता, उसकी ओर से काम कर रहा है तो ऐसे महान् लाभ के लिए अपनी राय को छोड़ देना क्या ठीक नहीं होगा।'

प्रतिनिधि के कार्य को उपर्युक्त दृष्टिकोण से नितान्त भिन्न दृष्टिकोण से देखने की प्रवृत्ति है। आधुनिक विचार के अनुसार उसका कार्य अपनी अन्तरात्मा, अपनी निर्णय-बुद्धि तथा अपने अध्ययन द्वारा सार्वजनिक हित की व्याख्या करना नहीं है, वरन् यथा-शक्य यह निश्चय करना है कि लोकमत क्या चाहता है, उसकी माँग क्या है और उसके अनुसार कार्य करना है, चाहे उसकी अन्तरात्मा एवं विवेक-बुद्धि इसे उचित समझे या अनुचित।

मुख्य पाठ्य-ग्रन्थ

Benoist,	"Crise de l'etat moderne," Ch. 3.
Bonn,	"The Crisis of European Democracy" (1925), Ch. 5
Bramhall,	"The National Economic Council of France," *Amer Pol. Sci. Rev.*, Vol. XX, pp. 623 ff.
Bryce,	"Modern Democracies" (1922), Vol. II, pp. 350 357.
Carre de Malberg,	"Theorie generale de l'etat" (1922), Vol. II, Ch. 2
Duguit,	"Traite de droit constitutionnel" (2nd ed., 1921), Vol II, secs. 45-46, also his article, "La representation syndicale au parlement," *Revue politique et parlementaire,* July, 1911.
Esmein,	"Elements de droit constitutionnel francais et compare" (7th ed.' 1921), Vol. I, pp 326 ff
Finer,	"Representative Government and a Parliament of Industry; A Study of the German Federal Economic Council" (1923), Pt. I, Ch 1, Pt II, Chs 4-8
Gilchrist,	"Principles of Political Science" (1921), pp 328-335
Humphreys,	"Proportional Representation" (1911).
Keith,	"Responsible Government in the Dominions" (1912), Vol I, Pt. III, Ch. 6
Laski,	"A Grammar of Politics" (1925), pp. 80-88, 311-327
Mill,	"Representative Government" (1861), Chs. 11 12
Overstreet,	"The Government of Tomorrow," *Forum*, July 1915, pp. 7 ff.
Reinsch,	"American Legislatures and Legislative Methods" (1907), Ch 7.
Sharp,	"Le probleme de la seconde chambre" (1922), Ch. 3.
Sidgwick,	"Elements of Politics" (1897), Ch. 20.

Siemens, "Germany's Business Parliaments," *Current History*, Sept. 1924, pp. 994 ff.

Williams, "The Reform of Political Representation" (1918).

Willoughby, "The Government of Modern States" (1919), Ch 13.

Willoughby and Rogers, "Introduction to the Problem of Government" (1911), Chs. 14-15.

———

कार्यपालक अंग

(1) संगठन के सिद्धान्त

कार्यपालक अंग का विस्तार

शासन का प्रथम विभाग है व्यवस्थापक-मण्डल। इसका विवेचन गत दो अध्यायों में किया जा चुका है। इसका दूसरा (और यदि कुछ लेखकों के समान निर्वाचक-गण को भी शासन का अंग मान लें तो तीसरा) महत्त्वपूर्ण विभाग अथवा अंग कार्यपालक-अंग (Executive Organ) है। व्यापक एवं सामूहिक अर्थ में कार्यपालक विभाग के अन्तर्गत वे समस्त अधिकारी, राजकीय कर्मचारी तथा एजेन्सियाँ आ जाती हैं, जिनका कार्य राज्य की इच्छा को जिसे व्यवस्थापक-मण्डल ने व्यक्त कर कानून का रूप दे दिया है, कार्यरूप में परिणत करना है। इस अर्थ में इसके अन्तर्गत राज्य-प्रमुख (राजा, सम्राट् या राष्ट्रपति) के अतिरिक्त मन्त्रि-मण्डल तथा वे समस्त कार्यपालक अधिकारी वर्ग तथा प्रशासक कर्मचारी वर्ग आते हैं, जिन्हें इंग्लैण्ड तथा संयुक्त राज्य में "सार्वजनिक सेवा" अर्थात् 'सिविल सर्विस" कहा जाता है। इस प्रकार व्यवस्थापक-मण्डल, न्यायपालिका और सम्भवतः राजदूतों को छोड़ कार्यपालक विभाग में समस्त शासन-संगठन आ जाता है। टैक्स वसूल करने वाले इन्स्पेक्टर, कमिश्नर, पुलिस और स्थायी सेना तथा नौसेना के अफसर कार्यपालक संगठन के ही अंग हैं।

शासन के कार्यों के सम्बन्ध में त्रिगुणात्मक सिद्धान्त के अनुसार न्यायाधीश भी इस वर्ग के अन्तर्गत आ सकते हैं, क्योंकि इस सिद्धान्त के अनुसार उनका कानून को स्पष्ट करने का कार्य वास्तव में कानून को कार्यान्वित करने की प्रक्रिया का ही एक पहलू है। किन्तु सामान्यतया जब हम "कार्यपालक" (Executive) शब्द का प्रयोग करते हैं तो इससे तात्पर्य राज्य के प्रमुख तथा उसके सलाहकार एवं मन्त्रियों से या, जैसे स्विट्ज़रलैण्ड में, एक 'परिषद्' से, जो इन कार्यों का सम्पादन करती है, जिन्हें दूसरे देशों में एक व्यक्ति करता है, या जैसे अमेरिका के राज्यों में, गवर्नर तथा मुख्य निर्वाचित अधिकारियों से, जो उसके साथ कार्यपालक सत्ता में हाथ बँटाते हैं होता है।[1]

जैसा गत अध्याय में बतलाया जा चुका है, कुछ लेखकों ने कार्यपालक (Executive) तथा प्रशासन (Administration) के कार्यों में भेद माना है और वे

१. अमेरिकन यूनियन के कुछ राज्यों में (उदाहरणार्थ, इलिनाय में) विधान ने गवर्नर को 'प्रमुख' बतलाया है, परन्तु कार्यपालक विभाग में गवर्नर तथा अन्य निर्वाचित राज्य-अधिकारी शामिल हैं।

शासन के कार्यपालक विभाग तथा प्रशासन विभाग में भी भेद मानते हैं।[1] परन्तु मार्लबर्ग जैसे अन्य लेखक कार्यपालक तथा प्रशासनात्मक कार्यों में सारभूत भेदों को स्वीकार करते हुए भी कार्यपालक अंग से भिन्न प्रशासनात्मक अंग के अस्तित्व को नहीं मानते और वास्तव में यह उचित ही है क्योंकि ऐसा कोई भी शासन नहीं है, जिसमें इस प्रकार दो सर्वथा विभिन्न विभाग हों।

कार्यपालक विभाग का एकात्मक लक्षण

कार्यपालिका का कार्य सारत. व्यवस्थापन-कार्य से भिन्न है अतः उसका संगठन उन सिद्धान्तों से भिन्न सिद्धान्तों पर होना चाहिए जिनके आधार पर व्यवस्थापिका का संगठन किया जाता है। व्यवस्थापक-मण्डल में सदस्य-संख्या आवश्यक रूप से अधिक होनी चाहिए, अर्थात् उसे जनता के समय-समय पर निर्वाचित प्रतिनिधियों की सभा होनी चाहिए। व्यवस्थापक-मण्डल का कार्य है विचार-विमर्श, समाज की साधारण आवश्यकताओं पर विचार तथा राजकीय कर्मचारी वर्ग एवं नागरिकों के व्यवहार के लिए नियमों का निर्माण।[2] कार्यपालिका का काम प्रधानतः विचार करना नहीं वरन् व्यवस्थापक-मण्डल तथा विधान-सभा द्वारा अभिव्यक्त तथा न्यायपालिका द्वारा स्पष्ट की हुई राज्य की इच्छा को कार्यान्वित करना है। इस प्रकार के कार्य-सम्पादन में कार्यकुशलता के लिए शीघ्रता के साथ निर्णय प्रयोजन की एकता और कभी-कभी कार्यवाही की गोपनीयता परम आवश्यक होती है। न्यायाधीश स्टोरी ने लिखा है कि सामान्यतया वह संगठन सबसे उत्कृष्ट है जो कार्यपालिका में तुरन्त ही शक्ति का संचार कर सके और जनता को सुरक्षा दे सके।[3] अत. इसके लिए विविध विचारों के सदस्यों से निर्मित एक विशाल परिषद् की अपेक्षा एक व्यक्ति अथवा कुछ व्यक्तियों की समिति ही अधिक योग्य होगी। कार्यपालिका सत्ता को अनेक समान अधिकारियों के बीच विभक्त कर देने से वह आवश्यक रूप से निर्बल हो जायगी, विशेषकर संकट के समय जब राज्य के जीवन की रक्षा के लिए निर्णय और कार्य में शीघ्रता होनी चाहिए।[4]

राजनीतिज्ञों एवं राजनीतिक लेखकों में भी इस सम्बन्ध में मतैक्य है कि कार्यपालक विभाग के संगठन में एकता के सिद्धान्त की आवश्यकता है। एलेक्जेण्डर हैमिल्टन से बढ़कर योग्यतापूर्वक किसी ने भी इस मत का प्रतिपादन नहीं किया है। उसने लिखा है कि 'कार्यपालिका' में ओज या शक्ति श्रेष्ठ शासन की परिभाषा में एक प्रमुख विशिष्टता है। बाहरी आक्रमण से समाज की रक्षा के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है; कानूनों पर अमल कराने के लिए, आततायियों तथा अन्यायियों के संगठनों से, जो कभी-कभी न्याय की प्रक्रिया में बाधा डालते हैं, सम्पत्ति की रक्षा के लिए और उच्चाकांक्षियों, अराजकतावादियों तथा अत्याचारियों से नागरिक स्वाधीनता की रक्षा के लिए भी यह कम आवश्यक नहीं है।"[5]

१. उदाहरणार्थ, Willoughby, The Government of Modern States, Ch. 16.
२. तुलना कीजिये, Sidgwick, Elements of Politics, p. 413.
३. Commentaries, Vol. II, Sec. 1417; तुलना भी कीजिये, Woolsey, Political Science, Vol. II, p. 270 तथा Kent, Commentaries, Vol. I, lect. XIII, Sec. 1.
४. तुलना कीजिये, Sidgwick, op. cit., p 410.
५. The Federalist, No. 69.

न्यायाधीश स्टोरी ने लिखा है कि 'सबसे प्रसिद्ध राजनीतिज्ञों ने सर्वसम्मति से इस सिद्धान्त को स्वीकार किया है कि कार्यपालिका एक मत हो और व्यवस्थापिका बहुसंख्यक। उन्होंने शक्ति को कार्यपालिका सत्ता की सबसे आवश्यक योग्यता मानी है और शक्ति एक व्यक्ति को सौंप देने से ही सर्वोत्तम रीति से प्राप्त होती है।'[1] कार्यपालिका के संगठन में अनेकता होने से दोषों को छिपाने की प्रवृत्ति पैदा होती है और दायित्व का विनाश होता है।[2] मिल का मत है कि ऐसी व्यवस्था में दायित्व केवल नाममात्र का ही होता है। "बोर्ड" (समिति) जो कुछ भी करता है, वह किसी का भी कार्य नहीं होता और उसके लिए कोई भी उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। जहाँ अनेक व्यक्ति उत्तरदायी होते हैं वहाँ लोग एक-दूसरे पर दायित्व थोप देते हैं और इस प्रकार कार्यपालिका में प्रेरक शक्ति की हानि होती है और लोकमत के नियन्त्रण के लाभ नष्ट हो जाते हैं।

बहुसंख्यक कार्यपालिकाओं के उदाहरण

इतिहास में हमें बहुसंख्यक कार्यपालिकाओं के उदाहरण मिलते हैं; परन्तु उनमें से अधिकांश क्षणभंगुर थी प्राचीन काल में एथेन्स में कार्यपालिका सत्ता अनेक अधिकारियों में विभाजित थी, और वे सब एक दूसरे से स्वतन्त्र थे। रोमन विधान में एक ही समय में दो कौन्सल (Consuls) होते थे जिन्हें कार्यपालिका सत्ता का एक भाग नहीं वरन पूर्ण सत्ता प्राप्त थी और उनमें से कोई भी दूसरे कार्य को निषिद्ध ठहरा सकता था। पूर्व समय में स्पार्टा में दो राजा रहते थे और उनके अधीनस्थ पदों के संगठन में भी इसी सिद्धान्त का प्रयोग किया जाता था।[3] फ्रान्स में क्रान्ति के बाद कई विधानों के अन्तर्गत बहुसंख्यक कार्यपालिका का प्रयोग किया गया। सन् १७९५ के विधान के अनुसार कार्यपालिका सत्ता पाँच व्यक्तियों की एक समिति (Directory) में निहित थी, परन्तु उसके परिणाम बड़े असन्तोषप्रद हुए।[4]

वर्तमान समय में समस्त राज्यों में, केवल एक राज्य (स्विट्जरलैण्ड) को छोड़

---

१. Commentaries, secs 1419, 1424; Mill, Representative Government, Ch. 14.

२. De Lolme, Constitution of England, Bk II, Ch. 2.

३. Woolsey, Political Science, Vol II, p. 269. Hamilton (The Federalist, No. 69) ने कहा है कि दूसरे राष्ट्रों के अनुभव से इस सम्बन्ध में बहुत कम शिक्षा प्राप्त होती है किन्तु जो कुछ भी प्राप्त होती है, वह यही बताता है कि बहुसंख्यक कार्यपालिका का मोह ठीक नहीं है। एकियन लोगों को दो के प्रयोग के बाद उसका त्याग करना पड़ा। रोम के इतिहास से प्रकट है कि कान्सलों तथा बाद में उनके स्थानापन्न सैनिक ट्रिब्यूनों के झगड़ों से रोमन गणतन्त्र को बड़ी हानियाँ सहनी पड़ीं।

४. Esmein, Droit Const, p. 473. St. Girous (La Separation des pouvoirs p. 263) ने कहा है कि डाइरेक्टरी का शासन दुःखप्रद था। वह कभी निर्बल हो जाता था, कभी प्रचण्ड। कार्यपालिका सत्ता की निर्बलता के कारण एक अनुत्तरदायी तथा दुर्दान्त व्यवस्थापक-मण्डल की स्थापना हुई। कार्यपालिका का इस प्रकार का संगठन जनता को अधिनायक तन्त्र से प्रेम करना सिखाने का सबसे अच्छा साधन है।

कार्यपालिका का संगठन एकात्मक सिद्धान्त के आधार पर है।[1] स्विट्जरलैण्ड में कार्यपालिका सत्ता सात व्यक्तियों की एक परिषद् में निहित है। इनमें से एक की उपाधि राज्यमण्डल का प्रेसिडेण्ट है। वह राजकीय समारोहों में राज्य प्रमुख की तरह कार्य करता है परन्तु वास्तव में वह 'परिषद्' का सभापतिमात्र होता है और उसे अपने सहयोगियों से कुछ भी अधिक सत्ता नहीं है। 'स्विटजलैण्ड में स्विस जनता की विशिष्ट आदतों एवं परम्पराओं के कारण तथा स्थानीय अनुभव द्वारा इसके लिए पहले से ही तैयारी रहने के कारण इस प्रणाली के व्यवहार में अन्य देशों की अपेक्षा कम कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है। यह प्रणाली दीर्घ काल से स्विट्जलैण्ड के प्रान्तों या प्रदेशों में प्रचलित थी और इस कारण जब उसकी प्रतिष्ठा सन् १८४८ में राज्यमण्डल के विधान में की गयी तब तक वह प्रयोग की अवस्था में से निकल चुकी थी।[2]

सासद शासन-प्रणाली के अन्तर्गत कार्यपालिका सत्ता का सगठन

स्विट्जरलैण्ड ही एकमात्र ऐसा स्वतन्त्र राज्य है जिसमें दोनों प्रकार की कार्यपालिका सत्ता—नाममात्र की तथा वास्तविक—एक परिषद् को सौंपी गयी है, परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि जिन देशों में सासद (पार्लामेण्टरी) शासन-प्रणाली प्रतिष्ठित है, उनमें कार्यपालिका सत्ता का वास्तविक प्रयोग मन्त्रि-परिषद् द्वारा किया जाता है। सक्षेप में, यदि हम नाममात्र की कार्यपालिका सत्ता (राजा या राष्ट्रपति) पर विचार न करें, उनमें कार्यपालक विभाग 'परिषद्' सिद्धान्त पर सगठित होते हैं। यह भी उल्लेखनीय है कि जर्मन राज्यों में मुख्यतः प्रशा, बेवेरिया, बोदेन, वर्टेमबर्ग आदि में नाममात्र की कार्यपालिका को हटा कर शासन-सत्ता मन्त्रियों को सौंप दी गई है। उनमें से अधिकांश में व्यवस्थापक-परिषदें (Landtag) एक मन्त्रि सभापति

---

१. Esmein का कथन है कि फ्रान्स में कुछ लोग सन् १८७१ में बहुसंख्यक कार्यपालिका की स्थापना करना चाहते थे। उनका तर्क यह था कि इस-प्रकार की कार्यपालिका अनियन्त्रित सत्ता के विरुद्ध सबसे अच्छी गारण्टी है क्योंकि इससे अकेले हौसलेवर और अविवेकी कार्यपालक के कार्यों के ऊपर अधिक प्रभावशाली रुकावट लग सकती है। Droit Const., p. 472.

२. Lowell, Government and Parties in Europe, Vol. II, pp. 196-208; Bryce, Modern Democracies, Vol. I, p, 351. ब्राइस ने लिखा है कि स्विट्जरलैण्ड की संघीय परिषद् (Federal Council) की वैधानिक स्थिति तथा उसके कार्य की दृष्टि से स्विस-प्रणाली अत्यन्त सफल संस्था मानी गयी है क्योंकि इससे तीन महान् लाभ प्राप्त हैं—एक निर्दलीय संस्था जो व्यवस्थापक-मण्डल पर प्रभाव डाल सकती है और कठिनाइयों की अवस्था में सामंजस्य स्थापित कर सकती है, इससे देश के प्रशासन-कार्य की सर्वोत्तम योग्यता वाले व्यक्ति राष्ट्र की सेवा की ओर आकर्षित होते हैं और उनकी सेवा राष्ट्र को प्राप्त भी होती है और इससे नीति में क्रम बना रहता है तथा परम्पराएं बन सकती हैं। एक स्विस लेखक Fazy (Legislation Constitutionelle, p. 119) का कथन है कि कार्यपालिका सत्ता की एकात्मकता स्वतन्त्रता के लिए खतरनाक है; दक्षिणी अमेरिका के राज्यों के लम्बे इतिहास से इसका प्रमाण मिलता है।

(Minister-President) का निर्वाचन करती है, जिसका पद स्विस राज्यमण्डल के राष्ट्रपति के समान है और वह अपने मन्त्रियों को चुनता है। बादेन में लेण्डटाग अपने समस्त मन्त्रियों को चुनती है और इस प्रकार वहाँ की प्रणाली स्विस प्रणाली से मिलती है। सन् १६१६ में स्वतन्त्र समाजवादियों ने जर्मन-साम्राज्य के लिए भी इसी प्रकार की कार्यपालिका का समर्थन किया था।

हैमिल्टन, स्टोरी तथा मिल ने जो कुछ भी बहुसंख्यक कार्यपालिका के विरुद्ध कहा है, वह मन्त्रि-परिषद् सरकारों के सम्बन्ध में भी लागू होता है, परन्तु अनुभव से उनकी आलोचना का औचित्य सिद्ध नहीं होता। यह तथ्य कि मन्त्रि-परिषद्-शासन प्रणाली का विस्तार संसार भर में होता रहा है, इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि व्यवहार में बहुसंख्यक कार्यपालिका (Plural Executive) में वे दोष पैदा नहीं होते जिनका लेखकों ने उल्लेख किया है। यहाँ यह भी उल्लेख कर देना उचित होगा कि स्थानीय शासनों के संगठनों में बहुसंख्यक कार्यपालिका का प्रचार कम नहीं है। अमेरिका के नगरों में कमिशन के रूप में जो नगर-शासन की स्थापना की गयी है, वह इसका एक महत्वपूर्ण उदाहरण है। जैसा ऊपर बतलाया जा चुका है, स्विट्ज़रलैण्ड के कैण्टनों की कार्यपालिकाएँ परिषद्-सिद्धान्त पर संगठित हैं।

बहुसंख्यक कार्यपालिका के लाभ

बहुसंख्यक कार्यपालिका के पक्ष में यह तर्क दिया जाता है कि इससे कार्यपालिका की ओर से अपनी सत्ताओं का दुरुपयोग एवं अत्याचार तथा व्यवस्थापक-मण्डल और नागरिकों की स्वाधीनता पर आक्रमण का डर कठिन हो जाता है। यही कारण है कि स्विट्ज़रलैण्ड में यह प्रणाली स्थापित की गयी और आज पर्यन्त वहाँ इसका प्रयोग जारी है। यही कारण है कि कार्यपालिका के उन विभागों पर एक 'परिषद्' का नियन्त्रण रखा जाता है जिनमें सत्ता के दुरुपयोग के लिए अधिक प्रलोभन है और उसकी अधिक सम्भावना है।

इस सिद्धान्त पर आधारित कार्यपालिका कोई ऐसी सुगमता से योजना नहीं बना सकती और न उसे कार्यान्वित ही कर सकती है, जिससे सहसा बलपूर्वक शासन में परिवर्तन (Coup d' etat) किया जा सके और न वह किसी अन्य विभाग के कार्यों में हस्तक्षेप ही कर सकती है, जैसे एक शासक कर सकता है, जिस पर किसी परिषद् का नियन्त्रण नहीं होता और जिसका विरोध करने वाले ऐसे साथी नहीं होते जो उसके दायित्व में हाथ बँटाते हों।[१] अन्त में, कुछ विद्वानों का यह भी मत है कि जो कार्यपालिका अनेकता के सिद्धान्त पर आधारित है, वह शक्ति तथा एकता के लाभों से वंचित होते हुए भी उस कार्यपालिका से अधिक उच्च योग्यता एवं बुद्धिमत्ता से युक्त होती है, जिसमें सत्ता केवल एक व्यक्ति में निहित होती है। कार्यपालिका सत्ता का कार्य केवल व्यवस्थापक-मण्डल के आदेशों का पालन करना ही नहीं

---

१ Story, Commentaries, Vol II, Sec. 1417. Milton (Ready and Easy Way to Establish a Free Commonwealth) का भी यही मत है। इसी कारण से लॉक तथा ह्यूम ने भी बहुसंख्यक कार्यपालिका का समर्थन किया है। Locke, Fundamental Constitution for the Carolinas, Hume, Essays, Vol. I, p. 526 आलोचना के लिए देखिये, Kent, Commentaries, 12th ed., Vol I, p. 283 तथा Adams, Defense of the American Constitutions, No. 54.

है, वह प्राय: रचनात्मक नीतियों का निर्माण करती है, उसमें निर्देशन की महत्वपूर्ण सत्ताएँ भी होती है, जिसके लिए व्यापक विवेक एवं निर्णय-शक्ति अपेक्षित है। ये कार्य ऐसे है जिन्हें एक व्यक्ति की अपेक्षा एक समिति अधिक बुद्धिमानी के साथ कर सकती है।

कार्यपालिका-परिषद्

कभी-कभी कार्यपालिका सत्ता की एकता, व्यवहार मे उसे ऊपर से देखने मे एक व्यक्ति को सौंप देने परन्तु वास्तव मे उसे प्रमुख कार्यपालक (Chief Executive) तथा एक समिति के बीच, जो उसे परामर्श देती है तथा उस पर नियन्त्रण करती है विभाजन करने से नष्ट या निर्बल हो जाती है। अमेरिका के राज्यों के पूर्व विधानों मे कार्यपालिका एक बडी मात्रा मे इसी प्रकार की समिति के अधीन रखी गयी थी और वास्तव म दो राज्यो, पेनसिलवेनिया तथा वरमॉण्ट, मे तो कार्यपालिका सत्ता एक 'बोर्ड' में निहित थी।[1]

जिस परिषद् ने संयुक्त राज्य अमेरिका के विधान का निर्माण किया, उसमें राष्ट्रपति के साथ इसी प्रकार की कार्यपालिका-परिषद् (Executive Council) की व्यवस्था के लिए भारी किन्तु असफल प्रयास किया गया था। पुराने जर्मन राज्य मे संघीय परिषद् (Federal Council) के हाथों मे सम्राट् के साथ-साथ महत्वपूर्ण कार्यपालिका सत्ता थी, यहाँ तक कि वास्तव में कुछ जर्मन-लेखक इस समिति को वास्तविक कार्यपालिका सत्ता और सम्राट को उसका एजेण्टमात्र मानते थे।[2] इसी प्रकार ग्रेट ब्रिटेन मे भी कार्यपालिका के अनेक कार्य, विशेषत. वे आदेश जो 'आर्डर-इन कौंसिल' कहलाते हैं, उस समय तक वैध नहीं माने जाते जब तक प्रिवी कौंसिल उन पर स्वीकृति न दे दे, यद्यपि यह स्वीकृति केवल एक प्रकार से परिपाटी का पालन ही है।[3] फ्रान्स के गणतन्त्र के राष्ट्रपति के लिए अनेक मामलों मे, विशेषकर अध्यादेश जारी करने मे, राज्य-परिषद् (Council of State) से परामर्श करना आवश्यक

---

१. देखिये, Annals of the American Academy of Political and Social Science, Vol. IV, p. 27 मे W. C. Morey, Revolutionary State Constitutions तथा W. C. Webster, State Constitutions of the Revolution (उपर्युक्त की नवी जिल्द मे) Hamilton (the Federalist, No 70) ने कहा है कि 'राज्य-प्रमुख के साथ एक परिषद् रखने का विचार गणतन्त्रीय ईर्ष्या पर आधारित उस सिद्धान्त का परिणाम है जिसके अनुसार सत्ता एक व्यक्ति की अपेक्षा अनेक व्यक्तियों के हाथों मे सुरक्षित समझी जाती है। परन्तु इस लाभ के साथ उसकी हानियाँ बहुत अधिक हैं। मैं इस मत से सहमत हूँ कि यदि कार्यपालिका सत्ता एक व्यक्ति के हाथों मे हो तो वह अधिक सरलता से मर्यादित की जा सकती है। यदि जनता की सतर्कता और ईर्ष्या का लक्ष्य एक ही व्यक्ति हो तो यह अधिक अच्छा है। एक अधिकारी के साथ, केवल जिसके ऊपर ही दायित्व है, जो परिषद् होगी, वह उसके अच्छे इरादों पर रुकावट ही लगायगी। वह प्राय: उसके बुरे कामों मे साधनरूप और सहायक होती है और सदा ही उसके दोषों पर आवरण डालने का काम करती है।

२. तुलना कीजिये, Goodnow, Comparative Administrative Law, Vol. I, p 116.

३. Todd, Parliamentary Government, Vol. II, p. 80

है ; परन्तु फ्रेंच भावना कार्यपालिका सत्ता को विभक्त करने की इतनी विरोधी है कि राष्ट्रपति के लिए राज्य-परिषद् के परामर्श के अनुसार कार्य करना अनिवार्य नहीं रखा गया। फ्रान्स में इस प्रकार की लोकोक्ति प्रचलित है कि 'कार्य करना एक का काम है और विचार करना अनेकों का।' यद्यपि परामर्श के मूल्य को वे भलीभाँति समझते हैं; तथापि वे कार्यपालिका पर नियन्त्रण रखने के लिए दायित्व के लाभों को छोड़ने को तैयार नहीं हैं।[1]

टॉकविल ने कहा है कि 'संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति को संघ की कार्यपालिका सत्ता का एकमात्र प्रतिनिधि बनाया गया और इस बात का पूरा विचार रखा गया कि उसका निर्णय समिति के मत पर निर्भर न रहे। यह एक बड़ी भयानक व्यवस्था है जो शासन-कार्य में विघ्न उपस्थित करने के साथ-साथ उसके दायित्व को भी कम करती है। अमेरिकन सीनेट को राष्ट्रपति के कुछ कार्यों को रद्द करने का अधिकार है, परन्तु वह उसे किसी कार्य को करने के लिए बाध्य नहीं कर सकती है। अमेरिकन लोग व्यवस्थापिकाओं की शासन पर अपना अधिकार जमा लेने की प्रवृत्ति को निष्फल करने में सफल तो नहीं हुए हैं, परन्तु उन्होंने इस प्रवृत्ति को कम दुर्निवार कर दिया है।'[2]

कार्यपालिका के परामर्श के लिए एक परामर्शदात्री समिति की स्थापना के विरुद्ध कोई आपत्ति नहीं हो सकती। इससे तो कार्यपालक विभाग अधिक शक्तिशाली एवं बुद्धिमान् बनना चाहिए। मिल ने ठीक ही कहा है कि मनुष्य उस समय तक ठीक निर्णय नहीं करता, जब तक वह केवल अपने ज्ञान या दूसरे किसी एक परामर्शदाता के ज्ञान का ही प्रयोग करता है। प्रशासन का कार्य प्रायः महा कठिन और पेचीदा होता है और उसके यथोचित रीति से सम्पादन के लिए विशिष्ट ज्ञान की अपेक्षा केवल उन्हें ही नहीं होती जो वास्तव में उन कार्यों को करते हैं, प्रत्युत प्रायः उस प्रमुख को भी होती है जो शासन-सूत्र का सचालन करता है। इस प्रकार का ज्ञान उसे बहुत कम होता है, अतः उसके लिए ऐसे ज्ञान से युक्त कुछ व्यक्तियों की एक परामर्शदात्री समिति की नियुक्ति के लाभ स्पष्ट हैं। परन्तु अधिकांश मामलों में अन्तिम निर्णय राज्य-प्रमुख का ही होना चाहिए और दायित्व भी उसी का होना चाहिए। मिल ने कहा है कि एक व्यक्ति को प्रभावकारी सत्ता तथा पूर्ण दायित्व दे देना और जब आवश्यक हो, उसे ऐसे सलाहकारों के परामर्श की सुविधा दे देना, जिनमें से प्रत्येक अपनी सलाह के लिए उत्तरदायी हो, सरल है।[3]

(२) राज्य-प्रमुख (प्रमुख कार्यपालक) के निर्वाचन की रीति

प्रचलित रीतियाँ

राज्य-प्रमुख (Chief Executive) की नियुक्ति की चार प्रणालियाँ प्रचलित हैं—प्रथम, पैतृक सिद्धान्त, द्वितीय, जनता द्वारा प्रत्यक्ष निर्वाचन ; तृतीय, परोक्ष निर्वाचन जिसमें निर्वाचक या तो लोक-निर्वाचित हों या शासन के किसी भाग द्वारा निर्वाचित ; चतुर्थ व्यवस्थापिका द्वारा निर्वाचन।

---

१. तुलना कीजिये, Comparative Administrative Law, Vol. I, pp 86, 112

२. Op. Cit., Vol I, pp. 125-126.

३ Op Cit., p. 244.

आज योरोप के समस्त एकतन्त्र राज्यों में नाममात्र का राज्यप्रमुख परम्परागत है जो किसी विशेष राज्य-परिवार अथवा राजवंश का होता है, यद्यपि जैसा पूर्व खण्ड में बतलाया जा चुका है, पूर्व समय में राज्य-प्रमुख का चुनाव भी होता था और ग्रेट ब्रिटेन में आज भी कानूनी सिद्धान्त के अनुसार राजा निर्वाचित माना जाता है। लोक-शासन के उदय से पूर्व नियुक्ति की यह प्रणाली प्रायः सार्वभौम थी और आज भी दुनिया के एक बड़े भाग में प्रचलित है। परन्तु इसे लोग सहन ही करते हैं, पसन्द नहीं करते। यह ऐतिहासिक विकास का परिणाम है, जानबूझ कर जारी की हुई प्रणाली नहीं। भविष्य में वर्तमान राज्यों के पुनर्संगठन या नये राज्यों की स्थापना द्वारा इस सिद्धान्त का विस्तार होगा, इस बात में सन्देह है।[1]

राज्य-शासन में पैतृक राज्य-प्रमुख का मूल्यांकन बेजहॉट तथा टॉड जैसे आंग्ल लेखकों ने किया है।[2] बेजहॉट ने एकतन्त्र के समर्थन में लिखा है कि जनता में उस कार्यपालिका के प्रति श्रद्धा नहीं होती जिसके निर्माण में वह प्रति छठे वर्ष सहायता करती है। पैतृक शासक शासन के प्रति प्रजा का प्रेम एवं उसकी राजभक्ति प्राप्त करने में अधिक प्रभावशाली होता है। पैतृक सिद्धान्त के लाभ, जिन्हें वे लोग भी भलीभाँति जानते हैं जो नवीन संसार के पूर्वग्रहों के प्रभाव में हैं ये हैं, सर्वप्रथम, इससे शासन के प्रति जनता के हृदय में आदर-भाव पैदा होता है और कानून-पालन के लिए तत्परता का प्रादुर्भाव होता है, जो उस समय तक प्राप्त नहीं हो सकती जब तक राजनीतिक समाज ऐसी मात्रा में पूर्णता प्राप्त न कर ले जो आज तक प्राप्त की हुई मात्रा से कहीं अधिक हो।[3]

---

१. Burgess (Political Science and Constitutional Law, Vol. II, p. 308) ने कहा है कि विशुद्ध वैज्ञानिक दृष्टिकोण से इस विषय पर विचार करने पर मुझे मालूम होता है कि एक प्रजातान्त्रिक राज्य, अपने सिद्धान्त को हानि किये बिना ऐसा शासन स्थापित कर सकता है जिसमें कार्यपालिका सत्ता वंश-परम्परा के सिद्धान्त के अनुसार धारण की जा सके। यह ठीक है कि प्रजातान्त्रिक राज्य में ऐसे राज्य-प्रमुख को हम सबसे अधिक स्वाभाविक नहीं मान सकते, इसके लिए असाधारण परिस्थिति और कठिन शर्तों के पालन की आवश्यकता है, अर्थात् ऐसा कोई राजवंश हो जो उस क्रान्ति से बहुत पहले का हो जिसके फलस्वरूप शासन एकतन्त्रीय या कुलीनतन्त्रीय से बदल कर प्रजातन्त्रीय बना है, जिसने अपने आपको क्रान्ति की भावना के अनुकूल बना लिया हो और जिसका प्रभाव जनता पर बना हुआ हो।

२ Bagehot, The English Constitution, Ch. 3 ; Todd, Parliamentary Government, Vol. I, Ch. 4.

१. Op. Cit., Vol. II, p 309. Tocqueville (Democracy in America translation by Reeves, Vol. I, p. 133) ने लिखा है कि 'पैतृक राजतन्त्रों से बड़ा लाभ यह है कि उसमें एक वंश के निजी हित सदा राज्य के हितों से जुड़े रहते हैं और इस कारण शासन एक क्षण के लिए भी स्थगित नहीं होता और यदि राजतन्त्र में कार्य गणतन्त्र से अच्छा नहीं होता तो भी वहाँ कोई न कोई अपनी योग्यता के अनुसार उसे अच्छी तरह या बुरी तरह करने के लिए सदा रहता है। जिन राज्यों में राज्य-प्रमुख का निर्वाचन होता है, वहाँ

इस प्रणाली के समर्थन में सब कुछ कहने के उपरान्त भी अनुभव इसके विरुद्ध है। यह केवल अतीत का अवशेषमात्र ही है और भविष्य में राजनीतिक विकास की प्रक्रिया में इसका विलीन हो जाना निश्चय है।

प्रत्यक्ष लोक-निर्वाचन

इस पैतृक सिद्धान्त से बिलकुल विपरीत दूसरा सिद्धान्त है—जनता द्वारा राज्य-प्रमुख का प्रत्यक्ष निर्वाचन। आजकल दक्षिणी अमेरिका के राज्यों, जैसे बोलिविया, चिली, मेक्सिको, ब्राजील और पेरू में राज्य-प्रमुखों का प्रत्यक्ष निर्वाचन होता होता है।[1] संयुक्त राज्य अमेरिका के अन्तर्गत राज्यों में स्थानीय राज्य-प्रमुखों तथा स्विटजरलैण्ड के फोवर्न और वेलेस को छोड़ शेष समस्त प्रान्तों (Cantons) की भी स्थानीय कार्यपालिकाओं का चुनाव प्रत्यक्ष रीति से होता है। संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति का चुनाव अप्रत्यक्ष रीति से होता है, परन्तु निर्वाचन प्रणाली में रूपान्तर हो जाने के कारण यह एक प्रकार से प्रत्यक्ष चुनाव ही हो गया है। प्रथम विश्व-युद्ध के पश्चात् योरोप में जो नवीन गणतन्त्र (Republics) स्थापित हुए उनमें केवल जर्मनी ने ही प्रत्यक्ष निर्वाचन की व्यवस्था को स्वीकार किया।[2] सन् १८४८ के फ्रेन्च विधान के अन्तर्गत राष्ट्रपति का निर्वाचन प्रत्यक्ष रीति से जनता द्वारा होता था, परन्तु जब इस प्रणाली का दुरुपयोग कर नेपोलियन तृतीय ने गणतन्त्र को एक साम्राज्य में तथा राष्ट्रपति को एक सम्राट् के रूप में परिवर्तित कर दिया, तो सन् १८७१ में इसका परित्याग कर दिया गया। आज फ्रान्स में लोक-भावना राष्ट्रपति के लोक-निर्वाचन के पक्ष में बिलकुल नहीं है।

लोक-निर्वाचन के लाभ इस प्रकार हैं—यह लोक-शासन के आधुनिक विचार के अधिक स्पष्ट रीति से अनुकूल है; इससे सार्वजनिक मामलों में दिलचस्पी पैदा होती है, जनता के राजनीतिक शिक्षण के लिए एक साधन मिलता है और जनता एक ऐसे राज्य-प्रमुख का चुनाव कर सकती है, जिसकी योग्यता एवं जिसके चरित्र में उसका विश्वास होता है और जिसके प्रति वह (राज्य-प्रमुख या राष्ट्रपति) कम से कम

निर्वाचन के निकट आने पर, बल्कि उसके कुछ पहले ही शासन-यन्त्र मानो अपने आप ही बन्द हो जाता है।

१. ब्राजील के विधान के निर्माण के समय विधान-सभा में राष्ट्रपति की नियुक्ति की प्रणाली पर बड़ा विवाद हुआ था। प्रत्यक्ष लोक-निर्वाचन, परोक्ष निर्वाचन काँग्रेस द्वारा निर्वाचन—इन तीनों प्रणालियों पर विवाद होता रहा और कोई ६०० से अधिक प्रस्ताव प्रस्तुत हुए। अन्त में, प्रत्यक्ष लोक निर्वाचन की विधि स्वीकृत हुई, परन्तु इस प्रणाली को वास्तव में विधान-सभा के बहुमत ने स्वीकार किया था, इसमें सन्देह है। James, Constitutional System of Brazil, pp 84 85.

२. वाइमर-सभा में राष्ट्रपति की नियुक्ति के विषय पर होने वाले वाद-विवाद में सोशल डेमाक्रेट दल ने प्रत्यक्ष लोक-निर्वाचन की प्रणाली का यह कह कर विरोध किया था कि यह प्रणाली केवल देखने में ही गणतन्त्रीय है, वास्तव में यह गणतन्त्रीय की अपेक्षा एकतन्त्रीय अधिक है; जनता द्वारा निर्वाचित राष्ट्रपति अपने हाथों में अधिनायकीय सत्ता ले लेगा, इससे हिण्डनबर्ग, ल्युडेनडॉर्फ जैसे लोकप्रिय सैनिक नेताओं के चुनाव के लिए रास्ता साफ हो जायगा आदि (Brunet, The New German Constitution, p 156)।

सिद्धान्त की दृष्टि से (मन्त्रि-परिषद्-प्रणाली वाले राज्यों को छोड़कर) अपने राजकीय कार्यों के लिए उत्तरदायी होता है।

प्रत्यक्ष लोक-निर्वाचन के विरुद्ध प्रमुख आक्षेप निम्न प्रकार हैं—विशाल देश ऐसे महत्त्वपूर्ण पद के लिए किसी उम्मीदवार की योग्यता के सम्बन्ध में बुद्धिमत्तापूर्वक निर्णय करने की जनता की अयोग्यता, जनता के स्वजन नायकों द्वारा प्रभावित हो जाने की सम्भावना और ऐसे निर्वाचनों में अनिवार्य सामान्य नैतिक पतन तथा राजनीतिक उत्तेजना। चान्सलर केण्ट ने लिखा है कि 'समस्त राष्ट्र के प्रमुख के निर्वाचन का प्रभाव इतने हितों पर पड़ता है, लोक-भावनाओं पर भी उसमें इतना प्रभाव पड़ता है और उच्चाकांक्षा के लिए उसमें इतना प्रबल प्रलोभन होता है कि उसमें वास्तव में सार्वजनिक सदाचार की कठोर परीक्षा होती है और वह सार्वजनिक शान्ति के लिए एक भयावह खतरा बन जाता है।'[१]

संयुक्त राज्य अमेरिका के विधान निर्माताओं में केवल तीन या चार ही ऐसे थे जो राष्ट्रपति के लिए प्रत्यक्ष लोक-निर्वाचन के पक्ष में थे। प्रायः समस्त प्रतिनिधियों ने इस प्रणाली के प्रति अपनी घोर अश्रद्धा प्रकट की। रॉजर शरमैन ने कहा कि 'जनता उम्मीदवारों के लिए बुद्धिमत्तापूर्वक मत देने के लिए उनके चरित्रों के सम्बन्ध में कदापि पर्याप्त ज्ञान प्राप्त न कर सकेगी।' चार्ल्स सी० पिन्कनी ने अपना विचार इस प्रकार प्रकट किया—'जनता प्रपंची दुर्जन नायकों द्वारा उत्तेजित की जायगी।' गैरी ने इसे 'मूलतः विषैला' कहा है। मेसन ने तो यहाँ तक कह डाला है कि 'राष्ट्रपति के पद के लिए योग्य व्यक्ति के निर्वाचन के प्रश्न को जनता के समक्ष रखना ऐसा ही होगा जैसे रंग की परीक्षा के लिए किसी अन्धे व्यक्ति को आमन्त्रित किया जाय' और हैमिल्टन को यह भय था कि इससे समस्त समाज असाधारण तथा प्रचण्ड आन्दोलनों से कम्पायमान हो जायगा' और इससे ऐसा 'दावानल एवं तूफान' पैदा होगा कि उसमें सार्वजनिक शान्ति भंग हो जायगी।[२] परन्तु अनुभव से यह प्रतीत होता है कि विधान-निर्माताओं ने इन दोषों को अतिरंजित रूप में रखा और यह सौभाग्य की बात है कि उनकी शंकाएँ सत्य सिद्ध नहीं हुईं। इस पर भी यह तो मानना पड़ेगा कि ये दोष थोड़े-बहुत रूप में विद्यमान हैं। एक दीर्घ काल तक व्यवसाय-व्यापार की मन्दी, सार्वजनिक सदाचार पर अत्यधिक दबाव, उत्तेजनापूर्ण राजनीतिक क्षोभ और राष्ट्रपति के निर्वाचन के लिए खड़े होने वाले उम्मीदवारों का पानी की भाँति धन बहाना, जो

---

१. Commentaries, Vol. I, pp. 274-275. संयुक्त राज्य के राष्ट्रपति के चुनाव के सम्बन्ध में लिखते हुए, जो उस समय तक वास्तव में प्रत्यक्ष चुनाव ही बन गया था, केण्ट लिखता है, 'यदि कभी राष्ट्र की शान्ति में बाधा पड़ सकती है और सत्ता के लिये होने वाले संघर्ष में स्वतन्त्रताएँ खतरे में पड़ सकती हैं तो ऐसा राष्ट्रपति के निर्वाचन के समय ही होगा। यही प्रश्न है जिससे अन्त में विधान की अच्छाई और शक्ति की परीक्षा होगी और यदि हम अगले पचास वर्षों तक राष्ट्रपति का निर्वाचन विवेक, संयम और ईमानदारी के साथ करते रहे तो हम अपने राष्ट्रीय चरित्र के मूल्य को बहुत ऊँचा उठा सकेंगे और मानव समाज का शिक्षित वर्ग यदि हमारी गणतन्त्रीय संस्थाओं की नकल नहीं करेगा तो कम से कम उनका आदर तो अवश्य करने लगेगा।

२. Dougherty, The Electroal System of the United States, pp. 13-14; The Federalist, No 67.

संयुक्त राज्य अमेरिका मे प्रति चौथे वर्ष का नियमित काम बन गया है, आदि से यह भलीभाँति प्रमाणित है कि जनता द्वारा निर्वाचन की प्रणाली सब दृष्टियों से आदर्श प्रणाली नहीं है। इसका सबसे बडा दोष तो, जैसा मिल ने कहा है, बार-बार का चुनाव-संग्राम है। जब राज्य-प्रमुख का प्रति चौथे वर्ष लोक-निर्वाचन करना हो तो बीच का अधिकाश समय चुनाव में सफलता प्राप्त करने के लिए तैयारी में ही व्यतीत होता है। राष्ट्रपति, राजमन्त्री, दलो के नेता और उनके अनुयायी सब चुनाव-सग्राम के योद्धा होते हैं। समस्त राष्ट्र की दृष्टि राजनीति-क्षेत्र के व्यक्तित्व पर ही बनी रहती है और प्रत्येक सार्वजनिक प्रश्न पर विचार एवं निर्णय उसके औचित्य की दृष्टि में रख कर नही वरन् राष्ट्रपति के निर्वाचन को दृष्टि में रख कर होता है। मिल ने आगे चल कर लिखा है कि यदि एक ऐसी प्रणाली स्थापित करनी हो जिसमें समस्त सार्वजनिक मामलो में दलीय भावना को विशेष स्थान हो और प्रत्येक प्रश्न दलीय प्रश्न बन जाय तो इसके लिए इससे उत्तम कोई अन्य व्यवस्था स्थापित करना सम्भव नहीं होगा।'

---

१. Op. Cit., p. 350. तुलना भी कीजिये, Paley, Moral and Political Philosophy, p. 215. प्रो० हेनरी जे० फोर्ड ने इस तर्क का हवाला देते हुए कि 'राष्ट्रपति के लोक-निर्वाचन का शैक्षणिक मूल्य उस पर खर्च होने वाली अपार धनराशि से कहीं अधिक है, लिखा है कि यह तर्क उन्हीं लोगो पर लादा जा सकता है जो राजनीति और चुनाव-सचालन को एक ही बात समझते हैं। राष्ट्रपति के चुनाव का प्रभाव राजनीतिक समस्याओ पर जनता को शिक्षा देने के स्थान पर उनके विषय मे भ्रम उत्पन्न कर देना अधिक होता है। दलो के उद्देश्यो का जो विवरण जनता के सामने चुनाव के समय रखा जाता है, उसमे व्यर्थ झूँठा वाह्याडम्बर बहुत होता है और विशिष्ट समस्याओ के सम्बन्ध मे कार्य करने की कोई प्रतिज्ञाएँ नही होतीं। किन्तु आजकल इन घोषणाओ का मूल्य अधिक नहीं रहा। आजकल तो बडे-बडे नारो, भावनाओ को उत्तेजित करने वाली बातो, व्यक्तित्व आदि पर इस सिद्धान्त के अनुसार अधिक विश्वास किया जाता है कि जनता के सामने यदि कोई बात बार-बार कही जाय तो वह उसे अवश्य मान लेगी। चुनाव-आन्दोलन के जोश मे सार्वजनिक नीति के प्रश्नो पर बुद्धिमत्तापूर्वक विचार की सम्भावना ही नष्ट हो जाती है। जिन बातो पर अधिकतर बातचीत होती है, वे हैं उम्मीदवारो के चरित्र, उनकी आदतो आदि का बखान और प्रतिद्विन्द्वियों की निन्दा।'

आगे चल कर उसने लिखा है कि 'इसका जो प्रभाव जनता की नैतिकता और बुद्धि पर पडता है, वह इस प्रणाली के विरुद्ध एक प्रभावशाली तर्क है। यदि मिल की यह मान्यता ठीक है कि किसी भी शासन की कोई सबसे अच्छी बात हो सकती है तो वह यह है कि वह जनता मे सद्गुण और बुद्धि की प्रगति मे सहायक होता है तो लोक-निर्वाचन द्वारा राज्य-प्रमुख की नियुक्ति की प्रणाली की जितनी निन्दा की जाय, वह कम होगी, चाहे उससे सार्वजनिक व्यवस्था मे कोई बाधा न भी पड़े, यद्यपि ऐसा देखने मे नहीं आया है। स्विस जनता ने राष्ट्रीय कार्यपालिका की नियुक्ति मे लोक-निर्वाचन की प्रथा को ठुकरा कर अपने प्रजातन्त्र के सच्चे लक्षण का अच्छा प्रदर्शन किया है।

अप्रत्यक्ष निर्वाचन

राज्य-प्रमुख के निर्वाचन मे अप्रत्यक्ष प्रणाली का प्रयोग संयुक्त राज्य अमेरिका, अर्जेण्टाइना, स्पेन (सन् १६३१) तथा फिनलैण्ड (सन् १६१६) के विधान के अनुसार) मे होता है, यद्यपि संयुक्त अमेरिका मे यह अप्रत्यक्ष चुनाव एक प्रकार से प्रत्यक्ष चुनाव ही हो गया है। अप्रत्यक्ष निर्वाचन के लाभो के सम्बन्ध में कहा जाता है कि इससे जनता प्रत्यक्ष निर्वाचन की उत्तेजना, अशान्ति एवं विक्षोभ से बची रहती है और निर्वाचको की संख्या कम होने के कारण चुनाव भी ठीक प्रकार से तथा विवेक-पूर्वक होता है।

हैमिल्टन ने संयुक्त राज्य के राष्ट्रपति की चुनाव-प्रणाली के सम्बन्ध मे कहा है कि 'राष्ट्रपति के चुनाव की अपेक्षा एक *निर्वाचक-मण्डल के चुनाव से समाज मे* कम अशान्ति एवं अव्यवस्था पैदा होगी। राष्ट्रपति का चुनाव ऐसे सुयोग्य एवं बुद्धिमान निर्वाचकों द्वारा होना चाहिए जो उस पद के लिए आवश्यक गुणो को समझ सकें। सर्वसाधारण द्वारा चुने हुए थोडे से निर्वाचको मे ऐसा ज्ञान और विवेक होने की सम्भावना है जो ऐसे महत्वपूर्ण कार्य को भलीभाँति करने के लिए आवश्यक है।'[1]

सिद्धान्त की दृष्टि से, अप्रत्यक्ष चुनाव से स्पष्ट लाभ हैं, परन्तु कठिनाई तो इस तथ्य मे है कि निर्वाचक अपने चुनाव के समय अपने दल के एक विशेष उम्मीदवार को मत देने के लिए वचन दे सकते हैं। इस प्रकार वे अपने मतदाताओं को इच्छा पूर्ण करने के लिए एजेण्टमात्र बन सकते हैं। ऐसा प्राय: उन देशो मे होता है, जिनमे राजनीतिक दल अधिक सगठित एवं विकसित हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका मे भी ऐसा ही हुआ, जब वहाँ दलीय संगठन परिपक्व हो गया और दलीय अनुशासन प्रभावकारी हो गया। आरम्भ मे जो राष्ट्रपतियो के निर्वाचन हुए, उनमे चुनाव के परिणाम वैसे ही अच्छे निकले जैसी आशा थी; निर्वाचको ने राष्ट्रपति के चुनने मे अपनी बुद्धि का पूरा प्रयोग किया; परन्तु कालान्तर मे वे अपने 'दल के कठपुतले' मात्र बन गये और उन्हें उस गम्भीर और महत्वपूर्ण कार्य के सम्पादन मे न स्वतन्त्रता रही और न सुयोग ही मिले। अब निर्वाचको का कर्त्तव्य तो दल के मतदाताओं की इच्छानुसार कार्य करना मात्र रह गया है; जो कार्य ऐसा है जिसे इच्छा एवं बुद्धि से रहित एक स्वय-परिचालित यन्त्र उतनी ही योग्यता से कर सकता है।[2] इस प्रकार अप्रत्यक्ष निर्वाचन की जो योजना थी, जिसके अनुसार राष्ट्रपति का निर्वाचन अत्यन्त योग्य व्यक्तियों के एक छोटे से निर्वाचक-मण्डल द्वारा होना था, वह निर्वाचन-प्रणाली

---

१. The Federalist, Fords' ed., No 68. Story, Commentaries, Sec. 1457 भी देखिये। सन् १८७४ मे निर्वाचन-सम्बन्धी सीनेट कमेटी ने कहा था कि निर्वाचक-मण्डल का सिद्धान्त यह है कि राष्ट्रपति तथा उपराष्ट्रपति के निर्वाचन के लिये ऐसे ही व्यक्ति चुने जाँय जिनमे विशेष योग्यता हो, जिन पर आवेश, षडयन्त्र आदि का प्रभाव न पड सके और जो योग्य व्यक्ति का निर्वाचन अपने स्वतन्त्र निर्णय से कर सकें। Dougherty, Electoral System of the United States, p. 16 में उद्धृत।

२. Dougherty, op. cit., p. 250; Wilson, Congressional Government, p. 250.

के विकास-क्रम में ऐसे करोड़ों व्यक्तियों द्वारा[1] प्रत्यक्ष चुनाव की प्रणाली ही हो गई जो अब भी उन निर्वाचकों के चुनाव की विधि पूरी करते हैं जिनका असली कार्य अब रहा ही नहीं। ऐसी थी वह योजना जिसके सम्बन्ध में हैमिल्टन ने यह कहने मे संकोच नहीं किया था कि 'यदि उसकी रीति पूर्ण नहीं है, तो वह कम से कम श्रेष्ठ तो है ही' और यही विधान का एकमात्र ऐसा अंग है 'जो कठोर निन्दा से बचा रहा या जिसे विरोधियों की ओर से थोड़ी-बहुत भी स्वीकृति मिली हो।'[2]

व्यवस्थापक-मण्डल द्वारा निर्वाचन

अन्त में, राज्य-प्रमुख का निर्वाचन शासन के व्यवस्थापक विभाग द्वारा किया जा सकता है। इस प्रणाली का अनुकरण स्विट्ज़रलैण्ड, फ्रान्स (दोनों सदनों की सम्मिलित बैठक में),[3] चेकोस्लोवाकिया, पोलैण्ड, पुर्तगाल, वेनजुएला और चीन[4] में होता है। प्रशा में, जहाँ गणतन्त्र का कोई राष्ट्रपति नहीं होता, मन्त्रि-सभापति निम्न सदन द्वारा चुना जाता है और यह प्रणाली जर्मनी के कई दूसरे राज्यों में भी प्रचलित है। क्रान्ति के पश्चात् एक अवधि तक इस प्रणाली के अनुसार अमेरिका के कुछ राज्यों में गवर्नरों का चुनाव होता था और यदि लोक-निर्वाचन में किसी भी उम्मीदवार को बहुमत न मिले तो आज भी उसके अनेक राज्यों में वही प्रणाली काम में लाई जाती है। सन् १७८७ के फिलाडेल्फिया सम्मेलन में संयुक्त राज्य के राष्ट्रपति के निर्वाचन के लिए इसी प्रणाली को स्वीकार किया गया था, परन्तु अन्त में पुनः विचार के बाद इसका परित्याग कर दिया गया और उपर्युक्त योजना स्वीकार की गयी।

व्यवस्थापक-मण्डल द्वारा राष्ट्रपति के निर्वाचन के सम्बन्ध में मुख्य आक्षेप यह है कि इसमें शासन-सत्ता के पृथक्करण के सिद्धान्त की उपेक्षा होती है क्योंकि व्यवस्थापक-मण्डल को इसमें एक ऐसा कार्य करना पड़ता है जो उसके मुख्य काम से बाहर है और इस प्रकार कार्यपालिका एक सीमा तक व्यवस्थापिका का एजेण्ट बन जाती है।[5] यदि व्यवस्थापिका उसका निर्वाचन करती है, तो उन दोनों के

---

१. इतना अवश्य है कि निर्वाचन में प्रत्येक राज्य में पृथक् निर्वाचन होता है और निर्वाचक जनरल टिकट पर चुने जाते हैं। किसी भी राज्य में परिणाम वही होता है, चाहे मत ५१ प्रतिशत पक्ष में और ४९ प्रतिशत विपक्ष में हों या ९९ प्रतिशत पक्ष और १ प्रतिशत विपक्ष में हों। इस प्रकार कभी-कभी ऐसा होता है कि सफल उम्मीदवार समस्त देश के मतदाताओं के बहुमत का प्रतिनिधि नहीं होता।

२ The Federalist, No 68

३ फ्रेन्च लोगों ने राष्ट्रपति का चुनाव जनता द्वारा निर्वाचित तथा जनता के प्रति उत्तरदायी राष्ट्रपति के भय से व्यवस्थापक-मण्डल के हाथों सौंपा, उन्हें इस प्रणाली का बड़ा कटु अनुभव था और आगे उस भय से बचे रहने के लिए उन्होंने राष्ट्रीय सभा (National Assembly) के रूप में संगठित व्यवस्थापक-मण्डल द्वारा निर्वाचित और इसी के प्रति उत्तरदायी राष्ट्रपति की नियुक्ति की व्यवस्था की।

४. चीन की व्यवस्था फ्रान्स जैसी ही है।

५. तुलना कीजिये, Rawle, On the Constitution, Ch. 5, p. 53. Bryce (American Commonwealth, ed. of 1819, Vol. I, p. 40) ने लिखा

बीच 'सौदा-सट्टा', प्रपंच आदि होना अवश्यम्भावी है। न्यायाधीश स्टोरी ने कहा है कि 'एक महत्वाकांक्षी उम्मीदवार के लिए मतदाताओं के बहुमत पर पद-नियुक्ति, सम्मान तथा लाभ के प्रलोभन द्वारा चुपचाप प्रभाव डालना सम्भव होगा और इस प्रकार देश के सर्वश्रेष्ठ एवं सबसे सदाचारी व्यक्ति के स्थान पर वह अपने साहस एवं भ्रष्टाचारपूर्ण कार्य द्वारा स्वयं निर्वाचित हो जायगा।'[1] चान्सलर केण्ट ने भी इसी प्रकार का मत प्रकट किया था। उसने कहा कि 'प्रतिनिधि-संस्था द्वारा जितने भी निर्वाचन होते हैं, उनमें कपटाचार के लिए कूट मन्त्रणाएँ सम्भव होती हैं।'[2] अनुभव और तर्क (उदाहरणार्थ, फ्रान्स में, जहाँ राष्ट्रपति व्यवस्थापक-मण्डल पर निर्भर हो गया है और जहाँ व्यवस्थापक-मण्डल उसे त्याग-पत्र देने के लिए बाध्य कर सकता है) से यह शिक्षा मिलती है कि व्यवस्थापिका द्वारा राष्ट्रपति के निर्वाचन से न केवल कार्यपालिका की स्वतन्त्रता नष्ट होती है और वह उसकी आकांक्षा का अनुगामी बन जाती है, वरन् उससे महत्वाकांक्षी उम्मीदवार को राजकीय पदों तथा सम्मान का आश्वासन देकर व्यवस्थापिका का समर्थन प्राप्त करने का जबरदस्त प्रलोभन भी मिलता है एक बार इस प्रकार चुन जाने पर उसी प्रकार वह दूसरे चुनाव में भी सफलता प्राप्त करने की चेष्टा करेगा। राष्ट्रपति व्यवस्थापिका से पूर्णतया स्वतन्त्र हो तथा इस प्रकार के प्रलोभनों से मुक्त रहे, इसके लिए उसका चुनाव किसी अन्य प्रकार से ही होना चाहिए।

अन्त में यह भी विचारणीय है कि व्यवस्थापिका पर इस प्रकार के महत्वपूर्ण राजनीतिक कार्य को लाद देने से उसके कानून-रचना के सामान्य कार्य में बाधा पड़ेगी क्योंकि भारी उत्तेजनापूर्ण चुनाव के समय उसका बहुत सा समय नष्ट होगा, संघर्ष और गत्यावरोध पैदा होंगे और इस प्रकार अनेक ऐसे कानूनों में भी, जिनका वास्तव में दलों से कोई सम्बन्ध नहीं होता, दलीय विचार काम में आयेंगे।

व्यवस्थापिका द्वारा निर्वाचन के पक्ष में प्रमुख तर्क यही है कि जनता या माध्यमिक निर्वाचकों द्वारा चुनाव की अपेक्षा इसमें चुनाव अधिक बुद्धिमत्तापूर्वक होगा। व्यवस्थापिका के सदस्यों का सार्वजनिक कार्यों से सक्रिय सम्बन्ध होता है और वे प्रमुख

है कि 'राष्ट्रपति का चुनाव जनता पर छोड़ देने से एक भयंकर उत्तेजना उत्पन्न हो जाती है और साधारण लोकप्रियता प्राप्त कर सकने योग्य गुणों वाले उम्मीदवारों को इससे बड़ा प्रोत्साहन मिलता है। कांग्रेस को राष्ट्रपति के निर्वाचन का काम सौंपने से केवल सत्ता के पृथक्करण के सिद्धान्त की अवहेलना करके कार्यपालिका केवल व्यवस्थापिका के अधीन ही नहीं कर दी जाती, वह समस्त राष्ट्र का निर्वाचित प्रतिनिधि होने की जगह केवल किसी एक दल का आदमी रह जाता है।'

१. Commentaries, Sec. 1456.
२. Commentaries, Lect. XII, p. 279 Woolsey (Political Science, Vol II, p. 278) से भी तुलना कीजिये। उसने लिखा है कि व्यवस्थापिका द्वारा निर्वाचन होने से भ्रष्टाचार फैलेगा। जिन लोगों के हाथ में मत होंगे, वे अपने या अपने मित्रों के लिए पदों के लिए सौदा करेंगे, बड़े व्यापकरूप में कपट-प्रबन्ध होगा जिसके परिणाम बड़े भयंकर होंगे। कपट-प्रबन्ध केवल व्यवस्थापिका के सदस्यों तथा उम्मीदवारों के एजेण्टों के बीच ही नहीं होंगे, परन्तु राष्ट्रपति को चुनने वाली सस्था की सदस्यता के लिए भी होंगे।

राजनीतिज्ञों से परिचित भी होते हैं, अतः वे ऐसे उच्च और उत्तरदायी पद के लिए चुनाव करने में सर्वाधिक योग्य हैं। जॉन स्टुअर्ट मिल गणतन्त्रों के राज्य-प्रमुखों के चुनावों के लिए इस प्रणाली का समर्थक था; परन्तु इसमें उसे भी सन्देह था कि क्या यह प्रणाली प्रत्येक देश और प्रत्येक काल के लिए उपयुक्त है। उसने कहा कि 'यह ठीक ही प्रतीत होता है कि गणतन्त्र में प्रमुख कार्यपालक का निर्वाचन प्रतिनिधि सभा द्वारा हो, जैसे वैधानिक एकतन्त्र में प्रधानमन्त्री का निर्वाचन होता है। तब जिस दल का व्यवस्थापिका में बहुमत होगा, वह अपने ही नेता नियुक्त करेगा, जो सदा राजनीतिक जीवन में सर्वप्रथम व्यक्ति होता है।'[1]

व्यवस्थापिका द्वारा राज्य-प्रमुख के निर्वाचन की प्रणाली के गुण-दोष चाहे जो भी हों, वर्तमान् प्रथा उसके पक्ष में है। अमेरिका के अतिरिक्त अन्य गणतन्त्र राज्यों में यही प्रणाली अधिक प्रचलित है। फ्रान्स में यह प्रणाली सन् १८०१ से जारी है और इसको बदल कर लोक-निर्वाचन की प्रणाली स्थापित करने के पक्ष में इने गिने लोग ही हैं। डिपार्टमेण्ट की कौंसिलों, एकेडेमियों, विश्वविद्यालयों, व्यापार-मण्डलों, श्रम-संघों आदि स्थानीय संस्थाओं अथवा हितों के प्रतिनिधियों को व्यवस्थापिका के साथ सम्मिलित करके निर्वाचक संस्था का आकार बढ़ाने के लिए अवश्य प्रस्ताव किये गये हैं। स्विट्जरलैण्ड में कार्यपालिका समिति का चुनाव व्यवस्थापिका द्वारा होता है। सन् १९०० में यह प्रस्ताव रखा गया था कि उसका चुनाव जनता द्वारा किया जाय, परन्तु वह बहुमत के विरोध से गिर गया। यह इस स्विस लोकतन्त्रीय आदर्श का एक उल्लेखनीय उदाहरण है कि कार्यपालिका का जनता द्वारा निर्वाचन लोकतन्त्र का आवश्यक तत्व नहीं है।

यह भी उल्लेखनीय है कि संसद शासन-प्रणाली वाले राज्य में या उन राज्यों में, जिनमें मन्त्रि-परिषद् प्रणाली पूर्ण रूप से स्थापित हो चुकी है, वास्तविक कार्यपालिका का चुनाव व्यवहार में व्यवस्थापिका या उसके निम्न-सदन द्वारा होता है। उन राज्यों में, जो अनेक हैं तथा सुशोभित भी हैं, व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका सत्ताओं के पृथक्करण का कोई प्रयत्न नहीं किया गया। इसके विपरीत ऐसी व्यवस्था की गयी है कि दोनों में सामंजस्य एवं सहयोग स्थापित हो। यद्यपि वास्तविक कार्यपालिका—मन्त्रि-परिषद् या कम से कम प्रधानमन्त्री—नाममात्र के शासक द्वारा नियुक्त या मनोनीत की जाती है, तथापि जैसा पीछे बतला चुके हैं, यह नियुक्ति जनता द्वारा निर्वाचित व्यवस्थापिका के सदस्यों के इच्छानुसार होनी चाहिए।

(३) राज्य-प्रमुख की कार्य-अवधि

हैमिल्टन तथा स्टोरी के विचार

एलेक्जैण्डर हैमिल्टन के अनुसार कार्यपालिका की शक्ति में जो तत्व होने हैं, वे हैं—एकता (Unity), अवधि (Duration)। उसकी सहायता के लिए यथोचित व्यवस्था, समुचित सत्ताएँ।' गणतन्त्रीय भाव में 'जिन तत्वों में सुरक्षा निहित है, वे हैं—जनता पर समुचित निर्भरता और समुचित उत्तरदायित्व।'[2] उसने कहा है कि

---

१. Op Cit., p. 248. Esmein (Droit Const., p 413) यह नहीं मानता कि व्यवस्थापिका द्वारा निर्वाचन से सत्ता के पृथक्करण के सिद्धान्त की अवहेलना होती है।

२. The Federalist, No. 17.

अपने वैधानिक सत्ताओं के प्रयोग में राज्य-प्रमुख की वैयक्तिक दृढ़ता की प्राप्ति के लिए तथा उस प्रशासन-प्रणाली की स्थिरता के लिए भी जिसकी उसके अधीन प्रतिष्ठा की गयी है, स्थायित्व का तत्व अत्यन्त आवश्यक है।[1] जिस समय संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति के कार्य-काल के सम्बन्ध में विचार किया गया, उस समय हैमिल्टन अकेला ही इस व्यवस्था के पक्ष में था कि जब तक उसका काम अच्छा रहे, उसे अपने पद पर बने रहना चाहिए। परन्तु विधान-सम्मेलन में विशाल बहुमत इसके विरुद्ध था।[2] ऐसी व्यवस्था गणतन्त्र के विरुद्ध मानी जाती थी। कार्यपालिका में दृढ़ता तथा प्रशासन में स्थिरता लाने की दृष्टि से राष्ट्रपति की अवधि के विषय में उसका यह स्पष्ट मत था कि कार्य-काल जितना ही दीर्घ होगा, उससे उतना ही लाभ होगा। न्यायाधीश स्टोरी इससे पूर्णरूपेण सहमत था। उसका कथन था कि शायद ही कोई व्यक्ति किसी नीति का अवलम्बन करने के लिए, जिनकी उपयुक्तता उसे स्पष्ट देख पड़ती है, राजी होगा यदि उसे प्रारम्भ किये हुए कार्य को पूरा करने का अवसर न दिया जाय। शासन-प्रबन्ध की बड़ी-बड़ी योजनाएँ बनाने से क्या लाभ है, जब उनके पूर्ण होने से पूर्व ही वे दूसरों के हाथों में चली जाँय या जनता उनके औचित्य एवं मूल्य को समझ सके, उसके पहले ही वे निष्फल कर दी जा सकें। कौन ऐसे खेत को बोने का कष्ट करेगा, जिसे वह काट नहीं सके।[3]

राज्यों में प्रचलित प्रथाएँ

इन लाभों की प्राप्ति के लिए राज्य-प्रमुख का कार्य-काल पर्याप्त दीर्घ होना चाहिए, इससे कोई इनकार नहीं करेगा; परन्तु यह कार्य-काल कितना हो, इस विषय में राजनीतिक लेखकों के विचारों तथा राज्यों में प्रचलित प्रथाओं में भेद है। यह कार्य-काल कुछ राज्यों में दो वर्ष से लेकर (जैसे उत्तरी अमरीकन राज्यों में) अन्य राज्यों जैसे फ्रान्स, पुर्तगाल, जर्मनी, चेकोस्लोवाकिया, पोलैण्ड तथा वेनेजुएला में सात वर्ष तक का है। न्यूजरसी में यह कार्य-काल तीन वर्ष है। शेष राज्यों में लगभग आधे में दो वर्ष और आधे में चार वर्ष का है। संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्राजील तथा आस्ट्रिया में राष्ट्रपति का कार्य-काल चार वर्ष है, पेरू तथा चीन में पाँच वर्ष और चिली, अर्जेण्टाइना, मेक्सिको तथा फिनलैण्ड में ६ वर्ष का कार्य-काल है। ब्रिटिश राष्ट्र-मण्डल के स्वतन्त्र डोमीनियनों के गवर्नर-जनरलों का कार्य-काल निश्चित नहीं है; वे ब्रिटिश ताज के प्रसाद काल तक अपने पद पर आरूढ़ रहते हैं। इन देशों में मन्त्रि-परिषद् उस समय तक पदारूढ़ रहती है, जब तक वे व्यवस्थापिका की विश्वासपात्र बनी रहती हैं।

अल्प अवधि के पक्ष तथा विपक्ष में तर्क

कार्यपालिका के कार्य-काल की अल्पता के पक्ष में यह कहा जाता है कि कार्य-काल जितना ही अल्प होगा, सत्ता में दुरुपयोग की सम्भावना उतनी ही कम होगी[4] और इसके विपरीत कार्य-काल जितना ही दीर्घ होगा, उत्तरदायित्व को कार्यान्वित करने

---

१. वही, नं० ७१।
२. मेडिसन और जे भी हैमिल्टन के समर्थक थे। राष्ट्रपति के पद को निर्वाचित बनाने के निश्चय के बाद हैमिल्टन का विचार बदल गया था। देखिये, Story, Commentaries, Sec 1435, Note 2.
३. Commentaries, Sec. 1433
४. तुलना कीजिये, Esmein, Droit Const., p. 479.

के साधन उतने ही कम होंगे और उसकी वैयक्तिक उच्चाकांक्षाएँ भी उतनी ही अधिक होंगी। लोकतन्त्रात्मक देशों में यह विचार सर्वत्र व्यापक है कि दीर्घ अवधि वाली कार्यपालिकाओं के सामने सहसा शासन-परिवर्तन द्वारा एकतन्त्रीय शासन स्थापित करने के लिए बड़ा प्रबल प्रलोभन रहता है, जैसे नेपोलियन ने अपनी दसवर्षीय कॉन्सलशिप (Consulship) को आजीवन और इसके बाद सम्राट् के पद में परिवर्तित कर दिया। दूसरी ओर, जैसा न्यायाधीश स्टोरी ने कहा है, अनुभव से यह सिद्ध है कि कार्यपालिका की अत्यन्त अल्प अवधि कार्यपालिका-सत्ता को शासन में एक रुकावट के रूप में मानो त्याग देना है, इसके अतिरिक्त उसमें असह्य अनिश्चय तथा निर्बलता पैदा होती है।[1] हैमिल्टन ने कहा है कि इतने अल्पकालिक लाभ में कोई भी व्यक्ति पूर्ण दिलचस्पी नहीं लेगा और किसी महान् असुविधा अथवा संकट के काम में हाथ डालने के लिए उसे तनिक भी प्रेरणा नहीं मिलेगी।[2] ऐसी स्थिति में बहु संख्यक व्यक्तियों से यही आशा की जा सकती है कि वे जनता की कोई भलाई करने के स्थान में कोई हानि न करें।

इसके अतिरिक्त, जब तक पुनर्निर्वाचन की प्रथा को स्थापित न किया जाय, इस पद पर सदैव अनुभवहीन व्यक्ति चुने जाते रहेंगे क्योंकि इतने अल्प कार्य-काल में कोई भी अपने कर्तव्यों का पर्याप्त ज्ञान एवं अनुभव प्राप्त नहीं कर सकता। अन्त में, अल्प कार्य-काल के कारण थोड़े-थोड़े समय बाद चुनाव होते रहते हैं जिससे व्यवसाय-धन्धों में भी बाधाएँ पड़ती हैं।[3] चार वर्ष का कार्य-काल उपयुक्त है। चान्सलर केण्ट ने कहा है कि 'यह कार्य-काल कार्यपालिका को अपने कार्य के यथोचित सम्पादन में आवश्यक दृढ़ता और स्वतन्त्रता देने के लिए तथा उसकी शासन-व्यवस्था में स्थिरता और कुछ परिपक्वता लाने के लिए काफी लम्बा है, परन्तु इसके साथ ही यह कार्य-काल उसे लोकमत की स्वीकृति पर निर्भर रखने के लिए पर्याप्त कम भी है।[4] स्टोरी के मत में यह कार्य-काल इतना लम्बा तो किसी दशा में नहीं है जिससे सार्वजनिक सुरक्षा को कोई खतरा हो। परन्तु ऐसी प्रणाली में जहाँ राष्ट्रपति अपनी सत्ताओं का प्रयोग स्वयं करता है और जहाँ उनके प्रयोग के लिए वह अपने निर्वाचकों के प्रति उत्तरदायी माना जाता है, ६ या ७ वर्ष का कार्य-काल वास्तव में बहुत बड़ा लम्बा होगा। जिस दायित्व पर ६-७ वर्ष में केवल एक बार अमल कराया जा सकता है और उससे पहले नहीं, वह स्पष्टतः प्रभावकारी नहीं रह सकता।

पुनर्निर्वाचन का प्रश्न

अवधि की लम्बाई के साथ सम्बद्ध यह प्रश्न भी है कि राज्य-प्रमुख या राष्ट्रपति, दूसरी बार चुना जाय या नहीं। संयुक्त राज्य अमेरिका के विधान में, जिसमें राष्ट्रपति का कार्य-काल चार वर्ष का नियत किया गया है, इसका भी स्पष्ट उल्लेख है कि वह पुनर्निर्वाचित हो सकता है और पुनर्निर्वाचन कितनी बार हो, इस पर कोई वैधानिक मर्यादा नहीं है, किन्तु परम्परा तथा प्रथा केवल दो बार के निर्वाचन की है और दो अपवादों को छोड़ कर किसी ने भी इस नियम को

१ Commentaries, Sec. 1455. तुलना भी कीजिए, Wilson, Congressional Government, p. 255.
२. The Federalist, No. 71.
३ वही, नं० ७१।
४. Commentaries, Vol. I, p 280.

तोड़ने का प्रयत्न नहीं किया। ऐसे भी उदाहरण हैं कि तीसरी बार अनेक राष्ट्रपतियों ने चुने जाने से इन्कार कर दिया यद्यपि जनता उन्हें फिर से चुनना चाहती थी। यह परम्परा लोकमत की शक्ति से स्थापित हुई है और केण्ट के मत में इसके एक व्यक्ति के राष्ट्रपति के पद पर बराबर बने रहने की क्षमता पर एक स्वस्थ अंकुश लग गया है।[1] दक्षिणी राज्य समूह (Southern Confederacy) के विधान में राष्ट्रपति का कार्य-काल ६ वर्ष रखा गया था, परन्तु साथ ही यह नियम भी रखा गया था कि वह दुबारा चुनाव में खड़ा नहीं हो सकता। इस प्रकार का नियम पुर्तगाल (७ वर्ष की अवधि) मैक्सिको (६ वर्ष) आदि के विधानों में भी है। मैक्सिको का विधान पुनर्निर्वाचन के सम्बन्ध में मौन है। उसमें राष्ट्रपति का कार्य-काल ६ वर्ष का है। इस विधान के अनुसार डियाज ६ बार लगातार राष्ट्रपति चुना गया। परन्तु सन् १६१७ में जो विधान बना (जिसमें अवधि पहले ४ वर्ष और बाद में ६ वर्ष कर दी गयी) उसमें स्पष्ट रूप से राष्ट्रपति को दुबारा चुनाव में खड़े होने की अनुमति नहीं है। कुछ राज्यों में एक राष्ट्रपति अपने कार्य-काल के बाद के चुनाव में खड़ा नहीं हो सकता, परन्तु एक कार्य-काल के व्यतीत हो जाने पर पुनः वह निर्वाचित हो सकता है। ऐसी व्यवस्था ब्राजील, चिली, अर्जेण्टाइना, स्पेन तथा पेरू में है:[2] चीन, ऑस्ट्रिया और चेकोस्लोवाकिया में विधानों में राष्ट्रपति को दो अवधियों तक कार्य करने की अनुमति है जिसके बाद उसका पुनर्निर्वाचन नहीं हो सकता।[3] जर्मन विधान में कार्य काल ७ वर्ष है और उसमें स्पष्ट उल्लेख है कि वह दुबारा चुनाव में खड़ा हो सकता है। परन्तु समाजवादी प्रजातन्त्रीय दल ने इसकी आलोचना की। उसका अभिप्राय यह था कि राज्य-प्रमुख का कार्य-काल कम कर ५ वर्ष कर दिया दिया जाय और वह दुबारा चुनाव में खड़ा न हो सके। फ्रेन्च राष्ट्रपति का कार्य-काल ७ वर्ष का है; परन्तु वह दुबारा भी चुनाव में खड़ा हो सकता है। परन्तु अब ऐसी परिपाटी स्थापित हो गयी है, जिसके कारण अब राष्ट्रपति पुनर्निर्वाचन में खड़ा नहीं नहीं हो सकता। केवल एक राष्ट्रपति (ग्रेवी) दुबारा चुना गया था। उसके उत्तराधिकारियों में से किसी ने भी पुनर्निर्वाचन के लिए प्रयत्न नहीं किया, वास्तव में कई ने तो आरम्भ में ही पुनर्निर्वाचन के लिए अनिच्छा प्रकट कर दी थी। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि फ्रान्स में राष्ट्रपति का केवल एक बार निर्वाचन ही वैधानिक रिवाज बन गया है।

एक ही कार्य-काल के पक्ष में तर्क

राष्ट्रपति का निर्वाचन केवल एक ही कार्य-काल के लिए हो, इसके पक्ष में सबसे प्रबल तर्क यह है कि इससे उसकी वैयक्तिक उच्चाकांक्षाओं पर अंकुश रहेगा और वह अपने पुनर्निर्वाचन के हेतु 'चाटुकारितापूर्ण आधीनता' की ओर प्रवृत्त न हो सकेगा अथवा अपनी सत्ता को बनाये रखने के लिए भ्रष्ट प्रपंचों का आश्रय न ले

---

१. Commentaries, Vol I, p. 282.

२. सन् १७६३ और सन् १८४८ फ्रेन्च विधानों में राज्य-प्रमुख को पुनर्निर्वाचन का अधिकार नहीं था। परन्तु पाँच वर्ष बीत जाने पर फिर निर्वाचित हो सकता था। इसी मर्यादा के कारण लुई नेपोलियन ने दिसम्बर सन् १८५१ में बलपूर्वक शासन-परिवर्तन किया था। देखिये, Esmein, op. cit., pp. 479, 543.

३. चेकोस्लोवाकिया के विधान में पहले राष्ट्रपति मसारिक के लिए उसकी देश-सेवा के पुरस्कारस्वरूप यह मर्यादा नहीं रखी गयी थी।

सकेगा।[1] यदि राष्ट्रपति पुन निर्वाचित हो सके, तो अल्प कार्य-काल का महत्व ही नष्ट हो जायगा। अतः द्वितीय कार्य-काल के लिए राष्ट्रपति को अयोग्य ठहरा देने से वह अधिक स्वतन्त्रता का भोग कर सकेगा और जनता को भी अधिक सुरक्षा मिलेगी। पुनर्निर्वाचन की व्यवस्था के कारण राष्ट्रपति को अपना सारा शासन-प्रबन्ध पुनर्निर्वाचन मे सफलता-प्राप्ति को लक्ष्य में रख कर करने का बड़ा प्रलोभन रहता है।[2]

आज से एक शताब्दी पूर्व डी० टॉकविल ने लिखा था कि 'संयुक्त राज्य अमेरिका में सार्वजनिक मामलो के रवैये पर यह विचार किये बिना सोचना असम्भव है कि प्रत्येक राष्ट्रपति का पुनः राष्ट्रपति निर्वाचित हो जाना मुख्य उद्देश्य होता है। उसका समस्त प्रशासन और अत्यन्त साधारण कार्य तक भी इसी उद्देश्य से होते हैं और जैसे ही निर्णय का अवसर आता है, उसके व्यक्तिगत हित सार्वजनिक कल्याण का स्थान ले लेते हैं। पुनर्निर्वाचन के सिद्धान्त के कारण निर्वाचित शासन का भ्रष्टतापूर्ण प्रभाव और भी अधिक व्यापक एवं दुःखदायक हो जाता है। इससे जनता के राजनीतिक सदाचार का अधःपतन हो जाता है और देश-भक्ति का स्थान प्रवीणता ले लेती है।[3] उसने यह भी स्पष्ट शब्दो मे कहा कि कार्यपालिका सत्ता के चाहे जो विशेषाधिकार हों, जो समय निर्वाचन से पूर्व का तथा निर्वाचन की अवधि का होता है, उसे राष्ट्रीय सकट-काल ही समझना चाहिए जिसके सकट आन्तरिक उलझनो तथा देश के लिए बाहरी खतरो के अनुपात मे होते हैं।" इसके अतिरिक्त यदि राष्ट्रपति को पुनर्निर्वाचन का अधिकार हो, तो उसके प्रथम कार्य-काल का उत्तरार्द्ध उसके पुनर्निर्वाचन की तैयारी मे व्यतीत होगा और इस प्रकार वह अपने सार्वजनिक कर्त्तव्यो की ओर ध्यान नही दे सकेगा। इस विषय मे डी० टॉकविल ने सत्य ही कहा है कि निर्वाचन के निकट आने पर राष्ट्रपति का पूरा समय चुनाव की तैयारी मे ही लगता है, उसकी भावी योजनाएं सदिग्ध होती हैं; वह कोई नवीन कार्य अपने हाथ मे नहीं

---

१. Story, op. cit., 1442, The Federalist, No. 72. De Tocqueville (op. cit, Vol. I, p 142) ने कहा है कि कपट-प्रबन्ध और भ्रष्टाचार निर्वाचित शासन के स्वाभाविक दोष हैं। परन्तु यदि राज्य-प्रमुख का पुनर्निर्वाचन हो सके तो ये दोष बहुत बढ जाते हैं और देश का अस्तित्व ही खटाई में पड सकता है।

२. तुलना कीजिए, Esmein op cit., p. 478. टॉमस जेफरसन का सन् १७८७ म यह मत था कि राष्ट्रपति का एक अवधि के लिए निर्वाचन होना चाहिये, यद्यपि स्वय उसे पुनर्निर्वाचन स्वीकार करने मे कोई सकोच नही हुआ। उसने कहा कि 'यदि राष्ट्रपति के पुनर्निर्वाचन का नियम हो तो उसका सदा पुनर्निर्वाचन अवश्य होगा। तब वह आजीवन अधिकारी बन जाता है।' परन्तु अपनी जीवन सन्ध्या मे उसने लिखा कि 'मेरी इच्छा थी कि राष्ट्रपति का निर्वाचन सात वर्ष के लिए हो और फिर वह कभी भी पुनर्निर्वाचित न हो सके। इस अवधि मे वह सामान्य हित के लिए कोई भी व्यवस्था सफलतापूर्वक कर सकता है। परन्तु मेरा विचार है कि जो प्रथा स्वीकार की गयी है, वह अधिक अच्छी है क्योंकि इसमे कार्यकाल ८ वर्ष का हो जाता है और आवश्यकता पड़ने पर बीच ही मे ४ वर्ष के बाद उसे अलग भी किया जा सकता है।' (Jefferson's Works, Vol. IV., p 575)।

१. Op. Cit, Vol. I, p. 142.

ले सकता और उन कार्यों को उदासीनतापूर्वक करेगा जिन्हें उसका उत्तराधिकारी शायद समाप्त कर देगा।"[1]

संयुक्त राज्य अमेरिका में राष्ट्रपति के पुनर्निर्वाचन पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए आन्दोलन

वर्तमान समय में अमेरिका में एक ऐसा आन्दोलन खड़ा हो गया है जो राष्ट्रपति के कार्य-काल को अधिक बढ़ा देने के पक्ष में है; परन्तु साथ ही पुनर्निर्वाचन की व्यवस्था नहीं चाहता। जैसा सर्वविदित है, विधान-परिषद् ने राष्ट्रपति का कार्य-काल ७ वर्ष रखा था और उसे पुनर्निर्वाचन का अधिकार नहीं दिया था, परन्तु जब यह निश्चय किया गया कि उसका निर्वाचन अमेरिकन कांग्रेस नहीं करेगी, तब पुनर्निर्वाचन के विरुद्ध जो मुख्य आक्षेप था, वह दूर हो गया। सन् १९१२ में राष्ट्रपति विल्सन का निर्वाचन जिस कार्यक्रम को लेकर हुआ था, उसमें एक बात यह भी सम्मिलित थी कि ऐसा वैधानिक संशोधन किया जाय जिससे राष्ट्रपति दुबारा न चुना जा सके; यद्यपि विल्सन स्वयं इसके पक्ष में नहीं था और उसने इसके विरुद्ध अपना मत प्रकट भी किया था। सन् १९१३ में सीनेट ने २७ के विरुद्ध ४७ मतों से इस आशय का एक प्रस्ताव स्वीकार किया कि राष्ट्रपति का कार्य-काल ६ वर्ष का होगा परन्तु वह दुबारा चुनाव में खड़ा नहीं हो सकेगा। प्रतिनिधि-सभा (House of Representatives) की न्याय-समिति ने इस प्रस्ताव के पक्ष में अपनी रिपोर्ट दी। रिपोर्ट में इस संशोधन के पक्ष में निम्नलिखित कारण दिये गये थे। प्रथम, इससे राष्ट्रपति के लिए पुनर्निर्वाचन के निमित्त अपने पद की सत्ताओं का दुरुपयोग करने का प्रलोभन मिट जायगा; द्वितीय, इससे सामान्यतया कानूनों पर अमल अधिक अच्छी तरह होगा और प्रशासन की कार्यकुशलता बढ़ेगी क्योंकि राष्ट्रपति को अपने कर्तव्यों की उपेक्षा करके राजनीतिक मशीन बनाने का प्रलोभन नहीं रहेगा; तृतीय, वह अपने ऊपर होने वाले आक्रमणों का उत्तर देने के लिए राजनीतिक व्याख्यान देने की अपमानजनक आवश्यकता से भी मुक्त हो जायगा।[2] इस प्रस्ताव पर सदन में मतदान का अवसर ही नहीं आया, यद्यपि आज भी उसमें प्रस्तावित परिवर्तन के पक्ष में काफी भावना है।[3]

पुनर्निर्वाचन के पक्ष में तर्क

कई लोगों की दृष्टि में राष्ट्रपति के पुनर्निर्वाचन से हानियों की अपेक्षा लाभ अधिक हैं। हैमिल्टन ने फेडरलिस्ट में इसके लाभों पर जितना विशद प्रकाश डाला है, उससे अधिक किसी ने भी नहीं डाला। उसने कहा कि 'राष्ट्रपति के पुनर्निर्वाचन की आवश्यकता है क्योंकि इससे जनता को, जब वह उसके आचार तथा व्यवहार से सन्तुष्ट हो, उसे अपने पद पर बनाये रख कर उसकी प्रतिभा, योग्यता एवं शासन-प्रबन्ध-पटुता से लाभ उठा कर उत्तम शासन-प्रबन्ध में स्थिरता एवं स्थायित्व की प्रतिष्ठा करने में सहायता मिलेगी। सर्वप्रथम, राष्ट्रपति का कार्य-काल केवल एक ही अवधि के लिए सीमित कर देने से सदाचार के लिए उसके सामने प्रोत्साहन कम हो जायगा।

---

१. वही, पृष्ठ १३३।
२. Report No. 885. H. of R. 62 d. Cong. 2nd Session.
३. इसका समर्थन भूतपूर्व राष्ट्रपति टाफ्ट ने अपनी पुस्तक, Our Chief Magistrate and His Powers में पृष्ठ ४ पर किया है।

हैमिल्टन ने कहा है, 'ऐसे व्यक्ति बहुत कम मिलेंगे जो उस समय अपने कर्तव्य-पालन में कम उत्साह का अनुभव नहीं करेंगे जब उन्हें ज्ञात हो जाय कि जिस पद पर वे कार्य कर रहे हैं, वह एक निश्चित अवधि की समाप्ति तक ही रहेगा। परन्तु यदि उन्हें ऐसी आशा हो कि वह पद उन्हें पुन प्राप्त हो सकेगा तो उन्हें योग्यतापूर्वक अपना कार्य सम्पादन करने का उत्साह बना रहेगा।' पुरस्कार तथा प्रसिद्धि की आकाक्षा मानव-व्यवहार के लिए सबसे शक्तिशालिनी प्रेरक शक्ति है। मानव जाति में सत्यप्रियता एव निष्ठा सुनिश्चित तभी हो सकती है जब उसके हितों तथा कर्तव्यों मे अभेद स्थापित हो। इसके अतिरिक्त, पुनर्निर्वाचन के नियम के अभाव के कारण राष्ट्रपति मे, अपने कार्य-काल में, अपने सुयोगों का अपने निजी स्वार्थों की पूर्ति के लिए अधिकाधिक प्रयोग करने की प्रवृत्ति भी पैदा होगी और वह सुयोगों से पूरा-पूरा लाभ उठाने के लिए अत्यन्त सदिग्ध एव भ्रष्ट उपायों तक का अवलम्बन करने मे संकोच नहीं करेगा।'[1] ऐसे व्यक्तियों को, जिनमें जनता का विश्वास है और जो अपने सत्कर्मों के कारण लोकप्रिय तथा लोक-विश्वास के पात्र बन चुके हैं, अपने पदों पर आरूढ न रहने देने के विचार मे विवेक की अत्यधिक बारीकी है।

हैमिल्टन ने कहा है कि यदि राष्ट्रपति को यह आशा हो कि वह अपने सद्व्यवहार से अपने पद पर बना रहेगा, तो वह लाभ के लिए अपनी इच्छाओं का दमन करने मे अवश्य संकोच करेगा। परन्तु यदि उसे यह दिखलाई दे कि 'उसका अनिवार्य विनाश समीप है, तो उसका लोभ उसके सयम, महभाव और उसकी उच्चाकाक्षा पर विजयी हो जायगा।'[2]

द्वितीय, पुनर्निर्वाचन की व्यवस्था के अभाव मे राज्य ठीक उसी समय अपने अनुभवी, बुद्धिमान और सुयोग्य कर्मचारी की सेवाओं से वचित हो जायगा जबकि अपने अनुभव से वह राज्य की सेवा करने के योग्य बन जाता है। न्यायाधीश स्टोरी ने कहा है कि 'इसका अर्थ तो सार्वजनिक कार्य से एक योग्य व्यक्ति को इसलिए हटा देना होगा क्योंकि उसकी परीक्षा हो चुकी है और उसमें वह सफल हो चुका है।' उसका कथन था कि 'ऐसे समय पर ऐसी घोषणा करने से अधिक विलक्षण बात क्या होगी कि किसी व्यक्ति को ठीक उसी समय जब उसने बुद्धिमत्ता प्राप्त कर ली हो, उसे जिस कार्य के लिए उसे उसने प्राप्त किया है, उसके लिए उसका प्रयोग न करने दिया जाय।[3] हैमिल्टन का इस पर यह कथन था कि 'इससे शासन-प्रबन्ध मे स्थिरता का वैधानिक निषेध होगा। प्रत्येक निर्वाचन के उपरान्त कार्यपालिका की नीतियों की

---

१ The Federalist, No. 72. Story, op. cit., Sec. 1443.

२. The Federalist, No. 72. हैमिल्टन का यह भी कथन था कि यदि अपने देश के सम्मान के सर्वोच्च पद पर आसीन उच्चाकाक्षी व्यक्ति को यह दिखाई दे कि वह समय आ रहा है जब उसे अपना पद त्यागना पड़ेगा और यह घटना उसके अच्छे से अच्छे कार्य से भी नही टल सकती तो उसे ऐसी स्थिति मे अपनी सत्ता को बनाये रखने के लिए किसी भी उपयुक्त अवसर से अपना जीवन तक सकट मे डाल कर लाभ उठाने का प्रलोभन रहेगा जो उस दशा मे नही रह सकता जब उसे अपने इसी उद्देश्य का अपना कर्तव्य-पालन करके प्राप्त करने की सम्भावना दिखाई दे।

३. Commentaries, Sec. 1444.

अविच्छिन्नता में बाधा पड़ेगी और राष्ट्रपति के कार्यकाल का उत्तरार्द्ध शक्तिहीनता, संदिग्धता, तथा निष्क्रिय अकर्मण्यता का काल होगा। सारांश में, प्रशासन बिना किसी योजना या नीति के निरुद्देश्य चलता रहेगा।'[1]

अन्त में, यह भी विचारणीय है कि राष्ट्रपति के कार्य काल को एक ही अवधि के लिए सीमित कर देने की बुद्धिमत्ता तथा उपयोगिता एक बड़ी सीमा तक इस बात पर निर्भर है कि वह कार्य-काल कितना लम्बा है और वह वास्तव में कितनी सत्ताओं का प्रयोग करता है। यदि राष्ट्रपति का कार्य-काल ७ वर्ष है, तो उसे पुनर्निर्वाचन का अधिकार न देना उतना अनुचित नहीं होगा जितना उसे जिसका कार्य-काल केवल २ वर्ष का है क्योंकि उसका पुनर्निर्वाचन होने से उसका उत्तरदायित्व 'कम हो जायगा और उसका प्रभाव इतना बढ़ जायगा कि वह लोकमत की उचित अभिव्यक्ति और मतदान के स्वतन्त्र प्रयोग पर रुकावट लगा सकेगा।' इसी प्रकार, फ्रान्स जैसे देश में, जहाँ राष्ट्रपति नाममात्र का राज्य-प्रमुख होता है और उसकी कोई वास्तविक सत्ताएँ नहीं होती, यदि उसे दुबारा चुने जाने का अधिकार हो, तो भी कोई भय नहीं है।

मुख्य पाठ्य-ग्रन्थ

Berdahl, "War Powers of the Executive of the United States" (1921).

Black, "The Relation of the Executive Power to Legislation" (1919).

Brunet, "The German Constitution" (1922), pp. 153-168.

Bryce, "Modern Democracies" (1921), Vol. I, pp. 225 ff., 351 ff.; Vol. II, pp. 66 ff.; also his "The American Commonwealth" (1910), Vol. I, Chs. 5-8.

Burgess, "Political Science and Constitutional Law" (1896), Vol II, Bk. III, Ch. 9.

Carre de Malberg, "Theorie generale de l'etat" (1920), Vol. I, Ch 2.

Duguit, "Traite de droit constitutionnel" (2nd ed., 1924), Vol. IV, Ch. 3; also his "L'etat les gouvernants et les agents" (1903), Ch. 3.

Esmein, "Elements de droit constitutionnel francais et compare," 7th ed., 1921, Vol. II, Ch. 2; also, "La delegation du pouvoir legislatif," *Rev. Pol. et Parl.*, August, 1904, pp. 209 ff.

Fairlie, "National Administration in the United States"

---

१. राष्ट्रपति जेफरसन ने २१ जनवरी १६०८ को (अपनी अवधि समाप्त होने के ६ सप्ताह पूर्व) कहा था कि 'मैं अपने पद से निवृत्ति प्राप्त करने के समय के इतना निकट हूँ कि मुझमें अब कोई उत्साह नहीं है, मैं कोई काम नहीं करता और न अपनी भावनाएँ ही प्रकट करता हूँ। मुझे यही उचित मालूम होता है कि मैं उन कामों का आरम्भ अपने उत्तराधिकारी के लिए छोड़ रखूँ जिन्हें उसे करना पड़ेगा और जिनके लिए वह उत्तरदायी होगा।

(1905), Chs 1-2 ; also his article, "Administrative Legislation," *Mich. Law Review*, Vol. XVIII (1920).

Finer,	"The Theory and Practice of Modern Government" (1932), Vol. II, Ch. 26.
Ford,	"The Growth of Dictatorship," *Atlantic Monthly*, Vol CXXI, pp. 632 ff.
Garner,	"The Presidency of the French Republic," *North American Review*, April, 1913 ; "Woodrow Wilson's Ideas of the Presidency," *Review of Reviews*, 1913 ; and "Le pouvoir executif en temps de guerre aux Etats-Unis" *Rev. du droit Pub.*, Vol. XXXV (1819), pp. 5 ff.
Goodnow,	"Comparative Administrative Law" (1897), Vol I, Bk. II ; also his "Principles of Constitutional Government" (1916), Chs. 8-11.
Gordon.	"Les nouvelles constitutions Europeennes et le Role du Chef de l'Etat" (1931).
Hart,	"The Ordinance making Powers of the President of the United States" (1925), Chs 3-5.
Hereshoff-Bartlett,	"The Presidency of the French Repulic" *Law Quar. Rev*, Vol. XXXII (1916), pp. 290 ff.
Oppenheimer,	"The Constitution of the German Republic" (1923), Ch. 6.
Parker,	"Executive Judgments and Executive Legislation," *Harv Law Review*, Vol. XX, pp. 116 ff.
Powell,	"The Conclusiveness of Administrative Determinations," *Amer. Pol Sci. Rev.*, Vol. I, pp. 583 ff.
Rogers,	"The French President and Foreign Affairs," *Pol. Sci. Quar.* Vol. XL (1925), pp. 540 ff. ; also "The Presidential Dictatorship in the United States," *Quar. Rev*, Vol. CCXXXI, pp. 34 ff.
Story,	"Commentaries on the Constitution," secs. 1410-1489,
Taft,	"Our Chief Magistrate and His Powers" (1916).
Willoughby (W.F.),	"The Government of Modern States" (1919), Ch. 14.
Willoughby (W.W.) and Rogers,	"Introduction to the Problem of Government" (1921), Ch 10.
Wilson,	"Constitutional Government in the United States" (1908), Ch. 3.

कार्यपालक अङ्ग (क्रमशः)

(४) कार्यपालिका सत्ता

कार्यपालिका सत्ता की प्रकृति

न्यायाधीश स्टोरी का कथन है कि स्वतन्त्र शासन के सिद्धान्त से सम्बन्ध रखने वाली सबसे कठिन और सर्वाधिक महत्वपूर्ण समस्या है—कार्यपालक विभाग के लिए सर्वोत्कृष्ट संगठन तथा उसकी सत्ताओं का निर्धारण। प्रथम समस्या पर विचार किया जा चुका है ; अब हमे उसकी सत्ताओं तथा कर्त्तव्यों पर विचार करना है।

मोटी तौर से हम कार्यपालिका-सत्ताओं का निम्नलिखित श्रेणियों मे विभाजन कर सकते हैं—

(१) कूटनीतिक सत्ता (Diplomatic Powers) जिसका सम्बन्ध अन्य देशों के साथ व्यवहार से होता है,

(२) प्रशासनात्मक सत्ता (Administrative Power) जिसका सम्बन्ध कानूनों पर अमल करवाने तथा शासन-संचालन से है ;

(३) सैनिक सत्ता (Military Power) जिसका सम्बन्ध युद्ध-संचालन से है ;

(४) क्षमादान की सत्ता अथवा कार्यपालिका की न्यायिक सत्ता (Judicial Power of the Executive) और

(५) व्यवस्थापिका सत्ता (Legislative Power)।

समस्त राज्यो के विधान राज्य-प्रमुख को व्यवस्थापिका अथवा उसके एक सदन की सहायता से अन्य देशों के साथ संधियाँ तथा दूसरे प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय समझौते करने का अधिकार देते हैं। जहाँ तक विदेशी राज्यो से सम्बन्ध है, वह सर्वत्र राज्य का प्रतिनिधि होता है, वह दूसरे देशो मे अपने राजदूत नियुक्त कर के भेजता है तथा दूसरे देशों द्वारा नियुक्त राजदूतों का अपने राज्य मे स्वागत करता है। विदेशी राजदूतों का अपने देश मे स्वागत करने की सत्ता का समान्यतया यह अर्थ लगाया जाता है कि उसे उस देश की स्वाधीनता तथा सरकार की वैधता को स्वीकार करने या अस्वीकार करने का अधिकार है। सन्धि करने की सत्ता न तो विशुद्ध कार्यपालिका सत्ता है और न व्यवस्थापन सत्ता ही। जैसा एसमीन ने कहा है, यह यथार्थ सत्ता है ; यह व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका दोनों की सत्ता है।[1] यह कार्य किसी का भी हो परन्तु इसे कार्यपालिका को सौंपने के औचित्य के सम्बन्ध मे कोई मतभेद नही है। व्यवस्थापिका सन्धि-वार्ता मे कोई भाग नही ले सकती ; परन्तु सन्धि हो जाने पर

---

१. Droit Const., p. 568

उसकी स्वीकृति (Ratification) का निषेधात्मक अधिकार उसे या उसके एक सदन को दिया जाना ठीक होगा ताकि वह मूर्ख, उच्चाकांक्षी एवं अविवेकी कार्यपालिका की भूलों को रोक सके, परन्तु सन्धि करने की सत्ता की विचित्र प्रकृति के कारण सन्धि की बातचीत मे भाग लेने के अधिकार व्यवस्थापिका को देना बुद्धिमत्ता का काम नहीं होगा। हैमिल्टन ने ठीक ही कहा है कि "वैदेशिक राजनीति का पूर्ण एवं यथार्थ ज्ञान, एक ही प्रकार के विचारों पर दृढ रहना, राष्ट्रीय चरित्र के प्रति एकरूप सूक्ष्म चेतना, निर्णय, गोपनीयता तथा कार्य करने की शीघ्रता आदि ऐसी बातें हैं, जो व्यवस्थापिका जैसी चचल एवं सुविशाल सस्था मे सम्भव नही।' व्यवस्थापिका में सदस्यों की बहुलता तथा उनके निरन्तर परिवर्तन के कारण ऐसे महत्वपूर्ण कार्यों का सुचारु रूप से संचालन करने के लिए जिन गुणों की आवश्यकता होती है, वे नहीं हो सकते।'[1] परन्तु जैसा न्यायाधीश स्टोरी ने कहा है 'एक स्वतन्त्र राष्ट्र मे यह आशा नही करनी चाहिए कि वह सन्धि जैसे अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य को करने की पूर्ण सत्ता एक ही व्यक्ति को दे देगा, चाहे वह कितना ही सम्माननीय क्यो न हो।'[2]

ग्रेट ब्रिटेन जैसे कुछ एकतन्त्र राज्यो में यह सत्ता पूर्णतया कार्यपालिका के हाथ में है, पार्लमिण्ट का इसमें कोई भाग नहीं है। हाँ, सन्धि को पूर्ण करने तथा अमल में लाने के लिए, जब कानून बनाने की आवश्यकता पडती है तो वह अवश्य उसमें भाग लेती है।

ऐसे राज्यों में कार्यपालिका दोनों कार्य करती हैं; वह सन्धि के लिए वार्त्ता करती है और जब सन्धि पूर्ण हो जाती है, तब उस पर स्वीकृति देने का कार्य भी करती है। परन्तु प्रथम विश्व-युद्ध के समय और उसके पश्चात् ब्रिटिश विधान के इस लक्षण की कुछ उदार दल वालों तथा मजदूर-दल वालो ने बडी आलोचना की और यह माँग पेश की गयी कि वैदेशिक नीति पर प्रजातान्त्रिक नियन्त्रण स्थापित किया जाय। उन्होने यह दोषारोपण किया कि ब्रिटिश कूटनीति (Diplomacy) में अत्यधिक गोपनीयता है और वह लोकमत का आदर नहीं करती, ब्रिटिश कार्यपालिका ने ब्रिटिश जनता की स्वीकृति तथा पार्लमिण्ट की जानकारी के बिना विदेशों से ऐसे समझौते किये हैं, जो अनुचित हैं। कुछ लोगो ने तो यह भी दोषारोपण किया कि ब्रिटेन को ब्रिटिश कूटनीति के गुप्त गोलमाल के कारण ही प्रथम विश्वयुद्ध में फँसना पडा। यदि जनता को स्पष्टरूप से स्थिति बतला दी गयी होती और जनता की इच्छानुसार कार्य किया गया होता तो इंगलैण्ड के युद्ध में सम्मिलित होने की नौबत ही न आती।[3] अत: उन्होने यह माँग की कि समस्त सन्धियाँ पार्लमिण्ट की स्वीकृति के लिए प्रस्तुत की जाय। जब सन् १९२२ में नवीन मजदूर-सरकार स्थापित हुई, तब उसने इसी प्रकार काम करने का विचार प्रकट किया, परन्तु बाद में जैसे ही अनुदार-दल की सरकार स्थापित हुई, फिर से पुरानी परिपाटी का अनुसरण किया जाने लगा।

अधिकांश राज्यो मे, चाहे वे एकतन्त्र हों या गणतन्त्र, समस्त सन्धियों या

---

१. The Federalist, No. 75. तुलना भी कीजिये, Esmein, op. cit., p 568 ; op. cit , Vol I, pp. 285-286.

२. Op. cit., Sec. 1572.

३. इस विषय पर देखिये, Dickinson : The Choice Before Us ; "Morel, Ten Years of Secret Diplomocy तथा Ponsonby, 'Democracy and Diplomacy'.

कुछ प्रकार की संधियों की प्रमाणिकता के लिए व्यवस्थापिका या उसके एक-सदन को स्वीकृति आवश्यक होती है। उदाहरणार्थ, संयुक्त राज्य अमेरिका में विधान के अनुसार सीनेट की स्वीकृति आवश्यक है; यद्यपि बिना सीनेट की स्वीकृति के कुछ प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय समझौते करने का राष्ट्रपति का अधिकार सीनेट ने मान लिया है।[1] व्यवहार में, संयुक्त राज्य अमेरिका की सीनेट का अधिकार राष्ट्रपति द्वारा की गयी सन्धियों एवं समझौतों को अस्वीकार या स्वीकार करने तक ही सीमित नहीं है, वरन् कई बार उसने अपने सामने स्वीकृति के लिए प्रस्तुत की हुई सन्धियों में संशोधन करने के अधिकार का प्रयोग भी किया है।[2] अमेरिका की प्रतिनिधि-सभा (House of Representatives) को भी इसी प्रकार अप्रत्यक्ष रीति से सन्धि करने की सत्ता में भाग लेने का अधिकार है क्योंकि जब सन्धि को अमल में लाने के लिए किसी कानून की आवश्यकता होती है और जब राष्ट्रपति द्वारा इस प्रकार के कानून का मसौदा उसके सामने प्रस्तुत किया जाता है, तब वह उसे अस्वीकार कर सकती है, उदाहरणार्थ, ऐसा कानून जिसमें आर्थिक माँग की गयी हो। इसके अतिरिक्त विदेशी व्यापार के नियमन सम्बन्धी सन्धियों, जैसा व्यापार सम्बन्धी पारस्परिक समझौतों पर तो उसकी स्वीकृति की आवश्यकता राष्ट्रपति तथा सीनेट दोनों ही मानते हैं।

जर्मन गणतन्त्र में राष्ट्रपति द्वारा जो संधियाँ एवं समझौते किये जाते हैं, उनके लिए जर्मन पार्लामिण्ट (Reichstag) की स्वीकृति की आवश्यकता है, यदि वे उसकी (Reich) अधिकार सीमा के अन्तर्गत हैं, अर्थात् राज्यों के आपस के छोटे-छोटे समझौतों या उनके और पड़ोसी राज्यों के उन मामलों को छोड़ कर जिनके लिए उन्हें सत्ता प्राप्त है, प्रायः सन्धियों में उसकी स्वीकृति आवश्यक होती है। फ्रान्स में शान्ति-संधियों, व्यापारिक सन्धियों तथा ऐसी संधियों पर, जिनका सम्बन्ध राज्य के प्रदेश एवं राजस्व अथवा विदेशों में फ्रेन्च लोगों की सम्पत्ति या वैयक्तिक अधिकारों से

---

१. Political Science Quarterly, Sept. 1905 में J. B Moore का Treaties and Executive Arrangements शीर्षक वाला लेख देखिये। 'उसकी पुस्तक, Digest of International Law, Secs. 752-735 ; S. B. Crandall, Treaties, Their Making and Enforcement, pp 86-88 भी देखिये।

२. उदाहरणार्थ देखिये, Crandall, op. cit., p. 71. सन् १६०५ में सीनेट मे कुछ सदस्यों ने यह दावा पेश किया था कि राष्ट्रपति को किसी सन्धि के सम्बन्ध में वार्त्ता आरम्भ करने से पूर्व सीनेट का परामर्श प्राप्त करना चाहिए। इसके लिए विधान द्वारा वह बाध्य है। विधान में "परामर्श तथा अनुमति" शब्दों से तात्पर्य यह है कि केवल अनुमति ही नहीं ली जाय वरन् समझौते की वार्त्ता आरम्भ करने से पहले परामर्श भी लिया जाय। सन् १६१६ में वार्साई की सन्धि पर विचार के समय भी सीनेट में इसी प्रकार का दावा किया गया था। इस विषय का विस्तृत विवेचन Carwin, The President's Control of Foreign Relations" (1917); Matthews, The Conduct of American Foreign Relations ; Taft, Our Chief Magistrate and his Powers (1915); Fleming, The Treaty Veto of the American Senate (1929) तथा Wright, The Control of Foreign Relation में मिलता है।

है, दोनों सदनों की स्वीकृति आवश्यक है। परन्तु फ्रेन्च पार्लमिण्ट के दोनों सदनों में से किसी को अमेरिकन सीनेट की भाँति किसी भी संधि में संशोधन करने का अधिकार नहीं है। वे उसे पूर्णतः स्वीकार या अस्वीकार ही कर सकते हैं।[1]

फिनलैण्ड तथा पोलैण्ड के विधानों में भी इसी प्रकार की व्यवस्था है। चेकोस्लोवाकिया में केवल उन्हीं सधियों की व्यवस्थापिका द्वारा स्वीकृति आवश्यक नहीं है जो व्यापारिक है या जिनसे राष्ट्र पर आर्थिक बोझ पड़ता है, परन्तु उन सधियों पर भी उसकी स्वीकृति आवश्यक है जिनसे नागरिकों पर सैनिक या 'वैयक्तिक' भार पड़ता है। बेल्जियम में भी ऐसी ही व्यवस्था है। ब्राजील तथा चिली में भी व्यवस्थापिका के दोनों सदनों द्वारा प्राय समस्त सधियों की स्वीकृति आवश्यक है। संयुक्त राज्य अमेरिका में भी, जहाँ सीनेट के तिहाई से एक अधिक सदस्यों के हाथ में यह सत्ता है कि वे किसी भी सधि को रद्द कर दें, यह मांग की जा रही कि सधियों पर अमेरिकन काँग्रेस के दोनों सदनों के साधारण बहुमत की स्वीकृति आवश्यक होनी चाहिए। स्विट्जरलैंड में जो सधियाँ १५ वर्ष से अधिक की अवधि के लिए की जाती है, उनके सम्बन्ध में सार्वजनिक जनमत संघर्ष की व्यवस्था है। इस प्रकार इस देश में कूटनीति पर सार्वजनिक नियन्त्रण के सिद्धान्त का जो प्रयोग किया जा रहा है, वह अन्य किसी भी देश में नहीं है।

प्रशासन-सम्बन्धी सत्ताएँ[2] : नियुक्ति की सत्ता

आन्तरिक प्रशासन के सम्बन्ध में कार्यपालिका का प्रमुख कर्तव्य एवं अधिकार है कानूनों को कार्यान्वित करने के सम्बन्ध में निरीक्षण तथा निर्देशन। वह प्रशासन का प्रमुख होता है और सार्वजनिक सेवा का सर्वोच्च उत्तरदायी अधिकारी इस प्रकार उसके हाथ में अपने अधीन प्रशासन सम्बन्धी अधिकारियों तथा कर्मचारियों पर उनकी नियुक्ति, पदोन्नति तथा उनकी पदच्युति के अधिकार के कारण नियन्त्रण की व्यापक सत्ता है।[3] अधिकांश गणतन्त्र राज्यों और कुछ एकतन्त्र राज्यों में भी राज्य प्रमुख के इस अधिकार पर यह मर्यादा लगी हुई है कि उसके द्वारा की गयी नियुक्तियों पर व्यवस्थापक-मण्डल के किसी एक सदन की अनुमति प्राप्त होनी चाहिए। संयुक्त राज्य अमेरिका में राष्ट्रपति द्वारा जो व्यक्ति नियुक्त किये जाँय, उनके लिए सीनेट की स्वीकृति आवश्यक है। यह नियम दक्षिणी अमेरिका के कुछ राज्यों तथा अमेरिकन गणतन्त्र के विधायक राज्यों में भी प्रचलित है।[3] परन्तु पद-

---

१. Esmein, Droit Const., p. 577.

२. फ्रेन्च लोग कार्यपालिका के राजनीतिक या शासन-सम्बन्धी (Political or Governmental) और प्रशासन-सम्बन्धी (Administrative) कार्यों में भेद करते है। प्रथम कोटि में ऐसी बातें आती हैं, जैसे व्यवस्थापिका के सदनों को नियन्त्रित करना और उनका उद्घाटन करना, विदेशी सम्बन्धों का सचालन, सेना का नियमन तथा क्षमादान के अधिकार का प्रयोग। इसके विपरीत प्रशासन सम्बन्धी कार्यों में वे सब कार्य आ जाते हैं जिनका सम्बन्ध स्पष्टरूप से प्रशासन है, जैसे अधिकारियों की नियुक्ति, निर्देशन तथा पदच्युति, आदेशों तथा अध्यादेशों को जारी करना और साधारणतया वे सब कार्य जिनका सम्बन्ध कानूनों को अमल में लाने से है।

३. किन्तु चिली के विधान (१९२५) के अनुसार सीनेट की स्वीकृति केवल राजदूतों एवं मन्त्रियों (धारा ७१) की नियुक्ति पर ही आवश्यक है। ब्राजील में केवल

च्युति के सम्बन्ध मे सीनेट की स्वीकृति की आवश्यकता द्वारा राष्ट्रपति का अधिकार मर्यादित नहीं है और अब यह निश्चित है कि कांग्रेस को राष्ट्रपति की इस सत्ता पर रुकावट लगाने का कोई वैधानिक अधिकार नहीं है। साधारणतया राष्ट्रपति को नियुक्ति करने की सत्ता केवल राजनीतिक, न्यायिक तथा सैनिक अधिकारियों के सम्बन्ध में ही होती है, परन्तु कुछ योरोपियन राज्यो मे (उदाहरणार्थ, चेकोस्लोवाकिया मे) विधान के अनुसार उसे विश्वविद्यालयो के अध्यापको की नियुक्ति का भी अधिकार है। राज्य के उच्च अधिकारियों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा हो, इसके औचित्य के विषय मे मतभेद नहीं है।[1] परन्तु मतभेद इस बात मे है कि उसे स्वतन्त्ररूप से नियुक्तियाँ करने का अधिकार होना चाहिए अथवा सीनेट या किसी परिषद् का इस बात मे उस पर *नियन्त्रण* हो। संयुक्त राज्य अमेरिका के *विधान* मे जो पद्धति रखी गयी है, उसके समर्थन मे हैमिल्टन ने लिखा है कि संघ के सर्वोच्च पदाधिकारियों की उत्तम ढंग से नियुक्ति के लिए इससे श्रेष्ठ योजना का निर्माण सरल नहीं है और यह कहने के लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है कि देश के प्रशासन की प्रकृति इसी बात पर निर्भर है।' 'एक विचारशील एवं दूरदर्शी व्यक्ति समान या उच्चतम दूरदर्शिता वाले कई व्यक्तियों की अपेक्षा उन विशिष्ट गुणों की जाँच-पड़ताल करने मे अधिक योग्य होता है, जो विशिष्ट पदो के लिए आवश्यक होती हैं।' पूर्ण एवं अविभाजित उत्तरदायित्व कार्यपालिका मे कर्तव्य-परायणता की सजीव भावना तथा अपने सम्मान की रक्षा के लिए भी विशेष जागरूकता उत्पन्न करता है। वह अधिक गम्भीरता के साथ जाँच-पड़ताल करेगा और अधिक निष्पक्ष भाव से निर्णय करेगा। एक समिति या बोर्ड की अपेक्षा वह आत्म-तृप्ति के लिए कम चेष्टा करेगा और उसकी अपेक्षा मित्रता या व्यक्तिगत अनुराग या सम्बन्ध से कम प्रभावित होगा। हर अवस्था मे उसके आचरण की हर समय परीक्षा की जा सकेगी और उसके प्रति गलत भावना भी कम पैदा हो सकेगी। परन्तु हैमिल्टन ने यह स्वीकार किया है कि राष्ट्रपति द्वारा की गयी नियुक्तियों पर सीनेट की अनुमति आवश्यक होने से उसकी पक्षपात की भावना पर एक बड़ा अच्छा प्रतिबन्ध लग जायगा और इस प्रकार अयोग्य व्यक्तियो की नियुक्तियाँ न हो सकेंगी।[2]

सुप्रीम कोर्ट के न्यायाधीशो तथा राजदूतो की नियुक्ति पर ही सीनेट की स्वीकृति आवश्यक है (धारा ४८)।

१. संयुक्त राज्य मे विशेषकर क्रान्तिकारी प्रजातन्त्रीय लोगो मे कई संघीय अधिकारियों के लोक-निर्वाचन के पक्ष मे भावनाएँ हैं। राष्ट्रपति द्वारा समस्त संघीय अधिकारियों की नियुक्ति की व्यवस्था से १८ वी शताब्दी के अन्त मे प्रचलित प्रजातन्त्रीय भावना प्रकट होती है, आजकल की नहीं। इस प्रकार प्रजातन्त्र के जिस सिद्धान्त पर राष्ट्रीय शासन का कार्यपालक अंग आधारित *है, उसमे और पृथक्-पृथक् राज्यों के, जहाँ लोक-निर्वाचन की प्रथा व्यापक रूप* से प्रचलित है, सिद्धान्त मे बड़ा भेद है। संयुक्त राज्य अमेरिका के बाहर स्विट्ज़रलैण्ड को छोड़ कर, जहाँ व्यवस्थापिका द्वारा निर्वाचन प्रचलित है, सब जगह कार्यपालिका द्वारा नियुक्ति की प्रथा है।

२. The Federalist No. 76. Story, Commentaries, Sec., 1529 तथा Kent, Commentaries, Vol. I, p. 288 भी देखिये।

निर्देशन की सत्ता

राज्य के उच्च अधिकारियों की नियुक्ति एवं पदच्युति के सम्बन्ध में राष्ट्रपति के अधिकार में एक दूसरा अधिकार उत्पन्न होता है और वह है उनके निर्देशन का अधिकार। इस सत्ता के विस्तार के सम्बन्ध में विभिन्न देशों में ही नहीं, वरन् एक ही राज्य में विभिन्न अधिकारियों के सम्बन्ध में भी भेद है। एकतन्त्र राज्यों में और फ्रान्स जैसे गणतन्त्र राज्यों में, जहाँ एकतन्त्रीय परम्परा आज भी शक्तिशाली बनी हुई है, कार्यपालिका (अर्थात् मन्त्रि-परिषद्) की निर्देशात्मक सत्ता बहुत अधिक है। संयुक्त राज्य अमेरिका में कार्यपालिका की अपने अधीन अधिकारी वर्ग के निर्देशन की सत्ता पर व्यवस्थापिका के कानूनों द्वारा मर्यादाएँ लगी हुई हैं, जिनके द्वारा न्यूनाधिक विस्तार से उनके अधिकार और कर्तव्य निर्धारित किये गये हैं। काँग्रेस के उस कानून में, जिसके अनुसार राजस्व विभाग का संगठन किया गया है, राष्ट्रपति के निर्देशन के अधिकार के सम्बन्ध में कोई उल्लेख नहीं है। उससे यह प्रकट होता है कि राजस्व की व्यवस्था काँग्रेस के नियन्त्रण में रहेगी, कार्यपालिका के नहीं।[1] अनेक कानून राष्ट्रपति को शासन के विभागों के प्रमुखों को आदेश जारी करने का स्पष्ट अधिकार देते हैं। इसके अतिरिक्त राष्ट्रपति को कुछ निर्देशन के भी अधिकार हैं, जो उसके पद के कारण ही उसे प्राप्त हैं और जिनके लिए उसे किसी कानून के आधार की अपेक्षा नहीं है।[2]

अध्यादेश-सत्ता

अधिकांश राज्यों में कार्यपालिका को एक महत्वपूर्ण सत्ता प्राप्त है जो अध्यादेश की सत्ता (Ordinance Power) कहलाती है। यह एक प्रकार से कानून बनाने की गौण सत्ता है। वह इस सत्ता के आधार पर आदेश, नियम आदि निर्माण कर उन्हें जारी कर सकता है। यह सत्ता विधान द्वारा राज्य या गणतन्त्र के राष्ट्रपति को स्पष्टरूप से प्रदान की जाती है।[3] संयुक्त राज्य अमेरिका में राष्ट्रपति को यह अधिकार विधान की उस धारा के अन्तर्गत प्राप्त है, जिसके अनुसार उसे कानूनों को कार्यान्वित करने का कार्य सौंपा गया है। फ्रान्स में भी राष्ट्रपति को विधान की इसी प्रकार की धारा द्वारा अध्यादेश जारी करने का अधिकार प्राप्त है (२५ फरवरी सन् १८७५

---

१ तुलना कीजिये, Fairlie, National Administration of the United States, p. 16

२. Opinions of Attorney-General, Vol. VI, p 365.

३. उदाहरणार्थ, देखिये, ब्राजील का विधान (धारा ४८), चिली (धारा ७१), फिनलैण्ड (धारा २८), बेल्जियम (धारा ६७), स्पेन, १८७६ (धारा ४५), 'प्रशा, १८५० (धारा ४५)। प्रशा, चेकोस्लोवाकिया तथा पोलैण्ड के नये विधान इस विषय में मौन हैं। नये जर्मन विधान में भी राष्ट्रपति के आदेशों तथा निर्देशनों का उल्लेख तो है परन्तु अध्यादेश-सत्ता की कहीं चर्चा नहीं है। यह देखते हुए कि पुराने विधान के अन्तर्गत सम्राट् को अध्यादेश जारी करने की विस्तृत सत्ता थी और जिसका जर्मनी के शासन में महान् स्थान था, यह माना जा सकता है कि विधान-सभा का उद्देश्य उस सत्ता को बिलकुल मिटा देने का नहीं था। फिर भी नये विधान में इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि राष्ट्रपति के आदेशों तथा निर्देशनों पर एक उत्तरदायी मन्त्री के हस्ताक्षर भी अवश्य होंगे।

के वैधानिक कानून की धारा ३)। विधान मे इस प्रकार की सत्ता का स्पष्ट उल्लेख न भी हो तो भी यह सत्ता उस पद के दायित्वों के निर्वाह के लिए उसमें स्वाभाविक रूप से निहित और इस प्रकार उस पद की प्रकृति से ही प्राप्त समझी जा सकती है। एकतन्त्र राज्यों में वैधानिक या कानूनी मर्यादाओं के प्रभाव में यह राजकीय विशेषाधिकार (Royal Prerogative) का अंग समझी जाती है। जहाँ अध्यादेश के निर्माण तथा उसे जारी करने की सत्ता स्पष्टरूप से विधान द्वारा प्रदान की जाती है, वहाँ स्पष्टरूप से उस पर यह मर्यादा लगायी जाती है कि जो अध्यादेश (Ordinances) कार्यपालिका द्वारा जारी किये जायँगे, वे प्रचलित कानूनों[1] मे कोई परिवर्तन नही करेंगे और न उन्हें स्थगित ही करेंगे या वे केवल ऐसे ही होंगे जिनकी कानूनों को कार्यान्वित करने में आवश्यकता हो,[2] अथवा ऐसे, जिनका उद्देश्य कानूनों को लागू करने के सम्बन्ध मे विस्तार की बातों का उल्लेख करना हो।[3] कभी-कभी विधान द्वारा कार्यपालिका को संकट-काल में अध्यादेश जारी करने के लिए असाधारण सत्ता प्रदान की जाती है। डेनमार्क के विधान (धारा २५) द्वारा ऐसे मामलों मे, जब व्यवस्थापिका का अधिवेशन न हो रहा हो, अस्थायी रूप से कानून बनाने तथा उन्हें जारी करने का अधिकार है, परन्तु ऐसे कानून विधान के प्रतिकूल नहीं होने चाहिए और व्यवस्थापिका के आगामी अधिवेशन मे उन्हें उसके समक्ष प्रस्तुत करना आवश्यक होता है। सन् १९१४ के विश्वयुद्ध के आरम्भ हो जाने पर विग्रही राष्ट्रों की कार्यपालिकाओं को इस प्रकार के विशद अधिकार प्रदान किये गये। ब्रिटेन मे २७ नवम्बर सन् १९१४ के देश-रक्षा-कानून (Defence of Realm Act) के अनुसार सपरिषद्-राजा (King-in-Council) को 'वर्तमान युद्ध की अवधि मे देश-रक्षा तथा सार्वजनिक सुरक्षा की रक्षा के लिए नियम जारी करने' की सत्ता प्राप्त हुई। यह अधिकार असीमित था। इस अधिकार के अनुसार देश में ऐसे नियम तथा अध्यादेश जारी किये गये कि समूचा देश फौजी कानून के अधीन हो गया।

अध्यादेशों के भेद

उद्देश्य तथा प्रकृति की दृष्टि से अध्यादेशों के अनेक भेद हैं। जर्मन विधान-वेत्ता कानूनी अध्यादेश (Law Ordinance) तथा प्रशासनात्मक अध्यादेश (Administrative Ordinance) में भेद मानते हैं।[4] पहले का उद्देश्य नवीन कानूनों की रचना अथवा प्रचलित कानूनों में परिवर्तन करना होता है; यह एक प्रकार का कार्यपालिका-व्यवस्थापन होता है। दूसरे प्रकार के अध्यादेश प्रशासकीय अधिकारियों को सम्बोधित आदेश या नियम होते हैं जिनका उद्देश्य प्रशासनीय सेवाओं के कार्यों का नियमन करना होता है। इस कारण उनका प्रभाव साधारण नागरिकों पर सीधा नही पड़ता और न वे उनके लिए बन्धनकारी ही होते हैं। प्रशा मे सन् १८५० के बाद से, जब वहाँ विधान का निर्माण हुआ, पहले प्रकार के अध्यादेशों पर व्यवस्थापिका की स्वीकृति आवश्यक थी और यह प्रायः उदारतापूर्वक दी जाती थी। परन्तु दूसरे प्रकार के अध्यादेश कम से कम पुराने विधान के अन्तर्गत व्यवस्थापिका की अनुमति के बिना

१. इटली का विधान, धारा ६ तथा बेल्जियम का विधान, धारा ६७।
२. ब्राजील तथा चिली।
३. फिनलैण्ड कर-विधान, धारा ४७३।
४. इस वर्गीकरण का समर्थन लेबेण्ड, जेलिनेक, मेयर तथा अन्य लेखकों ने किया है।

तथा सन् १६३४ मे काँग्रेस के कानूनो द्वारा राष्ट्रपति रूजवेल्ट को व्यवस्थापन सम्बन्धी विशद एव व्यापक अधिकार प्रदान किये गये। राष्ट्रपति की घोषणाओं, आदेशो एवं नियमों के रूप मे गौण व्यवस्थापन के अतिरिक्त और भी विशिष्ट नियम, आदेश और निर्देश हैं, जो विविध विभागो एव कमिश्नरों द्वारा जारी किये जाते हैं।

ग्रेट ब्रिटेन मे अध्यादेश-सत्ता

ग्रेट ब्रिटेन मे राजा की व्यवस्थापन की पहले जैसी स्वाभाविक सत्ता नही रही जिसके अनुसार वह घोषणाओं या अध्यादेशो द्वारा कानूनो की पूर्ति किया करता था, परन्तु वह सार्वजनिक कार्यों के संचालन के लिए राज्य के कर्मचारियों को सम्बोधित नियम जारी कर सकता है। इसके अतिरिक्त, पार्लमिण्ट के कानूनो द्वारा भी उसे ऐसे अध्यादेशों के जारी करने का अधिकार प्राय दिया जाता है जिसका समस्त समाज पर बन्धनकारी प्रभाव कानून की तरह ही होता है। यह अधिकार विशेषकर शिक्षा तथा सार्वजनिक स्वास्थ्य आदि के सम्बन्ध मे दिया गया है। इन नियमों को "कानूनी नियम एव आदेश" (Statutory Rules and Orders) कहा जाता है और ये सब प्रति वर्ष पार्लमिण्ट के कानून के समान एक ग्रन्थ के रूप मे प्रकाशित होते हैं। ताज को इस प्रकार के गौण व्यवस्थापन की सत्ता देने की प्रथा पिछले वर्षों मे बढती जा रही है और उसका परिणाम तथा महत्व काफी बढ गया है।[1]

कार्यपालिका की सैनिक सत्ता

कार्यपालिका की सैनिक सत्ता के अन्तर्गत राज्य की स्थल-सेना, नौसेना एवं वायुसेना तथा अन्य प्रकार की सैन्य शक्ति पर सर्वोच्च अधिकार सम्मिलित हैं। ग्रेट-ब्रिटेन जैसे कुछ एकतन्त्र राज्यों म इसमे कार्यपालिका को युद्ध-घोषणा का भी अधिकार सम्मिलित है, परन्तु चूंकि युद्ध संचालन के साधन स्वीकृत करने का कार्य पार्लमिण्ट का है इसलिये ऐसे सम्बन्ध मे पार्लमिण्ट की अनुमति आवश्यक है। संयुक्त राज्य अमेरिका मे यह सत्ता काँग्रेस मे निहित है, यद्यपि कार्यपालिका के लिए यह सम्भव है कि वह देश के वैदेशिक सम्बन्धो का नियमन इस प्रकार करे जिससे ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाय जो युद्ध को एक व्यावहारिक आवश्यकता का रूप दे दे। जर्मन साम्राज्य के पुराने विधान के अनुसार सम्राट् आक्रमणकारी युद्ध की घोषणा बण्डसराथ की अनुमति से ही कर सकता था।[2] सन् १६१६ के जर्मन विधान मे युद्ध तथा सन्धि करने की सत्ता पार्लमिण्ट मे निहित है (धारा ४५) चेकोस्लोवाकिया मे युद्ध की घोषणा के लिए व्यवस्थापिका के ⅗ भाग की अनुमति आवश्यक है। फ्रान्स में दोनों सदनों की अनुमति आवश्यक है। परन्तु किसी भी देश में युद्ध-सचालन एक लम्बे समय

---

१. तुलना कीजिये, Lowell, Government of England, Vol. I, pp. 19-20 Dicey, Law of the Constitution (2nd ed.), p 47 तथा Ilbert, Legislative Methods and Forms, Ch. 3 भी देखिये। इंगलैण्ड की सामान्य हड़ताल के समय में सन् १६२० में Emergency Powers Act स्वीकार किया गया था जिसके द्वारा शासन या उसके किसी विभाग को भूमि कोयले की खानों तथा यातायात के संचालन पर अधिकार करने की सत्ता प्रदान की गयी।

२. देखिये, Baldwin, The Share of the President of the United States in a Declaration of War, Amer. Jour of Int. Law, Vol. XIII (1918), pp 1 ff.

तक व्यवस्थापिका की अनुमति के बिना सम्भव नहीं ; क्योंकि युद्ध-संचालन के साधनों पर उसका ही अधिकार रहता है, कार्यपालिका का नहीं। प्रत्येक देश में यह माना जाता है कि सेनानायकों का चुनाव, घेरों की व्यवस्था तथा शत्रु की सत्ता को नष्ट करने के लिए तथा युद्ध की सफलता के लिए जो भी कार्य आवश्यक हो, उसे करने का अधिकार कार्यपालिका को है।[1] इसके अतिरिक्त, संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति को शत्रु के देश के उन प्रदेशों पर आधिपत्य रखने और उनका अस्थायी शासन करने का अधिकार है जो अमेरिकन सेनाओं के अधिकार में आ चुके हों और इस उद्देश्य से वह उन प्रदेशों के असैनिक शासन को हटा कर उसके स्थान पर सैनिक शासन की स्थापना कर सकता है तथा उसे अपनी इच्छानुसार अधिकार प्रदान कर सकता है।[2] अन्त में, युद्ध-काल में कार्यपालिका को शान्ति-काल में व्यक्तियों की रक्षा के लिए विधान द्वारा स्थापित सामान्य नागरिकता की गारण्टियों को स्थगित कर देने का भी अधिकार है। सशस्त्र सेना के प्रधान नायक के रूप में वह फौजी कानून भी स्थापित कर सकता है और वह बन्दी प्रत्यक्षीकरण लेख (Writ of Habeas Corpus) को स्थगित कर सकता है ; साधारणतया निर्दोष कार्यों को सैनिक अपराध घोषित कर व्यक्तियों को गिरफ्तार कर दण्ड देने की व्यवस्था कर सकता है, समाचार-पत्रों का दमन कर सकता है तथा इसी प्रकार के अन्य कार्य कर सकता है। अनेक विधान युद्ध के अभाव में भी संकटकालीन स्थिति में राष्ट्रपति को यह अधिकार देते हैं कि वह फौजी कानून की घोषणा कर दे और कुछ काल के लिए नागरिकों के वैधानिक अधिकारों को स्थगित कर दे।[3]

युद्ध के कारण सदा ही कार्यपालिका की सत्ता में बड़ा विस्तार हो जाता है और राज्य-प्रमुख एक प्रकार से अधिनायक जैसा हो जाता है। इस पर भी, राजनीतिक विचारक तथा अतीत काल का अनुभव युद्ध-काल में एक ही व्यक्ति के हाथों में ऐसी सत्ताओं को केन्द्रित कर देने के पक्ष में है। राज्य के सैनिक संगठन में द्वित्व के

---

१. किन्तु पोलैण्ड का विधान (धारा ४६) युद्ध-काल में राष्ट्रपति को मुख्य कमान अपने हाथ में लेने के अधिकार नहीं देता। फिनलैण्ड के विधान (धारा ३०) में राष्ट्रपति को युद्ध-काल में अपनी कमान दूसरे किसी को सौंप देने का अधिकार है। चिली के विधान की ७२वीं धारा के अनुसार युद्ध में सेना को आदेश देने के अधिकार के प्रयोग के लिए राष्ट्रपति को सीनेट की अनुमति प्राप्त करनी पड़ती है।

२. तुलना कीजिये, Thomas, A History of Military Government in Newly Acquired Territory of the United States, pp 15-20. राष्ट्रपति की सत्ताओं के विषय में देखिये, Berdahl, War Powers of the Executive of the United States, *University of Illinois Studies in the Social Sciences,*Vol. IX, Nos. 1 and 2. (1921)

३. उदाहरणार्थ, जर्मन विधान की ४८वीं धारा। इस अधिकार के अनुसार सन् १९२० में जनवरी से मई तक बर्लिन का नगर फौजी कानून के अधीन रखा गया था और ८ नवम्बर सन् १९२४ से १४ फरवरी सन् १९२५ तक हिटलर तथा ल्युडेनडॉर्फ के विद्रोह के फलस्वरूप सारा देश फौजी कानून के अधीन था। Hart, op. cit., pp. 59 ff. किन्तु फ्रान्स जैसे कुछ देशों में संकटकालीन घोषणा पार्लमिण्ट की स्वीकृति से ही की जा सकती है।

लिए कोई स्थान नहीं है। हैमिल्टन ने कहा है कि 'शासन के समस्त कार्यों में युद्ध-सचालन का कार्य ही ऐसा है, जिसके लिए विलक्षण रूप में ऐसे गुणों की अपेक्षा है, जो एक ही व्यक्ति द्वारा सत्ता-प्रयोग में सम्भव हैं। युद्ध-सचालन का अर्थ है सार्वजनिक शक्ति का सचालन और सार्वजनिक शक्ति का संचालन तथा प्रयोग कार्यपालिका सत्ता की परिभाषा का एक आवश्यक एवं उपयोगी अंश है।'[1] चान्सलर केण्ट का भी मत है कि सार्वजनिक शक्ति पर अधिकार तथा उसका प्रयोग, कानूनों को कार्यान्वित करना, शान्ति कायम रखना और विदेशी आक्रमणों का प्रतिकार प्रत्यक्षतः ऐसी कार्य-पालिका सत्ताएँ हैं और वे ऐसे गुणों की अपेक्षा रखती हैं, जो इस विभाग के लिए ही उपयुक्त हैं और इसीलिए संसार के सभी देशों में यह कार्य इसी विभाग को सौंपा जाता है।[2]

क्षमादान का अधिकार

अन्त में, अपराधियों को क्षमादान अथवा दयादान (Clemency) सर्वसम्मति से कार्यपालिका सत्ता का स्वाभाविक एवं आवश्यक अधिकार माना जाता है। बेकेरिया नामक लेखक ही अपने समय का ऐसा राजनीतिक लेखक है जिसने कार्यपालिका द्वारा उन अपराधियों को क्षमादान करने की व्यवस्था की निन्दा की है, जिन्हें न्यायालय ने दोषी घोषित कर दिया है। मांतेस्क्यू ने इसे एकतन्त्रीय शासन का एक अत्यन्त उपादेय एवं आवश्यक गुण माना है, परन्तु उसके मतानुसार गणतन्त्र-राज्यों में इसके लिए कोई स्थान नहीं है।[3] चान्सलर केण्ट ने लिखा है कि उच्च कोटि के कुछ अंग्रेज वकीलों ने यह बड़ा विलक्षण निष्कर्ष निकाला है कि ऐसा अधिकार गणतन्त्र-राज्यों में नहीं हो सकता, क्योंकि उनमें मैजिस्ट्रेट से उच्च किसी को नहीं माना जाता। किन्तु केण्ट ने यह ठीक ही कहा है कि 'यह समुचित ही है। यह सत्ता स्वाधीन राज्यों में अन्य राज्यों की अपेक्षा अधिक सुरक्षा के साथ रह सकती है, क्योंकि स्वाधीन राज्यों में उत्तरदायित्व की जिस भावना के अधीन राज्य-प्रमुख कार्य करता है, उसके कारण इस क्षमादान की सत्ता का दुरुपयोग होने की सम्भावना कम रहती है।'[4]

मानवता एवं न्याय के विचार से क्षमादान के सिद्धान्त को राज्य की न्याय-

---

१. The Federalist, No 74

२ Commentaries, Vol. I, p. 283. प्रथम विश्वयुद्ध के दिनों में काँग्रेस ने कई कानून बना कर राष्ट्रपति को अधिनायक सा बना दिया था। स्थानाभाव से यहाँ उसकी समस्त शक्तियों का वर्णन नहीं दिया जा सकता। इस विषय पर Hart, op. cit., pp. 98 ff. में विस्तृत रूप से लिखा गया है। *Atlantic Monthly*, Vols. CXX and CXXI (pp 485 and 632 ff.) में Ford के The Growth of Dictatorship तथा The War and the Constitution शीर्षक वाले लेख तथा *Quarterly Review*, Vol. CCXXI, pp. 54 ff. में Rogers का Presidential Dictatorship in the United States शीर्षक वाला लेख भी देखिये। इसी प्रकार के अधिकार अन्य देशों के राज्य-प्रमुखों को भी युद्ध के दिनों में मिलते थे।

३. Esprit des Lois, Bk. VI, Ch. 21.

४. Commentaries, Vol. I, p 284. केण्ट ने जिस अंग्रेज वकील की चर्चा की है, वह ब्लैकस्टोन था।

व्यवस्था मे अवश्य स्थान मिलना चाहिए। न्याय-व्यवस्था की कोई भी प्रणाली पूर्ण नही हो सकती। एसमीन ने कहा है कि यह असम्भव है कि न्याय-प्रबन्ध मे ऐसी न्यायिक भूलें कदापि न हो जिनसे निर्दोष व्यक्तियो को दण्ड मिले। क्षमादान का एक प्रयोजन ऐसी भूलो का शोधन करना है।[1] एसमीन ने यह भी लिखा है कि 'यह असम्भव है कि दण्ड-विधान किसी अपराध के लिए दण्ड का निर्धारण करते समय उन सब परिस्थितियो का पूरा-पूरा विचार रखे जिनके कारण किसी विशेष अपराध के करने के समय अपराधी का दोष कम हो जाता है।'[2]

हैमिल्टन का कथन है कि यदि मानवता एवं स्वस्थ सार्वजनिक नीति के विचार से क्षमादान का अधिकार आवश्यक है, तो इसी विचार से इस उदारतापूर्ण विशेषाधिकार पर कम मे कम बन्धन होना चाहिए।[3] चीन मे सन् १९२३ के विधान की ८७वी धारा के अनुसार राष्ट्रपति चीन के सर्वोच्च न्यायालय की अनुमति से ही क्षमादान कर सकता है। अमेरिकन संघ के कुछ राज्यो में कार्यपालिका को इस अधिकार के प्रयोग मे परामर्श देने तथा क्षमादान के आवेदन-पत्र की जाँच करने के लिए और उसके सम्बन्ध मे सिफारिश करने के लिए एक परामर्शदात्री समिति होती है।

कई विधानो मे उच्च राज्याधिकारियों पर महाभियोग (Impeachment) तथा कुछ राज्यो मे देशद्रोह के अपराध अपवाद माने जाते हैं और कार्यपालिका की क्षमादान सत्ता के बाहर रखे गये हैं।[4] महाभियोग एक प्रकार का ऐसा मुकद्दमा है जो प्राय: व्यवस्थापिका मे उच्च अधिकारियो के अपराधो के सम्बन्ध मे होता है। ये अपवाद इसलिए रखे गये हैं कि कार्यपालिका राजकीय अधिकारियो की रक्षा न कर सके, विशेषकर ऐसे अधिकारियो की जो उसी के चुने हुए हो, उसके साधन हो अथवा उसके सह-अपराधी हों। देशद्रोह समाज के अस्तित्व के विरुद्ध अपराध है और जब एक बार देश के कानून द्वारा अपराध प्रमाणित हो जाय तब यही उचित है कि उसके क्षमादान का प्रश्न व्यवस्थापिका के समक्ष प्रस्तुत किया जाय।[5] इन अपवादो को छोड

१. सन् १८०६ मे इगलैण्ड मे एडॉल्फ बेक का उदाहरण ऐसा ही था।

२ Droit Const., p 532. संयुक्त राज्य अमेरिका के भूतपूर्व राष्ट्रपति हेरिसन ने लिखा है : 'क्षमादान के अधिकार का आधार यह है। दण्ड-विधान कठोर होता है और प्रत्येक मानवीय न्याय-पचायत के लिए भूल करना स्वाभाविक है। अत: इस प्रकार की भूल का पता लग जाने अथवा नवीन साक्ष्य प्राप्त हो जाने पर कोई ऐसा अधिकारी अथवा विभाग होना चाहिए जो दण्ड को कम कर दे अथवा अपराधी को सर्वथा निर्दोष घोषित कर दे।' The Country of Ours, p. 1++.

३ *The Federalist, No. 74.*

४. परन्तु फ्रांस के विधान के अनुसार राष्ट्रपति उन राजमन्त्रियो को भी क्षमादान दे सकता है, जिन पर सीनेट मे दोषारोपण किया जा चुका है। चीन के विधान के अनुसार दोषारोपण के मामलो मे सीनेट की अनुमति से क्षमादान दिया जा सकता है और चिली मे यह अधिकार काँग्रेस को दिया गया है।

५. १७८७ की विधान सभा मे राजद्रोह तथा महाभियोग के मामले राष्ट्रपति के क्षमादान के अधिकार से बाहर रखने के लिए बड़ा प्रयत्न किया गया था, परन्तु

क्षमादान का अधिकार सामान्यतया कार्यपालिका को प्राप्त है। जहाँ तक संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति से सम्बन्ध है, वह क्षमादान के अधिकार का प्रयोग दोषी प्रमाणित हो जाने के पूर्व तथा उपरान्त कर सकता है, वह अर्थ-दण्ड तथा जब्ती के दण्ड को कम कर सकता है, प्राणदण्ड को अल्प-काल के लिए स्थगित कर सकता है तथा एक प्रकार के दण्ड के स्थान में दूसरे प्रकार का दण्ड दे सकता है। वह राज-बन्दियों को भी क्षमादान दे सकता है और एक विशेष राजकीय घोषणा द्वारा बहुत से व्यक्तियों को उनके कार्यों के परिणाम से मुक्त कर सकता है। मानवता तथा सार्वजनिक नीति की दृष्टि से देश में विप्लव तथा अशान्ति के समय इस प्रकार के क्षमादान की आवश्यकता होती है।[1]

राज्य-प्रमुख के प्रकीर्ण अधिकार

राज्य-प्रमुख के सामान्य अधिकार इस प्रकार के हैं। उसके व्यवस्थापन-सम्बन्धी अधिकारों का अगले पृष्ठों में विस्तारपूर्वक विवेचन किया जायगा। इनके अतिरिक्त कुछ राज्यों के विधान उन्हें कुछ प्रकीर्ण अधिकार भी प्रदान करते हैं। इस प्रकार ऑस्ट्रिया के विधान (धारा ६५) द्वारा राष्ट्रपति को व्यावसायिक पदवियाँ प्रदान करने तथा दोगले बालकों को औरस (Legitimate) बना देने का भी अधिकार दिया गया है और कानून द्वारा उसे दूसरे अधिकार भी दिये जा सकते हैं। चेकोस्लोवाकिया के विधान की धारा ६४ के अनुसार राष्ट्रपति मन्त्रि-परिषद् की सिफारिश पर विशिष्ट मामलों में पेन्शन अथवा दान भी दे सकता है। फिनलैण्ड के विधान की धारा ३१ के अनुसार राष्ट्रपति विदेशियों को फिनलैण्ड का नागरिक बना सकता है और फिनों को नागरिकता से मुक्त कर सकता है। चिली के विधान की धारा ७२ के अनुसार राष्ट्रपति कानूनों के अनुसार विधवाओं तथा अनाथों के लिए वृत्ति आदि दे सकता है और निजी निगमों (कॉरपोरेशनों) को कानूनी व्यक्तित्व प्रदान कर सकता है तथा उनका व्यक्तित्व छीन सकता है और उनके नियमों को स्वीकार या रद्द भी कर सकता है; चिली के विधान की धारा ७१ के अनुसार राष्ट्रपति को राज्य के शासन तथा प्रशासन का पूरा अधिकार है और वह इस सत्ता का प्रयोग उस प्रत्येक बात में कर सकता है जिसका प्रयोजन विधान और कानून के अनुसार देश की बाहरी सुरक्षा तथा आन्तरिक सार्वजनिक व्यवस्था से हो।

(५) कार्यपालिका सत्ता का व्यवस्थापिका सत्ता से सम्बन्ध

कार्यपालिका के व्यवस्थापन-सम्बन्धी अधिकार

सिजविक का मत है कि सर्वोच्च कार्यपालिका और व्यवस्थापिका का सम्बन्ध विधान-रचना की सबसे बड़ी पेचीदी ग्रन्थि है और इस सम्बन्ध की प्रकृति ही दो प्रमुख शासन पद्धतियों—मन्त्रि-परिषद् शासन-प्रणाली तथा राष्ट्रपति शासन-प्रणाली में भेद

वह प्रयत्न सफल नहीं हुआ क्योंकि यह निर्णय नहीं हो सका कि ऐसे मामलों में क्षमादान की सत्ता राष्ट्रपति को नहीं तो किसको दी जाय।

१. परन्तु साधारणतया योरोप में सामान्य क्षमादान (General Amnesty) की सत्ता का प्रयोग *व्यवस्थापक-मण्डल करते हैं, कार्यपालिका नहीं।* किन्तु चेकोस्लोवाकिया (धारा १०३) में राष्ट्रपति को यह अधिकार है। पोलैण्ड (धारा ४७) में इस सत्ता का प्रयोग कानून बना कर ही किया जा सकता है। ब्राजील (धारा ३४, में प्राय: यही व्यवस्था है।

स्थापित करती है।[1] व्यवहार मे, संसार मे ऐसा कोई भी राज्य—राष्ट्रपति-प्रणाली वाला राज्य भी नहीं है, जहाँ कार्यपालिका का कार्य-क्षेत्र व्यवस्थापिका के क्षेत्र से सर्वथा अलग और स्वतन्त्र हो। सर्वत्र कार्यपालिका को व्यवस्थापिका के कार्य पर कुछ नियन्त्रण प्राप्त है और वह प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से कानून-निर्माण-कार्य मे भाग लेती है। इसके विपरीत समस्त राज्यो मे राज्य-प्रमुख पर व्यवस्थापिका कई बातो मे पदो की रचना तथा उनके कर्तव्यो का निर्धारण, सार्वजनिक सेवा की स्थापना, उसके संचालन के लिए आर्थिक सहायता की स्वीकृति और राज्य-प्रमुख के दायित्व एवं कर्तव्य स्थिर करने आदि की सत्ता द्वारा नियन्त्रण रखती है।

व्यवस्थापिका पर कार्यपालिका का नियन्त्रण, व्यवस्थापिका को आमन्त्रित करने, उसका उद्घाटन करने, उसे नियत तथा अनिश्चित काल के लिए स्थगित करने और जिन देशो मे मन्त्रि-परिषद् प्रणाली है, उनमे उसे भंग कर पुनः नवीन निर्वाचन की व्यवस्था द्वारा होता है। गणतन्त्र राज्यो मे कार्यपालिका को केवल संकट काल मे व्यवस्थापिका के विशेष अधिवेशन आमन्त्रित करने का अधिकार होता है, जिससे खास विषयो पर तुरन्त विचार किया जा सके। ऐसे अनेक राज्यो मे विधान द्वारा व्यवस्थापिका के अधिवेशनों की तिथि निर्धारित कर दी जाती है और इस प्रकार उन्हे कार्यपालिका द्वारा आमन्त्रित करने की आवश्यकता नही होती।[2] किन्तु जिन राज्यो मे मन्त्रि-परिषद्-प्रणाली प्रचलित है, उनमे व्यवस्थापिका के अधिवेशन कार्यपालिका द्वारा ही आमन्त्रित किये जाते है। कई ऐसे राज्यो मे कार्यपालिका के लिए (जिससे आशय है मन्त्रि-परिषद्) नियत अवधि समाप्त होने पर व्यवस्थापिका का अधिवेशन आमन्त्रित करना आवश्यक है। कुछ राज्यो मे (जैसे चेकोस्लोवाकिया मे) राज्य-प्रमुख को कुछ सदस्यो के अनुरोध पर भी अधिवेशन आमन्त्रित करना पड़ता है।

जिन राज्यो मे विधान द्वारा व्यवस्थापिका के अधिवेशनो का समय निर्धारित होता है, उसमें व्यवस्थापिका स्वयं ही अपना अधिवेशन कर लेती है और बिना कार्यपालिका के वह अपना स्वयं उद्घाटन करती है। जिन राज्यो में मन्त्रि-परिषद्-प्रणाली स्थापित है, उनमे व्यवस्थापिका का उद्घाटन राज्य-प्रमुख या उसका कोई प्रतिनिधि समारोह के साथ करता है। वह अधिवेशन में उपस्थित होकर भाषण देता है, अथवा प्रधान-मन्त्री अपने भाषण में मन्त्रि-परिषद् की नीति पर, यदि मन्त्रि-परिषद् नई बनी हो, प्रकाश डालता है। योरोप के देशों में, जहाँ वैधानिक एकतन्त्र राज्य हैं, मन्त्रि परिषद् को अधिवेशनो को नियत काल के लिए स्थगित करने का ऐसा अधिकार विधान द्वारा मिलता है, यद्यपि गणतन्त्र-राज्यो में कार्यपालिका का ऐसा अधिकार नही माना जाता। जिन देशो में मन्त्रि-परिषद् शासन प्रणाली है, वहाँ कार्यपालिका को कुछ मर्या-

१. Elements of Politics, p. 429.
२. उदाहरणार्थ, संयुक्त राज्य, जर्मनी, चिली, चीन तथा ब्राजील मे ऐसा ही होता है। चेकोस्लोवाकिया के विधान की २८वी धारा के अनुसार राष्ट्रपति को पार्लामेण्ट आमन्त्रित करने का अधिकार है, परन्तु उसे वर्ष में दो बार—मार्च तथा अक्टूबर में ऐसा करना पडता है। वह उसे स्थगित कर सकता है और उसके अधिवेशन समाप्त भी कर सकता है। इसी प्रकार पोलैण्ड मे वह पार्लामेण्ट को आमन्त्रित कर सकता है, उसका उद्घाटन कर सकता है, उसे स्थगित कर सकता है और कुछ मर्यादाओं के अन्दर बन्द भी कर सकता है। संयुक्त राज्य के राष्ट्रपति को स्थगन का अधिकार नही है।

दाग्रो के अन्तर्गत व्यवस्थापिका को स्थगित (Adjourn) करने का भी अधिकार है। राष्ट्रपति शासन-प्रणाली के अन्तर्गत कार्यपालिका को उसी समय व्यवस्थापिका व स्थगित करने का अधिकार है जब दोनो सदनो में स्थगित करने के समय के सम्बन्ध मे मतैक्य न हो। जिन देशो मे मन्त्रि-परिषद्-शासन है, उनमे कार्यपालिका व व्यवस्थापिका अथवा उसके लोक-प्रिय सदन को भंग करने (Dissolution) का अधिकार है। परन्तु इस अधिकार की कुछ मर्यादाएं हैं। कुछ अपवादों के साथ इस अधिकार का प्रयोग उत्तरदायी मन्त्रि-परिषद् के परामर्श से हो सकता है और अधिवेशन भंग करने के पश्चात् एक नियत अवधि मे उसका पुनः निर्वाचन हो जाना चाहिए तथा नई पार्लमिण्ट का अधिवेशन होना चाहिए। सैद्धान्तिक रूप से ब्रिटिश कार्यपालिका पर नवीन चुनावो की व्यवस्था तथा नवीन पार्लमिण्ट को आमन्त्रित करने के सम्बन्ध में कोई मर्यादा नही है, परन्तु व्यवहार मे ब्रिटिश पार्लमिण्टरी प्रणाली की परिस्थितियो के कारण यह आवश्यक है।[2] अमेरिका के गणतन्त्रो में, जहाँ राष्ट्रपति-शासन-प्रणाली है, उनसे कार्यपालिका का व्यवस्थापिका को भंग करने का अधिकार नहीं माना जाता। वहाँ व्यवस्थापिका के सदस्यो का कार्य-काल विधान के अनुसार पूरा हो जाने पर ही या त्याग-पत्र देने पर या निकाल दिये जाने पर ही समाप्त होता है।

कार्यपालिका व्यवस्थापिका के कार्यो मे उसे देश की व्यवस्थापन-सम्बन्धी आवश्यकताओ का ज्ञान देकर, उसके विचारार्थ कानूनो के मसविदो की सिफारिश करके, कभी-कभी व्यवस्थापन-सम्बन्धी योजनाओं को प्रारम्भ करके, उसके द्वारा स्वीकृति कानूनों पर स्वीकृति या अस्वीकृति द्वारा तथा स्वीकृत कानूनों को जारी करके भाग लेती है; व्यवस्थापिका को आवश्यक सार्वजनिक मामलों की सूचना देने तथा सार्वजनिक सेवा की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए कानून स्वीकृत करने के लिए उसके सामने सिफारिश करने का जो काम कार्यपालिका को सौंपा जाता है, उसका स्पष्ट कारण यह है कि उसे देश-विदेश के मामलो का व्यवस्थापिका की अपेक्षा अधिक विस्तृत ज्ञान होता है। न्यायाधीश स्टोरी ने कहा है कि 'कानूनों पर यथार्थ अमल, व्यापार, राजस्व, न्याय, सेना, नौसेना तथा नागरिक प्रशासन आदि की प्रणाली मे जो दोष हैं, उन्हें शासन के किसी

---

१. किन्तु चेकोस्लोवाकिया का राष्ट्रपति पार्लमिण्ट को वर्ष मे एक बार और एक महीने तक के लिए स्थगित कर सकता है। इसी प्रकार फ्रान्स का राष्ट्रपति एक सेशन में एक महीने तक के लिए दो बार स्थगित कर सकता है।

२. जर्मन साम्राज्य मे सम्राट् को विधान के अनुसार बुन्डसराथ की अनुमति के बिना राइकुस्टाग को भंग करने का अधिकार नहीं था और उसके भंग होने के बाद ६० दिन के भीतर ही नये चुनाव तथा ९० दिन के भीतर नई पार्लमिण्ट का अधिवेशन आवश्यक था। वर्तमान विधान के अनुसार राष्ट्रपति उसे एक ही कारण के लिए केवल एक ही बार भंग कर सकता है और भंग होने के बाद ६० दिन नया चुनाव होना चाहिए। फ्रान्स मे राष्ट्रपति सीनेट की अनुमति से ही चेम्बर को भंग कर सकता है परन्तु नये चुनाव तथा नये चेम्बर के अधिवेशन के लिए विधान मे कोई शर्त नहीं है। पोलैण्ड मे राष्ट्रपति सीनेट के ⅗ सदस्यों की अनुमति से ही निम्न सदन का भंग कर सकता है और सीनेट निम्न-सदन के साथ अपने आप ही भंग हो जाता है। चेकोस्लोवाकिया मे राष्ट्रपति के भंग करने के अधिकार पर कोई मर्यादा नहीं है, केवल इतना ही है कि वह अपनी अवधि के अन्तिम ६ महीनो मे इस अधिकार का प्रयोग नही कर सकता।

दूसरे विभागों की अपेक्षा कार्यपालिका जल्दी देख सकती है और वे उसकी दृष्टि में भी अधिक रहते हैं। इसमें वास्तव में महान् बुद्धिमत्ता है कि विधान द्वारा राष्ट्रपति को व्यवस्थापिका के विचार में सहायता देने के लिए सब आवश्यक बातों एवं तथ्यों को उसके समक्ष रखने की अनुमति ही न मिले वरन् उसके लिए बुराई की ओर ध्यान आकर्षित करना और उसके उपाय बतलाना भी आवश्यक है।[१]

कार्यपालिका का निषेधाधिकार

व्यवस्थापन के सम्बन्ध में कार्यपालिका की सबसे महान् सत्ता है—व्यवस्थापिका द्वारा स्वीकृत कानूनों पर उसकी स्वीकृति की आवश्यकता। कानूनों को अस्वीकार कर देने के कार्यपालिका के अधिकार को विशेषाधिकार (Veto) कहते हैं।

ग्रेट ब्रिटेन जैसे कुछ राज्यों में निषेध (Veto) का अधिकार निरपेक्ष है; व्यवस्थापिका अपने कैसे भी बहुमत से उसे रद्द नहीं कर सकती। परन्तु मन्त्रि-परिषद्-प्रणाली में विकास के फलस्वरूप व्यवस्थापिका के कानूनों को अस्वीकार करने के अधिकार का प्रयोग नहीं किया जाता और शायद असाधारण स्थितियों को छोड़कर उसका प्रयोग कभी होगा भी नहीं।[२] अधिकांश विधानों में कार्यपालिका का निषेध का अधिकार सीमित है अर्थात् व्यवस्थापिका उसे रद्द कर सकती है। यदि इस प्रकार कार्यपालिका द्वारा अस्वीकृत कानून को व्यवस्थापिका का एक असाधारण बहुमत, साधारणतया दो-तिहाई सदस्यों का मत, उसे पुनः अस्वीकार कर ले, तो कार्यपालिका के निषेध का कोई प्रभाव नहीं रहता। फ्रान्स में कार्यपालिका का निषेधाधिकार केवल स्थगनकारी है और उसका प्रयोग जो कानून व्यवस्थापिका द्वारा स्वीकृत है, परन्तु राष्ट्रपति ने जिसे अस्वीकार कर दिया है, उस पर व्यवस्थापिका द्वारा पुनर्विचार कराने के लिये ही किया जा सकता है। एसमीन ने कहा है कि 'पार्लमेण्ट की प्रवर्तक सत्ता के खतरों तथा उसकी सत्ता के दुरुपयोग के विरुद्ध यह एक प्रकार का रक्षा-साधन है।[३] निषिद्ध कानून को यदि व्यवस्थापिका साधारण बहुमत से स्वीकार कर ले, तो वह राष्ट्रपति का निषेध होने पर भी वैध कानून हो जाता है। वास्तव में, तृतीय गणतन्त्र की स्थापना के पश्चात् फ्रान्स में इस स्थगनकारी निषेधाधिकार का एक बार भी प्रयोग नहीं हुआ और इस प्रकार यह केवल एक अप्रचलित नियम ही है। चूँकि फ्रान्स में मन्त्रि-परिषद्-प्रणाली स्थापित है, अतः राष्ट्रपति द्वारा निषेध के अधिकार के प्रयोग का कोई अवसर सम्भव नहीं है।[४]

---

१. Commentaries, Vol. I, Sec 1561. Tucker's Blackstone, pp. 343-345 तथा Rawle, On the Constitution, Ch 16

२. किन्तु कार्य में न आने के कारण ताज का यह अधिकार नष्ट नहीं हुआ है क्योंकि आंग्ल विधान का यह मौलिक सिद्धान्त है कि ताज का कोई अधिकार काम में न आने के कारण नष्ट नहीं होता। Burgess, Political Science and Constitutional Law, Vol. II, p. 903 Lowell, Government of England, Vol I. pp. 25-26 भी देखिये।

३. Droit Const., p 540

४. ब्राजील में भी संयुक्त राज्य की तरह काँग्रेस के दो-तिहाई मत से राष्ट्रपति का निषेधाधिकार रद्द हो जाता है (धारा ३७)। चिली में भी यही व्यवस्था है (धारा ५४)। चेकोस्लोवाकिया में इसके लिए दोनों सदनों का ४० प्रतिशत मत

निषेध के अधिकार का मुख्य उद्देश्य तो यह है कि व्यवस्थापिका किसी कानून को जल्दी मे और बिना अच्छी तरह विचार किये हुए स्वीकार न कर सके और व्यवस्थापिका कार्यपालिका के अधिकारों का अतिक्रमण न कर सके।[1] हैमिल्टन ने कहा है कि गणतन्त्र राज्यो मे व्यवस्थापिका सत्ता में अन्य सत्ताओं को हड़प कर जाने की दुनिवार प्रवृत्ति दिखाई देती है। 'जनता के प्रतिनिधि कभी-कभी ऐसा विचार करने लगते है कि वे स्वय ही जनता है और दूसरे विभागो पर अपना आधिपत्य स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं। चूंकि साधारणतया जनता उनके पक्ष में होती है, वे सदैव ऐसी गति के साथ काम करते हैं कि शासन के अन्य अधिकारियो के लिए विधान का समतोलन बनाये रखना कठिन हो जाता है।'[2] तीनो विभागो (व्यवस्थापिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका) की सीमाओं का केवल कागज पर निर्धारण ही पर्याप्त नहीं है, अतः प्रत्येक को एक-दूसरे के द्वारा होने वाले अपहरण से अपनी रक्षा करने के लिए वैधानिक अस्त्र देना चाहिए।[3] कार्यपालिका को यदि निषेध का अधिकार न हो, तो व्यवस्थापिका एक के पश्चात् दूसरा प्रस्ताव पास कर उसकी सत्ता को धीरे-धीरे छीन कर उसका बिलकुल विनाश ही कर सकती है। सयुक्त राज्य अमेरिका जैसे देश में इस प्रकार का खतरा और भी अधिक है क्योंकि वहाँ उसे व्यवस्थापिका को स्थगित करने या भंग करने का अधिकार नही है।[4]

हैमिल्टन ने कहा है कि 'निषेध का अधिकार केवल राष्ट्रपति के लिए कवच ही नही है, इससे विवेकहीन कानून के निर्माण पर अतिरिक्त रोक भी लगती है और कलह, शीघ्रता, विचार की कमी आदि के दोषों पर भी स्वस्थ नियन्त्रण लग जाता है। किन्तु जहाँ कार्यपालिका के वैधानिक अधिकारों का प्रश्न नहीं आता, संक्षेप में, जहाँ कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका मे मतभेद केवल किसी कानून की उपयुक्तता एवं उपयोगिता के सम्बन्ध मे ही हो, वहाँ निषेध के अधिकार का प्रयोग कम ही करना

अथवा निम्न सदन के तीन-चौथाई मत की आवश्यकता होती है (धारा ४८)। फिनलैंड (धारा १६) मे निम्न सदन के अजेय बहुमत से यह अधिकार रद्द हो जाता है। ऑस्ट्रिया के नये विधान मे पार्लमिण्ट द्वारा स्वीकृत कानूनो पर राष्ट्रपति की स्वीकृति आवश्यक नहीं है। जर्मन गणतन्त्र के विधान मे राष्ट्रपति को निषेध का अधिकार नहीं है, परन्तु जिस कानून को वह स्वीकार नही करता, उस पर वह जनमत ले सकता है (धारा ७३), अर्थात् निषेधाधिकार निर्वाचकगण के हाथो में है, राष्ट्रपति के नहीं।

१. Daniel Webster (Works, Vol. I, p. 255) ने निषेध के अधिकार के सम्बन्ध में लिखा है कि यह अधिकार राष्ट्रपति को निस्सन्देह इसलिए दिया गया था कि जल्दबाजी मे तथा बिना पूरी तरह विचार किये कोई कानून न बन सके और भूल से कोई कानून ऐसा न बन जाय जिससे शासन के अन्य विभागो की उचित सत्ता का आक्रमण हो। Burgess (Political Science and Constitutional Law, Vol. II, p. 255) का भी यही मत है।

२. The Federalist, No. 70 ; Tocqueville, Democracy in America Vol. I, p. 125.

३. The Federalist, No. 73 ; Story Commentaries, Vol. I, Sec. 884 ; Kent, Commentaries, Vol. I, Lect. XI.

४. तुलना कीजिये, Esmein, Droit Const., p. 507.

चाहिए। एक बुद्धिमान राष्ट्रपति कभी भी व्यवस्थापिका के निर्णय के विरुद्ध नहीं जायगा। वरन् उसकी सार्वजनिक नीति सम्बन्धी विचारों को मान लेगा।[1]

इस तर्क के उत्तर मे कि राष्ट्रपति अपने इस अधिकार का प्रयोग बुरे कानूनो की तरह श्रेष्ठ कानूनो के रोकने के लिए भी कर सकता है, यह कहा जा सकता है कि यदि व्यवस्थापिका का विशाल बहुमत निषिद्ध कानून के पक्ष मे है तो इस अधिकार का प्रभावकारी प्रयोग नही किया जा सकता। हैमिल्टन ने कहा है कि इस प्रकार के तर्क का उन पर कोई प्रभाव नही पड सकता जो 'कानूनो की अस्थिरता एवं चञ्चलता के दोषो से भलीभांति परिचित हैं, जो दोष हमारे शासनो मे एक भारी कलङ्क है। हमारे कानून-निर्माण के दोषो पर नियन्त्रणकारी प्रत्येक कार्य का हमे स्वागत करना चाहिए।[2] ये दोष हैमिल्टन के बाद से निश्चय बहुत बढ गये हैं। जिन देशो मे राष्ट्रपति का निषेधाधिकार मर्यादित है अर्थात् उसके द्वारा अस्वीकृत कानून व्यवस्थापिका द्वारा पुनः बहुमत से स्वीकार किया जा सकता है, उनमे राष्ट्रपति के लिए ऐसा साधन प्रदान किया जाता है जिससे वह उनकी स्वीकृति के निमित्त भेजे गये कानून मे दोष बतलाकर व्यवस्थापक-मण्डल मे उस पर पुनः विचार करा सके। यह एक प्रकार से व्यवस्थापिका के प्रति एक अपील होती है कि वह अपने निर्णय पर पुनर्विचार करे।[3] यह बात संयुक्त राज्य अमेरिका के सम्बन्ध मे मुख्यत: सत्य है, जहाँ राष्ट्रपति को अपने आक्षेपो के कारण बतलाने पडते हैं और व्यवस्थापिका के लिए इस प्रकार राष्ट्रपति द्वारा अस्वीकृत कानून पर विचार करना आवश्यक होता है।

अदालती कार्यवाही से कार्यपालिका की मुक्ति

यह सार्वभौम सिद्धान्त के रूप मे मान्य है कि राष्ट्रपति या राज्य-प्रमुख पर अपनो अपराधो अथवा राजनीतिक नीतियो आदि के सम्बन्ध मे साधारण न्यायालयों का कोई नियन्त्रण नही हो सकता।

संयुक्त राज्य अमेरिका मे राष्ट्रपति अपने अपराधो के लिए केवल महाभियोग के न्यायालय की हैसियत से सीनेट के प्रति उत्तरदायी है। राष्ट्रपति पर उसका अधिकार इतना ही है कि उसका दोष प्रमाणित हो जाने पर वह उसे अपने पद से अलग कर सकती है तथा फिर राजकीय पद प्राप्त करने के अयोग्य घोषित कर सकती है। वह किसी सामान्य न्यायालय के आदेश से गिरफ्तार नही किया जा सकता, न उसकी स्वतन्त्रता छीनी जा सकती है, न वह किसी न्यायालय के आदेश के अनुसार न्यायालय मे उपस्थित होने के लिए बाध्य किया जा सकता है और न उसे किसी न्यायालय के समक्ष साक्ष्य देने के लिए बाध्य ही किया जा सकता है। संयुक्त राज्य अमेरिका के न्यायालयो ने उसके विरुद्ध सम्मन जारी करने से सदैव इन्कार किया है, न उसके विरुद्ध न्यायालयों ने कोई आदेश (Injunction) ही कभी जारी किया है और न कभी उसकी विवेक-सत्ता पर अंकुश लगाने का यत्न ही किया है। अपने अपराधो के लिए साधारण न्यायालयो के प्रति उसके दायित्व से उसकी मुक्ति उसके कार्य-काल की समाप्ति के *साथ खत्म हो जाती है। जैसे ही वह एक साधारण नागरिक बन जाता है,* वह न्यायालय की अधिकार-सीमा के अन्तर्गत आ जाता है और अपने किसी दुराचरण के लिए वह न्यायालय के समक्ष उत्तर देने के लिए विवश किया जा सकता है। इसके

---

१. तुलना कीजिये, Burgess, op. cit., Vol. II, p. 255.
२. Federalist, No. 73 ; Story, Commentaries, Vol. I, Sec. 886.
३. Story, op. cit., Vol. I, Sec. 888.

अतिरिक्त, न्यायालय उसके द्वारा जारी किये गये नियमों एवं आदेशों को शून्य तथा व्यर्थ घोषित करने में बिलकुल संकोच नहीं करते यदि उनके विचार में वे विधान के अनुकूल न हों। इसके साथ ही राष्ट्रपति या राज्यप्रमुख को अदालती कार्यवाही से जो मुक्ति प्राप्त है, वह उसके अधीन किसी को, उसके मन्त्रियों तक को, प्राप्त नहीं है। उन पर साधारण न्यायालयों का पूर्ण अधिकार है और विधान तथा कानूनों के उल्लंघन के लिए वे अपने बचाव में राष्ट्रपति के आदेशों का आश्रय नहीं ले सकते। चूंकि राष्ट्रपति अपने अधीन कर्मचारियों द्वारा ही कार्य करता है, इसलिये न्यायालय, उसे कानूनों तथा विधान के प्रतिकूल कार्य करने से इस प्रकार रोक सकते हैं।

राष्ट्रपति की न्यायालयों की अधिकार-सीमा से मुक्ति की आलोचना कुछ सिद्धान्तवादियों ने यह कह कर की है कि यह उस एकतन्त्रीय सिद्धान्त का, जिसके अनुसार "राजा भूल नहीं कर सकता", अवशिष्ट चिह्न है और इसलिए गणतन्त्रीय शासन के सिद्धान्तों में असंगत एवं खतरनाक है। परन्तु अनुभव और तर्क से यह प्रमाणित होता है कि यह राजनीतिक आवश्यकता तथा स्वस्थ सार्वजनिक नीति के आधार पर उचित है। राज्य के प्रमुख को न्यायालय के नियन्त्रण में उसकी स्वतन्त्रता एवं कार्यपालिका-सत्ता की एकता को नष्ट किये तथा उसके कर्त्तव्य-पालन में हस्तक्षेप किये बिना रखना सम्भव नहीं। यदि इस प्रकार साधारण न्यायालयों द्वारा उस पर नियन्त्रण लगाने का प्रयत्न भी किया गया तो वह अपनी कार्यपालिका-सत्ता के बल पर अपने विरुद्ध होने वाली न्यायिक प्रक्रिया को रोक देगा अथवा वह अपने क्षमादान के अधिकार से न्यायालय द्वारा उसे दिये हुए दण्ड को स्वयं क्षमा कर लेगा और इस प्रकार कार्यपालिका तथा न्यायपालिका में संघर्ष होगा। पिछले अनुभव से प्रकट होता है कि साधारण न्यायालयों से उसकी स्वतन्त्रता के कारण जिन संकटों की आशंका की गयी है, व अधिकांश में काल्पनिक हैं, वास्तव में, इस दिशा में खतरे उनकी अपेक्षा बहुत कम हैं, जो राष्ट्रपति के कामों में साधारण न्यायालयों के निरन्तर नियन्त्रण से और जनता को अराजकता की सम्भावना में डाल देने से होंगे।[1]

राष्ट्रपति को अपने पद से अलग करने की अन्य देशों की रीतियाँ

अन्य अनेक देशों में राष्ट्रपति को साधारण अदालती कार्यवाही से मुक्त तथा पदच्युत करने की प्रणाली अमेरिका के समान ही है। फ्रान्स में केवल देशद्रोह के लिए राष्ट्रपति पर दोषारोपण चेम्बर ऑफ डिपुटीज द्वारा ही किया जा सकता है और उसका मुकद्दमा उच्च न्यायालय की हैसियत से सीनेट में होता है। परन्तु आश्चर्य की बात है कि फ्रेन्च विधान में देशद्रोह की न कहीं परिभाषा की गयी है और न उसके लिए कोई दण्ड व्यवस्था ही है। क्या ऐसी स्थिति में इसका निर्णय कि अमुक कार्य देशद्रोह है या नहीं और क्या उसके लिए दण्ड का निर्णय करना भी सीनेट का कार्य है? फ्रेन्च दण्ड विधान (धारा ५) का, जैसा सन् १७८७ की अधिकार-घोषणा (धारा ८) में उल्लेख है, यह सिद्धान्त है कि कानून के अनुसार ही अपराधी दण्डित हो सकता है। संक्षेप में, जहाँ कोई कानून नहीं, वहाँ दण्ड भी नहीं हो सकता। फ्रान्स में आज तक राष्ट्रपति पर कोई देशद्रोह का आरोप नहीं किया गया।[2] चिली में राज्य

---

१. तुलना कीजिये, Burgess, op. cit, Vol. II, pp. 246-237 ; Finley and Sanderson, The American Executive, p 48.

२. Esmein (op. cit, 5th ed., pp. 706 ff.) का मत है कि दण्ड निर्धारित करने का कार्य सीनेट का है।

की सुरक्षा अथवा सम्मान को खतरे मे डालने वाले कामो या विधान अथवा कानूनो के खुले उल्लंघन के लिए राष्ट्रपति पर उसके कार्य-काल मे और पद-निवृत्ति के ६ मास बाद तक चेम्बर ऑफ डिपुटीज दोषारोपण कर सकता है। उसका मुकद्दमा सीनेट मे होगा जहां उसे दो-तिहाई सदस्यो के मत से अपराधी घोषित किया जा सकता है और इस पर वह अपने आप अपने पद से अलग हो जाता है (सन् १९२५ के विधान की धारा ३९) ।

ब्राजील के राष्ट्रपति पर चेम्बर ऑफ डिपुटीज साधारण तथा राजकीय दोनों प्रकार के अपराधो के लिए दोषारोपण कर सकता है (धारा ५३)। अपने साधारण अपराधो के लिए उसका मुकद्दमा सर्वोच्च न्यायालय के समक्ष होता है और राजकीय अपराधो के लिए सीनेट के समक्ष। चीन मे राष्ट्रपति पर उसके कार्य-काल मे कोई मुकद्दमा नही चलाया जा सकता, परन्तु प्रतिनिधि सभा (House of Representative) उस पर देशद्रोह के लिए दो-तिहाई मत से दोषारोपण कर सकती है तथा सीनेट उसका मुकद्दमा कर सकती है। यदि दो-तिहाई सदस्यो द्वारा उसका दोष प्रमाणित हो गया, तो वह अपने पद से हटा दिया जायगा। उस पर सर्वोच्च न्यायालय मे भी मुकद्दमा चलाया जा सकता है। (सन् १९२३ का विधान, धारा ६० तथा ६१)। ऑस्ट्रिया मे राष्ट्रपति पर सघीय विधान के उल्लंघन के लिए दोनो सदनों के संयुक्त अधिवेशन मे दोषारोपण किया जा सकता है और उसके बाद सर्वोच्च वैधानिक न्यायालय मे उस पर मुकद्दमा चलाया जा सकता है। दोष प्रमाणित हो जाने पर वह अपने पद से अलग किया जा सकता है और अल्प काल के लिए उसे राजनीतिक अधिकारो से भी वंचित किया जा सकता है। (सन् १९२० का विधान, धारा १४२)। इसी प्रकार चेकोस्लोवाकिया के राष्ट्रपति पर चेम्बर ऑफ डिपुटीज में दो-तिहाई मत से दोषारोपण किया जा सकता है तथा सीनेट में मुकद्दमा चलाया जा सकता है (सन् १९२० का विधान, धारा ३४)। पोलैण्ड में भी राष्ट्रपति पर विधान के उल्लंघन, देश के साथ विश्वासघात तथा फौजदारी अपराधो के लिए निम्न सदन के ⅗ मत से दोषारोपण किया जा सकता है और मुकद्दमा सर्वोच्च न्यायालय में चलाया जाता है (सन् १९२१ का विधान, धारा ५१)।

जर्मनी के नये विधान (सन् १९१९) द्वारा यह घोषित किया गया है कि बिना राइकस्टाग की अनुमति के राष्ट्रपति पर साधारण अपराधो के लिए मुकद्दमे नही चलाये जायँगे, परन्तु विधान अथवा कानून के उल्लघन के लिए राइस्कटाग में उस पर दो-तिहाई मत से दोषारोपण किया जा सकता है और सर्वोच्च न्यायालय में उस पर मुकद्दमा चलाया जा सकता है (धारा ४३, ५९)। परन्तु दण्ड के सम्बन्ध में कुछ भी उल्लेख नही है। शायद विधान-निर्माताओ का यह विचार होगा कि दण्ड की व्यवस्था कानून द्वारा होगी।

वर्तमान रीतियो का मूल्यांकन

यही साधारण रीतियां हैं जिनके अनुसार गणतन्त्र-राज्यो में राष्ट्रपति अपने पद से हटाया जा सकता है। प्रत्येक राज्य मे सामान्य सिद्धान्त वही है, अन्तर इतना ही है कि कुछ राज्यो में मुकद्दमा सुनने और निर्णय करने वाली संस्था व्यवस्थापक-मण्डल का उच्च सदन होती है और कुछ मे सर्वोच्च न्यायालय। प्रत्येक प्रणाली से लाभ हैं और हानियां भी। व्यवस्थापिका द्वारा जांच राजनीतिक सभा द्वारा जांच होती है और असाधारण बहुमत की शर्त होते हुए भी यह निश्चित नहीं है कि अपराधी राजनीतिक कारणों से दण्डित नहीं किया जायगा। परन्तु जब सर्वोच्च

न्यायालय में मुकद्दमा होता है तो इसका अधिक विश्वास हो सकता है कि उसमें राजनीतिक कारणों का प्रभाव नहीं पड़ेगा। परन्तु इससे हानि यह है कि ऐसे प्रश्नों के निर्णय का भार न्यायालय पर छोड़ दिया जाता है जो न्याय-सम्बन्धी न होकर राजनीतिक हो सकते हैं। फिर भी सर्वोच्च न्यायालय द्वारा परीक्षा ही उपयुक्त है।

जनता द्वारा जर्मन राष्ट्रपति का प्रत्याह्वान (Recall)

एक बात में जर्मन राष्ट्रपति की स्थिति अन्य गणतन्त्रों के राष्ट्रपति से भिन्न है। जनता के मत से वह अपनी कार्य-अवधि समाप्त होने से पूर्व ही वापस बुला लिया जा सकता है। राइकस्टाग में राष्ट्रपति को पदच्युत करने के सम्बन्ध में दो-तिहाई सदस्यों के मत द्वारा प्रस्ताव स्वीकार करके यह प्रश्न जनता के मत-संग्रह (Referendum) के लिए प्रस्तुत किया जा सकता है। ऐसे प्रस्ताव के स्वीकृत होने के बाद से जब तक जनता अपना मत न दे दे तब तक वह अपने पद से अपने आप ही मुअत्तिल हो जाता है। राष्ट्रपति राइकस्टाग को भंग करके इस प्रकार की कार्यवाही में रोक लगा सकता है; परन्तु पार्लमिण्ट भंग करने के आदेश पर उसके लिए चान्सलर के हस्ताक्षर प्राप्त करना आवश्यक होता है और चूँकि चान्सलर राइकस्टाग के प्रति उत्तरदायी होता है, इसमें सदेह है कि वह उसकी अनुमति प्राप्त कर सकेगा। पार्लमिण्ट उस समय तक उसके विरुद्ध कार्यवाही करने में सकोच करती है, जब तक उसे यह विश्वास न हो जाय कि जब यह प्रश्न जनता के मत-संग्रह के लिये रखा जायगा तो जनता उसे उसके पक्ष में मत देगी क्योंकि यदि जनता ने पक्ष में मत नहीं दिया तो विधान के अनुसार राइकस्टाग अपने आप भंग हो जायगी। यदि राष्ट्रपति के पक्ष में जनमत मिला तो उसका एक प्रभाव यह भी होगा कि वह फिर सात वर्ष के लिए पुन: इस पद पर निर्वाचित हो जायगा (धारा ४३)।

फ्रेन्च पार्लमिण्ट की राष्ट्रपति को त्याग-पत्र देने के लिए बाध्य करने की सत्ता

फ्रेन्च राष्ट्रपति की स्थिति अपने कार्य-काल के सम्बन्ध में, व्यवहार में और भी संदिग्ध है। यद्यपि विधान द्वारा वह सात वर्ष के लिए निर्वाचित होता है और देशद्रोह का आरोप सिद्ध हो जाने पर वह सीनेट द्वारा पदच्युत किया जा सकता है; तथापि इस प्रकार की परम्परा प्रतिष्ठित हो चुकी है कि पार्लमिण्ट के विरोध द्वारा वह अवधि समाप्त होने से पहले भी त्याग-पत्र देने के लिए विवश किया जा सकता है। राष्ट्रपति ग्रेवी से पार्लमिण्ट ने त्याग-पत्र देने की माँग की और उसे त्याग-पत्र देना पड़ा। हाल में उसने राष्ट्रपति मिलराँ को भी इसी प्रकार उसके द्वारा नियुक्त मन्त्रि-परिषद् में अपना अविश्वास प्रकट करके त्यागपत्र दे देने के लिए बाध्य किया। उसने तथा उसके समर्थकों ने इसका विरोध किया और इसे अवैधानिक बतलाया, परन्तु यह सब व्यर्थ रहा।[1]

---

१. फ्रेन्च वैधानिक कानून के सुप्रसिद्ध पंडित ड्यूगी ने यह माना है और ठीक ही माना है कि चेम्बर ऑफ डिपुटीज का राष्ट्रपति को अपना कार्य-काल समाप्त होने से पूर्व त्याग-पत्र देने के लिए बाध्य करना फ्रेन्च विधान की भावना तथा भाषा के प्रतिकूल था। विधान में यह स्पष्टरूप में उल्लेख है कि उसे केवल देशद्रोह के कारण ही पद से अलग किया जा सकता है और वह भी उसी समय जब सीनेट में उसका दोष प्रमाणित हो जाय तथा उसे अपराधी घोषित कर दिया जाय। Traite de Droit Constitutionnel, Vol. IV, p. 557.

(६) गणतन्त्रीय कार्यपालिका के प्रकार

संयुक्त राज्य अमेरिका का राष्ट्रपति

यदि हम स्विस कार्यकारिणी का विचार न करें (क्योंकि वह अपने ढंग की अकेली है) तो वर्तमान गणतन्त्रीय राज्यों की कार्यपालिकाएँ तीन श्रेणियों में विभाजित की जा सकती हैं—अमेरिकन, जर्मन तथा फ्रेन्च। अमेरिकन प्रकार के अन्तर्गत संयुक्त राज्य अमेरिका का राष्ट्रपति तथा राज्यों के गवर्नर और दक्षिणी अमेरिका के, जिन्होने संयुक्त राज्य का ही अनुकरण किया है, राष्ट्रपति भी सम्मिलित हैं। इस कार्यपालिका की विशिष्टता यह है कि यह अपने निर्वाचन, अपने कार्य-काल, अपनी सत्ता के स्रोत और जिस रीति से वह अपनी उन सत्ताओं का प्रयोग करता है जो उसे विधान से प्राप्त हैं या जो उसके पद मे निहित समझी जा सकती हैं, इन सब बातों के सम्बन्ध में व्यवस्थापिका से पूर्णरूप से स्वतन्त्र है।[1] वह व्यवस्थापिका के प्रति अपने राजनीतिक कार्यों एवं नीतियों के सम्बन्ध में सर्वथा अनुत्तरदायी होता है और उसकी अपने निर्वाचकों के प्रति जिम्मेदारी भी ऐसी है जिसका कार्यान्वित करना व्यवहार में सम्भव नहीं। परिषद्-शासित गणतन्त्रों से भिन्न अमेरिकन गणतन्त्रों के राष्ट्रपति, वास्तव में, व्यवस्थापिका के नियन्त्रण से मुक्त हो कर, विधान द्वारा प्रदत्त समस्त अधिकारों का प्रयोग करते हैं और संयुक्त राज्य के राज्यों के गवर्नर भी ऐसा ही करते हैं।

लॉर्ड ब्राइस के एक बार कहा था कि संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति का पद संसार में सबसे महान् राजनीतिक पद माना जाता है। इस पद को एकतन्त्रात्मक (Monarchical) कहा जाता है; क्योंकि राष्ट्रपति व्यवस्थापिका तथा जनता के प्रति सर्वथा अनुत्तरदायी होता है।[2] राष्ट्रपति विल्सन ने बताया था कि शक्तिशाली

---

१. विधान तथा कानूनों द्वारा प्रदत्त सत्ताओं के अतिरिक्त अमेरिका में राष्ट्रपति के पद में निहित कोई स्वाभाविक सत्ताएँ हैं या नहीं, इस पर काफी विवाद होता रहा है। Neagle Case (135 U. S. I.) में सुप्रीम कोर्ट ने स्वीकारात्मक मत प्रकट किया था और राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने इसी सिद्धान्त पर कार्य किया। उसका कथन था कि राष्ट्रपति जनता का रक्षक है और इस कारण उसे राष्ट्र की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वे सब कार्य करने का अधिकार है जो विधान या कानूनों द्वारा स्पष्टतया निषिद्ध नहीं है। Autobiography, pp. 371, 479, 524. परन्तु राष्ट्रपति टाफ्ट का मत इसके विपरीत था। उसका कथन था कि राष्ट्रपति को ऐसी किसी सत्ता के प्रयोग का अधिकार नहीं है जो स्पष्टरूप से नहीं दी गयी हो या जो प्रदत्त सत्ता में निहित न हो। Taft, *Our Chief Magistrate and his Powers*, pp. 139-140, Willoughby, *Constitutional Law of the United States, Vol. II*, pp. 1152 ff. भी देखिये।

२. अमेरिका के सेक्रेटरी सेवार्ड ने एक योरोपियन राजदूत से कहा था कि 'आपमें और हममें अन्तर केवल इतना ही है कि आप राजा को जीवन भर के लिए चुनते हैं और हम प्रति चौथे वर्ष चुनकर उसे निरपेक्ष सत्ता प्रदान करते हैं, जिस पर कुछ बन्धन होते हैं, परन्तु उनकी व्याख्या करना भी उसी का काम है।' भूतपूर्व अमेरिकन राष्ट्रपति हेज ने कहा था कि सचमुच सारा राष्ट्र राष्ट्रपति को

तथा उत्तरदायित्व से न डरने वाले और नेतृत्व के गुणों से परिपूर्ण व्यक्ति के लिए राष्ट्रपति के पद की सत्ता एवं प्रभाव असीमित हैं। उसने स्वयं राष्ट्रपति के तीन कर्त्तव्य माने हैं—(१) वैधानिक एवं कानूनी कर्त्तव्य। इस रूप में वह प्रशासन एवं सरकार का प्रमुख होता है ; (२) अपने दूसरे रूप में वह अपने राजनीतिक दल का नेता होता है, (३) कानून-निर्माण कार्य में वह राष्ट्र का पथ-प्रदर्शक है। विलसन के मत के अनुसार एक दलीय नेता के रूप में, वह अपने दल के कार्यक्रम की रचना में प्रधान भाग लेता है और चूँकि देश के प्रतिनिधियों में से वही ऐसा है, जिसे देश ने चुना है, इस कारण वही देश का अधिवक्ता माना जा सकता है। उसका यह कर्त्तव्य है कि वह समस्त राष्ट्र के हितार्थ उन कानूनों को बनवाये जिनके लिए जनता ने अपना समर्थन प्रकट किया है।[1] इसके लिए उसका कार्य केवल व्यवस्थापिका के सामने सिफारिशें पेश करना और जिस कानून को वह ठीक नहीं समझता, उसे अस्वीकार करना ही नहीं है, वरन् वह प्रमुख सदस्यों के साथ तर्क तथा अनुनय द्वारा भी हस्तक्षेप कर सकता है, विरोधी सदस्यों की नियुक्ति के लिए सिफारिश को भी ठुकरा सकता है, लोकमत से प्रत्यक्ष अपील कर सकता है तथा अन्य प्रकार से दबाव डाल कर काँग्रेस को उसके द्वारा समर्थित योजनाओं एवं नीतियों को कार्यान्वित करने के लिए विवश कर सकता है।[2] विलसन तथा उससे पूर्व कुछ राष्ट्रपति कार्यपालिका के नेतृत्व के इस सिद्धान्त को सफलता के साथ कार्यान्वित कर सके थे, परन्तु इसका तीव्र विरोध किया गया है और व्यवहार में अधिकांश राष्ट्रपति इसी निषेधात्मक सिद्धान्त को मान कर कार्य करते रहे हैं कि नियम निर्माण में नेतृत्व काँग्रेस का है, राष्ट्रपति का नहीं।[3]

मुट्ठी में है।' प्रोफेसर फोर्ड ने लिखा है कि 'सत्य तो यह है कि राष्ट्रपति के पद द्वारा अमेरिकन लोकतन्त्र ने अपनी जाति की पुरातन राजनीतिक संस्था—निर्वाचित राजा—का पुनरुद्धार किया है।'

१ Taft (op. cit., p 18) ने इस बात पर भी जोर दिया है कि चूँकि राष्ट्रपति का निर्वाचन-क्षेत्र सारा देश है, इस कारण वह स्थानीय प्रभावों से अधिक मुक्त रहता है और इसी कारण वह सीनेट अथवा प्रतिनिधि-सभा की अपेक्षा देश की भावनाओं का कभी-कभी अधिक सच्चा प्रतिनिधित्व करता है।

२. Constitutional Government in the United States, Ch 3.

३ Charles E. Hughes ने सन् १९१२ से राष्ट्रपति के निर्वाचन के समय विलसन के सिद्धान्त की उसे विधान की भावना के विपरीत बताकर कड़ी आलोचना की थी। प्रथम विश्वयुद्ध के समय में, जब राष्ट्रपति का प्रभाव अत्यधिक बढ़ गया था तो उसके 'अधिनायकतन्त्र' का घोर विरोध किया गया था। केलिफोर्निया के एक रिपब्लिकन सीनेटर वर्क्स ने कहा था कि इस देश के इतिहास में पहले कभी राष्ट्रपति ने शासन की समस्त व्यवस्थापन-सत्ता स्वयं हस्तगत नहीं की और न काँग्रेस को ही अपनी इच्छानुसार मार्ग पर चलाया। काँग्रेस के सदस्यों ने अपने विश्वास छोड़ दिये हैं और स्वयं अपनी न्याय एवं औचित्य-भावना के विपरीत मत दिये हैं। हमारे कई कानून ऐसे हैं जो एक स्वतन्त्र काँग्रेस के नहीं वरन् एक अधिनायक के बनाये कानून हैं। Congressional Record, Jan. 1917, Vol. LIV, Pt. I, p. 865.

फ्रेन्च गणतन्त्र का राष्ट्रपति

फ्रांस के राष्ट्रपति का पद अमेरिका के राष्ट्रपति के पद के बिलकुल विपरीत है। फ्रेन्च विधान ने राष्ट्रपति को अधिकार बड़ी उदारतापूर्वक दिये गये हैं। निषेध के अधिकार के अतिरिक्त उसे वे सब अधिकार विधान से प्राप्त हैं जो अमेरिकन राष्ट्रपति को प्राप्त हैं। इसके अतिरिक्त उसे वे अन्य अधिकार भी हैं जो साधारण तथा राजाओं को प्राप्त होते हैं, जैसे पार्लमिण्ट को आमन्त्रित तथा स्थगित कर देने के अधिकार, चेम्बर ऑफ डिपुटीज को (सीनेट की अनुमति से) भंग करने, व्यवस्थापिका में बिल प्रस्तुत करने, व्यवस्थापिका में अपने प्रतिनिधि भेजने तथा उनके द्वारा व्यवस्थापिका को आवश्यक सूचनाएं देने, नवीन पद निर्माण करने तथा जिस समय पार्लमिण्ट का अधिवेशन न हो रहा हो, उस समय राज्य-कोष से शासन के लिए धन प्राप्त करने की व्यवस्था आदि का अधिकार। जिस विधान-परिषद् ने इस विधान की रचना की, उसका यह विश्वास था कि उसने एक समान सत्ता के पद का निर्माण किया है, जो व्यवस्थापिका से सर्वथा स्वतन्त्र होगा। इस कारण गणतन्त्रवादियों ने यह आक्षेप किया था कि यह गणतन्त्रवाद (Republicanism) की भावना के प्रतिकूल है और इसलिये खतरनाक भी, परन्तु यह भय अनावश्यक सिद्ध हुआ। राष्ट्रपति के अधिकारों की गणना करने के पश्चात् विधान ने उसे पंगु बनाने का प्रयत्न किया—जैसा कि फ्रेन्च लेखकों ने लिखा है—उसे एक लोह-पिंजर में आबद्ध करने की चेष्टा की गयी और यह इस एक धारा के द्वारा कि 'राष्ट्रपति के प्रत्येक आदेश पर एक मन्त्री के भी प्रति हस्ताक्षर (Countersignature) होने चाहिए।' राष्ट्रपति द्वारा किये जाने वाले सभी कार्य—पद-नियुक्तियाँ, पदच्युतियाँ, बिलों को व्यवस्थापिका में प्रस्तुत करना आदि 'आदेश के रूप में होते हैं, जिस पर एक मन्त्री के प्रति-हस्ताक्षर आवश्यक हैं। यह मन्त्री अपने कार्यों के लिए राष्ट्रपति के प्रति नहीं, वरन् व्यवस्थापिका पर निर्भर रहते हैं। अतः राष्ट्रपति ऐसा कोई भी कार्य नहीं कर सकता जो मन्त्रियों की राय में पार्लमिण्ट को स्वीकार्य न हो। इस प्रकार वह पार्लमिण्ट पर आश्रित है और वास्तव में पार्लमिण्ट देश का शासन करती है, राष्ट्रपति नहीं।

फ्रेन्च विधान के टीकाकारों का यह मत है कि विधान द्वारा राष्ट्रपति को मन्त्रियों की अनुमति के बिना जो कार्य करने का अधिकार है, वह है केवल 'राष्ट्रीय समारोहों में सभापति बनने का अधिकार'। केसिमिर पेरियर (Casimir Perier), ने, जिसने छह मास के भीतर ही ग्लानि से राष्ट्रपतित्व से त्याग-पत्र दे दिया था, एक दूसरा अधिकार और बतलाया है और वह है पार्लमिण्ट को अपना त्याग-पत्र भेज सकना। उसने कहा कि राष्ट्रपति स्व-परिचालित-यन्त्र से अधिक और उसके राजकीय कार्यों का रिकार्ड उसके हस्ताक्षर-संग्रह से अधिक कुछ नहीं है।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, राष्ट्रपति एक बड़ी सीमा तक केवल नाममात्र का प्रमुख ही नहीं है, वरन् अब यह एक सुप्रतिष्ठित परम्परा हो गयी है कि पार्लमिण्ट जब चाहे तब उसे त्याग-पत्र देने के लिए विवश कर सकती है। संसद प्रणाली की अवस्थाओं के अतिरिक्त, जिनके कारण राष्ट्रपति का कार्य बहुत ही कम रह जाता है, उसकी निर्बलता का एक कारण यह भी है कि इस पद पर प्रायः साधारण व्यक्तियों का चुनाव हुआ है। जब सन् १८७६ में मेकमेहॉन के त्याग-पत्र के पश्चात् ग्रेवी राष्ट्रपति बना, तब उसने कहा था कि 'राष्ट्रपति का पद दीर्घकालीन राजनीतिक संघर्ष से क्लान्त अनुभवी राजनीतिज्ञों के लिए एक सम्माननीय विश्राम का पद है' और राष्ट्रपति का कार्य है परामर्श देना, अपने आपको मिटा देना, कार्य करना नहीं। राष्ट्र-

पति की हैसियत से उसका कार्य इसी के अनुसार था। उसके कुछ उत्तराधिकारियों ने भी उसका अनुकरण किया। इनमें से एक लोबे (Loubet) ने अपनी मन्त्रि-परिषद् की पहली बैठक में अपने निषेधात्मक कार्य की रूपरेखा इस प्रकार प्रस्तुत की थी—"मैं आपको परामर्श दूँगा और मैं आपके कार्यों की आलोचना भी करूँगा ; परन्तु मेरी कोई नीति नहीं होगी।"[1] अनेक सबल व्यक्तित्व वाले राष्ट्रपतियों ने, विधान द्वारा प्रदत्त सत्ताओं का स्वतन्त्र रूप से प्रयोग करने की और अपने देश के शासन में अधिक सक्रिय भाग लेने की इच्छा प्रकट की। केसिमिर पेरियर ने अपने चुनाव के समय यह कहा भी था कि मेरा मन्तव्य इन अधिकारों के प्रयोग की उपेक्षा करने का नहीं है। परन्तु पार्लमिण्ट ने उसके प्रति जो दृष्टिकोण रखा और जो दृष्टिकोण उसने अपने शासन के अधिकार के सम्बन्ध में सदा रखा है, उसके सामने ऐसा करना असम्भव हो गया। उसे ६ मास के पश्चात् राष्ट्रपतित्व से त्याग-पत्र देना पड़ा और उसने कई वर्षों के बाद सन् १६०५ में 'टेम्प्स' (Temps) के एक अंक में अपने पत्र में लिखा कि राष्ट्रपति बिना सत्ता के स्व-परिचालित-यन्त्रमात्र है जिसे मन्त्रियों द्वारा प्रस्तुत कागजों पर हस्ताक्षर कर देने का गौरवहीन कार्य करना पड़ता है। राष्ट्रपतित्व के सम्बन्ध में पुंकारे (Poincare) के विचार भी ऐसे ही थे। वह भी अपने देश के शासन में महत्वपूर्ण भाग लेना चाहता था। यहाँ यह स्वीकार करना पड़ेगा कि कम से कम वैदेशिक राजनीति के क्षेत्र में उसे कुछ सफलता अवश्य मिली।[1] जब सन् १६२० में मिलर्रा राष्ट्रपति बना तब उसने अपना यह मन्तव्य स्पष्ट कर दिया कि मैं राष्ट्रपति के अधिकारों में विस्तार के लिए प्रयत्न करूँगा तथा आवश्यकता पड़ने पर वैधानिक संशोधन का भी आश्रय लूँगा, जिससे फ्रेन्च राष्ट्रपति अमेरिकन राष्ट्रपति के समान शक्तिशाली हो जाय। उसने यह भी स्पष्टरूप में कहा कि यद्यपि उसके मन्त्री पार्लामेण्ट के प्रति उत्तरदायी हैं, तथापि उनसे यह आशा की जाती है कि वे राष्ट्रपति द्वारा निर्धारित सार्वजनिक नीति का पालन करेंगे।[2] उसके ये विचार विधान के प्रतिकूल थे। इसके अतिरिक्त उसने सन् १६२४ के पार्लामिण्टरी चुनाव में राष्ट्रवादी दल (Nationalist Party) का पक्ष लिया था। उसका यह कार्य भी विधान की भावना के प्रतिकूल माना गया। अतः सन् १६२४ में इन्हीं कारणों से पार्लामिण्ट ने उसे अपने पद से त्याग-पत्र देने के लिये विवश किया। उसके उत्तराधिकारी दुमर्ग (Doumergue ने अपनी नीति स्पष्टरूप से घोषित करते हुए कहा कि मैं निरपेक्ष रूप से तटस्थ रहूँगा और पार्लामिण्ट की इच्छा का आदर करूँगा। वह ग्रेवी, लोबे आदि की भाँति ही नाममात्र का प्रमुख था। इस बात पर विचार करते हुए कि पार्लामिण्ट ने राष्ट्रपति को एक समान सहयोगी स्वीकार करने से इन्कार कर दिया है और जिन्होंने विधान द्वारा प्रदत्त अधिकारों के प्रयोग की चेष्टा की, उन्हें अपने पद से त्याग-पत्र देने के

१. २० फरवरी सन् १६१३ को चेम्बर को दिये हुए अपने सन्देश में उसने कहा था कि 'कार्यपालिका-सत्ता को निर्बल करना न तो चेम्बर चाहता है और न राष्ट्र ही चाहता है। उसकी निर्बलता से शासन की कार्य-कुशलता में अन्तर आ जायगा और सार्वजनिक कार्य को हानि पहुँचेगी। अपने कार्य-काल में मैं इस बात का ध्यान रखूँगा कि पार्लामिण्ट के नियन्त्रण के अधीन शासन को जितनी सत्ताएँ मिली हैं, वह यथायोग्य बनी रहें।

Barclay, in *The Nineteenth Century* for Nov., 1920 तथा Huddleston, in *New Europe*, Oct., 14, 1920.

लिए बाध्य किया है, यह कल्पना करना कठिन है कि फ्रेन्च गणतन्त्र के राष्ट्रपति फ्रेन्क सेसको के शब्दों में 'एक लौह-पिंजर में आबद्ध बन्दी', 'एक देवमन्दिर की मूक प्रतिमा' 'एक मूकमति', 'जनता को प्रसन्न करने के लिए एक व्यर्थ का प्रतीक', 'सत्ताहीन राजा की निर्बल छाया' आदि से अधिक क्या हो सकता है ?[1]

फ्रान्स में इस प्रश्न पर काफी विचार किया गया है कि राष्ट्रपति की उपयोगिता एवं आवश्यकता क्या है। एक लम्बी अवधि तक क्रान्तिवादी तथा समाजवादी दलों की ओर से उसका पद तोड़ देने की माँग थी। इनमें से एक प्रसिद्ध व्यक्ति क्लीमेन्सो था (जो सन् १९२१ में इस पद के लिए स्वयं उम्मीदवार भी था)। उसका कथन था कि एकतन्त्र में पैतृक नाममात्र के प्रमुख होने में कोई प्रयोजन हो सकता है; परन्तु गणतन्त्र-राज्य में इस प्रकार के निर्वाचित नाममात्र के प्रमुख के लिए कोई स्थान नहीं है। जब नवीन मन्त्रि-परिषद् का निर्माण होता है, उस समय प्रधानमन्त्री की नियुक्ति के प्रश्न के अतिरिक्त जिस काम को पार्लामेण्ट या उसकी एक समिति भी भलीभाँति कर सकती है, राष्ट्रपति का वास्तविक कार्य अलंकारिक ही है, जैसे राष्ट्रीय उत्सवों के अवसर पर सभापतित्व करना, विविध प्रकार के उद्घाटनोत्सवों में भाग लेना, घुड़दौड़ों तथा वार्षिक सैन्य प्रदर्शनों में भाग लेना, पदवी-दान तथा पुरस्कार-वितरण करना, प्रसिद्ध व्यक्तियों को भोज देना आदि।

इस पर भी फ्रेन्च लोगों का विशाल बहुमत चाहता है कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में राज्य के प्रतिनिधित्व के लिए, विदेशों के राजदूतों के स्वागत के लिए तथा गणतन्त्र के गौरव के प्रतीक के रूप में 'एक राज्यप्रमुख' हो। इसके अतिरिक्त यदि ऐसे व्यक्ति का विदेशों में सम्मान हो तो वैदेशिक सम्बन्धों के नियमन में, विशेषरूप से दूसरे राज्यों के शासकों के साथ समझौते एवं सन्धियाँ करने में वह काफी प्रभाव डाल सकेगा जैसा कार्नो, पुआँकारे आदि के उदाहरणों से स्पष्ट है। यदि पार्लामेण्ट में पक्षपात की भावना नहीं हुई तो वह कम से कम इस क्षेत्र में निस्सन्देह राष्ट्रपति के कार्य को सहन करेगी।[2]

अन्त में, राष्ट्रपति के पद का मूल्य 'प्रभावयुक्त पद' के रूप में भी है। प्रेवोस्ट पेरदोल (Prevost Paradol) ने राष्ट्रपति को राज्य का प्रधान रक्षक (Surveillant-General) कहा है। यदि वह शक्तिशाली हो, जनता में उसकी प्रतिष्ठा हो, वह निष्पक्ष नेता हो, तो वह ऐसे देश में नैतिक एवं संयमकारी प्रभाव कायम कर

१. फ्रान्स के राष्ट्रपति की अमेरिकन राष्ट्रपति तथा फ्रान्स के पूर्व राजाओं से तुलना करते हुए हेनरी मेन ने कहा था कि ऐसा कोई जीवित अधिकारी नहीं है जिसकी दशा फ्रेन्च राष्ट्रपति से अधिक दयनीय हो। फ्रान्स के पूर्व राजा, राज्य तथा शासन दोनों करते थे। वैधानिक राजा राज्य करता है, शासन नहीं। अमेरिका का राष्ट्रपति शासन करता है, राज्य नहीं। परन्तु यह फ्रेन्च राष्ट्रपति का ही भाग्य है कि वह न राज्य करता है और न शासन ही। एक प्रसिद्ध फ्रेन्च पत्रकार ने राष्ट्रपति की शिकार-पार्टियों तथा वैधानिक राजा के कार्यों को लक्ष्य करते हुए उपहास में कहा था कि विधान का मौलिक सिद्धान्त यह है या यह होना चाहिए कि राष्ट्रपति खरगोशों का पीछा करता है, किन्तु शासन नहीं करता।

२. तुलना कीजिये, Rogers, The French President and Foreign Affairs, *Pol. Sci. Qu.*, Vol. XL (1915), pp. 540 ff.

सकेगा, जहाँ दलीय आवेशों एवं भावनाओं का राज्य हो और यह बात बहुत ही मूल्यवान सिद्ध होगी।[1]

जर्मन गणतन्त्र का राष्ट्रपति

जर्मनी के राष्ट्रपति का पद (सन् १९१९ से १९३४ तक) फ्रेन्च तथा अमेरिकन राष्ट्रपति के पद से भिन्न रहा। वह न अमेरिकन राष्ट्रपति की भाँति शक्तिशाली शासक था और न फ्रेन्च राष्ट्रपति की भाँति दुर्बल नाममात्र का शासनकर्ता ही। उसका स्थान इन दोनों के मध्य का था। यद्यपि वह अधिकांश में फ्रान्स के समान ही था क्योंकि वहाँ फ्रान्स के समान मन्त्रि-परिषद् शासन-प्रणाली स्थापित थी जिसमें राष्ट्रपति की सत्ता आवश्यक रूप से सीमित होती है। जब जर्मन विधान की रचना की जा रही थी तब स्वतन्त्र समाजवादी (Independent Socialists) राष्ट्रपति के पद की व्यवस्था के विरुद्ध थे। उन्हें यह भय था कि यदि उस पद पर आसीन अधिकारी को वास्तविक सत्ता प्रदान की गयी तो जर्मनी की स्थिति एकतन्त्र शासन में जैसी थी, उससे अच्छी नहीं रहेगी। दूसरी ओर, यदि देश में सच्चा मन्त्रि-परिषद् शासन स्थापित हो गया, जिसके अन्तर्गत शासन पार्लामिण्ट के प्रति उत्तरदायी मन्त्रियों द्वारा किया जाता है तो वह केवल एक अलङ्कार के रूप में रहेगा जिसका मूल्य उस पर होने वाले खर्च के सामने कुछ नहीं होगा। जर्मनी के अन्तर्गत बेवेरिया, प्रशा, बादेन आदि गणतन्त्रों ने अलंकारिक राज्य-प्रमुख न रखने तथा मन्त्रि-परिषदों पर ही निर्भर रहने का निश्चय कर लिया था और वे यह चाहते थे कि जर्मन गणतन्त्र भी ऐसा ही करे। परन्तु राष्ट्रीय परिषद् का एक बड़ा बहुमत किसी प्रकार के राष्ट्रपति के पक्ष में था। व इन तीन प्रकार के राष्ट्रपति-पदों में से किसी एक को स्वीकार कर सकते थे—स्विस, अमेरिकन तथा फ्रेन्च। परन्तु इनमें से एक भी परिषद् को स्वीकार न था। स्विटजरलैण्ड का इसलिए पसन्द नहीं था कि वहाँ उसका संगठन परिषद् के रूप में था, अमेरिका का इसलिए पसन्द नहीं था कि वह स्वेच्छाचारी तथा खतरनाक माना जाता था और फ्रान्स का इसलिए नहीं कि वह दुर्बल और शक्तिहीन था और दृढ़ कार्यपालिका की उनकी कल्पना के अनुकूल नहीं था। जर्मनी की अभिरुचि नाममात्र के प्रमुख के पक्ष में नहीं थी। यह कहा गया कि जर्मनी का राष्ट्रपति सबल हो जो न केवल राष्ट्र के गौरव का प्रतीक हो सके, परन्तु जो पार्लामिण्ट को सर्वशक्तिशाली तथा खतरनाक न होने दे। अतः जर्मन राष्ट्रपति को कुछ फ्रेन्च तथा कुछ अमेरिकन राष्ट्रपति के समान अधिकार दिये गये।[2] उन्होंने यह अमेरिकन सिद्धान्त स्वीकार किया कि कार्यपालिका व्यवस्थापिका के समकक्ष होनी चाहिए। इसका अर्थ था कि राष्ट्रपति फ्रेन्च-प्रथा के अनुसार व्यवस्थापिका द्वारा नहीं चुना जावे क्योंकि फ्रान्स के अनुभव से प्रकट था कि वहाँ की व्यवस्थापिका ने राष्ट्रपति को आधीनता की स्थिति में ला दिया था। इसके विपरीत फ्रान्स में स्वीकृत मन्त्रियों के उत्तरदायित्व का सिद्धान्त स्वीकार किया गया, परन्तु उसके साथ राष्ट्रपति के राजनीतिक अनुत्तरदायित्व का सिद्धान्त भी शामिल किया गया। परन्तु यह सुनिश्चित करने के लिए कि राष्ट्रपति केवल नाममात्र का ही नहीं रह जाय, उसके निर्वाचन की व्यवस्था संयुक्त राज्य की भाँति जनता द्वारा

---

१. *North American Review*, March, 1913 में The Presidency of the French Republic शीर्षक वाला मेरा लेख देखिये।

२. देखिये Oppenheimer, The Constitution of the German Republic, p 71.

करके उसकी स्थिति दृढ़ की गयी । इस प्रकार जर्मनी ने संसद शासन-प्रणाली अपनाते हुए भी ऐसी प्रणाली स्थापित की जिसका नियन्त्रण धारा-सभा द्वारा नहीं वरन् जनता द्वारा रखा गया।[1] उन्होंने यह भी ठीक समझा कि केवल मन्त्रि-परिषद् ही, फ्रान्स के समान राष्ट्रपति नहीं, व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी हो। उन्होंने राष्ट्रपति को जनता के मत से अपने पद से हटा दिये जाने की भी व्यवस्था की। कानून-रचना के सम्बन्ध मे उसे फ्रेन्च राष्ट्रपति की अपेक्षा अधिक अधिकार दिये गये। यद्यपि उसे अमेरिकन राष्ट्रपति की भाँति व्यवस्थापिका द्वारा स्वीकृत कानून को अस्वीकार कर देने का अधिकार नहीं दिया गया, तथापि यह व्यवस्था कर दी गयी कि यदि कोई बिल जो व्यवस्थापिका द्वारा स्वीकृत हो गया है, उसे पसन्द नहीं हो तो वह उस पर जनमत-संग्रह की व्यवस्था कर सके। वह फ्रान्स के राष्ट्रपति की भाँति इसके लिए बाध्य नहीं था कि पसन्द न होने पर भी उसे जारी करे। इसी प्रकार यदि किसी बिल पर दोनों सदनों मे मतभेद होता, तो राष्ट्रपति उस पर जनमत ले सकता था। जर्मन-विधान की धारा ४८ ने उसे सकट-काल (State of Siege) घोषित करने, नागरिकों के अनेक वैधानिक अधिकारों को स्थगित करने तथा एक अधिनायक की भाँति शासन करने की सत्ता दी जिसका उसने कई बार प्रयोग भी किया। फ्रान्स मे ऐसी घोषणा पार्लमिण्ट द्वारा ही की जा सकती है। राष्ट्रपति को निम्न सदन को भग करने का भी अधिकार दिया गया जबकि फ्रान्स में राष्ट्रपति सीनेट की अनुमति से ही ऐसा कर सकता है। यह सत्य है कि जर्मनी मे राष्ट्रपति के आदेशों तथा आज्ञाओं पर प्रधानमन्त्री या किसी अन्य मन्त्री के प्रतिहस्ताक्षर भी होते हैं जो व्यवस्थापिका के प्रति अपने कार्यों के लिए उत्तरदायी होता है। राष्ट्रीय परिषद् मे दक्षिण-पन्थी दलों ने, जहाँ तक निम्न-सदन को भंग कर देने से सम्बन्ध था, इसका यह कह कर विरोध किया कि इस पर राष्ट्रपति मन्त्री के प्रतिहस्ताक्षर कदापि प्राप्त नहीं कर सकेगा क्योंकि मन्त्री स्वयं उसका सदस्य होता है और उसके प्रति उत्तरदायी भी होता है। उन्होंने यह कहा कि राष्ट्रपति तथा सदन के बीच मतभेद होने पर, राष्ट्रपति का सदन को भग करने तथा जनता से अपील करने का अधिकार स्वयं उस सदन की इच्छा पर निर्भर नहीं होना चाहिए। किन्तु प्रूस (Preuss) ने, जो विधान का प्रमुख निर्माता था, मन्त्री के प्रतिहस्ताक्षर पर जोर दिया। उसका तर्क यह था कि यदि राष्ट्रपति तथा मन्त्रि-परिषद् सहमत होगे, तो प्रतिहस्ताक्षर आसानी से प्राप्त हो सकेंगे और यदि मन्त्रि-परिषद् सदन को भग करने या जनमत-संग्रह के विरुद्ध होगी, तो वह त्याग-पत्र दे देगी और राष्ट्रपति नया चान्सलर (प्रधानमन्त्री) नियुक्त करेगा जिसका प्रतिहस्ताक्षर उसे प्राप्त हो सकेगा।[2]

---

१. तुलना कीजिये, Brunet, The German Constitution, p. 154.

२. तुलना कीजिए, Brunet, op. cit., 166 ff ; Rogers, The Powers of *the German President*, *New York Times*, May 3, 1925 तथा Freund, The New German Constitution, *Pol. Sci. Quar.*, Vol. XXXV (1920), p. 186. Freund की राय थी कि राष्ट्रपति को स्वयं अपनी ही 'जिम्मेदारी पर सदन को भग करने का अधिकार मिलना चाहिए था। ऐसी सत्ता, यद्यपि वह देखने मे स्वेच्छाचारयुक्त मालूम होती है, विधान की

जर्मनी मे यद्यपि फ्रान्स की भाँति राष्ट्रपति के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने राजकीय कार्यों पर मन्त्रियों की स्वीकृति (Approval) भी प्राप्त करे, तथापि वह व्यवस्थापिका पर इतना निर्भर नही था जितना फ्रेंच राष्ट्रपति और उसके लिए सासद नियन्त्रण से अधिक स्वतन्त्र होकर अपने वैधानिक अधिकारो का प्रयोग करना सम्भव था। जर्मन विधान-निर्मातामो का यह स्पष्ट मन्तव्य था कि जर्मन पार्लमिण्ट का शासन पर पूर्ण राजनीतिक नियन्त्रण हो किन्तु साथ ही वह फ्रान्स की पार्लमिण्ट के समान प्रशासन-सम्बन्धी विस्तृत बातो मे हस्तक्षेप न करे और वास्तव मे राष्ट्रीय परिषद् मे इस आशय का एक प्रस्ताव रखा गया था कि पार्लमिण्ट को शासन (सरकार) को बन्धनकारी आदेश देने का अधिकार होना चाहिए ; परन्तु वह स्वीकार नही किया गया।[1] यह पार्लमिन्ट के लिए सम्भव नही था कि वह राष्ट्रपति को अपने अधीनस्थ बना ले और फ्रान्स की पार्लमिण्ट के समान उसे त्यागपत्र देने के लिए विवश कर सके। यदि राष्ट्रपति और पार्लमिण्ट के बीच कोई ऐसा विकट विवाद खडा हो जाय कि समझौते का कोई उपाय ही न हो, तो वह इस विवाद का जनता से निर्णय करा सकता है , यदि पार्लमिण्ट राष्ट्रपति का त्यागपत्र चाहे तो प्रत्याह्वान का प्रस्ताव जो उसके दो-तिहाई मत से ही स्वीकार हो सकता था, जनता के मत के लिए प्रस्तुत करना पडता था। इस प्रकार वह फ्रेंच राष्ट्रपति चेम्बर ऑफ डिपुटीज के साधारण बहुमत द्वारा त्यागपत्र देने के लिए बाध्य किया जा सकता है। जैसा पहले बतलाया जा चुका है, वह जनता द्वारा निर्वाचित होता था और यदि वास्तव मे लोकप्रिय एवं मान्य हुआ तो उसकी शक्ति तथा उसका प्रभाव सुनिश्चित था फ्रेंच राष्ट्रपति, जिसका निर्वाचन पार्लमिण्ट करती है, ऐसी आशा नही कर सकता।

सन् १९३३-३४ मे इस व्यवस्था मे हिटलर ने भारी परिवर्तन कर दिये। मन्त्रि-परिषद् को पार्लमिण्ट का स्वीकृति के बिना कानून बनाने का अधिकार मिल गया और व्यवहार मे राष्ट्रपति नाममात्र का रह गया। अन्त मे, अगस्त सन् १९३४ मे जर्मन राष्ट्रपति हिण्डेनबर्ग की मृत्यु के पश्चात् राष्ट्रपति की सत्ताएं एव उसके कर्तव्य चान्सलर एडॉल्फ हिटलर के पद मे जोड दिये गये और इस प्रकार हिटलर राष्ट्रपति तथा चान्सलर दोनो ही बन गया। भविष्य मे कभी राष्ट्रपति का पद चान्सलर के पद से पृथक् कर दिया जायगा अथवा इन दोनो का स्थान राजा या सम्राट् ले लेगा—यह ऐसा विषय है, जिसके सम्बन्ध मे भविष्यवाणी करना सम्भव नहीं।

सरलतया से सम्पन्न नही होगी और इससे राष्ट्रपति का पद अधिक प्रजातन्त्रीय बन सकेगा।

१. Freund का उपर्युक्त लेख, पृष्ठ १८७।

अध्याय २४

न्यायपालिका

(१) न्यायपालिका के कार्य

न्याय की प्राचीन भावनाएं

न्यायपालिका का प्रमुख कार्य—न्याय की व्यवस्था, आज समस्त देशों में केवल राज्य का कर्तव्य माना जाता है, परन्तु ऐसा सदैव ही नहीं माना जाता रहा है। पूर्व समय में राज्य में कोई न्यायिक विभाग नहीं होता था ; वास्तव में न्याय-व्यवस्था राज्य का कार्य नहीं माना जाता था। न्याय की सर्वप्रथम भावना बदला या प्रतिकार के विचार में देख पड़ी, जो उस व्यक्ति या उसके मित्रों एवं सम्बन्धियों का अधिकार माना जाता था, जिसे हानि पहुँची हो। सर्वप्रथम यह भावना 'चिरस्थायी पारिवारिक कलह' (Blood-feud) के रूप में थी, इसके पश्चात् हानि पहुँचाने के लिए आर्थिक क्षति-पूर्ति की प्रथा चल पड़ी। विशुद्ध व्यक्तिगत अपराधों के सम्बन्ध में यही उपाय था। किन्तु राज्य की ओर से ऐसी कोई व्यवस्था नहीं जिससे हानि पहुँचाने वाला आर्थिक क्षति-पूर्ति करने के लिए या हानि उठाने वाला उसे स्वीकार करने के लिए विवश किया जा सकता। ऐसे अपराधों के लिए, जिनसे समाज या जाति की नैतिक भावना को ठेस लगती थी, अपराधी का समाज से बहिष्कार कर दिया जाता था। ये ऐसे अपराध थे जिनके लिए आर्थिक क्षति-पूर्ति यथेष्ठ प्रायश्चित नहीं था।

न्याय-व्यवस्था राज्य के कार्य में सम्मिलित हुई

कालान्तर में राजा ने जाति की सहायता करना प्रारम्भ कर दिया ; वह बदला लेने वाले को क्षति-पूर्ति ग्रहण करने तथा अपराधी को क्षति-पूर्ति अदा करने के लिए बाध्य करने लगा। इसी प्रकार उन अपराधों के लिए भी, जिनके लिए आर्थिक क्षति-पूर्ति नहीं हो सकती थी, उसने दण्ड देने की व्यवस्था कर दी और ऐसे अपराध राजा के विरुद्ध माने जाने लगे।

कालान्तर में 'राजा की शान्ति' (King's Peace) की भावना का विकास हुआ और ऐसा कोई भी अपराध, जिसमें हिंसा तथा अव्यवस्था को प्रोत्साहन मिलता, 'राजा की शान्ति' पर आक्रमण माना जाता था और उसके प्रति राजा उदासीन नहीं रह सकता था। आज भी यह भावना इंगलैण्ड में दोषारोपण के इस अंश में मिलती हैं—'हमारे प्रभुत्व-सम्पन्न राजा की शान्ति के विरुद्ध' (Against the Peace of our Sovereign Lord the King)। शनैः शनैः 'राजा की शान्ति' की भावना के अन्तर्गत अन्य प्रकार के अपराध, जैसे चोरी आदि भी सम्मिलित हो गये, यद्यपि उनमें सामान्यतया उसके प्रति हिंसा या अव्यवस्था का समावेश नहीं होता था। इस प्रकार इस भावना का विकास हुआ कि अपराध किसी व्यक्ति के विरुद्ध ही अप-

राध नहीं है, वरन् वह राज्य के प्रति भी है और इसलिए उन अपराधों के लिए उचित दण्ड-व्यवस्था करना राज्य का कर्त्तव्य है। किन्तु दीर्घ काल तक इस सम्बन्ध में राज्य अपने दावे को पूर्ण रीति से स्थापित नहीं कर सका। उस समय इस सम्बन्ध में राज्य के कई प्रतिद्वन्द्वी थे, जैसे चर्च तथा सामन्त, जो कुछ मामलों में स्वयं न्याय-व्यवस्था करने के अधिकार का दावा करते थे और न्याय भी करते थे। राजकीय सत्ता के विकास और राष्ट्रीय राज्यों के संगठन के साथ इन प्रतिद्वन्द्वियों का पतन हो गया, उनके न्यायिक अधिकार छिन गये और राज्य को प्राप्त हो गये। परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी तक इंगलैण्ड, जर्मनी तथा योरोप के अन्य देशों में सामन्ती न्याय-व्यवस्था (Feudal Justice) के अवशेष विद्यमान थे, जहाँ धार्मिक न्यायालय कुछ मामलों में दीवानी के मुकद्दमों का निर्णय करते थे। अब समस्त आधुनिक राज्यों में यह परिवर्तन पूर्ण हो चुका है और न्याय-व्यवस्था राज्य का ही कर्त्तव्य माना जाता है।[1]

न्याय-विभाग की आवश्यकता

इस बात के विचार से कि राज्य की प्रतिष्ठा का एक प्राथमिक लक्ष्य व्यक्तिगत अधिकारों की सृष्टि तथा रक्षा करना था, प्राचीन काल से ही इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए न्याय-विभाग की आवश्यकता स्वीकार की गयी है। ऐसे समाज की कल्पना सम्भव है जिसमें कोई व्यवस्थापक विभाग न हो और वास्तव में आधुनिक समय से पूर्व, पूर्ण रूप से विकसित व्यवस्थापक विभागों का विकास राज्य के जीवन में नहीं हुआ था, परन्तु न्याय-व्यवस्था से हीन एक सभ्य राज्य की कल्पना भी सम्भव नहीं है। व्यवस्थापक विभागों के अभाव में न्यायालय ऐसे नियमों के अनुसार न्याय कर सकते हैं, जो उनके पूर्व निर्णयों अथवा प्रथाओं द्वारा स्थापित हो चुके हों, जैसा प्राचीन समाजों में होता भी था।[2] परन्तु न्यायालयों के स्थान पर कोई ऐसी व्यवस्था की कल्पना करना सम्भव नहीं जिसमें इस कार्य का समुचित रीति से सम्पादन हो सके। एक सुप्रसिद्ध अमेरिकन कानून-विज्ञ ने लिखा है कि 'यह अत्यन्त आवश्यक है कि अधिकारों का निर्णय करने, दण्ड देने, न्याय करने तथा निर्दोष व्यक्तियों की हानि तथा अपहरण आदि से रक्षा करने के लिए एक न्याय-विभाग हो।'[3] चान्सलर केंट ने कहा है कि 'जहाँ कानूनों की व्याख्या करने तथा उन्हें कार्यान्वित करने के लिए, विवादों का निर्णय करने के लिए और अधिकारों को अमल में लाने के लिए कोई न्याय-विभाग नहीं, वहाँ स्वयं अपनी शक्तिहीनता के कारण शासन का विनाश हो जायगा —अथवा शासन के दूसरे विभाग, आदेशों का पालन कराने के लिए उस सत्ता पर

---

१. न्याय की पूर्व भावनाओं तथा विधियों के लिए देखिये, Jenks, Law and Politics in the Middle Ages (1898), Ch. 4 तथा उसकी History of Politics (1900), Ch II.

२. तुलना कीजिये, Gray, Nature and Sources of Law, p, 145. उसने (पृष्ठ १०१) लिखा है कि 'यदि राज्य में प्रत्येक व्यक्ति को अपने तथा दूसरों के अधिकारों एवं कर्त्तव्यों का ज्ञान हो तो राज्य में न्यायपालिका की आवश्यकता नहीं होगी, प्रशासनीय विभाग ही पर्याप्त होंगे। नागरिकों के अधिकारों एवं कर्त्तव्यों के निर्धारण के लिए ही न्याय-विभाग की आवश्यकता होती है। परन्तु क्या इतने से ही न्याय-विभाग अनावश्यक हो जायगा? इसमें सन्देह है।

३. Rawle, On the Constitution, Ch. 21, Baldwin, The American Judiciary, p. 3 से भी तुलना कीजिये।

अपना अधिकार जमा कर नागरिक स्वतन्त्रता का सर्वनाश कर देंगे ।'[1] लॉर्ड ब्राइस ने लिखा है कि 'न्याय-विभाग राज्य की केवल एक आवश्यकता ही नहीं है, वरन् किसी शासन की श्रेष्ठता की कसौटी उसकी न्याय-व्यवस्था की कुशलता से बढ़ कर और कोई नहीं हो सकती क्योंकि शीघ्र और निश्चित न्याय के विश्वास पर ही औसत नागरिक की सुरक्षा एवं कल्याण निर्भर है । 'यदि कानून को बेईमानी के साथ कार्यान्वित किया गया, तो मधु का माधुर्य ही कहाँ रहा, यदि उसको दुर्बलता के साथ कार्यान्वित किया गया, तो व्यवस्था की सुरक्षा ही कहाँ रहेगी, क्योंकि कठिन दण्ड की अपेक्षा दण्ड के निश्चय के कारण अपराधियों का दमन होता है । यदि अन्धकार में न्याय की ज्योति विलीन हो जाय तो वह कितना भयानक होगा ।'[2]

न्यायालय के न्याय से असम्बद्ध कार्य

यह प्रायः माना जाता है कि न्यायालयों का कार्य व्यक्तियों के पारस्परिक (दीवानी) विवादों तथा राज्य और व्यक्तियों के विवादों का निर्णय एवं अपराधियों को दण्ड देना है । यह निःसन्देह उनका प्रमुख कार्य है, परन्तु यही उनका सम्पूर्ण कार्य नहीं है । वे ऐसे अनेक कार्य भी करते हैं, जिन्हें हम न्यायिक (Judicial) नहीं कह सकते । कम से कम अमेरिका में न्यायालय प्रायः निम्न प्रकार के कार्य भी करते हैं, जैसे, स्थानिक अधिकारियों की नियुक्तियाँ, स्वयं अपने लिपिकों (Clerks) तथा अन्य कर्मचारियों की नियुक्तियाँ, अनुज्ञा-पत्र (License) देना, संरक्षकों तथा निक्षेपाधिकारियों (Trustee) की नियुक्तियाँ, इच्छा-पत्रों (वसीयतनामों) को प्रमाणित करने के लिए आज्ञापत्र जारी करना, मृतकों की जायदाद की व्यवस्था करना, आर्थिक दायित्व पूरा न करने वाली रेलवे कम्पनियों के लिए रिसीवर (Receiver) नियुक्त करना इत्यादि । इससे भी अधिक महत्वपूर्ण कार्य वे यह करते हैं कि हानि या नुकसान पहुँचाने वाले कार्यों के अवरोध के लिए वे आदेश (Injunction) जारी करते हैं और अनेक प्रकार की आज्ञाएँ जारी करते हैं जिनके द्वारा वे सार्वजनिक कर्मचारियों को अपने कानूनी कर्त्तव्यों को करने तथा कानून द्वारा निषिद्ध कार्यों को न करने के लिए आदेश देते हैं ।

प्रख्यापक निर्णय (Declaratory Judgements)

न्यायालय केवल उनके सामने आने वाले मामलों के निर्णय ही नहीं करते, प्रत्युत कुछ देशों में, मुख्यतः इंगलैण्ड में, वे 'प्रख्यापक निर्णय' भी देते हैं । जब सम्बन्धित पक्ष किसी प्रश्न के औचित्य के सम्बन्ध में अथवा कानून के मन्तव्य के सम्बन्ध में बिना मुकद्दमा किये ही न्यायालय से राय माँगते हैं तो वे अपना मत देते हैं । संयुक्त राज्य अमेरिका में न्यायालय सामान्यतया ऐसे निर्णय नहीं देते ; परन्तु जनता की इस सम्बन्ध में काफी माँग है और हाल में उसके कुछ राज्यों में इसके प्रचलन के लिए कानून बनाये गये हैं । राज्यों के लिए समान कानूनों की सिफारिश करने के लिए स्थापित कमिश्नरों की राष्ट्रीय सभा में (National Conference of Commissioners on Uniform State Laws) ने सन् १९२२ में एक कानून का मसौदा तैयार किया था जिसे कुछ राज्यों ने स्वीकार कर लिया है । यह खेद का विषय है कि अमेरिकन कानूनविदों ने न्यायालयों की उनके सामने विवाद के रूप में आये हुए प्रश्नों

---

१. *Commentaries*, Lect. XIV.

२. Modern Democracies, Vol. II, p. 384.

को छोड किसी अन्य प्रश्न पर प्रश्यापक निर्णय देने की क्षमता को स्वीकार करने मे ग्रालस्य किया है।

परामर्शात्मक मत (Advisory Opinion)

कुछ देशो मे कार्यपालिका या व्यवस्थापिका द्वारा कानून का कोई भी प्रश्न प्रस्तुत किए जाने पर न्यायालय उस पर अपनी परामर्शात्मक राय भी देते हैं। इगलैण्ड म, जैसा सर्वविदित है, ताज प्राय: प्रिवी कौंसिल की न्याय-समिति से कानून के प्रश्नो पर अपना परामर्श देने की प्रार्थना करता है और यह निश्चय है कि जब लार्ड सभा सर्वोच्च न्यायालय के रूप मे कार्य करती है तब वह किसी भी कानूनी प्रश्न पर किसी भी न्यायाधीश से इस प्रकार परामर्शात्मक मत की प्रार्थना कर सकती है।[1] कनाडा मे सर्वोच्च न्यायालय सपरिषद् गवर्नर को कानून के प्रश्नो पर अपना मत देता है और सन् १८७५ मे उसकी स्थापना के बाद से इस प्रकार के ३० मत दिये जा चुके है। अधिकाश कनाडियन प्रान्तो मे उच्च न्यायालयो को इसी प्रकार के अधिकार हैं। ऑस्ट्रिया, बलगेरिया, कोस्टारिका, कालम्बिया, पनामा, सैल्वेडॉर तथा स्वीडन मे परामर्शात्मक मत का सिद्धान्त किसी न किसी रूप मे प्रचलित है। अमेरिकन यूनियन के कम से कम १३ राज्यो मे भी यह सिद्धान्त मान्य है। मेसेचुसेट्स, न्यू, हेम्पशायर, मेन तथा रोड ग्राइलैण्ड मे यह सिद्धान्त पहले से ही प्रतिष्ठित है और मेसेचुसेट्स के सर्वोच्च न्यायालय ने सन् १७८० के बाद से गवर्नर को या व्यवस्थापिका को १५० परामर्शात्मक मत दिये हैं।[2]

जब संयुक्त राज्य अमेरिका के विधान की रचना हो रही थी तब इस प्रकार का एक प्रस्ताव रखा गया था कि कांग्रेस के दोनो सदनो तथा राष्ट्रपति को यह अधिकार होना चाहिए कि वे कानून के महत्वपूर्ण प्रश्नो तथा गम्भीर अवसरो पर सर्वोच्च न्यायालल का मत प्राप्त कर सकें। जैसा सर्वविदित है, सन् १७९३ मे राष्ट्रपति वाशिङ्गटन ने, मन्त्रि-परिषद् की अनुमति से, सन् १७७८ की फ्रान्स के साथ की हुई सन्धि के दायित्वों के सम्बन्ध मे २९ प्रश्न न्यायालय से पूछे, परन्तु न्यायालय ने इस प्रकार के प्रश्नो का उत्तर देने के औचित्य पर सन्देह करते हुए राष्ट्रपति की प्रार्थना को स्वीकार नहीं किया, तबसे यह न्यायालयों के लिए एक आदर्श बन गया है और न्यायालय इस स्थिति से हटे नही हैं।[3]

अमेरिका मे अधिकाश वकीलो की राय परामर्शात्मक मत के विचार के विरुद्ध

---

१. देखिये, Van Vechten Veeder, Advisory Opinions of the Judges of England, *Harv. Law Rev*, Vol. XIII, pp. 358 ff.

२. Ellingwood, Departmental Co-operation in State Government तथा *Harv. Law Rev.*, Vol. XXXVII (1924) मे Manley Hudson के Advisory Opinions of the National and International Courts शीर्षक वाले लेख मे इस विषय का विस्तृत विवेचन है।

३. ये प्रश्न Sparks, Life of Washington Vol X, Appendix, p. 542 पर दिये हुए हैं। Warren, The Supreme Court in United States History, Vol. X, p 108 ff. भी देखिये।

है ; क्योंकि वे इसे न्यायिक कार्य नहीं मानते।[1] परन्तु इसके विपरीत मत वालों की भी कमी नहीं है।[2]

व्यवस्थापिका के कानूनों को अवैधानिक घोषित करने का अधिकार

कुछ देशों मे, विधानों द्वारा प्रदत्त सत्ता के अनुकूल अथवा न्यायिक सत्ता में इस अधिकार को निहित समझ कर न्यायालय, व्यवस्थापिका द्वारा स्वीकृत कानूनों (Acts) को अवैधानिक घोषित कर सकते हैं और वे उन कानूनों को कार्यान्वित करने से भी इन्कार करते है, जो विधान के प्रतिकूल हो, या जिन्हे बनाने की सत्ता व्यवस्थापिका को न हो। व्यवस्थापिका के कानूनो को अवैधानिक घोषित करने की न्यायालय की सत्ता का उदय अमेरिका मे हुआ, जहाँ आरम्भ से ही संघीय तथा राज्य-न्यायालय इस प्रकार कानूनो को अवैधानिक घोषित करने का कार्य करते रहे हैं।

प्राचीन अमेरिकन प्रथा

सन् १७८० न्यू जरसी के सर्वोच्च न्यायालय मे राज्य की व्यवस्थापिका के एक कानून को अमल मे लाने से इन्कार करके इस सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की।[3] ६ वर्ष के उपरान्त एक मामले मे रोड आइलैण्ड के सर्वोच्च न्यायालय ने भी इस सिद्धान्त की घोषणा की तथा उसका पालन किया[4] और इसके कुछ ही बाद उत्तरी केरोलिना तथा वरजीनिया के न्यायालयों ने भी ऐसा ही किया। न तो संघीय विधान और न राज्यो के विधान ही इस सिद्धान्त को स्पष्टरूप मे स्वीकार करते हैं, परन्तु फिर भी यह संघीय तथा राज्य की कानून-व्यवस्था का एक आवश्यक अंग माना जाता रहा है; सभी न्यायालय इसके अनुसार कार्य करते रहे हैं और उनके कार्य को जनता ने स्वीकार भी किया है। वास्तव मे, जैसा डायसी ने कहा है, यह अमेरिका मे प्रत्येक न्यायाधीश का अधिकार ही नहीं, वरन् कर्तव्य माना जाता है कि वह किसी भी ऐसे कानून को शून्य (Void) घोषित कर दे, जो विधान का उल्लंघन करता है।[5] सन् १७९५ मे एक संघीय न्यायाधीश ने इसको प्रथम बार एक अधिकार एवं कर्तव्य माना जबकि उसने जूरी से कहा कि 'मै इसे सर्वथा स्पष्ट मानता हूँ कि यदि व्यवस्थापिका का कोई भी कानून वैधानिक सिद्धान्त का विरोध करता है, तो उसे इसी आधार पर अस्वीकार कर देना चाहिए। मैं इसे सर्वथा उचित एवं स्पष्ट मानता हूँ कि ऐसे मामलो में न्यायालय का यह कर्तव्य होगा कि वह विधान का पालन करे और ऐसे कानून को

---

१. Permanent Court of International Justice का विधान बनाने मे भाग लेने वाले Mr. Elihu Root ने इस रिवाज के सम्बन्ध मे कहा था कि यह न्यायिक सिद्धान्तो के विरुद्ध है। न्यायाधीश John Bassett Moor ने भी कहा है कि यह स्पष्टतः न्यायिक कार्य नहीं है।

२. हडसन का उपर्युक्त लेख देखिये।

३. Holmes V. Walton. इस मामले का विवरण *The American Historical Review*, Vol VI, pp. 456 ff. मे दिया हुआ है।

४. Trevett V. Weeden. इस मामले के इतिहास के लिए देखिये, Arnold, History of Rhode Island, Vol. II, Ch. 24 तथा Coxe, Judicial Power and Unconstitutional Legislation, pp. 234 ff. और Kent, Commentaries, 12th. ed., pp. 450-453.

५. Dicey, Law of the Constitution, 2nd edition, p. 125.

प्रवैध एवं शून्य घोषित कर दे।'[1] सन् १८०३ में संयुक्त राज्य अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय ने एक प्रसिद्ध मामले (Marbury V. Madison) में कांग्रेस के एक कानून को संघीय विधान के एक उपबन्ध के विरुद्ध होने के कारण अप्रवर्तनीय (Inoperative) मान कर प्रथम बार इस सिद्धान्त पर आचरण किया। तबसे सर्वोच्च न्यायालय ने कांग्रेस के ५३ कानूनों को पूर्ण या आंशिक रूप में तथा राज्यों के ३०० से अधिक कानूनों को प्रवैध घोषित किया है।[2] राज्यों की व्यवस्थापिकाओं के कितने कानूनों को राज्यों के न्यायालयों ने अवैधानिक घोषित किया है, इसका ज्ञान नहीं है। परन्तु ऐसे मामलों की संख्या सहस्रों की होगी।

इस सिद्धान्त का हैमिल्टन द्वारा समर्थन

यद्यपि, जैसा उल्लेख किया जा चुका है, संघीय विधान में ऐसी कोई धारा नहीं है जिसमें यह बोध होता हो कि इसके द्वारा न्यायालयों को व्यवस्थापिकाओं के कानूनों को प्रवैध घोषित कर देने का अधिकार दिया गया है, तथापि सन् १७८७-१७८६ के राजनीतिज्ञों ने ऐसा समझा था कि यह न्यायिक सत्ता का नैसर्गिक अंग है और उसके प्रयोग के लिए किसी स्पष्ट सत्ता की आवश्यकता नहीं है।[3] हैमिल्टन ने सन् १७८८ में विधान की स्वीकृति का समर्थन करते हुए कहा कि न्यायालयों को व्यवस्थापिका के कानून को विधान के विरुद्ध होने पर प्रवैध घोषित करने का अधिकार है। उसने अपने इस विचार को जिस स्पष्ट तथा तार्किक ढंग से सिद्ध किया, वैसा आज तक किसी ने नहीं किया है। इस विचार का खण्डन करते हुए कि इससे व्यवस्थापिका न्यायपालिका के अधीन हो जाती है, उसने कहा कि 'यह सर्वथा स्पष्ट है कि प्रत्येक नियुक्त अधिकारी (Delegated authority) का कार्य, यदि वह उस आदेश के विरुद्ध हो, जिसके अनुसार वह कार्य होता है, सर्वथा शून्य एवं प्रवैध है। अतः कोई भी कानून जो विधान के विरुद्ध है, वैध नहीं हो सकता। इस सत्य को न मानने का अर्थ वास्तविक स्वामी की अपेक्षा उसके प्रतिनिधि को महान् मानना होगा अर्थात् सेवक स्वामी से बड़ा है, जनता के प्रतिनिधि जनता से भी महान् हैं। इसका अर्थ तो यह होगा कि कुछ सत्ताओं के आधार पर मनुष्य ऐसे कार्य कर सकते हैं जिनके करने का उन्हें अधिकार नहीं है बल्कि जिनका निषेध किया गया है, उन्हें भी कर सकते हैं।'[4] हैमिल्टन ने बतलाया कि यह कदापि नहीं माना जा सकता कि जिस विधान ने व्यवस्थापिका को अधिकार प्रदान किये, उसका मन्तव्य यह था कि वह स्वयं अपनी सत्ताओं की निर्णायक भी होगी और यह सिद्धान्त स्थिर कर सकेगी कि उन सत्ताओं के विस्तार की जो व्याख्या वह करे, वह अन्य विभागों को भी अन्तिम रूप से मान्य होगी। उसने कहा कि 'विधान वास्तव में आधारभूत कानून है और ऐसा ही उसे मानना भी चाहिए। अतः यह न्यायालय का

---

१. Mr. Justice Patterson in the Case of Vanhorne's Lessee V. Dorrance, 2 Dallas Reports 304.

२. कांग्रेस के जो कानून प्रवैधानिक घोषित किये गये हैं, उनकी सूची Warren, Congress, the Constitution and the Supreme Court, Ch. 9 में दी हुई है। Moore, The Supreme Court and Unconstitutional Cases में भी सन् १६११ तक के ऐसे कानूनों की सूची है।

३. Warren, op. cit., Chs. 2-4.

४. The Federalist, No. 78 (Dowson's ed.)

कर्तव्य है कि वह उसके तथा व्यवस्थापिका के कानूनों के अर्थ को निश्चय करे और यदि इन दोनों में अन्तर हो, तो जो सर्वोच्च है, उसे ही स्वीकार किया जाय, अर्थात् साधारण कानून (Statute) की अपेक्षा *विधान को स्वीकार किया जाय*; प्रतिनिधियों की अपेक्षा जनता के मन्तव्य को माना जाय। इस सिद्धान्त का यह अर्थ नहीं है कि न्यायिक सत्ता व्यवस्थापिका से श्रेष्ठ है; इसका अर्थ तो यही है कि जनता की सत्ता दोनों से श्रेष्ठ है और जहाँ व्यवस्थापिका की आकांक्षा का, जिसकी अभिव्यक्ति कानून में की गयी है, जनता की आकांक्षा से, *जिसका विधान में उल्लेख है, विरोध है*; वहाँ न्यायाधीशों को पहली की अपेक्षा दूसरी का आदर करना चाहिए। उन्हें अपने निर्णय आधारभूत कानून—विधान—के अनुसार देने चाहिए, न कि उन कानूनों के अनुसार जो आधारभूत नहीं हैं।[१]

'मारबरी बनाम मेडीसन' (Marbury V. Madison) का मामला

प्रधान न्यायाधीश मार्शल ने उपर्युक्त मामले में तार्किक दृष्टि से उन प्रश्नों पर, जो इस मामले में विचाराधीन थे, सब तरह से विचार किया। हैमिल्टन ने तर्कों का आश्रय लेते हुए उसने कहा कि यदि जिन पर मर्यादाएँ लगाई गयी हैं, वे ही *स्वयं अपनी मर्यादाओं की प्रकृति एवं विस्तार पर निर्णय करने वाले हों* तो विधान की मर्यादाओं का कोई अर्थ ही नहीं होगा। उनका निर्णय करने के लिए मर्यादित सत्ता से भिन्न एक ऐसा सर्वोच्च अधिकारी होना चाहिए जो ऐसे मामलों पर विचार करे और उन मर्यादाओं का पालन करा सके। संयुक्त राज्य *अमेरिका की सरकार के सम्बन्ध में उसने कहा कि 'व्यवस्थापिका की सत्ताएँ* सीमित और निश्चित हैं; इन मर्यादाओं के सम्बन्ध में कोई भूल न हो, इसलिए विधान लिखा गया है। यदि जो मर्यादित किये गये हैं, वे इन सीमाओं का अतिक्रमण कर सकें तो फिर किस उद्देश्य से सत्ताएँ सीमित की गयी हैं और किस उद्देश्य से वे *मर्यादाएँ लिपिबद्ध की गयी हैं। यदि वे मर्यादाएँ उन व्यक्तियों को अपनी* सीमाओं में नहीं रखतीं, जिनके सम्बन्ध में वे कायम की गई हैं, और यदि अनुज्ञापित तथा निषिद्ध दोनों प्रकार के कार्य बराबर हों तो सीमित सत्ताधारी शासन तथा असीमित सत्ताधारी शासन में कोई अन्तर ही नहीं रहेगा। विधान या तो सर्वोच्च, सार्वभौम तथा साधारण रीति से अपरिवर्तनीय कानून है अथवा वह साधारण कानून के समान है और साधारण कानूनों की भाँति ही व्यवस्थापिका की इच्छानुसार परिवर्तनीय है। यदि पहली बात सत्य है तो जो व्यवस्थापिका का कानून विधान के प्रतिकूल है, वह कानून नहीं है; यदि दूसरी बात सत्य है, तो ऐसी सत्ता को सीमित करने के लिए, जो अपनी प्रकृति से असीमित है, लिखित विधान व्यर्थ है।' अन्त में, न्यायाधीश मार्शल ने कहा कि 'यह न्याय-विभाग का ही क्षेत्र एवं कर्तव्य है कि वह यह बतलावे कि कानून क्या है? जो लोग किसी नियम को किसी मामले में लागू करते हैं, उन्हें *आवश्यक रूप से उसकी व्याख्या करनी चाहिए। यदि दो* कानूनों में परस्पर विरोध होता है, तो न्यायालय को प्रत्येक के प्रभाव के सम्बन्ध में निर्णय देना चाहिए। यदि कोई कानून विधान के प्रतिकूल हो—यदि कानून तथा विधान दोनों ही किसी विशेष मामले में लागू हों—तो न्यायालय को यह निर्णय देना चाहिए कि इनमें से कौन सा उपयुक्त है। यह न्यायिक कर्तव्य का सार है। अतः यदि न्यायालय विधान का सम्मान करते हैं और विधान व्यवस्थापिका के एक

---

१. The Federalist (Dowson's ed.), p. 542.

साधारण कानून से श्रेष्ठ है, तो ऐसे मामले मे, जहाँ दोनो लागू होते हैं, विधान के अनुसार निर्णय देना चाहिए।"[1]

भूतपूर्व न्यायाधीश कूले ने कहा था कि 'न्यायालय व्यवस्थापिका के कार्य मे सशोधन एव परिवर्द्धन करने अथवा उसकी आलोचना करने के लिए नही है वरन् व्यवस्थापिका की आकाक्षा को कार्यरूप मे परिणत करने के लिए है और केवल जहाँ उन्हे यह मालूम हो कि व्यवस्थापिका वैधानिक सीमाओ का उल्लंघन कर गयी है, वही उन्हे व्यवस्थापिका के कार्य की उपेक्षा करने की स्वतन्त्रता है। इस उच्च सत्ता का प्रयोग करने मे न्यायाधीश न्यायिक सर्वोच्चता का दावा नही करते, वे तो केवल जनता की इच्छा को कार्यान्वित करने वाले हैं। यदि व्यवस्थापिका का कोई भी कानून अवैध ठहरा दिया जाता है, तो यह इसलिए नही कि न्यायाधीश का व्यवस्थापन-सत्ता पर कोई नियन्त्रण है, प्रत्युत इसलिए कि इस प्रकार का कानून विधान द्वारा निषिद्ध है और इसलिए कि जनता की इच्छा, जिसका उसमे उल्लेख है, सर्वोच्च है तथा प्रतिनिधियो की उस इच्छा से श्रेष्ठ है, जो कानून मे प्रतिलक्षित है।[2]

योरोप की पद्धति : जर्मनी

यह कार्य, जिसे अमेरिका मे न्यायालयो ने सबसे पहले किया, योरोप मे एक दीर्घ काल तक व्यवहार मे अज्ञात था। योरोप मे यह सिद्धान्त ही सार्वभौम था कि व्यवस्थापिका ही अपनी सत्ताओ की एकमात्र निर्णायिका है। न्यायालय का व्यवस्थापिका के कानूनो को अवैधानिक घोषित कर देने का अधिकार स्वीकार नही था और न व्यवहार में उसका प्रयोग ही किया गया। प्राचीन जर्मन साम्राज्य (सन् १८७१-१९१९) मे यह स्वीकार किया गया था कि न्यायालयो को यह निर्णय करने का अधिकार था कि व्यवस्थापिका के वे कानून, जिनके औचित्य के सम्बन्ध मे सन्देह है, औपचारिक रूप से (Formally) वैध है या नही, अर्थात् न्यायालयो को यह निर्णय करने का अधिकार था कि क्या वे विधान द्वारा निर्धारित आवश्यक बातो के अनुकूल स्वीकार किये गये हैं और राज्य-प्रमुख द्वारा नियमपूर्वक जारी किये गये हैं या नही, परन्तु न्यायालयो को यह निर्णय करने का अधिकार नही था कि उनका निर्माण व्यवस्थापिका की वैधानिक सत्ता के अधीन हुआ था या नही और न साधारणतया न्यायालयों द्वारा इस अधिकार का प्रयोग ही किया जाता था। इस सिद्धान्त का एक अपवाद था। यह स्वीकार किया गया था कि साम्राज्य के न्यायालय (Imperial Court) को यह निर्णय करने की सत्ता थी कि जो कानून राज्य-व्यवस्थापिका द्वारा स्वीकृत है, वह वस्तुतः साम्राज्य-विधान या साम्राज्य-कानून के

---

१. न्यायाधीश स्टोरी ने भी इस मत का समर्थन किया है। उसने कहा है कि यह शासन की गणतन्त्रीय रचना के सिद्धान्त का परिणाम है, क्योकि अन्यथा व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका के कार्य अपने प्रभाव मे सर्वोच्च एवं अनियन्त्रित हो जायेंगे, विधान मे उनकी चाहे जो कुछ मर्यादाएँ हो। ऐसी दशा मे वे बड़ी जबरदस्त अनधिकृत सत्ताएँ हस्तगत कर लेंगे जिनका जनता के पास कोई इलाज ही नहीं होगा। Kent (Commentaries Vol. I, p. 449 तथा Dicey (Law of the Constitution, p. 125) का भी यही मत है।

२. Constitutional Limitations (7th ed.), p. 228.

विरुद्ध है या नहीं और साम्राज्य-न्यायालय द्वारा इस सत्ता का अनेक बार प्रयोग भी किया गया था। जर्मन साम्राज्य का संगठन संघीय आधार पर हुआ था और इस कारण इस सत्ता का प्रयोग साम्राज्य-न्यायालय अथवा किसी अन्य साम्राज्य-संस्था द्वारा उचित ही था जिससे साम्राज्य-विधान तथा साम्राज्य-कानूनों की सर्वोच्चता सुनिश्चित रहे और साम्राज्य के अन्तर्गत राज्य अपनी-अपनी अधिकार-सीमा में बने रहें। परन्तु साम्राज्य-न्यायालय का साम्राज्य-कानून की वैधता का निर्णय करने का अधिकार स्वीकार नहीं किया गया और न उसने उसका कभी प्रयोग ही किया।[1] अध्यादेश (Ordinance) के सम्बन्ध में, अधिकारी इस बात में सभी एकमत थे कि न्यायालयों को उनकी वैधता के सम्बन्ध में निर्णय करने का अधिकार है; परन्तु जहाँ, जैसे प्रशा में, विधान ने स्पष्ट रूप से न्यायालयों को उस पर विचार करने का निषेध कर दिया था, वहाँ न्यायालयों को यह अधिकार नहीं था। सन् १६१६ के जर्मन विधान की धारा १३ में यह स्पष्ट उल्लेख है कि राष्ट्रीय कानून राज्य के कानून से श्रेष्ठ हैं और जहाँ इसमें संदेह हो कि राज्य का कानून साम्राज्य (Reich) के कानूनों के अनुकूल है या नहीं, तो समुचित राष्ट्रीय या राज्य-अधिकारी साम्राज्य के उच्च न्यायालय से एक विशिष्ट राष्ट्रीय कानून के अनुसार इस प्रश्न का निर्णय करा सकता है।। ८ अप्रैल सन् १६२० के एक राष्ट्रीय कानून के अनुसार लाइपजिग का सर्वोच्च न्यायालय (Supreme Court) इस प्रकार के प्रश्नों के निर्णय के लिए नियुक्त किया गया था। जैसा पहले कहा जा चुका है, न्यायालय प्राचीन विधान के अन्तर्गत इस सत्ता का प्रयोग करते थे, परन्तु यह निर्णय सम्बन्धित पक्षों के लिए ही मान्य था। सन् १६१६ के विधान के अनुसार राष्ट्रीय या राज्य-सरकार के द्वारा यह प्रश्न एक स्वतन्त्र समस्या के रूप में उठाया जा सकता है और जब सर्वोच्च न्यायालय यह निर्णय दे देता है कि किसी राज्य का कोई कानून राष्ट्रीय कानून के प्रतिकूल है, तो उसका प्रभाव सामान्य होता है और भविष्य के लिए वह अवैध एवं शून्य हो जाता है।[2] सर्वोच्च न्यायालय को किसी राष्ट्रीय कानून (National law) को अवैधानिक घोषित करने का अधिकार नहीं है, परन्तु सर्वोच्च न्यायालय के सिविल विभाग (Civil division) ने ४ नवम्बर सन् १६२५ को घोषित किया कि इस सम्बन्ध में विधान में कोई उल्लेख न होते हुए भी न्यायालय राष्ट्रीय कानूनों की अवैधानिकता के सम्बन्ध में निर्णय करने में समर्थ है।[3] प्रशा के नये विधान की धारा ८७ द्वारा यह व्यवस्था की गई है कि वैधानिक विवादों का निर्णय प्रशा के राज्य की सर्वोच्च अदालत द्वारा किया जायगा, परन्तु शायद इसका आशय यह नहीं था कि न्यायालय को व्यवस्थापिका के कानूनों को अवैध तथा शून्य घोषित करने का अधिकार होगा।

---

१. साम्राज्य न्यायालय ने २८ मार्च सन् १८८६ के अपने एक निर्णय में बतलाया था कि ऐसे मामलों में न्यायालय को अधिकार है। इस विषय का मैंने *Pol. Sci Quar*, XVIII (1903), pp. 524 ff. में The German Judiciary शीर्षक वाले लेख में सविस्तार विवेचन किया है।

२. तुलना कीजिये, Oppenheimer, The Constitution of the German Republic, p. 168

३. Blachly and Oatman in *Amer. Pol. Sci. Rev.*, Feb., 1927, p. 116.

आस्ट्रिया

सन् १६२० का ऑस्ट्रियन गणतन्त्र का विधान (धारा १४०) सर्वोच्च वैधानिक न्यायालय को, संघीय मन्त्रि-परिषद् की प्रार्थना पर, संघीय कानूनों की वैधानिकता के सम्बन्ध में निर्णय देने का अधिकार प्रदान करता है। परन्तु यदि न्यायालय के समक्ष किसी मामले में संघीय कानून की वैधानिकता के सम्बन्ध में संदेह प्रकट किया गया हो तो मन्त्रि-परिषद् की प्रार्थना आवश्यक नहीं है। उस दशा में मन्त्रि-परिषद् की प्रार्थना के बिना ही न्यायालय अपने ही दायित्व पर प्रश्न का निर्णय कर सकता है। यह सिद्धान्त अमेरिकन सिद्धान्त से भिन्न है; वहाँ अवैधानिकता के प्रश्न पर परामर्शात्मक न्यायिक मत के रूप में न्यायालय का निर्णय प्राप्त किया जा सकता है—अर्थात् सरकार की प्रार्थना पर, किसी मुकद्दमे में केवल वादी द्वारा नहीं। परन्तु यह प्रणाली सन् १६३४ के ऑस्ट्रियन विधान द्वारा उठा दी गयी।[1]

अन्य योरोपियन देशों में

चेकोस्लोवाकिया का विधान (Introductory Law, Article I) ने यह सिद्धान्त स्थापित किया है कि व्यवस्थापिका के जो कानून विधान के विरुद्ध हैं, वे अवैधानिक हैं। ऑस्ट्रिया की भाँति उस देश में भी कानूनों की अवैधानिकता का निर्णय देने का अधिकार एक विशेष 'वैधानिक' न्यायालय को दिया गया है; साधारण न्यायालयों को केवल यह निर्णय करने का ही अधिकार है कि कानूनों को राष्ट्रपति ने समुचित रीति से नियमपूर्वक जारी किया है या नहीं (धारा १०२)। किन्तु अध्यादेशों के सम्बन्ध में साधारण न्यायालय वैधानिकता के सम्बन्ध में निर्णय दे सकते हैं। इस विधान के अधीन प्रथम ६ वर्षों में वैधानिक न्यायालय ने अनेक कानूनों को अवैधानिक घोषित किया।[2] फिनलैण्ड और युगोस्लाविया के विधानों में इस सम्बन्ध में कोई उल्लेख नहीं है। पोलैण्ड के विधान में तो यह स्पष्ट उल्लेख है कि न्यायालयों को समुचित रीति से प्रचलित किये गये कानूनों की वैधता के सम्बन्ध में निर्णय करने का कोई अधिकार नहीं है (धारा ८१)।

स्विटजरलैण्ड में जहाँ संघ-शासन-प्रणाली प्रचलित है, संघीय न्यायालय को प्रान्तीय व्यवस्थापिकाओं के उन कानूनों को अवैधानिक घोषित करने का अधिकार है, जो संघीय विधान के प्रतिकूल हैं (धारा ११३), परन्तु वह संघ-पार्लमिण्ट के कानूनों की वैधानिकता का निर्णय नहीं कर सकता।[3]

---

१ जब सर्वोच्च वैधानिक न्यायालय (Supreme Constitutional Court) किसी कानून को अवैधानिक घोषित कर देता है तब संघ के चान्सलर को तुरन्त ही उसका प्रकाशन गजट में कर देना पड़ता है। यदि न्यायालय इस प्रकार कानून के रद्द हो जाने के सम्बन्ध में कोई तिथि निर्धारित नहीं करता, तो गजट में प्रकाशन के दिन से ही वह रद्द समझा जाता है।

२. ७ नवम्बर सन् १६२२ को यह निर्णय दिया गया कि वह साधारण कानून जो सरकार को ऐसे मामले में अध्यादेश द्वारा कार्य करने का अधिकार देता है, जिसमें व्यवस्थापिका के कानून बनाना चाहिए, विधान की धारा ६ तथा ५५ के प्रतिकूल है।

३. Brooks, Government and Politics of Switzerland, p. 116. स्विस लोगों के अमेरिकन सिद्धान्त को स्वीकार न करने के कारणों के लिए Cunningham, The Swiss Confederation, p. 295 देखिये।

रूमानिया (सन् १६२३) के विधान द्वारा अपील के न्यायालय को यह स्पष्ट अधिकार दिया गया है कि वह कानूनों की अवैधानिकता के सम्बन्ध में निर्णय करे और उन कानूनों को लागू करने से इन्कार कर दे जो अवैधानिक हैं, किन्तु इस प्रकार का निर्णय केवल उसी मामले में लागू हो सकता है जिसका फैसला किया गया हो।[1] इस तरह न्यायालय सरकार की प्रार्थना पर किसी काल्पनिक मामले में ऐसा निर्णय नहीं दे सकता।

नॉर्वे में न्यायिक पूर्व-उदाहरणों (Judicial precedents) द्वारा यह सिद्धान्त स्थापित हो चुका है कि न्यायालय कानूनों की अवैधानिकता के सम्बन्ध में निर्णय दे सकते हैं। इसी प्रकार का अधिकार यूनान के सर्वोच्च न्यायालय के अनेक निर्णयों में भी स्वीकृत किया गया है।[2]

ब्रिटिश प्रथा

इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि अमेरिका के अवैधानिकता के सिद्धान्त ने योरोप में काफी प्रगति की है और वहाँ कानून-विज्ञों ने इसका जैसा प्रचार किया है, उसमें यही प्रतीत होता है कि भविष्य में इसका और भी अधिक विस्तार होगा। किन्तु योरोप के अधिकांश राज्यों में अब भी यही नियम प्रचलित है कि व्यवस्थापिका ही अपनी सत्ताओं की एकमात्र निर्णायिका है और व्यवस्थापिका जिस किसी कानून को स्वीकार करती है, उसे न्यायालय को लागू करना चाहिए, चाहे वह स्पष्टतया विधान के प्रतिकूल ही क्यों न हो। ग्रेट ब्रिटेन में तो पार्लामेण्ट की सर्वोच्चता विधान की आधारशिला है; यदि पार्लामेण्ट कोई ऐसा कानून बनाती है, जो जनता के अत्यन्त पवित्र वैधानिक अधिकारों पर प्रहार करता है तो लोकमत उसे अवैधानिक घोषित कर सकता है; परन्तु कोई भी न्यायालय ऐसे कानून को अवैधानिक घोषित करने का साहस नहीं करेगा और उसे वैसे ही लागू करेगा, जैसे वह वैधानिक हो।[3] ग्रेट ब्रिटेन में केवल प्रिवी कौंसिल की न्याय-समिति (Judicial Committee) (जो ब्रिटिश उपनिवेशों तथा डॉमीनियनों की अपीलें सुनती है) को यह अधिकार प्राप्त है। यह किसी उपनिवेश या डोमीनियन (Dominion) की व्यवस्थापिका के कानून को अवैधानिक घोषित करके इस सिद्धान्त का प्रयोग करती है। ब्रिटिश न्यायालय 'परिषद् के आदेशों' (Orders-in-Council) तथा मन्त्रि-परिषद् के अन्य आदेशों (Exe-

---

१. रूमानिया के पूर्व विधान के समय में भी न्यायालय इस अधिकार का प्रयोग करते थे, यद्यपि विधान में इस प्रकार का कोई उल्लेख नहीं था।

२. Duguit, Traite de droit Const., 2nd ed. (1923), Vol. III, p. 680.

३. परन्तु अपने समय में कोक (Coke) ने यह कहने का साहस किया था कि पार्लामेण्ट का जो कानून सामान्य अधिकार एवं बुद्धि के विपरीत है, वह सामान्य कानून (Common Law) की दृष्टि से शून्य माना जाना चाहिए। (8 Coke 114)। Hearn (Government of England, pp 37-40) ने भी इसी मत को स्वीकार किया। परन्तु आधुनिक विचार इस मत के विपरीत है और किसी भी न्यायालय ने पार्लामेण्ट के किसी कानून को अवैधानिकता के आधार पर शून्य घोषित करने के अधिकार का दावा नहीं किया है। इस विषय पर Dicey, Law of the Constitution, Lect. II और Lowell, The Government of England, Vol. I, pp. 6-7 देखिये।

cutive acts) को शून्य घोषित कर सकते है यदि वे विधान या अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रतिकूल हो (उदाहरणार्थ, अमोरा के मामलो मे)।

फ्रेन्च सिद्धान्त और प्रयोग

इसी प्रकार फ्रान्स मे पार्लमिण्ट की सर्वोच्चता आधारभूत वैधानिक सिद्धान्त है और किसी भी कानून को, जो उसके द्वारा निर्मित किया जाता है और राष्ट्रपति द्वारा यथोचित रीति से जारी किया जाता है, पालन करना न्यायालयों के लिए अनिवार्य है, चाहे वह विधान के अनुकूल हो या प्रतिकूल। यह प्रश्न सबसे प्रथम बार सन् १८३३ मे फ्रेन्च कोर्ट ऑफ केसेशन (Court of Cassation) के समक्ष पार्लमिण्ट द्वारा स्वीकृत एक प्रेस कानून के सम्बन्ध मे उपस्थित हुआ था, जो सन् १८३० के वैधानिक चार्टर की धारा ६९ के सर्वथा प्रतिकूल था। एक सुप्रसिद्ध फ्रेन्च कानूनविज्ञ ने न्यायालय से जोरदार अपील की कि इस कानून को अवैधानिक घोषित कर दिया जाय। उसने यह भी कहा कि यदि पार्लमिण्ट शासन-विधान की किसी धारा का निर्भीक होकर उल्लघन कर सकती है, तो फ्रान्स मे वास्तव मे कोई विधान ही नहीं रह जाता और पार्लमिण्ट पर उससे जो प्रतिबन्ध लगाये हैं, वे वृथा हैं। परन्तु न्यायालय ने यह निर्णय किया कि उसे किसी भी कानून को अवैधानिक घोषित करने का अधिकार नही है। दूसरे वर्ष न्यायालय ने इस निर्णय की पुनः पुष्टि की और उस समय से उसका पालन किया जा रहा है। किन्तु यह सिद्धान्त अब सुप्रतिष्ठित हो चुका है कि न्यायिक न्यायालय अवैध अध्यादेशो के उल्लंघन के लिए अर्थ-दण्ड देने से इन्कार कर सकते हैं और कौंसिल ऑफ स्टेट (जो सर्वोच्च प्रशासन-सम्बन्धी न्यायालय है) शासनाधिकारियो द्वारा अपनी सत्ता का उल्लघन करके जारी किये गये ऐसे अनियमित अध्यादेशो को, यहाँ तक कि राष्ट्रपति द्वारा जारी किये गये अध्यादेशो तक को भी रद्द कर सकती है। कौंसल ऑफ स्टेट इस अधिकार का खूब प्रयोग करती है।[1] फ्रेन्च कानूनो का एक बृहद् भाग अध्यादेशो (Ordinances) से ही बना है जो गणतन्त्र के राष्ट्रपति द्वारा जारी किये गये हैं, अतः फ्रान्स मे न्यायिक नियन्त्रण वास्तव मे बहुत काफी है।

जैसा ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, पार्लमिण्ट के औपचारिक कानूनो (Formal Acts) पर न्यायालयो का कोई नियन्त्रण नही है।[2] यह सत्य है कि चूँकि फ्रेन्च विधान मे "कानून की यथोचित प्रक्रिया" (Due process of Law) ऐसा कोई वाक्यांश नही है और न व्यवस्थापिका सत्ता पर कोई स्पष्ट मर्यादा या प्रतिबन्ध ही है, इसलिए विधान के प्रतिकूल पार्लमिण्ट के कानून प्रायः असम्भव है। अतः यदि न्यायालयो को पार्लमिण्ट के अवैधानिक कानूनो को शून्य घोषित करने का अधिकार हो, तो उसके प्रयोग के अवसर कम ही मिलेंगे, जब तक कि जैसा ड्यूग्वी आदि विद्वानो का मत है, सन् १७८९ के अधिकारो की घोषणा (Declaration of Rights) को वर्तमान वैधानिक फ्रेन्च कानून का एक भाग न मान लिया जाय। अन्यथा जैसा एस्मीन ने कहा है, जिन अधिकारो की घोषणा मे उल्लेख है, वे केवल विशुद्ध सिद्धान्त

---

१. *Amer Pol Sci. Rev.*, Vol IX (1915), pp 637-57 मे मैंने इस विषय का विस्तृत विवेचन किया है।

२. फ्रेन्च कानूनविज्ञ यह स्वीकार करते हैं कि न्यायालयों को किसी कानून की अवैधानिकता के आधार पर शून्य घोषित करने का अधिकार तो नहीं है, परन्तु यदि वे विधिपूर्वक जारी किये जाँय तो शून्य घोषित किये जा सकते हैं।

मात्र ही रह जाते हैं और पार्लमिण्ट की सत्ता पर अमल में लाने वाली मर्यादाओं के रूप में नहीं रह जाते। इसी कारण फ्रेन्च पार्लमिण्ट में समय-समय पर इस आशय के प्रस्ताव रखे गये हैं कि सन् १८७५ के फ्रेन्च विधान में अधिकारों की घोषणा के सिद्धान्तों को सम्मिलित कर लिया जाय और उन्हें पार्लमिण्ट पर बन्धनकारी बनाने के हेतु ऐसी वैधानिक व्यवस्था की जाय कि कोर्ट ऑफ केसेशन या विशेषरूप से निर्मित वैधानिक न्यायालय को ऐसे कानूनों को रद्द करने का अधिकार दे दिया जाय, जो उन सिद्धान्तों के विरुद्ध हों।

फ्रेन्च लोगों ने न्यायालय के पार्लमिण्ट द्वारा स्वीकृत कानूनों को वैधानिक घोषित करने के अधिकार को स्वीकार नहीं किया है। इसका प्रथम कारण तो यह है कि न्यायालय को ऐसा अधिकार देने का अर्थ होगा—व्यवस्थापक तथा न्याय विभागों की सत्ताओं के पृथक्करण के सिद्धान्त का (जो सन् १७८९ तथा सन् १७९० में घोषित किया गया था) उल्लंघन, द्वितीय, ऐसा करने से न्याय-विभाग व्यवस्थापक विभाग से उच्चतर हो जायगा, व्यवस्थापक विभाग ही ऐसा है जो जनता का प्रतिनिधि है और जिसका निर्वाचन उसकी प्रभुत्वसम्पन्न इच्छा की अभिव्यक्ति के लिए हुआ है। तृतीय, इससे न्यायालयों एवं व्यवस्थापक-मण्डल के बीच विवाद एवं संघर्ष होगा और न्यायालयों के हाथ में व्यवस्थापन द्वारा सुधारों का अवरोध करने की सत्ता आ जायगी। इस प्रकार के अधिकार का प्रयोग न्यायालय (Parlements) फ्रेन्च क्रान्ति से पहले करते थे और उसकी स्मृति के कारण क्रान्तिवादियों को सन् १७९० में एक कानून (जो आज भी प्रचलित है) स्वीकार करना पड़ा जो न्यायालयों को व्यवस्थापिका के कानूनों को कार्यान्वित करने के कार्य में हस्तक्षेप करने या उन्हें स्थगित करने से रोकता है।

इस पर भी तीसरे गणतन्त्र की स्थापना के पश्चात् से फ्रान्स में ऐसे अनेक विद्वान् हुए हैं, जो *न्यायिक नियन्त्रण एवं समालोचन के अमेरिकन सिद्धान्त का* समर्थन करते हैं और हाल के वर्षों में ऐसे फ्रेन्च विद्वान् तथा विधान-वेत्ताओं की संख्या काफी बढ़ गयी है जो इस अमेरिकन सिद्धान्त का समर्थन करते हैं। उनमें से कुछ सबसे प्रसिद्ध विद्वान्, जैसे ड्यूग्वी, जेजे (Geze), बार्थेलेमी मानते हैं कि फ्रान्स में अमेरिकन सिद्धान्त की स्थापना केवल वाञ्छनीय ही नहीं है वरन् वास्तव में फ्रेन्च न्यायालयों को ऐसा अधिकार है; परन्तु उनमें उसके प्रयोग के लिए साहस का अभाव है। जेजे और बार्थेलेमी ने सन् १९१२ में, बुखारेस्ट की एक रेलवे कम्पनी को अपनी विद्वत्तापूर्ण अनुमति देते हुए यह मान्यता प्रकट की थी कि जब राज्य ऐसी व्यवस्था करता है, जिसके अनुसार वैधानिक कानून तथा साधारण कानून में भेद स्थापित किया जाता है, व्यवस्थापिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका में अन्तर माना जाता है और स्वतन्त्र न्यायिक न्यायालयों की व्यवस्था होती है, तब स्पष्ट रूप से उल्लिखित करने की आवश्यकता के बिना, स्वाभाविक एवं तार्किक परिणाम के रूप में यह उपलक्षित है कि वह न्यायालयों को ऐसी सत्ता प्रदान कर रहा है कि वे अपने समक्ष विचाराधीन मामलों में कानूनों की वैधानिकता के सम्बन्ध में निर्णय दे सकें और ऐसे कानूनों को कार्यान्वित करने से इन्कार कर सकें जो विधान के प्रतिकूल हों। रूमानिया के सर्वोच्च न्यायालय ने पूर्णरूप से इस मत को स्वीकार किया। फ्रान्स में ड्यूग्वी तथा होरियो ने बड़ी विद्वत्ता के साथ इसका समर्थन किया। ड्यूग्वी ने अपने पहले के ग्रन्थों में न्यायालयों के नियन्त्रण के औचित्य को स्वीकार नहीं किया था; परन्तु अपने पिछले ग्रन्थों में उसने अपनी भूल को स्वीकार करते हुए लिखा कि 'आज मैं बिना किसी संकोच के यह

स्वीकार करता हूँ कि यह सिद्धान्त कानून की प्रभुता का तार्किक एवं आवश्यक परिणाम है।' वह हॉरियो के इन विचार से सहमत है कि जो न्यायाधीश वैधानिक तथा साधारण कानूनों के विरोध के सम्बन्ध में निर्णय करता है, वह किसी भी प्रकार से व्यवस्थापन-सत्ता के प्रयोग में हस्तक्षेप नहीं करता, वह न कानूनों को कार्यान्वित करने में बाधा डालता है और न किसी प्रकार से उन्हें स्थगित ही करता है और यदि व्यवस्थापिका का कानून लागू नहीं किया जाता, तो ऐसा न्यायाधीश निर्णयों के परिणामस्वरूप नहीं होता, वरन् इसके लिए विधान को सर्वोच्चता उत्तरदायी है, जो उस पर भी वैसी ही बन्धनकारी है जैसी एक व्यवस्थापिका पर। न्यायालयों को ऐसा कानून लागू करने के लिए बाध्य करना जो वास्तव में कोई कानून नहीं है क्योंकि जिसने उसे बनाया है, उसने अपनी सत्ता का दुरुपयोग किया है, उसे विधान को भंग करने के लिए बाध्य करना है, जिसका परिणाम होगा उनको व्यवस्थापिका पर निर्भर कर देना जो स्वयं सत्ताओं के पृथक्करण के सिद्धान्त के विरुद्ध है। फ्रेन्च न्यायाधीश के अधिकारों के सम्बन्ध में उसका मत है कि विधान में ऐसा कोई आदेशात्मक उपबन्ध नहीं है जो इस अधिकार का निषेध करता हो, इसके विपरीत जिनका राज्यों में सत्ताओं पृथक्करण का उल्लेख किया गया है, उनमें यह अधिकार प्रतिलक्षित है।

ड्यूगी ने यह आशा प्रकट की थी कि फ्रान्स में शीघ्र ही अमेरिकन न्यायिक नियन्त्रण का सिद्धान्त प्रचलित हो जायगा और उसने यह भी भविष्यवाणी की कि भविष्य में कोर्ट ऑफ कैसेशन को या कौंसिल ऑफ स्टेट को या दोनों को संयुक्त राज्य अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय के समान अवैधानिक कानून के सम्बन्ध में अधिकार मिल जायेंगे।

ब्रिटिश उपनिवेशों तथा लेटिन अमेरिका में अवैधानिक कानूनों पर न्यायिक नियन्त्रण

योरोप के बाहर अन्य देशों में न्यायिक पर्यवेक्षण तथा निषेध के सिद्धान्त को अधिक समर्थन प्राप्त हुआ है। कनाडा के स्वतन्त्र डॉमीनियन में यह सिद्धान्त भलीभाँति प्रतिष्ठित हो चुका है कि डॉमीनियन को पार्लमेण्ट तथा उसके प्रान्तों की व्यवस्थापिकाओं के जो कानून ब्रिटिश उत्तरी अमेरिका एक्ट के विरुद्ध हैं तथा प्रान्तीय व्यवस्थापिकाओं के जो कानून डॉमीनियन की पार्लमेण्ट के प्रतिकूल हैं, वे अपनी अवैधानिकता के कारण व्यर्थ एवं शून्य घोषित किये जा सकते हैं और जैसा ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, लन्दन में प्रिवी कौंसिल की न्याय-समिति उन कानूनों को, जो अवैधानिक हैं, प्रभाव-शून्य घोषित कर सकती है।[1]

ऑस्ट्रेलियन कॉमनवेल्थ एक्ट (धारा १०६) में स्पष्ट शब्दों में यह उल्लिखित है कि जब कॉमनवेल्थ के अधीन किसी भी राज्य का कोई कानून कॉमनवेल्थ के कानून के विरुद्ध है, तो राज्य का कानून उस सीमा तक अवैध माना जायगा जहाँ तक वह प्रतिकूल है और कॉमनवेल्थ का कानून ही मान्य होगा। यह धारा स्पष्टरूप से न्यायालयों को अवैधानिकता के प्रश्न का निर्णय करने की सत्ता प्रदान नहीं करती, परन्तु

---

१ देखिये, Haines, Judicial Review of Legislation in Canada, *Harv. Law Rev.*, Vol. XXVIII (1914-15), p. 105; Lefroy, Law of Legislative Power in Canada; Munro, The Constitution of Canada, pp. 5 and 219.

ऑस्ट्रेलिया मे भी अमेरिका की भाँति यह मान लिया गया है कि यह न्याय-सत्ता का एक अङ्ग है और इस कारण सभी न्यायालयो को ऐसा अधिकार है। कॉमन-वेल्थ तथा उसके राज्यो के न्यायालयो ने प्रारम्भ से ही इस अधिकार का प्रयोग किया है; परन्तु कॉमनवेल्थ कानून (Commonwealth Act) मे "कानून की समुचित प्रक्रिया" (Due process of Law) वाक्य-खण्ड का अभाव होने तथा राज्यो पर अपेक्षाकृत कम वैधानिक मर्यादाएँ होने के कारण, जिन मामलो मे राज्यो के कानूनो की वैधानिकता के सम्बन्ध मे निर्णय किये गये हैं, वे अपेक्षाकृत कम हैं।[१]

ऑस्ट्रेलिया मे हाई कोर्ट द्वारा केवल राज्यो के कानून ही अवैधानिक घोषित नहीं किये गये हैं, वरन् कॉमनवेल्थ के कानून भी अवैध घोषित किये गये हैं।[२] दक्षिणी अफ्रिकन यूनियन मे भी यही परिपाटी है।[३] नवीन आयरिश फ्री स्टेट के विधान मे यह स्पष्ट उल्लेख है कि न्यायालयो को व्यवस्थापिका के उन कानूनो को व्यर्थ एवं शून्य घोषित करने का अधिकार है जो विधान या एंग्लो-आयरिश संधि के विरुद्ध हैं। ब्रिटिश प्रिवी कौंसिल के समक्ष अपील का अधिकार भी सुरक्षित रखा गया है।

लेटिन अमेरिका मे भी न्यायालयो का नियन्त्रण किसी न किसी सीमा तक अर्जेण्टाइना, ब्राजील, बोलविया, कोलम्बिया, कोस्टारिका, क्यूबा, हेटी, होण्डुरास, मेक्सिको तथा वेनेजुएला आदि मे है। कुछ राज्यो मे तो, विशेष कर ब्राजील मे, संयुक्त राज्य अमेरिका का यह सिद्धान्त पूर्णरूप से स्थापित हो चुका है और सर्वोच्च न्यायालय राष्ट्रीय तथा राज्यो के कानूनो को विधान के प्रतिकूल होने पर स्वतन्त्रता-पूर्वक अवैध घोषित करते रहते हैं, यद्यपि सयुक्त राज्य की तुलना मे ऐसे मामले काफी कम होते हैं।[४] चीन के विधान (१० अक्तूबर सन् १९२३) की १०८वीं धारा मे भी यह स्पष्ट उल्लेख है कि जो विधान के प्रतिकूल होगे, वे व्यर्थ और शून्य होंगे।

संघीय राज्यों मे न्यायिक नियन्त्रण के गुण

व्यवस्थापिका के कानूनों के न्यायिक नियन्त्रण के सिद्धान्त की वांछनीयता पर विचार करते समय हमे संघ-राज्य के अन्तर्गत राज्यों एवं प्रान्तो मे उसके प्रयोग तथा संघीय और एकात्मक राज्यो का विचार किये बिना राष्ट्रीय कानूनो के सम्बन्ध में उसके प्रयोग मे भेद करना उचित है। जैसा पहले बतलाया जा चुका है, संघ-राज्य

---

१. देखिये, Haines, Judicial Interpretation of the Constitution Act of the Commonwealth of Australia, *Harv. Law Rev.*, Vol. XXX (1916-17), pp. 595 ff.

२. Warren, Congress, the Constitution and the Supreme Court, p. 163 तथा Moore, The Constitution of the Commonwealth (2nd ed.).

३. Smith, Judicial Control of Legislation in the British Empire. *Yale Law Journal*, Vol. XXXIV (1925) दक्षिणी अफ्रिकन यूनियन की स्थापना के पूर्व ट्रान्सवाल के न्यायालय अवैधानिक कानून को न मानने के अधिकार का दावा करते थे, परन्तु इस कारण राष्ट्रपति क्रूजर से झगड़ा हुआ। क्रूजर इस सिद्धान्त को शैतान का आविष्कार कहता था। Lowell, op. cit., 1, 7 and Gordon, *Law Quar. Rev.*, Vol. XIV, p. 343.

४. देखिये, James, The Constitutional System of Brazil, pp 106 ff.

की एक मुख्य विशिष्टता यह है कि इसमे शासन-क्षमता का राष्ट्रीय तथा राज्य या स्थानीय सरकारो के बीच विभाजन होता है। यह विभाजन सघ-राज्य के विधान या सयोग के मौलिक कानून द्वारा किया जाता है। उसमे या तो केन्द्रीय सरकार के अधिकारो की गणना कर दी जाती है और अवशिष्ट अधिकार प्रान्तो को दे दिये जाते हैं अथवा प्रान्तो के अधिकारो की गणना कर दी जाती है और अवशिष्ट अधिकार केन्द्रीय सरकार को दे दिये जाते हैं। दोनो ही अवस्थाओ मे विधान प्रान्तीय या राज्य की सरकारो तथा संघीय या केन्द्रीय सरकार की अधिकार-सीमा निश्चित कर देता है, जिसका कोई अतिक्रमण नही कर सकता। प्रत्येक को अपने क्षेत्र मे सर्वोच्चता तथा दोनो के बीच समतोलन कायम रखने के लिये, एक ऐसे निर्णायक, न्यायाधीश या पच की आवश्यकता है जो इन सत्ताओ के बीच अधिकार-सीमा के सम्बन्ध मे विवाद उत्पन्न हो जाने पर उनका निर्णय कर सके, अन्यथा इस प्रकार के विवाद सदैव होते रहेंगे और संघ का अस्तित्व ही सकट मे पड जायगा। समस्त सघ-राज्यो मे, न्यायपालिका निर्णायक या पच का कार्य करती है और इस सम्बन्ध में मतैक्य है कि शासन का अन्य कोई ऐसा विभाग नहीं है जो इस महत्वपूर्ण, अनिवार्य एवं निष्पक्ष कार्य को कर सके। यदि सयुक्त राज्य अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय ने इस कर्तव्य का पालन न किया होता, तो यह कल्पना करना सम्भव नही कि अमेरिकन सघ का इतिहास किस प्रकार का हुआ होता।

एकात्मक राज्यो मे न्यायिक नियन्त्रण के गुण

एकात्मक राज्यो मे व्यवस्थापिका के कानूनो पर न्यायिक नियन्त्रण की आवश्यकता कम होती है क्योंकि उसमे सत्ताओ का विभाजन तथा समतोलन बनाये रखने का कार्य नहीं होता। इसी प्रकार फ्रान्स जैसे राज्यो मे, जिनके विधान व्यवस्थापिका पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाते और जिनमे नागरिको के अधिकारो की घोषणा (Bills of Rights) तथा 'कानूनो की समुचित प्रक्रिया' का कोई स्थान नहीं होता, न्यायिक नियन्त्रण का महत्व अधिक नहीं होता और, जैसा ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, यदि व्यवस्थापिका के अवैधानिक कानूनो को अवैध घोषित करने का न्यायालय को अधिकार हो तो भी उसके प्रयोग के लिए अवसर कम आयेंगे क्योंकि व्यवस्थापिका का कोई भी कानून अवैधानिक नही हो सकता। परन्तु जिन राज्यो के विधान लिखित हैं, जिनमे सत्ता-प्रदान तथा सत्ता निषेध की व्यवस्था है और जिनमे नागरिको के अधिकारो का विशद रूप मे उल्लेख है, जिनमे नागरिको के लिए स्वतन्त्रता का एक व्यापक क्षेत्र सुरक्षित हो जाता है, जिसकी सरकारी आक्रमण से रक्षा आवश्यक होती है, उनमें न्यायिक नियन्त्रण का सिद्धान्त महत्व प्राप्त कर लेता है। जब तक न्यायपालिका या अन्य किसी सत्ता को व्यवस्थापिका के विरुद्ध वैधानिक मर्यादाओ एव प्रतिबन्धो को कार्यान्वित करने की शक्ति न हो तब तक नागरिक अधिकार केवल 'कागज की चिट' अथवा व्यवस्थापिका के लिए उपदेशमात्र ही रहेंगे, उनका कोई प्रभाव नहीं होगा। एक प्रसिद्ध फ्रेन्च कानूनविद (Cremieux) ने सन् १८३३ में कोर्ट ऑफ केसेशन के समक्ष यह तर्क दिया था कि यदि न्यायालय को व्यवस्थापिका के उस कानून को लागू करने से इन्कार करने का अधिकार नहीं है, जो विधान के विरुद्ध है, जिससे व्यवस्थापिका और भी स्वच्छन्द रूप से उसका उल्लघन कर सके, तो इसका अर्थ यह होगा विधान केवल 'बाल की रस्सी' मात्र है, जिसका कोई वास्तविक अस्तित्व नही है। प्रसिद्ध फ्रेन्च कानूनवेत्ता ड्यूग्वी ने स्पष्ट शब्दो में कहा है कि 'जिस देश मे न्यायालय को विधान के विरुद्ध कानून को लागू करने से इन्कार

करने का अधिकार नहीं, उस देश में जनता वास्तव में कानून के राज्य में नहीं रहती।'[1] यह कथन सत्य हो या न हो, परन्तु यह तो अखण्डनीय है कि ऐसी सत्ता के अभाव में वैधानिक तथा साधारण कानून में कोई अन्तर नहीं रह जाता और विधान की सर्वोच्चता का कोई अर्थ ही नहीं होता। व्यवस्थापिका स्वयं अपनी सत्ताओं की निर्णायिका होती है और नागरिकों को विधान द्वारा जो अधिकार प्राप्त होते हैं, उनका उपभोग अनिश्चित रहता है।

न्यायिक नियन्त्रण की समीक्षा

इस पर भी न्यायिक नियन्त्रण के सिद्धान्त के संयुक्त राज्य अमेरिका में, जहाँ इस सिद्धान्त का विकास हुआ था और जहाँ इसका सबसे अधिक प्रचार है, बड़े विरोधी रहे हैं और आज भी हैं। इसके विरोधी सैद्धान्तिक दृष्टि से तथा इसके परिणामों की दृष्टि से इसकी आलोचना करते हैं। वे इसकी आलोचना इसलिए करते हैं कि इसमें व्यवस्थापिका तथा न्यायिक सत्ताओं के पृथक्करण के सिद्धान्त का उल्लंघन होता है और इसमें व्यवस्थापिका पर न्यायपालिका का वास्तविक प्रभुत्व स्थापित हो जाता है। यह न्यायालयों को व्यवस्थापिका के कानूनों को, जिनकी जनता के निर्वाचित प्रतिनिधियों ने रचना की है, अवैध या शून्य घोषित करने का अधिकार देकर उन्हें अन्तिम व्यवस्थापक एवं राजकीय नीति का नियन्त्रणकर्त्ता बना देता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में, प्रो० बर्गेस की भाषा में इसके कारण शासन 'वकीलों का कुलीनतन्त्र' बन जाता है।[2] क्योंकि साधारणतया न्यायाधीशों का निर्वाचन जनता द्वारा नहीं होता, वे उसके प्रति उत्तरदायी नहीं होते और न उनके नियन्त्रण में ही होते हैं। यह प्रणाली एक आलोचक के शब्दों में वास्तव में 'न्यायाधीशों का कुलीनतन्त्र' है।[3]

यह तर्क भी दिया जाता है कि इससे न्यायालयों पर व्यवस्थापक एवं राजनीतिक दायित्व आ पड़ते हैं और इस प्रकार इस स्वस्थ सिद्धान्त की अवहेलना होती है कि न्यायाधीश का एकमात्र स्वाभाविक एवं समुचित कार्य केवल कानूनी विवादों का निर्णय करना है। संयुक्त राज्य अमेरिका में न्यायालयों की इस प्रथा की हाल ही में केवल क्रान्तिवादियों द्वारा ही नहीं, जो न्यायिक नियन्त्रण के सिद्धान्त के ही विरोधी हैं, वरन् प्रसिद्ध अनुदार कानूनवेत्ताओं द्वारा भी आलोचना की गयी है, जिन्होंने न्यायिक नियन्त्रण के सामान्य सिद्धान्त को उचित समझते हुए भी आर्थिक तथा सामाजिक कानूनों के प्रति, जो आज की अवस्था में अत्यन्त आवश्यक है, न्यायालयों की विरोधी तथा मन्द मनोवृत्ति के कारण उनकी निन्दा की है।[4] इस प्रकार के अनेक मामलों में न्यायालयों ने कानूनों को अवैधानिक घोषित कर आज की परिवर्तित अवस्था में अठारहवीं शताब्दी की आर्थिक तथा सामाजिक नीतियों का समर्थन किया है और

---

१. Traite de droit Const. (1923), Vol. III, p. 675.
२. Political Science and Constitutional Law, Vol. II, p. 365.
३. Roe, Our Judicial Oligarchy (1912).
४. तुलना कीजिये, Freund, Standards of American Legislation (1917), p. 32 ; Dodd, Social Legislation and the Courts, *Pol. Sci. Quar.*, Vol. XXVIII (1913), pp. ff. ; also his The Growth of Judicial Power, Vol. XXIV, *Ibid, pp.* 193 ff. ; *Merriam*, American Political Ideas.

मानव अधिकारों की अपेक्षा साम्पत्तिक अधिकारों के प्रति अधिक आदर प्रकट किया है। उनका कथन है कि न्यायालय अयोग्य हैं क्योंकि उन्हें आधुनिक आर्थिक सामाजिक जीवन के तथ्यों का समुचित ज्ञान नहीं है जिससे वे इस प्रकार के कानूनों की आवश्यकता तथा मूल्य के सम्बन्ध में समुचित निर्णय दे सकें।[1] ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिनमें राज्यों के कानून इसलिए अवैध घोषित कर दिये गये कि वे राज्यों के विधानों के प्रतिकूल थे। परन्तु उन कानूनों के पक्ष में इतना प्रबल लोकमत था कि न्यायालयों द्वारा इस प्रकार कानूनों के अवैध घोषित होने पर न्यायालयों के निषेध अधिकार का अतिक्रमण करने के लिए विधान में संशोधन किये गये। ऐसा कॉलोरेडो में सन् १९०२ में और न्यूयार्क में सन् १९१३ में हुआ।

न्यायालय के निर्णयों पर जनमत-संग्रह

हाल के वर्षों में न्यायालयों ने जल्दी-जल्दी कानूनों को अवैधानिक घोषित किया है; इस कारण कुछ वर्षों पूर्व यह आन्दोलन प्रारम्भ हुआ[2] कि न्यायालयों के निर्णयों को 'रद्द करने' (Recall) की व्यवस्था होनी चाहिए और सन् १९१२ में रूजवेल्ट ने इसका जोरदार समर्थन किया। संक्षेप में, प्रस्ताव इस प्रकार था कि यदि न्यायालय व्यवस्थापिका के किसी कानून को अवैधानिक घोषित कर दे तो उस पर जनमत (Referendum) लिया जाय और यदि बहुमत का निर्णय कानून के पक्ष में हो, तो न्यायालय के निर्णय की उपेक्षा करके कानून पर अमल किया जाता रहे। सन् १९१२ में कॉलोरेडो के विधान में एक धारा इसी प्रकार की जोड़ी गयी थी, परन्तु अन्य किसी राज्य ने इसका अनुकरण नहीं किया।[3] इस प्रस्ताव की अमेरिकन कानून-विज्ञों ने तीव्र आलोचना की है क्योंकि उनके विचार में इससे न्यायपालिका की स्वतन्त्रता ही नष्ट नहीं हो जायगी, वरन् अमेरिकन शासन-पद्धति की नींव भी ढह जायगी।[4] सन् १९११ में अमेरिकन बार एसोसियेशन ने न्यायाधीशों के प्रत्याह्वान तथा न्यायिक निर्णयों को जनमत द्वारा रद्द कराने के प्रस्ताव की निन्दा की और इसके विरुद्ध प्रचार के लिए एक प्रचार-समिति नियुक्त की थी।

विभाजित निर्णय

संयुक्त राज्य अमेरिका में न्यायालयों द्वारा न्यायिक नियन्त्रण की सत्ता के प्रयोग का जो विरोध हुआ है, उसका एक कारण यह है कि कानून प्रायः न्यायालय के न्यायाधीशों के बहुमत से अवैधानिक घोषित किये गये हैं; संयुक्त राज्य अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय में तो चार के विरुद्ध पाँच न्यायाधीशों के मत से ही कानून अवैधानिक घोषित कर दिये जाते हैं। इस प्रकार के निर्णय इस बात के प्रमाण हैं कि कानूनों को अवैधानिक घोषित करने में स्वयं न्यायालयों को सन्देह होता है, परन्तु फिर भी उन्हें वे अवैध ठहरा देते हैं। इस आपत्ति को दूर करने के लिए ओहियो तथा

१. तुलना कीजिये, Pound, Common Law and Legislation, *Harv. Law Rev.*, Vol XXI, p. 403.
२. इलिनॉय में सन् १८७० से सन् १९१५ तक २५७ मामलों में कानून अवैधानिक घोषित कर दिये गये थे। Dodd, Political Safeguards and Guarantees, *Columbia Law Review*, April, 1915, p. 16
३. देखिये, Merriam, op. cit., Ch. 6.
४. Taft, Popular Government, pp. 147 ff. Wickersham, The Changing Order, Ch. 12-13 ; Merriam op. cit., pp. 194-196.

उत्तरी डेकोटा के विधानो मे इस प्रकार का संशोधन किया गया है कि न्यायालय द्वारा कानून असाधारण बहुमत से ही अवैधानिक घोषित किये जा सकते हैं। सन् १६१३ मे सीनेटर बोरा ने इस आशय का प्रस्ताव रखा था कि कांग्रेस के कानूनों को अवैधानिक घोषित करने के लिए संयुक्त राज्य अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय के ६ न्यायाधीशों मे से कम से कम ७ न्यायाधीश सहमत होने चाहिए।[1] परन्तु यह कहा जाता है कि यदि ऐसा प्रस्ताव स्वीकृत हो जाय तो न्यायालय के निर्णय अल्पमत द्वारा होने लगेंगे।[2]

उपसंहार

न्यायिक नियन्त्रण के सिद्धान्त के सम्बन्ध मे जो विविध विचार प्रकट किये गये हैं और जो आलोचनाएँ की गयी हैं और जिन-जिन परिवर्तनो का सुझाव किया गया है, उन सब पर यहाँ विचार करना सम्भव नही है। इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि अमेरिका मे इस प्रकार की आलोचनाओं को जनता ने पसन्द नहीं किया और अमेरिका के कानूनविज्ञो के विशाल बहुमत ने प्रस्तावित परिवर्तनो को पसन्द नही किया। यही सम्भावना मालूम होती है कि न्यायिक नियन्त्रण के वर्तमान सिद्धान्त तथा प्रयोग भविष्य मे भी मान्य होंगे और दूसरे देशो मे इसका जो विस्तार हो रहा है, उसमे यह स्पष्ट है कि यह संसार के कानून-विज्ञान का एक महत्वपूर्ण अंश बन जायगा।

न्यायालयों का कानून-निर्माण का कार्य

कुछ देशों में न्यायालयो का अन्तिम कार्य है—कानून-निर्माण तथा उसका विकास। न्यायालयो द्वारा जो कानून-रचना होती है, उसे न्यायाधीश द्वारा निर्मित कानून (Case Law or Judge-made Law) कहा जाता है; लेटिन देशो मे इसे 'ज्युरिसप्रूडेन्स' (Jurisprudence) कहते हैं। उन्हें यह सत्ता न्यायाधीशो के कानूनों की व्याख्या करने और इंगलैण्ड आदि ऐंग्लो-सेक्सन देशों मे किसी प्रश्न के सम्बन्ध में कानून न हो तो सामान्य कानून (Common Law) क्या है, इसका निर्णय करने के सार्वभौम अधिकार से प्राप्त होती है। भाषिक अस्पष्टता एवं पार्लामेण्टरी कानूनों का मसौदा तैयार करने वाले कर्मचारियों की अयोग्यता एवं असावधानी के कारण कानून का अर्थ कभी-कभी स्पष्ट नहीं होता[3] और जब न्यायाधीशो को ऐसे कानूनो को लागू करना पड़ता है, तब उसके सम्बन्ध मे उन्हें यह निर्णय करना पड़ता है कि वास्तव में व्यवस्थापिका का क्या मन्तव्य था। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि कभी-कभी कानून का कोई अर्थ ही नही होता क्योंकि जो प्रश्न न्यायालय मे उठाया गया है, वह व्यवस्थापिका के सामने कभी आया ही नही था और

१. *Sen. Doc.* 67th Congress, 4th Sess (Feb. 19, 1923), p. 2587 पर उसका लेख देखिये।

२. Warren, Congress, the Constitution and the Supreme Court, Ch. 6. वारेन ने बतलाया कि इसका अर्थ तो यह हुआ कि यदि ६ न्यायाधीशो मे से ७ की सहमति आवश्यक हो और उनमे से एक भी कम हो तो ६ के विरुद्ध ३ न्यायाधीशो का निर्णय रहेगा और इस प्रकार उस न्यायालय का निर्णय अल्पमत का निर्णय होगा।

३. तुलना कीजिये, Baldwin, The American Judiciary, p. 81; Cooley, Constitutional Limitations, p. 70 तथा Lieber, Legal and Political Hermeneutics, p. 13.

उसके विषय में वह कुछ राय प्रकट नहीं कर सकती थी। ऐसे मामलों में न्यायाधीश का यह निर्णय करना कर्तव्य नहीं है कि न्यायालय का क्या मन्तव्य था, वरन् 'यह अनुमान करना उसका कर्तव्य हो जाता है कि यदि यह प्रश्न व्यवस्थापिका के समक्ष उपस्थित होता, तो वह क्या निर्णय करती। इस प्रकार व्यवस्थापिका में जो बात छूट गयी है, उसके सम्बन्ध में न्यायाधीश को व्यवस्था देनी पड़ती है।'[१] यह न्यायाधीश का अधिकार ही नहीं, कर्तव्य भी है। फ्रान्स का नागरिक कानून यह घोषित करता है कि जो न्यायाधीश इस आधार पर किसी मुकद्दमे का निर्णय करने से इन्कार कर देता है कि इस विषय पर कोई कानून नहीं है या वह अस्पष्ट अथवा अपूर्ण है तो उस पर न्याय न करने का दोषारोपण वादी द्वारा किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में न्यायाधीश को आवश्यक रूप से कानून बनाना पड़ता है। इसी प्रकार, रोम के न्यायाधीशों ने 'बारह सूचियों' (Twelve Tables) के आधार पर एक बड़े कानून-संग्रह का निर्माण किया था। इसी प्रकार इंगलैण्ड का 'कॉमन लॉ' का वृहद् संग्रह का अधिकांश भी न्यायाधीशों द्वारा निर्मित है। प्रो० डायसी का कथन है कि इंगलैण्ड में कानून का अधिकांश और कई तो यहाँ तक कहेंगे कि उसका बहुत बड़ा भाग न्यायाधीशों द्वारा निर्मित है। न्यायाधीशों द्वारा निर्मित कानूनों के अन्तर्गत प्रसंविदा-कानून (Law of Contract), शारीरिक एवं साम्पत्तिक हानियों सम्बन्धी कानून (Law of Torts), न्याय्यता के सिद्धान्त (Principles of Equity) और वैयक्तिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून (Private International Law) आ जाते हैं। इन कानूनों को पार्लामेण्ट ने कभी नहीं बनाया और कानून संग्रह में इनका कहीं उल्लेख नहीं है; यह सब न्यायाधीशों का कार्य है और न्यायालयों के विवरणों में ये कानून मिलेंगे। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि पार्लामेण्ट के अनेक कानून तो न्यायालयों द्वारा निर्मित कानूनों की कानूनी घोषणामात्र हैं।[२] इसी प्रकार योरोप के कुछ देशों में, जहाँ न्यायालयों के पूर्व उदाहरण (Precedents) का महत्व इंगलैण्ड की अपेक्षा कम है, न्यायाधीशों द्वारा निर्मित कानून भी विराट् रूप में विद्यमान हैं। फ्रान्स में समस्त प्रशासनात्मक कानून (Administrative Law) कौंसिल ऑफ स्टेट के, जो राज्य का सर्वोच्च प्रशासन न्यायालय है, निर्णयों से ही बना है। इस पर भी कुछ फ्रेन्च कानूनविज्ञ यह मानते हैं कि ऐसे मामलों में न्यायाधीश कानून बनाते नहीं हैं, बल्कि वे उसका अन्वेषण करते हैं, अर्थात् वह किसी विषय में प्रचलित रिवाज का निश्चय करते हैं और उस पर अपनी अधिकारयुक्त स्वीकृति की छाप लगा देते हैं। यह अमेरिकन कानूनविज्ञ जेम्स कार्टर का विचार था। वह यह मानता था कि न्यायालय इंगलैण्ड के कॉमन-लॉ के निर्माता नहीं हैं, वह तो उनको खोज निकालने वाले हैं।[३] यह सिद्धान्त बहुत दिनों तक प्रचलित रहा। उसका मन्तव्य यही था कि कॉमन-लॉ प्रथा-सम्बन्धी कानून था और न्यायाधीश उसे 'बनाते' नहीं थे, प्रत्युत खोजते थे। अतः न्यायालयों

---

१. Gray, The Nature and Sources of Law, p. 165.

२. Law and Public Opinion in England (1905), pp. 360, 484. Edward Jenks (Harv. Law Review, Vol XXX, p. 14) का अनुमान है कि इंगलैण्ड के कानून के मौलिक सिद्धान्तों का दो-तिहाई भाग न्यायाधीशनिर्मित है।

३. The Ideal and the Actual in the Law, *Amer. Law Rev.*, Vol. XXIV, pp. 752 ff.

की रिपोर्टें प्रथायों के प्रमाणमात्र ही थे, वे स्वयं कानून के स्रोत नहीं थे।[1]

परन्तु आज कानूनविज्ञों का बहुमत इसी विचार के पक्ष में है कि अमेरिका एवं इंगलैण्ड में न्यायाधीश पूर्व-प्रमाणों (Precedents) द्वारा, जिनकी स्थापना वे अपने निर्णयों में निर्माण करते हैं, कानून-निर्माण करते हैं।[2] न्यायाधीश द्वारा निर्मित कानून के विचार की पहले से आलोचना की जाती रही है और आज भी उसके आलोचकों का अभाव नहीं है। उनकी दृष्टि में ऐसा करना व्यवस्थापिका के कार्य का न्यायाधीशों द्वारा अपहरण है। परन्तु श्रेष्ठ मत तो यही है कि न्यायालयों द्वारा कानून-निर्माण का कॉमन-लॉ के विकास में महत्वपूर्ण स्थान है। लॉर्ड ब्राइस ने कहा है कि 'मानवीय कार्य जैसे हैं, ऐसी अवस्था में शासन की प्रत्येक योजना के किसी न किसी भाग में विस्तार के लिए कोई गुन्जायश होनी चाहिए और यदि विधान कठोर है तो न्यायाधीशों को उसमें लचीलापन लाना चाहिए।[3]

न्यायिक पूर्व-प्रमाण या दृष्टान्त

न्यायालयों के निर्णय जो कानून घोषित या निर्मित करते हैं, वे पूर्व-प्रमाण या दृष्टान्त (Precedents) कहे जाते हैं। पूर्व-प्रमाणों का समस्त कानून-प्रणालियों में बड़ा प्रभाव रहा है; परन्तु आंग्ल-अमेरिकन-प्रणाली में उनका प्रभाव सर्वाधिक रहा है। ग्रेट ब्रिटेन, संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्रिटिश उपनिवेशों तथा साम्राज्य में पूर्व-दृष्टान्तों का विशेष मान है; यह केवल कानून का साक्ष्य ही नहीं, वरन् कानून का स्रोत भी होता है और सिद्धान्तरूप से समस्त न्यायालयों पर बन्धनकारी होता है, परन्तु फ्रान्स, जर्मनी तथा साधारणतया योरोप में, जहाँ समस्त कानूनों का संग्रह हो चुका है, वहाँ न्यायालयों के पूर्व-निर्णय अधीनस्थ न्यायालयों पर भी बन्धनकारी नहीं हैं।[4] उनकी कोई कानूनी सत्ता नहीं है और उनका कानूनी मूल्य कानून के टीकाकारों के मतों से विशेष कुछ नहीं होता; परन्तु व्यवहार में उनका बड़ा आदर होता है और उनका अनुसरण भी प्रायः किया जाता है।

सुप्रसिद्ध आंग्ल कानून-विशारद सर फ्रेडरिक पॉलक ने न्यायाधीशों द्वारा निर्मित कानून की प्रणाली की तुलना प्राकृतिक विज्ञान की प्रणाली से की है। जिस प्रकार विज्ञान प्रत्येक प्रयोग और परीक्षण से विकसित होता है, उसी प्रकार प्रत्येक

---

१. इस सिद्धान्त का सबसे प्रसिद्ध योरोपियन समर्थक सेविग्नी (Savigny) था।

२. तुलना कीजिये, Grap, op. cit., विशेषकर पृष्ठ १६४ और २२१ तथा Solmond (The Theory of Judicial Precedents, *Law Quar. Rev.*, Vol. XVI (1900), pp. 379 ff.) जिसने कहा है कि इंगलैण्ड के कॉमन-लॉ का निर्माण न्यायाधीशों ने अपने निर्णयों द्वारा स्थापित पूर्व-प्रमाणों से किया है।

३. Studies in History and Jurisprudence, Vol. I, p. 197. Dicey (op. cit., p. 395, n. 2) ने कहा है कि यह तो ठीक है कि अंग्रेज न्यायाधीश कानून का निर्माता नहीं, व्याख्याता है, फिर भी वह अपनी व्याख्या में कानून का निर्माण करता है, चाहे हम उसे न्यायाधीश-निर्मित कानून कहें या और कुछ।

४. तुलना कीजिये, Gray, (op. cit., p. 193) तथा Salmond, उपर्युक्त लेख पृष्ठ ३७६ तथा Dicey (*op. cit.*, p. 485) जिसने कहा है कि महाद्वीप पर (योरोप में) इंगलैण्ड की अपेक्षा पूर्व-प्रमाणों का मान कम है, फिर भी वे माने जाते हैं।

मामले में दिये हुए निर्णय भी कानून के विकास को एक कदम आगे बढ़ाते हैं, भविष्य के विचार एवं तर्क के लिए उनसे नया उपादेय (Datum) प्राप्त होता है।[1] किसी निर्णय का मूलभूत सिद्धान्त, जिससे पूर्व-दृष्टान्त का निर्माण होता है, निर्णायक विचार (Ratio Decidendi) कहलाता है; न्यायाधीश द्वारा जो कुछ ऐसी बात कही जाती है, जो निर्णय के समर्थन के लिए आवश्यक नहीं है, प्रासंगिक कथन (Obiter Dicta) मात्र है। ऐसे कथन से कानून की क्षति नहीं होती और वह भावी मामलों में न्यायाधीशों पर बन्धनकारी नहीं होता।

पूर्व-निर्णय सामान्यतया दो प्रकार के होते हैं : प्रथम, वे जो भविष्य के लिए कानून बनाते हैं; द्वितीय, वे जो केवल वर्तमान कानून को घोषित करते हैं। दूसरे प्रकार के पूर्व-निर्णय पहले की अपेक्षा अधिक संख्या में हैं, यद्यपि पहले प्रकार के निर्णय अधिक महत्व के होते हैं। उनका वर्गीकरण 'साधिकार' (Authoritative) और 'अनुनयात्मक' (Persuasive) पूर्व निर्णयों के रूप में भी किया गया है। साधिकार पूर्व-निर्णय वह है जिसे भविष्य में न्यायाधीशों को अनिवार्य रूप से स्वीकार करना पड़ता है, अनुनयात्मक पूर्व-निर्णय वह है जिसे न्यायालय मानने के लिए बाध्य नहीं है; परन्तु न्यायाधीश उस पर विचार कर सकते हैं और अपनी इच्छानुसार उसका उपयोग कर सकते हैं। सर्वोच्च न्यायालयों के निर्णय साधिकार निर्णय होते हैं और समस्त निम्न न्यायालयों के लिए वे बन्धनकारी होते हैं। अनुनयात्मक निर्णय के उदाहरण विदेशी न्यायालयों के निर्णय हैं (विशेषकर ऐंग्लो-सैक्सन देशों में)।[2]

निर्णय की स्थिरता (Stare Decisis) का सिद्धान्त

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, न्यायालयों के पूर्व-निर्णय, जो साधिकार प्रकार के होते हैं, न्यायाधीशों पर बन्धनकारी होते हैं, परन्तु यदि वे उन्हें कानून या तर्क के विपरीत होने के कारण गलत मालूम हों तो वे उन्हें अस्वीकार भी कर सकते हैं और अन्य न्यायालय उन्हें रद्द भी कर सकते हैं, परन्तु व्यवहार में अमेरिका तथा ब्रिटिश साम्राज्य में ऐसा नहीं होता। उन देशों में, 'निर्णय की स्थिरता' कानून-विज्ञान का एक मौलिक सिद्धान्त है। इससे निश्चयता तो बनी रहती है परन्तु कानून के युक्तियुक्त विकास में बाधा पड़ती है। फिर भी ऐसा विश्वास है कि इसके लाभ इसकी हानियों से अधिक हैं। जब एक पूर्व-निर्णय प्रतिष्ठित हो जाता है, तब अधिकार उसमें निहित हो जाते हैं और इस आशा से कि भविष्य में उसका पालन किया जायगा, उसके अनुसार इकरार भी किये जाते हैं। यद्यपि आरम्भ में पूर्व निर्णय की नींव भूल पर ही हो तो भी न्याय की यह माँग है कि पूर्व निर्णय का मान किया जाय। लॉर्ड एलडन ने कहा है कि 'प्रत्येक न्यायाधीश कानून में कुछ न कुछ सुधार करने का विचार करे इसकी अपेक्षा यह उत्तम है कि कानून निश्चित हो।' परन्तु योरोप के महाद्वीप में इससे भिन्न विचार एवं प्रथा प्रचलित है। वहाँ यह विश्वास किया जाता है कि न्यायालयों के ऐसे निर्णय का, जो पुराना हो गया हो या जो आरम्भ से ही गलत हो, पालन करने की हानि उस अस्थायी या कभी-कभी होने वाली असुविधा या अन्याय से अधिक है जो उसका अवहेलना करने से उत्पन्न हो सकती है। अतः कानून का विकास बौद्धिक सिद्धान्तों तथा अमूर्त न्याय के आधार पर होना चाहिए, पूर्व-निर्णयों की स्थिरता के सिद्धान्त

1. Essays in Jurisprudence and Ethics, p. 237 तथा First Book of Jurisprudence, pt. II, Ch. 6.
2. इस विषय का Salmond के उपर्युक्त लेख में विस्तृत विवेचन है।

के आधार पर नही। इनमें से किस प्रणाली मे अधिक लाभ हैं, इस विषय पर विचारों तथा प्रथाओं में शायद सदा भेद रहेगा।[1]

(२) न्यायपालिका का संगठन

संगठन के सिद्धान्त

प्रत्येक देश मे न्यायपालिका, व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका दोनों से सारतः भिन्न होती है। जिन मर्यादाओं का ऊपर वर्णन हो चुका है[2], उसके अधीन आजकल सर्वोच्च कार्यपालिका की सत्ता एक व्यक्ति को सौंपी जाती है जबकि व्यवस्थापिका सत्ता बहुसंख्यक सभा के हाथ में होती है, जिसके साधारणतया दो सदन होते हैं। परन्तु न्याय-सत्ता का प्रयोग न तो एक व्यक्ति करता है और न एक बहुसंख्यक सभा, वरन् अनेक न्यायाधीश या एक से अधिक न्यायाधीश वाले न्यायालय करते हैं जिनका संगठन सीढ़ीनुमा होता है जिसमे सबसे ऊपर अपील का एक सर्वोच्च न्यायालय होता है।[3] इंगलैण्ड में अपील के न्यायालयों को छोड़ कर साधारण न्यायालयों मे एक न्यायाधीश होता है, परन्तु फ्रान्स, जर्मनी तथा साधारणतया अन्य योरोपीय देशों मे जस्टिस ऑफ दी पीस (Justice of the Peace) के न्यायालय को छोड़ कर समस्त न्यायालयों मे अनेक न्यायाधीश होते हैं। फ्रान्स मे छोटे न्यायालयों मे ३ से १५ तक न्यायाधीश होते हैं; एसाइज (Assize) के न्यायालयों मे ३ न्यायाधीश होते हैं। इसी प्रकार अन्य न्यायालयों मे भी होता है और जब तक कोई निर्णय कम से कम तीन न्यायाधीशों द्वारा नहीं दिया गया हो, वह मान्य नहीं होता। फ्रान्स तथा योरोप के महाद्वीप मे एक न्यायाधीश द्वारा न्याय पसन्द नहीं किया जाता और यह विचार प्रचलित है कि एक निर्णय को जितने अधिक न्यायाधीश देंगे, उतना ही अधिक वह प्रामाणिक भी होगा। न्यायालय मे अनेक न्यायाधीशों के होने से स्वेच्छाचारिता से सुरक्षा मिलती है और फौजदारी के मामलो मे न्यायालय सरकारी वकील के प्रभाव से अच्छी तरह बच सकते हैं। परन्तु इस प्रणाली के अन्तर्गत बहुत बड़ी संख्या मे न्यायाधीश नियुक्त करने पड़ते हैं। फ्रान्स मे ५,००० न्यायाधीश हैं और इतने ही जर्मनी मे भी है। इस प्रकार चाहे न्यायाधीशों को वेतन कम दिया जाय तो भी न्याय-विभाग का बजट बहुत बढ जाता है। इस तथा अन्य कारणों से फ्रान्स मे पिछले वर्षों मे न्याय-मन्त्रियों ने यह प्रस्ताव किया कि निम्नस्थ न्यायालयों (Lower Courts) मे

---

१. *Dicey, op. cit., pp. 393 ff.* में न्यायिक व्यवस्थापन के गुण दोषों का विवेचन किया गया है।

२. अध्याय २०।

३. इटली में पहले ५ सर्वोच्च न्यायालय थे जो सब समकक्ष थे। परन्तु मुसोलिनी ने उनमें से ४ तोड़ दिये और केवल रोम का सर्वोच्च न्यायालय ही रह गया। सर्वोच्च न्यायालय दो प्रकार के हैं। एक प्रकार के तो अपील के हैं जो इंगलैण्ड तथा संयुक्त राज्य की भाँति निम्न न्यायालय के निर्णयों का पुनर्विचार करके उनमे संशोधन कर सकते हैं। दूसरे प्रकार के न्यायालय सेशन के न्यायालय हैं जो निम्न न्यायालयों से अपील मे आये हुए मामलो मे दिये हुए दण्ड को केवल रद्द कर सकते हैं। कुछ छोटे अपवादों को छोड़ कर फ्रेन्च कोर्ट ऑफ केसेशन का भी यही काम है।

एक न्यायाधीश-प्रणाली स्थापित की जाय।[1] फ्रान्स, जर्मनी तथा योरोप के अन्य देशों के न्याय-विभाग का संगठन, जहाँ न्यायाधीश की संख्या बहुत अधिक होती है, ब्रिटेन तथा अमेरिका की व्यवस्था से बहुत भिन्न है, जहाँ न्यायाधीशों की संख्या तुलना में बहुत थोड़ी है।[2]

आंग्ल-अमेरिकन-प्रणाली तथा योरोप की प्रणाली में एक दूसरा महान् अन्तर यह है कि अमेरिका तथा ब्रिटेन में न्यायाधीश दौरे पर जाते हैं, अर्थात् मुकद्दमेवालों को सुविधा के लिए उन्हें किसी दूर जगह न्यायालय में बुलाने की जगह, न्यायालय स्वयं उनके पास चले जाते हैं, परन्तु योरोप में ऐसी प्रथा नहीं है। वहाँ न्यायालय स्थानीय हैं, न्यायाधीश अपने न्यायालय में बैठ कर ही निर्णय देते हैं और मुकद्दमेवालों को अपने मुकद्दमे वहाँ ले जाने पड़ते हैं।[3]

अमेरिकन राज्य के मुकाबले में योरोप के राज्यों की न्याय-व्यवस्था का एक लाभ यह भी है कि वहाँ की न्याय-व्यवस्था अधिक एकरूपात्मक (Unified and Integrated) है। हाल में अमेरिकन राज्यों में इस प्रकार का आन्दोलन हो रहा है कि राज्य की न्याय-व्यवस्था का पुनर्संगठन इस प्रकार किया जाय कि राज्य की समस्त न्याय-सत्ता (कम से कम दीवानी की) एक महान् न्यायालय में निहित हो और समस्त न्यायालय उसके विभाग या उसकी शाखाएँ हों। इस सम्बन्ध में कई राज्यों में (विशेषकर ओहियो, विस्कॉन्सिन, मेसेचुसेट्स तथा ओरेगॉन में) ऐसी व्यवस्था की स्थापना के लिए और न्यायालयों के काम की देख-भाल करने के लिए न्यायिक प्रशासनात्मक परिषदें (Judicial Administrative Councils) स्थापित करके कदम उठाये गये हैं और सन् १९२२ में काँग्रेस ने एक कानून बनाया जिसके अनुसार संघ के न्यायालयों के कार्य का निरीक्षण करने के लिए न्यायाधीशों की एक परिषद् स्थापित की गयी।[4] लुइसियाना राज्य में नवीन विधान (सन् १९२१) द्वारा अन्य राज्यों की अपेक्षा अधिक एक रूप न्याय-व्यवस्था की प्रतिष्ठा करने का प्रयत्न किया गया है।

संघ-राज्यों में न्यायालयों का संगठन

जिन राज्यों में संघ-शासन-प्रणाली स्थापित है, उनमें दो पृथक् तथा भिन्न

---

१. फ्रान्स के न्यायालयों तथा इस विषय पर *Yale Law Jour*. Vol. XXVI (1917), pp. 349 ff में मेरा लेख The French Judiciary तथा *Pol. Sci. Quar.*, Vol XVII (1903), pp. 420 ff. में मेरा लेख The German Judiciary देखिये।

२ इंगलैण्ड में न्यायाधीशों की संख्या १०० से अधिक नहीं है। तुलना कीजिये, Lowell, The Government of England, Vol. II, Ch. 60 तथा Journal of the Amer. Institute of Criminal Law and Criminology, Vol. I, pp. 599, 763 में Lawson and Keedy, Criminal Procedure in England.

३. क्रान्ति के समय दौरे पर जाने वाले न्यायालयों की व्यवस्था का समर्थन करने वाले कई थे और अब भी हैं, पर इसका वहाँ प्रचार नहीं हो पाया। उपर्युक्त, The French Judiciary शीर्षक वाला मेरा लेख देखिये।

४ Journal of the American Judicature Society for June, 1923, p. 5 तथा June, 1924, p 245, विशेषकर Potts, Unification of the Judiciary, Ibid., 1924, pp. 85 ff. देखिये।

प्रकार के न्यायालय होते हैं—एक प्रकार के न्यायालयों का अधिकार-क्षेत्र समस्त संघ होता है और दूसरे प्रकार के न्यायालयों की अधिकार-सीमा संघ के प्रत्येक विधायक राज्य तक ही सीमित होती है।

परन्तु सब संघ-राज्यों में इस प्रकार की प्रणाली आवश्यक रूप से नहीं होती, जैसा जर्मन-प्रणाली से स्पष्ट है। संघ तथा विधायक राज्यों की न्यायिक सत्ता के प्रयोग के लिए अलग-अलग न्यायालय वहाँ नहीं हैं। वहाँ संघ तथा राज्यों के न्यायालय एक ही हैं। समस्त राज्यों तथा संघ के न्यायालयों का संगठन राष्ट्रीय कानून के अनुसार हुआ है और वे सब एक प्रक्रिया के अनुसार कार्य करते हैं। इस प्रकार ऊपर से नीचे तक समस्त न्याय-व्यवस्था का एक ही आधार है। समस्त न्यायालयों की क्षमता तथा कार्य-विधि राष्ट्रीय (संघीय) कानून द्वारा निर्धारित है; न्यायाधीशों की योग्यता एवं कार्य-अवधि भी उसी सत्ता द्वारा निर्धारित है। संघ तथा राज्यों के बीच अधिकार-सीमा का कोई विभाजन नहीं है। संक्षेप में, न्याय-व्यवस्था के संगठन में संघीय सिद्धान्त लागू नहीं है। इस पर भी सर्वोच्च न्यायालय (*Reichsgericht*) को छोड़ अन्य समस्त न्यायालय राज्यों के न्यायालय माने जाते हैं, संघ के नहीं। न्यायाधीशों की नियुक्ति राज्यों के शासनों द्वारा होती है और उनका वेतन भी राज्य की सरकार देती है, संघीय सरकार नहीं। उन पर राज्य का ही निरीक्षण होता है और वे राज्य की सरकार के नाम पर अपनी सत्ता का प्रयोग करते हैं। जिस प्रकार समस्त जर्मन राज्यों के लिए न्याय व्यवस्था सर्वत्र एक रूप है, उसी प्रकार वहाँ का दण्ड-विधान (Criminal Code) तथा व्यवहार-संहिता (*Civil Code*) और दोनों की प्रक्रियाएँ (Procedures) भी सामान्य हैं। यद्यपि जर्मनी एक संघ-राज्य है, परन्तु वहाँ न कानूनों की विविधता है और न न्याय-व्यवस्था की।

संयुक्त राज्य अमेरिका में उतनी ही न्याय-व्यवस्था की प्रणालियाँ तथा कानून एवं प्रक्रियाओं की पद्धतियाँ हैं जितने कि राज्य। प्रत्येक राज्य अपनी स्थानिक आवश्यकताओं एवं अपने विचारों के अनुसार स्वयं अपनी न्याय-व्यवस्था करता है और कानून तथा प्रक्रियाओं का निर्माण करता है। इस प्रकार की विविधता होते हुए भी राज्यों की न्याय-व्यवस्था तथा दण्ड-विधान एवं कार्य-विधि में विभिन्नता की अपेक्षा एकरूपता ही अधिक है क्योंकि उन सबका (लुइसियाना को छोड़) आधार कॉमन-लॉ है और उनकी कानूनी प्रणाली कॉमन-लॉ पर ही आधारित है। उनमें विविधताएँ हैं; परन्तु मुख्य बातों में बड़ी एकरूपता एवं समता है। केवल एक सीमित अर्थ में ही एक राज्य के न्यायालय दूसरे राज्य द्वारा विदेशी माने जाते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका के विधान के अनुसार एक राज्य के न्यायालयों को दूसरे राज्यों के न्यायालयों के विवरणों तथा न्यायिक कार्यवाहियों को पूरी प्रामाणिकता के साथ स्वीकार करना पड़ता है। इस प्रकार एक राज्य के न्यायालयों द्वारा दूसरे राज्यों के न्यायालयों के प्रति जो आदर-भाव रखा जाता है, वह एकीकरण की एक बड़ी प्रभावशाली शक्ति है। इस प्रकार यह सम्भव हो गया है कि एक राज्य में जो अधिकार प्राप्त हों, उनको दूसरे राज्य में कार्यान्वित किया जा सकता है और एक राज्य ऐसे कार्य नहीं करता जिससे दूसरे राज्य के प्रतिबन्धों का उल्लंघन हो।[1]

न्यायालयों के दो सामान्य प्रकार

समस्त देशों में न्यायालय दो प्रकार के होते हैं—एक साधारण न्यायालय,

---

१. तुलना कीजिये, Baldwin, The American Judiciary, p. 182.

जिनका कार्य व्यक्तियों के विवादों और फौजदारी के मामलों का निर्णय करना होता है। दूसरे प्रकार के विशेष न्यायालय होते हैं। दूसरे प्रकार के न्यायालयों के अन्तर्गत प्रशासनात्मक न्यायालय (Administrative Cou ts), सैनिक न्यायालय, व्यापारिक न्यायालय, औद्योगिक न्यायालय, श्रम-पंचायती न्यायालय (Labour Arbitration Court) आदि अनेक प्रकार के न्यायालय आ जाते हैं।[1] इनमे से कई न्यायालय ऐच्छिक अथवा अविवादशील न्यायाधिकार (Voluntary or Non-Contentious Jurisdiction) का प्रयोग करते हैं।

प्रशासनात्मक न्यायालय

यहाँ राज्यों मे स्थापित विशिष्ट प्रकार के न्यायालयों के संगठन तथा कार्यों पर विचार करना सम्भव नहीं है। हम केवल कुछ महत्वपूर्ण न्यायालयों के सम्बन्ध में ही विचार करेंगे, जैसे प्रशासनात्मक न्यायालय जो जर्मनी, फ्रान्स तथा यीरोप के कई देशों मे मिलते हैं। इन देशों मे प्रशासनात्मक न्यायालयों का संगठन पृथक् तथा भिन्न है। वे साधारण न्यायालयों के समानान्तर स्थापित है, वे राज्य के विरुद्ध व्यक्तियों के दावों का निर्णय करते हैं और उनका कानून नागरिक (Civil Law) मे भिन्न एवं अलग होता है। प्रशासनात्मक कानून तथा सामान्य नागरिक कानून मे पृथकता का भाव फ्रान्स मे क्रान्ति के समय उदय हुआ जिसका कारण पुरानी व्यवस्था में न्यायिक न्यायालयों का शासन के अधिकारियों पर, जो बड़ा कड़ा नियन्त्रण था, उसका विरोध था। उस समय भावना यह थी कि यदि साधारण न्यायालयों को एक ओर राज्य और राज्याधिकारियों तथा दूसरी ओर नागरिकों के बीच उपस्थित विवादों का निर्णय करने का अधिकार दे दिया जाय तो इसमे शासन-प्रबन्ध मे न्यायिक हस्तक्षेप होगा और शासन-प्रबन्ध की कार्य-कुशलता मे कमी आ जायगी। इसलिए १६ अगस्त सन् १७९० में एक कानून द्वारा यह व्यवस्था की गयी कि न्यायिक तथा प्रशासनात्मक कार्य पृथक् रखे जाँय और साधारण न्यायालय केवल ऐसे मामलों पर विचार करें जो दण्ड-विधान (Criminal Law) तथा व्यवहार-संहिता (Civil Law) के अधीन हों।[2] पहले प्रशासन-सम्बन्धी विवादों का निर्णय प्रशासन द्वारा ही होता था, परन्तु बाद मे विशेष प्रशासनात्मक न्यायालय या परिषदें स्थापित की गयीं। फ्रान्स के प्रत्येक प्रान्त मे

---

१. Court of Claims, Conciliation Court, Probate Court, Customs Court, Court of Impeachment, Consular Courts etc

२. जर्मनी के कई राज्यो मे फ्रान्स के समान सन् १८७५ से आगे प्रशासनात्मक न्यायालय रहे, किन्तु उन्हें सरकार पदच्युत नहीं कर सकती। नय विधान की १०७ वीं धारा के अनुसार समस्त गणतन्त्र तथा विधायक राज्यों के लिए कार्यपालिका के अध्यादेशों से व्यक्ति की रक्षा के लिए प्रशासनात्मक न्यायालयों की स्थापना की व्यवस्था की गयी है। इटली में भी सन् १८९० से फ्रान्स के समान ही प्रशासनात्मक न्यायालयों की व्यवस्था है। २५ अक्टूबर सन् १९१४ के वैधानिक संशोधन के द्वारा स्विट्जरलैण्ड मे भी संघीय प्रशासनात्मक न्यायालय की व्यवस्था की गयी है। बेल्जियम मे ऐसे न्यायालय नहीं है और व्यवस्था इंगलैण्ड जैसी है। फिनलैण्ड (धारा ५७) तथा पोलैण्ड (धारा ८६) में भी इस प्रकार के न्यायालय हैं। चेकोस्लोवाकिया के विधान की ८६ वीं धारा ने न्याय-सत्ता का प्रशासन-सत्ता से पृथक्करण का आदेश तो दिया है परन्तु पृथक् प्रशासनात्मक न्यायालय स्थापित करने का उसमें स्पष्ट आदेश नहीं है।

ऐसी एक परिषद् है और पेरिस में कौंसिल ग्रॉफ स्टेट है। यह सर्वोच्च प्रशासनात्मक न्यायालय है जिस प्रकार सर्वोच्च न्यायिक न्यायालय केसेशन का न्यायालय (Court of Cassation) है। राष्ट्रपति से लेकर ग्राम के मेयर तक जितने राज्य के अधिकारी हैं, उनके समस्त कार्यों की वैधता या अवैधता के सम्बन्ध में निर्णय करने वाली सबसे अन्तिम अदालत कौंसिल ग्रॉफ स्टेट है जो उन कार्यों को रद्द कर देती है जो उसके विचार में किसी अधिकारी की सत्ता के बाहर (Ultra Vires) हैं तथा ऐसे कार्यों के कारण जिन व्यक्तियों को क्षति पहुँची है, उनको क्षतिपूर्ति के लिए आदेश देती है। जिस प्रकार अंग्रेजी न्यायालयों ने कॉमन-लॉ की रचना की है, वैसे ही कौंसिल ग्रॉफ स्टेट ने राज्य तथा उसकी स्थानीय शासन-संस्थाओं के अपने कार्यों के दायित्वों के सम्बन्ध में प्रशासनात्मक कानून (Jurisprudence) का विकास किया है। इस उत्तरदायित्व का शनैः शनैः आज तक इतना विकास हो गया है कि वह वैसा ही हो गया है, जैसा एक कारखाने के स्वामी का अपने मजदूरों को हानि पहुँचने पर क्षतिपूर्ति करने का दायित्व। प्रारम्भ में कौंसिल ग्रॉफ स्टेट की स्थापना शासन के अधिकारियों की न्यायालयों के हस्तक्षेप से रक्षा करने के उद्देश्य से हुई थी, परन्तु अब ये न्यायालय शासनाधिकारियों तथा सरकार के अनुचित तथा अनियमित कार्यों के विरुद्ध व्यक्ति के संरक्षक बन गये हैं और यह बिना किसी भय के कहा जा सकता है कि कौंसिल ग्रॉफ स्टेट ने जो अत्यन्त उदार कानून का निर्माण किया है तथा शासन के अनुचित कार्यों से व्यक्ति की रक्षा के लिए उसने जो उत्कण्ठा प्रकट की है, उसके कारण फ्रान्स में व्यक्ति को ऐसे कार्यों से आज अन्य किसी देश की अपेक्षा अधिक रक्षा प्राप्त है। फ्रान्स में यदि किसी व्यक्ति की राज्य या उसके अधिकारियों की ओर से कोई हानि होती है, तो वह राज्य या उस अधिकारी के विरुद्ध प्रशासनात्मक न्यायालय में दावा कर सकता है और आर्थिक क्षतिपूर्ति या हर्जाना प्राप्त कर सकता है, परन्तु इंगलैण्ड तथा अमेरिका में इससे भिन्न व्यवस्था है। वहाँ व्यक्ति राज्य के विरुद्ध दावा नहीं कर सकता; परन्तु वह केवल उस अधिकारी के विरुद्ध, जिसने हानि पहुँचाई है और जो उसके लिए व्यक्तिगत रूप से उत्तरदायी है, हानि के लिए हर्जाने का दावा कर सकता है। कई बार इस प्रकार का उपाय प्रायः प्रभावहीन ही रहता है, जैसे उस अवस्था में जब वह कर्मचारी दिवालिया हो और हर्जाना नहीं दे सकता हो।

फ्रान्स में राज्य के विरुद्ध दावा करना बड़ा सरल है; उसमें किसी वकील की आवश्यकता नहीं पड़ती और किसी मामले को कौंसिल ग्रॉफ स्टेट के समक्ष पेश करने के लिए कुछ सिक्के ही खर्च करने पड़ते हैं तथा मामलों पर बड़ी तत्परता से विचार होता है। इससे जनता बड़े पैमाने पर लाभ उठाती है और कौंसिल ग्रॉफ स्टेट प्रति वर्ष कई हजार मामलों का निर्णय करती है।

जर्मनी में एक नैसर्गिक व्यक्ति के रूप में राज्य तथा फिस्क (Fisc or Fiskus) के रूप में राज्य में भेद किया जाता है। वहाँ व्यक्ति को जो हानि राज्य के किसी अधिकारी के काम से पहुँची है, उसके लिए वह साधारण न्यायालय में उस अधिकारी के विरुद्ध या फिस्क के रूप में राज्य के विरुद्ध दावा कर सकता है। २२ मई सन् १९१० के एक कानून से यह अधिकार दिया गया था और जर्मन विधान सन् १९१९ की धारा १३१ के अनुसार यह समस्त राजकीय सेवकों—राष्ट्रीय तथा स्थानीय—के कार्यों पर लागू है। फ्रेंच नियम से भिन्न जर्मन कानून राजकीय कर्मचारी को केवल अपने व्यक्तिगत दोषों के लिए ही उत्तरदायी नहीं ठहराता, वरन् उसने शासन के

कर्मचारी की हैसियत से जो कार्य किये हैं, उनके लिए भी उत्तरदायी ठहराना है और वह नागरिक अधिकारियों के समान सैनिक अधिकारियों पर भी लागू है।

आंग्ल अमेरिकन प्रणाली

इंगलैण्ड, अमेरिका तथा उन देशों में, जहाँ आंग्ल कानूनी-संस्थाएँ स्थापित हैं, प्रशासनात्मक अधिकार-सीमा का सिद्धान्त (Doctrine of Administrative Jurisdiction), जो योरोपीय महाद्वीप में प्रचलित एवं प्रतिष्ठित है, सर्वथा अज्ञात हैं। वहाँ यह सिद्धान्त प्रचलित है कि राज्य हानि या इकरार के सम्बन्ध में 'अधिकारों के लिए प्रार्थना-पत्र की प्रक्रिया' (Procedure of Petition of Right) को छोड़ उत्तरदायी नहीं है। वहाँ प्रशासनात्मक कानून कानून की पृथक् शाखा नहीं माना जाता और राज्य तथा नागरिकों के बीच विवादों के निर्णय के लिए कोई विशेष न्यायालय नहीं हैं, कम से कम उस रूप में नहीं हैं जिसमें योरोप के देशों में हैं। राज्याधिकारियों तथा नागरिकों के बीच होने वाले विवादों का निर्णय साधारण न्यायालयों द्वारा देश के साधारण कानून के अनुसार वैसे ही होता है, जैसे साधारण नागरिकों के बीच विवादों का निर्णय। नागरिक उस राज्याधिकारी के विरुद्ध, जिससे उसे हानि पहुँची हो, ठीक वैसे ही दावा कर सकता है जैसे अन्य किसी नागरिक के विरुद्ध। संक्षेप में, वहाँ नागरिकों तथा राज्याधिकारियों के लिए एक प्रकार की अदालत और एक प्रकार का कानून है।[1] आंग्ल तथा अमेरिकन सिद्धान्त यह है कि समस्त कानूनी विवादों का निर्णय साधारण न्यायिक न्यायालयों द्वारा होना चाहिए क्योंकि कानून का सिद्धान्त न्यायालयों की सर्वोच्चता को स्वीकार करता है। प्रशासनात्मक अधिकार-सीमा का सिद्धान्त इस सिद्धान्त से असंगत है। राज्य के विरुद्ध दावा करने का अधिकार केवल उसी अवस्था में स्वीकार्य है जब कानून द्वारा स्पष्टरूप में वह प्रदान किया गया हो और जब इस प्रकार का अधिकार प्रदान भी कर दिया जाता है तो उस पर प्रायः ऐसे प्रतिबन्ध लगा दिये जाते हैं कि उसका प्रयोग कठिन हो जाता है। डायसी ने कहा है कि 'इंगलैण्ड में कानूनी समता अथवा समस्त वर्गों के लिए साधारण न्यायालयों द्वारा प्रयुक्त एक ही कानून की भावना अपनी चरम सीमा तक पहुँच चुकी है। हमारे लिए राज्य के प्रधानमन्त्री से लेकर एक पुलिस कॉन्स्टेबिल तक सब अधिकारी अपने प्रत्येक कानून-विरुद्ध कार्य के लिए साधारण नागरिक की भाँति समान रूप से उत्तरदायी हैं। ऐसे बहुत से मामले हुए हैं जिनमें राज्य कर्मचारियों पर मुकद्दमा चलाया गया है और अपनी व्यक्तिगत हैसियत में उन कार्यों के लिए उन्हें दण्ड दिया गया है

---

१. तिस पर भी इंगलैण्ड और अमेरिका दोनों जगह अनेक बोर्ड, कमिशन एवं अधिकारी हैं जिन्हें प्रशासनात्मक न्यायाधिकार है और उन्हें प्रायः प्रशासनात्मक न्यायालय कहते भी हैं। जिन्हें कई मामलों में निर्णय करने का अधिकार है, उनके निर्णय अन्तिम होते हैं और उनकी न्यायालय में अपील नहीं हो सकती। यद्यपि वे न्याय-व्यवस्था के अंग नहीं हैं तो भी उनमें कार्यवाही न्यायालयों के ढंग से ही होती है। *Pol. Sci. Quar.*, Vol. XXI, pp 607 ff में Powell, American Administrative Tribunals ; Ashley, Local and Central Government, pp 396 ff., Redlich and Hurst, Local Government in England, Vol. II, p. 365 तथा Dickinson, Administrative Justice and the Supremacy of the Law in the United States (1927), pp. 5 ff. देखिये।

जो उन्होंने शासन के अधिकारी की हैसियत से किये थे।[1] 'राज्य के कर्मचारी का प्रत्येक कार्य, चाहे वह किसी ने किसी के विरुद्ध किया हो, साधारण न्यायालय में विचारार्थ प्रस्तुत किया जा सकता है और ऐसा कोई अन्य साधन नहीं है जिससे उसकी वैधता पर संदेह किया जा सके या उसकी वैधता स्थिर की जा सके।'[2] डायसी ने 'कानून के राज्य' (Rule of Law) पर विशेष जोर देते हुए कहा है कि इसके कारण इंगलैण्ड तथा अमेरिका में राज्य-कर्मचारी अपने कार्यों के लिए साधारण नागरिकों के समान ही उत्तरदायी हैं और इसकी तुलना वह फ्रान्स तथा जर्मनी के राज्य के अधिकारियों की विशेषाधिकारयुक्त स्थिति से करता है। इसके मत में 'प्रशासनात्मक कानून' का सार है, 'दायित्व से मुक्ति के सम्बन्ध में राज्य-कर्मचारियों की विशिष्ट स्थिति', परन्तु वास्तव में यह मुक्ति उसका केवल एक पहलू ही है।[3]

योरोपीय प्रणाली की आलोचना

ब्रिटेन तथा अमेरिका में योरोपीय प्रशासनात्मक कानून तथा प्रशासनात्मक अधिकार-सीमा की प्रणाली का विरोध है और जनता में यह विचार प्रचलित है कि प्रशासनात्मक न्यायाधीश स्वतन्त्र नहीं होते ; वे सरकार के आदेश से ही निर्णय देते हैं ; वे निश्चित नियमों के अनुसार विवादों का निर्णय नहीं करते, राजकीय अधिकारी कानूनी दृष्टि से अनुत्तरदायी हैं और हानि के दावों से सुरक्षित रहते हैं, आदि। किन्तु यह विरोधी भावना अधिकांश में भ्रमपूर्ण विचारों पर आधारित है और इंगलैण्ड तथा अमेरिका में ऐसे कानून-वेत्ताओं की कमी नहीं है, जो स्पष्टरूप से योरोपीय प्रणाली के गुणों को मानते हैं। यहाँ तक कि प्रो० डायसी ने भी उस चातुर्य्य एव बुद्धिमत्ता की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है, जो फ्रेन्च कौंसिल ऑफ स्टेट ने प्रति वर्ष विशद प्रशासनात्मक कानून के निर्माण में और राज्य-कर्मचारियों के स्वेच्छाचारी तथा गैर-कानूनी कार्यों से व्यक्तियों की रक्षा के लिए उपाय खोजने में दिखलाई है। उसने यह स्वीकार किया है कि फ्रेन्च-प्रणाली में ऐसे कई गुण हैं जिनको अँग्रेज प्रायः नहीं मानते।

आलोचना का उत्तर

यह आलोचना कि प्रशासनात्मक कानून की प्रणाली मौलिक रूप से दोषपूर्ण है, क्योंकि वह राजकीय कर्मचारी वर्ग तथा साधारण नागरिकों के बीच असमानता के सिद्धान्त पर आधारित है, निर्मूल है। वास्तव में, ऐसा कोई भी देश नहीं है, जहाँ

---

१. Op. cit., p. 180.

२. Redlich and Hurst, op. cit., Vol. II, p. 265.

३. Dicey की "Law of the Constitution" 2nd ed., Vol. V तथा उसके लेख TheDroit Administratif in Modern French Law, *Law Quar*, *Rev*, Vol. XVII (1901), p. 302 में आलोचना विशेषकर देखिये। परन्तु अपने ग्रन्थ के बाद के संस्करण में उसने यह स्वीकार किया है कि उसकी पूर्व आलोचना एक अंश तक गलत सूचना पर आधारित थी। इसी प्रकार लॉवेल ने अपनी पुस्तक Government and Parties in Europe, Vol. I, p. 58 में फ्रेन्च-व्यवस्था की आलोचना की। परन्तु अपने नवीन ग्रन्थ "Government of England, Vol. II, p. 503, फ्रेन्च-प्रशासनात्मक न्यायालयों के पक्ष में उसने अधिक उदार विचार व्यक्त किये हैं।

'एक नागरिक एक राज्य-कर्मचारी के, जहाँ तक विशेषाधिकारों तथा विमुक्तियों का प्रश्न है, सर्वथा समान हो या जहाँ एक राजकीय अधिकारी पर नागरिक बिना किसी प्रतिबन्ध के दावा कर सकता हो।'[1] डायसी का यह विचार कि योरोप महाद्वीप के देशों में राज्य-कर्मचारी, वास्तव में, 'राजकीय आज्ञाप्राप्त लम्पट हैं', मूर्खतापूर्ण है। लन्दन यूनीवर्सिटी के प्रोफेसर मॉर्गन ने यह ठीक ही कहा है कि 'प्रशासनात्मक कानून, जो कुछ फ्रान्स तथा जर्मनी में करता है, वह राज्य-कर्मचारियों को उन मामलों में, जिनमें वे इंगलैंड में उत्तरदायी होंगे, उत्तरदायित्व से विमुक्त नहीं करता, वरन् वह उस उत्तरदायित्व का उन मामलों तक विस्तार करता है जिनमें इंगलैण्ड में वे विमुक्त होंगे।'[2] यह आलोचना भी निर्मूल है कि फ्रेन्च प्रशासनात्मक न्यायाधीश स्वतन्त्र नहीं है क्योंकि सरकार जब चाहे, उन्हें हटा सकती है, जैसा वह न्यायिक न्यायाधीशों के साथ नहीं कर सकती, क्योंकि तृतीय फ्रेन्च गणतन्त्र की स्थापना के पश्चात् वास्तव में उनमें से कोई भी नहीं हटाया गया और न भविष्य में ऐसा होने की सम्भावना ही है तथा ऐसा भी कोई उदाहरण देखने में नहीं आया कि सरकार ने कभी अपना प्रभाव डाल कर अपने पक्ष में निर्णय प्राप्त करने की चेष्टा की हो। वास्तव में, कौंसिल ऑफ स्टेट ने फ्रेन्च सर्वोच्च न्यायालय (Court of Cassation) के न्यायाधीशों की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्रता दिखलाई है और उसने ऐसे सैकड़ों मामलों में सरकार के विरुद्ध और नागरिकों के पक्ष में निर्णय दिया है जिनमें सर्वोच्च न्यायालय ने सरकार

---

१. तुलना कीजिये, Goodnow, Comparative Administrative Law, pp 11-12 तथा Parker, State and Official Liability, *Harv*, *Law Rev*, (1906), pp. 335, 337, 339, England के Public Authorities Protection Act (1903) के अनुसार सरकारी कर्मचारियों के विरुद्ध दावा करने के व्यक्ति के अधिकार पर नियन्त्रण लगे हुए हैं। ऑस्ट्रेलिया में सन् १६०३ के एक कानून के अनुसार राज्य एक साधारण वादी की तरह हो गया है। अभी तक अमेरिका में सरकारी कर्मचारी द्वारा की हुई हानि के लिए राज्य उत्तरदायी नहीं समझा जाता, परन्तु अब इस अनुत्तरदायित्व के सिद्धान्त का उतना मान नहीं रहा है। सन् १६२२ के कांग्रेस के एक कानून के अनुसार एक हज़ार डॉलर से कम की क्षति की पूर्ति के लिए राष्ट्रीय शासन के कार्यपालक विभाग बाध्य किये जा सकते हैं। सन् १६२० के एक कानून के अनुसार साधारण व्यापार में लगे हुए शिपिंग बोर्ड के जहाजों द्वारा और सन् १६२५ के कानून के अनुसार सरकारी जहाजों द्वारा की हुई हानि की सरकार को पूर्ति करनी पड़ती है।

२. उनकी Introduction to Robinson's, "Public Authorities and Legal Liabilities" (1925), p. 61 देखिये। इस भूमिका में मॉर्गन ने बड़ी योग्यता के साथ फ्रेन्च प्रशासनात्मक कानून का समर्थन और डायसी के विचारों का खण्डन किया है। मॉर्गन ने बतलाया है कि फ्रान्स के प्रशासनात्मक कानून की प्रकृति इंगलैण्ड में गलत ढंग से समझी जाती है और फ्रान्स तथा जर्मनी में इंगलैण्ड की अपेक्षा नागरिक सरकार के स्वेच्छाचारी तथा गैर-कानूनी आचरण से कहीं अधिक सुरक्षित है। Marriott, op. cit., Vol. II, p. 273 तथा Barker, The Rule of Law, *Political Quarterly*, May. 1914, pp. 117 ff. से भी तुलना कीजिये।

के पक्ष में निर्णय दिये होते । यह भी उल्लेखनीय है कि उसके निर्णय न्याय-भावना (Equity) के सिद्धान्तों पर होते हैं। कौंसिल ऑफ स्टेट से न्याय प्राप्त करना सरल एवं अल्प-व्ययसाध्य है और जब कभी भी हानिग्रस्त व्यक्ति चाहे तो वह बिना भय के अपना मामला कौंसिल ऑफ स्टेट के समक्ष पेश कर सकता है। इस तथा अन्य कारणों से नागरिकों की रक्षा का जो दायित्व सर्वोच्च न्यायालय पर था, वह अब कौंसिल ऑफ स्टेट पर आ गया है और आज फ्रेन्च लोग उसके प्रति वैसी ही श्रद्धा रखते हैं जैसी संयुक्त राज्य अमेरिका के नागरिक अपने सुप्रीम कोर्ट के प्रति रखते हैं।[1]

(३) न्यायाधीशों की नियुक्ति, अवधि एवं पद-च्युति

न्यायाधीशों की योग्यताएं

न्यायालयों के न्यायाधीशों का कार्य कुछ ऐसा है जिसके लिए उनमें विशेष विद्वता, निष्पक्षता, सत्यनिष्ठा, गौरव और निर्णय की स्वतन्त्रता की परम आवश्यकता होती है। एडमण्ड बर्क ने अपने 'फ्रांस की क्रान्ति पर विचार' नामक पुस्तक में लिखा है कि 'राज्य में जो भी सर्वोच्च सत्ता है, उसे अपनी न्याय-सत्ता का निर्माण यथाशक्ति ऐसा करना चाहिए कि वह उस पर निर्भर न रहे; वरन् एक प्रकार से उसके साथ समतोलन स्थापित कर सके। उसे अपने न्याय को अपनी सत्ता से सुरक्षित रखना चाहिए। उसे अपने न्याय-विभाग को ऐसा रखना चाहिए मानो वह राज्य से बाहर की कोई वस्तु हो। यदि न्यायाधीशों में बुद्धिमत्ता, सत्यशीलता और निर्णय की स्वतन्त्रता का अभाव हो, तो जिन उच्च उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए न्याय-व्यवस्था स्थापित की गयी है, वे प्राप्त नहीं हो सकते। इन आवश्यक गुणों का न्यायाधीशों में अस्तित्व बहुत कुछ उनके चुनाव की रीति, उनके कार्यकाल तथा उनकी नियुक्ति करने वालों के नियन्त्रण से उनकी मुक्ति पर निर्भर है।

न्यायाधीशों का चुनाव : व्यवस्थापिका द्वारा निर्वाचन

न्यायाधीशों की नियुक्ति की विविध रीतियाँ जो संसार के सभ्य राज्यों में प्रचलित हैं, वे निम्न प्रकार हैं : (१) व्यवस्थापिका द्वारा चुनाव ; (२) जनता द्वारा चुनाव तथा (३) कार्यपालिका द्वारा नियुक्ति, या तो स्वतन्त्र रीति से अथवा न्यायालयों द्वारा प्रस्तुत उम्मीदवारों की सूचियों में से या किसी कार्यपालिका-परिषद् अथवा व्यवस्थापक-मण्डल के उच्च सदन की अनुमति से। व्यवस्थापिका द्वारा न्यायाधीशों के

---

१. योरोपीय, विशेषकर फ्रेन्च, प्रशासनात्मक कानून पर बड़ा विशद साहित्य है। मैंने *Amer. Pol. Sci. Rev.*, Vol. IX, pp. 657 ff. में Judicial Control of Administrative and Legislative Acts in France शीर्षक वाले लेख में तथा *Yale Law Jour.* Vol., XXXIII (1924), pp. 597 ff. में French Administrative Law शीर्षक वाले लेख में फ्रेन्च-प्रणाली का विस्तृत विवेचन किया है। इस विषय पर अनेक ग्रन्थ हैं, जैसे Dicey, Law of the Constitution, Lect. V ; Wyman, Principles of Administrative Law ; Goodnow, Comparative Administrative Law, Vol. I ; Sidgwick, Elements of Politics, pp. 505-507, Marriott, The Mechanism of the Modern State (1927), Vol. II, pp. 266 ff., and 296 ff. आदि।

चुनाव की रीति साधारणतया राजनीतिज्ञों को स्वीकार नहीं है क्योंकि इससे न्याय-पालिका एक सीमा तक अपनी समकक्ष व्यवस्थापिका पर निर्भर हो जाती है और सत्ता के पृथक्करण के सिद्धान्त का उल्लंघन होता है। संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे देश में व्यवस्थापिका द्वारा न्यायाधीशों के चुनाव का यह अर्थ होगा कि न्यायाधीशों का चुनाव राजनीतिक दल की आन्तरिक समिति करेगी और योग्यता की उपेक्षा करके न्यायिक पद भौगोलिक आधार पर राज्य के विभिन्न राजनीतिक विभागों में बाँटे जायेंगे।[1] सक्षेप में, जैसा एक प्रसिद्ध कानून-वेत्ता ने बतलाया है, इस प्रणाली में षड्यन्त्रों, प्रपंचों, दलगत विरोधी भावनाओं और स्थानिक हितों के इतने प्रभाव, प्रलोभन एवं अवसर होंगे कि न्याय के लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए सुयोग्य न्यायाधीशों का चुनाव कठिन हो जायगा।[2] अमेरिका के राज्यों में क्रान्ति के पश्चात् कुछ समय तक न्याया-धीश व्यवस्थापिकाओं द्वारा चुने जाते रहे क्योंकि उस समय कार्यपालिका के प्रति द्वेष-भाव था और जनता द्वारा चुनाव में विश्वास नहीं था। यह प्रणाली चार राज्यों को छोड़ समस्त अमेरिकन राज्यों में त्याग दी गयी है।[3] योरोप में भी इसका स्विट्जर-लैण्ड को छोड़ किसी देश में प्रचलन नहीं है, जहाँ न्यायाधीशों का चुनाव राज्य-मण्डल की विधान-सभा (Legislative Assembly) द्वारा होता है।

जनता द्वारा निर्वाचन

न्यायाधीशों की जनता द्वारा निर्वाचन-प्रणाली सबसे प्रथम सन् १७६० में फ्रान्स में प्रचलित हुई क्योंकि यह प्रणाली लोक-प्रमुत्व तथा सत्ताओं के पृथक्करण के सिद्धान्तों के अत्यधिक अनुकूल थी, जिनका फ्रेन्च क्रान्तिवादियों के राजनीतिक विचार पर गहरा प्रभाव था। इस प्रणाली को स्वीकार करने के उपरान्त जो प्रथम निर्वाचन हुआ, उसके परिणाम निराशाजनक नहीं थे और उसमें एक बड़ी संख्या में सुयोग्य एवं प्रसिद्ध न्यायाधीश चुने गये यद्यपि केवल ⅓ मतदाताओं ने ही चुनाव में भाग लिया था। सन् १७६२ में गणतन्त्र की स्थापना और क्रान्तिवादी दल के हाथों में सत्ता आ जाने के बाद जो न्यायाधीश सन् १७६० में चुने गये थे, उन पर सन्देह किया जाने लगा, क्रान्तिविरोधी और कुलीनतन्त्रीय कह कर उनकी निन्दा की जाने लगी, न्याया-धीश वर्ग में से अवांछित व्यक्तियों को निकाल देने के लिए माँग की जाने लगी और राष्ट्रीय (National Assembly) ने उनके कार्य-काल की समाप्ति से पूर्व ही नवीन चुनावों की घोषणा कर दी। जो चुनाव सन् १७६२ में हुए उनके परिणाम बड़े सोचनीय निकले; उस समय तक कार्य करने वाले सुयोग्य विद्वान् न्यायाधीशों में से शायद ही कोई पुनः चुना जा सका और जो चुने गये, उनमें से बहुत थोड़े वकील थे तथा अनेक नक्कालिय, सगतराश, क्लर्क, माली तथा साधारण मजदूर न्यायाधीश चुने गये। जनता का इन न्यायाधीशों में इतना कम विश्वास था कि वादी-प्रतिवादी अपने विवादों का निर्णय पंचायतों द्वारा कराना ही पसन्द करने लगे। नेपोलियन के अभ्युदय के बाद जनता द्वारा न्यायाधीशों के चुनाव की प्रणाली का अन्त कर दिया गया। तबसे आज तक फ्रेन्च जनता में लोक-निर्वाचन के पक्ष में जो सन्

---

१. तुलना कीजिये, Baldwin, The American Judiciary, p. 312.

२ Kent, Commentaries, Vol. I, p. 292.

३. रोड आइलैण्ड, वरमॉण्ट, दक्षिणी केरोलिना तथा वरजीनिया।

१७१३ के निर्वाचन से मत्यधिक निन्दनीय सिद्ध हो चुकी थी, तनिक भी भावना नहीं रही है।[1]

अमेरिकन संघ के अन्तर्गत अधिकांश राज्यों में न्यायाधीशों का जनता द्वारा चुनाव किया जाता है ; ३८ राज्यों में उच्च न्यायालयों के न्यायाधीश जनता द्वारा चुने जाते हैं। परन्तु अन्य देशों में इस प्रणाली को किसी ने नहीं अपनाया। योरोप तथा ब्रिटिश उपनिवेशों में यह प्रणाली सर्वथा अज्ञात है, केवल स्विस केण्टनों में छोटे न्यायालयों के न्यायाधीश ही जनता द्वारा चुने जाते हैं। दक्षिणी अमेरिका के राज्यों में भी, जहाँ कम से कम सिद्धान्त के रूप में प्रजातन्त्रीय शासन ने बड़ी प्रगति की है, न्यायाधीशों का लोक-निर्वाचन नहीं होता। जनता द्वारा निर्वाचन-प्रणाली का एक मुख्य दोष तो यह है कि इसमें न्यायपालिका के शक्तिहीन और स्वतन्त्रता से रहित होने की सम्भावना है। जहाँ इस प्रकार की प्रणाली प्रचलित है वहाँ राजनीतिक दल के सम्मेलनों में उम्मीदवार मनोनीत किये जाते हैं अथवा प्राथमिक चुनावों में उन्हें मनोनीत किया जाता है। विद्वान् तथा निर्भीक न्यायाधीश में जो गुण होते हैं, वे एक सफल- राजनीतिक नेता में नहीं होते। अतः न्यायाधीश प्रायः सफल नहीं होते और प्रायः वे ऐसे उम्मीदवारों द्वारा पराजित हो जाते हैं, जो उनकी अपेक्षा कम योग्य होते हैं, परन्तु मत प्राप्त करने की कला में पारंगत होते हैं। इसके अतिरिक्त मतदाताओं में इतनी तीव्र बुद्धि एवं विवेक नहीं होता कि वे न्यायाधीशों के निर्णयों की अविकलता पर गम्भीरता से विचार कर सकें। अतः जो न्यायाधीश ऐसे निर्णय देता है जो जनता को पसन्द नहीं, चाहे वे कानून की दृष्टि से कितने ही सराहनीय हों, वह यदि पुनः चुना भी जाय तो बड़ी कठिनाई के साथ चुना जा सकेगा। अमेरिकन राज्यों के न्यायालयों के इतिहास में, जहाँ जनता द्वारा निर्वाचित न्यायाधीशों का ही प्राधान्य है, ऐसे उदाहरण कम नहीं मिलेंगे जबकि सबसे सुयोग्य एवं प्रसिद्ध कानूनवेत्ता, अपने अप्रिय निर्णयों के कारण जो उन्होंने अपने कार्य-काल में दिये थे, चुनाव में असफल रहे।[2] इसके अतिरिक्त समय-समय पर लोक-निर्णय के लिए स्वयं अपने को तथा अपने कानूनी विचारों को जनता के समक्ष प्रस्तुत करने की परिपाटी के कारण न्यायाधीश को अपने निर्णयों एवं आचरण को ऐसा बनाने का प्रबल प्रलोभन हो जाता है कि वह निर्वाचकों को स्वीकार्य हो सके। किसी भी न्याया-धीश के लिए यह आवश्यक नहीं होना चाहिये कि अपने पद पर कायम रहने के लिए उसे जनता का कृपापात्र बनने का प्रयत्न करना पड़े। चान्सलर केण्ट ने ठीक ही कहा है कि 'सबसे सुयोग्य व्यक्ति अपने व्यवहार में प्रायः इतने संकोचशील और अपने सदाचार में इतने कठोर होते हैं कि सार्वभौम मताधिकार पर आश्रित चुनाव में उनको

---

१. किन्तु सन् १८८३ में रेडिकल पार्टी के नेता क्लीमेन्सो ने मन्त्री द्वारा नियुक्ति को दुष्टतापूर्ण बतला कर जनता द्वारा निर्वाचन का समर्थन किया। उसका तर्क यही था कि मन्त्री द्वारा नियुक्ति राजनीतिक नियुक्ति होती है और उससे न्यायपालिका की स्वतन्त्रता क्षीण होती है। जूल्स साइमन तथा जूल्स फेवर भी जन-निर्वाचन के पक्ष में थे। सन् १८८३ में चेम्बर ऑफ डिपुटीज ने न्यायाधीशों के लोक-निर्वाचन के लिए बिल स्वीकार किया था, परन्तु वह पुनर्विचार के बाद रद्द कर दिया गया। व्यापारिक न्यायालयों तथा प्रोवहोम्स के कौन्सिलों का निर्वाचन जनता द्वारा होता है।

२. Baldwin, *American Judiciary*, pp. 312-321.

सफलता संदिग्ध होती है।[१] इससे न्यायाधीशों का चारित्रिक पतन होता है; न्यायाधीश राजनीतिक नेता बन जाता है और उसके मन पर इतना भार पड़ता है जिसे वह सदा सहन नहीं कर सकता।[२] कुछ राज्यों में उम्मीदवार मनोनीत करने के लिए निर्दलीय प्राथमिक सभाओं (Primaries) की व्यवस्था तथा न्यायाधीशों के चुनाव को अन्य चुनावों से पृथक् तथा भिन्न तिथियों में करने की प्रणाली से लोक-निर्वाचन के दोष कम हो गये हैं। कुछ राज्यों (जैसे विस्कॉन्सिन) तथा कुछ बड़े नगरों (जैसे शिकागो तथा न्यूयार्क) में वकीलों की सभाओं द्वारा सुयोग्य उम्मीदवारों की सिफारिशों से भी अच्छा परिणाम निकला है।

कार्यपालिका द्वारा नियुक्ति

संयुक्त राज्य अमेरिका को छोड़ प्रायः अन्य समस्त देशों में न्यायाधीशों की नियुक्ति कार्यपालिका द्वारा की जाती है। संयुक्त राज्य अमेरिका में भी संघीय न्यायाधीशों तथा ६ राज्यों में राज्य के न्यायाधीशों की नियुक्ति कार्यपालिका द्वारा होती है।[३] जिन राज्यों में मन्त्रि-परिषद्-प्रणाली प्रचलित है, उनमें इसका अर्थ होता है—न्याय-मन्त्री द्वारा नियुक्ति। कुछ देशों में कार्यपालिका उन्हीं व्यक्तियों में से नियुक्ति करती है जिनकी सिफारिश उस न्यायालय ने की है जिसमें स्थान रिक्त हुआ हो।[४]

---

१. Commentaries, Vol. I, p. 292.

२ Esmein, Droit Const., pp. 575 ff. तथा Mill, Representative Government pp. 255 ff.

Chicago Law School के विश्वविद्यालय के डीन० जे० पी० हॉल का मत है कि उन ३८ राज्यों में से, जहां न्यायाधीशों का लोक निर्वाचन होता है, केवल ३ राज्यों में परिणाम सन्तोषप्रद निकले हैं और ये राज्य हैं—मेरीलैण्ड, आयोवा तथा विस्कॉन्सिन। पांच अन्य राज्यों (न्यूयार्क, पेन्सिलवेनिया, मिशिगन, मिनेसोटा तथा मिसूरी) में भी कुछ सन्तोष रहा है, परन्तु अन्य राज्यों में तो असन्तोष ही है। The Selection, Tenure and Retirement of Judges, *Jour. Amer. Judicature Soc.*, Vol. III (1919), p 42; Taft, Popular Government, pp. 193 ff. तथा A. B. Hall, Popular Government, pp. 262 ff. भी देखिये।

३ कनेक्टीकट, मेन, मेसेचुसेट्स, न्यूहैम्पशायर, न्यू जरसी तथा डीलावेयर। इन सबमें व्यवस्थापक-मण्डल, सीनेट या कार्यपालिका-परिषद् की स्वीकृति आवश्यक होती है।

४. बेल्जियम में मनोनीत व्यक्तियों की दो सूचियों में से केसेशन के न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्तियाँ करनी पड़ती हैं। उनमें से एक सूची तो स्वयं वह न्यायालय भेजता है और दूसरी सीनेट। सिद्धान्त की दृष्टि से यह प्रणाली अच्छी है और फ्रान्स में अनेक कानून-विशारदों ने इसका समर्थन किया है। The French Judiciary शीर्षक वाला मेरा उपर्युक्त लेख देखिये। चिली के नये विधान की १३वीं धारा के अनुसार न्यायाधीशों की नियुक्ति न्यायालय द्वारा प्रस्तावित सूची में से राष्ट्रपति करता है। ऑस्ट्रिया (धारा ८६) तथा यूगोस्लाविया (धारा १११) में भी यही व्यवस्था है।

फ्रान्स में जब कोई स्थान न्यायालय में रिक्त होता है तो उसका सभापति और राज्य का एटार्नी कई नामों की एक सूची न्याय-मन्त्री के पास विचारार्थ

योरोप महाद्वीप के देशो में, जहाँ न्यायाधीश के पद राजदूतो के पदो के समान थोड़े से व्यक्तियों को ही प्राप्त हो सकते हैं और जहाँ निम्न पदो के लिए प्रतियोगिता द्वारा नियुक्ति होती है तथा पदोन्नति पदाधिकार में उच्चता (Seniority) के आधार पर होती है, न्यायमन्त्री की नियुक्ति-सम्बन्धी स्वतन्त्रता कुछ सीमित होती है। वहाँ न्यायाधीश तथा वकील सर्वथा पृथक् माने जाते हैं और न्यायिक नियुक्ति न्यायाधीशो तक ही सीमित है, वकील बहुत कम न्यायाधीश के पद पर नियुक्त किये जाते हैं, जैसा इंगलैण्ड तथा संयुक्त राज्य अमेरिका मे प्रथा है।

किसी न किसी रूप मे कार्यपालिका विभाग द्वारा न्यायाधीशो की नियुक्ति संयुक्त राज्य अमेरिका के बाहर अन्य समस्त देशो में सार्वभौम है। इसका कारण यह विश्वास है कि न्यायाधीश मे जिन विशिष्ट गुणो की आवश्यकता है, उनकी राज्य-प्रमुख भलीभाँति परीक्षा कर सकता है और नियुक्तियाँ करते समय उस पर वैयक्तिक गुणो का, जो मतदाताओ को आकर्षित करते हैं या उन दलीय विचारो का, जिसके आधार पर व्यवस्थापिका नियुक्त करती है, कम प्रभाव पडता है। लोक-निर्वाचन की प्रणाली मे न्यायाधीश का पुनर्निर्वाचन उसके निर्णयो की लोकप्रियता पर निर्भर रहता है और न्यायाधीश की स्वतन्त्रता आवश्यक रूप से कम होती है परन्तु कार्यपालिका द्वारा नियुक्ति से न्यायाधीशो की स्वतन्त्रता अधिक निश्चित रहती है।[1]

कार्यपालिका द्वारा नियुक्ति की आलोचना

इस पर भी कोई व्यक्ति यह दावा नही कर सकता कि कार्यपालिका द्वारा नियुक्ति की प्रणाली सर्वथा दोषरहित है। संयुक्त राज्य अमेरिका के राज्यो मे ऐसे उदाहरणो की कमी नहीं है जिनमे न्यायाधीशो की नियुक्तियाँ दल की सेवाओ के पुरस्कारस्वरूप अथवा व्यक्तिगत पक्षपात के कारण हुई हैं और नियुक्तियो पर सीनेट अथवा कार्यपालिका-परिषद् की स्वीकृति के नियम से भी पक्षपात को रोकने मे सदा सफलता नही मिली है।

फ्रान्स मे, जहाँ कार्यपालिका द्वारा नियुक्ति की प्रणाली सन् १८०० से स्थापित है, इस प्रकार की भारी शिकायत रही है कि न्यायाधीशो की नियुक्तियो तथा पदोन्नति, मे, जो कार्य न्याय-मन्त्री करता है, उस पर अधिकतर राजनीतिक विचारो का प्रभाव होता है, अर्थात् इस कार्य मे न्याय-मन्त्री पर प्रभावशाली प्रतिनिधियो (Deputies) की सिफारिशो का प्रायः प्रभाव रहता है। सन् १९१२ मे ब्रियाँ ने, जब वह न्याय-मन्त्री के पद पर था, बतलाया कि न्यायाधीश राजनीतिक नेताओ के शिकार बन गये हैं।[2]

भेजता है। साधारणतया वह इसी सूची में से नियुक्तियाँ करता है, परन्तु कभी-कभी राजनीतिक कारणों से वह किसी प्रभावशाली डिपुटी की सिफारिश मान लेता है।

१. डीन हॉल (उपर्युक्त) का मत है कि कार्यपालिका द्वारा नियुक्तियो से ही अन्य प्रणालियो की अपेक्षा सर्वाधिक योग्य एवं सन्तोषप्रद न्यायालयो का निर्माण हुआ है।

२. इस विषय पर मेरा The French Judiciary शीर्षक वाला उपर्युक्त लेख देखिये। M. Faguet (The Dread of Responsibility, p. 13) का मत था कि न्यायाधीशो के पद के क्रय-विक्रय की पुरानी प्रणाली फ्रान्स को वर्तमान प्रणाली से अच्छी थी। उसका प्रस्ताव था कि कैसेशन के न्यायालय के न्यायाधीशो का निर्वाचन राज्य भर के न्यायाधीशो द्वारा होना चाहिए और इस न्यायालय

न्यायाधीशों के चुनाव की आदर्श प्रणाली अभी तक स्थिर नहीं हो सकी है। शायद जिस न्यायालय में स्थान रिक्त हो, वह जिन व्यक्तियों की सिफारिश करे, उन्हीं में से कार्यपालिका द्वारा नियुक्ति की प्रणाली में अन्य प्रणालियों की अपेक्षा अधिक गुण हैं।

न्यायाधीश का कार्य-काल

न्यायाधीश के कार्य-काल के सम्बन्ध में भी विविध प्रकार के मत तथा रीतियां प्रचलित हैं। अमेरिका के पहले १३ राज्यों ने अपने पहले विधानों में उच्च न्यायाधीशों के कार्य-काल सद्व्यवहार (Good behaviour) पर्यन्त रखा था और यही नियम राष्ट्रीय विधान द्वारा संघीय न्यायाधीशों के लिए भी स्वीकार किया गया। किन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के प्रजातान्त्रिक आन्दोलन में न्यायाधीशों के लिए सद्व्यवहार-अवधि के स्थान पर अल्पकालिक अवधि की व्यवस्था अधिक अच्छी समझी गयी और धीरे-धीरे तीन राज्यों को छोड़ समस्त अमेरिकन राज्यों में न्यायाधीशों की अवधि अल्पकालिक हो गयी।[1] किसी राज्य में दो वर्ष का कार्य-काल है, जैसे वरमॉण्ट में और किसी में २१ वर्ष का है, जैसे पेनसिलवेनिया में; परन्तु औसत कार्य-काल ६ से ९ वर्ष है।[2] योरोप में स्विट्ज़रलैण्ड ही एकमात्र ऐसा देश है, जहाँ उच्च न्यायाधीशों की अवधि एक नियत काल के लिए निर्धारित है; संघीय न्यायालय के न्यायाधीशों की अवधि ६ वर्ष की है। लेटिन अमेरिका में मेक्सिको ही एक महत्वपूर्ण गणतन्त्र राज्य है जहाँ सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की अवधि सद्व्यवहार पर्यन्त नहीं है। वहाँ कार्य-काल ६ वर्ष का है। इस प्रकार संयुक्त राज्य के बाहर अन्य सम्पन्न देशों में न्यायाधीशों की नियुक्ति सद्व्यवहार पर्यन्त है। हैमिल्टन का मत है कि 'न्यायाधीशों का अपने सद्व्यवहार पर्यन्त पदारूढ़ रहने का नियम, वास्तव में, शासन के प्रयोग में एक महान् आधुनिक सुधार है। एकतन्त्र में यह शासक की स्वेच्छाचारिता के मार्ग में एक अच्छी बाधा है। गणतन्त्र में यह प्रतिनिधि-संस्था के अन्यायों तथा

को अपने रिक्त-स्थान की स्वयं पूर्ति करने का अधिकार होना चाहिए (पृष्ठ १०४)। फ्रांस में, जहाँ न्यायिक सेवा एक जीवन-व्यवसाय है और जहाँ न्यायाधीशों को न्यायमन्त्री उच्च पदों पर तरक्की दे सकता है, उसका न्यायपालिका पर बड़ा भारी प्रभाव है, इंगलैण्ड में जहाँ न्यायाधीशों की एक न्यायालय से दूसरे न्यायालय में पदोन्नति नहीं होती, फ्रेन्च-प्रणाली के दोष नहीं हैं। वहाँ न्यायाधीशों की नियुक्ति में पार्लमेण्ट के सदस्यों का भी कोई प्रभाव नहीं होता।

१ मेसेचुसेट्स तथा न्यू हेम्पशायर तथा रोड आइलैण्ड में न्यायाधीशों का कार्य-काल सद्व्यवहार पर्यन्त अथवा ७० वर्ष की आयु तक का है।

२. अमेरिका के अनेक राज्यों में, जहाँ न्यायाधीशों की अवधि अल्पकालिक होती है, साधारणतया प्रथा यही है कि जब तक कोई विशेष कारण नहीं हो, जो न्यायाधीश कार्य कर रहे हों, उन्हें ही फिर से निर्वाचित कर लिया जाता है और इस प्रकार उनका कार्य-काल सद्व्यवहार पर्यन्त ही हो जाता है। इस प्रकार सद्व्यवहार-अवधि के लाभ प्राप्त हो जाते हैं और इसके साथ ही उसके दोषों का परिहार हो जाता है। Hall, उपर्युक्त लेख; Carpenter, Judicial Tenure in the United States (1918); Taft, Popular Government (1918), Ch. 8.

प्रतिक्रमणों के विरुद्ध भी कम अच्छी बाधा नहीं है। किसी भी शासन में निष्पक्ष, स्थायी और समुचित रीति से कानूनों को कार्यान्वित करने की यही सर्वोत्तम प्रणाली है।[१] अन्त में, जैसा हैमिल्टन ने कहा है, न्यायिक पूर्व-उदाहरणों के ज्ञान एवं अनुभव की प्राप्ति के लिए, जो न्यायालय की शक्ति का सबसे महत्वपूर्ण स्रोत है, न्यायाधीशों की सद्व्यवहार पर्यन्त अवधि आवश्यक है। दीर्घकालिक अवधि के कारण, जिसमें गम्भीर अध्ययन तथा लगन के साथ कार्य किया जा सकता है, न्यायाधीश पूर्व-निर्णयों का ऐसा ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ होते हैं, जो उन न्यायाधीशों के लिए सम्भव नहीं, जिनकी अवधि अल्पकालिक होती है।

न्यायाधीशों की पदच्युति

समस्त राज्यों में ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि जिससे भ्रष्ट और नैपुण्यहीन न्यायाधीश अपने पद से हटाये जा सकें, क्योंकि न्यायाधीश के पद पर भ्रष्ट तथा नैपुण्यहीन व्यक्ति का कायम रहना, विशेषकर जीवन भर के लिए, सर्वथा असह्य होगा। प्राचीन काल में इंगलैण्ड के न्यायाधीश राजा की इच्छा तक अपने पद पर कायम रहते थे, परन्तु कार्यपालिका में इस प्रकार के अधिकार का निहित होना खतरनाक सिद्ध हुआ क्योंकि इससे न्यायपालिका राजा के हाथों में कठपुतलीमात्र बन गयी, विशेषकर के राज्य के मुकद्दमों में और इससे राजा को न्याय-व्यवस्था पर ऐसा अधिकार मिल गया जिससे जनता के अधिकारों एवं स्वतन्त्रताओं पर कुठाराघात हुआ।[२] लार्ड कोक के समय में एक्सचेकर के बैरनों (Barons of the Exchequer) को सद्व्यवहार पर्यन्त नियुक्त किया जाता था और द्वितीय चार्ल्स के समय में यही अवधि कॉमन-लॉ के न्यायाधीशों के लिए रखी गयी, यद्यपि सन् १६८८ तक राजा का कार्य-काल निर्धारित करने का अधिकार कायम रहा। अन्त में, पार्लमिन्ट के एक कानून द्वारा, जो विलियम तृतीय के राज्य-काल के तेरहवें वर्ष में स्वीकार किया गया, न्यायाधीशों की नियुक्ति सद्व्यवहार पर्यन्त निश्चित की गयी और राजा के लिए किसी न्यायाधीश को पार्लमिन्ट के दोनों सदनों की प्रार्थना के बिना पदच्युत करना निषिद्ध ठहरा दिया गया। संयुक्त राज्य अमरीका में न्यायाधीशों की पदच्युति महाभियोग (Impeachment) की प्रणाली के द्वारा होती है—अर्थात् व्यवस्थापिका का एक सदन उस पर दोषारोपण करता है और दूसरे सदन में उस पर विचार तथा निर्णय होता है। इस प्रणाली के सम्बन्ध में मुख्य आक्षेप यही है कि व्यवस्थापिका राजनीतिक उद्देश्यों से न्यायाधीशों को पदच्युत कर सकती है; परन्तु यह भय इस शर्त से दूर हो जाता है कि जिस सदन में निर्णय किया जायगा, उसमें पदच्युति के पक्ष में एक विशाल बहुमत हो। बारह राज्यों में व्यवस्थापिका द्वारा न्यायाधीशों की पदच्युति का नियम है और नौ राज्यों में इंगलैण्ड की प्रथा के अनुसार गवर्नर को व्यवस्थापिका की प्रार्थना पर न्यायाधीश को पदच्युत करने का अधिकार है।

अमेरिका के कुछ राज्यों में जनमत द्वारा न्यायाधीशों की पदच्युति (Recall) के कई समर्थक हैं और सात राज्यों—एरीज़ोना, कैलीफ़ोर्निया, कॉलोरेडो, कनसास, नेवाडा, उत्तरी डेकोटा और ओरेगॉन—में विधानों में संशोधन करके ऐसी व्यवस्था

१. The Federalist, No. 78.

२. De Lolme, Constitutional History of England, Bk. II, Ch. 16; Kent, Vol. I, pp. 293-294; Story, Vol. II, Sec. 1608.

की जा चुकी है।[1] अमेरिका के कानून-विशारदों ने इस प्रणाली की तीव्र निन्दा की क्योंकि इससे न्यायाधीशों को मर्यादा, गौरव तथा स्वाधीनता का विनाश हो जाता है और इसकी तनिक भी सम्भावना नहीं है कि यह प्रणाली अधिक लोकप्रियता प्राप्त कर सकेगी।[2]

योरोप महाद्वीप के राज्यों में न्यायाधीशों की पदच्युति के लिए इससे नितान्त भिन्न प्रणाली प्रचलित है। वहाँ न्यायाधीशों को वही न्यायालय पदच्युत कर सकते हैं जिनके वे सदस्य हैं अथवा अनुशासन-न्यायालय के रूप में सर्वोच्च न्यायालय उन्हें हटा सकता है और उन पर विधिपूर्वक मुकद्दमा चलाने के बाद तथा कानून में बतलाये हुए कारणों से ही ऐसा किया जा सकता है।[3] इसके अतिरिक्त अनेक देशों के विधानों में यह भी व्यवस्था है कि न्यायाधीश एक न्यायिक पद दूसरे पद के लिए स्वयं उस न्यायालय के निर्णय को छोड़ उसकी अनुमति के बिना बदला नहीं जा सकता[4] किन्तु कुछ देशों में (जैसे ऑस्ट्रिया तथा चेकोस्लोवाकिया में) न्यायाधीशों के पद-परिवर्तन तथा पदच्युति सम्बन्धी इस नियम में एक अपवाद है कि न्याय-व्यवस्था का पुनर्संगठन करने में पद-परिवर्तन तथा पदच्युति हो सकती है। जर्मनी में, जहाँ ऐसे मामले में पद-परिवर्तन किये जाते हैं, न्यायाधीश को कोई समान श्रेणी का दूसरा पद तथा समान वेतन देना पड़ता है और इसके अतिरिक्त अपने निवास के परिवर्तन का भी व्यय देना आवश्यक है। इस प्रकार की व्यवस्था तथा आजीवन-अवधि से न्यायाधीशों की निर-

---

१. Merriam, American Political Ideas (1920), pp. 194 ff. में इस विषय पर साहित्य मिलता है।

२. इसकी आलोचना Taft, Popular Government, pp. 10 ff.; Butler, Why Should We Change Our Form of Government, pp. 40 ff.; Root, Experiments in Government, pp. 68 ff. तथा Hall, Popular Government, Ch. 9 में मिलता है।

३. निम्नलिखित विधान देखिये—जर्मनी (धारा १०४), ऑस्ट्रिया (धारा ८८), चेकोस्लोवाकिया (धारा ९९), युगोस्लाविया (धारा ११२), पोलैण्ड (धारा ७८), फिनलैण्ड (धारा ५९), बेल्जियम (धारा १००)। फ्रान्स के विषय में The French Judiciary (उपर्युक्त) देखिए। फ्रान्स में सरकार द्वारा न्यायाधीशों के हटाये जाने का नियम प्रशासनात्मक न्यायालयों तथा औपनिवेशिक न्यायालयों के न्यायाधीशों तथा जस्टिस ऑफ दी पीस को लागू नहीं होता। वे सरकार द्वारा पदच्युत किये जा सकते हैं, परन्तु साधारणतया ऐसा नहीं किया जाता। यद्यपि यह सिद्धान्त नेपोलियन के समय से ही चला आ रहा है, तो भी इसका उल्लंघन कई बार हुआ है। सन् १८०७ में नेपोलियन ने, सन् १८३० लुई फिलिप ने, सन् १८५२ में तृतीय नेपोलियन ने तथा तृतीय गणतन्त्र के समय में रिपब्लिकन दल ने अवांछित न्यायाधीशों को पदच्युत कर दिया था। केसेशन के न्यायालय ने बहुत कम पदच्युतियाँ की हैं और वे भी गणतन्त्र के शत्रुओं की।

४. इटली में कार्यपालिका को यह अधिकार है कि वह न्यायाधीशों को किसी स्थान पर नियुक्त कर सकती है। इससे न्यायपालिका की स्वतन्त्रता निर्बल होती है। सरकार स्वतन्त्र प्रकृति के न्यायाधीश को खराब स्थान को भेज सकती है जहाँ उसे कष्ट हो। ऐसी शिकायतें कई बार हुई हैं। Lowell, Governments and Parties in Europe, Vol. I, p. 177.

पेश स्वतन्त्रता सुनिश्चित रहती है। अन्त मे, यह कहा जा सकता है कि योरोपीय देशो में न्यायाधीशों की स्वाधीनता को सुरक्षा के लिए जो उपाय किये गये हैं, वे उन उपायों को अपेक्षा अधिक प्रभावकारी हैं जो अमेरिका मे किये गये हैं, जहाँ राज्यो मे लोक-निर्वाचन तथा सीमित अवधि की प्रथा साधारणतया प्रचलित है।

मुख्य पाठ्य-ग्रन्थ

Baldwin, "The American Judiciary" (1905), Chs. 1-7.

Barker, "The Rule of Law," *Political Quarterly*, No. 2 (May, 1914).

Beard, "The Supreme Court and the Constitution" (1912).

Borchard, "Government Liability in Tort," *Yale Law Journal*, Vols. XXXIV, XXXVI (1924-1927), pp. I ff.

Boudin, "Government by the Judiciary," *Pol. Sci. Quar.*, Vol. XXVI (1911), pp. 238.

Carpenter, "Judicial Tenure in the United States" (1918), Chs. 3-4.

Carter, "Law, Its Origin, Growth and Function," pp. 183-193.

Corwin, "The Doctrine of Judicial Review and the Constitution" (1914).

Dicey, "Law of the Constitution" (2nd ed., 1868, and 7th ed., 1908), Lect. V; "Law and Public Opinion in England." (1905), Lect. XI and Appendix IV; and his article, "The *Droit Administratif* in Modern French Law." *Law Quar. Rev.*, Vol. XVII (1901), pp. 302 ff.

Dickinson, "Administrative Justice and the Supremacy of Law in the United States" (1927).

Dodd, "The Growth of Judicial Power," *Pol. Sci. Quar.*, (1909), Vol. XXIV, pp. 193 ff.; also "Social Legislation and the Courts.' *Ibid.*, Vol. XXVIII (1913), p. 1 ff.

Duguit, "Traite de droit constitutional" (2nd ed., 1923), Vol. III, Sec. 98; also his article, "The French Administrative Courts," *Pol. Sci. Quar.*, Vol. XXIX (1914), pp. 385 ff.

Esmein, "Elements de droit constitutionnel" (7th ed., 1921), Vol. I, pp. 500-538.

Freund, "Standards of American Legislation" (1917), Ch. 5.

Garner, "The German Judiciary," *Pol. Sci. Quar.*, Vol. XVII (1903), pp. 410 ff.; and Vol. XVIII (1904), pp. 512 ff.; "The French

Judiciary." *Yale Law Journal,* Vol. XXVI (1917), pp. 349 ff.; "French Administrative Law," *Ibid.*, Vol. XXXIII (1924), pp. 597 ff.; "Judicial Control of Administrative and Legislative Acts in France," *Amer. Pol. Sci. Rev.*, Vol. IX (1915), pp. 657 ff.; and "La conception Anglo-Americaine du droit Administratif" (1929).

Gray, "The Nature and Sources of Law" (1909), Ch. 5, 9.

Haines "The Conflict of Judicial Powers in the United States to 1870" (1909); "Judicial Review of Legislation in Canada," *Harv. Law Rev.*, Vol. XXVIII (1914-15), pp. 565 ff.; and "Judicial Interpretation of the Constitution Act of the Commonwealth of Australia," *Ibid.*, Vol. XXX (1916-1917), pp. 595 ff.

Hall (A. B.), "Popular Government" (1921), Ch. 1.

Hall (J. P.) "The Selection, Tenure and Retirement of Judges," *Journal of the Amer. Judicature Society*, Vol. III (1919), pp. 47 ff.

Jenks, "Law and Politics in the Middle Ages" (1898), Ch. 4.

Jeze, "Du controle des deliberations des assemblees deliberantes," *Rev. gen. d'administration*, Vol. II, (1895), pp. 411 ff.

Lambert, "Le gouvernement des judges" (1921), Ch. 2.

Laski, "The Responsibility of the State in England," *Harvard Law Review*, Vol XXXII (1919), pp. 461 ff

Lowell, "The Government of England" (1908), Vol. II, Ch. 61.

Marriott, "The Mechanism of the Modern State," Vol II (1927), Chs. 31-34.

Melvin, "The Judicial Bulwark of the Constitution." *Amer. Pol. Sci. Rev*, Vol. VIII (1914), pp. 167 ff.

Moore, "The Supreme Court and Unconstitutional Legislation," *Cal Univ Studies in Hist. Econ and Pub Law*, Vol. LIV (1913), Chs. 2-3.

Morgan, in Robinson "Public Authorities and Legal Liability," (1925), Introductory Chapter.

Nerinex, "L'organisation judiciaire aux Etats-Unis" (1909), Ch. 28.

Parker,	"State and Official Liability," *Harv. Law Rev.*, Vol. XIX (1906), pp. 335 ff.; "The Law of the Constitution," *Amer. Pol. Sci. Rev.*, Vol. III (1909), pp. 363 ff.; and "Administrative Courts for the United States." *Procs. Amer. Pol. Sci. Assoc*, Vol. VI (1909), pp. 46 ff.
Pound,	"The Growth of Administrative Justice," *Wis. Law Rev.*, Vol. II (1924), pp. 321 ff.; "Executive Justice," *Amer. Law Rev.*, Vol. LV; and "*Justice According to Law*," *Col. Law Rev.*, Vol XIV.
Powell,	"The Supreme Court and the Constitution." *Pol. Sci. Quar.*, Vol. XXXV (1920), pp. 411 ff.; and "Collective Bargaining before the Supreme Court," *Ibid.*, Vol. XXXIII pp. 396 ff.
Robson,	"Justice and Administrative Law" (1928), Chs. 3-6.
Salmond,	"The Theory of Judicial Precedents." *Law Quar. Rev.*, Vol. XVI (1900), pp. 376 ff.
Sidgwick,	"Elements of Politics" (1896), Ch. 24.
Taft,	*"Popular Government" (1913), Chs. 7-8.*
Thayer (E. R.),	"Judicial Legislation; Its Legitimate Function in the Development of the Common Law," *Harv. Law Rev*, Vol. V (1891-1892), pp. 172 ff.
Thaper (J. B.)'	"Origin and History of the American Doctrine *of the Rights of the Courts to Declare* Acts of the Legislature Unconstitutional," *Harv. Law Rev.*, Vol. VII (1893), pp. 129 ff, reprinted in his "Legal Essays" (1908).
Walton,	"The French Administrative Courts," *Ill. Law Rev.*, Vol. XIII (1918), pp. 63 ff.
Warren,	"The Congress, the Constitution and the Supreme Court" (1925), Chs. 5, 6, 9.
Wilson,	"Constitutional Government in the United States" (1908), Ch. 6.